कृष्णदास संस्कृत सीरीज

४४

महाकवि-कालिदासविरचितं

रघुवंशमहाकाव्यम्

महामहोपाध्यायश्रीमल्लिनाथप्रणीत—

'सञ्जीविनी' संस्कृत 'हरिप्रिया' हिन्दीव्याख्योपेतम्

हिन्दीव्याख्याकारः

पण्डित लक्ष्मीप्रपन्नाचार्यः

सम्पादकः

श्री पं० रामचन्द्रझा व्याकरणाचार्यः



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : पुनर्मुद्रित, सम्वत् २०५९, सन् २००२

ISBN : 81-218-0098-6

पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० ११९८
के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
पोस्ट बॉक्स नं० १००८, के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३३४५८ (आफिस), ३३४०३२ एवं ३३५०२० (आवास)
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

सम्पादकीय

पण्डित रामचन्द्र झा व्याकरणाचार्य

डी० २/९, धर्मकूप, वाराणसी–१

महोपाध्याय मल्लिनाथ प्रणीत 'रघुवंश महाकाव्य' की 'सञ्जीविनी' टीका ही ग्रन्थ पढ़ने-पढ़ाने के लिये पर्याप्त है। इस संस्करण में सान्वय 'हरिप्रिया' हिन्दी टीका हो जाने से सर्वसाधारण के लिये संपूर्ण ग्रन्थ बोधगम्य हो गया है।

'प्रथमा-मध्यमा परीक्षार्थी अल्पवयस्क बालकों के सुखबोधार्थ परीक्षा-निर्धारित १–७ सर्गों तक की प्रश्नोत्तरादि सहित 'इन्दुमती' 'हरिप्रिया' तथा 'सञ्जीविनी' संस्कृत-हिन्दी टीका पृथक्-पृथक् सर्गों में छपी है। प्रस्तुत संपूर्ण संस्करण के शुरू में पृ० १ से ३१२ तक उक्त सर्गों की हिन्दी टीका अविकल छापी गयी है।

महाकवि कालिदास का काल

कुछ भारतीय विद्वानों का मत है कि ई० पू० प्रथम शतक में उज्जयिनी में विक्रमादित्य नाम का महाप्रतापी राजा राज्य करता था। वह बड़ा उदार और विद्वानों का आदर करने वाला था। हाल की 'गाथासप्तशती' और जैनग्रन्थों से इसकी पुष्टि होती है। संभव है कि कालिदास के विक्रमादित्य वही रहे हों। इसके अनुसार कालिदास का काल ई० पू० प्रथम शतक होता है, किन्तु पाश्चात्त्य विद्वान् इसको नहीं मानते। डॉ० कीथ का कथन है कि––

"कालिदास का प्राकृत अश्वघोष और भास के प्राकृत से अर्वाचीन है। कालिदास ने अपने ग्रन्थों में अश्वमेध यज्ञ का वर्णन किया है। इनसे यह पुष्ट होता है कि कालिदास गुप्तवंश के किसी बड़े सम्राट् के आश्रय में थे। ये सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय ही रहे होंगे। कालिदास के 'कुमार-संभव' में इनके जन्म की घटना की रूपरेखा मिलती है। अतः कालिदास का समय ई० अनन्तर चतुर्थ शतक मानना चाहिए।"

वस्तुतस्तु कालिदास का काल अभी तक अन्धकार में ही है। निश्चित रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में अग्निमित्र को नायक बनाया है। अग्निमित्र पुष्यमित्र शुङ्ग का आत्मज था। पुष्यमित्र का समय ई० पू० द्वितीय शतक माना जाता है। यही कालिदास के समय की उपरितन सीमा है। बाणभट्ट ने कादम्बरी की प्रस्तावना में कालिदास का नाम लिया है। बाणभट्ट का समय भी ई० अ० सप्तम शतक का पूर्वाध माना जाता है। यह कालिदास के समय की नीचे की सीमा है। इन्हीं दोनों सीमाओं (ई० पू० द्वितीय और ई० अनन्तर सप्तम शतक) के बीच किसी समय कालिदास रहे होंगे।

कालिदास का जीवन-वृत्त

जिस प्रकार कालिदास के काल का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, उसी प्रकार इनका जीवन-वृत्त भी अन्धकार में ही है। इनके विषय में अनेकों लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं। कुछ विद्वान इन्हें उज्जयिनी का निवासी मानते हैं तो कुछ काश्मीर का। कुछ विद्वान इन्हें विदर्भ का निवासी बताते हैं तो कुछ बंगाल या बिहार का। प्राचीन विद्वानों में कालिदास के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में एक बहुत ही रोचक कथा प्रसिद्ध है। एक महाभिमानी नास्तिक राजा ने अपनी विदुषी कन्या 'विद्योत्तमा' से पूछा--"सबसे बड़ा कौन है ?" पुत्री ने इसके उत्तर में पिता का नाम नहीं लेकर कह दिया--"ईश्वर"! इस पर राजा ने असंतुष्ट होकर मन्त्रियों से कहा--जो सबसे बड़ा मूर्ख हो उसे पकड़ ले आओ, उसीके साथ इसका विवाह होगा। एक दिन एक मूर्ख वृक्ष की जिस डाल पर बैठा था, उसी डाल को काट रहा था। यह देख उसे वज्रमूर्ख समझ कर राजपुरुषोंने राजसभा में उसे पकड़ लाया। राजा ने अपनी विदुषी पुत्री विद्योत्तमा से पूछा कहो--तुम्हारे ईश्वर कितने हैं ? पुत्री ने उत्तर दिया 'एक'! फिर उस मूर्ख से भी यही पूछा गया। उसने बिना समझे-बूझे कहा--

'दो' । यह सुनकर राज-सभा के पण्डित लोग हंस पड़े। राजा ने उस महामूर्ख के साथ विद्योत्तमा का विवाह कर दिया। विवाह के बाद जब विद्योत्तमा को ज्ञात हुआ कि उसका पति महामूर्ख है, तो उसने उसे घर से निकाल बाहर कर दिया। इससे वह मूर्ख बहुत दुखी हुआ, पत्नी के फटकार से उसकी चेतना जाग उठी, वह वहाँ से सीधे तपोवन में जाकर तपस्या (हठयोग-साधन) करने लगा । उससे जब वह मूर्ख ऊब गया तब एक दिन वह मन्दिर में जाकर भगवती काली के चरणों पर अपनी जीभ काट कर रख दी। कहा जाता है कि इस पर भगवती काली ने उसे साकार होकर दर्शन दिया। फलस्वरूप वह मूर्ख साधक सब शास्त्रों में पारंगत हो गया। उसी दिन से लोग उन्हें--"कालिदास" कहने लगे। इसके बाद कालिदास पुनः राज-भवन (ससुराल) लौट आये। इनके आगमन का समाचार सुनकर इनकी पत्नी राजकुमारी विद्योत्तमा बाहर आयी । उसने संस्कृत में इनसे पूछा--"अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः ?" कहा जाता है कि कालिदास ने उसके इस वाक्य से तीन शब्दों को लेकर तीन ग्रन्थ ही रच डाले--'अस्ति' से "अस्त्युत्तरस्यां दिशि" इत्यादि "कुमारसम्भव महाकाव्य" 'कश्चित्' से कश्चित् कान्ता" इत्यादि "मेघदूत खण्ड-काव्य" तथा 'वाग्' से "वागर्थाविव सम्पृक्तौ" इत्यादि 'रघुवंश महाकाव्य"। पत्नी को इन ग्रन्थों से अपनी विद्वत्ता का परिचय देकर इन्होंने कई अन्य ग्रन्थों की रचना की

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र--ये तीन नाटक भी कालिदास द्वारा लिखे गए । कुछ विद्वान् ऋतुसंहार और श्रुतबोध को भी कालिदास रचित मानते हैं। इनकी सम्पूर्ण रचनायें एक से एक सुन्दर हैं किन्तु अभिज्ञानशाकुन्तल इनमें विशेष उल्लेखनीय है। कहा भी गया है—"काव्येषु नाटकं रम्यं, तत्र रम्या शकुन्तला" ।

कालिदास के ग्रन्थ

कालिदास के रचित ग्रन्थों के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं हैं, तथापि दो महाकाव्य, रघुवंश और कुमारसंभव एक खण्डकाव्य-मेघदूत तथा तीन नाटक--अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र, कालिदास के रचे हुए निर्विवाद माने जाते हैं। इनके अलावा ऋतुसंहार और श्रुतबोध भी कालिदास की रचना कही जाती हैं

कालिदास का सम्प्रदाय

मिथिला वस्तुतः शक्त्युपासक प्रान्त है। इस प्रान्त में- कालिदास, कालिकान्त, कालिनाथ आदि नाम बहुधा देखने-सुनने को मिलते हैं। मिथिला के जिला 'मधुबनी' के निकट 'उच्चैठ' नाम के गाँव में कालिदास की अधिष्ठात्री देवी (कहा जाता है कि कालिदास अपनी नव विवाहिता पत्नी से तिरस्कृत होकर ज्ञान प्राप्त करने के लिए जब हठयोग साधना से ऊब गए तब उन्होंने एक रात इसी देवी के चरणों पर अपनी जीभ को काटकर चढ़ा दिया था; जिससे वे महाप्राज्ञ बन गये।) का एक दिव्य मन्दिर अब तक कालिदास के जन्म-स्थान का साक्षी बनकर खड़ा है।

कालिदास को मिथिला-सम्प्रदाय के होने में निम्नलिखित उनके तीनों ग्रन्थों के प्रसंग भी सबल मापक है।

[१]

(क) शाकुन्तल (अङ्क २)--जिस दिन राजा दुष्यन्त के साथ शकुन्तला का गान्धर्व विवाह होने वाला था, उसी दिन हस्तिनापुर से उनकी माता का अनुचर (करभक) आकर कहता है--

"जयतु जयतु भर्ता। देव्य आज्ञापयन्ति---आगामिनि चतुर्थदिवसे पुत्रपिण्डपालनो नाम उपवासो भविष्यति, तस्मिन् दीर्घायुषाऽवश्यं वयं सम्भावयितव्या इति।"

(महाराज की जय हो! राजमाता आपको आज्ञा देती हैं कि--अगले चौथे दिन 'पुत्र-पिण्ड-पालन' नामक व्रतोपवास होगा उस दिन तुम अवश्य उपस्थित होकर हम को आनन्दित करो।)

यह सुनते ही राजा धर्मसंकट में पड़ जाता है। क्योंकि वह मातृ-भक्त आज्ञाकारी पुत्र है। धर्मसंकट का कारण यह है कि--आज ही उसका गान्धर्व विवाह होने वाला है और विवाहोत्तर (मिथिला के आचारानुसार) चतुर्थीकर्म के चौथे दिन पर्यन्त सीमोल्लंघन शास्त्र-वर्जित है। इधर माता की उपर्युक्त आज्ञा का पालन करना भी जरूरी है। राजा असमंजस में पड़कर बड़ी बुद्धिमानी से दोनों तरफ का कार्य संपन्न करने का मार्ग निकालता हुआ अपने पार्श्ववर्ती विदूषक (माधव्य) से कहता है--

"सखे माधव्य! त्वमप्यम्बाभिः पुत्र इव गृहीतः, स भवानितः प्रतिनिर्वृत्य तपस्विकार्यव्यग्रतामस्माकमावेद्य तत्रभवतीनां पुत्रकार्यमनुष्ठातुमर्हसि।"

("सखे माधव्य! तुमको भी मेरी माताजी ने बेटे के समान ही माना है, इसलिए तुम यहाँ से लौट जाओ और मैं--'मुनियों के कार्य में व्यग्र हूँ।' यह उन्हें समझा कर माताजी के पुत्र का जो कार्य हो उसे तुम ही संपादन कर देना।") यहाँ राजा शकुन्तला के साथ गान्धर्व विवाह को माता से छिपाने के लिए--"तपस्विकार्यव्यग्रतामस्माकमावेद्य" ऐसा कह रहा है।)

राजा चाहता तो अपने द्रुतगामी रथ से उपर्युक्त चौथे दिन स्वयं राजधानी जाकर माता का चरण स्पर्श कर उसी दिन पुनः तपोवन लौट आता किन्तु मिथिला में चौथे दिन चतुर्थीकर्मोत्तर ही विवाह-संस्कार सम्पन्न माना जाता है। इस बीच सीमोल्लंघन तथा गुरुजनों का चरण-स्पर्श करना भी मना है। इसी मिथिलाचार को लेकर कवि ने राजा को असमंजस में डाल कर अपने नाटक को रोचक बनाया है। राजा कहता है--

"सत्यमाकुलीभतोऽस्मि--

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मनः।
पुरः प्रतिहतं शैलैः स्रोतः स्रोतोवहां यथा॥" (अं० २)

(सचमुच, मैं व्याकुल हो रहा हूँ--

जैसे पत्थरों के सामने पड़ जाने से नदी का प्रवाह दो भागों में विभक्त होकर बहने लगता है, उसी प्रकार मेरा मन भी दूर-दूर के दो

कार्यों (शकुन्तलापाणिग्रहण और माता का आज्ञापालन) के कारण द्विविधा में पड़ गया है ।)

(ख) (अंक ४) १. शकुन्तला के ससुराल जाते समय भाई की जगह आश्रम के ब्रह्मचारी (शार्ङ्गरव) और परिचारिका (धाई) की जगह आश्रम की साध्वी (गौतमी) जाती हैं तथा २. शकुन्तला 'अन्तर्वत्नी' (गर्भवती) है, इसका संकेत-सूचक नारियल का फल शकुन्तला को दिया जाता है--ये भी मिथिला-संस्कृति के द्योतक हैं ।

नोट—(१) मिथिला की यह प्रथा है कि लड़की के गौने में लड़की का भाई तथा उस घर की धाई लड़की के साथ जाते हैं और रास्ते में लड़की की सुख-सुविधा का ध्यान रखते हैं तथा जब तक लड़की अपने ससुराल के घर वालों से बोल-चाल में परिचित नहीं हो जाती तब तक वे दोनों उसकी देख-भाल करते हैं ।

(२) लड़की अगर मइके में अन्तर्वत्नी हो जाती है तो तद्बोधक नारियल-फल लड़की के अचल में धर दिया जाता है--उसको देख कर ससुराल में सास समझ जाती है कि बहू अन्तर्वत्नी है । महाकवि ने यहाँ इन्हीं दोनों अपने मिथिलाचारों का उल्लेख किया है ।

(ग) द्विरागमन (गौना) से पूर्व विवाहोत्तर चौथे दिन पितृ-गृह में ही कन्या की सुहाग रात मनाने की प्रथा परम्परा से मिथिला में चली आ रही है । शकुन्तला की भी सुहाग रात पितृ-आश्रम में ही मनायी गयी थी, फलस्वरूप 'अन्तर्वत्नी' बनकर वह ससुराल गयी ।

[२]

(क) कुमार-सम्भव—इस ग्रन्थ से भी कालिदास का मैथिल-संप्रदाय स्पष्ट प्रतिभासित होता है । महाकवि ने लिखा है--

"अथ विबुधगणांस्तानिन्दुमौलिर्विसृज्य
क्षितिधर-पतिकन्यामादधानः करेण ।
कनक-कलशयुक्तं भक्तिशोभा-सनाथं
क्षिति-विरचित-शय्यं कौतुकागारमागात् ॥"

(स० ७, श्लो. ९४)

(विवाहोपरान्त चन्द्रशेखर भगवान् शंकर ने मण्डपस्थ महा-प्राज्ञों को विदा करके, पार्वती को हाथ से पकड़े हुए, स्वर्ण-कलश से युक्त पुष्प-सुसज्जित 'पृथिवी पर' रचित शय्यावाले कौतुकागार (कोहबर = केलिभवन) में प्रवेश किया।)

मिथिला में विवाहोत्तर चतुर्थी कर्म से पूर्व तीन रात तक कलश, कदलीस्तम्भादि बहुचित्रित कौतुकागार (कोहबर घर) में 'भूमिस्थ शय्या'' पर ही कन्या-वर को एकत्र (अंगस्पर्श-वर्जित) सुलाते हैं। वहाँ प्रतिदिन वर वधू के बायें हाथ की कनिष्ठिकांगुली को अपने बायें हाथ की कनिष्ठिकांगुली से पकड़ कर आगे-पीछे होते हुए शनैः-शनैः वधू को कौतुकागार में ले जाते हैं। महाकवि ने अपनी इसी मिथिला-संप्रदाय को ध्यान में रखकर उपर्युक्त श्लोक की रचना की है।

(ख) महाकवि ने मिथिलाचारानुरूप विवाहोपरान्त पार्वती के साथ भगवान् शंकर को एक महीना तक ससुराल में रहने को (स० ८, श्लो. २० में) लिखा है—

"एवमिन्द्रिय-सुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः ।
शैलराज-भवने सहोमया मासमात्रमवसत् वृषभध्वजः ॥

---

१. चतुर्थीकर्मोत्तर उसी दिन रात में सुहागरात मनायी जाती है और वर पलंगशायी होते हैं, तत्पूर्व तक वर के लिये विवाहिता पत्नी का शरीर (प्रत्यंग) स्पर्श करना वर्जित है।

२. चतुर्थी कर्मोत्तर ही पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न होता है, अतः चतुर्थी तक वर द्वारा वधू का पाणिग्रहण न करवा कर कनिष्ठिकांगुलि ग्रहण करवाने की प्रथा मिथिला में है। (दे० संपादक संपादित विवाह पद्धति की 'विवाहसमीक्षा)।

(इस प्रकार इन्द्रियों के सुख के मार्ग संभोग का सेवन करके भगवान् शंकर ने मानो कामदेव को भी कृतकृत्य कर दिया और पार्वती के साथ हिमालय के घर में पूरा महीना ही बिता दिया।)

यह भी मिथिला की संस्कृति के अनुरूप ही है। मैथिल के सिवा दूसरे किसी भी संप्रदाय के लोग विवाहोत्तर द्विरागमन के पूर्व—इतने दिनों तक ससुराल में नहीं रहते और न वहाँ सुहागरात मनाते ही हैं।

जब तक वर ससुराल में रहते हैं तब तक मिथिला की ललनाएँ प्रतिदिन महाकवि विद्यापति तथा जगन्नाथ की सरस पदावली गा-गा कर वर-वधू की आर्ती उतारती हैं। मिथिला की यह प्रथा शिव-विवाह से समता करती है।

[३]

रघुवंश--मिथिला की संस्कृति ऐसी है कि कन्यादानकर्ता जब तक वर के हाथों में कन्यादानोदक नहीं छोड़ता, तब तक कन्या को अपने भावी पति का शरीर-स्पर्श करने का भी अधिकार नहीं होता--माला पहनाना तो दूर रहा। अपनी इसी मिथिला की संस्कृति को ध्यान में रखकर महाकवि कालिदास इन्दुमती-स्वयंवर में इन्दुमती के हाथों से माला नहीं पहिनवाकर उसकी धात्री (सुनन्दा) द्वारा राजकुमार अज के गले में पहिनवाते हैं। देखिए--

सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः।
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम्॥
(स० ६, श्लो० ८३)

(करभ के समान सुन्दर जांघों वाली उस इन्दुमती ने मंगलचूर्ण अर्थात् कुंकुम से गौर (अरुण) वर्ण की माला, जो इन्दुमती के प्रेमानुराग स्वरूप ही है, उसे अपनी धाई सुनन्दा के हाथों द्वारा रघु-पुत्र महाराज अज के गले में सस्नेह पहनवा दी।)--कु० इन्दुमती नहीं पहनायी। इससे मैथिली संस्कृति स्पष्ट झलक रही है।

(सीता-स्वयंवर में सन्त तुलसी ने अपनी सरयूपारिण-संस्कृति के अनुरूप भगवान् राम के गले में सीता द्वारा ही माला पहनवाई है।) इत्यलमधिकेन।

कालिदास का अन्तकाल

कालिदास की मृत्यु के सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'लंका' (सिलोन) के राजा एवं "जानकीहरणमहाकाव्य" के रचयिता कुमार दास इनके परम मित्र थे। एक बार उनसे मिलने जब ये लंका गये, तो वहाँ राजदरबार की एक वेश्या ने इन्हें अपने चंगुल में फसाना चाहा। उसने इनके ऊपर अपना कोई प्रभाव न देख इन्हें जहर खिलाकर मार डाला।

रघुवंशवर्णन

पृथिवी-पतियों में सबसे प्रथम भूपाल भगवान् भास्कर के पुत्र वैवस्वतमनु रघुवंश के प्रवर्तक हुए। रघुवंशी राजाओं के वर्णन के विषय में स्वयं महाकवि कालिदास ने कहा है--

"क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः" (सर्ग १, श्लो० २)

"अर्थात् सूर्य से उत्पन्न वह सूर्यवंश (रघुवंश) कहाँ और कहाँ मेरी मन्द मति........."

रघुवंशी भूपालों का साम्राज्य समुद्र-पर्यन्त विस्तृत था। स्वर्गलोक तक उनका रथ आता-जाता था। रघुवंशी राजा लोग सत्पात्रों को आवश्यकतानुरूप यथेच्छ दान देते थे। अपने रघुवंश की कीर्तिपताका को दिग्दिगन्तर फैलाने के लिए ही युद्ध में आक्रामक आततायियों को मार भगाते थे।

सन्तानोत्पत्ति तथा यज्ञफलप्राप्ति के लिये ही रघुवंशी राजा लोग पाणिग्रहण-संस्कार करते थे। बाल्यावस्था में वे सभी राजा लोग अपने कुलपरम्परागत गुरु-कुल में विद्याभ्यास करते थे और राजसिंहासनारूढ होते ही राजनीति का अक्षरशः पालन करते थे। प्रजाओं की भलाई के लिए ही प्रजाओं के लाभांश का षष्ठांश कर लेते थे। चौथेपन में वे राजा लोग ऋषिमुनियों के समान तपोवन में जा-जाकर वान-प्रस्थ धारण कर प्राणान्त समय में (ओं इत्येकाक्षरं ब्रह्मेति) परमात्मा का ध्यान करते हुए परम पद को प्राप्त करते थे।

रघुवंशियों के वंशानुक्रम

अयोध्याधिपति रघुवंशी महाराज दशरथ के पुत्र—राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के प्रसङ्ग में सभी सम्प्रदायों, पुराणों तथा इतिहासकारों का एक मत है। किन्तु अन्यान्य रघुवंशी राजाओं के वंशानुक्रम के प्रसंग में पुराणों में मतैक्य नहीं है।

विष्णुपुराण अंश ४, अध्याय चतुर्थ के अन्त में लिखा गया है कि-

"तस्यापि (सागरपौत्रस्यापि) अंशुमतः दिलीपपुत्रोऽभवत्, दिलीपस्याऽपि भगीरथो, योऽसौ गङ्गां स्वर्गादिहानीय 'भागीरथी'

संज्ञां चकार।" इससे सिद्ध होता है कि सगर के पौत्र 'अंशुमान्' के पुत्र दिलीप हुए और दिलीप के पुत्र भगीरथ हुए हैं।

पद्मपुराण के आधार पर तो अज के पुत्र दिलीप और दिलीप के पुत्र रघु हुए हैं।

महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश महाकाव्य में प्रायः पद्म-पुराणोक्त रघुवंशानुक्रम का ही उल्लेख किया है और महाकवि वाल्मीकि ने अपने रामायण में विष्णुपुराण के आधार पर या कल्पभेद[1] से रघुवंशानुक्रम का उल्लेख भिन्न रूप में किया है। इसके मत से राजकुमार रघु के जनक सूर्यवंशी महाराज ककुत्स्थ और महाराज भगीरथ के जनक महाराज दिलीप कहे जाते हैं।

काशी के स्वनामधन्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी अपने रचित "हरिश्चन्द्र नाटक" में प्रायः कालिदास की तरह पद्मपुराण के आधार पर ही रघुवंशानुक्रम को मान कर सत्यप्रतिज्ञ महाराज हरिश्चन्द्र के मुख से भागीरथी (गंगा) का वर्णन करवाया।

महर्षि वाल्मीकि के मतानुयायी विद्वानों की अमिट धारणा है कि महाराज हरिश्चन्द्र रघुवंशी महातपस्वी राजा भागीरथी के पहले के हैं, अतः हरिश्चन्द्र नाटक में गंगा के प्रति भागीरथी शब्दोपादान भारतेन्दु का प्रमाद है।

अस्तु, महाराज दिलीप से लेकर (अग्रिम पृष्ठोक्त) रघुवंशा-नुक्रम देखने से प्रमाद दूर हो जाता है। पद्मपुराणोक्त वंशानुक्रम में राजा भगीरथ राजा हरिश्चन्द्र के बहुत पहले के हैं, यह सत्य है।

---

१. द्र० वा० रामायण, आदि काण्ड अध्याय ७०, श्लोक १६.४३।
कल्पभेद से कलियुग का २८ वाँ कल्प अभी बीत रहा है। ('अष्टा-त्रिंशतितमे कलिप्रथमचरणे')। इसी तरह सत्ययुग, त्रेता तथा द्वापर के भी कई कल्प बीत चुके हैं। प्रत्येक त्रेता कल्प में रघुवंश का प्रादुर्भाव हुआ है--ऐसा भी कहा जाता है। प्रायः इसी कल्पभेद से सूर्यवंशानुक्रम में व्यासोक्त व्यतिक्रम देखने-सुनने को मिलता है।

राजा दिलीप से रघुवंशानुक्रम

विष्णुपुराणोक्त	पद्मपुराणोक्त	
राजा दिलीप	राजा दिलीप	
,, भगीरथ	,, रघु	
,, ककुत्स्थ	,, अज	
,, रघु	,, दशरथ	
,, कल्माषपाद	,, राम	
,, शङ्ख	,, कुश	
,, सुदर्शन	,, अतिथि	
,, अग्निवर्ण	,, निषध	◆ राजा शङ्खण
,, शीघ्रग	,, नल	,, व्युषिताश्व
,, मरु	,, नभस्	,, विश्वसह
,, प्रश्रुश्रुक	,, पुण्डरीक	,, हिरण्यनाभ
,, अम्बरीष	,, क्षेमधन्वन्	,, कौशल्य
,, नहुष	,, देवानीक	,, ब्रह्मिष्ठ
,, ययाति	,, अहीनगु	,, पुत्र
,, नाभाग	,, पारियात्र	,, पुष्य
,, अज	,, शिल	,, ध्रुवसन्धि
,, दशरथ	,, उन्नाभ	,, सुदर्शन
,, राम	,, वज्रनाभ ◆	,, अग्निवर्ण

सर्ग-सूची

सर्ग १ से ७

सर्ग ८ से १९



॥ श्रीः ॥

रघुवंशमहाकाव्यम्

'सञ्जीविनी' सहित सान्वय 'हिन्दी' व्याख्योपेतम्

प्रथमः सर्गः

ग्रन्थकर्तृमङ्गलाचरणम्—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ १ ॥

* सञ्जीविनी *

मातापितृभ्यां जगतो नमो वामार्धजानये ।
सद्यो दक्षिणदृक्पातसंकुचद् वामदृष्टये ॥ १ ॥

अन्तरायतिमिरोपशान्तये शान्तपावनमचिन्त्यवैभवम् ।
तन्नरं वपुषि कुञ्जरं मुखे मन्महे किमपि तुन्दिलं महः ॥ २ ॥

शरणं करवाणि शर्मदं ते चरणं वाणि ! चराचरोपजीव्यम् ।
करुणामसृणैः कटाक्षपातैः कुरु मामम्ब ! कृतार्थसार्थवाहम् ॥ ३ ॥

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकी-
मन्तस्तंत्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाकलयद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां-
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥ ४ ॥

मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया ।
व्याचष्टे कालिदासीयं काव्यत्रयमनाकुलम् ॥ ५ ॥

कालिदासगिरा सारं कालिदासः सरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥ ६ ॥

तथापि दक्षिणावर्तनाथाद्यैः क्षुण्णवर्त्मसु ।
वयं च कालिदासोक्तिष्ववकाशं लभेमहि ॥ ७ ॥

भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता ।
एषा सञ्जीविनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति ॥ ८ ॥

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥ ९ ॥

इह खलु सकलकविशिरोमणिः कालिदासः । "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" इत्याद्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात्काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनतां, "काव्यालापांश्च वर्जयेद्" इत्यस्य निषेधशास्त्रस्यासत्काव्यविषयतां च पश्यन् रघुवंशाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुः, चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनभूतविशिष्टदेवतानमस्कारस्य शिष्टाचारपरिप्राप्तत्वाद्, "आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्" इत्याशीर्वादाद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वान्, काव्यनिर्माणस्य विशिष्टशब्दार्थप्रतिपत्तिमूलकत्वेन विशिष्टशब्दार्थयोश्च "शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा । अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः ।" इति वायुपुराणसंहितावचनबलेन पार्वतीपरमेश्वरायत्तत्वदर्शनात्तत्प्रतिपित्सया तावेवाभिवादयते—वागिति ।

वागर्थाविवेत्येकं पदम् । इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं चेति वक्तव्यम् । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । वागर्थाविव शब्दार्थाविव सम्पृक्तौ नित्यसम्बद्धावित्यर्थः । नित्यसम्बद्धयोरुपमानत्वेनोपादानात् 'नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः' इति मीमांसकाः । जगतः लोकस्य पितरौ । माता च पिता च पितरौ । 'पिता मात्रा' इति द्वन्द्वैकशेषः । 'मातापितरौ पितरौ मातरपितरौ प्रसूजनयितारौ' इत्यमरः । एतेन शर्वशिवयोः सर्वजगज्जनकतया वैशिष्ट्यमिष्टार्थप्रदानशक्तिः परमकारुणिकत्वं च सूच्यते । पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती 'तस्यापत्यम्' इत्यण् । 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्०' इत्यादिना ङीप् । पार्वती च परमेश्वरश्च पार्वतीपरमेश्वरौ । परमशब्दः सर्वोत्तमत्वद्योतनार्थः । मातुरभ्यर्हितत्वादल्पाक्षरत्वाच्च पार्वतीशब्दस्य पूर्वनिपातः । वागर्थप्रतिपत्तये शब्दार्थयोः सम्यग्ज्ञानार्थं वन्दे अभिवादये । अत्रोपमाऽलंकारः स्फुट एव । तथोक्तं—(स्वतः सिद्धेन भिन्नेन सम्पन्नेन च धर्मतः । साध्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकगोपमा ॥) इति प्रायिकश्चोपमाऽलंकारः कालिदासोक्तकाव्यादौ भूदेवताकस्य सर्वगुरोर्मगणस्य प्रयोगाच्छुभलाभः सूच्यते । तदुक्तं 'शुभदो मो भूमिमयः' इति । वकारस्यामृतबीजत्वात्प्रचयगमनादिसिद्धिः ॥ १ ॥

अन्वयः—वागर्थाविव सम्पृक्तौ जगतः पितरौ पार्वतीपरमेश्वरौ वागर्थप्रतिपत्तये वन्दे ।

हिन्दी—शब्द और अर्थ के समान नित्य सम्बद्ध (जुड़े हुए) तथा संसार के माता-पिता, शैलकुमारी भगवती पार्वती और (काशीपति) भगवान् शंकर को (मैं कालिदास), शब्दार्थ परिज्ञान के लिए प्रणाम करता हूँ ॥१॥

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ २ ॥

सञ्जी०—क्वेति । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । 'ऋदोरप्'। 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति साधुः । सूर्यः प्रभवः यस्य स सूर्यप्रभवो वंशः क्व अल्पो विषयो ज्ञेयोऽर्थो यस्याः सा मे मतिः प्रज्ञा च क्व ? द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः । सूर्यवंशमाकलयितुं न शक्नोमीत्यर्थः । तथा च तद्विषयप्रबन्धनिरूपणं तु दूरापास्तमिति भावः । तथा हि । दुस्तरं तरितुमशक्यम् 'ईषद् दुःसुषु०' इत्यादिना खल्प्रत्ययः । सागरं मोहादज्ञानादुडुपेन प्लवेन । 'उडुपं तु प्लवः कोलः' इत्यमरः । अथवा चर्मविनद्धेन पानपात्रेण । 'चर्मविनद्धमुडुप प्लवः काष्ठं करण्डवत्' इति सज्जनः । तितीर्षुस्तरितुमिच्छुरस्मि भवामि । तरतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । अल्पसाधनैरधिकारम्भो न सुकर इति भावः । इदं च वंशोत्कर्षकथनं स्वप्रबन्धमहत्त्वार्थमेव । तदुक्तम्—'प्रतिपाद्यमहिम्ना च प्रबन्धो हि महत्तरः ।' इति ॥ २ ॥

अन्वयः—सूर्यप्रभवः वंशः क्व ? अल्पविषया (मम) मतिश्च क्व ? (अहम) मोहात् उडुपेन दुस्तरं सागरं तितीर्षुः अस्मि ।

हिन्दी—कहाँ सूर्य से उत्पन्न हुआ वह सूर्यवंशी रघुवंश और कहाँ अल्प विषयों को ग्रहण करने वाली मेरी मन्द बुद्धि, अतः मैं अज्ञान से उसी तरह उसे पार करना (उसका वर्णन करना) चाहता हूँ, जैसे कोई अज्ञानी छोटी नैया से अपार समुद्र को पार करने की व्यर्थ इच्छा करता है । भाव यह है—जैसे छोटी नैया से समुद्र का पार करना असम्भव है, वैसे ही मुझे अपनी मन्द बुद्धि से रघुवंश का वर्णन करना असम्भव सा प्रतीत होता है । यहाँ महाकवि का रघुवंश के महत्त्व का कथन अपने ग्रन्थ का महत्त्व दिखलाने के लिए ही है ॥ २ ॥

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥ ३ ॥

सञ्जी०—मन्द इति। किं च मन्दो मूढः। 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः स्युः' इत्यमरः। तथाऽपि कवियशःप्रार्थी। कवीनां यशः काव्यनिर्माणेन जातं तत्प्रार्थनाशीलोऽहं प्रांशुनोन्नतपुरुषेण लभ्ये प्राप्ये फले फलविषये लोभादुद्बाहुः फलग्रहणायोच्छ्रितहस्तो वामनः खर्व इव। 'खर्वो ह्रस्वश्च वामनः' इत्यमरः। उपहास्यतामुपहासविषयताम्। 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्प्रत्ययः। गमिष्यामि प्राप्स्यामि ॥ ३ ॥

अन्वयः—मन्दः (तथापि) कवियशःप्रार्थी (अहं कालिदासः) प्रांशुलभ्ये फले लोभात् उद्बाहुः वामनः इव उपहास्यतां गमिष्यामि।

हिन्दी—यथाजात (मूर्ख) होते हुए भी कवि के यश को प्राप्त करने की अभिलाषा करने वाला मैं (कालिदास) उसी तरह हास्यास्पद हो जाऊँगा, जैसे लम्बे पुरुष से पाने के योग्य फल के लोभ से हाथों को निरर्थक ऊँचा करने वाला 'बौना' पुरुष हँसी का पात्र बन जाता है ॥ ३ ॥

मन्दश्चेत्तर्हि त्यज्यतामयमुद्योग इत्यत आह—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ ४ ॥

सञ्जी०—अथवेति। अथवा पक्षान्तरे पूर्वैः सूरिभिः कविभिर्वाल्मीक्यादिभिः कृतवाग्द्वारे कृतं रामायणादिप्रबन्धरूपा या वाक् सैव द्वारं प्रवेशो यस्य तस्मिन्। अस्मिन्सूर्यप्रभवे वंशे कुले। 'जन्मनैकलक्षणः सन्तानो वंशे' वज्रेण मणिवेधकसूचीविशेषेण। 'वज्रं, त्वस्त्री कुलिशशस्त्रयोः। मणिवेधे रत्नभेदे' इति केशवः। समुत्कीर्णे विद्धे सूत्रस्येव मे मम गतिः सञ्चारोऽस्ति। वर्णनीये रघुवंशे मम वाक्प्रसरोऽस्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वयः—अथवा पूर्वसूरिभिः कृतवाग्द्वारे अस्मिन् वंशे वज्रसमुत्कीर्णे मणौ सूत्रस्य इव मे गतिः अस्ति।

हिन्दी—अथवा मेरे लिये यह मार्ग सरल है कि प्राचीन कवियों ने रामयणादि काव्य में रघु-कुल-चरित लिख कर (लेखक के लिये) वाणी का द्वार पहले ही खोल दिया है अतः उसमें प्रवेश करना है और रघुकुल का वर्णन करना मेरे लिए अब वैसे ही सुगम है, जैसे हीरे की कनी (यन्त्रविशेष) से बीधी (छेदी) हुई मणि में डोरा पिरोना (घुसाना) सरल है ॥ ४ ॥

'सोऽहम्' इत्यादिभिः पञ्चभिः श्लोकैः कुलकेनाह—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥ ५ ॥

सञ्जी०—स इति । सोऽहं 'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' इत्युत्तरेण सम्बन्धः । किंविधानां रघूणामित्यत्रोत्तराणि विशेषणानि योज्यानि । आजन्मनः । जन्मारभ्येत्यर्थः । 'आङ् मर्यादाऽभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः तस्य शुद्धाना-मित्यनेन सुप्सुपेति, समासः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । आजन्मशुद्धानाम् । निषेकादिसर्वसंस्कारसम्पन्नानामित्यर्थः । आफलोदयमाफलसिद्धेः कर्म येषां ते तथोक्तास्तेषाम् । प्रारब्धान्तगामिनामित्यर्थः । आसमुद्रं क्षितेरीशानाम् । सार्वभौमाणामित्यर्थः । आनाकं रथवर्त्म येषां तेषाम् । इन्द्रसहचारिणा-मित्यर्थः । अत्र सर्वत्राङोऽभिविध्यर्थत्वं द्रष्टव्यम् । अन्यथा मर्यादाऽर्थत्वे जन्मा-दिषु शुद्धयभावप्रसङ्गात् ॥ ५ ॥

अन्वयः—सः अहम् आजन्मशुद्धानाम् आफलोदयकर्मणाम्, आसमुद्र-क्षितीशानाम् आनाकरथवर्त्मनाम् ("रघूणाम् अन्वयं वक्ष्ये" इत्युत्तरेण नवमश्लोकस्थेन सम्बन्धः)।

हिन्दी—वे सूर्यवंशी जो शुद्ध सनातन निषेकादि वैदिक संस्कारों से पवित्र थे और जो किसी कार्य को प्रारम्भ करने के पश्चात् उसके फल की सिद्धि को पूरा करके ही रहते थे तथा जिनका साम्राज्य समुद्र तक विस्तृत था (चक्रवर्ती कहलाते थे) और जिनके रथ का मार्ग स्वर्गलोक तक फैला था अर्थात् मर्त्यलोक से स्वर्गलोक तक जिनके रथ आते-जाते थे। (मैं कालि-दास उन्हीं इन्द्र के मित्र रघुवंशी राजाओं का वर्णन करूँगा) ॥ ५ ॥

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥ ६ ॥

सञ्जी०—यथेति । विधिमनतिक्रम्य यथाविधि । 'यथाऽसादृश्ये' इत्य-व्ययीभावः । तथा हुतशब्देन सुप्सुपेति समासः एवं 'यथाकामार्चित' इत्यादी-नामपि द्रष्टव्यम् । यथाविधि हुता अग्नयो यैस्तेषाम् । यथाकाममभिलाषमन-तिक्रम्यार्चितार्थिनाम् । यथाऽपराधमपराधमनतिक्रम्य दण्डो येषां तेषाम् ।

यथाकालं कालमनतिक्रम्य प्रबोधिनां प्रबोधनशीलानाम् । चतुर्भिर्विशेषणैर्देवता-यजनातिथिसत्कारदण्डधरत्वप्रजापालनसमयजागरूकत्वादीनि विवक्षितानि ॥

अन्वयः—(सः अहम्) यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनां यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् (रघूणाम् अन्वयं वक्ष्ये)।

हिन्दी—जो सूर्यवंशी राजा लोग शास्त्रोक्त विधि के अनुसार ही यज्ञाग्नि में आहुति करते थे, जो याचकों को स्व-स्व इच्छानुसार दान देकर सन्तुष्ट करते थे, जो अपराधी को अपराध के अनुरूप (पक्षपात रहित) ही दण्ड देते थे और जो समय पर जागरूक (सावधान) होकर कार्य करते थे (मैं कालिदास उन्हीं रघुवंशी राजाओं का वर्णन करूँगा ॥ ६ ॥

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥ ७ ॥

सञ्जी०—त्यागायेति । त्यागाय सत्पात्रे विनियोगस्त्यागस्तस्मै । 'त्यागो विहापितं दानम्' इत्यमरः । संभृतार्थानां सञ्चितधनानाम् । न तु दुर्व्यापाराय । सत्याय मितभाषिणां मितभाषणशीलानाम् । न तु पराभवाय । यशसे कीर्तये । 'यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः । विजिगीषूणां विजेतुमिच्छूनाम् । न त्वर्थसंग्रहाय । प्रजायै संतानाय गृहमेधिनां दारपरिग्रहाणाम् । न तु कामोपभोगाय । अत्र 'त्यागाय' इत्यादिषु 'चतुर्थी तदर्थार्थ०' इत्यादिना तादर्थ्ये चतुर्थी समासविधानज्ञापकाच्चतुर्थी । गृहैर्दारैर्मेधन्ते सङ्गच्छन्त इति गृहमेधिनः । 'दारेष्वपि गृहाः पुंसि' इत्यमरः । 'जाया च गृहिणी गृहम्' इति इलायुधः । 'मेधृ संगमे' इति धातोर्णिनिः एभिर्विशेषणैः परोपकारित्वं सत्यवचनत्वं पितॄणां शुद्धत्वं च विवक्षितानि ॥ ७ ॥

अन्वयः—(सः अहम्) त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणां यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् (रघूणाम् अन्वयं वक्ष्ये)।

हिन्दी—जो सत्पात्रों को दान देने के लिये ही धन-संचय करते थे, सत्यवचन कहने के लिये ही मितभाषी बने थे, जो अपने सूर्यवंश के यश फैलाने के लिये ही विजयी बनते थे। (न कि दूसरों के राज्यों पर आधिपत्य जमाने के लिये) और जो सन्तानोत्पत्ति के लिये ही विवाह करते थे (मैं कालिदास उन्हीं रघुवंशी राजाओं का वर्णन करूँगा) ॥ ७ ॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ ८ ॥

सञ्जि०—शैशव इति । शिशोर्भावः शैशवं बाल्यम् । प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्र०' इत्यञ्प्रत्ययः । 'शिशुत्वं शैशवं बाल्यम्' इत्यमरः । तस्मिन्वयस्यभ्यस्तविद्यानाम् । एतेन ब्रह्मचर्याश्रमो विवक्षितः । यूनो भावो यौवनं तारुण्यम् । युवादित्वादण्प्रत्ययः । 'तारुण्यं यौवनं समे इत्यमरः । तस्मिन्वयसि विषयैषिणां भोगाभिलाषिणाम् । एतेन गृहस्थाश्रमो विवक्षितः । वृद्धस्य भावो वार्द्धकं वृद्धत्वम् । 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' इति वुञ्प्रत्ययः । 'वार्द्धकं वृद्धसंघाते वृद्धत्वे वृद्धकर्मणि' इति विश्वः । सङ्घातार्थेऽत्र 'वृद्धाच्च' इति वक्तव्यात्सामूहिको वुञ् । तस्मिन्वार्द्धके वयसि मुनीनां वृत्तिरिव वृत्तिर्येषां तेषाम् । एतेन वानप्रस्थाश्रमो विवक्षितः । अन्ते शरीरत्यागकाले योगेन परमात्मध्यानेन । 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः । तनुं देहं त्यजन्तीति तनुत्यजां देहत्यागिनाम् । 'कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप् । एतेन मोक्षभावो विवक्षितः ॥

अन्वयः—शैशवे अभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणां वार्धके मुनिवृत्तीनाम् अन्ते योगेन तनुत्यजाम् (रघूणाम् अन्वयं वक्ष्ये) ।

हिन्दी—जो बाल्यावस्था में गुरुकुल में जाकर विद्याभ्यास करते थे और तदुपरि जवान होने पर राजोचित विषयों का उपभोग करते थे और बुढ़ापा आने पर ऋषि-मुनियों के समान बन में जाकर वानप्रस्थ धारण करते थे (तपस्वी बन जाते थे) तथा मुमुर्षु (प्राणान्त) काल में परमात्मा का ध्यान करते हुए (संन्यास धारण करके) शरीर का त्याग करते थे (मैं कालिदास उन्हीं रघुकुल के राजाओं का वर्णन करूँगा) ॥ ८ ॥

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥ ९ ॥

सञ्जि०—रघूणामिति । सोऽहं लब्धप्रवेशः । तनुवाग्विभवोऽपि स्वल्पवाणीप्रसारोऽपि सन् । तेषां रघूणां गुणैस्तद्गुणैः । आजन्मशुद्ध्यादिभिः कर्तृभिः कर्णं मम श्रोत्रमागत्य चापलं चपलकर्माविमृश्यकरणरूपं कर्तुम् ।

युवादित्वात् कर्मण्यण्। 'क्रियाऽर्थोपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इत्यनेन चतुर्थी। प्रचोदितः प्रेरितः सन्। रघूणामन्वयं तद्विषयप्रबन्धं वक्ष्ये ॥ कुलकम् ॥

अन्वयः—(सः अहम्) तनुवाग्विभवः अपि तद्गुणैः आगत्य चापलाय प्रचोदितः सन् रघूणाम् अन्वयं वक्ष्ये।

हिन्दी—वह (मैं कालिदास) वाणी का अल्प वैभव वाला होता हुआ भी रघुकुल के राजाओं के आजन्मशुद्धि आदि गुणों से कानों में आकर चंचल कर्म करने के लिये प्रेरित होता हुआ रघुकुल में उत्पन्न राजाओं का वंश-वर्णन करूँगा ॥ ९ ॥

संप्रति स्वप्रबन्धपरीक्षार्थं सतः प्रार्थयते—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा: ॥ १० ॥

सञ्जी०—तमिति। तं रघुवंशाख्यं प्रबन्धं सदसतोर्गुणदोषयोर्व्यक्तेर्हेतवः कर्तारः सन्तः श्रोतुमर्हन्ति। यथा हि। हेम्नो विशुद्धिर्निर्दोषस्वरूपं श्यामिकाऽपि लोहान्तरसंसर्गात्मको दोषोऽपि वाग्नौ संलक्ष्यते। नान्यत्र। तद्वदत्रापि सन्त एव गुणदोषविवेकाधिकारिणः। नान्य इति भावः ॥ १० ॥

अन्वयः—सदसद्व्यक्तिहेतवः सन्तः तं श्रोतुम् अर्हन्ति हि हेम्नः विशुद्धिः वा श्यामिका अपि अग्नौ संलक्ष्यते।

हिन्दी—गुण-दोषों को पहचानने वाले क्षीर-नीर-विवेकी विद्वान् ही मेरे इस काव्यात्मक प्रबन्ध को जानने के अधिकारी हैं, क्योंकि सोने की शुद्धि (खरापन) अथवा किसी लोहे आदि की मिलावट (खोटापन) अग्नि में डालने पर ही देखी जाती है ॥ १० ॥

वर्ण्यं वस्तूपक्षिपति श्लोकद्वयेन—

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥ ११ ॥

सञ्जी०—वैवस्वत इति। मनस ईषिणो धीराः विद्वांस इति यावत्। पृषोदरादित्वात्साधुः। तेषां माननीयः पूज्यः छन्दसां वेदानाम्। 'छन्दः पद्ये च वेदे च' इति विश्वः। प्रणव ओंकार इव। महीं क्षियन्तीशत इति महीक्षितः

क्षितीश्वराः। क्षिधातोरैश्वर्यार्थात्क्विप्तुगागमश्च। तेषामाद्य आदिभूतः। विवस्वतः सूर्यस्यापत्यं पुमान् वैवस्वतो नाम वैवस्वतः इति प्रसिद्धो मनुरासीत्॥ ११॥

अन्वय—छन्दसां प्रणव इव मनीषिणां माननीयः महीक्षिताम् आद्य। वैवस्वतः नाम मनुः आसीत्।

हिन्दी—जिस तरह वेदों में (सर्व प्रथम) ओंकार (ॐ) सर्वोपरि है, उसी तरह पृथ्वी-पतियों में सबसे प्रथम भूपाल तथा विद्वानों में सब से बड़ा पूज्य अग्रणी सूर्य के पुत्र वैवस्वत नामक मनु (हुए)॥ १॥

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव॥ १२॥

सञ्जी०—तदिति। शुद्धिरस्यास्तीति शुद्धिमान्। तस्मिञ्छुद्धिमति तदन्वये तस्य मनोरन्वये वंशे। 'अन्ववायोऽन्वयो वंशो गोत्रं चाभिजनं कुलम्' इति हलायुधः। अतिशयेन शुद्धिमाञ्छुद्धिमत्तरः 'द्विवचनविभज्योप०' इत्यादिना तरप्। दिलीप इति प्रसिद्धो राजा इन्दुरिव राजेन्दू राजश्रेष्ठः। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः०' इत्यादिना समासः। क्षीरनिधाविन्दुरिव प्रसूतो जातः॥१२॥

अन्वयः—शुद्धमति तदन्वये शुद्धिमत्तरः राजेन्द्र दिलीपः इति क्षीरनिधौ इन्दुः इव प्रसूतः।

हिन्दी—पवित्र उस वैवस्वत मनु के कुल में अत्यन्त पवित्र चरित्र वाले राजाओं में श्रेष्ठ महाराज दिलीप, क्षीरसमुद्र-मंथन से उपलब्ध चन्द्रमा के समान उत्पन्न हुए (समुद्र-मंथन से जैसे आह्लादकर सुप्रकाशमान चंद्रमा निकले, वैसे राजाओं में चन्द्र (आह्लादकर) राजा दिलीप उत्पन्न हुए)॥

'व्यूढ' इत्यादिभिस्त्रिभिः श्लोकैर्दिलीपं विशिनष्टि—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥ १३॥

सञ्जी०—व्यूढेति। व्यूढं विपुलमुरो यस्य स व्यूढोरस्कः। 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' इति कप्प्रत्ययः। 'व्यूढं विपुलं भद्रं स्फारं समं वरिष्ठं च' इति यादवः। वृषस्य स्कंध इव स्कंधो यस्य स तथा। 'सप्तम्युपमान०' इत्यादिनोत्तरपदलो-

पिबहुव्रीहिः। शालो वृक्ष इव प्रांशुरुन्नतः शालप्रांशुः। 'प्राकारवृक्षयोः शालः सर्जतरुः स्मृतः' इति यादवः। 'उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे' इत्यमरः। महाभुजो महाबाहुः। आत्मकर्मक्षमं स्वव्यापारानुरूपं देहमाश्रितः प्रायः क्षात्रः क्षत्त्रसम्बन्धी धर्म इव स्थितः। मूर्तिमान्पराक्रम इव स्थितः इत्युत्प्रेक्षा ॥१३॥

अन्वयः—व्यूढोरस्कः वृषस्कन्धः शालप्रांशुः महाभुजः आत्मकर्मक्षमं देहम् आश्रितः क्षात्त्रः धर्मः इव (स्थितः)।

हिन्दी—विशाल वक्षस्थल (छाती) वाले, बैल के कन्धों के समान (मोटे-चौड़े) कन्धों वाले, शाल वृक्ष के समान लम्बे लम्बे आजानु बाहु वाले तथा अपने काम करने में सक्षम शरीर को धारण किये हुये जैसे क्षत्रियों के धर्म, पराक्रम हो, वैसे ही महाराज दिलीप थे ॥ १३ ॥

सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोभिभाविना।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥ १४ ॥

सञ्जी०—सर्वेति। सर्वातिरिक्तसारेण सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽधिकबलेन 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः, सर्वाणि भूतानि तेजसाऽभिभवतीति सर्वतेजोऽभिभावी तेन। सर्वेभ्य उन्नतेनात्मना शरीरेण 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इति विश्वः। मेरुरिव। उर्वीं क्रान्त्वाऽऽक्रम्य स्थितः। मेरावपि विशेषणानि तुल्यानि। 'अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः। तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥' इति मनुवचनाद्राज्ञः सर्वतेजोऽभिभावित्वं ज्ञेयम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना सर्वोन्नतेन आत्मना मेरुः इव उर्वीं क्रान्त्वा (स्थितः)।

हिन्दी—महाराज दिलीप ने अपने पराक्रम के प्रभाव से सभी राजाओं को नतमस्तक कर अपने प्रभावशाली विशालकाया से सुमेरु पर्वत के समान समस्त भूमण्डल को दबा कर बैठे थे।

(भाव यह है कि जैसे सुमेरु पर्वत ने अपनी दृढ़ता, तेज तथा ऊँचाई से सभी ऊँचे से पदार्थों को दबा कर अपनी विस्ताराकृति से समस्त पृथिवी को व्याप्त कर रक्खा है, वैसे ही महाराज दिलीप ने अपने पराक्रमादि से सभी राजाओं को अपने अधीन कर रक्खा था।) ॥ १४ ॥

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥ १५ ॥

सञ्जी०—आकारेति । आकारेण मूर्त्या सदृशी प्रज्ञा यस्य सः । प्रज्ञया सदृशागमः—प्रज्ञाऽनुरूपशास्त्रपरिश्रमः । आगमैः सदृश आरम्भः कर्म यस्य स तथोक्तः । आरभ्यत इत्यारम्भः कर्म । तत्सदृश उदयः फलसिद्धिर्यस्य स तथोक्तः ॥ १५ ॥

अन्वयः—आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः आगमैः सादृशारम्भः आरम्भसदृशोदयः (आसीत्) ।

हिन्दी—शरीराकार के समान ही विशाल बुद्धि वाले, बुद्धि के अनुरूप शास्त्रों का अभ्यास करने वाले और शास्त्रों के तथा प्रारम्भ कर्म के अनुरूप ही फल-सिद्धि प्राप्त करने वाले—महाराज दिलीप थे ॥ १५ ॥

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् ।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः ॥ १६ ॥

सञ्जी०—भीमेति । भीमैश्च कान्तैश्च नृपगुणैः राजगुणस्तेजः प्रतापादिभि कुलशीलदाक्षिण्यादिभिश्च स दिलीप उपजीविनामाश्रितानाम् । 'यादोभिर्जल-जीवैः 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः । रत्नैश्चार्णव इव । अधृष्योऽनभिभव-नीयः । अभिगम्य आश्रयणीयश्च बभूव ॥ १६ ॥

अन्वयः—भीमकान्तैः नृपगुणैः सः उपजीविनां यादोरत्नैः अर्णवः इव अधृष्यश्च अभिगम्यश्च बभूव ।

हिन्दी—भयानक जलजन्तुओं और मनोरम मणियों से भरपूर समुद्र के ऐसा—भयानक तेज, प्रताप एवं सर्वोच्च कुल, वंश, दया, दाक्षिण्यादि राज-गुणों से समलंकृत महाराज दिलीप, आश्रितजनों से अतिरस्करणीय और सेवा करने योग्य भी हो गये ॥ १६ ॥

रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥ १७ ॥

सञ्जी०—रेखेति । नियन्तुः शिक्षकस्य सारथेश्च तस्य दिलीपस्य सम्ब-न्धिन्यो नेमीनां चक्रधाराणां वृत्तिरिव वृत्तिर्व्यापारो यासां ताः 'चक्रधारा

प्रधिर्नेमिः' इति यादवः। 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्यमरः। प्रजाः। आ मनोः, मनुमारभ्येत्यभिविधः। पदद्वयं चैतत्। समासस्य विभाषितत्वात्। क्षुण्णादभ्यस्तात्प्रहृताच्च वर्त्मन आचारपद्धतेरध्वनश्च परमधिकम्। इतस्तत इत्यर्थः। रेखा प्रमाणमस्येति रेखामात्रं रेखाप्रमाणम्। ईषदपीत्यर्थः। 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इत्यनेन मात्रच्प्रत्ययः परशब्दविशेषणं चैतत्। न व्यतीयुर्नातिक्रान्तवत्यः। कुशलसारथिप्रेषिता रथनेमय इव यस्य प्रजाः पूर्वक्षुण्णमार्गं न जहुरिति भावः॥ १७॥

अन्वयः—नियन्तुः तस्य नेमिवृत्तयः (इव) प्रजाः आ मनोः क्षुण्णात् वर्त्मनः परं रेखामात्रम् अपि न व्यतीयुः।

हिन्दी—शिक्षक और सारथि की तरह उन महाराज दिलीप की रथचक्र के समान चलने वाली प्रजाओं ने वैवस्वत मनु के समय से लेकर अभ्यस्त या प्रचलित सदाचार पद्धति या मार्ग को रथचक्रधारा की तरह किंचित् भी उल्लंघन नहीं किया (दिलीप की प्रजा राजनीति (राजाज्ञा) से कभी भी डिगी नहीं)॥ १७॥

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ १८॥

सञ्जी०—प्रजानामिति। स राजा प्रजानां भूत्या अर्थाय भूत्यर्थं वृद्ध्यर्थमेव। (अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या) ग्रहणक्रियाविशेषणं चैतत् ताभ्यः प्रजाभ्यो बलिं षष्ठांशरूपं करमग्रहीत्। 'भागधेयः करो बलिः' इत्यमरः। तथा हि। रविः सहस्रं गुणा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा सहस्रगुणं सहस्रधोत्स्रष्टुं दातुम्। उत्सर्जनक्रियाविशेषणं चैतत् रसमम्ब्वादत्ते गृह्णाति। 'रसो गन्धे रसे स्वादे तिक्तादौ विषरोगयोः। शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे॥' इति विश्वः॥ १८॥

अन्वयः—सः प्रजानां भूत्यर्थम् एव ताभ्यः बलिम् अग्रहीत्। हि रविः सहस्रगुणम् उत्स्रष्टुं रसम् आदत्ते।

हिन्दी –महाराज दिलीप प्रजाओं की भलाई के लिए ही प्रजाओं से कर (मालगुजारी) लिया करते थे। जैसे कि सूर्य (बादल द्वारा) पृथिवी

पर हजार गुना जल बरसाने (भूलोक वासी की भलाई करने) के लिये ही पृथिवी पर से (अपनी रश्मि द्वारा) जल लेते हैं—खींचते हैं ॥ १८ ॥

सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ॥ १९ ॥

सञ्जी०—सेनेति । तस्य राज्ञः सेना चतुरङ्गबलं परिच्छाद्यतेऽनेनेति परिच्छद उपकरण बभूव । छत्रचामरादितुल्यमभूदित्यर्थः । 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इति घप्रत्ययः 'छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य' इत्युपधाह्रस्वः । अर्थस्य प्रयोजनस्य तु साधनं द्वयमेव । शास्त्रेष्वकुण्ठिताऽव्याहता बुद्धिः 'व्यापृता' इत्यपि पाठः, धनुष्याततताऽऽरोपिता मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणाः, इत्यमरः । नीतिपुरःसरमेव तस्य शौर्यमभूदित्यर्थः ॥ १९ ॥

अन्वयः—तस्य सेना परिच्छदः (बभूव) । अर्थसाधनं द्वयम् एक शास्त्रेषु अकुण्ठिता बुद्धिः च धनुषि आतता मौर्वी (अभूत्) ।

हिन्दी—उन महाराज दिलीप की चतुरंगिणी (हाथी, घोड़ा, रथ तथा पैदल चलने वाली) सेना तो केवल शोभा बढ़ाने वाली ही थी । वस्तुतः उनके प्रयोजनों का निवर्तन करने वाले दो ही साधन थे—एक तो राजनीति, (धर्मनीति, कर्मनीति आदि शास्त्रों में न रुकने वाली बुद्धि—शुभ्र शासन) और दूसरी (आक्रामक को भगाने के लिये ही अहर्निश तने हुए) धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यंचा (डोरी) ॥ १९ ॥

राज्यमूलं मन्त्ररक्षणं तस्यासीदित्याह—

तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च ।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥ २० ॥

सञ्जी०—तस्येति । संवृतमन्त्रस्य गुप्तविचारस्य । 'वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः' इत्यमरः । शोकहर्षादिसूचको भ्रुकुटीमुखरागादिराकार इङ्गितं चेष्टितं हृदयगतविकारो वा । 'इङ्गिते हृद्गतो भावो बहिराकार आकृतिः' इति सज्जनः । गूढे आकारेङ्गिते यस्य । स्वभावचापलाद् भ्रमपरम्परया मुखरागादिलिङ्गैर्वाऽतृतीयगामिमन्त्रस्य तस्य । प्रारभ्यन्त इति प्रारम्भाः सामाद्युपायप्रयोगाः । प्रागित्यव्ययेन पूर्वजन्मोच्यते तत्र भवाः प्राक्तनाः । 'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' इत्यनेन ट्यु ल्प्रत्ययः । संस्काराः पूर्वकर्मवासना

इव। फलेन कार्येणानुमेया अनुमातुं योग्या आसन्। अत्र याज्ञवल्क्यः—'मन्त्रमूलं यतो राज्यमतो मन्त्रं सुरक्षितम्। कुर्याद्यथा तन्न विदुः कर्मणामाफलोदयात्॥' इति॥ २०॥

अन्वयः—संवृतमन्त्रस्य च गूढाकारेङ्गितस्य तस्य प्रारम्भाः प्राक्तनाः संस्काराः इव फलानुमेयाः (आसन्)।

हिन्दी—अपने विचार को गुप्त रखने वाले तथा बाहर-भीतर के हर्ष, शोकादि सूचक चिह्नों को छिपाने वाले उन महाराज दिलीप के साम, दान आदि समस्त प्रारम्भिक कार्य पूर्वजन्म के संस्कारों के समान फल से ही जानने योग्य थे॥ २०॥

सम्प्रति सामाद्युपायान् विनैवात्मरक्षादिकं कृतवानित्याह—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्॥ २१॥

सञ्जी०—जुगोपेति। अत्रस्तोऽभीतः सन्। 'त्रस्तो भीरुभीरुकभीलुकाः' इत्यमरः। त्रासोपाधिमन्तरेणैव त्रिवर्गसिद्धेः प्रथमसाधनत्वादेवात्मानं शरीरं जुगोप रक्षितवान्। अनातुरोऽरुग्ण एव धर्मं सुकृतं भेजे। अर्जितवानित्यर्थः। अगृध्नुरगर्धनशील एवार्थमाददे स्वीकृतवान्। 'गृध्नुस्तु गर्धनः। लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णकसमौ लोलुपलोलुभौ' इत्यमरः। 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' इति क्नुप्रत्ययः। असक्त आसक्तिरहित एव सुखमन्वभूत्॥ २१॥

अन्वयः—सः अत्रस्तः (सन्) आत्मानं जुगोप अनातुरः (सन्) धर्मं भेजे, अगृध्नुः (सन्) अर्थम् आददे, असक्तः (सन्) सुखम् अन्वभूत्।

हिन्दी—महाराज दिलीप भय से रहित (निडर) होते हुए अपने शरीर की रक्षा करते थे, निरोग होते हुए धर्म-कीर्ति की सेवा करते थे, लोभ से विमुख (निर्लोभी) होते हुए धनों का संग्रह (राज-खजाने की वृद्धि) करते थे तथा बिना आसक्त (विलासिता-रहित) होते हुए सुखों का अनुभव करते थे॥ २१॥

परस्परविरुद्धानामपि गुणानां तत्र साहचर्यमासीदित्याह—

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः।
गुणा गुणानुबन्धित्वात् तस्य सप्रसवा इव॥ २२॥

सञ्जी०—ज्ञान इति। ज्ञाने परवृत्तान्तज्ञाने सत्यपि मौनं वाङ्नियमनम्। यथाऽऽह कामन्दकः—(नान्योपतापि वचनं मौनं व्रतचरिष्णुता) इति। शक्तौ प्रतीकारसामर्थ्येऽपि क्षमा अपकारसहनम्। अत्र चाणक्यः—(शक्तानां भूषणं क्षमा) इति। त्यागे वितरणे सत्यपि श्लाघाया विकत्थनस्य विपर्ययोऽभावः। गुणैर्विरुद्धैर्मौनादिभिरनुबन्धित्वात्सहचारित्वात् सह प्रसवो जन्म येषां ते सप्रसवाः सोदरा इवाभूवन्। विरुद्धा अपि गुणास्तस्मिन्नविरोधेनैव स्थिता इत्यर्थः॥ २२॥

अन्वयः—ज्ञाने मौनं शक्तौ क्षमा त्यागे श्लाघाविपर्ययः (इत्थं) तस्य गुणाः गुणानुबन्धित्वात् सप्रसवाः इव (आसन्)।

हिन्दी—दूसरे के भेद आदि को जानते हुए भी चुप रहना, पराक्रमी होते हुए भी परकृत अपकार को सह लेना, ब्राह्मणादि को ऐच्छिक दान देने पर महादानी होते हुए भी अपनी प्रशंसा सुनने या करने से विमुख रहना—इस प्रकार महाराज दिलीप के ज्ञानादि गुण; मौनादि विरुद्ध गुणों के साथ रहने के कारण सोदर के समान थे॥ २२॥

द्विविधं वृद्धत्वं ज्ञानेन वयसा च। तत्र तस्य ज्ञानेन वृद्धत्वमाह—

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः।
तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना॥ २३॥

सञ्जी०—अनाकृष्टेति। विषयैः शब्दादिभिः 'रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी' इत्यमरः। अनाकृष्टस्यावशीकृतस्य विद्यानां वेदवेदाङ्गादीनां पारदृश्वनः पारमन्तं दृष्टवतः। दृशेः क्वनिप्। धर्मरतिर्यस्य तस्य राज्ञो जरसा जरया विना। 'विस्रसा जरा' इत्यमरः। 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः, 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशः। वृद्धत्वं वार्धकमासीत्। तस्य यूनो विषयवैराग्यादिज्ञानगुणसम्पत्त्या ज्ञानतो वृद्धत्वमासीदित्यर्थः। नाथस्तु—चतुर्विधं वृद्धत्वमिति ज्ञात्वा 'अनाकृष्टस्य' इत्यादिना विशेषणत्रये वैराग्यज्ञानशीलवृद्धत्वान्युक्तानीत्यवोचत्॥ २३॥

अन्वयः—विषयैः अनाकृष्टस्य विद्यानां पारदृश्वनः धर्मरतेः तस्य जरसा विना वृद्धत्वम् आसीत्।

हिन्दी—सांसारिक विषय-वासनाओं से आकृष्ट नहीं होने वाले एवं वेद वेदाङ्गादि चतुर्दश विद्याओं के पारंगत धर्मानुरागी महाप्राज्ञ महाराज दिलीप जवानी में ही इतने प्रचुर ज्ञानी हो गये थे कि वृद्धावस्था आने के पहले ही उनमें वृद्धत्व जान पड़ने लगा था—उनके विचार वृद्ध के समान जान पड़ते थे ॥ २३ ॥

द्विविधं पितृत्वं रक्षणेनोपादानेन च। तत्र तस्य रक्षणेन पितृत्वमाह—

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥ २४ ॥

सञ्जी०—प्रजानामिति। प्रजायन्त इति प्रजा जनाः 'उपसर्गे च संज्ञायाम्' इति डप्रत्ययः। 'प्रजा स्यात्संततौ जने' इत्यमरः। तासां विनयस्य शिक्षाया आधानात्करणात् सन्मार्गप्रवर्तनादिति यावत्। रक्षणाद् भयहेतुभ्यस्त्राणाद् आपन्निवारणादिति यावत्। भरणादन्नपानादिभिः पोषणादपि। अपि समुच्चये। स राजा पिताऽभूत्। तासां पितरस्तु जन्महेतवो जन्ममात्रकर्तारः केवलमुत्पादका एवाभूवन्। जननमात्र एव पितृणां व्यापारः सदा शिक्षा-रक्षणादिकं तु स एव करोतीति तस्मिन्पितृत्वव्यपदेशः। आहुश्च—(स पिता यस्तु पोषकः इति ॥ २४ ॥

अन्वयः—प्रजानां विनयाधानात् रक्षणात् अपि सः पिता (अभूत्), तासां पितरः (तु) जन्महेतवः केवलं (आसन्)।

हिन्दी—विनम्रतादि की शिक्षा देने से, संकट में रक्षा करने से और (समय पड़ने पर) अन्न पानादि से भी भरणपोषण करने से वे महाराज दिलीप ही सचमुच प्रजाओं के पिता (रक्षक) थे और उन प्रजाओं के अपने पितृगण तो केवल जन्म देने के ही कारण बने थे ॥ २४ ॥

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान् परिणेतुः प्रसूतये।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ॥ २५ ॥

सञ्जी०—स्थित्या इति। दण्डमर्हन्तीति दण्ड्याः 'दण्डादिभ्यो यः' इति यप्रत्ययः। [अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महा-वाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥] इति शास्त्रवचनात्। तान्दण्ड्यानेव स्थित्यै लोकप्रतिष्ठायै दण्डयतः शिक्षयतः। प्रसूतये संतानायैव परिणेतुर्दारान्परि-

कर [टैक्स] लेकर) पृथिवी का और इन्द्र ने धान्य की वृद्धि होने के लिये स्वर्ग का दोहन किया—स्वर्ग से मेघद्वारा जलवर्षण कराया ।

(इस प्रकार दोनों ने सम्पत्ति के आदान और प्रदान से दोनों लोकों का पालन-पोषण किया । दिलीप ने यज्ञों से स्वर्गलोक का इन्द्र ने मेघद्वारा जल-वृष्टि से मर्त्यलोक का पोषण किया) ॥ २६ ॥

न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः ।
व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ॥ २७ ॥

सञ्जी०—नेति । राजानोऽन्ये नृपा रक्षितुर्भयेभ्यस्त्रातुस्तस्य राज्ञो यशो नानुययुः किल नानुचक्रुः खलु । कुतः यद्यस्मात्कारणात्तस्करता चौर्यं परस्वेभ्यः परधनेभ्यः स्वविषयभूतेभ्यो व्यावृत्ता सती श्रुतौ वाचकशब्दे स्थिता प्रवृत्ता, अपहार्यान्तराभावात्तस्करशब्द एवापहृत इत्यर्थः । अथवा (अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि) इति न्यायेन शब्दे स्फुरिता न तु स्वरूपतोऽस्ती-त्यर्थः ॥ २७ ॥

अन्वयः—राजानः रक्षितुः तस्य यशः न अनुययुः किल । यत् तस्करता परस्वेभ्यः व्यावृत्ता (सती) श्रुतौ स्थिता ।

हिन्दी—दूसरे राजा लोग भय से, रक्षा करने वाले महाराज दिलीप की यश-प्रतिष्ठा का अनुकरण नहीं कर सके, क्योंकि उनके राज्य में तस्करता (चोरी) शब्द दूसरे के धन से परांमुख होकर केवल वाचक शब्द में ही (श्रवण-गोचर) रहा अर्थात् दूसरे अपहरणीय पदार्थ के अभाव से 'तस्कर' शब्द का ही अपहरण हो गया—तस्करता (चोरी) शब्द, शब्द में ही रहा स्वरूपतः नहीं ॥ २७ ॥

द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम् ।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ॥ २८ ॥

सञ्जी०—द्वेष्य इति । शिष्टो सज्जनो द्वेष्यः शत्रुरपि । आर्त्तस्य रोगिण औषधं यथौषधमिव । तस्य संमतोऽनुमत आसीत् । दुष्टो जनः प्रियोऽपि प्रेमा-स्पदीभूतोऽपि । उरगक्षता सर्पदष्टाऽङ्गुलीव । (छिन्द्याद् बाहुमपि दुष्टात्मनः) इति न्यायात् त्याज्य आसीत् तस्य शिष्ट एव बन्धुर्दुष्ट एव शत्रुरित्यर्थः ॥

अन्वयः—शिष्टः द्वेष्यः अपि आर्तस्य औषधं यथा तस्य सम्मतः (आसीत्) । दुष्टः प्रियः अपि उरगक्षता अंगुली इव तस्य त्याज्यः आसीत् ।

हिन्दी—सज्जन के शत्रु होने पर भी (गलती करने पर भी) रोगी की औषध के समान वह सज्जन महाराज दिलीप को प्रिय हो जाता था, किन्तु प्रिय वचन बोलने वाला भी दुर्जन सर्प से डसी हुई अंगुली के समान उनके लिये त्याज्य था (अंगुली में सर्प के डसने पर तुरत उस अंगुली को काट देने पर लोग जता है ।) ॥ २८ ॥

तस्य परोपकारित्वमाह—

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।
तथा हि सर्वे तस्यासन् परार्थैकफला गुणाः ॥२९॥

सञ्जी०—तमिति । वेधाः स्रष्टा । 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधाः' इत्यमरः । तं दिलीपम् । समाधीयतेऽनेनेति समाधिः कारणसामग्री । महाभूतानां यः समाधिस्तेन महाभूतसमाधिना विदधे ससर्ज । नूनं ध्रुवम् । इत्युत्प्रेक्षा । तथाहि । तस्य राज्ञः सर्वे गुणा रूपरसादिमहाभूतगुणवदेव पदार्थः परप्रयोजनमेवैकं मुख्यं फलं येषां ते तथोक्ता आसन् । महाभूतगुणोपमानेन कारणगुणाः कार्यं संक्रामन्तीति न्यायः सूचितः ॥२९॥

अन्वयः—वेधाः तं महाभूतसमाधिना नूनम् विदधे । तथाहि तस्य सर्वे गुणाः परार्थैकफलाः आसन् ।

हिन्दी—ब्रह्मा ने महाराज दिलीप के शरीर को पृथिव्यादि पंचमहाभूतों की कारण-सामग्री से ही बनाया था । क्योंकि निश्चय करके ही वे महाराज दिलीप के सभी शौर्यादि गुण पंचमहाभूतों (रूप-रसादि गुणों) के समान ही दूसरों के प्रयोजन वाले थे ।

(भाव यह है कि—जिस प्रकार पृथिव्यादि पंचमहाभूतों के गन्धादि गुण दूसरों के लिये ही हैं, उसी प्रकार महाराज दिलीप के दया-दाक्षिण्यादि गुण दूसरों के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये ही थे, इसी लिये विधाता ने पंचमहाभूतों की कारण-सामग्री से ही दिलीप के शरीर की रचना की थी । ऐसी उत्प्रेक्षा है) ॥ २९ ॥

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ॥ ३० ॥

सञ्जी०—स इति। स दिलीपः वेलाः समुद्रकूलानि। 'वेला कूलेऽपि वारिधेः' इति विश्वः। ता एव। वप्रवलयाः प्राकारवेष्टनानि यस्यास्ताम्। 'स्याच्चयो वप्रमस्त्रियाम्। प्रकारो वरणः शालः प्राचीनं प्रान्ततो वृतिः' इत्यमरः। परितः खातं परिखा दुर्गवेष्टनम् 'खातं खेयं तु परिखा' इत्यमरः। 'अन्येष्वपि दृश्यते' इत्यत्रापिशब्दात् खनेर्डप्रत्ययः। अपरिखाः परिखाः सम्पद्यमानाः कृताः परिखीकृताः सागरा यस्यास्ताम्। अभूततद्भावे च्विः। अविद्यमानमन्यस्य राज्ञः शासनं यस्यास्तामनन्यशासनामुर्वीमेकपुरीमिव शशास। अनायासेन शासितवानित्यर्थः॥ ३०॥

अन्वयः—सः वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् अनन्यशासनाम् उर्वीम् एकपुरीम् इव शशास।

हिन्दी—उस महाराज दिलीप ने समुद्र को ही परकोटा (चाहारदिवारी) बनाने वाली और चारों ओर से समुद्र को ही परिखा (दुश्मन से सहसा पार नहीं होने वाली=महानाला) के रूप में रखने वाली और अन्य किसी भी राजा से शासित नहीं होने देने वाली भारत-वसुन्धरा (बृहत्तर भारत) का एक नगरी के समान शासन किया।

समुद्रपर्यन्त जावा, वर्मा, लंका, सिलौन तथा नवोदित पाकिस्तान, बंगलादेश सुमात्रा, ये सब लेकर विस्तीर्ण बृहत्तर भारतभूमि का महाराज दिलीप ने अपने पराक्रम के प्रभाव से एक नगरी के समान अनायास ही शासन किया—सुमात्रा की ही श्रीराम की विमाता 'सुमित्रा' जी थीं।)॥ ३०॥

तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा॥ ३१॥

सञ्जी०—तस्येति। तस्य राज्ञो मगधवंशे जाता मगधवंशजा। 'सप्तम्यां जनेर्डः' इति डप्रत्ययः। एतेनाभिजात्यमुक्तम्। दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्तनम्। 'दक्षिणः सरलोदारपरच्छन्दानुवर्तिषु' इति शाश्वतः। तेन रूढं प्रसिद्धम्। तेन नाम्ना। अध्वरस्य यज्ञस्य दक्षिणा दक्षिणाख्या पत्नीव सुदक्षिणेति प्रसिद्धा पत्न्यासीत्। अत्र श्रुतिः—(यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसः) इति। (दक्षिणाया दाक्षिण्यं नार्मत्विजो दक्षिणत्वप्रापकत्वम्। ते दक्षन्ते दक्षिणा प्रतिगृह्य) इति च॥३१॥

अन्वयः—तस्य मगधवंशजा दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना अध्वरस्य पत्नी दक्षिणा इव सुदक्षिणा इति (पत्नी) आसीत् ।

हिन्दी—उन महाराज दिलीप की—मगध के राजवंश में उत्पन्न दूसरे के इच्छानुकूल चलने से यज्ञ की पत्नी दक्षिणा की तरह 'सुदक्षिणा' नाम से सुविख्यात, धर्मपत्नी' महारानी सुदक्षिणा थी ॥ ३१ ॥

कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि ।
तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—कलत्रवन्तमिति । वसुधाऽधिपः, अवरोधेऽन्तः पुरवर्गे महति मनस्विन्या दृढचित्तया पतिचित्तानुवृत्त्यादिनिर्बन्धक्षमयेत्यर्थः, तया सुदक्षिणया लक्ष्म्या चात्मानं कलत्रवन्तं भार्यावन्तं मेने । 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः । वसुधाऽधिप इत्यनेन वसुधया चेति गम्यते ॥ ३२ ॥

अन्वयः—वसुधाधिपः अवरोधे महत्यपि मनस्विन्या तया लक्ष्म्या च आत्मानं कलत्रवन्तं मेने ।

हिन्दी—भारत-सम्राट् चक्रवर्ती महाराज दिलीप अन्तःपुर के रनिवास की बहुत सी पटरानियाँ होने पर भी (सब से अधिक दृढ़ चित्तवाली पाणि-गृहीती मनस्विनी) राजलक्ष्मी स्वरूप सुदक्षिणा को ही यज्ञ में अपने साथ बैठने वाली ('पत्युर्नो यज्ञसंयोगे') पत्नी समझते थे ।—सुदक्षिणा ही 'महाराज्ञी' कहलाती थीं और महाराज को वसुधाधिप (पृथिवी-पति) कहा गया है अतः महाराज सुदक्षिणा के समान सम्पदा (लक्ष्मी) के भी पति (पातीति पतिः) अपने को समझते थे ।) ॥ ३२ ॥

तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः ।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥ ३३ ॥

सञ्जी०—तस्यामिति । स राजा । आत्मानुरूपायां तस्याम् । आत्मनो जन्म यस्यासावात्मजन्मा पुत्रः । तस्मिन्समुत्सुकः । यद्वा । आत्मनो जन्मनि पुत्ररूपेणोत्पत्तौ समुत्सुकः सन् । (आत्मा वै पुत्रनामासि) इति श्रुतेः । बिलम्बितं फलं पुत्रप्राप्तिरूपं येषां तैर्मनोरथैः कदा मे पुत्रो भवेदित्याशाभिः कालं निनाय यापयामास ॥ ३३ ॥

अन्वयः—सः आत्मानुरूपायां तस्याम् आत्मजन्मसमुत्सुकः (सन्) विलम्बितफलैः मनोरथैः कालं निनाय।

हिन्दी—महाराज दिलीप ने अपने मन के अनुरूप ही उस पत्नी सुदक्षिणा से पुत्रोत्पत्ति के विषय में अतिशय उत्कंठित होते हुए, विलम्ब युक्त (तपस्या के पश्चात् ही पुत्रप्राप्ति रूप) फलाकांक्षा से समय बिताया ॥३३॥

सन्तानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—संतानेति। तेन दिलीपेन। सन्तानेऽर्थः प्रयोजनं यस्य तस्मै संतानार्थाय विधयेऽनुष्ठानाय। स्वभुजादवतारिताऽवरोपिता जगतो लोकस्य गुर्वी धूः भारः सचिवेषु निचिक्षिपे निहिता ॥ ३४ ॥

अन्वयः—तेन सन्तानार्थाय विधये स्वभुजात् अवतारिता जगतः गुर्वी धूः सचिवेषु निचिक्षिपे।

हिन्दी—महाराज दिलीप ने पुत्रप्राप्त्यर्थं अनुष्ठान (तपस्या) के लिये प्रस्तुत होकर कुछ दिनों के लिये राज-कार्य से मुक्त होने के अभिप्राय से अपने भुज-बल पर के प्रजापालनरूप गुरुतर कार्य-भार को मन्त्रियों (संसद सदस्यों) के ऊपर सौंप दिया ॥ ३४ ॥

अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया।
तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥ ३५ ॥

सञ्जी०—अथेति। अथ धुरोऽवतारानन्तरं पुत्रकाम्ययाऽऽत्मनः पुत्रेच्छया 'काम्यच्च' इति पुत्रशब्दात्काम्यच्प्रत्ययः। 'अप्रत्ययात्' इति पुत्रकाम्यतेरप्रत्ययः। ततष्टाप् तया। तौ दम्पती जायापती। राजदन्तादिषु जायाशब्दस्य दमिति निपातनात्साधुः। प्रयतौ पूतौ विधातारं ब्रह्माणमभ्यर्च्य 'स खलु पुत्रार्थिभिरुपास्यते' इति तान्त्रिकाः। गुरोः कुलगुरोर्वसिष्ठस्याश्रमं जग्मतुः पुत्रप्राप्त्युपायापेक्षयेति शेषः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अथ पुत्रकाम्यया प्रयतौ तौ दम्पती विधातारम् अभ्यर्च्य गुरोः वसिष्ठस्य आश्रमं जग्मतुः।

हिन्दी—मन्त्रियों के माथे राज्य-भार सौंपने के बाद पुत्रप्राप्ति की कामना से वे दोनों पति-पत्नी महाराज्ञी सुदक्षिणा और महाराज दिलीप

पवित्र होकर (स्वस्त्ययन के पश्चात्) पहले भाग्य-विधाता ब्रह्मा जी की षोडशोपचार पूजा करके ब्रह्मा के मानसपुत्र कुल-गुरु महर्षि वसिष्ठ के आश्रम को प्रस्थान किये ॥ ३५ ॥

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ ।
प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥ ३६ ॥

सञ्जी०—स्निग्धेति । स्निग्धो मधुरो गम्भीरो निर्घोषो यस्य तमेकं स्यन्दनं रथम् । प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः । 'प्रावृष एण्यः' इत्येण्यप्रत्ययः । तं प्रावृषेण्यं पयोवाहं मेघं विद्युदैरावताविव । आस्थितावारूढौ जग्मतुरिति पूर्वेण सम्बन्धः । इरा आपः ।'इरा भूवाक्सुराऽप्सु स्यात्' इत्यमरः । इरावान्समुद्रः । तत्र भव ऐरावतोऽभ्रमातङ्गः । 'ऐरावणोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः' इत्यमरः । 'अभ्रमातङ्गत्वाच्चाभ्रस्वरूपत्वात्' इति क्षीरस्वामी । अत एव मेघारोहणं विद्युत्साहचर्यञ्च घटते । किञ्च विद्युत ऐरावतसाहचर्यादिवैरावती संज्ञा । ऐरावतस्य स्त्र्यैरावतीति क्षीरस्वामी । तस्मात्सुष्ठूक्तं विद्युदैरावताविवेति । एकस्यारोहणोक्त्या कार्यसिद्धिबीजं दम्पत्योरत्यन्तसौमनस्यं सूचयति ॥ ३६ ॥

अन्वयः—स्निग्धगम्भीरनिर्घोषम् एकं स्यन्दनं प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावतौ इव आस्थितौ (तौ जग्मतुः) ।

हिन्दी—मनोरम (मेघध्वनिवत्) शब्द करनेवाले रथ पर वर्षाकालीन मेघ की विद्युल्लता और ऐरावत हाथी के समान बैठे हुए वे दोनों (युगल मूर्ति चमकती हुई विद्युल्लता के समान सुदक्षिणा और महापराक्रमी विशाल काय ऐराव के समान महाराज दिलीप) गुरु वसिष्ठ के आश्रम को जा रहे थे ।

मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरौ ।
अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव ॥ ३७ ॥

सञ्जी०—मा भूदिति । पुनः किंभूतौ दम्पती । आश्रमपीडा मा भून्मास्त्विति हेतोः । 'माङि लुङ्' इत्याशीरर्थे लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्याडागमनिषेधः । परिमेयपुरःसरौ मितपरिचरौ । अनुभावविशेषात्तु तेजोविशेषात्सेनापरिवृताविव स्थितौ ॥ ३७ ॥

अन्वयः—आश्रमपीडा मा भूत् इति परिमेयपुरःसरौ अनुभावविशेषात् तु सेनापरिवृतौ इव (तौ जग्मतुः ।)

हिन्दी—गुरु वसिष्ठ के आश्रमवासी जनों को कष्ट न हो इसलिये थोड़े ही सिपाहियों को साथ में लेने पर भी वन जाते हुए वे दोनों अपने प्रताप के प्रभाव से ऐसे प्रतीत होते थे, मानो चारों तरफ से बड़ी भारी फौज से सुरक्षित होते हुए वसिष्ठाश्रम को जा रहे हों ॥ ३७ ॥

सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः ।
पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः ॥ ३८ ॥

सञ्जी०—सेव्यमानाविति । पुनः कथंभूतौ । सुखशीतलत्वात्प्रियः स्पर्शो येषां तैः । शालनिर्यासगन्धिभिः सर्जतरुनिस्यन्दगन्धवद्भिः । 'शालः सर्जतरुः स्मृतः' इति शाश्वतः । उत्किरन्ति विक्षिपन्तीत्युत्किराः । 'इगुपध०' इत्यादिना किरतेः कप्रत्ययः । पुष्परेणूनामुत्किरास्तैराधूता मान्द्यादीषत्कम्पिता वनराजयो यैस्तैर्वातैः सेव्यमानौ ॥ ३८ ॥

अन्वयः—सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः पुष्परेणूत्किरैः आधूतवनराजिभिः वातैः सेव्यमानौ (तौ जग्मतुः) ।

हिन्दी—आनन्दप्रद सुख देनेवाले सर्ज नामक वृक्षों की गोंद (धूमन) की सुगन्धियों से सुवासित तथा फूलों के सुगन्धित परागों को उड़ाने वाले एवं 'मार्गस्थ' वन-वृक्षों की पंक्तियों को धीरे-धीरे हिलाने वाले शीतल पवन से सेवित वे दोनों सुदक्षिणा और दिलीप वसिष्ठाश्रम को जा रहे थे ॥ ३८ ॥

मनोभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः ।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—मनोऽभिरामा इति । रथनेमिस्वनोन्मुखैः । मेघध्वनिशङ्कयोन्नमितमुखैरित्यर्थः । शिखण्डिभिर्मयूरैर्द्विधा भिन्नाः शुद्धविकृतभेदेनाविष्कृतावस्थायां च्युताच्युतभेदेन वा षड्जो द्विविधः । तत्साहश्यात्केका अपि द्विधा भिन्ना इत्युच्यते । अत एवाह षड्जसंवादिनीरिति । षड्भ्यः स्थानेभ्यो जातः षड्जः । तदुक्तं (नासाकण्ठमुरस्तालुजिह्वादन्तांश्च संस्पृशन् । षड्भ्यः संजायते यस्मात्तस्मात्षड्ज इति स्मृतः ।) सच तन्त्रकण्ठजन्मा स्वरविशेषः । 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः । पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः

स्वराः।' इत्यमरः। षड्जेन संवादिनीः सदृशीः। तदुक्तं मातङ्गेन—(षड्जं मयूरो वदति) इति। मनोऽभिरामाः, मनःप्रियाः। के मूर्धनि कायन्ति ध्वनन्तीति केका मयूरवाण्यः। 'केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः। ताः केकाः शृण्वन्तौ इति श्लोकार्थः॥ ३९॥

अन्वयः—रथनेमिस्वनोन्मुखैः शिखण्डिभिः द्विधाः भिन्नाः षड्जसंवादिनीः मनोभिरामाः केकाः शृण्वन्तौ (तौ जग्मतुः।)

हिन्दी—वसिष्ठाश्रम को जाते हुए महाराज दिलीप के—रथ के पहियों की गड़-गड़ाहट शब्द सुनकर (मेघ-ध्वनि की भ्रान्ति से) ऊपर की ओर मुख किये हुए मयूरों से शुद्ध और विकृत इन दो प्रकारों से भिन्न 'षड्ज' स्वर के समान मनोरम मयूरों की वाणियों (कूजनों) को सुनते हुए वे दोनों सुदक्षिणा और दिलीप गुरु वसिष्ठ के आश्रम को जा रहे थे॥ ३९॥

(जो शब्द नाक, कंठ, छाती, तालु जीभ तथा दाँतों को स्पर्श करता हुआ इन छै स्थानों से एकदा उत्पन्न होता है वह (मनोहर) शब्द 'षड्ज' कहा गया है। द्र० संजीविनी)

परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु॥ ४०॥

सञ्जी०—परस्परेति। विश्रम्भाद् दूरं समीपं यथा भवति तथोज्झितं वर्त्म यैस्तेषु। स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु स्यन्दने रथे आबद्धाऽऽसञ्जिता दृष्टिर्नेत्रं यैस्तेषु। 'दृग्दृष्टिर्नेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणि' इति हलायुधः। कौतुकवशाद्रथासक्तदृष्टिष्वित्यर्थः। मृग्यश्च मृगाश्च मृगाः 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः। तेषां द्वन्द्वेषु। मिथुनेषु। 'स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वम्' इत्यमरः। परस्पराणां सादृश्यं पश्यन्तौ। द्वन्द्वशब्दसामर्थ्यान्मृगीषु सुदक्षिणाऽक्षिसादृश्यं दिलीपो, दिलीपाक्षिसादृश्यं च मृगेषु सुदक्षिणेत्येवं विवेक्तव्यम्॥ ४०॥

अन्वयः—अदूरोज्झितवर्त्मसु स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु मृगद्वन्द्वेषु परस्पराक्षिसादृश्यं पश्यन्तौ (तौ जग्मतुः।)

हिन्दी—'वसिष्ठाश्रम को जाते हुए'—रथ के मार्ग को छोड़ कर (राजमार्ग के बीच से हट-हट के किनारे हो-हो कर पास ही से रथ को एक टक = अपलक, दृष्टि से) देखते हुए मृग-मृगी के जोड़ों में सुदक्षिणा-दिलीप एक

दूसरे के नेत्रों की समता को देखते हुए (दिलीप मृगी की आँखों में सुदक्षिणा के और सुदक्षिणा मृग की आखों में दिलीप के नेत्रों का सादृश्य देखते हुए, वसिष्ठ के आश्रम को जा रहे थे) ॥ ४० ॥

श्रेणीबन्धाद् वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम् ।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमितानमी ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—श्रेणीबन्धादिति । श्रेणीबन्धात्पङ्क्तिबन्धाद्धेतोरस्तम्भामाधारस्तम्भरहिताम् । तोरणं बहिर्द्वारम् । 'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमरः । तत्र या स्रग्विरच्यते तां तोरणस्रजं वितन्वद्भिः । कुर्वद्भिरिवेत्यर्थः । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकेव शब्दप्रयोगाभावेऽपि गम्योत्प्रेक्षेयम् । कलनिर्ह्रादैरव्यक्तमधुरध्वनिभिः सारसैः पक्षिविशेषैः । कारणैः । क्वचिदुन्नमिताननी । 'सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः' इति यादवः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—श्रेणीबन्धात् अस्तम्भां तोरणस्रजं वितन्वद्भिः कलनिर्ह्रादैः सारसैः क्वचित् उन्नमिताननी (तौ वसिष्ठाश्रमं जग्मतुः) ।

हिन्दी—कहीं आकाश में पंक्तिवद्ध होकर उड़ते हुए तथा मनोरम शब्द बोलने वाले सारसों (हंसों) को देखने के लिये आकाश की ओर मुख उठाये हुए जब वे दोनों (सुदक्षिणा और दिलीप) वसिष्ठाश्रम को जा रहे थे, उस समय आकाश में एक साथ पंक्तिबद्ध होकर उड़ते हुए हंस के पंक्ति-पुंज ऐसे जान पड़ते थे, मानो बिना खम्भे के ही फूल-मालाओं से सजी-सजाई बन्दनबार (तोरण) टंगी हो ।

(उपर्युक्त कवि-कल्पना से यह भान होता है कि महाराज का रथ तपोवन (वसिष्ठाश्रम) के निकट पहुँच रहा है । सपत्नीक महाराज दिलीप के स्वागतार्थ तपोवन के हंस-गण स्वतः पंक्तिबद्ध होकर उनके स्वागत के लिये मानो मांगलिक तोरण ही बन गये थे—'बहिर्द्वारं च तोरणम्') ॥ ४१ ॥

पवनस्याऽनुकूलत्वात् प्रार्थनासिद्धिशंसिनः ।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—पवनस्येति । प्रार्थनासिद्धिशंसिनोऽनुकूलत्वादेव मनोरथसिद्धिसूचकस्य पवनस्यानुकूलत्वाद् गन्तव्यदिगभिमुखत्वात् । तुरगोत्कीर्णैः रजोभिरस्पृष्टा अलका देव्याः वेष्टनमुष्णीषं च राज्ञो ययोस्तौ तथोक्तौ । 'शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः' इति वक्ष्यति ॥ ४२ ॥

अन्वयः—प्रार्थनासिद्धिशंसिनः पवनस्य अनुकूलत्वात् तुरगोत्कीर्णैः रजोभिः अस्पृष्टालकवेष्टनौ (तौ जग्मतुः)।

हिन्दी—मनोरथ-सिद्धि की सूचना देने वाली वायु की अनुकूलता से (सम्मुख दिशा की ओर बहने से) राज-रक्षक (पलटन) के घोड़ों के खुरों से उड़ती हुई धूलि से महाराज्ञी सुदक्षिणा की घुंघराले बाल और महाराज दिलीप के राजमुकुट नहीं छुये गये (धूलि-धूसरित नहीं हुए) ऐसे स्वच्छ आकृति वाले वे दोनों वसिष्ठाश्रम को जा रहे थे ।। ४२ ।।

सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् ।
आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणम् ।। ४३ ।।

सञ्जी०—सरसीष्विति । सरसीषु वीचिविक्षोभशीतलं भूमिसंघट्टनेन शीतलं स्वनिःश्वासमनुकर्तुं शीलमस्येति स्वनिःश्वासानुकारिणम् । एतेन तयोरुत्कृष्टस्त्रीपुंसजातीयत्वमुक्तम् । अरविन्दानामामोदमुपजिघ्रन्तौ घ्राणेन गृह्णन्तौ ।। ४३ ।।

अन्वयः—सरसीषु वीचिविक्षोभशीलं स्वानिःस्वासानुकारिणम् अरविन्दानाम् आमोदम् उपजिघ्रन्तौ (तौ जग्मतुः)।

हिन्दी—तड़ागों में जलतरंगों के संचलन से शीतल होने के कारण अपने श्वासवायु का अनुकरण करने वाली कमलों की मनोरम सुगन्धियों को सूंघते हुए वे दोनों राजा-रानी (वसिष्ठाश्रम को जा रहे थे)।। ४३ ।।

ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ।। ४४ ।।

सञ्जी०—ग्रामेष्विति । आत्मविसृष्टेषु स्वदत्तेषु । यूपो नाम संस्कृतः पशुबन्धाय दारुविशेषः । यूपा एव चिह्नानि येषां तेषु ग्रामेष्वमोघाः सफला यज्वनां विधिनेष्टवताम् ।। 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । 'सुयजोर्ङ्वनिप्' इति ङ्वनिप्प्रत्ययः । आशिष आशीर्वादान् । अर्घः पूजाविधिः, तदर्थं द्रव्यमर्घ्यम् । 'पादार्घाभ्यां च' इति यत्प्रत्ययः । 'षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थे पाद्यं पादाय वारिणी' इत्यमरः । अर्घ्यस्यानुपदमन्वक् । अर्घ्यस्वीकारानन्तरमित्यर्थः । प्रतिगृह्णन्तौ स्वीकुर्वन्तौ । पदस्य पश्चादनुपदम् । पश्चादर्थेऽव्ययीभावः । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीबमव्ययम्' इत्यमरः ।

अन्वयः—आत्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु ग्रामेषु यज्वनाम् अर्घ्यानुपदम् अमोघा आशिषः प्रतिगृह्णन्तौ (तौ आश्रमं जग्मतुः ।)

हिन्दी—महाराज दिलीप ब्राह्मणों को दान में दिये गये यूप-चिह्न वाले गाँवों के विधिपूर्वक यज्ञ सम्पादन करने वाले याज्ञिक ब्राह्मणों द्वारा अर्घ्य को ग्रहण करने के बाद उनके अमोघ शुभाशीर्वादों को भी स्वीकार करते हुए (वे दोनों राजा-रानी वसिष्ठाश्रम को जा रहे थे) ॥

(भाव यह है कि-रास्ते में जाते हुए महाराज्ञी और महाराज का गांवों के याज्ञिक ब्राह्मण गण, जिन्हें महाराज ने दान में यज्ञार्थ 'यूप' दिया था, आशीर्वादात्मक अभिषेक करते थे। यज्ञ में पशु को बाँधने के लिये संस्कार किये गये काष्ठविशेष को 'यूप' कहते हैं। "यूपो नाम संस्कृतः पशुबन्धाय, दारुविशेषः" इति मल्लिनाथः) ॥ ४४ ॥

हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—हैयङ्गवीनमिति । ह्यस्तनगोदोहोद्भवं घृतं हैयङ्गवीनम् । 'तत्तु हैयङ्गवीनं स्याद् ह्योगोदोहोद्भवं धृतम्' इत्यमरः । 'हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्' इति निपातः । तत्सद्यो घृतमादायोपस्थितान् घोषवृद्धान् । 'घोष आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः । वन्यानां मार्गशाखिनां नामधेयानि पृच्छन्तौ । दुह्याच्'—इत्यादिना पृच्छतेर्द्विकर्मत्वम् । कुलकम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—हैयङ्गवीनम् आदाय उपस्थितान् घोषवृद्धान् वन्यानां मार्गशाखिनां नामधेयानि पृच्छन्तौ (तौ जग्मतुः) ।

हिन्दी—पहले दिन की दुही हुई गाय के वासी दूध से बना ताजा मक्खन (वासी दूध से ही अच्छा मक्खन निकलता है) लेकर रास्ते में अपने राजा-रानी को भेंट करते हुए ग्वालों (अहीरों) के गांवों में रहने वाले वृद्ध अहीरों से सड़क के दो-बगली वृक्षों के नामों को पूछते हुए वे (दोनों वसिष्ठाश्रम को जा रहे थे) ॥ ४५ ॥

काप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः ।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥ ४६ ॥

सञ्जी०—कापीति । व्रजतोर्गच्छतोः शुद्धवेषयोरुज्ज्वलनेपथ्ययोस्तयोः सुदक्षिणादिलीपयोश्चित्राचन्द्रमसोरिव योगे सति काऽप्यनिर्वाच्याऽभिख्या शोभाऽऽसीत् । 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः । 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्-प्रत्ययः । चित्रा नक्षत्रविशेषः । शिशिरापगमे चित्र्यां चित्रापूर्णचन्द्रमसोरिवेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—व्रजतोः शुद्धवेषयोः तयोः हिमनिर्मुक्तयोः चित्राचन्द्रमसोः इव योगे (सति) कापि अभिख्या आसीत् ।

हिन्दी—हरे-भरे वन-पथ से गुरु वसिष्ठ के आश्रम को जाते हुए स्वच्छ सफेद वस्त्र धारण किये हुए महाराज और महारानी की वैसी ही अनिर्वचनीय शोभा हो रही थी जैसी शिशिर ऋतु के बाद चैत्री-पूर्णिमा को चित्रा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा की होती है। (यहाँ का 'उपमा अलंकार' अतीव आह्लादक है) ॥ ४६ ॥

तत्तद् भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन् प्रियदर्शनः ।
अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ॥ ४७ ॥

सञ्जी०—तत्तदिति । प्रियं दर्शनं स्वकर्मकं यस्यासौ प्रियदर्शनः । योगदर्शनीय इत्यर्थः । भूमिपतिः पत्न्यै तत्तदद्भुतं वस्तु दर्शयँल्लङ्घितमतिवाहितमप्यध्वानं न बुबुधे न ज्ञातवान् । बुधः सौम्य उपमोपमानं यस्येति विग्रहः । इदं विशेषणं तत्तद्दर्शयन्नित्युपयोगितयैवास्य ज्ञातृत्वसूचनार्थम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—प्रियदर्शनः बुधोपमः भूमिपतिः तत् तत् पत्न्यै दर्शयन् लंघितम् अपि अध्वानं न बुबुधे ।

हिन्दी—देखने में अति सुन्दर अत एव चन्द्रमा के पुत्र बुध अथवा पण्डित के समान रथ पर (उच्चासन पर) बैठे हुए महाराज दिलीप रास्ते के अद्भुत वस्तुओं को जिन्हें पत्नी सुदक्षिणा ने कभी नहीं देखा था, उन्हें दिखाने में इतना तल्लीन थे कि राजधानी से कितनी दूर आ गये और गुरु वसिष्ठ का आश्रम कितनी दूर है, इसका ज्ञान ही नहीं रहा (आनन्द में ही बहुत समय कट गये) ॥ ४७ ॥

स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः ।
सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥ ४८ ॥

सञ्जी०—स इति । दुष्प्रापयशा दुष्प्रापमन्यदुर्लभं यशो यस्य स तथोक्तः । श्रान्तवाहनो दूरोपगमनात्क्लान्तयुग्यः । महिष्याः सखा महिषीसखः राजाहः-सखिभ्यष्टच्' इति टच् प्रत्ययः । सहायान्तरनिरपेक्ष इति भावः । स राजा सायं सायं काले, संयमिनो नियमवतस्तस्य महर्षेर्वसिष्ठाश्रमं प्रापत्प्राप । पुषादित्वादङ् ।

अन्वयः—दुष्प्रापयशाः श्रान्तवाहनः महिषीसखः सः सायं संयमिनः तस्य महर्षेः आश्रमं पापत् ।

हिन्दी—दुर्लभ कीर्ति वाले, वन-वन को पार करते हुए—अयोध्या से आ रहे, अत एव थके हुए घोड़ों वाले पत्नी सुदक्षिणा के साथ महाराज दिलीप महायोगी गुरु वसिष्ठ के आश्रम में सन्ध्या समय (एकाएक) पहुँच गये ॥ ४८ ॥

तमाश्रमं विशिनष्टि—

वनान्तरादुपावृत्तैः समित्-कुश-फलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्नि-प्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥ ४९ ॥

सञ्जी०—वनान्तरादिति । वनान्तरादन्यस्माद्वनादुपावृत्तैः । प्रत्यावृत्तैः । समिधश्च कुशाश्च फलानि चाहर्तुं शीलं येषामिति समित्कुशफलाहारास्तैः 'आङि ताच्छील्ये' इति हरतेराङ्पूर्वादच्प्रत्ययः । अदृश्यैर्दर्शनायोग्यैरग्निभिर्वैतानिकैः । प्रत्युद्याताः प्रत्युद्गतास्तैः तपस्विभिः पूर्यमाणम् । 'प्रोष्यागच्छतामाहिताग्नीनामग्नयः प्रत्युद्यान्ति' इति श्रुतेः । यथाऽऽह—'कामं पितरं प्रोषितवन्तं प्रत्याधावन्ति एतमेतमग्नयः प्रत्यधावन्ति सशकलान्दारुनिवाहरन्' इति ॥ ४९ ॥

अन्वयः—वनान्तरात् उपावृत्तैः समितकुशफलाहारैः अदृश्याग्निप्रत्युद्यातैः तपस्विभिः पूर्यमाणम् (आश्रमं—प्रापत्) ।

हिन्दी—जिस समय वनान्तर से गुरु वसिष्ठाश्रम के लिये समिधा, (हवन की लकड़ी) कुश तथा फलों को लेकर लौटने वाले तपस्वियों से जिनकी अदृश्याग्नि (गार्हपत्याग्नि=आश्रम में घूमायमान होकर) अगवानी कर रही थी, उन तपस्वियों से, वसिष्ठाश्रम भरा हुआ था, उसी सन्ध्या समय महाराज दिलीप उस आश्रम में सुदक्षिणा के साथ पहुँचे ॥ ४९ ॥

आश्रमस्थमृगवर्णनमित्याह—

आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥ ५० ॥

सञ्जी०—आकीर्णमिति। नीवाराणां भाग एव भागधेयोंऽशः 'भागरूपनामभ्यो धेयः' इति वक्तव्यसूत्रात्स्वाभिधेये धेयप्रत्ययः तस्योचितैः। अत एवोटजानां पर्णशालानां द्वाररोधिभिर्मृगैर्ऋषिपत्नीनामपत्यैरिव। आकीर्णं व्याप्तम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—नीवार-भागधेयोचितैः उटजद्वार-रोधिभिः ऋषिपत्नीनाम् अपत्यैः इव मृगैः आकीर्णम् (महर्षेः आश्रमं सायं प्रापत्)।

हिन्दी—मुन्यन्न (तिन्नी-चावल) के हिस्से (राशन=सीधा) को पाने वाले (झोले ले-ले कर कतार से खड़े होने पर) ऋषि-कुटी के द्वार को रोकने वाले—ऋषि-कुमारों से तथा उन्हीं के समान सायं आहारार्थी मृगों से भी भरे—वसिष्ठाश्रम में सन्ध्या समय रानी सहित दिलीप पहुँचे ॥ ५० ॥

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥ ५१ ॥

सञ्जी०—सेकान्ते वृक्षमूलसेचनावसाने मुनिकन्याभिः सेक्त्रीभिः। आलवालेषु जलावापप्रदेशेषु यदम्बु तत्पायिनाम्। 'स्यादालवालमावापः' इत्यमरः। विहंगानां पक्षिणां विश्वासाय विश्रम्भाय। 'समौ विश्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः। तत्क्षणे सेकक्षणे उज्झिता वृक्षका ह्रस्ववृक्षा यस्मिंस्तम् स्वार्थे कप्रत्ययः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—मुनिकन्याभिः सेकान्ते आलवालाऽम्बुपायिनां विहङ्गानां विश्वासाय तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् (सायं महर्षेः आश्रमं प्रापत्)।

हिन्दी—मुनि-कन्याओं द्वारा पुष्प-वाटिका की कियारियों में लगे हुए पौधों का सन्ध्याकालीन जलसेचन करने के उपरान्त कियारियों के जल को पीने के इच्छुक पक्षियों के विश्वास के लिये (उन्हें भयरहित होकर जल पीने के लिये) तत्क्षण (सेचनोपरान्त—तुरत) मुनि-कन्याओं द्वारा छोड़े गये (हट जाने पर) निर्भय हो-हो कर कियारीस्थ सेचनावशिष्ट जल को पीती

हुई रंग-बिरंगे पक्षियों के सन्ध्याकालिक मधुर कूजन से सुशोभित नये-नये लाल बिरंगे पौधों से युक्त वसिष्ठाश्रम में सन्ध्यासमय महारानी के साथ महाराज दिलीप पहुँचे ॥ ५१ ॥

आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥ ५२ ॥

सञ्जी०—आतपस्यात्ययेऽपगमे सति संक्षिप्ता राशीकृता नीवारास्तृणधान्यानि यासु तासु । 'नीवारास्तृणधान्यानि' इत्यमरः । उटजानां पर्णशालानामङ्गनभूमिषु चत्वरभागेषु 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इति । 'अङ्गनं चत्वराजिरे' इति चामरः । निषादिभिरुपविष्टैर्मृगैर्वर्तितो निष्पादितो रोमन्थश्चर्वितचर्वणं यस्मिन्नाश्रमे तम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—आतपाऽत्यय-संक्षिप्तनीवारासु उटजाङ्गनभूमिषु निषादिभिः मृगैः वर्तितरोमन्थम् (आश्रमं सायं प्रापत्) ।

हिन्दी—धूप होने पर आंगन में सूखने के लिये बिखेरे गये मुनि-धान्यों (तिन्नी धान्यों) को धूपास्त (सूर्यास्त) होने पर उठा-उठा कर यथास्थान इकट्ठे किये जाने से उन-उन पर्णकुटियों के प्रांगणों में सफे-सुथरे स्थानों पर सुखपूर्वक बैठे हुए जुगाली (पाऊर) करते हुए उन मृगों से सुशोभित (वसिष्ठाश्रम में सुदक्षिणा के साथ महाराज दिलीप प्रविष्ट हुए) ॥ ५२ ॥

अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥ ५३ ॥

सञ्जी०—अभ्युत्थितेति । अभ्युत्थिताः प्रज्वलिताः । होमयोग्या इत्यर्थः । (समिद्धेऽग्नावाहुतीर्जुहोति) इति वचनात् । तेषामग्नीनां पिशुनैः सूचकैः पवनोद्धूतैः । आहुतिगन्धो येषामस्तीत्याहुतिगन्धिनस्तैर्धूमैराश्रमोन्मुखानतिथीन् पुनानं पवित्रीकुर्वाणम् ॥ कुलकम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अभ्युत्थिताग्निपिशुनैः पवनोद्धूतैः आहुतिगन्धिभिः धूमैः आश्रमोन्मुखान् अतिथीन् आगन्तून् पुनानम् (आश्रमं सायं प्रापत्) ।

हिन्दी—चारों ओर से हवनाग्नि को सूचित करने वाले, पवन से टकराने (कंपित होने) के कारण आश्रम में घुस-घुस कर फैले हुए तथा हवनदग्ध

पुरोडाशादि की सुगन्धियों से सुवासित घूमायमान उस वसिष्ठाश्रम में महारानी के साथ महाराज दिलीप पहुँच गये ॥ ५३ ॥

अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान् विश्रामयेति सः ।
तामवारोहयत् पत्नीं रथादवततार च ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—अथेति । अथाश्रमप्राप्त्यनन्तरं स राजा यन्तारं सारथिं, धुरं, वहन्तीति धुर्या युग्याः । 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्प्रत्ययः । 'धुर्वहे धुर्यधौरेयधुरीणाः सधुरन्धराः' इत्यमरः' । धुर्यान् रथाश्वान्विश्रामय विनीतश्रमान्कुर्वित्यादिश्याज्ञाप्य तां पत्नीं रथादवारोहयदवतारितवान् स्वयं चावततार । 'विश्रमय' इति ह्रस्वपाठे 'जनी जृष्०' इति मित्त्वं 'मितां ह्रस्वः' इति सूत्रे 'वा चित्तविरागे' इत्यनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयणाद् ध्रस्वाभाव इति वृत्तिकारः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अथ सः यन्तारं 'धुर्यान् विश्रामय' इति आदिश्य तां पत्नीं रथात् अवारोहयत् अवततार च ।

हिन्दी—इस प्रकार गुरु वसिष्ठ के आश्रम-द्वार पर पहुचने के वाद महाराज दिलीप ने सारथि से कहा—'घोड़ों को आराम कराओ' और स्वयं पत्नी सुदक्षिणा को रथ से उतार कर अपने भी उतर गये ॥ ५४ ॥

तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः ।
अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥ ५५ ॥

सञ्जी०—सभायां साधवः सभ्याः । 'सभाया यः' इति यप्रत्ययः । गुप्ततमेन्द्रिया अत्यन्तनियमितेन्द्रिया मुनयः सभार्याय गोप्त्रे रक्षकाय । नयः शास्त्रमेव चक्षुस्तत्त्वावेदकं प्रमाणं यस्य तस्मै नयचक्षुषे । अत एवार्हते । प्रशस्ताय । पूज्यायेत्यर्थः । 'अर्हः प्रशंसायाम्' इति शतृप्रत्ययः । तस्मै राज्ञेऽर्हणां पूजां चक्रुः । 'पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः' इत्यमरः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—सभ्याः गुप्ततमेन्द्रियाः मुनयः गोप्त्रे नयचक्षुषे अर्हते सभार्याय तस्मै अर्हणां चक्रुः ।

हिन्दी—ब्रह्मर्षि वसिष्ठ की सभा में रहनेवाले तपोवन के सामाजिक चित्त-वृत्ति-निवृत्ति जितेन्द्रिय मुनियों ने—नीतिज्ञ—नीतिशास्त्र को ही दृष्टिपथ

पर रखने वाले अत एव परमादरणीय महाराज्ञी से युक्त (सपत्नीक) उन सूर्यवंशी महाराज दिलीप की अर्हणा (माल्यार्पणादि) की ॥ ५५ ॥

विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् ।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—विधेरिति । स राजा सायन्तनस्य सायम्भवस्य । 'सायं चिरम्'० इत्यादिना ट्युल्प्रत्ययः । विधेर्जपहोमाद्यनुष्ठानस्यान्तेऽरुन्धत्याऽन्वासितं पश्चादुपवेशनेनोपसेवितम् । कर्मणि क्तः । उपसर्गवशात्सकर्मकत्वम् 'अथाग्नायी स्वाहा च हुतभुक्प्रिया' इत्यमरः । अन्वासितं हविर्भुजमिव ददर्श (समित्पुष्पकुशाग्न्यम्बुमृदन्नाक्षतपाणिकाः जपं होमं च कुर्वाणो नाभिवद्यो द्विजो भवेत् ।) इत्यनुष्ठानमध्येऽभिवादननिषेधाद्विधेरन्ते ददर्शेत्युक्तम् । अन्वासनं चात्र पतिव्रताधर्मत्वेनोक्तं न तु कर्माङ्गत्वेन । विधेरन्त इति कर्मणः समाप्त्यभिधानात् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—सः सायन्तनस्य विधेः अन्ते अरुन्धत्या अन्वासितं तपोनिधिं स्वाहया (अन्वासितं) हविर्भुजम् इव ददर्श ।

हिन्दी—उस महाराज दिलीप ने सन्ध्याकालिक जपादि नित्यकृत्य के अनन्तर महातपस्वी गुरु वसिष्ठ को अवनी पत्नी अरुन्धती के आगे इस तरह बैठे हुए देखा, मानो अपनी पत्नीस्वरूपा स्वाहा देवी से सेवित साक्षात् होमाग्नि हों (स्वाहाशब्दोपादानन्तर ही अग्नि में घृत का प्रक्षेप होता है । यहाँ स्वाहा स्वरूपा अरुन्धती को और होमाग्नि स्वरूप वसिष्ठ को कहा गया है ।) ॥५६॥

तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी ।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—तयोरिति । मागधी मगधराजपुत्री राज्ञी सुदक्षिणा राजा च तयोररुन्धतीवशिष्ठयोः पादाञ्जगृहतुः । 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । पादग्रहणमभिवादनम् । गुरुश्च कर्तारौ, सा च स च तौ सुदक्षिणादिलीपौ कर्मभतौ । प्रीत्या हर्षेण प्रतिननन्दतुः । आशीर्वादादिभिः संभावयाञ्चक्रतुरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—मागधी राज्ञी राजा च तयोः पादान् जगृहतुः गुरुपत्नी गुरुः च तौ प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ।

हिन्दी—मगध-राजपुत्री महारानी सुरक्षिणा और महाराज दिलीप ने गुरु वसिष्ठ और गुरुपत्नी अरुन्धती को चरणस्पर्श करते हुए प्रणाम किया। तदुपरान्त उन दोनों ने भी राजा-रानी को प्रेमपूर्वक आशीर्वाद दिया ॥ ५७ ॥

तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम्।
पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः ॥ ५८ ॥

सञ्जी०—तमिति। मुनिः अतिथ्यर्थमातिथ्यम्। 'अतिथेर्ञ्यः' इति ञ्यप्रत्ययः। आतिथ्यस्य क्रिया तया शान्तो रथक्षोभेण यः परिश्रमः स यस्य स तं तथोक्तम्। राज्यमेवाश्रमस्तत्र मुनिं मुनितुल्यमित्यर्थः। तं दिलीपं राज्ये कुशलं पप्रच्छ पृच्छतेस्तु द्विकर्मकत्वमित्युक्तम्। यद्यपि राज्यशब्दः पुरोहितादिष्वन्तर्गतत्वाद्राजकर्मवचनः। तथाऽप्यत्र 'सप्ताङ्गवचनः'। 'उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु' इत्युत्तरविरोधात्। तथाऽऽह मनुः 'स्वाम्यमात्यपुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ तथा सुहृत्। सप्तैतानि समस्तानि लोकेऽस्मिन् राज्यमुच्यते ॥' इति 'ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्। वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥' इति मनुवचने सत्यपि तस्य राज्ञो महानुभावत्वाद् ब्राह्मणोचितः कुशलप्रश्न एव कृत इत्यनुसंधेयम्। अत एवोक्तं—'राज्याश्रममुनिम्' इति ॥ ५८ ॥

अन्वयः—मुनिः आतिथ्य-क्रियाशान्त-रथक्षोभपरिश्रमम् राज्याश्रममुनिं तम् राज्ये कुशलं पप्रच्छ।

हिन्दी—मुनि वसिष्ठ ने मार्ग में प्रजाओं द्वारा अतिथि-सत्कार किये जाने पर रथ के हिलने-डुलने से उत्पन्न परिश्रम से रहित होने पर राज्यरूप आश्रम के मुनितुल्य (विनीत) उन महाराज दिलीप को राज्य के विषय में कुशलादि पूछा ॥ ५८ ॥

अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः।
अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥ ५९ ॥

सञ्जी०—अथेति। अथ प्रश्नानन्तरं विजितारिपुरो विजितशत्रुनगरो वदतां वक्तॄणां वरः श्रेष्ठः 'यतश्च निर्धारणम्' इति षष्ठी। अर्थपती राजाऽथर्वणोऽथर्ववेदस्य निधेस्तस्य मुनेः पुरोऽग्रेऽर्थ्यामर्थादनपेताम्। 'धर्मपथ्यर्थन्यायाद-

नपेते' इति यत्प्रत्ययः। वाचमाददे। वक्तुमुपक्रान्तवानित्यर्थः। अथर्वनिधे- रित्यनेन पुरोहितकृत्याभिज्ञत्वात्तत्कर्मनिर्वाहकत्वं मुनेरस्तीति सूच्यते। यथाऽऽह कामन्दकः-'त्रय्यां च दण्डनीत्यां च कुशलः स्यात्पुरोहितः। अथर्वविहितं कुर्यान्नित्यं शान्तिकपौष्टिकम् ॥' इति ॥ ५९ ॥

अन्वयः—अथ विजीतारिपुरः वदतां वरः अर्थपतिः अथर्वनिधेः तस्य पुरः अर्थ्यां वाचम् आददे।

हिन्दी—अपने कुल-गुरु वसिष्ठ जी से राज्य-सम्बन्धी कुशलादि पूछ चुकने के बाद शत्रुओं के नगरों को जीतने वाले, सदसद्विवेकी विश्वेश्वर महाराज दिलीप, अथर्ववेद के निष्णात मर्मज्ञ विद्वान् गुरु वसिष्ठजी से प्रयोजन की बातें करने लगे ॥ ५९ ॥

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥ ६० ॥

सञ्जी०—उपपन्नमिति। हे गुरो! सप्तस्वङ्गेषु स्वाम्यमात्यादिषु। 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च सप्ताङ्गानि' इत्यमरः। शिवं कुशल- मुपपन्नं ननु युक्तमेव। नन्ववधारणे। 'प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः। कथमित्यत्राह—यस्य मे दैवीनां देवेभ्य आगतानां दुर्भिक्षादीनाम् मानुषीणां मनुष्येभ्य आगतानां चौरभयादीनाम्। उभयत्रापि 'तत आगतः' इत्यण्। 'टिड्ढाणञ्०' इत्यादिना ङीप्। आपदां व्यसनानां त्वं प्रतिहर्ता वारयिताऽसि। अत्राह कामन्दकः—'हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षं मरणं तथा। इति पञ्चविधं दैवं मानुषं व्यसनं ततः ॥ आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राज- वल्लभात्। पृथिवीपतिलोभाच्च नराणां पञ्चधा मतम् ॥' इति ॥ ६० ॥

अन्वयः—(हे गुरो) सप्तसु अङ्गेषु मे शिवम् उपपन्नं ननु यस्य (मे) दैवीनां मानुषीणां च आपदां त्वं प्रतिहर्ता (असि)।

हिन्दी—हे गुरुवर! स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोष, किला, और सेना इन सातों से सुदृढ़ मेरा राज्य क्यों न हो—जिसके अग्नि, जल, रोग, दुर्भिक्ष और मरण इन पाँचों दैवी तथा ठग, दस्यु, शत्रु, राजा का कृपापात्र और राजा का लोभ इन पाँचों मानुषी आपत्तियों को भी निवारण करनेवाले मेरे कुलगुरु आप विद्यमान हैं ॥ ६० ॥

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात् प्रशमितारिभिः ।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥ ६१ ॥

सञ्जी०—तवेति । दूरात्परोक्ष एव प्रशमितारिभिः । मन्त्रान् कृतवान् मन्त्रकृत् । 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' इति क्विप् । तस्य मन्त्रकृतो मन्त्राणां स्रष्टुः प्रयोक्तुर्वा तव मन्त्रैः कर्तृभिः । दृष्टं प्रत्यक्षं यल्लक्ष्यं तन्मात्रं भिन्दन्तीति दृष्टलक्ष्यभिदो मे शराः प्रत्यादिश्यन्त इव । वयमेव समर्थाः किमेभिः पिष्टपेषकैरिति निराक्रियन्त इवेत्युत्प्रेक्षा । 'प्रत्यादेशो निराकृतिः' इत्यमरः । त्वन्मन्त्रसामर्थ्यादेव न पौरुषं फलतीति भावः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—दूरात् प्रशमितारिभिः मन्त्रकृतः तव मन्त्रैः दृष्टलक्ष्यभिदः मे शराः प्रत्यादिश्यन्त इव ।

हिन्दी--(हे गुरुवर) मन्त्र के प्रयोग करने वाले आपके मन्त्रों से दूरस्थ=निकट आने से पहले ही, शत्रुगण नष्ट हो जाते हैं । उस समय आपके मन्त्र प्रत्यक्ष में बेधन करने वाले मेरे बाणों को व्यर्थ कर देते हैं । (जहाँ आपके मन्त्रों से ही शत्रुओं का नाश हो जाता है, वहाँ मेरे बाण किस काम के ?) ॥ ६१ ॥

सम्प्रति दैविकापत्प्रतीकारमाह—

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—हविरिति । हे होतः ! त्वया विधिवदग्निष्वावर्जितं प्रक्षिप्तं हविराज्यादिकं कर्तृ । अवग्रहो वर्षप्रतिबन्धः । 'अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे' इत्यप् प्रत्ययः । 'वृष्टिवर्षं तद्विघातेऽवग्राहावग्रहो समौ' इत्यमरः । तेन विशोषिणां विशुष्यतां सस्यानां वृष्टिर्भवति वृष्टिरूपेण सस्यान्युपजीवयतीति भावः । अत्र मनुः—'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ।' इति ॥ ६२ ॥

अन्वयः—होतः त्वया विधिवत् अग्निषु आवर्जितं हविः अवग्रहविशोषिणां सस्यानां वृष्टिः भवति ।

हिन्दी—हे गुरुदेव, आपसे विधिपूर्वक स्वाहाकारेण हवनकुण्डाग्नि में

छोड़ी गयी हवन सामग्री (शाकल्य) वर्षा न होने के कारण सूखते हुए धान्यों (अन्न फलादिकों) के लिए वृष्टिरूप बन जाती है। (आपके प्रताप से मेरे राज्य में अकाल कभी होता ही नहीं है) ॥ ६२ ॥

पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ॥ ६३ ॥

सञ्जी०—पुरुषायुषेति आयुर्जीवितकालः। पुरुषस्यायुः पुरुषायुषम्। वर्षशतमित्यर्थः। 'शतायुर्वै पुरुषः' इति श्रुतेः। 'अचतुरविचतुरसुचतुर०' इत्यादिसूत्रेणाच् प्रत्ययान्तो निपातः। मदीयाः प्रजाः पुरुषायुषं जीवन्तीति पुरुषायुषजीविन्यः। निरातङ्का निर्भयाः। 'आतङ्को भयमाशङ्का' इति हलायुधः। निरीतयोऽतिवृष्ट्यादिरहिता इति यत्तस्य सर्वस्य त्वद्ब्रह्मवर्चसं तव व्रताध्ययनसंपत्तिरेव हेतुः। 'व्रताध्ययनसंपत्तिरित्येतद् ब्रह्मवर्चसम्' इति हलायुधः। ब्रह्मणो वर्चो ब्रह्मवर्चसम्। 'ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः' इत्यच्प्रत्ययः। 'अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषिकाः शलभाः शुकाः। अत्यासन्नाश्च राजानः षडेषा ईतयः स्मृताः' इति कामन्दकः॥ ६३ ॥

अन्वयः—मदीयाः प्रजाः पुरुषायुषजीविन्यः निरातङ्काः निरीतयः यत् तस्य हेतुः त्वद्ब्रह्मवर्चसम् (एव)।

हिन्दी—'हे गुरुदेव' मेरी प्रजायें जो कि मनुष्य के परमायु (सौ वर्ष) तक जीवित रहने वाली तथा अतिवृष्ट्यादि छौ ईतियों से रहित हैं, उन सब के कारण आपका तपोबल ही है ॥ ६३ ॥

त्वयैवं चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना।
सानुबन्धाः कथं न स्युः संपदो मे निरापदः ॥ ६४ ॥

सञ्जी०—त्वयैवमिति। ब्रह्मा योनिः कारणं यस्य तेन ब्रह्मपुत्रेण गुरुणा त्वयैवमुक्तप्रकारेण चिन्त्यमानस्यानुध्यायमानस्य। अत एव निरापदो व्यसनहीनस्य मे सम्पदः सानुबन्धाः सानुस्यूतयोऽविच्छिन्ना इति यावत् कथं न स्युः। स्युरेवेत्यर्थः॥ ६४ ॥

अन्वयः—ब्रह्मयोनिना गुरुणा त्वया एवं चिन्त्यमानस्य (अत एव) निरापदः मे सम्पदः सानुबन्धाः कथं न स्युः।

हिन्दी—हे ब्रह्माजी के मानस पुत्र गुरुवर ! इस प्रकार सतर्क आपके देखभाल होती हुई अत एव सभी आपत्तियों से मुक्त मेरी राज्य-सम्पदा (राज्यलक्ष्मी) स्थिर क्यों न रहेंगी ? ॥ ६४ ॥

सम्प्रत्यागमनप्रयोजनमाह—

किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् ।
न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी ॥ ६५ ॥

सञ्जी०—किन्त्विति । किन्तु तवैतस्यां वध्वां स्नुषायाम् । 'वधूर्जाया स्नुषा चैव' इत्यमरः । अदृष्टा सदृश्यनुरूपा प्रजा येन तं मां सद्वीपाऽपि । रत्नानि सूयत इति रत्नसूरपि । 'सत्सूद्विष०' इत्यादिना क्विप् । मेदिनी नावति न प्रीणाति । अवधातू रक्षणगतिप्रीत्याद्यर्थेषूपदेशादत्र प्रीणने । रत्नसूर-पीत्यनेन सर्वरत्नेभ्यः पुत्ररत्नमेव श्लाध्यमिति सूचितम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—किन्तु तव एतस्यां बध्वाम् अदृष्टसदृशप्रजं मां सद्वीपा अपि रत्नसूः (अपि) मेदिनी न अवति ।

हिन्दी—किन्तु हे गुरुवर, यह सब होते हुए भी, आपकी इस वधू सुदक्षिणा में स्वानुरूप पुत्ररत्न को न देख-पाकर मुझे अनेक भूखण्डों से युक्त तथा विविध महारत्नों को उत्पन्न करने वाली होने पर भी यह पृथिवी (राज्य-लक्ष्मी) प्रसन्न नहीं रख सकती है ॥ ६५ ॥

तदेव प्रतिपादयति—

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः ।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥ ६६ ॥

सञ्जी०—नूनमिति । मत्तः परं मदनन्तरम् 'पञ्चम्यास्तसिल्' पिण्ड-विच्छेददर्शिनः पिण्डदानाविच्छेदमुत्प्रेक्षमाणाः । वंशोद्भवा वंश्याः पितरः । स्वधेत्यव्ययं पितृभोज्ये वर्तते । तस्याः संग्रहे तत्परा आसक्ताः सन्तः श्राद्धे पितृकर्मणि । 'पितृदानं निवापः स्याच्छ्राद्धं तत्कर्म शास्त्रतः' इत्यमरः । प्रकाम-भुजः पर्याप्तभोजिनो न भवन्ति नूनं सत्यम् । 'कामं प्रकामं पर्याप्तम्' इत्यमरः । निर्धना ह्यापद्धनं कियदपि संगृह्णन्तीति भावः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—मत्तः परं पिण्डविच्छेददर्शिनः वंश्याः स्वधासंग्रहतत्पराः (सन्तः) श्राद्धे प्रकामभुजः नूनं न (भविष्यन्ति) ।

हिन्दी—पुत्रहीन मेरे पश्चात् श्राद्ध-पिण्ड का भावी लोप देखने वाले मेरे वंशज पितृगण दुखी होने से मेरे द्वारा प्रदत्त स्वधा—स्वधान्त पितृमन्त्रोत्सर्ग पितृभोज्य पदार्थ—के संग्रह में तत्पर होने पर भी पर्याप्त रूप से भोजन करने वाले नहीं होते हैं ॥ ६६ ॥

मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया ।
पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ॥ ६७ ॥

सञ्जी०—मत्परमिति । मत्परं मदनन्तरम्, 'अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इत्यनेन पञ्चमी । दुर्लभं दुर्लभ्यं मत्वा मायाऽऽवर्जितं मद्दत्तं पयः पूर्वैः पितृभिः स्वनिःश्वासैर्दुःखजैः कवोष्णमीषदुष्णं यथा तथोपभुज्यते । नूनमिति वितर्के । कवोष्णमिति कुशब्दस्य कवादेशः 'कोष्णं कवोष्णं मन्दोष्णं कदुष्णं त्रिषु तद्वति' इत्यमरः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—मत्परं दुर्लभं (पितृ-तर्पणजलं) मत्वा मया आवर्जितं पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णं नूनम् उपभुज्यते ।

हिन्दी—'पुत्रहीन' मेरे पश्चात् (तर्पण कौन करेगा यह जानकर) पितृ-तर्पण-जल को दुर्लभ (अर्थात् मेरे बाद फिर उनको नहीं मिलेगा यह) समझकर मुझसे दिया गया तर्पणजल को मेरे पितृ-पितामहादि पितरगण अपने-अपने दुखद श्वास-प्रश्वासों से ईषत् गरम करके पीते हैं—यह सत्य है । (दुखी व्यक्ति के आँसू तथा श्वास दोनों गरम-गरम निकलते हैं) ॥ ६७ ॥

सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः ।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः ॥ ६८ ॥

सञ्जी०—स इति । इज्या यागः 'व्रजयजोर्भावे क्यप्' इति 'क्यप्प्रत्ययः । तथा विशुद्धात्मा विशुद्धचेतनः प्रजालोपेन सन्तत्यभावेन निमीलितः कृतनिमीलनः सोऽहम् । लोक्यत इति लोकः । न लोक्यत इत्यलोकः, लोकाश्चालोकश्चात्र स्त इति, लोकश्चासावलोकश्चेति वा, लोकालोकश्चक्रवालोऽचल इव । 'लोकालोकश्चक्रवालः' इत्यमरः । प्रकाशात इति प्रकाशश्च देवर्णविमोचनाद् । न प्रकाशत इत्यप्रकाश्च पितृणाविमोचनात् । पचाद्यच् । अस्मीति

शेषः। लोकालोकोऽप्यन्तः सूर्यसंपर्काद्बहिस्तमोव्याप्त्या च प्रकाशश्चाप्रकाशश्चेति मन्तव्यम् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—इज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः सः अहं लोकालोकः अचलः इव प्रकाशश्च अप्रकाशश्च (अस्मि)।

हिन्दी—(हे गुरुदेव !) यज्ञ करने से तो मैं विशुद्ध अन्तःकरण वाला अवश्य हूँ, पर सन्तान के अभाव से निमीलित लोचन वाला होता हुआ मैं चक्रवाल नामक पर्वत के समान प्रकाश और अप्रकाशस्वरूप बन गया हूँ। (मन प्रसन्न होते हुए भी चित्त प्रसन्न नहीं है'—पुत्रबिना भविष्य अन्धकारमय दिखाई दे रहा है गुरुवर !) ॥ ६८ ॥

ननु तपोदानादिसंपन्नस्य किमपत्यैरित्याह—

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।
सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥ ६९ ॥

सञ्जी०—लोकान्तरेति। समुद्भवत्यस्मादिति समुद्भवः कारणम्। तपोदाने समुद्भवो यस्य तत्तपोदानसमुद्भवं यत्पुण्यं तल्लोकान्तरे परलोके सुखं सुखकरम्। शुद्धवंशे भवा शुद्धवंश्या सन्ततिर्हि परत्र परलोके, इह च लोके शर्मणे सुखाय। 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः। भवतीति शेषः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—तपोदानसमुद्भवं पुण्यं लोकान्तरसुखं (अस्ति) शुद्धवंश्या सन्ततिः हि इह परत्र च शर्मणे (भवति)।

हिन्दी—तपस्या और दान करने के कारण जो पुण्य होता है वह तो मरने पर ही परलोक में सुख देनेवाला होता है, किन्तु शुद्ध वंश में उत्पन्न पुत्र इस लोक और परलोक दोनों में कल्याणकारक होता है ॥ ६९ ॥

तया हीनं विधातर्मां कथं पश्यन्न दूयसे।
सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद् वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥ ७० ॥

सञ्जी०—तयेति। 'हे' विधातः ! स्रष्टः ! तया संतत्या हीनमनपत्यं माम्। स्नेहात्प्रेम्णा स्वयमेव सिक्तं जलसेकेन वर्धितं वन्ध्यमफलम् 'वन्ध्योऽ-

फलोऽवकेशी च' इत्यमरः। आश्रमस्य वृक्षकं वृक्षपीतमिव। पश्यन् कथं न दूयसे परितप्यसे। विधातरित्यनेन समर्थोऽप्युपेक्षस गम्यते ॥ ७० ॥

अन्वयः—हे विधातः तया हीनं मां स्नेहात् स्वयम् एव सिक्तं वन्ध्यम् आश्रमवृक्षकम् इव पश्यन् कथं न दूयसे ?

हिन्दी—हे विधातः ब्रह्मर्षि ! सन्तति से रहित मुझ को, स्नेह से अपने हाथों सींचे हुए (किन्तु) फलरहित आश्रम के छोटे वृक्ष की तरह, देखते हुए किस कारण आप दुखी नहीं होते ? (आप की आश्रमवाटिका की ही तरह आप ही से संवर्धित सूर्यवंशी मुझ दिलीप को फल (पुत्र) रहित देख कर आप दुखी क्यों नहीं होते ?) ॥ ७० ॥

असह्यपीडं भगवन् ! ऋणमन्त्यमवेहि मे ।
अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः ॥ ७१ ॥

सञ्जी०—असह्यपीडमिति। हे भगवन् ! मे ममान्त्यमृणं पैतृकमृणम्। अनिर्वाणस्य मज्जनरहितस्य। 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे विनाशे गजमज्जने' इति यादवः। दन्तिनो गजस्य। अरुर्मर्म तुदतीन्यरुन्तुदं मर्मस्पृक् 'व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः' इति। 'अरुन्तुदस्तु मर्मस्पृक्' इति चामरः। 'विध्वरुषोस्तुदः' इति खश्प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषद०' इत्यादिना मुमागमः। आलानं बन्धनस्तम्भमिव। 'आलानं बन्धनस्तम्भे' इत्यमरः। असह्या सोढुमशक्या पीडा दुःखं यस्मिंस्तदवेहि। दुःसहदुःखजनकं विद्धीत्यर्थः। 'निर्वाणोत्थानशयनानि त्रीणि गजकर्माणि इति पालकाप्ये (ऋणं देवस्य यागेन ऋषीणां दानकर्मणा। सन्तत्या पितृलोकानां शोधयित्वा परिव्रजेत्) ॥ ७१ ॥

अन्वयः—हे भगवन्, मे अन्त्यम् ऋणम् अनिर्वाणस्य दन्तिनः अरुन्तुदम् आलानम् इव असह्यपीडम् अवेहि।

हिन्दी—हे भगवन् ! मेरे अन्तिम तृतीय पितृ-ऋण को स्नान से रहित हाथी के मर्मस्थल को दुःख देनेवाला बन्धन-स्तम्भ के समान दुःसह व्यथा देनेवाला समझें।

भाव यह है कि गर्मी से व्याकुल बन्धा हुआ हाथी जैसे स्नान के लिये छट-पटाता है वैसे ही मैं पितृ-ऋण से मुक्त करनेवाली सन्तति के लिये व्याकुल हूँ ॥ ७१ ॥

तस्मान्मुच्ये यथा तात ! संविधातुं तथार्हसि ।
इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ॥ ७२ ॥

सञ्जी०—तस्मादिति । हे तात ! तस्मात्पैतृकादृणाद्यथा मुच्ये मुक्तो भवामि । कर्मणि लट् । तथा संविधातुं कर्तुमर्हसि । हि यस्मात्कारणादिक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकुवंश्यानाम् तद्राजत्वाद्बहुष्वणो लुक् । दुरापे दुष्प्राप्येऽर्थे । सिद्धयस्त्वदधीनास्त्वदायत्ताः । इक्ष्वाकूणामिति शे षष्ठी 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इत्यनेन कृद्योगे षष्ठीनिषेधात् ॥ ७२ ॥

अन्वयः—हे तात, तस्मात् यथा मुच्ये तथा संविधातुं त्वम् अर्हसि हि इक्ष्वाकूणां दुरापे अर्थे सिद्धयः त्वदधीनाः ।

हिन्दी—हे तात, हे रक्षक, आचार्य ! उस पूर्वोक्त पैतृक ऋण से जिस प्रकार मैं मुक्त हो सकूं, उस प्रकार उसे सम्यक् पूर्ण करने में आप समर्थ हैं, क्योंकि सूर्यवंशी राजाओं के कठिन कार्य की सिद्धि के लिये सिद्धियाँ तो आपके अधीन ही हैं ॥ ७२ ॥

इति विज्ञापितो राज्ञा ध्यानस्तिमितलोचनः ।
क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रदः ॥ ७३ ॥

सञ्जी०—इतीति । इति राजा विज्ञापितः ऋषिर्ध्यानेन स्तिमिते लोचने यस्य स ध्यानस्तिमितलोचनो निश्चलाक्षः सन् क्षणमात्रं सुप्तमीनो ह्रद इव तस्थौ ॥ ७३ ॥

अन्वयः—इति राज्ञा विज्ञापितः ऋषिः ध्यानस्तिमितलोचनः (सन्) क्षणमात्रं सुप्तमीनः ह्रदः इव तस्थौ ।

हिन्दी—इस प्रकार महाराज दिलीप से निवेदित होने पर महर्षि वसिष्ठ जी आँखें मूंद कर कुछ देर के लिये सोई हुई मछली वाले अगाध जलाशय की तरह शान्त रहे—ध्यान-मग्न हो गये (महाराज दिलीप के पुत्र न होने के प्राक्तन कारण का ध्यान करने लगे) ॥ ७३ ॥

सोऽपश्यत् प्रणिधानेन सन्ततेः स्तम्भकारणम् ।
भावितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत् ॥ ७४ ॥

सञ्जी०—स इति । स मुनिः प्रणिधानेन चित्तैकाग्र्येण भावितात्मा

शुद्धान्तःकरणो भुवो भर्तुर्नृपस्य संततेः स्तम्भकारणं सतानप्रतिबन्धकारणमपश्यत् । अथान्तरमेनं नृपं प्रत्यबोधयत् । स्वदृष्टं ज्ञापितवानित्यर्थः । एनमिति 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०' इत्यादिनाऽणि कर्तुः कर्मत्वम् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—प्रणिधानेन भावितात्मा भुवः भर्तुः सन्ततेः स्तम्भकारणम् अथ अपश्यत् एवं प्रत्यबोधयत् ।

हिन्दी—(समाधिस्थ होने पर) महर्षि वसिष्ठ ने शुद्ध अन्तःकरण वाले होकर पृथिवी-पति महाराज दिलीप की सन्तानोत्पत्ति में प्रतिबन्ध के कारण को देखा और उसके बाद महाराज दिलीप को समझाकर कहा—॥ ७४ ॥

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः ।
आसीत् कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥ ७५ ॥

सञ्जी०—पुरेति । पुरा पूर्वं शक्रमिन्द्रमुपस्थाय संसेव्योर्वीं प्रति भुवमुद्दिश्य यास्यतो गमिष्यतस्तव पथि वर्त्मनि कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः कामधेनुरासीत् । तत्र स्थितेत्यर्थः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—पुरा शक्रम् उपस्थाय ऊर्वीं प्रति यास्यतः तव पथि कल्पतरुच्छायाम् आश्रिता सुरभिः आसीत् ।

हिन्दी—(गुरु वसिष्ठ ने कहा, हे राजन् !) पहले, कभी जब स्वर्ग से इन्द्र का अभ्युत्थान करके आप मर्त्यलोक को आ रहे थे उस समय रास्ते में कल्पवृक्ष की छाया में कामधेनु बैठी हुई विश्राम कर रही थी (उसे आपने देखा, परन्तु—) ॥ ७५ ॥

धर्मलोपभयाद् राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।
प्रदक्षिणाक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥ ७६ ॥

सञ्जी०—धर्मेति । ऋतुः पुष्पं रज इति यावत् । 'ऋतुः स्त्रीकुसुमेऽपि च' इत्यमरः । ऋतुना निमित्तेन स्नातामिमां राज्ञीं सुदक्षिणां धर्मस्यर्त्वभिगमनलक्षणस्य लोपाद् भ्रंशाद्यद् भयं तस्मात्स्मरन् ध्यायन् । (मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत विज्ञातांश्च वनस्पतीन् ॥) इति शास्त्रात्प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायां प्रदक्षिणकरणयोग्यायां तस्यां धेन्वां त्वं साधु प्रदक्षिणादिसत्कारं नाचारो नाचरितवानसि व्यासक्ता हि विस्मरन्तीति

भावः। ऋतुकालाभिगमने मनुः—(ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा) इति। अकरणे दोषमाह पराशरः—(ऋतुस्नातां तु यो भार्यां स्वस्थः सन्नावगच्छति। बालगोघ्नापराधेन विध्यते नात्र संशयः ॥) इति। तथा च—(ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति। घोरायां भ्रूण-हत्यायां युज्यते नात्र संशयः) इति।

अन्वयः—ऋतुस्नाताम् इमां राज्ञीं धर्मलोपभयात् स्मरन् प्रदक्षिण क्रियाऽर्हायां तस्यां त्वं साधु न आचरः।

हिन्दी—हे महाराज, उस समय—रजोधर्म के चौथे दिन होने के कारण—ऋतु-स्नाता इस पुरोवर्तिनी महाराज्ञी सुदक्षिणा का स्मरण करते हुए प्रदक्षिणा (पूजा) करने योग्य उस (कल्पवृक्ष के नीचे बैठी हुई) कामधेनु की आपने धर्मलोप के भय से (पूजा-प्रदक्षिणा नहीं की—अर्थात् सुरभि-पूजन से ऋतुमती पत्नी-संभोग को ही प्रधान मानकर चल दिया। विशिष्ट पूजानुष्ठान के दिन-रात स्त्रीसंभोग वर्जित है, यही समझ कर महाराज गोपूजा नहीं कर सके) ॥ ७६ ॥

अनादृतायाः सुरभेर्दिलीपाय शापप्रदानमित्याह—

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥ ७७ ॥

सञ्जी०—अवजानासीति। यस्मात्कारणान्मामवजानासि तिरस्करोषि। अतः कारणान्मत्प्रसूतिं मम सन्ततिमनाराध्यासेवयित्वा ते तव प्रजा न भविष्यतीति सा सुरभिस्त्वां शशाप। 'शप आक्रोशे' ॥ ७७ ॥

अन्वयः—हे राजन् "यस्माद् (त्वम्) माम् अवजानासि अतः मत्प्र-सूतिम् अनाराध्य ते प्रजा न भविष्यति" इति सा त्वां शशाप।

हिन्दी—राजन्, "—यतः (सन्तानोत्पत्त्यर्थं पत्नी-संभोग के) कारण तुम मेरा तिरस्कार करके जा रहे हो, अतः (अब तुम्हें) मेरी पुत्री 'नन्दिनी' गौ की सेवा किये बिना सन्तान नहीं होगी—" इस प्रकार (कल्पवृक्ष के नीचे बैठी हुई—आपसे तिरस्कृत होने पर स्वर्गमार्गस्थ—) कामधेनु ने आपको शाप दिया। (ऐसा ध्यानगम्य इतिवृत्त गुरु वसिष्ठ ने महाराज दिलीप से कहा) ॥ ७७ ॥

कथं तदस्माभिर्न श्रुतमित्याह—

स शापो न त्वया राजन् न च सारथिना श्रुतः ।
नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे ॥ ७८ ॥

सञ्जी०—स इति । राजन् ! स शापस्त्वया न श्रुतः सारथिना च न श्रुतः । अश्रवणे हेतुमाह—क्रीडाऽर्थमागता उद्दामानो दाम्न उद्गता दिग्गजा यस्मिस्तथोक्ते । आकाशगङ्गाया मन्दाकिन्याः स्रोतसि प्रवाहे नदति सति ॥

अन्वयः—राजन् आकाशगङ्गायां स्रोतसि उद्दामदिग्गजे नदति (सति) सः शापः त्वया न श्रुतः, सारथिना च न (श्रुतः) ।

हिन्दी—(गुरु वसिष्ठ ने कहा—) हे राजन्, आकाशगङ्गा (देवसरित) के गड़गड़ाहटपूर्ण प्रवाह (कल्लोल) में स्नान करते हुए बन्धनमुक्त ऐरावत नामक दिग्गजों के दहाड़ (अव्यक्त शब्द) करने पर उभय अव्यक्त महानाद से उस पूर्वोक्त कामधेनु के शाप को (नन्दिनी गौ की सेवा से ही तुम्हें पुत्र होगा ? इसे) स्वर्ग से आते हुए आपने तथा आपके सारथि ने भी नहीं सुन पाया था ॥ ७८ ॥

अस्तु प्रस्तुते किमायातमित्यत्राह—

ईप्सितं तदवज्ञानाद् विद्धि सार्गलमात्मनः ।
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥ ७९ ॥

सञ्जी०—ईप्सितमिति । तदवज्ञानात्तस्या धेनोरवज्ञानादपमानादात्मनः स्वस्याप्तुमिष्टमीप्सितं मनोरथम् । आप्नोतेः सन्नन्तात्क्त ईकारश्च । सार्गलं सप्रतिबन्धं विद्धि जानीहि । तथाहि पूज्यपूजाया व्यतिक्रमोऽतिक्रमणं श्रेयः प्रतिबध्नाति ॥ ७९ ॥

अन्वयः—(हे राजन् !) तदवज्ञानात् आत्मनः ईप्सितं सार्गलं विद्धि पूज्यपूजाव्यतिक्रमः श्रेयः प्रतिबध्नाति ।

हिन्दी—हे राजन् ! उस (स्वर्गस्थ कल्पवृक्ष के नीचे बैठी) कामधेनु के तिरस्कार करने से आप अपने पुत्र-प्राप्ति रूप मनोरथ को प्रतिबन्धयुक्त समझें । क्योंकि पूजनीय की पूजा-प्रदक्षिणा का उल्लंघन करना कल्याण को रोकता है ॥ ७९ ॥

हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः ।
भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥ ८० ॥

सञ्जी०—हविष इति । सा च सुरभिरिदानीं सत्रं चिरकालसाध्यो यागविशेषो यस्य तस्य प्रचेतसो हविषे दध्याज्यादिहविरर्थं भुजङ्गैरवरुद्धद्वारं ततो दुष्प्रवेशं पातालमधितिष्ठति । पाताले तिष्ठतीत्यर्थः । 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इति कर्मत्वम् ॥ ८० ॥

अन्वयः—सा च इदानीं दीर्घसत्रस्य प्रचेतसः हविषे भुजङ्गपिहितद्वारं पातालम् अधितिष्ठति ।

हिन्दी—(हे राजन्, स्वर्गस्थ कल्पतरु के नीचे बैठी हुई जिसने आपको शाप दिया था) वह कामधेनु भी इस समय बहुत समय में पूर्ण होने वाले यज्ञ के कर्ता वरुणदेव के यहाँ हवनार्थं दधि-घृतादि हवि के वास्ते सर्पों से अवरुद्ध द्वार वाले (अगम्य) पाताल-लोक में रहती है ॥ ८० ॥

तर्हि का गतिरित्याह—

सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः ।
आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा ॥ ८१ ॥

सञ्जी०—सुतामिति । तस्या, सुरभेरियं तदीया तां, सुतां सुरभेः प्रतिनिधिं कृत्वा शुचिः शुद्धः । सह पत्न्या वर्तत इति सपत्नीकः सन् । 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रत्ययः । आराधय । हि यस्मात्कारणात्सा प्रीता तुष्टा सती । कामान् दोग्धीति कामदुघा भवति । 'दुहः कब्घश्च' इति कप्प्रत्ययो घादेशश्च ॥८१॥

अन्वयः—सुरभेः प्रतिनिधिं कृत्वा शुचिः (सन्) सपत्नीकः । (त्वम् तां संपूज्य) तदीयां सुताम् आराधय, हि सा प्रीता (सती) कामदुघा (भविष्यति) ।

हिन्दी—(हे राजन् ! कामधेनु इस समय पाताल-लोक में हैं तो इसकी चिन्ता मत करो, शास्त्रसम्मत पहले उन्हीं को पूजना है तो उस—) कामधेनु की प्रतिमा बनाकर सुदक्षिणा सहित शुद्ध मन से पहले उस प्रतिमा की पूजा करो, पश्चात् उस कामधेनु की पुत्री नन्दिनी को मन-वचन-कर्म से भजो, क्योंकि वह नन्दिनी प्रसन्न होने पर कामदुघा (कामधेनु ही) बन जायगी—तुम्हारे पुत्रप्राप्ति मनोरथ को पूरा कर देगी ॥ ८१ ॥

नोट:—'तदीयां सुतां सुरभेः प्रतिनिधिं कृत्वा' इसका 'कामधेनु की पुत्री नन्दिनी को कामधेनु की प्रतिनिधि बना कर यह अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'शाप' में नन्दिनी को ही पूजने को कहा गया है। पूज्यतम के पूजनोत्तर ही पूज्य का पूजन शास्त्रसंमत है (द्र० 'अथाभ्यर्च्य विधातारं=वसिष्ठपितरं' श्लोक० ३५) अत एव यहाँ कामधेनुपूजन प्रथमोपस्थित है।

इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम्।
अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात्॥ ८२॥

सञ्जी०—इतीति। वादिनो वदत एव होतुर्हवनशीलस्य। 'तृन्' इति तृन्प्रत्ययः। अस्य मुनेराहुतीनां साधनं कारणम्। नन्दयतीति व्युपत्त्या नन्दिनी नामानिन्द्याऽगर्ह्या प्रशस्ता धेनुर्वनादाववृते प्रत्यागता। 'अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्' इति भावः॥ ८२॥

अन्वयः—इति वादिनः एव होतुः अस्य आहुतिसाधनं नन्दिनी नाम अनिन्द्या धेनुः वनात् आववृते।

हिन्दी—इस प्रकार (कामधेनु अभी पाताललोक में हैं) कहते ही उन महर्षि गुरु वसिष्ठ के यज्ञ की आहुति के दध्यादि का साधन उसी कामधेनु की पुत्री नन्दिनी नाम से प्रसिद्ध अति प्रशंसनीय नई व्याई गौ बन से आ पहुँची॥ ८२॥

सम्प्रति धेनुं विशिनष्टि—

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम्॥ ८३॥

सञ्जी०—ललाटेति। पल्लववत् स्निग्धा चासौ पाटला च। संध्यायामप्येतद्विशेषणं योज्यम्। ललाट उदयो यस्य स ललाटोदयः तमाभुग्नमीषद्वक्रम्। आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि' इत्यमरः। 'ओदितश्च' इति निष्ठातस्य नत्वम्। श्वेतरोमाण्येवाङ्कस्तं बिभ्रती। नवं शशिनं बिभ्रती सन्ध्येव स्थिता॥ ८३॥

अन्वयः—पल्लवस्निग्धपाटला, ललाटोदयम् आभुग्नं श्वेतरोमाङ्कं बिभ्रती नवं शशिनं (बिभ्रती) सन्ध्या इव ('वनात् आववृते'—इति पूर्वेणान्वयः)।

हिन्दी—(वन से आकर-) नवीन पल्लव के सदृश चिकनी, सफेद-लाल-मिश्रित मनोहर वर्ण वाली नन्दिनी नाम की वह गो, मस्तक पर द्वितीयाचन्द्र के समान पतले सफेद रोम-चिह्न को धारण की हुई सन्ध्या के समय, इषत् श्वेतरक्त-मिश्रित वर्ण वाली सन्ध्या के समान महर्षि के पुरोवर्तिनी होकर खड़ी हो गई ॥ ८३ ॥

भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि ।
प्रस्नवेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ॥ ८४ ॥

सञ्जी०—भुवमिति । कोष्णेन किञ्चिदुष्णेन । 'कवं चोष्णे' इति चकारात् कादेशः । अवभृथादप्यवभृथस्थानादपि मेध्येन पवित्रेण । 'पूतं पवित्रं मेध्यं च' इत्यमरः । वत्सस्यालोकेन प्रदर्शनेन प्रवर्तिना प्रवहता । प्रस्नवेन क्षीराभिष्यन्द-नेन भुवमभिवर्षन्ती सिञ्चन्ती । कुण्डमिवोध आपीनं यस्याः सा कुण्डोध्नी । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः 'उधसोऽनङ्' इत्यनङादेशः । 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' ॥ ८४ ॥

अन्वयः—कोष्णेन अवभृथादपि मध्येन वत्सालोकप्रवर्तिना प्रस्नवेन भुवम् अभिवर्षन्ती कुण्डोघ्नी (नन्दिनी वनात् आववृते) ।

हिन्दी—कुछ-कुछ गरम यज्ञान्त-स्नानोदक (अभिषेकोदक) से भी अधिक पवित्र, बछड़ा को देखते ही उत्पन्न दूध के क्षरण से भूमि को सींचती हुई कुण्ड के समान थन वाली (नन्दिनी महर्षि वसिष्ठ के सामने खड़ी थी) ॥

रजःकणैः खुरोद्धूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात् ।
तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥ ८५ ॥

सञ्जी०—रज इति । खुरोद्धूतैरन्तिकात्समीपे गात्रं स्पृशद्भिः । 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' इति चकारात्पञ्चमी । रजसां कणैः । महीं क्षियत ईष्ट- इति महीक्षित्तस्य । तीर्थाभिषेकेण जातां तीर्थाभिषेकजाम् । शुद्धिमादधाना कुर्वाणा । एतेन वायव्यं स्नानमुक्तम् । उक्तं च मनुना— 'आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्यं तु वारुणम् । आपो हिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम्' ॥ इति ॥ ८५ ॥

अन्वयः—खुरोद्धूतैः अन्तिकात् गात्रं स्पृशद्भिः रजःकणैः महीक्षितः तीर्थाभिषेकजां शुद्धिम् आदधानः (नन्दिनी वनात् आजगाम)।

हिन्दी—(तपोवन से शीघ्रतापूर्वक महर्षि वसिष्ठ के निकट आश्रम में आती हुई नन्दिनी के—) खुरों से उड़ती हुई धूलिकणों के निकटवर्ती राजा दिलीप के शरीर के ऊपर गिरने से उनका शरीर (वायव्य स्नान से) इस तरह शुद्ध हो गया जैसे तीर्थस्थान से शरीर शुद्ध हो जाता है (वायव्यस्नानमाह मनुः द्र० संजीवनी) ॥ ८५ ॥

तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः ।
याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् ॥ ८६ ॥

सञ्जी०—तामिति । निमित्तज्ञः शकुनज्ञस्तपोनिधिर्वशिष्ठः पुण्यं दर्शनं यस्यास्तां धेनुं दृष्ट्वा । आशंसितं मनोरथः । नपुंसके भावे क्तः । तत्रावन्ध्यं सफलं प्रार्थनं यस्य स तम् । अवन्ध्यमनोरथमित्यर्थः । याजयितुं योग्यं याज्यं पार्थिवं पुनरब्रवीत् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—निमित्तज्ञः तपोनिधिः पुण्यदर्शनां तां दृष्ट्वा आशंसिताऽवन्ध्य-प्रार्थनं याज्यं पुनः अब्रवीत् ।

हिन्दी—शकुन शास्त्र के मनीषी, महातपस्वी महर्षि वसिष्ठ जी शुभ दर्शन वाली पूर्वोक्त पुरोवर्तिनी नन्दिनी को (अचानक उपस्थित) देख, राजा दिलीप को सफल मनोरथ वाले यजमान समझ कर उन्होंने राजा दिलीप से पुनः कहा— ॥ ८६ ॥

अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन् ! विगणयात्मनः ।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् ॥ ८७ ॥

सञ्जी०—अदूरवर्तिनीमिति । हे राजन् ! आत्मनः कार्यस्य सिद्धिमदूर-वर्त्तिनीं शीघ्रभाविनीं विगणय विद्धि । यद्यस्मात्कारणात्कल्याणी मङ्गलमूर्तिः । 'बह्वादिभ्यश्च' इति ङीप् । इयं धेनुर्नाम्नि कीर्तिते कथिते सत्येवोपस्थिता ॥

अन्वयः—'हे राजन् ! आत्मनः सिद्धिम् अदूरवर्तिनीं विगणय, यत् कल्याणी इयं नाम्नि कीर्तिते एव उपस्थिता ।

हिन्दी—हे राजन्, तुम अपनी कार्य की सफलता को निश्चित समझो— शीघ्र ही तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा, क्योंकि यह मंगलमूर्ति धेनु, जिसके

दर्शन मात्र से कार्य की सिद्धि होती है, वह तुम्हारे वार्ताप्रसंग में 'नन्दिनी' नाम लेते ही स्वयं उपस्थित हो गयी है ॥ ८६ ॥

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम्।
विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि ॥ ८८ ॥

सञ्जी०—वन्यवृत्तिरिति। वने भवं वन्यं कन्दमूलादिकं वृत्तिराहारो यस्य तथाभूतः सन्। इमां शश्वत्सदा। आ प्रसादादविच्छेदेनेत्यर्थः। आत्मनस्तव कर्तुः। अनुगमनेनानुसरणेन। अभ्यसनेनानुष्ठातुरभ्यासेन विद्यामिव प्रसादयितुं प्रसन्नां कर्तुमर्हसि ॥ ८८ ॥

अन्वयः—वन्यवृत्तिः (सन्) इमां गां शश्वत् आत्मानुगमनेन अभ्यसनेन विद्याम् इव प्रसादयितुम् अर्हसि।

हिन्दी—हे राजन्! तुम वनोद्भव कन्द-मूलादि फलाहार करते हुए निरन्तर इस नन्दिनी के पीछे लग कर सेवा करते रहो। यह नन्दिनी विद्या के समान प्रसन्न करने योग्य है। जैसे विद्यार्थी निरन्तर विद्याभ्यास से महाविद्वान् बन कर अपनी विद्वत्ता से सब कुछ पा लेता है—वैसे ही इन नन्दिनी को भी समझो ॥ ८८ ॥

गवानुसरणप्रकारमाह—

प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः।
निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः ॥ ८९ ॥

सञ्जी०—प्रस्थितायामिति। अस्यां नन्दिन्यां प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः प्रयाहि। 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम्। स्थितायां निवृत्तगतिकायां स्थितिमाचरेः स्थितिं कुरु। तिष्ठेत्यर्थः। निषण्णायामुपविष्टायां निषीदोपविश। विध्यर्थे लोट्। पीतमम्भो यया तस्यां पीताम्भसि सत्यामपः पिबेः पिब ॥ ८९ ॥

अन्वयः—अस्यां प्रस्थितायां (त्वम्) प्रतिष्ठेथाः, स्थितायां स्थितिम् आचरेः निषण्णायां निषीद, पीताम्भसि अपः पिबेः।

हिन्दी—(गुरु वसिष्ठ ने कहा—हे राजन्! छाया की तरह इस नन्दिनी का अनुसरण करने पर तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा। वन में फलाहारी

ब्रह्मचारी बन कर रहना—) जब यह नन्दिनी गौ चले तब चलना, जब ठहरे तब ठहर जाना, जब बैठे तब बैठना और जब यह जल पी ले तभी जल पीना ॥ ८९ ॥

वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामा तपोवनात् ।
प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि ॥ ९० ॥

सञ्जी०—वधूर्जाया च भक्तिमती गन्धादिभिरर्चितामेनां प्रातरा तपोवनात् । आङ्मर्यादायाम् । पदद्वयं चैतत् । अन्वेत्वनुगच्छतु । सायमपि प्रत्युद्व्रजेत् प्रत्युद्गच्छेत् । विध्यर्थे लिङ् ॥ ९० ॥

अन्वयः—वधूः भक्तिमती (सती) अर्चिताम् एनां प्रातः आ तपोवनात् अन्वेतु सायम् अपि प्रत्युद्व्रजेत् ।

हिन्दी—(हे राजन् ! पुत्राभिलाषी आप तो पूर्वोक्त प्रकार से नन्दिनी का अनुसरण करें और—) बहू सुदक्षिणा सबेरे भक्तिपूर्वक आप दोनों से पूजित—पुष्प-मालाद्यलंकृत—तपोवन में चरने के लिये जाती हुई इस नन्दिनी के पीछे-पीछे स्वागत करती हुई तपोवन तक जाय और फिर सायंकाल (नन्दिनी के आने के समय) तपोवन की सीमा तक जाकर उनकी अगवानी करे (स्वागत कर के उन नन्दिनी को आश्रम में लावे) ॥ ९० ॥

नन्दिनीपरिचर्याऽवधिं निर्दिशन्नाह—

इत्या प्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव ।
अविघ्नमस्तु ते स्थेया पितेव धुरि पुत्रिणाम् ॥ ९१ ॥

सञ्जी०—इतीति । इत्यनेन प्रकारेण त्वमा प्रसादात्प्रसादपर्यन्तम् । 'आङ्मर्यादाऽभिविध्योः' इत्यस्य वैभाषिकत्वादसमासत्वम् । अस्या धेनोः परिचर्यापरः शुश्रूषापरो भव । ते तवाविघ्नं विघ्नस्याभावोऽस्तु । 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभाव०' इत्यादिनाऽर्थाभावेऽव्ययीभावः । पितेव पुत्रिणां सत्पुत्रवताम् । प्रशंसायामिनिप्रत्ययः । धुर्यग्रेस्थेयास्तिष्ठः । आशीरर्थे लिङ् । 'एर्लिङि' इत्याकारस्यैकारादेशः । त्वत्सदृशो भवत्पुत्रोऽस्त्विति भावः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—इति त्वम् आ प्रसादात् अस्याः परिचर्यापरो भव, ते अविघ्नम् अस्तु पिता इव पुत्रिणां धुरि स्थेयाः ।

हिन्दी—(हे राजन् !) इस प्रकार पूर्वकथनानुसार पत्नी सहित आप जब तक नन्दिनी प्रसन्न न हों (पुत्रप्राप्ति रूप वरदान न दें) तब तक आप दोनों पूर्वोक्त सेवा में तत्पर रहें। मैं आशीर्वाद देता हूँ राजन् ! गो-सेवा में आपको किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं होगा, आप पिता (जनक) बनेंगे और पिता बनने वालों के सबसे आगे रहेंगे (लोग कहेंगे—'पुत्रवान् हो तो दिलीप के ऐसा ?') ॥ ९१ ॥

तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान् सपरिग्रहः।
आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥ ९२ ॥

सञ्जी०—तथेतीति। देशकालज्ञः। देशोऽग्निसन्निधिः, कालोऽग्निहोत्रावसान समयः। विशिष्टदेशकालोत्पन्नमार्षज्ञानमव्याहतमिति जानन् अत एव प्रीतिमाञ्शिष्योऽन्तेवासी राजा सपरिग्रहः सपत्नीकः। 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः। आनतो विनयनम्रः सन् शासितुर्गुरोरादेशमाज्ञां तथेति प्रतिजग्राह स्वीचकार ॥ ९२ ॥

अन्वयः—देशकालज्ञः प्रीतिमान् शिष्यः सपरिग्रहः आनतः (सन्) शासितुः आदेशं तथा इति प्रतिजग्राह।

हिन्दी—(गुरु वसिष्ठ द्वारा पुत्रार्थं नन्दिनी-सेवा के उपदेशोपरान्त—) देश-कालज्ञ (तपश्चर्या-विशेषज्ञ), कुल-गुरु वसिष्ठ के शरणागत शिष्य, प्रसन्न चित्त महाराज दिलीप ने पत्नी सुदक्षिणा के साथ करबद्ध होकर विनम्रभाव से 'तथेति' (वैसा ही करूँगा) यह कह कर गुरु की आज्ञा को स्वीकार किया ॥ ९२ ॥

अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशांपतिम्।
सूनुः सूनृतवाक् स्रष्टुर्विससर्जोर्जितश्रियम् ॥ ९३ ॥

सञ्जी०—अथेति। अथ प्रदोषे रात्रौ दोषज्ञो विद्वान्। 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः' इत्यमरः। सूनृतवाक् सत्यप्रियवाक्। 'प्रियं सत्यं च सूनृतम्' इति हलायुधः। स्रष्टुः सूनुर्ब्रह्मपुत्रो मुनिः। अनेन प्रकृतकार्यनिर्वाहकत्वं सूचयति। ऊर्जितश्रियम्। विशांपतिं मनुजेश्वरम्। 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः। संवेशाय निद्रायै। 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि' इत्यमरः।

अन्वयः—अथ प्रदोषे दोषज्ञः सूनृतवाक् स्रष्टुः सूनुः ऊर्जितश्रियं विशांपतिं संवेशाय विससर्ज ।

हिन्दी—'तथेति' कहकर गुरु वसिष्ठ की आज्ञा स्वीकार करने के बाद, रात्रि के प्रथम प्रहर में सोने के समय महाप्राज्ञ तथा सत्य और प्रिय वचन बोलने वाले ब्रह्मा जी के मानसपुत्र महर्षि वसिष्ठ ने महा ऐश्वर्यशाली मनुजेश्वर महाराजाधिराज शरणागतवत्सल दिलीप को सोने के लिये आज्ञा दी ॥ ९३ ॥

सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः ।
कल्पवित् कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम् ॥ ९४ ॥

सञ्जी०—सत्यामिति । कल्पविद् व्रतप्रयोगाभिज्ञो मुनिः । तपःसिद्धौ सत्यामपि । तपसैव राजयोग्याहारसंपादनसामर्थ्ये सत्यपीत्यर्थः । नियमापेक्षया तदाप्रभृत्येव व्रतचर्यापेक्षया । अस्य राज्ञो वन्यामेव । संविधीयतेऽनयेति संविधाम् । कुशादिशयनसामग्रीम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः ! 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति कर्माद्यर्थत्वम् । कल्पयामास संपादयामास ॥ ९४ ॥

अन्वयः—कल्पवित् मुनिः तपःसिद्धौ सत्याम् अपि नियमापेक्षया अस्य वन्याम् एव संविधां कल्पयामास ।

हिन्दी—व्रत, अनुष्ठानादि के संयम-नियम, उपवेशनादि समस्त क्रिया-कलापों के वेत्ता महर्षि वसिष्ठ अपनी तपस्या के बल पर स्मरण मात्र से महाराज दिलीपोचित राज-सिंहासनादि सामग्री सम्पादन करने का सामर्थ्य रखते हुए भी नन्दिनी-सेवारूप तपश्चर्या के व्रती सपत्नीक महाराज दिलीप के लिए उन्होंने तपस्वियों के भोज्य—कन्द, मूल, फल, तिन्नी धान्यादि तथा बैठने-सोने के लिए कुशास्तरण (कुश की चटाई) को ही प्रस्तुत करने को कहा ॥ ९४ ॥

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशाला-
मध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां
संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥ ९५ ॥

इति दिलीपवसिष्ठाश्रमाभिगमनो नाम प्रथमः सर्गः ।

सञ्जी०—निर्दिष्टामिति । स राजा कुलपतिना मुनिकुलेश्वरेण वसिष्ठेन निर्दिष्टां पर्णशालामध्यास्याधिष्ठाय । तस्यामधिष्ठानं कृत्वेत्यर्थः । 'अधिशीङ्-स्थाऽऽसां कर्म' इत्यनेनाधारस्य कर्मत्वम् । कर्मणि द्वितीया । प्रयतो नियतः परिग्रहः पत्नी द्वितीयो यस्येति स तथोक्तः । कुशानां शयने संविष्टः सुप्तः सन् । तस्य वसिष्ठस्य शिष्याणामध्ययनेनापररात्रे वेदपाठेन निवेदितमवसानं यस्यास्तां निशां निनाय गमयामास । अपररात्रेऽध्ययने मनुः—'निशान्ते न परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत्' । 'न चापररात्रमधीत्य पुनः स्वपेद्' इति गौतमश्च । प्रहर्षिणीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्—'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ॥ ९५ ॥

इति मल्लिनाथविरचितायां 'सञ्जीविनी' व्याख्यायां प्रथमः सर्गः ।

अन्वयः—सः कुलपतिना निर्दिष्टां पर्णशालाम् अध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः कुशशयने संविष्टः (सन्) तच्छिष्याऽध्ययननिवेदिताऽवसानां निशां निनाय ।

हिन्दी—(रात में गुरु वशिष्ठ की आज्ञा पाकर—) महाराज दिलीप कुलपति वसिष्ठ द्वारा निर्दिष्ट पर्ण-कुटी में प्रवेश करके रानियों में सबसे पवित्र पाणिगृहीती पत्नी सुदक्षिणा और राजा (केवल दो ही व्यक्ति) गुरूपदत्त कुश की चटाई पर सो गये और रात्र्यन्त में महर्षि वसिष्ठ के शिष्यों द्वारा किये गये वेद-घोष के महानाद से रात्रि का अवसान समझ कर ब्राह्म-मुहूर्त में ही दोनों उठ गये ॥ ९५ ॥

इत्यधिकाशि श्रीरामचन्द्र झा विरचित सान्वय 'इन्दुमती'
हिन्दीटीकासहितः प्रथमः सर्गः समाप्तः ।



द्वितीयः सर्गः

**अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ १ ॥**

* सञ्जीविनी *

आशासु राशीभवदङ्गवल्लीभासेव दासीकृतदुग्धसिन्धुम् ।
मन्दस्मितैर्निन्दितशारदेन्दुं वन्देऽरविन्दासनसुन्दरि ! त्वाम् ॥

सञ्जी०—अथेति । अथ निशानयनानन्तरं यशोधनः प्रजानामधिपः प्रजेश्वरः प्रभाते प्रातःकाले जायया सुदक्षिणया प्रतिग्राहयित्र्या प्रतिग्राहिते स्वीकारिते गन्धमाल्ये यया सा जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या, तां तथोक्ताम् । पीतं पानमस्यास्तीति पीतः पीतवानित्यर्थः । 'अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः । 'पीता गावो भुक्ता ब्राह्मणाः' इति महाभाष्ये दर्शनात् । पीतः प्रतिबद्धो वत्सो यस्यास्तामृषेर्धेनुं वनाय वनं गन्तुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इत्यनेन चतुर्थी । मुमोच मुक्तवान् । जायापदसामर्थ्यात् सुदक्षिणायाः पुत्रजननयोग्यत्वमनुसन्धेयम् । यथा हि श्रुतिः—'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते । तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥' इति । यशोधन इत्यनेन पुत्रवत्ताकीर्तिलोभाद्राजानर्हे गोरक्षणे प्रवृत्त इति गम्यते । अस्मिन् सर्गे वृत्तमुपजातिः'—'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' ॥ १ ॥

* इन्दुमती *

अन्वयः—अथ यशोधनः, प्रजानाम् अधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् पीतप्रतिबद्धवत्साम् ऋषेः धेनुं वनाय मुमोच ।

हिन्दी—रात के बीतने पर प्रातःकाल प्रजापालक तथा कीर्तिप्रतिष्ठा को ही धन मानने वाले राजा दिलीप ने पत्नी रानी सुदक्षिणा के द्वारा पूजन में स्वीकार कराये गये चन्दन, मालादि को धारण की हुई तथा दुग्ध-पान

कर चुकने के पश्चात् जिसका बछड़ा बाँध दिया गया है, ऐसी ऋषि वसिष्ठ की नई व्याई नन्दिनी नाम की गौ को जंगल में चरने के लिये खोल दिया ॥

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ २ ॥

सञ्जी०—तस्या इति। पांसवो दोषा आसां सन्तीति पांसुलाः स्वैरिण्यः। 'स्वैरिणी पांसुला' इत्यमरः। 'सिध्मादिभ्यश्च' इति लच्प्रत्ययः। अपांसुलानां पतिव्रतानां धुर्यग्रे कीर्त्तनीया परिगणनीया। मनुष्येश्वरधर्मपत्नी। खुरन्यासैः पवित्राः पांसवो यस्य तम्। 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः। तस्या धेनोर्मार्गम्। स्मृतिर्मन्वादिवाक्यं श्रुतेर्वेदवाक्यस्यार्थमभिधेयमिव अन्वगच्छदनुसृतवती च। यथा स्मृतिः—श्रुतिक्षुण्णमेवार्थमनुसरति तथा साऽपि गोखुरक्षुण्णमेव मार्गमनुससारेत्यर्थः। धर्मपत्नीत्यत्राश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः प्रकृतिविकाराभावात्। पांसुलपथप्रवृत्तावप्यपांसुलानामिति विरोधालङ्कारो ध्वन्यते ॥ २ ॥

अन्वयः—अपांसुलानां धुरि कीर्तनीया मनुष्येश्वरधर्मपत्नी खुरन्यासपवित्रपांसुं तस्याः मार्गं स्मृतिः, श्रुतेः अर्थम् इव अन्वगच्छत्।

हिन्दी—पतिव्रताओं में श्रेष्ठ (अग्रगण्या) राजा दिलीप की धर्मपत्नी रानी सुदक्षिणा (दिलीप के साथ वन में चलने के लिये जाती हुई उस) नन्दिनी गौ के खुरों के रखने से पवित्र धूलि वाले मार्ग का ('तपोवन पर्यन्त' द्र० प्र० सर्ग श्लो० ९०) उसी प्रकार अनुगमन करती हुई जा रही थी जैसे मन्वादि स्मृति वेद के अर्थ का अनुगमन करती है (रास्ते में उड़ती हुई नन्दिनी की पग-धूलि को मस्तक में लगाती हुई सुदक्षिणा जा रही थी)॥

निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥ ३ ॥

सञ्जी०—निवर्त्येति। दयालुः कारुणिकः। 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः। स्पृहिगृहि०' इत्यादिनाऽऽलुच्प्रत्ययः। यशोभिः सुरभिर्मनोज्ञः 'सुरभिः स्यान्मनोज्ञेऽपि' इति विश्वः। राजा तां दयितां निवर्त्य सौरभेयीं कामधेनुसुतां नन्दिनीम्। धरन्तीति धराः। पचाद्यच्। पयसां धराः पयोधराः

स्तनाः। 'स्त्रीस्तनाब्दौ पयोधरौ' इत्यमरः। अपयोधराः पयोधराः सम्पद्यमाना पयोधरीभूताः। अभूततद्भावे च्विः। 'कुगतिप्रादयः' इति समासः। पयोधरी भूताश्चत्वारः समुद्रा यस्यास्ताम्। 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेकपदार्थग्रहणसामर्थ्यात्त्रिपदो बहुव्रीहिः। गोरूपधरामुर्वीमिव जुगोप ररक्ष। भूरक्षणप्रयत्नेनेव ररक्षेति भावः। धेनुपक्षे—पयसा दुग्धेनाधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्याः सा तथोक्ता ताम्। दुग्धतिरस्कृतसागरामित्यर्थः॥ ३॥

अन्वयः—दयालुः यशोभिः सुरभिः राजा तां दयितां निवर्त्य सौरभेयीं पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां गोरूपधराम् उर्वीम् इव जुगोप।

हिन्दी—दयालु तथा कीर्ति से प्रख्यात राजा दिलीप पत्नी सुदक्षिणा को (तपोवन के निकट से) लौटा कर, जिसके दूध की अधिकता से चारों समुद्र तिरस्कृत हैं ऐसी उस नन्दिनी को—चारों समुद्रों को थनों के रूप में धारण की हुई गौ के रूप में उपस्थित पृथिवी की तरह रक्षा करने लगे॥३॥

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः॥ ४॥

सञ्जी०—व्रतायेति। व्रताय धेनोरनुचरेण न तु जीवनायेति भावः। तेन दिलीपेन शेषेऽवशिष्टोऽप्यनुयायिवर्गोऽनुचरवर्गो न्यषेधि निवर्तितः। शेषत्वं सुदक्षिणाऽपेक्षया। कथं तर्ह्यात्मरक्षणमत आह न चेति। तस्य दिलीपस्य शरीररक्षा चान्यतः पुरुषान्तरान्न। कुतः। हि यस्मात् कारणान्मनोः प्रसूयत इति प्रसूतिः सन्ततिः स्ववीर्यगुप्ता स्ववीर्येणैव रक्षिता। न हि स्वनिर्वाहकस्य परापेक्षेति भावः॥ ४॥

अन्वयः—व्रताय धेनोः अनुचरेण तेन शेषः अनुयायिवर्गः अपि न्यषेधि, तस्य शरीररक्षा च अन्यतः न। हि मनोः प्रसूतिः स्ववीर्यगुप्ता (भवति)।

हिन्दी—नन्दिनी के पीछे-पीछे चलने वाले गो-सेवा व्रती राजा दिलीप ने रानी सुदक्षिणा को लौटाने के बाद बचे हुए अनुचरों (भृत्यों) को भी वहीं से लौटा दिया। राजा दिलीप की शरीररक्षा के लिए दूसरों की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि सूर्यपुत्र महर्षि वैवस्वत-वंशोद्भव सूर्यवंशी राजा लोग अपने ही पराक्रम से अपनी रक्षा में समर्थ होते थे॥ ४॥

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥५॥

सञ्जी०—आस्वादवद्भिरिति । सम्राट् मण्डलेश्वरः । 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्' इत्यमरः । स राजा आस्वादवद्भिः रसवद्भिः स्वादयुक्तैरित्यर्थः । तृणानां कवलैर्ग्रासैः 'ग्रासस्तु कवलः पुमान्' इत्यमरः । कण्डूयनैः खर्जनैः । दंशानां वनमक्षिकाणां निवारणैः । 'दंशस्तु वनमक्षिका' इत्यमरः । अव्याहतैरप्रतिहतैः स्वैरगतैः स्वच्छन्दगमनैश्च । तस्या धेन्वाः समाराधनतत्परः शुश्रूषाऽऽसक्तोऽभूत् । तदेव परं प्रधानं यस्येति तत्परः । 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः ॥ ५ ॥

अन्वयः—सम्राट् सः आस्वादवद्भिः तृणानां कवलैः कण्डूयनैः दंशनिवारणैः अव्याहतैः स्वैरगतैः च तस्याः समाराधनतत्परः अभूत् ।

हिन्दी—वे मण्डलेश्वर राजा दिलीप स्वादयुक्त कोमल-कोमल घासों के ग्रासों से (खिलाने से), शरीर के खुजलाने से एवं शरीर पर से वनमक्षिकाओं को उड़ाने से तथा बेरोक-टोक (यथेच्छ) स्वच्छन्दता से वन में विचरण करने देने से उस नन्दिनी गौ की सेवा में आसक्त (लगे हुए) रहते थे ॥ ५ ॥

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ ६ ॥

सञ्जी०—भूपतिस्तां गां स्थितां सतीं स्थितः सन् । स्थितिरूर्ध्वविस्थानम् । प्रयातां प्रस्थितामुच्चलितः प्रस्थितः । निषेदुषीं निषण्णाम् । उपविष्टामित्यर्थः । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । आसनबन्ध उपवेशने धीरः । स्थित उपविष्टः सन्नित्यर्थः । जलमाददानां जलं पिबन्तीं जलाभिलाषी । जलं पिबन्नित्यर्थः । इत्थं छायेवान्वगच्छदनुसृतवान् ॥ ६ ॥

अन्वयः—(सः) भूपतिः तां स्थितः (सन्), प्रयाताम् उच्चलितः (सन्), निषेदुषीम् आसनबन्धधीरः (सन्), जलम् आददानाम् जलाभिलाषी (सन्) छाया इव ताम् अन्वगच्छत् ।

हिन्दी—चक्रवर्ती सम्राट् दिलीप (वन में) उस नन्दिनी के रुकने पर रुकते हुए, चलने पर चलते हुए, बैठने पर (सावधान होकर) बैठते हुए, उसके

जल पीने पर जल पीते हुए (इस प्रकार) छाया की तरह उस नन्दिनी का अनुसरण करने लगे (पल भर के लिये भी उससे विमुख नहीं होते थे)॥

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः॥७॥

सञ्जी०—स इति। न्यस्तानि परिहृतानि चिह्नानि छत्रचामरादीनि यस्यास्तां, तथाभूतामपि, तेजोविशेषेण प्रभावातिशयेनानुमिताम् 'सर्वथा राजैवायं भवेदि'त्यूहिता राजलक्ष्मीं दधानः स राजा, अनाविष्कृतदानराजिर्बहिरप्रकटितमदरेखः। अन्तर्गता मदावस्था यस्य सोऽन्तर्मदावस्थः, तथाभूतो द्विपेन्द्र इव आसीत्॥ ७॥

अन्वयः—न्यस्तचिह्नाम् अपि तेजोविशेषानुमितां राजलक्ष्मीं दधानः सः अनाविष्कृतदानराजिः अन्तर्मदावस्थः द्विपेन्द्रः इव आसीत्।

हिन्दी—नन्दिनी-सेवा के समय राजा दिलीप, छत्रादिराज-चिह्नों को छोड़ देने पर भी अपने तेजों की अधिकता से राजलक्ष्मी को धारण किये हुए—प्रकट रूप से नहीं दिखाई दे रही है मद-रेखा जिसकी अर्थात् भीतर में ही स्थित है मदावस्था जिसकी ऐसे, गजराज के समान मालूम पड़ते थे (उनके आजानुबाहू तथा विशाल भालादि आकृति से ही लोग उन्हें राजा समझ जाते थे)॥ ७॥

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।
रक्षाऽपदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान् विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्॥८॥

सञ्जी०—लतेति। लतानां वल्लीनांप्रतानैः कुटिलतन्तुभिरुद्ग्रथिता उन्नमय्य ग्रथिता ये केशास्तैरुपलक्षितः। 'इत्थम्भूतलक्षणे' इति तृतीया। स राजा। अधिज्यमारोपितमौर्वीकं धनुर्यस्य सोऽधिज्यधन्वा सन्। 'धनुषश्च' इत्यनङादेशः। मुनिहोमधेनो रक्षापदेशाद् रक्षणव्याजात्। वन्यान् वने भवान् दुष्टसत्त्वान् दुष्टजन्तून् 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः। विनेष्यन् शिक्षयिष्यन्निव दावं वनम्। 'वने च वनवह्नौ च दावा दव इहेष्यते' इति यादवः। विचचार वने चचारेत्यर्थः। 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इति दावस्य कर्मत्वम्॥ ८॥

अन्वयः—लताप्रतानोद्ग्रथितैः केशैः (उपलक्षितः) सः अधिज्यधन्वा (सः) मुनिहोमधेनोः रक्षापदेशात् वन्यान् दुष्टसत्त्वान् विनेष्यन् इव दावं विचचार।

हिन्दी—(बन के जंगल-झाड़ों में विपथ चरती हुई नन्दिनी के पीछे-पीछे चलने से) जंगली लताओं के टेढ़े-मेढ़े लत्तड़ों से उलझे हुए सिर के बालों से सुशोभित वे राजा दिलीप 'तने हुए धनुष को लिए गुरु वसिष्ठ की हवन-सामग्री (घृतादि) को देने वाली उस नन्दिनी की रक्षा के बहाने उस बन के दुष्ट व्याघ्रादि जन्तुओं का शासन करने के लिये ही मानो वन में घूम रहे थे (राजा दिलीप के तने हुए धनुष-बाणों को देख कर वन के हिंसक प्राणी त्रस्त रहते थे—उत्पात नहीं मचाते थे) ॥ ८ ॥

अधोलिखित—षड्भिः श्लोकैस्तस्य महामहिमतया द्रुमादयोऽपि राजोपचारं चक्रुरित्याह—

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः॥ ९॥

सञ्जी०—विसृष्टेति। विसृष्टाः पार्श्वानुचराः पार्श्ववर्तिनो जना येनः तस्य। पाशभृता वरुणेन समस्य तुल्यस्य। 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः। अनुभावोऽनेन सूचितः। तस्य राज्ञः पार्श्वयोर्द्रुमाः। उन्मदानामुत्कटमदानां वयसां खगानाम् 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः। विरावैः शब्दैः। आलोकस्य शब्दं वाचकमालोकयेति शब्दं जयशब्दमित्यर्थः 'आलोको जयशब्दः स्याद्' इति विश्वः। उदीरयामासुरिवावदन्निव। इत्युत्प्रेक्षा ॥ ९ ॥

अन्वयः—विसृष्टपार्श्वानुचरस्य पाशभृता समस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः उन्मदानां वयसां विरावैः आलोकशब्दं उदीरयामासुः इव।

हिन्दी—(न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः श्लो० ४) पार्श्ववर्ती सेवकों को वापस कर देने पर भी (तपोवन में) वरुण के सदृश प्रभावशाली राजा दिलीप के समीपवर्ती वृक्षों ने हर्षोन्मत्त पक्षियों के मधुर कूजन द्वारा जय शब्दों का उच्चारण किया (कर रहे थे)—ऐसा भान हो रहा था ॥ ९ ॥

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्तमानम्।
अवाकिरन् बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः॥ १०॥

सञ्जी०—मरुत्प्रयुक्ताश्चेति । मरुत्प्रयुक्ता वायुना प्रेरिता बाललताः, आरात्समीपेऽभिवर्तमानम् 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । मरुतो वायोः सखा मरुत्सखोऽग्निः । स इवाभातीति मरुत्सखाभम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः । पूज्यं तं दिलीपं प्रसूनैः पुष्पैः । पौरकन्याः पौराश्च ताः कन्या आचारार्थैर्लाजास्तैराचारलाजैरिव । अवाकिरन् तस्योपरि निक्षिप्तवत्य इत्यर्थः । सखा हि सखायमागतमुपचरतीति भावः ॥ १० ॥

अन्वय—मरुत्प्रयुक्ताः बाललताः आरात् अभिवर्तमानम्, मरुत्सखाभम् अर्च्यं तं प्रसूनैः अवाकिरन्, आचारलाजैः इव ।

हिन्दी—वायु से कम्पित कोमल-कोमल वन-लताओं ने (वन) वैश्वानर (अग्नि) के समान देदीप्यमान समीप में स्थित उन राजा दिलीप के ऊपर फूलों की वर्षा की । (जैसे—नगर में राजा के प्रवेश करने पर उनके ऊपर शहर की बालिकएँ मंगलार्थक धान की लावाओं की वर्षा करती हैं) ॥१०॥

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयाऽऽर्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः ।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥११॥

सञ्जी०—धनुर्भृत इति । धनुर्भृतोऽप्यस्य राज्ञः । एतेन भयसम्भावना दर्शिता तथाऽपि विशङ्कैर्निर्भीकैरन्तःकरणैः कर्तृभिः । दयया कृपारसेनार्द्रो भावोऽभिप्रायो यस्य तद् दयार्द्रभावं तदाख्यातम् । दयार्द्रभावमेतदित्याख्यातमित्यर्थः । 'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टाऽऽत्मजन्मसु' इत्यमरः । तथाविधं वपुर्विलोकयन्त्यो हरिण्योऽक्ष्णां प्रकामविस्तारस्यात्यन्तविशालतायाः फलमापुः । 'विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं च' इति न्यायेन स्वान्तःकरणवृत्तिप्रामाण्यादेव विश्रब्धं ददृशुरित्यर्थः ॥ ११ ॥

अन्वयः—धनुर्भृतः अपि अस्य विशङ्कैः अन्तःकरणैः, दयार्द्रभावम् आख्यातं वपुः विलोकयन्त्यः हरिण्यः अक्ष्णां प्रकामविस्तारफलम् आपुः ।

हिन्दी—धनुष को धारण करने पर भी राजा दिलीप का शरीर दयापूर्ण है, ऐसा समझकर भयरहित अन्तःकरणों से अपलक दृष्टि से राजा को देखती हुई हरिणियों ने अपनी आँखों के बड़ी-बड़ी होने का फल प्राप्त किया ॥ ११ ॥

सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।
शुश्राव कुञ्जेषु यशःस्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥ १२ ॥

सञ्जी०—स इति । स दिलीपो मारुतपूर्णरन्ध्रैः अतएव कूजद्भिः स्वनद्भिः कीचकैर्वेणु-विशेषैः । 'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः । वंशः सुषिरवाद्यविशेषः । 'वंशादिकं तु सुषिरम्' इत्यमरः । आपादितं सम्पादितं वंशस्य कृत्यं कार्यं यस्मिन् कर्मणि तत्तथा । कुञ्जेषु लतागृहेषु 'निकुञ्जकुञ्जो वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः । वनदेवताभिरुद्गीयमानमुच्चैर्गीयमानं स्वं यशः शुश्राव श्रुतवान् ॥ १२ ॥

अन्वयः—स मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिः कीचकैः आपादितवंशकृत्यं (यथा तथा) कुञ्जेषु वनदेवताभिः उच्चैः उद्गीयमानं स्वं यशः शुश्राव ।

हिन्दी—उन राजा दिलीप ने वायु से भरे हुए छिद्रों के होने पर सुमधुर शब्दों से बाँसुरी के ऐसा कार्यसंपादन होता हुआ बाँसों के निकुञ्जों में (नन्दिनी को चराते हुए मानो) वन की अधिष्ठात्री देवियों से ऊँचे स्वरों में गाए जाते हुए अपने यशोगान को सुना ॥ १२ ॥

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाऽऽकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥ १३ ॥

सञ्जी०—पृक्त इति । गिरिषु निर्झराणां वारिप्रवाहाणाम् । 'वारिप्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । तुषारैः सीकरैः । 'तुषारौ हिमसीकरौ' इति शाश्वतः । पृक्तः सम्पृक्तोऽनोकहानां वृक्षाणामाकम्पितानीषत्कम्पितानि पुष्पाणि तेषां यो गन्धः सोऽस्यास्तीत्याकम्पितपुष्पगन्धी ईषत्कम्पितपुष्पगन्धवान् अत एव शीतो मन्दः सुरभिः पवनो वायुरनातपत्रं व्रतार्थं परिहृतच्छत्रम् । अत एवातपक्लान्तमाचारेण पूतं शुद्धं तं नृपं सिषेवे । आचारपूतत्वात् स राजा जगत्पावनस्यापि सेव्य आसीदिति भावः ॥ १३ ॥

अन्वयः—गिरिनिर्झराणां, तुषारैः पृक्तः अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी पवनः अनातपत्रम् (अत एव) आतपक्लान्तम् आचारपूतं तं सिषेवे ।

हिन्दी—(वन में नन्दिनी की रक्षा करते समय—) पर्वतीय झरनों के फुहारों से युक्त तथा वृक्षों के शनैः-शनैः हिलते हुए फूलों की सुगन्धि से पूर्ण

(मन्द-सुगन्धित) पवन ने छत्ररहित अत एव घाम (रौद्र) से श्रान्त एवं सदाचार से पवित्र उन राजा दिलीप की सेवा की ॥ १३ ॥

शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निरासीद् विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने ॥१४॥

सञ्जी०—शशामेति । गोप्तरि तस्मिन् वनं गाहमाने प्रविशति वृष्ट्या विनाऽपि दवाग्निर्वनाग्निः 'दवादावौ वनानले' इति हैमः । शशाम । फलानां पुष्पाणां च वृद्धिः विशेष्यत इति विशेषा अतिशयिताऽऽसीत् । कर्मार्थे सत्वेषु जन्तुषु मध्ये । 'यतश्च निर्धारणम्' इति सप्तमी । अधिकः प्रबलो व्याघ्रादिरूपो दुर्बलं हरिणादिकं न बबाधे ॥ १४ ॥

अन्वयः—गोप्तरि तस्मिन् वनं गाहमाने (सति) वृष्ट्या विना अपि दवाग्निः शशाम, फलपुष्पवृद्धिः विशेषा आसीत् , सत्त्वेषु (मध्ये) अधिकः ऊनं न बबाधे ।

हिन्दी—(नन्दिनी के साथ-०) पृथिवी-पालक राजा दिलीप के वन में प्रवेश करते ही वर्षा के न होने पर भी वन की अग्नि (दवाग्नि) अपने-आप शान्त हो गयी तथा फल-फूलों की खूब समृद्धि हुई और वन के जन्तुओं के बीच में प्रबल व्याघ्रादिकों ने अपने से दुर्बल हरिणादि प्राणियों को सताना (मारना) बन्द कर दिया (वन के सभी) जीव-जन्तु एक साथ विचरने लगे ॥ १४ ॥

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥१५॥

सञ्जी०—सञ्चारेति । पल्लवस्य रागो वर्णः पल्लवरागः । 'रागोऽनुरक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु' । इति शाश्वतः । स इव ताम्रा पल्लवरागताम्रा । पतङ्गस्य सूर्यस्य प्रभा कान्तिः 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इति शाश्वतः । मुनेर्धेनुश्च । दिगन्तराणि दिशामवकाशान् । अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्विभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः । सञ्चारेण पूतानि शुद्धानि कृत्वा दिनान्ते सायंकाले निलयायास्तमयाय । धेनुपक्षे आलयाय च गन्तुं प्रचक्रमे ॥ १५ ॥

अन्वयः—पल्लवरागताम्रा पतङ्गस्य प्रभा मुनेः धेनुः च दिगन्तराणि सञ्चारपूतानि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुं प्रचक्रमे।

हिन्दी—नवपत्र के समान लाल वर्ण वाली सूर्य की प्रभा तथा उसी रंग की मुनि वसिष्ठ की नन्दिनी गौ, ये दोनों अपने-अपने गमन से दिशाओं के मध्य भाग को पवित्र करके दिन के अवसान में सूर्य-प्रभा अस्त होने (अस्ताचल जाने) के लिये तथा नन्दिनी अपने आश्रम में जाने के लिये तैयार हो गयी ॥ १५ ॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियाऽर्थामन्वग् ययौ मध्यमलोकपालः।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥१६॥

सञ्जी०—तामिति। मध्यमलोकपालो भूपालः। देवतापित्रतिथीनां क्रियायागश्राद्धदानानि ता एवार्थः यस्यास्तां धेनुमन्वगनुपदं ययौ। 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीबमव्ययम्' इत्यमरः। सतां मतेन सद्भिर्मान्येन। 'गतिबुद्धि' इत्यादिना वर्त्तमाने क्तः। 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी। तेन राज्ञोपपन्ना युक्ता सा धेनुः सतां मतेन विधिनाऽनुष्ठानेनोपपन्ना युक्ता साक्षात्प्रत्यक्षा श्रद्धास्तिक्यबुद्धिरिव बभौ च ॥ १६ ॥

अन्वयः—मध्यमलोकपालः, देवतापित्रतिथिक्रियार्थाम् ताम् अन्वक् ययौ च सतां मतेन तेन उपपन्ना सा (सतां मतेन) विधिना (युक्ता) साक्षात् श्रद्धा इव बभौ।

हिन्दी—(संध्या के समय नन्दिनी जब आश्रम की ओर चली तब-) पृथिवीपति राजा दिलीप भी देव, पितर तथा अतिथि-सत्कार के (दुग्धादि द्वारा) साधनभूत वसिष्ठ की उस नन्दिनी के पीछे-पीछे चले। उस समय सज्जनों के सम्मत (वसिष्ठोक्त सेवाव्रती) उस दिलीप से युक्त वह नन्दिनी भी सज्जनों के पूजित शास्त्र विधि से युक्त प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली श्रद्धा की भाँति सुशोभित हो रही थी (सेव्या, सेवक दोनों अपने-अपने अनुरूप चलते दिखाई दे रहे थे) ॥ १६ ॥

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥१७॥

सञ्जी०—स इति। स राजा। पल्वलेभ्योऽल्पजलाशयेभ्य उत्तीर्णानि निर्गतानि वराहाणां यूथानि कुलानि येषु तानि। बर्हाण्येषां सन्तीति बर्हिणा मयूराः। 'मयूरो बर्हिणो बर्ही' इत्यमरः। फलबर्हाभ्यामिनच्प्रत्ययो वक्तव्यः' आवासवृक्षाणामुन्मुखा बर्हिणा येषु तानि श्यामायमानानि वराहबर्हिणादिमलिनिम्ना अश्यामानि श्यामानि भवन्तीति श्यामायमानानि। 'लोहितादिडाज्भ्य क्यष्' इति क्यष्प्रत्ययः। 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदे शानच्। मृगैरध्यासिताः अधिष्ठिताः शाद्वला येषु तानि। शादाः शष्पाण्येषु देशेषु सन्तीति शाद्वलाः शष्पश्यामदेशाः। 'शाद्वलः शादहरिते' इत्यमरः। 'शादः कर्दमशष्पयोः' इति विश्वः। 'नडशादाड्ड्वलच्' इति ड्वलच् प्रत्ययः। वनानि पश्यन् ययौ ॥ १७ ॥

अन्वयः—सः पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि मृगाध्यासितशाद्वलानि (अत एव) श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ययौ।

हिन्दी—(संध्या समय नन्दिनी के पीछे-पीछे आश्रम लौटते समय-) वे राजा दिलीप छोटे-छोटे तालाबों से निकलते हुए बनैले सूकरों के झुण्डों से तथा अपने-अपने निवास वृक्षों पर बैठे उन्मुख (बादलों की ओर देख रहे) मयूरों से एवं हरिणों के झुण्ड जिन पर बैठे हैं ऐसे हरित बालतृणों से हरे-भरे, सर्वत्र श्याम ही श्याम वनप्रदेशों को देखते हुए जा रहे थे ॥ १७ ॥

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात् गृष्टिर्गुरुत्वाद् वपुषो नरेन्द्रः।
उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥ १८ ॥

सञ्जी०—आपीनेति। गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः। 'गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः' इति हलायुधः। नरेन्द्रश्च। उभौ यथाक्रमम्। आपीनमूधः। 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः। आपीनस्य भारोद्वहने प्रयत्नात् प्रयासाद् वपुषो देहस्य गुरुत्वादाधिक्याच्च। अञ्चिताभ्यां चारुभ्याम् गताभ्यां गमनाभ्यां तपोवनादावृत्तेः पन्थास्तं तपोवनावृत्तिपथम्। 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इत्यनेन समासान्तोऽच्प्रत्ययः। अलञ्चक्रतुर्भूषितवन्तौ ॥ १८ ॥

अन्वयः—गृष्टिः नरेन्द्रः (च) उभौ आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात् वपुषः गुरुत्वात् अञ्चिताभ्यां गताभ्यां तपोवनावृत्तिपथः अलञ्चक्रतुः।

हिन्दी—तपोवन से लौटते हुए नवप्रसूता नन्दिनी ने अपने स्थूल स्तन-

भार से और राजा दिलीप ने अपने स्थूल शरीर के भार से धीरे-धीरे लचकते हुए मन्द गति से तपोवन के मार्ग को सुशोभित किया ॥ १८ ॥

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ १९ ॥

सञ्जी०—वसिष्ठेति । वसिष्ठधेनोरनुयायिनमनुचरं वनान्तादावर्तमानं प्रत्यागतं तं दिलीपं वनिता सुदक्षिणा । निमेषेष्वलसा मन्दा पक्ष्मणां पङ्क्तिर्यस्याः सा निर्निमेषा सतीत्यर्थः । लोचनाभ्यां करणाभ्याम् उपोषिताभ्यामिव उपवासो भोजननिवृत्तिस्तद्वद्भ्यामिव । वसतेः कर्त्तरि क्तः । पपौ । यथोपोषितोऽतितृष्णया जलमधिकं पिबति तद्वदतितृष्णयाऽधिकं व्यलोकयदित्यर्थः ।

अन्वयः—वसिष्ठधेनोः अनुयायिनं वनान्तात् आवर्तमानं तं वनिता निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिः (सती) उपोषिताभ्याम् इव लोचनाभ्यां पपौ ।

हिन्दी—महर्षि वसिष्ठ की नन्दिनी के पीछे-पीछे वनप्रान्त से आ रहे राजा दिलीप को उनकी पत्नी रानी सुदक्षिणा (बहुत देर से बाट जोहती हुई) अपलक दृष्टि होकर प्यासी आँखों से उन्हें देख कर तृप्त हो गई—प्रसन्न हो उठीं ॥ १९ ॥

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥ २० ॥

सञ्जी०—पुरस्कृतेति । वर्त्मनि पार्थिवेन पृथिव्या ईश्वरेण । 'तस्येश्वरः' इत्यञ्प्रत्ययः । पुरस्कृताऽग्रतः कृता धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी । धर्मार्थपत्नीत्यर्थः । अश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षठीसमासः । पार्थिवस्य धर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुस्तदन्तरे तयोर्दम्पत्योर्मध्ये । दिनक्षपयोर्दिनरात्र्योर्मध्यगता सन्ध्येव विरराज ॥ २० ॥

अन्वयः—वर्त्मनि पार्थिवेन पुरस्कृता पार्थिवधर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुः तदन्तरे दिनक्षपामध्यगता सन्ध्या इव रराज ।

हिन्दी—(वन से लौटते समय) रास्ते में राजा दिलीप द्वारा आगे की गयी और (वसिष्ठाश्रम से आती हुई—) उनकी धर्मपत्नी सुदक्षिणा से अगवानी की हुई 'पल्लवस्निग्धपाटला' (सर्ग १ श्लोक० ८३) वह नन्दिनी

सुदक्षिणा और दिलीप के बीच में दिन-रात के मध्य में स्थित सन्ध्याकाल की तरह सुशोभित हुई ॥ २० ॥

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥ २१ ॥

सञ्जी०—अक्षतानां पात्रेण सह वर्तेते इति साक्षतपात्रौ हस्तौ यस्याः सा सुदक्षिणा पयस्विनीं प्रशस्तक्षीरां तां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य तस्या धेन्वा विशालं शृङ्गान्तरं शृङ्गमध्यम् । अर्थसिद्धेः कार्यसिद्धेर्द्वारं प्रवेशमार्गमिव । आनर्चार्चयामास । अर्चतेर्भ्वादिकाल्लिट् ॥ २१ ॥

अन्वयः—साक्षतपात्रहस्ता सुदक्षिणा पयस्विनीं तां प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च अस्याः विशालं शृङ्गान्तरम् अर्थसिद्धेः द्वारम् इव आनर्च ।

हिन्दी—(सन्ध्या समय वन से लौट कर वसिष्ठाश्रम के निकट नन्दिनी के आने पर) अक्षतादि से युक्त पूजन-पात्र को हाथों में लिये सुदक्षिणा ने पहले उस पयस्विनी नन्दिनी की परिक्रमा की तत्पश्चात् उसे प्रणाम करके उसकी बड़ी-बड़ी स्थूल सींगों के मध्यभाग, जो राजा रानी के लिये पुत्रप्राप्ति-प्रयोजन की सिद्धि के द्वार स्वरूप ही था—उसकी पूजा की ॥ २१ ॥

वत्सोत्सुकाऽपि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीद् सेति ननन्दतुस्तौ ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥२२॥

सञ्जी०—वत्सोत्सुकाऽपीति । सा धेनुर्वत्सोत्सुकापि वत्सोत्कण्ठितापि स्तिमिता निश्चला सती सपर्यां पूजां प्रत्यग्रहीदिति हेतोस्तौ दम्पती ननन्दतुः । पूजास्वीकारस्यानन्दहेतुमाह—भक्त्येति । पूज्येष्वनुरागो भक्तिस्तयोपपन्नेषु युक्तेषु विषये तद्विधानां तस्या धेन्वा विधेव विधा प्रकारो येषां तेषाम् महता-मित्यर्थः । प्रसादस्य चिह्नानि लिङ्गानि पूजास्वीकारादीनि पुरःफलानि पुरो-गतानि प्रत्यासन्नानि फलानि येषां तानि हि । अविलम्बितफलसूचकलिङ्ग-दर्शनादानन्दो युज्यत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

अन्वयः—सा वत्सोत्सुका अपि स्तिमिता (सती) सपर्यां प्रत्यग्रहीत इति तौ ननन्दतुः । भक्त्या उपपन्नेषु तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि हि ।

हिन्दी—(संध्या समय वन से लौटने पर) उस नन्दिनी ने अपने बछड़े को देखने के लिये उत्कण्ठित होती हुई भी सुस्थिर होकर (रुक कर) सुदक्षिणा की पूजा को स्वीकार किया, इससे राजा-रानी दोनों उत्फुल्ल हो उठे, क्योंकि भक्तों पर नन्दिनी के समान श्रेष्ठजनों की प्रसन्नता का लक्षण निश्चय ही अभीष्ट देने वाला होता है ॥ २२ ॥

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यं च विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥२३॥

सञ्जी०—गुरोरिति । भुजोच्छिन्नरिपुर्दिलीपः सदारस्य दारैररुन्धत्या सहावर्त्तमानस्य गुरोः । उभयोरपीत्यर्थः । 'भार्या जायाऽथ पुम्भूम्नि दाराः' इत्यमरः । पादौ निपीड्याभिवन्द्य । सान्ध्यं सन्ध्यायां विहितं विधिमनुष्ठानं च समाप्य । दोहावसाने निषण्णामासीनां दोग्ध्रीं दोहनशीलाम् । 'तृन्' इति तृनप्रत्ययः । धेनुमेव पुनर्भेजे सेवितवान् । दोग्ध्रीमिति निरुपपदप्रयोगात्काम-धेनुत्वं गम्यते ॥ २३ ॥

अन्वयः—भुजोच्छिन्नरिपुः दिलीपः सदारस्य गुरोः पादौ निपीड्य सान्ध्यं विधिं च समाप्य दोहावसाने निषण्णां दोग्ध्रीम् पुनः एव भेजे ।

हिन्दी—अपने बाहु-बल से शत्रुओं को नष्ट करने वाले राजा दिलीप नन्दिनी के साथ वन से आने पर—गुरु-पत्नी अरुन्धती सहित गुरु-चरणों के प्रणामोत्तर सायंकृत्य समाप्त करके दोहन के पश्चात् बैठी हुई उन नन्दिनी की रात्रि-सेवा में पुनः दोनों राजा-रानी जुट गये ॥ २३ ॥

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥२४॥

सञ्जी०—तामिति । गोप्ता रक्षको गृहिणीसहायः । पत्नीद्वितीयः सन् । उभावपीत्यर्थः । अन्तिके न्यस्ता बलयः प्रदीपाश्च यस्यास्तां तथोक्तां पूर्वोक्तां निषण्णां धेनुमन्वास्यानूपविश्य क्रमेण सुप्तामन्वनन्तरं संविवेश सुष्वाप । प्रातः सुप्तोत्थितामनूदतिष्ठदुत्थितवान् । अत्रानुशब्देन धेनुराजव्यापारयोः पौर्वापर्यमुच्यते, क्रमशब्देन धेनुव्यापाराणामेवेत्यपौनरुक्त्यम् । 'कर्मप्रवचनीय-युक्ते' इति द्वितीया ॥ २४ ॥

अन्वयः—गोप्ता गृहिणीसहायः (सन्) अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपां ताम् अन्वास्य क्रमेण सुप्ताम् अनुसंविवेश। प्रातः सुप्तोत्थिताम् अनूदतिष्ठत्।

हिन्दी—नन्दिनी की रक्षा (सेवा) करने वाले राजा दिलीप पत्नी सुदक्षिणा के साथ होकर जिसके निकट पूजनोत्तर दीपादि उपहार रखे हैं ऐसी उस नन्दिनी के पीछे निकट में हीं बैठकर यथाक्रम से—नन्दिनी के सोने पर दोनों (राजा-रानी) सो गये और प्रातः नन्दिनी के उठने पर दोनों उठ गये ॥ २४ ॥

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः।
सप्तव्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥ २५ ॥

सञ्जी०—इत्थमनेन प्रकारेण प्रजार्थं संतानाय महिष्या सममभिषिक्तपत्न्या सह। 'कृताभिषेका महिषी' इत्यमरः। व्रतं धारयतः महनीया पूज्या कीर्तिर्यस्य तस्य। दीनानामुद्धरणं दैन्यविमोचनं तत्रोचितस्य परिचितस्य तस्य नृपस्य। त्रयो गुणा आवृत्तयो येषां तानि त्रिगुणानि त्रिरावृत्तानि सप्तदिनान्येकविंशतिदिनानि व्यतीयुर्व्यतिक्रान्तानि ॥ २५ ॥

अन्वयः—इत्थं प्रजार्थं महिष्या समं व्रतं धारयतः महनीयकीर्तेः दीनोद्धरणोचितस्य तस्य त्रिगुणानि सप्त दिनानि व्यतीयुः।

हिन्दी—इस प्रकार पुत्रप्राप्ति के लिये रानी सुदक्षिणा के साथ गुरुप्रदिष्ट संयम-नियम को धारण किये हुए उत्कृष्ट कीर्ति से युक्त दीन-दुखियों का उद्धार करनेवाले सपत्नीक उन राजा दिलीप के (तपस्या के) २१ दिन बीत गये ॥ २५ ॥

अन्येद्युरात्माऽनुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥ २६ ॥

सञ्जी०—अन्येद्युरिति। अन्येद्युरन्यस्मिन्दिने द्वाविंशे दिने। 'सद्यःपरुत्परारि०' इत्यादिना निपातनादव्ययत्वम्। 'अद्यात्राह्नाय पूर्वेऽह्नीत्यादौ पूर्वोत्तरापरात्। तथाऽधरान्यान्यतरेतरात्पूर्वेद्युरादयः' इत्यमरः। मुनिहोमधेनुः। आत्मानुचरस्य भावमभिप्रायं दृढभक्तित्वम्। 'भावोऽभिप्राय आशयः' इति

यादवः। जिज्ञासमाना ज्ञातुमिच्छन्ती। 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इत्यात्मनेपदे शानच्। प्रपतत्यस्मिन्निति प्रपातः पतनप्रदेशः गङ्गायाः प्रपातस्तस्यान्ते समीपे विरूढानि जातानि शष्पाणि बालतृणानि यस्मिंस्तत्। 'शष्पं बालतृणं घासः' इत्यमरः। गौरीगुरोः पार्वतीपितुर्गह्वरं गुहामाविवेश ॥ २६ ॥

अन्वयः—अन्येद्युः मुनिहोमधेनुः आत्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोः गह्वरम् आविवेश।

हिन्दी—दूसरे (२२ वें) दिन मुनि वसिष्ठ की होमसाधनीभूता वह नन्दिनी अपने सेवक राजा दिलीप की भक्ति की परीक्षा करने के लिये वन-प्रान्त में चरती हुई गंगा-प्रवाह के निकट में (तट पर) उगी हुई हरी-हरी घासों वाली हिमालय की गुफा (कन्दरा) में एकाएक प्रवेश कर गयी ॥ २६ ॥

सा दुष्प्रधर्षा मनसाऽपि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥ २७ ॥

सञ्जी०—सेति। सा धेनुः हिंस्रैर्व्याघ्रादिभिर्मनसाऽपि दुष्प्रधर्षा दुर्धर्षेति हेतोरद्रिशोभायां प्रहितेक्षणेन दत्तदृष्टिना नृपेणालक्षिताभ्युत्पतनमाभिमुख्येनोत्पतनं यस्य स सिंहस्तां धेनुं प्रसह्य हठात्। 'प्रसह्य तु हठार्थकम्' इत्यमरः। चकर्ष किलेत्यलीकेऽव्ययम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—सा हिंस्रैः मनसापि दुष्प्रधर्षा इति अद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन नृपेण अलक्षिताभ्युत्पतनः सिंहः तां चकर्ष किल।

हिन्दी—वह ऋषि वसिष्ठ की धेनु (नन्दिनी) हिंसक सिंहादि जानवरों द्वारा (शरीर से क्या) मन से भी धमकाई नहीं जा सकती, इस कारण राजा दिलीप के निश्चिन्त हो कर हिमालय पर्वत की शोभा की ओर दृष्टि डालने पर जिसका आक्रमण ज्ञात न हो सका ऐसे भयानक (नंदिनी की माया का मृगेन्द्र) सिंहने एका-एक नन्दिनी के ऊपर चढ़ कर उसे खींचने लगा (नन्दिनी डिरियाने लगी) ॥ २७ ॥

तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम्।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ २८ ॥

सञ्जी०—तदीयमिति गुहानिबद्धेन प्रतिशब्देन प्रतिध्वनिना दीर्घम्। तस्या इदं तदीयम्। आक्रन्दितमार्तघोषणम् आर्तेषु विपन्नेषु साधोर्हितकारिणी नृपस्य नगेन्द्रसक्तां दृष्टिम्। रश्मिषु प्रग्रहेषु 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः। आदायेव, गृहीत्वेव निवर्तयामास ॥ २८ ॥

अन्वयः—गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घं तदीयम् आक्रन्दितम् आर्तसाधोः नृपस्य नगेन्द्रसक्तां दृष्टिं रश्मिषु आदाय इव निवर्तयामास।

हिन्दी—पर्वत-कन्दरा में टकरा कर निकली प्रतिध्वनि से गुञ्जायमान उस सिंहाक्रान्त नन्दिनी धेनु के आर्तनाद ने दुखियों पर दया करने वाले उस राजा दिलीप की हिमालय की शोभा देखने में संलग्न दृष्टि को मानो रस्सी से खींच कर जैसे नन्दिनी की ओर कर दिया (तुरत राजा की दृष्टि सिंह के पंजे में फँसी डिरियाती हुई नन्दिनी के ऊपर पड़ी) ॥ २८ ॥

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ २९ ॥

सञ्जी०—स इति। धनुर्धरः स नृपः पाटलायां रक्तवर्णायां गवि तस्थिवांसं स्थितम्, 'क्वसुश्च' इति क्वसुप्रत्ययः। केसरिणं सिंहम्। सानुमतोऽद्रेः धातोर्गैरिकस्य विकारो धातुमयी तस्यामधित्यकायामूर्ध्वभूमौ 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्प्रत्ययः। प्रफुल्लो विकसितस्तम्। 'फुल्ल विकसने' इति धातोः पचाद्यच्। 'प्रफुल्लतम्' इति तकारपाठे 'ञिफला विशरणे' इति धातोः कर्त्तरि क्तः 'उत्परस्यातः' इत्युदादेशः। लोध्राख्यं द्रुममिव ददर्श ॥ २९ ॥

अन्वयः—धनुर्धरः सः पाटलायां गवि तस्थिवांसं केसरिणं सानुमतः धातुमय्याम् अधित्यकायां प्रफुल्लं लोध्रद्रुमम् इव ददर्श।

हिन्दी—धनुषधारी दिलीप ने ईषत् श्वेत युक्त लाल रंग वाली उस नन्दिनी गौ के ऊपर बैठे हुए सिंह को पर्वत की गैरिक धातुमयी ऊँची जमीन पर उगे हुए विकसित लोध्र वृक्ष की तरह देखा ॥ २९ ॥

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः ॥ ३० ॥

सञ्जी०—तत इति। ततः सिंहदर्शनानन्तरं मृगेन्द्रगामी सिंहगामी शरणं रक्षणम्। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः। 'शरणं रक्षणे गृहे' इति यादवः। शरणे साधुः शरण्यः। 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्ययः। प्रसभेन बलात्कारेणोद्धृता अरयो येन स नृपतिः राजा जाताभिषङ्गो जातपराभवः सन्। 'अभिषङ्गः पराभवः' इत्यमरः। वध्यस्य वधार्हस्य। 'दण्डादिभ्यो यः' इति यप्रत्ययः। मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात्तूणीरात्। 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः' इत्यमरः। शरमुद्धर्तुमैच्छत्॥ ३०॥

अन्वयः—ततः मृगेन्द्रगामी शरण्यः प्रसभोद्धृतारिः नृपतिः जाताभिषङ्गः (सन्) वध्यस्य मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात् शरम् उद्धर्तुम् ऐच्छत्।

हिन्दी—नन्दिनी पर आक्रमण किये हुये सिंह को देखने के बाद तुरन्त सिंह की तरह ही मन्दगामी (शिकारी) अर्थात् आक्रमण के समय सिंह जैसे धीरे-धीरे (निःशब्द) पैर बढ़ाकर आक्रमण करता है, उसी प्रकार आक्रमण को मारने के समय शनैः शनैः पैरों को बढ़ाकर चलने वाले, (फिर भी) शरणागत रक्षक किन्तु बली शत्रुओं को वलपूर्वक मारने वाले सूर्यवंशी राजा दिलीप ने सिंह को त्वरित् मार डालने के लिये तरकस से वाण निकालने की इच्छा की तेजी से वाण निकालना चाहा॥ ३०॥

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे॥ ३१॥

सञ्जी०—वामेतर इति। प्रहर्तुस्तस्य वामेतरो दक्षिणः करः। नखप्रभाभिर्भूषितानि विच्छुरितानि कङ्कस्य पक्षिविशेषस्य पत्राणि यस्य तस्मिन्। 'कङ्कः पक्षिविशेषे स्याद् गुप्ताकारे युधिष्ठिरे' इति विश्वः। 'कङ्कस्तु कर्कट' इति यादवः। सायकस्य पुङ्ख एव कर्त्तयाख्ये मूलप्रदेशे। 'कर्तरिः पुंखे' इति यादवः। सक्ताङ्गुलिः सन्। चित्रार्पितारम्भश्चित्रलिखितशरोद्धरणोद्योग इव अवतस्थे॥ ३१॥

अन्वयः—प्रहर्तुः तस्य वामेतरः करः नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे सायकपुङ्खे एव सक्ताङ्गुलिः (सन्) चित्रार्पितारम्भ इव अवतस्थे।

हिन्दी—नन्दिनी के ऊपर आक्रमण किए हुए उस सिंह के ऊपर वाण-प्रहार करने के लिये राजा दिलीप का दाहिना हाथ तरकस से बाण निकालने

समय अपने नखों की प्रभा से भूषित तथा 'कंक' पक्षी के पर (पंख) से सुशोभित उस बाण के मूल में ही अंगुलियों के सट जाने से उनका वह हाथ चित्र में लिखित बाण निकालने के उद्योग में लगे हुए के समान हो गया। (तरकस से न बाण निकला और न उनका हाथ ही बाण से अलग हो सका—बाण में सटा ही रह गया)॥ ३१ ॥

बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—बाहुप्रतिष्टम्भेति । बाह्वोः प्रतिष्टम्भेन प्रतिबन्धेन । 'प्रतिबन्धः प्रतिष्टम्भः' इत्यमरः । विवृद्धमन्युः प्रवृद्धरोषो राजा । मन्त्रौषधिभ्यां रुद्धवीर्यः प्रतिबद्धशक्तिर्भोगी सर्प इव 'भोगी राजभुजङ्गयोः' इति शाश्वतः । अभ्यर्णमन्तिकम् । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' इत्यमरः । आगस्कृतमपराधकारिणमस्पृशद्भिः स्वतेजोभिरन्तरदह्यत । 'अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि इति यादवः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः राजा मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः भोगी इव अभ्यर्णम् आगस्कृतम् अस्पृशद्भिः स्वतेजोभिः अन्तः अदह्यत ।

हिन्दी—(मायारूपी उस सिंह के दृष्टिपात से ही) भुज-बल के एकाएक रुक जाने पर अत्यन्त क्रुद्ध राजा दिलीप मंत्र और औषध से रोक दिया गया है प्रभाव जिसका ऐसे महाविषधर सर्प के समान, सामने ही उपस्थित अपराधी का (नन्दिनी भक्षक सिंह का) कुछ भी नहीं बिगाड़ते हुए विवशता के कारण अपने आप भीतर ही भीतर क्रोधाग्नि में जलने लगे ॥ ३२ ॥

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन् विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥३३॥

सञ्जी०—तमिति । निगृहीता पीडिता धेनुर्येन स सिंहः । आर्याणां सतां गृह्यं पक्ष्यम् । 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च' इति क्यप् । मनुवंशस्य केतुं चिह्नं केतुवद्व्यावर्तकम् । सिंह इवोरुसत्त्वो महाबलस्तम् । आत्मनो वृत्तौ बाहुस्तम्भरूपे व्यापारेऽभूतपूर्वत्वाद्विस्मितम् । कर्तरि क्तः तम् । दिलीपं मनुष्यवाचा करणेन पुनर्विस्माययन् विस्मयमाश्चर्यं प्रापयन्निजगाद । 'स्मिङ्

ईषद्धसने' इति धातोर्णिचि वृद्धावायादेशे शतृप्रत्यये च सति विस्माययन्निति रूपं सिद्धम् । 'विस्मापयन्' इति पाठे पुगागममात्रं वक्तव्यम् । तच्च 'नित्यं स्मयतेः' इति हेतुभयविवक्षायामेवेति 'भीस्म्योर्हेतुभये' इत्यात्मनेपदे 'विस्मापयमान' इति स्यात् । तस्मान्मनुष्यवाचा विस्माययन्निति शुद्धम् । करणविवक्षायां न कश्चिद्दोषः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—निगृहीतधेनुः सिंहः आर्यगृह्यं मनुवंशकेतुं सिंहोरुसत्त्वम् आत्मवृत्तौ विस्मितं तं मनुष्यवाचा विस्माययन् निजगाद ॥

हिन्दी—नन्दिनी पर आक्रमण करने वाला सिंह सज्जनों के पक्षपाती तथा वैवस्वत मनु के कुल-ध्वज (श्रेष्ठ) एवं सिंह के समान बलशाली होते हुए भी (नन्दिनी पर आक्रमण करनेवाले सिंह के प्रति) अपने बाहुस्तम्भ से आश्चर्यित राजा दिलीप को मनुष्य की बोली में (और भी) चकित करता हुआ कहने लगा ॥ ३३ ॥

अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—अलमिति । हे महीपाल ! तव श्रमेणालम् । साध्याभावाच्छ्रमो न कर्त्तव्य इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियाऽपेक्षया श्रमस्य कारणत्वात् तृतीया उक्तं च न्यासोद्योते 'न केवलं श्रूयमाणेव क्रिया निमित्तं करणभावस्य । अपि तर्हि गम्यमानाऽपि' इति । 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः । इतोऽस्मिन् मयि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । प्रयुक्तमप्यस्त्रं वृथा स्यात् । तथाहि—पादपोन्मूलने शक्तिर्यस्य तत्तथोक्तं, मारुतस्य रंहो वेगः शिलोच्चये पर्वते न मूर्च्छति न प्रसरति ॥ ३५ ॥

अन्वयः—(हे) महीपाल ! तव श्रमेण अलम्? (कुतः) इतः प्रयुक्तम् अपि अस्त्रं वृथा स्यात् । पादपोन्मूलनशक्ति मारुतस्य रंहः शिलोच्चये न मूर्च्छति ।

हिन्दी—(नन्दिनी पर आक्रमण किए हुए सिंहने कहा—) हे भूपाल ! (मेरे मारने का) तुम्हारा प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि मेरे ऊपर बाण छोड़ने पर भी तुम्हारा बाण व्यर्थ हो जायगा । (तुम बड़े शक्तिशाली हो तो इससे क्या ?) बड़े-बड़े वृक्षों को उखाड़ फेंकने वाला पवन भी पर्वत का कुछ भी

बिगाड़ नहीं सकता—(तुम मुझे उसी तरह का अडिग अचल पर्वत समझो—तरकस से बाण मत निकालो राजन् !) ॥ ३४ ॥

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्त्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५ ॥

सञ्जी०—कैलासेति । कैलास इव गौरः शुभ्रस्तम् । 'चामीकरं च शुभ्रं च गौरमाहुर्मनीषिणः' इति शाश्वतः । वृषं वृषभमारुरुक्षोरारोढुमिच्छोः । स्वस्योपरि पदं निक्षिप्य वृषमारोहतीत्यर्थः । अष्टौ मूर्तयो यस्य तं तथोक्तम् । निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं मामवेहि विद्धि । 'पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकशमेव च । सूर्याचन्द्रमसौ सोमयानी चेत्यष्टमूर्तयः' इति यादवः ॥३५॥

अन्वयः—कैलासगौरं वृषम् आरुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठं निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं माम् अवेहि ।

हिन्दी—(नन्दिनी पर आक्रमण किये हुए सिंह ने पुनः कहा हे राजन !—) कैलास पर्वत के समान श्वेत नन्दी नामक बैल पर चढ़ने वाले अष्टमूर्ति भगवान् शङ्कर के पादार्पण से पवित्र है पीठ जिसकी ऐसे निकुम्भ के मित्र 'कुम्भोदर' नाम से प्रख्यात मुझे उसी भगवान् शंकर का सेवक समझो (मैं भी नन्दी की तरह शिवजी का वाहन हूँ । मुझ पर प्रहार करोगे तो विश्वेश्वर भगवान् शंकर से सामना करना होगा—तुम मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते राजन् ! और सुनो ? ॥ ३५ ॥

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥३६॥

सञ्जी० —अमुमिति । 'पुरोऽमुं देवदारुं पश्यसि' इति काकुः । असौ देवदारुः । वृषभो ध्वजो यस्य स तेन शिवेन पुत्रीकृतः पुत्रत्वेन स्वीकृतः । अभूत् तद्भावे च्विः । यो देवदारुः स्कन्दस्य मातुर्गौर्या हेम्नः कुम्भ एव स्तनस्तस्मान्निःसृतानां पयसामम्बूनां रसज्ञः । स्कन्दपक्षे—हेमकुम्भ इव स्तन इति विग्रहः । पयसां क्षीराणाम् । पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः । स्कन्दसमानप्रेमास्पदमिति भावः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—पुरः अमुं देवदारुं पश्यसि ? असौ वृषभध्वजेन पुत्रीकृतः यः स्कन्दस्य मातुः हेमकुम्भस्तननिःसृतानां पयसां रसज्ञः (अस्ति) ।

हिन्दी—(नन्दिनी के देहारूढ़ सिंह ने दिलीप को और भयभीत करते हुए पुनः कहा, हे राजन् !–) इस पुरोवर्ति देवदारु वृक्ष को देखते हो न ? इसे हमारे शंकरजी पुत्रवत् मानते हैं। क्योंकि यह वृक्ष माता पार्वती के स्तनसदृश कनक-कलश से निकले जल का स्वाद जाननेवाला है। अर्थात् माता पार्वती ने अपने कुमार कार्तिकेय को जिस तरह अपने कनक-कलश सदृश स्तनों का दुग्धपान कराकर पाला है, उसी तरह अपने हाथों से स्तनसदृश दिव्य कनक-कलश के जल से सींच-सींच कर इस देवदारु का संवर्धन किया है ॥ ३६ ॥

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद् वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥ ३७ ॥

सञ्जी०—कण्डूयेति। कदाचित् कटं कपोलं कण्डूयमानेन घर्षयता। 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' इति यक् ततः शानच्। वन्यद्विपेनास्य देवदारोस्त्वगुन्मथिता। अथाद्रेस्तनया गौरी, असुरास्त्रैरालीढं क्षतम्। सेनां नयतीति सेनानीः स्कन्दः। 'पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीः' इत्यमरः। सत्सूद्विष०' इत्यादिना क्विप्। तमिव, एनं देवदारुं शुशोच ॥ ३७ ॥

अन्वयः—कदाचित् कटं कण्डूयमानेन वन्यद्विपेन अस्य त्वग् उन्मथिता अथ अद्रेः तनया असुरास्त्रैः आलीढः सेनानी इव एनं शुशोच।

हिन्दी—(पुनः सिंहने कहा, हे राजन् !) एक समय किसी जंगली हाथी ने अपनी गर्दन की खुजलाहट को दूर करने के लिये इस देवदारु वृक्ष में अपनी गर्दन को रगड़ डाला था जिससे इस वृक्ष की छाल उचड़ गयी थी, जिसे देख कर माता पार्वती को उतना ही दुःख हुआ जितना कि युद्ध में दैत्यों के अस्त्रों से क्षत-विक्षत अपने कुमार कार्तिकेय को देख कर हुआ था। (इसी लिये) ॥ ३७ ॥

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति ॥ ३८ ॥

सञ्जी०—तदेति। तदा तत्कालः प्रभृतिरादिर्यस्मिन् कर्मणि तत्तथा तदा प्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थं शूलभृता शिवेन, अङ्कं समीपमागताः प्राप्ताः

सत्त्वाः प्राणिनो वृत्तिर्यस्मिंस्तत् 'अङ्कः समीप उत्सङ्गे चिह्ने स्थानापराधयोः' इति केशवः। सिंहत्वं विधाय। अस्मिन्नद्रिकुक्षौ गुहायामहं व्यापारितो नियुक्तः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थं शूलभृता अङ्कागतसत्त्ववृत्ति सिंहत्वं विधाय अस्मिन् अद्रिकुक्षौ अहं व्यापारितः।

हिन्दी—तभी से (देवदारु की छाल उचाड़े जाने के बाद से ही) उपद्रवी जंगली हाथियों को त्रास देने के लिये त्रिशूली भगवान् शंकर ने समीप में आजाने वाले प्राणियों पर ही भोजन चलाने वाला सिंह का रूप देकर मुझे इस पर्वत की गुफा में नियुक्त किया है—मैं रक्षक के रूप में रखा गया हूँ (अब मुझ सिंह को क्या करना है वह भी सुनो राजन् !) ॥ ३८ ॥

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—तस्येति। परमेश्वरेण प्रदिष्टो निर्दिष्टकालो भोजनवेला यस्याः सोपस्थिता प्राप्तैषा शोणितपारणा रुधिरस्य व्रतान्तभोजनं सुरद्विषो राहोः, चन्द्रमस इयं चान्द्रमसी सुधेव क्षुधितस्य बुभुक्षितस्य तस्याङ्कागतसत्त्ववृत्तेर्मम सिंहस्य तृप्त्यै अलं पर्याप्ता। 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' इत्यनेन चतुर्थी ॥ ३९ ॥

अन्वयः—परमेश्वरेण प्रदिष्टकाला उपस्थिता एषा शोणितपारणा सुरद्विषः चान्द्रमसी सुधा इव क्षुधितस्य मे तृप्त्यै अलम् (अस्ति)।

हिन्दी—(हे राजन् !) अपने स्वामी भगवान् शंकर से निर्दिष्ट मेरे भोजन के लिये ठीक समय पर स्वयं आगत इस गाय का रुधिर मेरे लिये उसी प्रकार सुखद होगा, जैसे चन्द्रग्रहण के समय महाक्षुधित राक्षस राहु के लिये चन्द्रमा में स्थित अमृत होता है। बहुत दिनों से आहार-रहित अत एव व्रती मुझ सिंह के लिये व्रतान्त-पारणा के समान ही यह गौ प्राप्त है ॥ ३९ ॥

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान् दर्शितशिष्यभक्तिः।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद् यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥४०॥

सञ्जी०—स त्वमिति । स एवमुपायशून्यस्त्वं लज्जां विहाय निवर्त्तस्व । भवांस्त्वं गुरोर्दर्शिता प्रकशिता शिष्यस्य कर्त्तव्या भक्तिर्येन स तथोक्तोऽस्ति । ननु गुरुधनं विनाश्य कथं तत्समीपं गच्छेयमत आह— शस्त्रेणेति । यद्रक्ष्यं धनं शस्त्रेणायुधेन । 'शस्त्रमायुधलोहयोः' इत्यमरः । अशक्या रक्षा यस्य तदशक्यरक्षम् । रक्षितुमशक्यमित्यर्थः । तद्रक्ष्यं नष्टमपि शस्त्रभृतां यशो न क्षिणोति न हिनस्ति । अशक्यार्थेष्वप्रतिविधानं न दोषायेति भावः ।। ४० ।।

अन्वयः—सः त्वं लज्जां विहाय निवर्तस्व भवान् गुरोः, दर्शितशिष्य-भक्तिः (अस्ति) यद् रक्ष्यं शस्त्रेण अशक्यरक्षं तत् शस्त्रभृतां यशः न क्षिणोति ।

हिन्दी—(हे राजन् !) हाथों के रुक जाने पर किंकर्तव्य विमूढ़ होने से आँखें मूँद कर लज्जित होते हुए खड़े मत रहो—लज्जा को छोड़ो और आश्रम को लौट जाओ (तुम्हारे गुरु नाराज नहीं होंगे क्योंकि—) तुमने गुरु के सम्बन्ध में शिष्य के योग्य भक्ति दिखला दी है। (हे राजन् !) जो रक्षा करने योग्य वस्तु अस्त्र-शस्त्रों से रक्षा करने योग्य नहीं होती, वह वस्तु नष्ट होती हुई भी शस्त्रधारी के यश को कम नहीं करती, (इस विषय में तुम्हारी लाचारी गुरु वसिष्ठ समझ जायँगे, लौट जाओ—ऐसा सिंह ने कहा) ।। ४० ।।

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ।। ४१ ।।

सञ्जी०—इतीति । पुरुषाणामधिराजो नृप इति प्रगल्भं मृगाधिराजस्य वचो निशम्य श्रुत्वा गिरिशस्येश्वरस्य प्रभावात् प्रत्याहतास्त्रः कुण्ठितास्त्रः सन्नात्मनि विषये, अवज्ञामपमानं शिथिलीचकार तत्याजेत्यर्थः । अवज्ञातोऽहमिति निर्वेदं न प्रापेत्यर्थः । समानेषु हि क्षत्रियाणामभिमानो न सर्वेश्वरं प्रतीति भावः ।। ४१ ।।

अन्वयः—पुरुषाधिराजः इति प्रगल्भं मृगाधिराजस्य वचः निशम्य गिरिश-प्रभावात् प्रत्याहतास्त्रः (सन्) आत्मनि अवज्ञां शिथिलीचकार ।

हिन्दी—नरपति (होते हुए भी) राजा दिलीप पूर्वोक्त प्रकार से धृष्टता-पूर्ण उस (पशु) सिंह के वचनों को सुनकर शंकर के प्रभाव से ही (न कि

उस पशु सिंह के डर से) अपने हस्त-बाणों को अवरुद्ध समझ कर आत्मग्लानि से रहित हो गये ॥ ४१ ॥

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—प्रतीति । स एव पूर्वः प्रथमो भङ्गः प्रतिबन्धो यस्य तस्मिंस्तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नो विफलप्रयासः । अत एव वज्रं कुलिशं मुमुक्षुः मोक्तुमिच्छुः । अम्बकं लोचनम् । 'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकाक्षीणि' इति हलायुधः । त्रीण्यम्बकानि यस्य स त्र्यम्बको हरः, तस्य वीक्षणेन जडीकृतः निस्पन्दीकृतः । वज्रं पाणौ यस्य स वज्रपाणिरिन्द्रः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठा सप्तम्यौ भवत इति वक्तव्यम्' इति पाणे सप्तम्यन्तस्योत्तरनिपातः । स इव स्थितो नृप एनं सिंहं प्रत्यब्रवीच्च । 'बाहुं सवज्रं शक्रस्य क्रुद्धोऽस्यास्तम्भयत्प्रभुः' इति महाभारते ॥ ४२ ॥

अन्वयः—तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नः (अत एव) वज्रं मुमुक्षुन् त्र्यम्बकवीक्षणेन जडीकृतः वज्रपाणिः इव (स्थितः राजा) एनं प्रत्यब्रवीत् च ।

हिन्दी—पहले-पहल (सिंह के ऊपर) बाण चलाने में विफल प्रयास वाले राजा दिलीप उसी प्रकार चकित हो उठे जिस प्रकार कादाचित् शंकरजी के ऊपर कुपित होकर वज्रप्रहार करना चाहने वाले किन्तु शंकर के दृष्टिपात मात्र से वज्रपाणि इन्द्र का वज्र हाथ से छूट न सका और वे चकित रह गये । ऐसे इन्द्र के समान पराक्रमी होते हुए भी सिंह-दृष्टि के सामने पराक्रम से विमुख होने पर गम्भीर होकर राजा दिलीप सिंह का उत्तर देने लगे ॥ ४२ ॥

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र ! कामं हास्यं वचस्तद् यदहं विवक्षुः ।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान् भावमतोऽभिधास्ये ॥ ४३ ॥

सञ्जी०—संरुद्धचेष्टस्येति । मृगेन्द्र ! संरुद्धचेष्टस्य प्रतिबद्धव्यापारस्य मम तद्वचो वाक्यं कामं हास्यं परिहसनीयं, यद्वचः 'स त्वं मदीयेन' (२।४५) इत्यादिकमहं विवक्षुर्वक्तुमिच्छुरस्मि । तर्हि तूष्णीं स्थीयतामित्याशङ्क्य श्वर-

किङ्करत्वात् सर्वज्ञं त्वां प्रति न हास्यमित्याह—अन्तरिति । हि यतो भवान् प्राणभृतामन्तर्गतं हृद्गतं वाग्वृत्त्या बहिरप्रकाशितमेव सर्वं वेद वेत्ति । 'विदो लटो वा' इति णलादेशः । अतोऽहमभिधास्ये वक्ष्यामि । वच इति प्रकृतं कर्म सम्बद्धचते । अन्ये त्वीदृग्वचनमाकर्ण्यासम्भावितार्थमेतदित्युपहसन्ति, अतस्तु मौनमेव भूषणम् । त्वं तु वाङ्मनसयोरेकविध एवायमिति जानासि । अतोऽभिधास्ये यद्वचोऽहं विवक्षुरित्यर्थः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—मृगेन्द्र ! संरुद्धचेष्टस्य (मम) तद् वचः हास्यं (भवेत्) यद् वचः अहं विवक्षुः (अस्मि) । हि भवान् प्राणभृताम् अन्तर्गतं सर्वं—भावं वेद, अतः अभिधास्ये ।

हिन्दी—हे सिंह ! चूँकि रुकी हुई चेष्टा वाले मुझ दिलीप के वे वक्ष्यमाण वचन (जिसे मैं कहना चाहता हूँ) निश्चय ही आपके लिये उपहास (मजाक) के योग्य होंगे । किन्तु हे मृगेन्द्र ! आप (भगवान् शंकर के किंकर होने के कारण) प्राणियों के मनोगत भावों को (न कहने पर भी) जानते ही हैं, इस लिये मैं कहूँगा ॥ ४३ ॥

मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत् पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥ ४४ ॥

सञ्जी०—मान्य इति । प्रत्यवहारः प्रलयः । स्थावराणां तरुशैलादीनां जङ्गमानां मनुष्यादीनां सर्गस्थितिप्रत्यवहारेषु हेतुः स ईश्वरो मे मम मान्यः पूज्यः । अलङ्घ्यशासन इत्यर्थः । शासनं च "सिंहत्वमङ्कागतसत्ववृत्ति" (२।३८) इत्युक्तरूपम् । तर्हि विसृज्य गम्यताम् । नेत्याह—गुरोरपीति । पुरस्तादग्रे नश्यदिदमाहिताग्नेर्गुरोर्धनमपि गोरूपमनुपेक्षणीयम् । आहिताग्नेरिति विशेषणेनानुपेक्षाकारणं हविः साधकत्वं सूचयति ॥ ४४ ॥

अन्वयः—स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः स मे मान्यः (अस्ति) पुरस्तात् नश्यत् इदम् आहिताग्ने गुरोः धनम् अपि अनुपेक्षणीयम् (अस्ति) ।

हिन्दी—(हे मृगेन्द्र !) सकल चराचरात्मक जगत् की उत्पत्ति, पालन तथा संहार के कारणभूत भगवान् शंकर मेरे (सूर्यवंशी के भी) परम—

आराध्य हैं (इसमें सन्देह नहीं, पर हे मृगेन्द्र !) मेरे सामने ही (आपके द्वारा) नष्ट होने वाली (मर रही मेरे कुल-गुरु) महर्षि वसिष्ठ की यह (प्राण सम प्रिया) नन्दिनी नाम की गोरूप सम्पत्ति भी उपेक्षा करने योग्य नहीं है। (इसलिये हे मृगेन्द्र !—) ॥ ४४ ॥

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावासानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—स इति। सोऽङ्कागतसत्त्ववृत्तिस्त्वं मदीयेन देहेन शरीरस्य वृत्तिं जीवनं निर्वर्त्तयितुं सम्पादयितुं प्रसीद। दिनावसाने उत्सुको 'माता समागमिष्यती' त्युत्कण्ठितो बालवत्सो यस्याः सा महर्षेरियं धेनुर्विसृज्यताम् ॥

अन्वयः—स त्वं मदीयेन देहेन शरीरवृत्तिं निर्वर्तयितुं (प्रगृह्य) प्रसीद। (अथ च) दिनावसानोत्सुकबालवत्सा महर्षेः इयं धेनुः विसृज्यताम्।

हिन्दी—हे मृगेन्द्र ! सो समीप में आने वाले प्राणी को खा जाने वाले आप, निकट में आये हुए हमारे शरीर से ही अपनी क्षुधा को शान्त करके प्रसन्न हो जाइये और "सन्ध्या हो गयी है अब मेरी माँ वन से चर कर आती होगी" इस तरह के उत्कण्ठापूर्ण भूखे छोटे बछड़े वाली महामुनि वसिष्ठ की इस नई व्याई ईहु नन्दिनी गौ को छोड़ दीजिये ॥ ४५ ॥

अथाऽन्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किञ्चिद् विहस्याऽर्थपतिं बभाषे ॥४६॥

सञ्जी०—अथेति। अथ भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्त्यनुचरः स सिंहो गिरेर्गह्वराणां गुहानाम्। 'देवखातविले गुहा। गह्वरम्' इत्यमरः। अन्धकारं ध्वान्तं दंष्ट्रामयूखैः, शकलानि खण्डानि कुर्वन्। निरस्यन्नित्यर्थः। किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं नृपं भूयो बभाषे। हास्यकारणम् 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्' इति वक्ष्यमाणं द्रष्टव्यम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अथ भूतेश्वरपार्श्ववर्ती सः गिरिगह्वराणाम् अन्धकारं दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् किञ्चिद् विहस्य अर्थपतिं भूयः बभाषे।

हिन्दी—(हे सिंह ! गौ के बदले मुझे खालो ? ऐसा कहने के बाद) भगवान् शंकर के पास में रक्षक के रूप में रहने वाला वह सिंह उस हिमालय की गुफाओं के अन्धकार को अपने मोटे-मोटे दाँतों की (विद्युल्लता सी)

चमक से टुकड़े-टुकड़े (दूर) करता हुआ अवहेलना पूर्वक थोड़ा हँस कर (विहँस कर) पुनः राजा दिलीप से कहने लगा— ॥ ४६ ॥

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥४७॥

सञ्जी०—एकातपत्रमिति। एकातपत्रमेकच्छत्रं जगतः प्रभुत्वं स्वामित्वम्। नवं वयो यौवनम्। इदं कान्तं रम्यं वपुश्च। इत्येव बहु अल्पस्य हेतोरल्पेन कारणेन, अल्पफलायेत्यर्थः। 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी। हातुं त्यक्तुमिच्छंस्त्वं विचारे कार्याकार्यविमर्शे मूढो मूर्खो मे मम प्रतिभासि ॥ ४७ ॥

अन्वयः—एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः इदं कान्तं वपुः च (एतत्सर्वं) बहु अल्पस्य हेतोः हातुम् इच्छन् त्वं विचारमूढः मे प्रतिभासि ॥

हिन्दी—हे राजन्! विश्वभर के सबसे बड़े प्रतापी राजा तथा नयी जवानी एवं मनोहर यह सुन्दर शरीर, इन सब दुर्लभ दुष्प्राप्य को एक गौ के पीछे ही नष्ट करना चाहते हो? इससे तुम कर्तव्याकर्तव्य के विचार में बड़े मूर्ख (नासमझ) मालूम पड़ते हो ॥ ४७ ॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत् स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन् पुनःशश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ! पितेव पासि ॥४८॥

सञ्जी०—भूतानुकम्पेति। तव भूतेष्वनुकम्पा कृपा चेत्। 'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यात्' इत्यमरः। कृपैव वर्त्तते चेदित्यर्थः। तर्हि त्वदन्ते तव नाशे सतीयमेका गौः। स्वस्ति क्षेममस्या अस्तीति स्वतिमती भवेत् जीवेदित्यर्थः। 'स्वस्त्याशीःक्षेमपुण्यादौ' इत्यमरः। हे प्रजानाथ! जीवन् पुनः पितेव प्रजा उपप्लवेभ्यः विघ्नेभ्यः शश्वत्सदा। 'पुनःसदार्थयोः शश्वत्' इत्यमरः। पासि रक्षसि। स्वप्राणव्ययेनैकधेनुरक्षणाद्वरं जीवितेनैव शश्वदखिलजगत्त्राणमित्यर्थः।

अन्वयः—तव भूतानुकम्पा चेत् (तर्हि) त्वदन्ते (सति) इयम् एका गौः स्वस्तिमती भवेत्, प्रजानाथ! जीवन् पुनः पिता इव प्रजाः उपप्लवेभ्यः शश्वत् पासि।

हिन्दी—(सिंह ने कहा-) हे प्रजानाथ! यदि प्राणियों पर तुम्हारी दया है, तो (तुम इस गौ के पीछे अपने प्राण क्यों देना चाहते हो?) तुम्हारे

मर जाने पर केवल यह एक गौ ही कल्याण को प्राप्त करेगी (जीयेगी) पर तुम्हारे जीवित रहने पर तो तुम पिता के समान (पूर्ववत्) प्रजाओं को कष्टों से सदा रक्षा करते रहोगे ॥ ४८ ॥

न धर्मलोपादियं प्रवृत्तिः किन्तु गुरुभयादित्यत आह—

अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् विभेषि ।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोध्नीः ॥४९॥

सञ्जी०—अथेति । अथ पक्षान्तरे, अथवा । एकैव धेनुर्यस्य तस्मात् । अयं कोपकारणोपन्यास इति ज्ञेयम्, अत एवाऽपराधे गवोपेक्षालक्षणे सति चण्डादतिकोपनात्, 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः । अत एव कृशानुः प्रतिमोपमा यस्य तस्मादग्निकल्पाद् गुरोर्विभेषि इति काकुः । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानात्पञ्चमी । अल्पवित्तस्य धनहानिरतिदुःसहेति भावः । अस्य गुरोर्मन्युः क्रोधः 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः । घटा इवोधांसि यासां ता घटोध्नीः । 'ऊधसोऽनङ्' इत्यनङादेशः 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' इति ङीष् । कोटिशो गाः स्पर्शयता प्रतिपादयता । विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्, इत्यमरः । भवता विनेतुमपनेतुं शक्यः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—अथ एकधेनोः अपराधचण्डात् कृशानुप्रतिमात् गुरोः विभेषि (चेत्) अस्य मन्युः घटोध्नी कोटिशः गाः स्पर्शयता भवता विनेतुं शक्यः ।

हिन्दी—(राजन् !) अथवा एक धेनु ही (सम्पत्ति) है जिसकी अत एव उसकी रक्षा न करने रूप तुम्हारे अपराध से गुरु वसिष्ठ के अग्नि के समान अत्यन्त प्रदीप्त क्रुद्ध हो जाने की संभावना से यदि तुम उनसे डरते हो तो (मत डरो) क्योंकि (हे राजन् !) घड़े के समान स्थूल थनवाली इस नन्दिनी की तरह करोड़ों धेनु को देकर गुरु के क्रोध को शान्त करने में तुम समर्थ हो ॥ ४९ ॥

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥ ५० ॥

सञ्जी०—तद्रक्षेति । तत्तस्मात् कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम् । कर्मणि षष्ठी । ऊर्जो बलमस्यास्तीत्यूर्जस्वलम् । 'ज्योत्स्नातमिस्रे' त्यादिना वलच्प्र-

त्ययान्तो निपातः। आत्मदेहं रक्ष। ननु गामुपेक्ष्यात्मदेहरक्षणे स्वर्गहानिः स्यात्। नेत्याह—महीतलेति ऋद्धं समृद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रेण भूतल-सम्बन्धमात्रेण भिन्नमैन्द्रमिन्द्रसम्बन्धि पदं स्थानमाहुः। स्वर्गान्न भिद्यत इत्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्वयः—तत् कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम् ऊर्ज्वस्वलम् आत्मदेहं रक्ष, हि (विद्वांसः) ऋद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नम् ऐन्द्रं पदम् आहुः।

हिन्दी—इस लिये (कि जब तुम इस एक धेनु के बदले करोड़ों धेनु देने में स्वयं समर्थ हो तो, हे नरेन्द्र !—) निरन्तर सुखों को भोगने वाले अत्यन्त बलशाली अपने शरीर की रक्षा करो, क्योंकि ऐश्वर्यवान् (अत एव) अपने को बुद्धिमान् (समझने वाले) राजा लोग (अपने) समृद्धिशाली राज्य को, पृथिवी-तल (पृथिवी) पर होने पर भी पृथिवी से अलग हुआ इन्द्र का स्थान (स्वर्ग) ही समझते हैं (तुम इस एक गौ के पीछे उस स्वर्गसुख को क्यों त्याग रहे हो) ॥ ५० ॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥५१॥

सञ्जी०—एतावदिति। मृगेन्द्र एतावदुक्त्वा विरते सति गुहागतेनास्य सिंहस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयः शैलोऽपि प्रीत्या तमेवार्थं क्षितिपालमुच्चैर-भाषतेव। इत्युत्प्रेक्षा। भाषिरयं ब्रुविसमानार्थकत्वात् द्विकर्मकः। ब्रुविस्तु द्विकर्मकेषु पठितः। तदुक्तम् 'दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिनामुपयोगनिमित्तम-पूर्वविधौ। ब्रुविशासिगणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना ॥' इति

अन्वयः—मृगेन्द्रे एतावद् उक्त्वा विरते (सति) गुहागतेन अस्य प्रतिस्वे-नेन शिलोच्चयः अपि प्रीत्या तमेव अर्थं क्षितिपालम् उच्चैः इव अभाषत।

हिन्दी—इतना ('एकातपत्रं....पदमैन्द्रमाहुः' श्लो० ४७–५० पर्यन्त) कह कर सिंह के चुप हो जाने पर पर्वत-गुहा में मृगेन्द्र के स्वाभाविक जोरों से कहे गये गुफा के शब्दों की प्रतिध्वनि के माध्यम से मानो हिमालय पर्वत भी उन्हीं बातों को प्रेमपूर्वक (स्पष्ट शब्दों में) जोर-जोर से दुहराने लगा ॥५१॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥५२॥

सञ्जी०—निशम्येति । देवानुचरस्येश्वरकिङ्करस्य सिंहस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवो राजा पुनरप्युवाच । किम्भूतः सन् । तेन सिंहेन यदध्यासितं व्याक्रमणम् । 'नपुंसके भावे क्तः' । तेन कातरे अक्षिणी यस्यास्तया । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' इति षच् । षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् । किं वा वक्ष्यतीति भीत्यैवं स्थितयेत्यर्थः । धेन्वा निरीक्ष्यमाणः । अत एव सुतरां दयालुः सन् । सुतरामित्यत्र 'द्विवचनविभज्यो०' इत्यादिना सुशब्दात्तरप् 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' इत्यनेनाम्प्रत्ययः । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययसंज्ञा ॥ ५२ ॥

अन्वयः—देवानुचरस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवः पुनरपि उवाच (किम्भूतः) तदध्यासितकातराक्ष्या धेन्वा निरीक्ष्यमाणः (अत एव) सुतरां दयालुः (सन्) ।

हिन्दी—अपने को शंकर के अनुचर कहने वाले उस सिंह की बातों को सुनकर राजा दिलीप फिर उस सिंह से कहने लगे, उस समय उस सिंह से आक्रान्त होनेपर (बायीं करवट गिर जाने से) नन्दिनी अपनी कातरपूर्ण (ऊपर की दायीं) खुली हुई एक आँख से राजा को देख रही थी और राजा अत्यन्त दयार्द्र हो रहे थे ॥ ५२ ॥

किमुवाचेत्याह—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्त्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥ ५३ ॥

सञ्जी०—क्षतादिति । 'क्षणु हिंसायाम्' इति धातोः सम्पदादित्वात्क्विप् । 'गमादीनाम्' इति वक्तव्यादनुनासिकलोपे तुगागमे च क्षदिति रूपं सिद्धम् । क्षताद् नाशात् त्रायत इति क्षत्त्रः । सुपीति योगविभागात्कः । तामेतां व्युत्पत्तिं कविरर्थतोऽनुक्रामति—क्षतादित्यादिना । उदग्र उन्नतः । क्षत्त्रस्य क्षत्त्रवर्णस्य शब्दो वाचकः क्षत्त्रशब्द इत्यर्थः । क्षतात्त्रायत इति व्युत्पत्त्या भुवनेषु रूढः किल प्रसिद्धः खलु । नाश्वकर्णादिवत् केवलरूढः किन्तु पंकजादिवद्योगरूढ इत्यर्थः । ततः किमित्यत आह—तस्य क्षत्त्रशब्दस्य विपरीतवृत्तेर्निरुद्धव्यापारस्य क्षतत्त्राणमकुर्वतः पुंसो राज्येन किम् ? उपक्रोशमलीमसैर्निन्दामलिनैः । 'उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणे' इत्यमरः ।

'ज्योत्स्नातमिश्रा०' इत्यादिना मलीमसशब्दो निपातितः। 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः। तैः प्राणैर्वा किम्? निन्दितस्य सर्वं व्यर्थमित्यर्थः। एतेन 'एकातपत्रम्' (२।४७) इत्यादिना श्लोकद्वयेनोक्तं प्रयुक्तमिति वेदितव्यम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—उदग्रः क्षत्त्रस्य शब्दः क्षतात् त्रायते इति भुवनेषु रूढः किल? तद्विपरीतवृत्तेः राज्येन वा उपक्रोशमलीमसैः प्राणैः (वा) किम्?

हिन्दी—(हे मृगेन्द्र!) श्रेष्ठवाचक जो 'क्षत्त्र' शब्द है वह (क्षतात् त्रायते इति क्षत्त्रः) विनाश से बचाने वाला इस अर्थ से जगत् में प्रख्यात है। इस शब्दार्थ के विपरीत व्यापार करने वाले याने नाश से नहीं रक्षा करने वाले पुरुषार्थी राजा का राज्य अथवा निन्दा (अपकीर्ति) से मलिन हुआ जीवन दोनों व्यर्थ है' (अतः हे शिवानुचर) मृगेन्द्र! इस नन्दिनी को अगर मैं नहीं बचा सका तो मुझ सूर्यवंशी क्षत्रिय राजा के लिए मर जाना ही श्रेयस्कर है ॥ ५३ ॥

'अथैकधेनोः' (श्लो० ४७) इत्यस्योत्तरमाह—

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम् ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—कथमिति। अनुनयः क्रोधापनयः। चकारो वाकारार्थः। महर्षेरनुनयो वाऽन्यासां पयस्विनीनां द्रोग्ध्रीणां गवां विश्राणनाद्दानात्, त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने। विश्राणनं वितरणम्' इत्यमरः। कथ नु शक्यः। न शक्य इत्यर्थः। अत्र हेतुमाह—इमां मां सुरभेः कामधेनोः 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी। अनूनामन्यूनामवेहि जानीहि। तर्हि कथमस्याः परिभवो भूयादित्याह रुद्रौजसेति। अस्यां गवि त्वया कर्त्रा प्रहृतं तु प्रहारस्तु। नपुंसके भावे क्तः। रुद्रौजसेश्वरसामर्थ्येन। त तु स्वयमित्यर्थः। 'सप्तम्यधिकरणे च' इति सप्तमी ॥ ५४ ॥

अन्वयः—महर्षेः अनुनयः अन्यपयस्विनीनां विश्राणनात् कथं नु शक्यः? इमां सुरभेः अनूनाम् अवेहि, अस्यां त्वया प्रहृतं तु रुद्रौजसा।

हिन्दी—(हे सिंह! 'गाः कोटिशः' [श्लो० ४०] यह आपका कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—) महर्षि वसिष्ठ के क्रोध का निवारण अन्य गायों

के देने से कैसे हो सकता है ? क्योंकि इस नन्दिनी को आप कामधेनु के समान ही समझें–(कामधेनु तो संसार में एक ही है न ?) इसे कौन मार सकता है। फिर भी इस पर जो आपका आक्रमण हुआ है (उसमें आपका पौरुष नहीं), वह तो भगवान् शंकर के प्रताप से ही हो सका है ॥ ५४ ॥

तर्हि किं चिकीर्षितमित्याह—

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।
न पारणा स्याद् विहिता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियाऽर्थः ॥ ५५ ॥

सञ्जी०—सेयमिति । सेयं गौर्मया निष्क्रीयते प्रत्याह्रियतेऽनेन परिगृहीतमिति निष्क्रयः प्रतिशीर्षकम् । 'एरच्' इत्यच्प्रत्ययः । स्वदेहार्पणमेव निष्क्रयस्तेन भवत्तस्त्वत्तः । पञ्चम्यास्तसिल् । मोचयितुं न्याय्या न्यायादनपेता । उक्तेत्यर्थः । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इत्यनेन यत्प्रत्ययः । एवं सति तव पारणा भोजनं विहिता न स्यात्, मुनेः क्रिया होमादिः स एवार्थः प्रयोजनम् । स चालुप्तो भवेत् । स्वप्राणव्ययेनापि स्वामिगुरुधनं संरक्ष्यमिति भावः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—सा इयं मया स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण भवत्तः मोचयितुं नाय्या । (इत्थं प्रकारेण) तव पारणा विहता न स्यात्, च मुनेः क्रियार्थः अलुप्तः भवेत् ॥ ५५ ॥

हिन्दी—(हे मृगेन्द्र !) सो कामधेनु के तुल्य इस नन्दिनी को मैं अपना शरीर देकर आपसे छुड़ा लूँ, यह मेरे लिये न्याय संगत है ऐसा करने पर (जैसा कि आपने कहा था—('शोणितपारणा मे' श्लो० ३९) आपका व्रतान्त भोजन (पारणा) भी हो जायगा और (इस नन्दिनी के जीवित रहने पर) महर्षि गुरु वसिष्ठ की (इस नन्दिनी के दुग्धादि से हो रही) होमादि क्रिया भी नष्ट नहीं होगी ॥ ५५ ॥

अत्र भवानेव प्रमाणमित्याह—

भवानपीदं परवानवैति महान् हि यत्नस्तव देवदारौ ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—भवानिति । परवान् स्वामिपरतन्त्रो भवानपि । 'परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि' इत्यमरः । इदं वक्ष्यमाणमवैति । भवताऽनूभूयत

एवेत्यर्थः । 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः । किमित्यत आह—हि यस्माद्धेतोः । "हि हेतावववधारणे' इत्यमरः । तव देवदारौ विषये महान् यत्नः । महता यत्नेन रक्ष्यत इत्यर्थः । इदं शब्दोक्तमर्थं दर्शयति-स्थातुमिति । रक्ष्यं वस्तु विनाश्य गमयित्वा स्वयमक्षतेनाव्रणेन, नियुक्तेनेति शेषः । नियोक्तुः स्वामिनोऽग्रे स्थातुं शक्यं न हि ॥ ५६ ॥

अन्वयः—परवान् भवान् अपि इदम् अवैति हि तव देवदारौ महान् यत्नः रक्ष्यं विनाश्य स्वयम् अक्षतेन नियोक्तुः अग्रे स्थातुं शक्यं न हि ।

हिन्दी—(हे मृगेन्द्र ! आप भी शङ्कर के किंकर हैं अतः) पराधीन आप भी जानते ही हैं कि पुरोवर्ती इस देवदारु वृक्ष के रक्षण में आपका कितना बड़ा प्रयास रहता है । (यह सत्य ही है कि स्वामी के) रक्षा करने के योग्य वस्तु का नाश करके स्वयं बिना नष्ट (घायल) हुए ईमानदार रक्षक स्वामी के आगे उपस्थित होने के लिये समर्थ नहीं हो सकता । (मैं इस नन्दिनी को आपके कहने मात्र से गँवा कर गुरु वसिष्ठ के सामने इस अक्षत शरीर से कैसे उपस्थित होऊँगा) ॥ ५६ ॥

सर्वथा चैतदप्रतिहार्यमित्याह—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—किमिति । किमपि किं वाऽहं तवाहिंस्योऽवध्यो मतश्चेत्तर्हि मे यश एव शरीरं तस्मिन्दयालुः कारुणिको भव । 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । ननु मुख्यमुपेक्ष्यामुख्यशरीरे कोऽभिनिवेशोऽत आह—एकान्तेति । मद्विधानां मादृशानां विवेकिनामेकान्तविध्वंसिष्ववश्यविनाशिषु भौतिकेषु पृथिव्यादिभूतविकारेषु पिण्डेषु शरीरेष्वनास्था खल्वनपेक्षैव । 'आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु कथ्यते' इति विश्वः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—किमपि अहं तव अहिंस्यः मतः चेत् (तर्हि) मे यशःशरीरे दयालुः भव । (यतः) मद्विधानाम् एकान्तविध्वंसिषु भौतिकेषु पिण्डेषु अनास्था खलु ।

हिन्दी—(हे मृगेन्द्र !) किंवा यदि मैं आपकी समझ में अवध्य हूँ तो मेरे यशरूपी शरीर के विषय में आप कृपालु होवें, क्योंकि निश्चय ही विनाश

होने वाले पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतों से बने इस शरीर पर मेरे ऐसे लोगों की आस्था नहीं रहती—यह ध्रुव सत्य हैं।

सौहार्दादहमनुसरणीयोऽस्मीत्याह—

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ सङ्गतयोर्वनान्ते।
तद् भूतनाथानुग ! नार्हसित्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥ ५८ ॥

सञ्जी०—सम्बन्धमिति। सम्बन्धं सख्यम्। आभाषणमालापः पूर्वं कारणं यस्य तमाहुः 'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः। स तादृक्सम्बन्धो वनान्ते संगतयोर्नावावयोर्वृत्तो जातः। तत्ततो हेतोर्हे भूतनाथानुग ! शिवानुचर ! एतेन तस्य महत्त्वं सूचयति। अत एव सम्बन्धिनो मित्रस्य मे प्रणयं याच्ञाम्। 'विश्रम्भयाच्ञाप्रेमाणः' इत्यमरः। विहन्तुं, नार्हसि ॥ ५८ ॥

अन्वयः—सम्बन्धम् आभाषणपूर्वम् (विद्वांसः) आहुः सः वनान्ते सङ्गतयोः नौ वृत्तः। तद् भूतनाथानुग ! त्वं सम्बन्धिनः मे प्रणयं विहन्तुं न अर्हसि।

हिन्दी—(हे सिंह !) ऐसा विद्वानों ने कहा है कि एक-दूसरे की मैत्री परस्पर बात-चीत करने पर भी हो जाती है, सो तो अब आप-हम दोनों में वार्तालाप करने से हो चुकी है। इसलिए हे आशुतोषानुचर ! अब आप मेरे मित्र होने के नाते मेरी (अपने मित्र दिलीप की) प्रार्थना को ठुकरा नहीं सकते।

(भूतनाथानुग ! कहने का तात्पर्य यह है कि दीन दुखी प्राणियों की मनःकामना को पूर्ण करने वाले आशुतोष शंकर सर्वोपरि हैं, उनके अनुचर होने के नाते आप भी दुःखहर्ता होंगे ही) ॥ ५८ ॥

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत् पिण्डमिवामिषस्य ॥ ५९ ॥

सञ्जी०—तथेतीति। तथेति गामुक्तवते हरये सिंहाय। 'कपौ सिंहे सुवर्णे च वर्णे विष्णौ हरिं विदुः' इति शाश्वतः। सद्यस्तत्क्षणे प्रतिष्टम्भात् प्रतिबन्धाद्विमुक्तो बाहुर्यस्य स दिलीपः। न्यस्तशस्त्रस्त्यक्तायुधः सन् स्वदेहम्। आमिषस्य मांसस्य। 'पललं क्रव्यमामिषम्' इत्यमरः। पिण्डं कवलमिव। उपानयत् समर्पितवान्। एतेन निर्ममत्वमुक्तम् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—तथा इति गाम् उक्तवते हरये सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः सः न्यस्तशस्त्रः (सन्) स्वदेहम् आमिषस्य पिण्डम् इव उपानयत् ।

हिन्दी—(दुःखातुर दिलीप के वचनों को सुनकर) सिंह के 'तथास्तु' (जैसा आप चाहते हैं वैसा ही हो) कहने पर तत्काल ही राजा दिलीप का तरकस से प्रतिबद्ध (सटा हुआ) बाहु अलग हो गया और राजा दिलीप ने धनुष बाण त्याग कर निश्चेष्ट होकर अपने शरीर को मांस-पिंड के समान सिंह को (खाने के लिये) अर्पित कर दिया—सिंह के आगे शिर झुका कर घुटने को टेक दिया ॥ ५९ ॥

तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥ ६० ॥

सञ्जी०—तस्मिन्निति । तस्मिन् क्षणे उग्रं सिंहनिपातमुत्पश्यत उत्प्रेक्षमाणस्य तर्कयतोऽवाङ्मुखस्याधोमुखस्य 'स्यादवाङप्यधोमुखः' इत्यमरः । प्रजानां पालयितुः राज्ञ उपर्युपरिष्टात् 'उपर्युपरिष्टात्' इति निपातः । विद्याधराणां देवयोनिविशेषाणां हस्तैर्मुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ॥ ६० ॥

अन्वयः—तस्मिन् क्षणे उग्रं सिंहनिपातम् उत्पश्यतः अवाङ्मुखस्य प्रजानां पालयितुः उपरि विद्याधरहस्तमुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ।

हिन्दी—उस सिंह के सामने घुटने टेक कर अधोमुख आत्म-समर्पण करने के उपरान्त अपने शरीर पर उस सिंह के भयंकर आक्रमण (नोच कर खा जाने) के विषय में विचार करने वाले प्रजापालक उस राजा दिलीप के ऊपर विद्याधर नामक देवता आकाश से फूलों की वर्षा करने लगे ॥ ६० ॥

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥ ६१ ॥

सञ्जी०—उत्तिष्ठेति । राजा अमृतमिवाचरतीत्यमृतायमानं तत् 'उपमानादाचारे' इति क्यच् । ततः शानच् । उत्थितमुत्पन्नं, 'हे वत्स ! उत्तिष्ठ' इति वचो निशम्य श्रुत्वा । उत्थितः सन् । अस्तेः शतृप्रत्ययः । अग्रतोऽग्रे प्रस्रवः क्षीरस्रावोऽस्ति यस्याः सा प्रस्रविणी तां प्रस्रविणीं गां स्वां जननीमिव ददर्श सिंहं न ददर्श ॥ ६१ ॥

अन्वयः—राजा अमृतायमानम् 'वत्स ! उत्तिष्ठ' इति उत्थितम् वचः निशम्य उत्थितः सन् अग्रतः प्रस्रविणीं गां स्वां जननीमिव ददर्श (तं) सिंहं न (ददर्श)।

हिन्दी—(राजा दिलीप के ऊपर जब पुष्पवर्षा हो रही थी, उस समय मनुष्य की वाणी में—) "पुत्र ! उठो ?" ऐसे अमृत के समान मधुर (नन्दिनी के) वचन को सुन कर राजा दिलीप ज्यों ही उठने लगे कि सामने उन्होंने अपने स्तनों द्वारा वात्सल्यभाव से दूध बहाती हुई कामधेनु की पुत्री उस नन्दिनीगौ को अपनी स्नेहमयी जननी के समान देखा, (उस समय) सिंह दिखाई नहीं पड़ा—नन्दिनी का मायास्वरूप वह सिंह गायब हो चुका था ॥

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो ! मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि ।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—तमिति । विस्मितमाश्चर्यं गतम् । कर्त्तरि क्तः । तं दिलीपं धेनुरुवाच । किमित्यत्राह—हे साधो ! मया मायामुद्भाव्य कल्पयित्वा परीक्षितोऽसि । ऋषिप्रभावान्मय्यन्तको यमोऽपि प्रहर्तुं न प्रभुर्न समर्थः अन्ये हिंस्रा घातुकाः 'शरारुर्घातको हिंस्रः' इत्यमरः । 'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः' इत्यादिना रप्रत्ययः । किमुत सुष्ठु न प्रभव इति योज्यम् । 'बलवत्सुष्ठु किमुत स्वत्यतीव च निर्भरे' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—विस्मितं तं धेनुः उवाच—साधो मया मायाम् उद्भाव्य (त्वं) परीक्षितोऽसि । ऋषिः प्रभावात् मयि अन्तकोऽपि प्रहर्तुं न प्रभुः (अस्ति) किमुत अन्यहिंस्राः ?"

हिन्दी—(अपने ऊपर पुष्प-वृष्टि होते हुए देख) आश्चर्यचकित राजा दिलीप से (मनुष्य की वाणी में पुनः) नन्दिनी ने कहा—हे तपस्विन् ! यह जो कुछ हुआ है वह सब माया का सिंह उत्पन्न करके मेरे द्वारा तुम्हारी परीक्षा ली गयी है । क्या तुम यह नहीं जानते कि महर्षि वसिष्ठ के तपः-प्रभाव से यमराज भी मुझ पर प्रहार करने में समर्थ नहीं हो सकता, इन हिंसक सिंहादि का तो कहना ही क्या ? (वत्स ! अब तुम प्रसन्न होकर सुनो—) ॥ ६२ ॥

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीताऽस्मि ते पुत्र ! वरं वृणीष्व ।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥ ६३ ॥

सञ्जी०—भक्त्येति । हे पुत्र ! गुरौ भक्त्या मय्यनुकम्पया च ते तुभ्यं प्रीताऽस्मि । "क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्" इति चतुर्थी । वरं देवेभ्यो वरणीयमर्थम् 'देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक् प्रिये' इत्यमरः । वृणीष्व स्वीकुरु । तथाहि—मां केवलानां पयसां प्रसूतिं कारणं मावेहि न विद्धि । किन्तु प्रसन्नां मां कामान् दोग्धीति कामदुघा तामवेहि । 'दुहः कब्घश्च' इति कप्प्रत्ययः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—पुत्र, गुरौ भक्त्या च मयि अनुकम्पया ते प्रीता अस्मि । वरं वृणीष्व, मां केवलानां पयसां प्रसूतिं न अवेहि, प्रसन्नां (मां) कामदुधाम् (अवेहि) ।

हिन्दी—(मायामृगेन्द्र के वृत्त कहने के उपरान्त नंदिनी ने राजा दिलीप से कहा—) पुत्र ! (इतने पराक्रमी चक्रवर्ती राजा होते हुए भी तुम्हारे) गुरु वसिष्ठ में भक्ति और मेरे (गौ के) विषय में दया (अनुकम्पा) रखने से मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, तुम मनोऽभिलषित वर माँगो, (राजन् !) मुझे केवल दूध देनेवाली साधारण गौ मत समझो, प्रसन्न होने पर सभी मनोरथ को देने वाली (इस कामधेनु की पुत्री को कामधेनु ही) समझो ॥ ६३ ॥

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः ।
वंशस्य कर्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥ ६४ ॥

सञ्जी०—तत इति । ततो मानितार्थी । स्वहस्तार्जितो वीर इति शब्दो येन, एतेनास्य दातृत्वं दैन्यराहित्यं चोक्तम् । स राजा हस्तौ समानीय सन्धाय । अञ्जलिं वद्ध्वेत्यर्थः । वंशस्य कर्त्तारं प्रवर्त्तयितारम् । अत एव रघुकुलमिति प्रसिद्धिः । अनन्तकीर्तिं स्थिरयशसं तनयं सुदक्षिणायां ययाचे ॥ ६४ ॥

अन्वयः—ततः मानितार्थी स्वहस्तार्जितवीरशब्दः सः हस्तौ समानीय वंशस्य कर्तारम् अनन्तकीर्तिं तन[illegible] सुदक्षिणायां ययाचे ।

हिन्दी—(हे पुत्र ! वर माँगो, ऐसा नन्दिनी के कहने पर—) सदा याचकों को मनपसन्द दान से सन्तुष्ट करने वाले (आज स्वयं याचक बनकर), तथा अपने भुजबल (हाथों) से 'वीर' उपाधि को प्राप्त करने वाले (आज

स्वयं हाथ जोड़ कर) चक्रवर्ती राजा दिलीप ने अपने सूर्यवंश को (अपने नाम पर) प्रख्यात करने वाले अनन्त कीर्तिशाली (विश्वविजयी, अजेय) पुत्र को रानी सुदक्षिणा में उत्पन्न होने का वर माँगा। (इसी पुत्ररत्न के नाम पर 'सूर्यवंश' का नाम 'रघुवंश' भी कहा जायगा) ॥ ६४ ॥

सन्तानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा ।
दुग्ध्वा पयःपत्त्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥ ६५ ॥

सञ्जी०—सन्तानेति। पयस्विनी गौः। सन्तानं कामयत इति सन्तान-कामः 'कर्मण्यण्' तस्मै राज्ञे तथेति। काम्यत इति कामो वरः। कर्मर्थे घञ्प्रत्ययः। तं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञाय 'हे पुत्र ! मदीयं पयः पत्रपुटे पत्रनिर्मिते पात्रे दुग्ध्वोपभुङ्क्ष्व। 'उपयुङ्क्ष्व' इति वा पाठ,। पिब इति तमादिदेशाज्ञा-पितवती ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सा पयस्विनी सन्तानकामाय राज्ञे तथा इति कामं प्रतिश्रुत्य पुत्र ! मदीयं पयः पत्त्रपुटे दुग्ध्वा उपभुंक्ष्व इति तम् आदिदेश।

हिन्दी—उस प्रशस्त दूध देने वाली वसिष्ठ मुनि की सौरभेयी गौमाता नन्दिनी ने कीर्तिमान् पुत्र चाहने वाले राजा दिलीप को "यथेच्छसि तथास्तु" (जैसा चाहते हो वैसा ही हो) ऐसा वरदान दे कर कहा हे पुत्र ! मेरे दूध को पत्तों के दोने में स्वयं दुह कर पी लो—इससे तुम्हारा सकल मनोरथ पूरा हो जायेगा ॥ ६५ ॥

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः ! ।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥ ६६ ॥

सञ्जी०—वत्सस्येति। हे मातः ! वत्सस्य वत्सपीतस्य शेषम्, वत्स-पीतावशि-मित्यर्थः। होम एवार्थः, तस्य विधिरनुष्ठानं, तस्य च शेषम्। होमावशिष्टमित्यर्थः। तव, ऊधसि भवमूधस्यं तदेव औधस्यं क्षीरम्। 'शरीरा-वयवाच्च' इति यत्प्रत्ययः। रक्षिताया उर्व्याः षष्ठांशं षष्ठभागमिव। ऋषेर-नुज्ञामधिगम्य उपभोक्तुं पातुमिच्छामि ॥ ६६ ॥

अन्वयः—मातः वत्सस्य शेषं होमार्थविधेः च (शेषं) तव औधस्यं रक्षितायाः उर्व्याः षष्ठांशम् इव ऋषेः अनुज्ञाम् अधिगम्य उपभोक्तुम् इच्छामि।

हिन्दी—(राजा दिलीप ने कहा, हे मातः ! मेरे ऊपर पुत्रवत् स्नेहोद्रेक के कारण आपके थन से टपकता हुआ दूध मैं पी लूं, यह आपका आदेश है पर—) हे जननि ! (मैं चाहता हूँ कि आश्रम में जाने पर ही) द्विवर्षावधि आपके छोटे बछड़े के पीने से तथा गुरु के होमादि कार्यों से बचने पर अपने कुलगुरु वसिष्ठ की आज्ञा पाकर आपका दूध मैं उसी प्रकार ग्रहण करूँ, जिस प्रकार पृथिवी की रक्षा करने वाला राजा (मैं) पृथिवी की उपज का छठा भाग (मालगुजारी के रूप में) ग्रहण करता है (हूँ) ॥ ६३ ॥

इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥ ६७ ॥

सञ्जी०—इत्थमिति । इत्थ क्षितीशेन विज्ञापिता वसिष्ठस्य धेनुः प्रीततरा पूर्वं शुश्रूषया संप्रत्यनया विज्ञापनया प्रीततराऽतिसन्तुष्टा बभूव । तदन्विता तेन दिलीपेनान्विता हैमवताद्धिमवत्सम्बन्धिनः कुक्षेर्गुहायाः सकाशादश्रमेणानायासेनाश्रमं प्रत्याययावागता च ॥ ६७ ॥

अन्वयः—इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वसिष्ठधेनुः प्रीततरा बभूव च तदन्विता हैमवतात् कुक्षेः आश्रमेण प्रत्याययौ ।

हिन्दी—इस प्रकार—(आश्रम में ही गुरु की आज्ञासे होमाद्यवशेष दुग्धपान करूँगा इत्यादि) राजा दिलीप के विवेकपूर्ण निवेदन से वसिष्ठ की वह नन्दिनी धेनु अत्यधिक प्रसन्न होकर दिलीप के साथ हिमालय की उस गुफा से उस दिन अनायासेन आश्रम लौट आयी (नन्दिनी के प्रभाव से क्षण मात्र में दोनों आश्रम पहुँच गये—उस दिन राजा दिलीप को आने के श्रम का भान भी न हो सका) ॥ ६७ ॥

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचां पुनरुक्तयेव ॥ ६८ ॥

सञ्जी०—तस्या इति । प्रसन्नेन्दुरिव मुखं यस्य स नृपाणां गुरुर्दिलीपः प्रहर्षचिह्नैर्मुखरागादिभिरनुमितमूहितं तस्या धेनोः प्रसादमनुग्रहं प्रहर्षचिह्नैरेव ज्ञातत्वात्पुनरुक्तयेव वाचा गुरवे निवेद्य विज्ञाप्य पश्चात्प्रियायै शशंस । कथितस्यैव कथनं पुनरुक्तिः । न चेह तदस्ति । किन्तु चिह्नैः कथितप्रायत्वात्पुनरुक्तयेव स्थितयेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६८ ॥

अन्वयः—प्रसन्नेन्दुमुखः नृपाणां गुरुः प्रहर्षचिह्नानुमितं तस्याः प्रसादं पुनरुक्तया इव वाचा गुरवे निवेद्य (तदनु) प्रियायै शशंस ॥ ६८ ॥

हिन्दी—पूर्णचन्द्र के समान प्रसन्न मुखाकृति वाले, राजाओं में श्रेष्ठ महाराज दिलीप, जिनकी मुखाकृति से ही नन्दिनी से प्राप्त जिस वरदान का पहले ही गुरु वसिष्ठ को आभास मिल चुका है (ज्ञात हो गया है) उस नन्दिनी के वरदान रूप अनुग्रह को दिलीप ने अपनी गद्गद् वाणी से पहले गुरु वसिष्ठ से सविनय कहा तदनु प्रिया सुदक्षिणा से भी वही कहा ॥ ६८ ॥

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः ॥ ६९ ॥

सञ्जी०—स इति । अनिन्दितात्माऽगर्हितस्वभावः । सत्सु वत्सलः प्रेमवान्सद्वत्सलः । 'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति लच्प्रत्ययः । वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः कृतानुज्ञः कृतानुमतिः स राजा वत्सस्य हुतस्य चावशेषं पीतहुतावशिष्ठं नन्दिन्याः स्तन्यं क्षीरं, शुभ्रं मूर्तं परिच्छिन्नं यश इव । अतितृष्णः सन् पपौ ॥ ६९ ॥

अन्वयः—अनिन्दितात्मा सद्वत्सलः वसिष्ठेन कृताभ्युनुज्ञः वत्सहुतावशेषं नन्दिनीस्तन्यं शुभ्रं मूर्तं यशः इव अतितृष्णः सन् पपौ ।

हिन्दी—प्रख्यात सत्स्वभाव वाले सज्जनों के स्नेही राजा दिलीप ने गुरु वसिष्ठ की अनुमति पाकर बछड़े के पीने से तथा वसिष्ठाश्रम के होमादि से बचे, नन्दिनी के पवित्र तथा साकार यश स्वरूप घ को तृप्त होकर पी लिया (जिसके लिए तृषित होकर महाराज अहर्निश नन्दिनी की सेवा कर रहे थे आज उनकी तृष्णा (इच्छा) पूरी हो गयी) ॥ ६९ ॥

प्रातर्यथोक्तव्रतपारणाऽन्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः ॥ ७० ॥

सञ्जी०—प्रातरिति । वशी वसिष्ठः प्रातः यथोक्तस्य व्रतस्य गोसेवारूपस्याङ्गभूता या पारणा तस्या अन्ते प्रास्थानिकं भवं तत्कालोचितमित्यर्थः । 'कालाट्ठञ्' इति ठञ्प्रत्स्ययः । यथा कथंचिद् गुणवृत्त्याऽपि 'काले वर्त्तमानत्वात् प्रत्यय इष्यते' इति वृत्तिकारः ईयते प्राप्यतेऽनेनेत्ययनं

स्वस्ति शुभस्यानं स्वस्त्ययनं शुभावहमाशीर्वादं प्रयुज्य। तौ दम्पती। कर्ममूतौ। स्वां राजधानीं पुरीं प्रति, प्रस्थापयामास ॥ ७० ॥

अन्वयः—वशी वशिष्ठः प्रातः यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य तौ दम्पती स्वां राजधानीं प्रति प्रस्थापयामास।

हिन्दी—जितेन्द्रिय महर्षि वसिष्ठ ने राजा दिलीप के पूर्वोक्त ('आराध्य सपत्नीकः–१।८१) गोसेवा रूप व्रतान्त में नन्दिनी दुग्ध की पारणा करा चुकने के बाद दूसरे दिन सबेरे अपने हाथों से राजा रानी उभय को खिला-पिला कर स्वस्त्ययनादि मांगलिक शुभाशीर्वाद देकर उनकी अपनी राजधानी अयोध्या पुरी को प्रस्थान कराया ॥ ७० ॥

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धतीं च।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥ ७१ ॥

सञ्जी०—प्रदक्षिणीकृत्येति। नृपो हुतं तर्पितं, हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः। कर्मण्यण्। तं भर्तुर्मुनेरनन्तरम् प्रदक्षिणानन्तरमित्यर्थः। अरुन्धतीं च सवत्सां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य। प्रगतो दक्षिणं प्रदक्षिणम्। 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च' इत्यव्यीभावः। ततश्च्विः। अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं सम्पद्यमानं कृत्वा प्रदक्षिणीकृत्य। सद्भिर्मङ्गलैः प्रदक्षिणादिभिर्मङ्गलाचारैरुदग्रतरप्रभावः सन् प्रतस्थे ॥

अन्वयः—नृपः हुतं हुताशं अनन्तरम् भर्तुः च अरुन्धतीं च सवत्सां धेनुं च प्रदक्षिणीकृत्य सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः (सन्) प्रतस्थे।

हिन्दी—(कुल-गुरु वसिष्ठ के द्वारा स्वस्त्ययन के उपरान्त–) सपत्नीक राजा दिलीप ने सर्वप्रथम गुरु के हवनकुण्डाग्नि की, तदनु सूर्यवंश-पालक गुरु वसिष्ठ की, तदनु गुरुपत्नी माता अरुन्धती की, तत्पश्चात् वरदात्री सवत्सा नन्दिनी गौमाता की सविधि परिक्रमा ('प्रदक्षिणी कृत्य' सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता' २।२१) करने के उपरान्त—इन मांगलिक कृत्यों से और भी बढ़े तेज वाले होते हुए—वसिष्ठाश्रम से, अपनी राजधानी अयोध्या को प्रस्थान कर दिया ॥ ७१ ॥

(पूजनोपरान्त ही प्रदक्षिणा का विधान है और सविधि देव-पूजानुष्ठान की रात में स्त्रीप्रसंग भी निषिद्ध है इसीलिये ऋतुमती भार्या सुदक्षिणा के चतुर्थ दिन

को ध्यान में रखकर उस दिन राजा, दिलीप ने कामधेनु की (पूजा) प्रदक्षिणा नहीं की और कामधेनु ने शाप दे दिया जिसका कुपरिणाम राजा को भोगना पड़ा द्र० प्र० सर्ग श्लो० ७६)।

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥ ७२ ॥

सञ्जी०——श्रोत्रेति । धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुर्व्रतादिदुःखसहनशीलः, अत एव सुखयतीति सुखः । तेन रथेन । स्वेन पूर्णेन सफलेन मनोरथेनेव । मार्गमध्वानं ययौ । मनोरथपक्षे ध्वनिः क्षुतिः । अनुद्घातः प्रतिबन्धनिवृत्तिः ॥ ७२ ॥

अन्वयः——धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः सः श्रोत्राभिरामध्वनिना अनुद्घातसुखेन रथेन स्वनेन पूर्णेन मनोरथेन इव मार्गं ययौ ।

हिन्दी——(वसिष्ठाश्रम से अयोध्या जा रहे——) धर्मपत्नी रानी सुदक्षिणा के सहित गुरु वसिष्ठोक्त पुत्रेष्टि गोसेवादि गुरुतर कष्टप्रद व्रतानुष्ठान सहन करने में समर्थ राजा दिलीप को, उस समय कानों को मधुर लगने वाली रथचक्रध्वनि तथा ऊबड़-खाबड़ वन-पथ में भी पत्थरों की ठोकर न लगने से सुखद गमन-शील वह रथ ऐसा मालूम पड़ रहा था मानो वे अपने सफल मनोरथ रूपी रथ पर ही चढ़े हुए अक्लेशेन मार्ग तय कर रहे हों ॥ ७२ ॥

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजाऽर्थव्रतकर्शिताङ्गम् ।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥ ७३ ॥

सञ्जी०——तमिति । अदर्शनेन प्रवासनिमित्तेनाहितौत्सुक्यं जनितदर्शनोत्कण्ठम् । प्रजार्थेन सन्तानार्थेन व्रतेन नियमेन कर्शितं कृशीकृतमङ्गं यस्य तम् । नवोदयं नवाभ्युदयं प्रजास्तृप्तिमनाप्नुवद्भिरतिगृध्नुभिर्नेत्रैः । ओषधीनां नाथं सोममिव । तं राजानं पपुः, अत्यास्थया ददृशुरित्यर्थः । चन्द्रपक्षे= अदर्शनं कलाक्षयनिमित्तम् प्रजाऽर्थं लोकहितार्थम् । व्रतं देवताभ्यः कलादाननियमः 'तं च सोमं पपुर्देवाः पर्यायेणानुपूर्वशः' इति व्यासः । उदय आविर्भावः । अन्यत्समानम् ॥ ७३ ॥

अन्वयः——अदर्शनेन आहितौत्सुक्यं प्रजार्थव्रतकर्शितांगं, नवोदयं प्रजाः तृप्तिम् अनाप्नुवद्भिः नेत्रैः ओषधीनां नाथं सोमम् इव तं पपुः ।

हिन्दी—बहुत दिनों से अपने राजा दिलीप को न देखने के कारण अत्यंत उत्कंठित प्रजावर्गों ने पुत्रार्थ गोसेवाव्रतानुष्ठान से अत्यन्त कृश किन्तु वरप्राप्ति से नूतन अभ्युदय वाले अपने राजा को अतृप्त याने सतृष्ण नेत्रों से इस तरह देखा जैसे कृष्णपक्ष में शनैः शनैः कलाक्षय (अमावस) के बाद शुक्ल पक्ष में नवोदित द्वितीया के चन्द्रमा को देख कर लोग सुखी होते हैं ॥ ७३ ॥

पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥ ७४ ॥

सञ्जी०—पुरन्दरेति । पूरः पुरीरसुराणां दारयतीति पुरन्दरः शक्रः । 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' इति खच्प्रत्ययः । 'वाचंयमपुरन्दरौ च' इति मुमागमो निपातितः । तस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य स नृपः पौरैरभिनन्द्यमानः । उत्पताकमुच्छ्रितध्वजनम् । 'पताका वैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियाम्' इत्यमरः, । पुरं प्रविश्य भुजगेन्द्रेण समानसारं तुल्यबले । 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्यमरः । भुजे भूयो भूमेर्धुरमासञ्ज स्थापितवान् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—पुरन्दरश्रीः सः पौरैः अभिनन्द्यमानः उत्पताकं पुरं प्रविश्य भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भुजे भूयः भूमेः धुरम् आससञ्ज ।

हिन्दी—तपोवन से आकर इन्द्र के तुल्य कान्ति और सम्पत्तिशाली राजा दिलीप ने अयोध्या नगरवासी प्रजाओं से अभिनन्दित होते हुए (पुत्र-प्राप्तिवरदान रूपोल्लास में प्रजाओं द्वारा) लह-लहाती विजय-पताकाओं से सुसज्जित अयोध्याराजधानी में (पत्नी सुदक्षिणा के सहित) प्रवेश करके नाग-राज शेषके समान अपने भुज-बल पर पुनः पूर्ववत् (मंत्रियों पर सौंपा गया) पृथिवी का पालनभार धारण कर लिया ॥ ७४ ॥

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥ ७५ ॥

इति रघुवंशमहाकाव्ये नन्दिनीवरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः समाप्तः ।

सञ्जी०—अथेति । अथ द्यौः सुरवर्त्म 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः । अत्रेर्महर्षेर्नयनयोः समुत्थमुत्पन्नं नयनसमुत्थम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः । ज्योतिरिव । चन्द्रमिवेत्यर्थः । 'ऋक्षेशः स्यादत्रिनेत्रप्रसूतः' इति हलायुधः । चन्द्रस्यात्रिनेत्रोद्भूतत्वमुक्तं हरिवंशे-'नेत्राभ्यां वारि सुस्राव दशधा द्योतयद् दिशः । ,अद्गर्भविधिना हृष्टा दिशो देव्यो दधुस्तदा ॥ समेत्य धारयामासुर्न च ताः समुशक्नुवन् । स ताभ्यः सहसैवाथ दिग्भ्यो गर्भं प्रभान्वितः । पपात भासयँल्लोकाच्छीतांशुः सर्वभावनः ॥' इति । सुरसरिद् गङ्गा वह्निना दिष्ठ्यूतं निक्षिप्तं 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' इत्यनेन निपूर्वात्ष्ठीवतेर्वकारस्य ऊठ् । 'नुत्तनुन्नास्तनिष्ठ्यूताविद्धक्षिप्तेरिताः समाः' इत्यमरः । ऐशं तेजः स्कन्दमिव । अत्र रामायणम्—

ते गत्वा पर्वतं राम कैलासं धातुमण्डितम् ।
अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः ॥
देवकार्यमिदं देव ! समाधत्स्व हुताशन ।
शैलपुत्र्यां महातेजो गङ्गायां तेज उत्सृज ॥
देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः ।
गर्भं धारय वै देवि ! देवतानामिदं प्रियम् ॥
इत्येतद्वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत् ।
स तस्या महिमां दृष्ट्वा समन्तादवकीर्य च ॥
समन्ततस्तु तां देवीमभ्यषिञ्चत पावकः ।
सर्वस्रोतांसि पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दनः ॥ इति ॥

राज्ञी सुदक्षिणा नरपतेर्दिलीपस्य कुलभूत्यै संततिलाभाय गुरुभिर्महद्भिर्लोकपालानामनुभावैस्तेजोभिरभिनिविष्टम् अनुप्रविष्टं गर्भमाधत्त दधावित्यर्थः । अत्र मनुः 'अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः' इति । आधत्तः' स्त्रीकर्तृकधारणमात्रमुच्यते । तथा मन्त्रे च दृश्यते ।

अथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमादधे ।
एवं तं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥

इत्याश्वलायनानां सीमन्तमन्त्रे स्त्रीव्यापारधारण आधानशब्दप्रयोगदर्श-

नादिति । मालिनी वृत्तमेतत् । तदुक्तम्—'ननमययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति लक्षणाद् ॥ ७५ ॥

इति रघुवंशद्वितीयसर्गस्य सञ्जीविनी व्याख्या समाप्ता ।

अन्वयः—अथ द्यौः अत्रेः नयनसमुत्थं ज्योतिः इव सुरसरित् वह्निनिष्ठ्यूतम् ऐशं तेजः इव राज्ञी नरपतिकुलभूत्यै गुरुभिः लोकपालानुभावैः अभिनिविष्टं गर्भम् आधत्त ।

हिन्दी—वसिष्ठाश्रम से वरप्राप्ति करके पुनः सिंहासनारूढ़ होने पर—जैसे आकाश ने अत्रि नामक महर्षि के नेत्रों से निकली हुई चन्द्रमारूपी ज्योति को धारण किया और भागीरथी गंगा ने जैसे अग्नि से उगले हुए के समान विश्वपति भगवान् शंकर सम्बन्धी (स्कन्द को उत्पन्न करने वाले) वीर्य को धारण किया, उसी प्रकार महारानी सुदक्षिणा ने नर-पति महाराज दिलीप के सूर्यकुल की सन्तानरूप सम्पत्ति के लिये श्रेष्ठ लोकपालों के तेजों से सम्मिलित गर्भ को धारण किया ॥ ७५ ॥

इत्यधिकाशि श्रीरामचन्द्रझा विरचित सान्वय 'इन्दुमती'

टीकासहितः रघुवंशद्वितीयः सर्गः समाप्तः ।



तृतीयः सर्गः

अथेप्सितं भर्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् ।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौहृदलक्षणं दधौ ॥ १ ॥

सञ्जी०—अथेति । अथ गर्भधारणानन्तरं सुदणिा । उपस्थितोदयं प्राप्तकालं भर्तुर्दिलोपस्येप्सितं मनोरथम् । भावे क्तः । पुनः सखीजनस्योद्वीक्षणानां दृष्टीनां कौमुदीमुखं चन्द्रिकाप्रादुर्भाविम् यद्वा कौमुदी नाम दीपोत्सवतिथिः । तदुक्तं भविष्योत्तरे—'कौ मोदन्ते जना यस्यां तेनासौ कौमुदी मता' इति । तस्या मुखं प्रारम्भम् । 'सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमहम्' - इति पाठं केचित् पठन्ति । इक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेरविच्छेदस्य निदानं मूलकारणम् । निदानं त्वादिकारणम्' इत्यमरः । एवंविधं दौर्हृदलक्षणं गर्भचिह्नं वक्ष्यमाणं दधौ । स्वहृदयेन गर्भहृदयेन च द्विहृदया गर्भिणी । यथाऽऽह वाग्भटः—'मातृजं ह्यस्य हृदयं मातुश्च हृदयेन तत् । सम्बद्धं तेन गर्भिण्या नेष्टं श्रद्धाविमाननम् ॥' इति । तत्सम्बन्धित्वाद् गर्भो दौर्हृदमित्युच्यते । सा च तद्योगाद्दौर्हृदिनीति । तदुक्तं संग्रहे—'द्विहृदया नारीं दौहृदिनीमाचक्षते ।!' इति । अत्र दौर्हृदलक्षणस्येप्सितत्वेन कौमुदीमुखत्वेन च निरूपणाद् रूपकालङ्कारः । अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तम्—'जतौ तु बंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ सुदक्षिणा उपस्थितोदयं भर्त्तुः ईप्सितं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् इक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः निदानं दोर्हृदलक्षणं दधौ ।

हिन्दी—उदरस्थ गर्भ होने पर रानी सुदक्षिणाने शरीरकृशतादि गर्भलक्षणों को धारण किया, जो महाराज दिलीप का अभीष्ट था और रानी सुदक्षिणा की सखियों की आंखों के लिये चन्द्रिका के समान आह्लादकर था और इक्ष्वाकुवंश को (अपने नाम पर) चलाने वाला (होनहार) था ॥ १ ॥

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ २ ॥

सञ्जी०—शरीरेति । शरीरस्य सादात् कार्श्यादसमग्रभूषणा परिमिताभरणा लोध्रपुष्पेणेव पाण्डुना मुखेनोपलक्षिता सा सुदक्षिणा । विचेया मृग्यास्तारका यस्यां सा तथोक्ता । विरलनक्षत्रेत्यर्थः । तनुप्रकाशेनाल्पकान्तिना शशिनोपलक्षितेषदसमाप्तप्रभाता प्रभातकल्पा । प्रभातादीषदूनेत्यर्थः । 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' इति प्रभातशब्दस्य पुंवद्भावः । शर्वरी रात्रिरिव । अलक्ष्यत । शरीर- सादादिगर्भलक्षणमाह वाग्भटः—'क्षामतः गरिमा कुक्षेर्मूर्च्छा छर्दिररोचकम् । जृम्भा प्रसेकः सदनं रोमराज्याः प्रकाशनम् ॥' इति ॥ २ ॥

अन्वयः—शरीरशादात् असमग्रभूषणा लोध्रपाण्डुना मुखेन (उपलक्षिता) सा विचेयतारका तनुप्रकाशेन शशिना (उपलक्षिता) प्रभातकल्पा शर्वरी इव अलक्ष्यत ॥ २ ॥

हिन्दी—गर्भ-लक्षण प्रकट होने पर कृश शरीर होने के कारण नाम मात्र के हलके हलके एक-दो आभूषणों को धारण की हुई तथा पीले मुखाकृति से सुशोभित रानी सुदक्षिणा उस निसावसान रात्रि के समान दिखाई देने लगीं जिसके भोर में गिनने लायक थोड़े से तारे बचे रहते हैं और सूर्योदय निकट होने के कारण चन्द्र भी फीका पड़ गया होता है । (अर्थात् १-२ ही आभूषणों को पहनी हुई बिचेयतारका रजनी रूपा सुदक्षिणा के पाण्डुवर्ण से सूर्यकुल-दीपक रघु-जन्म का अरुणोदय (आसन्नप्रसव) प्रकट होने लगा था) ॥ २ ॥

तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ ।
करीव सिक्तं पृषतः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम् ॥ ३ ॥

सञ्जी०—तदिति । क्षितीश्वरो रहसि मृत्सुरभि मृदा सुगन्धि तस्या आननं तदाननं सुदक्षिणामुखमुपाघ्राय तृप्तिं नाययौ । कः कमिव । शुचिव्यपाये ग्रीष्मावसाने । 'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोः सिते । ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यादुपधाशुद्धमन्त्रिणि' इति विश्वः । पयोमुचां मेघानां पृषतैर्बिन्दुभिः । 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः' इत्यमरः । सिक्तमुक्षितं वनराज्याः पल्वलमुपाघ्राय करी गज इव । अत्र करिवनराजिपल्वलानां कान्तकामिनोवदनसमाधिरनुसन्धेयः । गर्भिणीनां मृद्भक्षणं लोकप्रसिद्धमेव । एतेन दोहदाख्यं गर्भलक्षणमुच्यते ॥३॥

अन्वयः—क्षितीश्वरः रहसि मृत्सुरभि तदाननम् उपाघ्राय तृप्तिं न आययौ, शुचिव्यपाये पयोमुचां पृषतैः सिक्तं वनराजिपल्वलम् (उपाघ्राय) करी इव ॥ ३ ॥

हिन्दी—गर्भिणी होने के कारण स्वाभाविक मृद्भक्षण से रानी सुदक्षिणा के सोंधें मुखारवृन्द को एकान्त में सूंघ-सूंघ (चूम-चूम) कर राजा दिलीप उसी तरह अतृप्त रहते थे, जैसे ग्रीष्मऋतु के अन्त में बनों के सन्तप्त छोटे-छोटे सूखे तालों की मिट्टी मेघों के जल-बिन्दुपात होने पर सोंधी हो जाती है और उसके सोंध से सुरभित अल्प जल को सूंघ-सूंघ कर (पी-पीकर) वनैले हाथी तृप्त नहीं होते—बार-बार उसको सूँड़ से चूसते रहते हैं ॥

दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलंघ्य सा ॥४॥

सञ्जी०—दिवमिति। हि यस्माद्दिगन्तविश्रान्तरथश्चक्रवर्ती तस्याः सुतस्तत्सुतः। मरुत्वानिन्द्रः। 'इन्द्रो मरुत्वान् मघवा' इत्यमरः। दिवं स्वर्गमिव भुवं भोक्ष्यते। 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदम्। अतः प्रथमं सा सुदक्षिणा तथाविधे भूविकारे मृद्रूपे। अभिलष्यत इत्यभिषाषो भोग्यवस्तु तस्मिन्। कर्मणि घञ्प्रत्ययः। रस्यन्ते स्वाद्यन्त इति रसा भोग्यार्थाः। अन्ये च ते रसाश्च तान् लिङ्घ्य विहाय मनो बबन्ध। विदधावित्यर्थः। दोहदहेतुकस्य मृद्भक्षणस्य पुत्रभूभागसूचनार्थत्वमुत्प्रेक्षते ॥ ४ ॥

अन्वयः—हि दिगन्तविश्रान्तरथः तत्सुतः मरुत्वान् दिवम् इव भुवं भोक्ष्यते अतः प्रथमं सा तथाविधे अभिलाषे अन्यरसान् बिलंघ्य मनः बबन्ध।

हिन्दी—चारों दिशाओं में अव्याहत विजयी रथ चलाने वाला तथा जिस प्रकार स्वर्ग का राजा इन्द्र है वैसे ही मेरा पुत्र समस्त पृथ्वी का राजा (चक्रवर्ती) बन कर पृथ्वी का भोग करेगा इसी उद्देश्य से गर्भवती रानी सुदक्षिणा ने अन्यान्य भोज्य रसों को छोड़ कर पहले सोंधी मिट्टी का ही रसास्वादन किया (खाया) ॥ ४ ॥

न मे ह्रिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वरः ॥ ५ ॥

सञ्जी०—नेति। मागधस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री मागधी सुदक्षिणा "द्वयञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्" इत्यण्प्रत्ययः। ह्रिया किंचित् किमपीप्सितमिष्टं मे मह्यं न शंसति नाचष्टे। केषु वस्तुषु स्पृहावतीत्यनुवेलमनुक्षणमाहृत आहृतवान्। कर्तरि क्तः। 'आहृतौ सादरार्चितौ' इत्यमरः। प्रियायाः सखीः सहचरीरुत्तरकोसलेश्वरो दिलीपः पृच्छति स्म पप्रच्छ। 'लट् स्मे' इत्यनेन भूतार्थे लट्। सखीनां विश्रम्भूमित्वादिति भावः॥ ५॥

अन्वयः—मागधी ह्रिया किंचित् ईप्सितं मे न शंसति (अतः) केषु वस्तुषु मागधी स्पृहावती इति अनुवेलम् आहृतः प्रियासखीः उत्तरकोशलेश्वरः पृच्छति स्म।

हिन्दी—सुदक्षिणा प्रायः लज्जावश अपनी अभिलषित वस्तु-इच्छा को मुझसे नहीं प्रकट करती है, यह समझ कर कोसलदेशाधिपति राजा दिलीप रानी सुदक्षिणा की सखियों से बारंबार पूछते हैं कि सुदक्षिणा को वर्तमान दोहद के समय किन-किन वस्तुओं की इच्छा होती है॥ ५॥

उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः॥ ६॥

सञ्जी०-उपेत्येति। दोहदं गर्भिणीमनोरथः। 'दोहदं दौर्हृदं श्रद्धा लालसं च समं स्मृतम्' इति हलायुधः। सा सुदक्षिणा दोहदेन गर्भिणी मनोरथेन दुःखशीलतां दुःखस्वभावतामुपेत्य प्राप्य यद्वस्तु वव्रे आचकाङ्क्ष तदाहृतमानीतम्। भर्त्रेति शेषः। अपश्यदेव। अलभतेत्यर्थः। कुतः। हि यस्मादस्य भूपतेस्त्रिदिवेऽपि स्वर्गेऽपीष्टं वस्त्वनासाद्यमनवाप्यं नाभूत्। किं याच्ञया! नेत्याह—अधिज्यधन्वन इति। नहि वीरपत्नीनामलभ्यं नाम किञ्चिदस्तीति भावः। अत्र वाग्भटः—'पादशोफो विदाहोऽन्ते श्रद्धा च विविधात्मिका' इति। एतच्च पत्नीमनोरथपूरणाकरणे दृष्टदोषसम्भवाद् न तु राज्ञः प्रीतिलौल्यात्। तदुक्तम्—'देयमप्यहितं तस्यै हितोपहितमल्पकम्। श्रद्धाविघाते गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा॥' अन्यत्र च 'दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्' इति॥ ६॥

अन्वयः—सा दोहददुःखशीलताम् उपेत्य यद् वव्रे तद् आहृतम् अपश्यद् एव हि अधिज्यधन्वनः अस्य भूपतेः त्रिदिवे अपि इष्टम् अनासाद्यं न अभूत्।

हिन्दी—वह रानी सुदक्षिणा गर्भावस्था के स्वाभाविक कष्टों को सहती हुई जिस किसी (दुर्लभ) वस्तु की (भी) इच्छा करती थी, उस वस्तु को वह अपने सामने उपस्थित ही देखती थी। इसलिये कि धनुषधारी राजा दिलीप के लिये (धनुष तान लेने पर) स्वर्ग की भी वस्तु अप्राप्य नहीं थी ॥

क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा।
पुराणपत्रापगमादनन्दरं लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा ॥ ७ ॥

सञ्जी०—क्रमेणेति। सा सुदक्षिणा क्रमेण दोहदव्यथां च निस्तीर्य प्रचीयमानावयवा पुष्यमाणावयवा सती। पुराणपत्राणामपगमान्नाशादनन्तरं सन्नद्धाः सञ्जाताः प्रत्यग्रत्वान्मनोज्ञाः पल्लवा यस्याः सा लतेव रराज ॥ ७ ॥

अन्वयः—सा क्रमेण दोहदव्यथां निस्तीर्य प्रचीयमानावयवा (सती) पुराणपत्रापगमाद् अनन्तरं सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा लता इव रराज।

हिन्दी—वह गर्भवती सुदक्षिणा शनैः शनैः गर्भ के प्रारम्भिक कष्टों को बिताकर (चतुर्थ माह के बाद) वैसे ही हृष्ट-पुष्ट और मनोरम कान्ति वाली हो गयी जैसे वसन्त में पुराने पत्तों के झड़ जाने पर नवीन किसलयों से लदी हुई लतायें मनोरम लगती हैं ॥ ७ ॥

दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोःश्रियम् ॥ ८ ॥

सञ्जी०—दिनेष्विति। दिनेषु दोहददिवसेषु गच्छत्सु सत्सु नितान्तपीवरमतिस्थूलम्। आसमन्तान्नीले मुखे चूचुके यस्य तत्। तदीयं स्तनद्वयम्। भ्रमरैरभिलीनयोरभिव्याप्तयोः सुजातयोः सुन्दरयोः पङ्कजकोशयोः श्रियं पद्ममुकुलयोः श्रियं तिरश्चकार। अत्र वाग्भटः—'अम्लेष्टता स्तनौ पीनौ श्वेतान्तौ कृष्णचूचुकौ' इति ॥ ८ ॥

अन्वयः—दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरम् आनीलमुखं तदीयं स्तनद्वयं भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियं तिरश्चकार।

हिन्दी—कुछ दिन (लगभग ४-५ माह, द्र० श्लो० १०) बीतने पर अत्यधिक स्थूल ('दूध से भरता हुआ) तथा काले-काले (हो रहे) चूचुकों से

सुशोभित गर्भिणी सुदक्षिणा के दोनों स्तन काले-काले भ्रमरों से उपसेवित कमल की कलियों की शोभा को जीत रहे थे ॥ ८ ॥

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥ ९ ॥

सञ्जी०—निधानेति । नृपः ससत्त्वामापन्नसत्त्वां गर्भिणीमित्यर्थः । 'आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः । महिषीं निधानं निधिर्गर्भे यस्यास्तां सागराम्बरां समुद्रवसनाम् । भूमिमिवेत्यर्थः । 'भूतधात्री रत्नगर्भा जगती सागराम्बरा' इति कोशः । अभ्यन्तरे लीनः पावको यस्यास्तां शमीमिव । शमीतरौ वह्निरस्तीत्यत्र लिङ्गं 'शमी गर्भादग्निं जनयतीति' । अन्तःशलिलामन्तर्गतजलां सरस्वतीं नदीमिव । अमन्यत । एतेन गर्भस्य भाग्यवत्त्वतेजस्वित्वपावनत्वानि विवक्षितानि ॥ ९ ॥

अन्वयः—नृपः ससत्त्वां महिषीं निधानगर्भां सागराम्बराम् इव अभ्यन्तरलीनपावकां शमीम् इव अन्तःसलिलां सरस्वतीं नदीम् इव अमन्यत ।

हिन्दी—राजा दिलीप ने गर्भवती रानी सुदक्षिणा को अपने भीतर रत्नों को रखने वाली सागराम्बरा पृथिवी के समान (गम्भीर) और अन्दर में अग्नि को रखे हुए शमी नामक वृक्ष के समान (तेजस्वी) तथा गुप्तरूप से बहने वाली सरस्वती नदी के समान (पवित्र) समझा ॥ ९ ॥

प्रियाऽनुरागस्य मनःसमुन्नतेर्भुजार्जितानां च दिगन्तसम्पदाम् ।
यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः ॥१०॥

सञ्जी०—प्रियेति । धीरः स राजा प्रियायामनुरागस्य मनः समुन्नतेरौदार्यस्य भुजेन भुजबलेन करेण वाऽर्जितानां, न तु वाऽणिज्यादिना । दिगन्तेषु सम्पदाम् । 'धृतेः, पुत्रो मे भविष्यती'ति सन्तोषस्य च । 'धृतिर्योगान्तरे धैर्ये धारणाध्वरतुष्टिषु' इति विश्वः । सदृशीरनुरूपाः । पुमान् सूयतेऽनेनेति पुंसवनं तदादिर्यासां ताः क्रिया यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य व्यधत्त कृतवान् । आदिशब्दे मानवलोभनसीमन्तोन्नयने गृह्येते । अत्र 'मासि द्वितीये तृतीये वा पुंसवनं यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्' इति पारस्करः । चतुर्थेऽनवलोभनम्' इत्याश्वलायनः । 'षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तोन्नयनम्' इति याज्ञवल्क्यः ॥ १० ॥

अन्वयः—धीरः सः प्रियानुरागस्य मनःसमुन्नतेः भुजार्जितानां दिगन्तसम्पदां च धृतेः च सदृशीः पुंसवनादिकाः क्रियाः यथाक्रमं व्यधत्त ।

हिन्दी—बुद्धिमान् राजा दिलीप ने पत्नी सुदक्षिणा के प्रति अपने अगाध प्रेम के साथ अपने भुजबल से प्राप्त दिगन्त साम्राज्य के एवं 'रानी के गर्भ से पुत्र ही उत्पन्न होगा' इस दृढ़ धारणा के अनुरूप खूब ही धूम-धाम से सुदक्षिणा-गर्भ के पुंसवनादि संस्कारों को पूरा किया ॥ १० ॥

सुरेन्द्रमात्राऽऽश्रितगर्भगौरवात् प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः ।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः ॥११॥

सञ्जी०—सुरेन्द्रेति । गृहागतो नृपः सुरेन्द्राणां लोकपालानां मात्राभिरंशैराश्रितस्यानुप्रविष्टस्य गर्भस्य गौरवाद् भारात् प्रयत्नेन मुक्तासनया । आसनादुत्थितयेत्यर्थः । उपचारस्याञ्जलावञ्जलीकरणे खिन्नहस्तया पारिप्लवनेत्रया तरलाक्ष्या ।'चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे' इत्यमरः । तया सुदक्षिणया ननन्द । सुरेन्द्रमात्राऽऽश्रित इत्यत्र मनुः—'अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः' इति ॥ ११ ॥

अन्वयः—गृहागतः नृपः सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात् प्रयत्नमुक्तासनया उपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया पारिप्लवनेत्रया तया ननन्द ।

हिन्दी—राजभवन (अन्तःपुर) में आने पर राजा दिलीप लोकपालों (सुरेन्द्रों) के अंशों से भरपूर गुरुतर गर्भभार के कारण बड़ी कठिनता से पति-स्वागतार्थ आसन से उठने वाली (उठती हुई) तथा शिष्टाचार के नाते पति को हाथ जोड़कर प्रणाम करने में असक्त (लड़खड़ाती हुई) अत एव अश्रुभरे चंचल नेत्रों वाली आसन्नप्रसवा रानी सुदक्षिणा को देखकर अत्यानन्दित होते थे ॥ ११ ॥

कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि ।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव ॥१२॥

सञ्जी०—कुमारेति । अथ कुमारभृत्या बालचिकित्सा । 'संज्ञायां समजनिषद०' इत्यादिना क्यप् । तस्यां कुशलैः । कृतिभिः । 'कृती कुशल

इत्यपि' इत्यमरः। आप्तैर्हितैर्भिषग्भिर्वैद्यैः 'भिषग्वैद्यौ चिकित्सके' इत्यमरः। गर्भस्य मर्मणि। 'भरणे पोषणे मर्म' इति हेमः। 'भूतिर्भर्म' इति शाश्वतः। भृञो मनिच्प्रत्ययः। 'गर्भकर्मणि' इति पाठे गर्भाधानप्रतीतावौचित्यभङ्गः। अनुष्ठिते कृते सति। काले दशमे मासि। अन्यत्र ग्रीष्मावसाने प्रसवस्य गर्भमोचनस्योन्मुखीम्। आसन्नप्रसवामित्यर्थः। 'स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवे गर्भमोचने' इत्यमरः। प्रियां भार्याम्। अभ्राण्यस्याः सञ्जातान्यभ्रिता ताम्। तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इतीतच्प्रत्ययः। दिवमिव। पतिर्भर्ता। प्रतीतो हृष्टः सन्। 'ख्याते हृष्टे प्रतीतः' इत्यमरः। ददर्श दृष्टवान्॥ १२॥

अन्वयः—अथ कुमारभृत्याकुशलैः आप्तैः विषग्भिः गर्भभर्मणि अनुष्ठिते काले प्रसवोन्मुखीं प्रियाम् अभ्रितां दिवम् इव पतिः प्रतीतः (सन्) ददर्श।

हिन्दी—उसके बाद अर्थात् रानी सुदक्षिणा को गर्भभार से अत्यन्त असक्त देखने पर राजा चिलीप बालचिकित्सा कर्मों में निपुण तथा अपने विश्वासी वैद्यवरों के द्वारा सुदक्षिणा के गर्भ की रक्षा कराते हुए दशवें महीने में प्रसव के उन्मुख (आसन्नप्रसवा) सुदक्षिणा को ग्रीष्म ऋतु के अन्त में मेघाछन्न आकाश की तरह देखकर आनन्दित हुए। (ग्रीष्म की गर्मी से व्याकुल लोग वर्षा ऋतु के प्रथम दिन जैसे मेघाच्छन्न (जलपूर्ण) आकाश को देखकर उत्सुक हो उठते हैं, वैसे ही पुत्रार्थ व्याकुल राजा दिलीप त्वरित् बरसने वाले मेघ के समान ही पुत्ररत्नगर्भा आसन्नप्रसवा रानी को देखकर अत्यानन्दित हो उठे)॥ १२॥

ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम्।
असूत पुत्रं समये सचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम्॥ १३॥

सञ्जी०—ग्रहैरिति। शच्येन्द्राण्या समा। 'पुलोमजा शचीन्द्राणी' इत्यमरः। सा सुदक्षिणा समये प्रसूतिकाले सति दशमे मासीत्यर्थः। 'दशमे मासि जायते' इति श्रुतेः। उच्चसंश्रयै उच्चसंस्थैस्तुङ्गस्थानगैरसूर्यगैरनस्तमितैः कैश्चिद् यथासम्भवं पञ्चभिर्ग्रहैः सूचिता भाग्यसम्पद्यस्य तं पुत्रम्। त्रीणि प्रभावमन्त्रोत्साहात्मकानि साधनान्युत्पादकानि यस्याः सा त्रिसाधना शक्तिः। 'शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः' इत्यमरः। अक्षयमर्थमिव।

असूत 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इत्यात्मनेपादिषु पठ्यते। तस्माद्धातोः—कर्त्तरि लङ्। अत्रेदमनुसन्धेयम्—'अजवृषभमृगाङ्गनाकुलीरा जषवणिजौ च दिवाकरादितुङ्गाः। दशशिखिमनुयुक्तिथीन्द्रियांशैस्त्रिनवकविंशतिभिश्च तेऽस्तनीचाः॥' इति सूर्यादीनां सप्तानां ग्रहाणां मेषवृषभादयो राशयः श्लोकोक्तक्रमविशिष्टा उच्चस्थानानि, स्वस्वतुङ्गापेक्षया सप्तमस्थानानि च नीचानि। तत्रोच्चेष्वपि दशमादयो राशित्रिंशांशा यथाक्रममुच्चेषु परमोच्चा नीचेषु परमनीचा इति जातकश्लोकार्थः। अत्रांशस्त्रिंशो भागः। यथाऽऽह नारदः—'त्रिंशद्भागात्मकं लग्नम्' इति। सूर्यप्रत्यासत्तिर्ग्रहाणामस्तमयो नाम। तदुक्तं लघुजातके-'रविणाऽस्तमयो योगो वियोगस्तूदयो भवेत्' इति। ते च स्वोच्चस्थाः फलन्ति नास्तगा नापि नीचगाः। तदुक्तं राजमृगाङ्के—'स्वोच्चे पूर्णं स्वर्क्षकेऽर्द्धं सुहृद्भे पादे द्विड्भेऽल्पं शुभं खेचरेन्द्रः। नीचस्थायी नास्तगो वा न किञ्चित्पादं नूनं स्वत्रिकोणे ददाति॥' इति, तदिदमाह कविरुच्चसंस्थैरसूर्यगैरिति च। एवं सति यस्य जन्मकाले पञ्चप्रभृतयो ग्रहाः सर्वोच्चस्थाः स एव तुङ्गो भवति। तदुक्तं कूटस्थीये—'सुखिनः प्रकृष्टकार्या राजप्रतिरूपकाश्च राजानः। एकद्वित्रिचतुर्भिर्जायन्तेऽतः परं दिव्याः॥' इति। तदिदमाह पञ्चभिरिति॥

अन्वयः—ततः शचीसमा समये (सति) उच्चसंश्रयैः असूर्यगैः पञ्चभिः ग्रहैः सूचितभाग्यसम्पदं पुत्रं त्रिसाधना शक्तिः अक्षयम् अर्थम् इव असूत।

हिन्दी—ग्रीष्मान्त कालिक मेघाच्छन्न आकाश के समान आसन्नप्रसवा सुदक्षिणा को देखने के पश्चात्—इन्द्राणी के सदृश तेजस्विनी रानी सुदक्षिणा ने दसवें महीने में उसी प्रकार का पुत्रोत्पन्न किया, जिसके भाग्यवान् होने की सूचना उच्चस्थान में बैठे तथा साथ में सूर्यग्रह के न रहने से पूर्ण फल देने में समर्थ पाँच ग्रह उपस्थित थे। जिसके प्रभाव से भाग्यशाली जातक अपने ही तेज, उत्साह और मन्त्रणा से अचल ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है (ऐसे ही शुभग्रह से युक्त वह बालक पैदा हुआ)॥ १३॥

दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्॥१४॥

सञ्जी०—दिश इति। तत्क्षणं तस्मिन् क्षणे। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे'

इति द्वितीया। दिशः प्रसेदुः प्रसन्ना बभूवुः। मरुतो वाताः सुखा मनोहरा ववुः। अग्निः प्रदक्षिणार्चिः सन् हविराददे स्वीचकार। इत्थं सर्वं शुभशंसि शुभसूचकं बभूव। तथा हि तादृशां रघुप्रकाराणां भवो जन्म लोकाभ्युदयाय। भवतीति शेषः। ततो देवा अपि सन्तुष्टा इत्यर्थः॥ १४॥

अन्वयः—तत्क्षणं दिशः प्रसेदुः मरुतः सुखाः ववुः अग्निः प्रदक्षिणार्चिः (सन्) हविः आददे (इत्थं) सर्वं शुभशंसि बभूव। हि तादृशां भवः लोकाभ्युदाय (भवति)।

हिन्दी—बालक (रघु) के जन्म काल में चारों दिशायें प्रसन्न (निर्मल) हो गईं और चारों दिशाओं से बहने वाली वायु शीतल, मन्द सुगन्ध और मनोहर होकर बहने लगीं तथा हवन-कुण्ड की अग्नि अपने-आप दक्षिणावर्त (दक्षिण-दिशा की ओर से) घूम-घूम कर हवन की सामग्री (शाकल्य) को ग्रहण करने लगी। इस प्रकार सभी प्रकार के शुभ शकुन होने लगे। क्योंकि यह देखा गया है कि रघु ऐसे महान् पुरुषों का जन्म लोक (संसार) की उन्नति के लिये ही होता है॥ १४॥

अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा।
निशीथदीपा सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव॥१५॥

सञ्जी०—अरिष्टशय्यामिति। 'अरिष्टं सूतिकागृहम्' इत्यमरः। अरिष्टे सूतिकागृहे शय्यां तल्पं परितोऽभितः 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया। विसारिणा सुजन्मनः शोभनोत्पत्तेः। 'जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इत्यमरः। तस्य शिशोर्निजेन नैसर्गिकेण तेजसा सहसा हतत्विषः क्षीणकान्तयो निशीथदीपा अर्द्धरात्रप्रदीपाः। 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमरः। आलेख्यसमर्पिताश्चित्रार्पिता इव बभूवुः। निशीथशब्दो दीपानां प्रभाऽऽधिक्यसम्भावनाऽर्थः॥ १५॥

अन्वयः—अरिष्टशय्यां परितः विसारिणा सुजन्मनः तस्य निजेन तेजसा सहसा हतत्विषः निशीथदीपाः आलेख्यसमर्पिता इव बभूवुः।

हिन्दी—(सूर्यवंश के महाप्रतापी उस) बालक (रघु) के जन्म लेते ही सूतिका-गृह में अर्ध रात्रि के सभी प्रज्वलित प्रदीप उस बालक के स्वाभाविक

तेज से एका-एक इतने मन्द तेज के हो गये कि वे सभी, चित्र में लिखे के समान प्रतीत होने लगे ॥ १५ ॥

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसम्मिताक्षरम् ।
अदेयमासीत् त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्त्रमुभे च चामरे ॥ १६ ॥

सञ्जी०—जनायेति । भूपतेर्दिलीपस्यामृतसम्मिताक्षरममृतसमानाक्षरम् । 'सरूपसमसम्मिताः' इत्याह दण्डी । कुमारजन्म पुत्रोत्पत्तिं शंसते कथयते शुद्धान्तचरायाऽन्तःपुरचारिणे जनाय त्रयमेवादेयमासीत् । तत् किं शशिप्रभमुज्ज्वलं छत्रम् उभे चामरे च । छत्रादीनां राज्ञः प्रधानाङ्गत्वादिति भावः ॥ १६ ॥

अन्वयः—भूपतेः अमृतसंमिताक्षरं कुमारजन्म शंसते, शुद्धान्तचराय जनाय त्रयम् एव अदेयम् आसीत्, शशिप्रभं छत्रम् उभे चामरे च ।

हिन्दी—रानी सुदक्षिणा के प्रसव के समय—पुत्र शब्द सुनने के लिए अत्यन्त आतुर राजा दिलीप को अन्तःपुर के अनुचरों ने जब आकर कहा कि 'रानी ने तुत्र को जन्म दिया है' तो उस समय अमृत के समान सुखद पुत्र शब्द को सुनकर राजा दिलीप के लिए उन अनुचरों को न देने योग्य तीन ही वस्तुएँ थीं—वंश-परम्परागत चन्द्रप्रभ राजछत्र और राजगद्दी के उभय-पार्श्व वर्ती दो राज-चामरें (अर्थात् राजा ने आनन्दविभोर होकर राज-चिह्नों को छोड़ कर मुँह मागा इनाम सबको दिया) ॥ १६ ॥

निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम् ।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनात् गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि ॥१७॥

सञ्जी०—निवातेति । निवातो निर्वातप्रदेशः । 'निवातावाश्रयावातौ' इत्यमरः । तत्र यत् पद्मं तद्वत्स्तिमितेन निष्पन्देन चक्षुषा नेत्रेण कान्तं सुन्दरं सुताननं पुत्रमुखं पिबतस्तृष्णया पश्यतो नृपस्य गुरुरुत्कटः प्रहर्षः (कर्त्ता) इन्दुदर्शनात् गुरुर्महोदधेः पूरो जलौघ इव । आत्मनि शरीरे न प्रबभूव स्थातुं न शशाक । अन्तर्न माति स्मेति यावत् । न ह्यल्पाधारेऽधिकं मीयत इति भावः । यद्वा हर्ष आत्मनि स्वस्मिन्विषये न प्रबभूव । आत्मानं नियन्तुं न शशाक । किन्तु बहिर्निर्जगामेत्यर्थः ॥ १७ ॥

अन्वयः—निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा कान्तं सुताननं पिबतः नृपस्य गुरुः प्रहर्षः इन्दुदर्शनात् महोदधेः पूरः इव आत्मनि न प्रबभूव ।

हिन्दी—वायु से रहित सरोवर के कमल के समान निश्चल एकटकी आंखों से सुन्दर नवजात पुत्र-मुख को अतृप्त नेत्रों से देखते हुए राजा दिलीप का आनन्द, श्वेत नील गगन में उत्फुल्ल चन्द्रमा को देखकर जैसे महासागर की लहर (ज्वार) उछाल मारने लगती है, उसी तरह महाराज दिलीप ने उत्फुल्ल चित्त से आनन्दविभोर होकर पुत्र-मुख को देखा ॥ १७ ॥

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥ १८ ॥

सञ्जी०—स इति । स दिलीपसुनुः । तपस्विना पुरोधसा पुरोहितेन । 'पुरोधास्तु पुरोहितः' इत्यमरः । वसिष्ठेन । तपस्वित्वात्तदनुष्ठितं कर्म सवीर्यं स्यादिति भावः । तपोवनादेत्यागत्य । अखिले समग्रे जातकर्मणि जातस्य कर्त्तव्यसंस्कारविशेषे कृते सति । प्रयुक्तः संस्कारः शाणोल्लेखनादिर्यस्य स तथोक्तः । आकरोद्भवः खनिप्रभवः 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः । मणिरिव । अधिकं बभौ । वसिष्ठमन्त्रप्रभावात्तेजिष्ठोऽभूदित्यर्थः । अत्र मनुः—आग्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते' इति ॥ १८ ॥

अन्वयः—सः दिलीपसूनुः तपस्विना पुरोधसा तपोवनात् एत्य अखिले जातकर्मणि कृते (सति) प्रयुक्तसंस्कारः आकरोद्भवः मणिः इव बभौ ।

हिन्दी—राजा दिलीप के उस नवजात पुत्र का कुलगुरु महर्षि वसिष्ठ के तपोवन से आकर जातकर्मादि संस्कार कर देने पर, वह बालक वैसे ही चमक उठा जैसे खान से निकालकर खरादा हुआ रत्न चमकने लगता है ॥

सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥१९॥

सञ्जी०—सुखेति । सुखं सुखकरः श्रवः श्रवणं येषां ते सुखश्रवाः श्रुतिमुखा इत्यर्थः । मङ्गलतूर्यनिस्वनाः मङ्गलवाद्यध्वनयो वारयोषितां वेश्यानाम् 'वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवा' इत्यमरः । प्रमोदनृत्यैर्हर्षनर्त्तनैः सह मागधीपतेर्दिलीपस्य सद्मनि केवलं गृह एव न व्यजृम्भन्त । किन्तु द्यौरोको

येषां ते दिवौकसो देवाः। पृषोदरादित्वात्साधुः। तेषां पथ्याकाशेऽपि व्यजृम्भन्त। तस्य देवांशत्वाद् देवोपकारित्वाच्च देवदुन्दुभयोऽपि नेदुरिति भावः॥

अन्वयः—सुखश्रवाः, मङ्गलतूर्यनिस्वनाः वारयोषितां प्रमोदनृत्यैः सह मागधीपतेः सद्मनि केवलं न व्यजृम्भन्त अपितु दिवौकसां पथि अपि (व्यजृम्भन्त)।

हिन्दी—रघु-जन्म के समय कानोंके लिये सुखद मांगलिक वाद्यों की ध्वनियाँ जो कि वेश्याओं के नृत्य के साथ राजा दिलीप के राजमहल से गूँज रही थीं, वे केवल राजमहल में ही नहीं बल्कि देवलोक में भी गूँज रही थीं—क्योंकि सूर्यवंशी राजा देवलोक के भी रक्षक होते थे—महाराज दशरथ देवासुर-संग्राम के भी योद्धा कहे जाते हैं (द्र० प्र० स० पर्यालोचन)॥१९॥

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद् यं सुतजन्महर्षितः।
ऋणाभिधानात् स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात्॥

सञ्जी०—नेति। रक्षितुः सम्यक्पालनशीलस्य तस्य दिलीपस्य। अत एव चौराद्यभवात् संयतो बद्धो न बभूव नाभूत्। किं तेनात आह—विसर्जयेदिति। सुतजन्मना हर्षितस्तोषितः सन् यं बद्धं विसर्जयेद्विमोचयेत्! किन्तु स राजा तदा पितॄणामृणाभिधानाद् बन्धनात्केवलं यथा तथा स्वयमेव। एक एवेत्यर्थः। 'केवलः कृत्स्न एकश्च केवलश्चावधीरिता' इति शाश्वतः। मुमुचे, कर्मकर्त्तरि लिट्। स्वयमेव मुक्त इत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे—'एष वा अनृणो यः पुत्री।' इति श्रुतिः प्रमाणम्॥ २०॥

अन्वयः—रक्षितुः तस्य संयतः न बभूव, यं सुतजन्महर्षितः (सन्) विसर्जयेत्, सः तदा पितॄणाम् ऋणाभिधानाद् बन्धनात् केवलम् स्वयं मुमुचे।

हिन्दी—राजा दिलीप का प्रजातन्त्र ऐसा सुदृढ़ था कि उनके राज्य में कोई ऐसा अपराध ही नहीं करता था जिसे जेल भोगना पड़े। अतः पुत्र-जन्मोत्सव के हर्ष में कोई कैदी था ही नहीं जिसे मुक्त किया जाय। इसलिये राजा दिलीप रघु-जन्म के होने पर स्वयं पितृ-ऋण से मुक्त हो गये। (पुत्र होने पर पिता के ऊपर के पितरों का ऋण पुत्र को चुकाना पड़ता है—पितृकर्म का अधिकारी पुत्र हो जाता है—ऐसा शास्त्र-सम्मत है)॥२०॥

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः ।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम् ।। २१ ।।

सञ्जी०—श्रुतस्येति । अर्थविच्छब्दार्थज्ञः पार्थिवः पृथिवीश्वरो दिलीपः । अयमर्भको बालकः श्रुतस्य शास्त्रस्यान्तं पारं यायात् । तथा युधि परेषां शत्रूणामन्तं पारं च यायात् । यातुं शक्नुयादित्यर्थः । 'शकि लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ् । इति हेतोर्धातोः 'अधिवधिलघिगत्यर्थाः' इति लघिधातोर्गमनाख्यमर्थमर्थवित्त्वादवेक्ष्यालोच्य । आत्मसम्भवं पुत्रं नाम्ना रघुं चकार । "लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च' इत्युप्रत्यये 'बालमूललघ्वलमङ्गुलीनां वा लो रत्वमापद्यते' इति वैकल्पिके रेफादेशे रघुरिति रूपं सिद्धम् । अत्र शङ्खः—'आशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति ।। २१ ।।

अन्वयः—अर्थवित् पार्थिवः अयम् अर्भकः श्रुतस्य अन्तं यायात्, तथा युधि परेषां (अन्तं) च (यायात्) इति धातोः गमनार्थम् अवेक्ष्य आत्मसंभवं नाम्ना रघुं चकार ।

हिन्दी—शब्दार्थ को जानने वाले पृथिवीपति राजा दिलीप ने (जातसंस्कार के बाद) यह बालक अध्ययन में शास्त्रों का तथा युद्ध में शत्रुओं का अन्त करेगा (सदा प्रगतिशील बना रहेगा) यह समझ कर गमनार्थक लघि धातु के अर्थ को विचार कर अपने बालक का नाम 'रघु' रखा ।। २१ ।।

पितुः प्रयत्नात् स समग्रसम्पदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने ।
पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ।। २२ ।।

सञ्जी०—पितुरिति । स रघुः समग्रसम्पदः पूर्णलक्ष्मीकस्य पितुर्दिलीपस्य प्रयत्नाच्छुभैर्मनोहरैः शरीरावयवैः । हरिदश्वदीधितेः सूर्यस्य रश्मेः । 'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्वहरिदश्वोष्णरश्मयः' इत्यमरः । अनुप्रवेशाद् बालचन्द्रमा इव दिने दिने प्रतिदिनम् । 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचनम् । वृद्धिं पुपोष । अत्र वराहसंहितावचनम्—'सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्ततो नैशम् । क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः ।।' इति ।। २२ ।।

अन्वयः—सः समग्रसम्पदः, पितुः प्रयत्नात्, शुभैः शरीरावयवैः हरिदश्वदीधितेः अनुप्रवेशात् बालचन्द्रमाः इव दिने दिने वृद्धिं पुपोष ।

हिन्दी—पूर्ण सम्पत्तिशाली पिता राजा दिलीप के प्रयत्न (यावतोपलब्ध पौष्टिक पदार्थादि के सेवन) से उस नवजात सूर्यवंशी बालक रघु का शरीर सुन्दर अंग प्रत्यङ्गों से हृष्ट पुष्ट होकर (तैलाभ्यंगोपरान्त) सूर्य-किरण के लगने से बालचन्द्र (शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा) के सदृश प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त करने लगा ॥ १२ ॥

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥ २३ ॥

सञ्जी०—उमेति । उमावृषाङ्कौ पार्वतीवृषभध्वजौ शरजन्मना कार्त्तिकेयेन 'कार्त्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः' इत्यमरः । यथा ननन्दतुः शचीपुरन्दरौ जयन्तेन जयन्ताख्येन । 'जयन्तः पाकशासनिः' इत्यमरः । यथा ननन्दतुः । तथा तत्समौ ताभ्यामुमावृषाङ्काभ्यां शचीपुरन्दराभ्यां च समौ समानौ सा मागधी नृपश्च तत्सदृशेन ताभ्यां कुमारजयन्ताभ्यां सदृशेन सुतेन ननन्दतुः । मागधी प्राग्व्याख्याता ॥ २३ ॥

अन्वयः—उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा शचीपुरन्दरौ जयन्तेन यथा तथा तत्समौ सा मागधी नृपः च तत्सदृशेन सुतेन ननन्दतुः ।

हिन्दी—भगवती पार्वती और भगवान् शंकर ने कार्तिकेय नामक पुत्र को पाकर तथा इन्द्राणी और इन्द्र ने जयन्त नामक पुत्र को पाकर जैसे आनन्द को प्राप्त किया उसी प्रकार उन्हीं (गौरी-शंकर तथा इन्द्राणी-इन्द्र) के समान रानी सुदक्षिणा और राजा दिलीप ने भी कुमार रघु को पाकर बहुत ही आनन्द को प्राप्त किया ॥ २३ ॥

रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत् प्रेम परस्पराश्रयम् ।
विभक्तमप्येकसुतेन तत् तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥ २४ ॥

सञ्जी०—रथाङ्गेति । रथाङ्गनाम्नी च रथाङ्गनामा च रथाङ्गनामानौ चक्रवाकौ । 'पुमान्स्त्रिया' इत्येकशेषः । तयोरिव तयोर्दम्पत्योर्भावबन्धनं हृदयाकर्षकं परस्पराश्रयमन्योन्यविषयं यत्प्रेम बभूव तदेकेन केवलेन ताभ्यामन्येन वा । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । सुतेन विभक्तमपि कृतविभागमपि परस्परस्योपरि पर्यचीयत ववृधे । कर्मकर्त्तरि लिट् । अकृत्रिमत्वात्स्वय-

मेयोपचितमित्यर्थः । यदेकाधारं वस्तु तदाधारद्वये विभज्यमानं हीयते । अत्र तु तयोः प्रागैककर्तृकमेकैकविषयं प्रेम सम्प्रति द्वितीयविषयलाभेऽपि नाहीयत । प्रत्युतोपचितमेवाभूदिति भावः ॥ २४ ॥

अन्वयः—रथाङ्गनाम्नोः इव तयोः भावबन्धनं परस्पराश्रयं यत् प्रेम बभूव, तद् एकसुतेन विभक्तम् अपि परस्परस्य उपरि पर्यचीयत ।

हिन्दी—सुदक्षिणा और दिलीप में चकवा-चकवी (पक्षी) के समान गाढ़ा स्नेह था (चकवा-चकवी दोनों पति-पत्नी एक दूसरे से कभी विलग नहीं होते हैं) वह स्नेह एक मात्र पुत्र (रघु) के ऊपर बँट जाने पर भी परस्पर के स्नेह में कमी नहीं हुई—बल्कि दोनों का प्रेम और भी बढ़ता गया ॥ २४ ॥

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चांगुलिम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥ २५ ॥

सञ्जी०—उवाचेति । सोऽर्भकः शिशुः । 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः । धात्र्योपमात्रा । 'धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृषु' इति विश्वः । प्रथममुदितमुपदिष्टं वच उवाच । तदीयामङ्गुलिमवलम्ब्य ययौ च प्रणिपातस्य शिक्षयोपदेशेन नम्रोऽभूच्च । इति यत्तेन पितुर्मुदं ततान ॥ २५ ॥

अन्वयः—सः अर्भकः धात्र्या प्रथमोदितं वचः उवाच, तदीयाम् अङ्गुलीन् च अवलम्ब्य ययौ, च, प्रणिपातशिक्षया नम्रः च अभूत्, तेन पितुः मुदं ततान ।

हिन्दी—पहले-पहल वह शिशु रघु धाई के मुख से उच्चारित सुभाषित सुन्दर वचनों को तोतली बोली में बोलने लगा और उसकी अँगुली पकड़ कर चलने भी लगा तथा उसने हाथ जोड़ कर बड़ों को प्रणाम करना भी सीख लिया, इतने छोटे (४-५ माह के उम्र में ही) बालक रघु के चमत्कारी क्रिया-कलापों को देख-सुनकर रघु के पिता राजा दिलीप बहुत ही आनन्दित होते थे ॥ २५ ॥

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात् सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥ २६ ॥

सञ्जी०—तमिति । शरीरयोगजैः सुखैस्त्वचि त्वगिन्द्रियेऽमृतं निषिञ्चन्तं वर्षन्तमिव तं पुत्रमङ्कमारोप्य मुदाविर्भावादुपान्तयोः प्रान्तयोः सम्मीलितलोचनः सन् नृपश्चिरात् सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ । रसः स्वादः ।। २६ ।।

अन्वयः—शरीरयोगजैः सुखैः त्वचि अमृतं निषिञ्चन्तम् इव तम् अङ्कम् आरोप्य उपान्तसम्मीलितलोचनः (सन्) नृपः चिरात् सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ।

हिन्दी—प्रथम बार तपोपलब्ध उस वरद पुत्र के—अंगस्पर्श से उत्पन्न आनन्द से शरीर की त्वचा पर मानो अमृत बरसाने वाले उस नवजात बालक रघु को गोद में लेकर आनन्दविभोरता के कारण नेत्रप्रान्तों को मूँदे हुए से राजा दिलीप ने चिरात् (चिराकांक्षित अथवा बहुत काल तक) पुत्रगात्रस्पर्शजन्य अनन्त सुखानुभवता को प्राप्त किया ।। २६ ।।

अमंस्त चानेन परार्ध्यजन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम् ।
स्वमूर्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ।।२७।।

सञ्जी०—अमंस्तेति । स्थितेरभेत्ता मर्यादापालकः स नृपः परार्ध्यजन्मनोत्कृष्टजन्मनाऽनेन स्थितिमन्तं प्रतिष्ठावन्तमन्वयं वंशम् । प्रजानां पतिर्ब्रह्मा । गुणाः सत्त्वादयः तेष्वग्र्येण मुख्येन सत्त्वेन वर्तते व्याप्रियत इति गुणाग्र्यवर्ती तेन । स्वस्य मूर्तिभेदेनावतारविशेषेण विष्णुनाऽऽत्मनः सर्गं सृष्टिमिव । स्थितिमन्तं प्रतिष्ठावन्तममंस्त मन्यते स्म । मन्यतेरनुदात्तत्वादिट्प्रतिषेधः । अत्रोपमानोपमेययोरितरेतरविशेषणानीतरेतरत्र योज्यानि । तत्र रघुपक्षे गुणा विद्याविनयादयः । 'गुणोऽप्रधाने रूपादौ मौर्व्यां सूदे वृकोदरे । स्तम्बे सत्त्वादिसन्ध्यादिविद्याऽऽदिहरितादिषु ।।' इति विश्वः । शेषं सुगमम् ।। २७ ।।

अन्वयः—स्थितेः अभेत्ता परार्ध्यजन्मना अनेन अन्वयं प्रजानां पतिः गुणाग्र्यवर्तिना स्वमूर्तिभेदेन आत्मनः सर्गम् इव स्थितिमन्तम् अमंस्त च ।

हिन्दी—मर्यादापालक राजा दिलीप ने सर्वोत्कृष्ट मुहूर्तों में जन्म लेने वाले उस नवजात पुत्र रघु द्वारा अपने सूर्यवंश को उसी प्रकार स्थिर रहने वाला समझा, जिस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा सर्वगुण सम्पन्न अपने विष्णु रूप रामकृष्णादि अवतारद्वारा अपनी सृष्टि को स्थिर रहने वाली मानते हैं ।।

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ।।२८।।

सञ्जी०—स इति 'चूडा कार्या द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्या श्रुतिचोदनात् ।' इति मनुस्मरणात्तृतीये वर्षे वृत्तः चूलो निष्पन्नचूडाकर्मा सन् । उभयोरभेदः स रघुः । 'प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे विद्याऽऽरम्भं च कारयेत्' इति वचनात्पञ्चमे वर्षे, चलकाकपक्षकैश्चञ्चलशिखण्डकैः । 'बालानां तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः ।' इति हलायुधः । सवयोभिः स्निग्धैः । 'वयस्यः स्निग्धः सवयाः' इत्यमरः । अमात्यपुत्रैरन्वितः सन् । लिपेः पञ्चाशद्वर्णात्मिकाया मातृकाया यथावद्ग्रहणेन सम्यग्बोधेनोपायभूतेन वाङ्मयं शब्दजातम् । नद्या मुखं द्वारम् । 'मुखं तु वदने मुख्यारम्भे द्वाराभ्युपाययोः ।' इति यादवः । तेन कश्चिन्मकरादिः समुद्रमिव आविशत् प्रविष्टः । ज्ञातवानित्यर्थः ॥ २८ ॥

अन्वयः—वृत्तचूलः सः चलकाकपक्षकैः सवयोभिः अमात्यपुत्रैः अन्वितः (सन्) लिपेः यथावत् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेन समुद्रम इव आविशत् ।

हिन्दी—तीसरे वर्ष में चूड़ाकरणादि संस्कार के उपरान्त पाँचवे वर्ष में विद्यारंभ करते ही राजकुमार रघु चञ्चल (लटकती हुई) शिखा वाले अपने समवयस्क अमात्य-पुत्रों के साथ ५० अक्षरात्मक समस्त वर्णमालाओं को पढ़कर उसी के सहारे (स्वयं) समस्त शास्त्रों में भी उसी प्रकार अनायासेन प्रवेश कर गये, जैसे नदियों द्वारा मकरादि जीव-जन्तु अनायासेन अगाध समुद्र में प्रवेश कर जाते हैं ॥ २८ ॥

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥ २९ ॥

सञ्जी०—अथेति । 'गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् । गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भाच्च द्वादशे विशः ॥' इति मनुस्मरणादथ गर्भैकादशेऽब्दे विधिवदुपनीतं गुरुप्रियमेनं रघुं विपश्चितो विद्वांसो गुरवो विनिन्युः शिक्षितवन्तः । ते गुरवोऽत्रास्मिन् रघाववन्ध्ययत्नाश्च बभूवुः । तथाहि । क्रिया शिक्षा । 'क्रिया तु निष्कृतौ शिक्षा चिकित्सोपायकर्मसु' इति यादवः । वस्तुनि पात्रभूते उपहिता प्रयुक्ता प्रसीदति फलति । 'क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्' इति कौटिल्यः ॥ २९ ॥

अन्वयः—अथ विधिवत् उपनीतं गुरुप्रियम् एनं विपश्चितः गुरवः विनिन्युः, ते च अत्र अवन्ध्ययत्नाः बभूवुः हि क्रिया वस्तूपहिता प्रसीदति ।

हिन्दी—चूडाकर्म के बाद ग्यारहवें वर्ष में शास्त्रानुकूल यज्ञोपवीत संस्कार हो जाने पर आचार्यगुरु के परम प्रिय उस रघु को तत्तद् शास्त्राध्यापकों ने तत्तद् शास्त्रों को पढ़ाया और वे अध्यापक लोग रघु के विषय में सर्वथा सफल प्रयत्न वाले हुए (रघु सर्वशास्त्रज्ञ हो गये) यह ठीक ही है कि सत्पात्र को दी गयी शिक्षा विशेष फलवती होती है ॥ २९ ॥

धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः ॥ ३० ॥

सञ्जी०—धिय इति । अत्र कामन्दकः 'शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा । ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीर्गुणाः' इति । 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती । एता विद्याश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः ।' इति च । उदारधीरुत्कृष्टबुद्धिः । स रघुः समग्रैर्धियो गुणैः । चत्वारोऽर्णवा उपमा यासां ताश्चतुरर्णवोपमाः । तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्युत्तरपदसमासः । चतस्रो विद्याः । हरितां दिशामीश्वरः सूर्यः पवनातिपातिभिर्हरिद्भिर्निजाश्वैः । 'हरित्ककुभि वर्णे च तृणवाजिविशेषयोः' इति विश्वः । चतस्रो दिश इव क्रमात्ततार । चतुरर्णवोपमेयत्वं दिशामपि द्रष्टव्यम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—उदारधीः सः समग्रैः धियः गुणैः चतुरर्णवोपमाः चतस्रः विद्याः हरिताम् ईश्वरः इव पवनातिपातिभिः हरिद्भिः (चतस्रः) दिशः क्रमात् ततार ।

हिन्दी—महाबुद्धिमान् राजकुमार रघु ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के गुणों के प्रभाव से चारों समुद्रों के समान अगाध आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति इन चारों विद्याओं को वैसे ही पार कर लिया (पढ़ लिया) जैसे सूर्य भगवान् अपने घोड़ों से चारों दिशाओं को (शीघ्र—एक दिन में ही) पार कर लेते हैं ॥ ३० ॥

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षताऽस्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥ ३१ ॥

सञ्जी०—त्वचमिति । स रघुः । 'कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः । वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥' इति मनुस्मरणान्मेध्यां शुद्धां रौरवीं रुरुसम्बन्धिनीम् । 'रुरुर्महाकृष्णसारः' इति यादवः । त्वचं चर्म परिधाय वसित्वा मन्त्रवत्समन्त्रकमस्त्रमाग्नेयादिकं पितुरेवोपाध्यायादशिक्षताभ्यस्तवान् । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानसंज्ञा । पितुरेवेत्यवधारणमुपपादयतिनेति । तद्गुरुरेकोऽद्वितीयः पार्थिवः केवलं पृथिवीश्वर एव नाभूत् । किन्तु क्षितौ स दिलीप एको धनुर्धरोऽप्यभूत् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—सः मेध्यां रौरवीं त्वचं परिधाय मन्त्रवत् अस्त्रम् पितुः एव अशिक्षत, तद्गुरुः एकपार्थिवः केवलं न अभूत् (किन्तु) क्षितौ सः एकधनुर्धरः अपि (अभूत्) ।

हिन्दी—ब्रह्मचारी राजकुमार रघु ने रुरु नामक मृग के चर्म को धारण किये हुए समन्त्रक आग्नेयादि अस्त्रों की शिक्षा अपने पिता महाराज दिलीप से ही ली, क्योंकि उनके पिता केवल (ऐश्वर्यवान्) राज ही नहीं थे, अपितु पृथ्वी पर के वे अद्वितीय अनुर्धर (समन्त्रक शस्त्रविद्) भी थे ॥ ३१ ॥

महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—महोक्षतामिति । रघुः क्रमाद्यौवनेन भिन्नशैशवो निरस्तशिशुभावः सन् । महानुक्षा महोक्षो महर्षभः 'अचतुरविचतुर' इत्यादिसूत्रेण निपातनादकारान्तत्वम् । तस्य भावस्तत्ता तां स्पृशन् गच्छन् वत्सतरो दम्य इव । 'दम्यवत्सतरौ समौ' इत्यमरः । द्विपेन्द्रभावं महागजत्वं श्रयन् व्रजन् कलभः करिपोत इव । गाम्भीर्येणाचापलेन मनोहरं वपुः पुपोष ॥ ३२ ॥

अन्वयः—रघुः क्रमात् यौवनभिन्नशैशवः (सन्) महोक्षतां स्पृशन् वत्सरः इव द्विपेन्द्रभावं श्रयन् कलभः इव गाम्भीर्यमनोहरं वपुः पुपोष ।

हिन्दी—शनैः शनैः बचपन दूर होने पर जवान हो रहे राजकुमार रघु महान् वृषभ (सांड़) होने वाला गो-वत्स की भाँति, तथा महान् गजत्व को प्राप्त करने वाला हाथी के बच्चा की भाँति गम्भीरता से युक्त मनोरम हृष्ट-पुष्ट शरीर को धारण करने लगे ॥ ३२ ॥

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद् गुरुः ।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः ॥३३॥

सञ्जी०—अथेति । 'गौर्नाऽऽदित्ये बलीवर्दे क्रतुभेदर्षिभेदयोः । स्त्री तु स्याद् दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि । पुंस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमसु ॥' इति केशवः । गावो लोमानि केशा दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या गोदानं नाम ब्राह्मणादीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्त्तव्यं केशान्ताख्यं कर्मोच्यते । तदुक्तं मनुना-'केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते । राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥' इति । अथ गुरुः पिता 'गुरुर्गीष्पतिपित्रादौ' इत्यमरः । अस्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयत् । कृतवानित्यर्थः । अथ नरेन्द्रकन्यास्तं रघुम् । दक्षस्य सुता रोहिण्यादयस्तमोनुदं चन्द्रमिव । 'तमोनुदोऽग्निचन्द्रार्काः' इति विश्वः । सत्पतिमवाप्याबभुः रघुरपि तमोनुद् । अत्र मनुः—'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् । अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥' इति ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अथ गुरुः अस्य गोदानविधेः अनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयत् । नरेन्द्रकन्याः तं दक्षसुताः तमोनुदम् अवाप्य आबभुः ।

हिन्दी –युवावस्था प्राप्त होने पर दिलीपने राजकुमार रघु के केशान्त संस्कार कर चुकने के वाद उसका राज-कुमारियों के साथ (महाराजोचित) बहुविवाह-संस्कार भी करा दिया । वे राज कुमारियाँ भी रघु जैसे प्रतापी सज्जन पति को प्राप्त करके वैसे ही सुशोभित और हर्षित हुई, जैसे अन्धकार को भगाने वाले चन्द्रमा को पाकर प्रजापति की रोहण्यादि कन्यायें सुशोभित और हर्षित हुई थीं ॥ ३३ ॥

युवा युगव्यायतवाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ।
वपुःप्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथाऽपि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—युवेति । युवा । युगो नाम धुर्यस्कन्धगः सच्छिद्रप्रान्तो यानाङ्गभूतो दारुविशेषः । 'यानाङ्गे युगः पुंसि युगं कृतादिषु' इत्यमरः । 'युगवद् व्यायतौ दीर्घौ बाहू यस्य सः । अंसावस्य स्त इत्यंसलो बलवान् मांसलश्चेति वृत्तिकारः । 'बलवान् मांसलोंऽसलः' इत्यमरः । 'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति

लच्प्रत्ययः। कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरो विशालग्रीवः। 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः। रघुर्वपुषः प्रकर्षादाधिक्याद्यौवनकृताद् गुरुं पितरमजयत्। तथाऽपि विनयान्नम्रत्वेन नीचैरल्पकोऽदृश्यत। अनेनानौद्धत्यं च विवक्षितम्।

अन्वयः—युवा युगव्यायतबाहुः अंसलः, कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः रघुः वपुःप्रकर्षात् गुरुम् अजयत् तथापि विनयात् नीचैः अदृश्यत॥ ३४॥

हिन्दी—राजकुमार रघु ने युवा होने पर गाड़ी के जुए के समान अपनी लम्बी लम्बी भुजाओं से, बल से, किवाड़ की तरह चौड़ी छाती से तथा विशाल ग्रीवा की अधिकता से यद्यपि, अपने पिता राजा दिलीप को जीत लिया था (उनसे अधिक प्रभावशाली विशालकाय दीख पड़ते थे) फिर भी विनय से छोटे ही दीख रहे थे (पिता की विनम्रता को अभी पार नहीं कर सके थे)॥ ३४॥

ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम्।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्॥३५॥

सञ्जी०—तत इति। तत आत्मना चिरं धृतां नितान्तगुर्वीम्। 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीष्। प्रजानां धुरं पालनप्रयास लघयिष्यता लघुं करिष्यता 'तत्करोति तदाचष्टे' इति मघशब्दाण्णिच्। ततो 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः। नृपेण दिलीपेनासौ रघुर्निसर्गेण स्वभावेन संस्कारेण शास्त्राभ्यासजनितवासनया च विनीतो नम्र इति हेतोः। युवराज इति शब्दं भजतीति तथोक्तः। 'भजोण्विः' इति ण्विप्रत्ययः। चक्रे कृतः। 'द्विविधो विनयः स्वाभाविकः कृत्रिमश्च' इति कौटिल्यः। तदुभयसम्पन्नत्वात् पुत्रं युवराजं चकारेत्यर्थः। अत्र कामन्दकः 'विनयोपग्रहान्भूत्यै कुर्वीत नृपतिः सुतान्। अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते॥ विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येऽभिषेचयेत्॥' इति॥ ३५॥

अन्वयः—ततः आत्मना चिरं धृतां नितान्तगुर्वीम् प्रजानां धुरं लघयिष्यता नृपेण असौ निसर्गसंस्कारविनीतः, इति युवराजशब्दभाक् चक्रे।

हिन्दी—राजकुमार रघु को पूर्ण युवत्व प्राप्त होने पर स्वयं बहुत दिनों से धारण किए हुए प्रजापालन रूप गुरुतर भार को हल्का करने के उद्देश्य से

राजा दिलीप ने राजकुमार रघु को स्वभाव और शास्त्राभ्यास करने से अति विनीत समझकर युवराज पद से विभूषित कर दिया ॥ ३५ ॥

नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीर्युवराजसंज्ञितम् ।
अगच्छदंशेन गुणाभिलाषिणी नवावतारं कमलादिवोत्पलम् ॥ ३६ ॥

सञ्जी०—नरेन्द्रेति । गुणान्विनयादीन्सौरभ्यादींश्चाभिलषतीति गुणाभिलाषिणी श्री राज्यलक्ष्मीः पद्माश्रया च नरेन्द्रो दिलीप एव मूलायतनं प्रधानस्थानं तस्मात् । अपादानात् । अनन्तरं सन्निहितम् । युवराज इति संज्ञास्य सञ्जाता युवराजसंज्ञितम् । तारकादित्वादितच्प्रत्ययः । आत्मनः पदं स्थानमास्पदम् । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । स रघुरित्यास्पदं तदास्पदम् । कमलाच्चिरोत्पन्नात् नवावतारमचिरोत्पन्नमुत्पलमिव । अंशेनागच्छत् । स्त्रियो हि यूनि रज्यन्त इति भावः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—गुणाभिलाषिणी श्री नरेन्द्रमूलायतनात् अनन्तरं युवराजसंज्ञितं तदास्पदं कमलात् नवावतारम् उत्पलमिव अंशेन अगच्छत् ।

हिन्दी—जिस प्रकार कमल की श्री (शोभा) पुराने मुरझाये कमल को छोड़कर नये प्रफुल्लित कमल पर चली जाती है, उसी प्रकार युवराज रघु के विनयादि गुणों से आकृष्ट होकर रघु-कुल की राज्य-श्री वृद्ध (पुराने) राजा दिलीप को छोड़कर नवीन युवराज रघु के पास एक अंश से चली गयी (रघु की कान्ति दिलीप से भी अधिक आकर्षक होने लगी) ॥ ३६ ॥

विभावसुः सारथिनेव वायुना घनव्यपायेन गभस्तिमानिव ।
बभूव तेनातितरां सुदुःसहः कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः ॥ ३७ ॥

सञ्जी०—विभावसुरिति । सारथिना सहायभूतेन । एतद्विशेषणमुत्तरवाक्येष्वप्यनुषञ्जनीयम् । वायुना विभावसुर्वह्निरिव । 'सूर्यवह्नी विभावसू' इत्यमरः । घनव्यपायेन शरत्समयेन सारथिना गभस्तिमान् सूर्य इव । कटो गण्डः । 'गण्ड कटो मदो दानम्' इत्यमरः । तस्य प्रभेदः स्फुटनम् । महोदय इत्यर्थः । तेन करीव पार्थिवो दिलीपस्तेन रघुणाऽतितरामत्यन्तं सुदुःसहः सुष्ठ्वसह्यो बभूव ॥ ३७ ॥

अन्वयः—सारथिना वायुना विभावसुः इव घनव्यपायेन गभस्तिमानिव कटप्रभेदेन करी इव पार्थिवः सारथिना तेन अतितरां सुदुःसहः बभूव ।

हिन्दी—(आग लगने पर) हवा की सहायता से (तेज हवा चलने से) अग्नि जैसे प्रचण्ड हो जाती है, शरद्ऋतु में मेघ से रहित आकाश पाकर सूर्य जैसे प्रखर किरण वाला हो जाता है, और गजकपोल से मद बहने पर हाथी जैसे प्रचण्ड मतवाला हो जाता है, उसी प्रकार प्रतापी पुत्र रघु को पाकर राजा दिलीप भी शत्रुओं के लिए महाप्रतापी—अजेय बन गये ॥ ३७ ॥

नियुज्य तं होमतुरङ्गरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम् ।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः ॥ ३८ ॥

मञ्जी०—नियुज्येति । शतक्रतुरिन्द्र उपमा यस्य स शतक्रतूपमः स दिलीपः । 'शतं वै तुल्या राजपुत्रा देवा आशापालाः' इत्यादिश्रुत्या । राजसुतैरनुद्रुतमनुगतं धनुर्धरं तं रघुं होमतुरङ्गाणां रक्षणे नियुज्य । एकेन क्रतुनाऽपूर्णमेकोनं क्रतूनामश्वमेधानां शतमपविघ्नमपगतविघ्नं यथा यथाऽऽप ॥३८॥

अन्वयः—शतक्रतूपमः स; राजसुतैः अनुद्रुतं धनुर्धरं तं होमतुरङ्गरक्षणे नियुज्य एकेन अपूर्णं क्रतूनां शतम् अपविघ्नं यथा स्यात् तथा आप ।

हिन्दी—इन्द्रके समान उन राजा दिलीप ने अन्यान्य राजपुत्रों से अनुशरण किये गये धनुर्धारी युवराज रघु को होम (अश्वमेध यज्ञ) सम्बन्धी घोड़ों की रक्षा में नियुक्त करके निर्विघ्नपूर्वक एक कम सौ अर्थात् ९९ अश्वमेध यज्ञों को पूरा कर लिया था ॥ ३८ ॥

ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरङ्गमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः ।
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः ॥ ३९ ॥

मञ्जी०—तत इति । ततः परमेकोनशतक्रतुप्राप्त्यनन्तरं यज्वना विधिनेष्टवता तेन दिलीपेन पुनः पुनरपि मखाय मखं कर्त्तुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य' इत्यादिना चतुर्थी । उत्सृष्टं मुक्तमनर्गलमप्रतिबन्धम् । अव्याहतस्वैरगतिमित्यर्थः । 'अपर्यावर्तयन्तोऽश्वमनुचरन्ति' इत्यापस्तम्बस्मरणात् । तुरङ्गं धनुर्भृतां रक्षिणां रक्षकाणामग्रत एव शक्रो गूढविग्रहः सन् । जहार किल । किलेत्यैतिह्यम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—ततः परं यज्वना तेन पुनः मखाय उत्सृष्टम् अनर्गलं तुरङ्गं धनुर्भृतां रक्षिणाम् अग्रतः एव शक्रः गूढविग्रहः (सन्) जहार किल ।

हिन्दी—९९ यज्ञ पूरा करने के बाद विधिपूर्वक (यथाशास्त्रोक्त) यज्ञ करने वाले राजा दिलीप ने सौवाँ अश्वमेध यज्ञ पूरा करने के निमित्त सौवें घोड़े को छोड़ा। पर शतक्रतु देवराज इन्द्र से यह सहन नहीं किया गया। (द्र० श्लो० ४९) उन्होंने छिप कर (अदृश्य शरीर वाले होकर) उन धनुर्धारी अश्वरक्षक सैनिकों के सामने से ही उस विश्वविजयी घोड़े को चुरा लिया—(और उसे लेकर अमरावती की ओर चल पड़े)॥ ३९॥

विषादलुप्तप्रतिपत्तिविस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत्।
वसिष्ठधेनुश्च यदृच्छयागता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥४०॥

सञ्जी०—विषादेति। तत् कुमारस्य सैन्यं सेना सपदि। विषादः इष्ट-नाशकृतो मनोभङ्गः। तदुक्तम्—'विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः' इति। तेन लुप्ता प्रतिपत्तिः कर्त्तव्यज्ञानं यस्य तत्तथोक्तम्। विस्मितमश्व-नाशस्याकस्मिकत्वादाश्चर्याविष्टं सत्। स्थितं तस्थौ। अथ श्रुतप्रभावा यदृच्छया स्वेच्छयाऽऽगता, रघोः स्वप्रसादलब्धत्वादनुजिघृक्षयेति भावः। नन्दिनी नाम। वसिष्ठधेनुश्च ददृशे। द्वौ चकाराववलिम्बसूचकौ ॥ ४० ॥

अन्वयः—तत् कुमारसैन्यं सपदि विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मितं च स्थितम्, अथ च श्रुतप्रभावा यदृच्छया आगता नन्दिनीनाम वसिष्ठधेनुः ददृशे।

हिन्दी—शिविर से घोड़े के (इन्द्र द्वारा) एकाएक गायब हो जाने पर किंकर्तव्यविमूढ आश्चर्यचकित राजकुमार रघु की सेना तत्क्षण स्तब्ध हो उठी कि इतने में ही प्रख्यात प्रभाव वाली अर्थात् जिसके प्रभाव को अपने राजा दिलीप से सैनिक सुन चुके थे, उस महर्षि वसिष्ठ की नन्दिनी नामकी गौ को सैनिकों ने सहसा वहाँ उपस्थित देखा ॥ ४० ॥

तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम्।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—तदङ्गेति। सतां पुरस्कृतः पूजितो दिलीपनन्दनो रघुः पुण्येन तस्या नंदिन्या यदंगं तस्य निस्यन्दो द्रवः स एव जलम् मूत्रमित्यर्थः। तेन लोचने प्रमृज्य शोधयित्वा। अतीन्द्रियेष्विन्द्रियाण्यतिक्रान्तेषु। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः। द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु परव-

लिङ्गताप्रतिषेधाद्विशेष्यनिघ्नत्वम्। भावेष्वपि वस्तुषूपपन्नदर्शनः सम्पन्नसाक्षात्कारशक्तिर्बभूव ॥ ४१ ॥

अन्वयः—सतां पुरस्कृतः दिलीपनन्दनः पुण्येन तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य अनिन्द्रियेषु भावेषु अपि उपपन्नदर्शनः बभूव।

हिन्दी—सज्जनों से प्रशंसित महाराज दिलीप के पुत्र उस सेना के नायक युवराज रघु ने (एकाएक उपस्थित उस) नन्दिनी के मूत्र से तुरन्त अपनी आँखों को धो डाला, इससे उन्हें अपनी आँखों से न भी दीखने वाले पदार्थों को देखने की शक्ति मिल गयी ॥ ४१ ॥

स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसम्भवः।
पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम् ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—स इति। नरदेवसम्भवः स रघुः पुनः पुनः सूतेन निषिद्धचापलं निवारितौद्धत्यं रथस्य रश्मिभिः प्रग्रहैः। 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः। संयतं बद्धमश्वं हरन्तं पर्वतपक्षाणां शातनं छेदकं देवमिन्द्रं पूर्वतः पूर्वस्यां दिशि ददर्श ॥ ४२ ॥

अन्वयः—नरदेवसम्भवः सः पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं रथरश्मिसंयतम् अश्वं हरन्तं पर्वतपक्षशातनं देवं पूर्वतः ददर्श।

हिन्दी—नन्दिनी-गोमुत्र से आँखों को पोंछते ही—दिव्य दृष्टि वाले होकर—उस राजकुमार रघु ने इन्द्र के सारथि द्वारा जिसके वेग को बार-बार रोका जा रहा था और जो रथ की डोरी से कसकर बँधा हुआ था ऐसे अपने अश्वमेध के घोड़े को चुराकर ले जाते हुए पर्वतों के पंखों को काटने वाले इन्द्रदेव को पूर्व दिशा में देखा (पर्वतों को पहले पंख होते थे।) ॥४२॥

शतैस्तमक्ष्णामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः।
अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्तयन्निव ॥ ४३ ॥

सञ्जी०—शतैरिति। रघुस्तमश्वहर्त्तारमनिमेषवृत्तिभिर्निमेषव्यापारशून्यैरक्ष्णां शतैर्हरिभिर्हरिद्वर्णैः। 'हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरित्कपिलवर्णयोः' इति विश्वः। वाजिभिरश्वैश्च हरिमिन्द्रं विदित्वा। हरिर्वातार्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु' इति विश्वः। एनमिन्द्रं गगनस्पृशा व्योमव्यापिना धीरेण गम्भीरेण स्वरेण ध्वनिनैव निवर्त्तयन्निवावोचत् ॥ ४३ ॥

देवेन्द्रो रघुप्रभावात् सविस्मयः सन्। रथं निवर्त्तयामास। उत्तरं प्रतिवक्तुं, प्रचक्रमे च।

अन्वयः—इति रघुणा समीरितं प्रगल्भं वचः निशम्य दिवौकसाम् अधिपतिः सविस्मयः (सन्) रथं निवर्तयामास उत्तरं च प्रतिवक्तु प्रचक्रमे।

हिन्दी—(हे इन्द्र ! यज्ञीय घोड़े को चुराना देवेन्द्र के लिये उचित नहीं है) रघु के ऐसे पूर्वोक्त सयुक्तिक वचनों को सुन कर देवेन्द्र को बड़ा ही आश्चर्य हुआ, और वे अपने स्वर्गगामी रथ को रघु की ओर घुमाकर रघु के वचनों के उत्तर देने लगे ॥ ४७ ॥

यदात्थ राजन्यकुमार ! तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः ॥४८॥

सञ्जी०—यदिति। हे राजन्यकुमार ! क्षत्रियकुमार ! 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः। यद्वाक्यमात्थ ब्रवीषि। 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' इत्यनेनाहादेशः। तत्तथा सत्यम्। किं तु यशोधनैरस्मादृशैः परतः शत्रुतो यशो रक्ष्यम्। ततः किमत आह—भवद्गुरुस्त्वत्पिता जगत्प्रकाशं लोकप्रसिद्धमशेषं सर्वं मम तद्यशः शतक्रतुरूपः इज्यया यागेन लङ्घयितुं तिरस्कर्तुमुद्यत उद्युक्तः।

अन्वयः—राजन्यकुमार ! यद् आत्थ तत् तथा तु यशोधनैः परतः यशः रक्ष्यं भवद्गुरुः जगत्प्रकाशम् अशेषं मम तद् इज्यया लङ्घयितुम् उद्यतः।

हिन्दी—इन्द्र ने रथ घुमाकर कहा—हे क्षत्रियकुमार युवराज रघु ! तुम जो कुछ कह रहे हो सो ठीक है, पर, यश को ही सम्पत्ति मानने वाले मेरे ऐसे लोगों को शत्रुओं से अपने यश की रक्षा करना भी तो धर्म है ? इस लिए हे रघु ! तुम्हारे पिता राजा दिलीप विश्वप्रख्यात, 'शतक्रतु' नाम से एकमात्र मेरी प्रसिद्धि को सौवाँ अश्वमेध यज्ञ पूरा कर के छीनने के लिये उद्यत हैं। (मेरे रहते शतक्रतु बनने जा रहे हैं, क्या यह ठीक है ?) ॥ ४८ ॥

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः।
तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी नहि शब्द एष नः ॥४९॥

सञ्जी०—हरिरिति। पुरुषेषूत्तम इति सप्तमीसमासः। 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासनिषेधात्। कर्मधारये तु 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' इत्युत्तमपुरुष इति स्यात्। यथा हरिर्विष्णुरेक एव पुरुषोत्तमः स्मृतः। यथा च त्र्यम्बकः शिव एव महेश्वरः स्मृतः। नापरोऽपरः पुमान्न। तथा मां मुनयः शतक्रतुं विदुर्विदन्ति। 'विदो लटो वा' इति झेर्जुसादेशः। नोऽस्माकम्। हरिहरयोर्मम चेत्यर्थः। एष त्रितयोऽपि शब्दो द्वितीयगामी एकं विहाय अन्यगामी नहि। द्वितीयातत्पुरुषप्रकरणे 'गम्यादीनामुपसङ्ख्यानम्' इति समासः।

अन्वयः—यथा हरिः एकः पुरुषोत्तमः स्मृतः (तथा च) त्र्यम्बकः एव महेश्वरः (स्मृतः) न अपरः तथा मां मुनयः शतक्रतुं विदुः नः एषः शब्दः द्वितीयगामी नहि।

हिन्दी—इन्द्र ने कहा—हे रघु!—जिस प्रकार केवल विष्णु ही पुरुषोत्तम कहे जाते हैं तथा केवल त्र्यम्बक (तीन नेत्रों वाले) महादेव ही कहे जाते हैं—दूसरा कोई नहीं, उसी प्रकार मुनिगण केवल मुझे ही शतक्रतु (सौ अश्वमेध यज्ञ करने वाला) कहते हैं। हमलोगों के ये यथाक्रम तीनों शब्द (विरुदावली) दूसरों के लिये नहीं है॥ ४९॥

अतोऽयमश्वः कपिलानुकरणा पितुस्त्वदीयस्य मयाऽपहारितः।
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य सन्ततेः॥५०॥

सञ्जी०—अत इति। यतोऽहमेव शतक्रतुरतस्त्वदीयस्य पितुरयं शततमोऽश्वः कपिलानुकारिणा कपिलमुनितुल्येन मयाऽपहारितोऽपहृतः। अपहारित इति स्वार्थेणिच्। तवात्राश्वे प्रयत्नेनालम्। प्रयत्नो मा कार्षीरित्यर्थः। निषेध्यस्य निषेधं प्रति करणत्वात् तृतीया। सगरस्य राज्ञः सन्ततेः सन्तानस्य पदव्यां पदं मा निधा न निधेहि। निपूर्वाद्धाधातोर्लुङ्। 'न माङ् योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः। महदास्कन्दनं ते विनाशमूलं भवेदेति भावः।

अन्वयः—अतः त्वदीयस्य पितुः अयम् अश्वः कपिलानुकारिणा मया अपहारितः तव अत्र प्रयत्नेन अलं सगरस्य सन्ततेः पदव्यां पदं मा निधाः।

हिन्दी—इन्द्र ने कहा हे रघु! मैं ही केवल शतक्रतु नाम से प्रख्यात हूँ इसलिए तुम्हारे पिता के अश्वमेध यज्ञ के इस घोड़े को कपिल मुनि के तुल्य

मैंने (जैसे वहाँ किया था ऐसे यहाँ भी) हरण कर लिया है। मुझसे इस घोड़े को छुड़ाने के विषय में तुम्हारा प्रयत्न व्यर्थ है। अतः तुम (अपने पूर्वज राजा) सगर के (साठ हजार) पुत्रों के मार्ग में पैर मत रखो—(उनका अनुसरण मत करो, नहीं तो उनके समान तुम भी नष्ट हो जाओगे)। ॥ ५० ॥

ततः प्रहस्यापभयः पुरन्दरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥५१॥

सञ्जी०—तत इति। ततस्तुरगस्य रक्षिता रघुः प्रहस्य प्रहासं कृत्वा। अपभयो निर्भीकः सन्। पुनः पुरन्दरं बभाषे। किमिति–हे देवेन्द्र ! यद्येषोऽश्वामोचनरूपस्ते तव सर्गो निश्चयः। 'सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु' इत्यमरः। तर्हि शस्त्रं गृहाण। भवान् रघुं मामनिर्जित्य। कृतमनेनेति कृती। कृतकृत्यो न खलु। 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्ययः। रघुमित्यनेनात्मनो दुर्जयत्वं सूचितम्।

अन्वयः—ततः तुरगस्य रक्षिता प्रहस्य अपभयः (सन्) पुनः पुरन्दरं बभाषे, (हे देवेन्द्र !) यदि एषः ते सर्गः (तर्हि) शस्त्रं गृहाण भवान्, (यतः) रघुम् अनिर्जित्य कृती न खलु।

हिन्दी—('राजा सगर के पुत्रों का अनुकरण मत करो' ऐसा इन्द्र के व्यंग्य वचन कहने पर अश्वमेध के विजयी घोड़े के रक्षक महापराक्रमी राजकुमार रघु आवेश में आगये—उनमें प्रतिशोध की भावना जग उठी, उन्होंने निर्भीकता पूर्वक अट्टहास करते हुए रोषपूर्ण शब्दों में कहा)—देवेन्द्र ! 'यदि घोड़े को न छोड़ना ही आपका निश्चय है, तो शस्त्र ग्रहण कर लीजिये, क्योंकि मुझे पराजित किये बिना आप घोड़े को ले जाने में सफल नहीं हो सकते ॥ ५१ ॥

स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरं शरासनम्।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः ॥५२॥

सञ्जी०—स इति। स रघुरुन्मुखः सन्। मघवन्तमिन्द्रमेवमुक्त्वा शरासनं चापं सशरं करिष्यमाणः आलीढेनालीढाख्येन स्थानभेदेन विशेष-

शोभिनाऽतिशयशोभिना वपुःप्रकर्षेण देहौन्नत्येन विडम्बितेश्वरोऽनुसृतपिनाकी सन्। अतिष्ठत्। आलीढलक्षणमाह यादवः—'स्थानानि धन्विनां पञ्च तत्र वैशाखमस्त्रियाम्। त्रिवितस्त्यन्तरौ पादौ मण्डलं तोरणाकृति॥ अन्वर्थं स्यात्यसम्पदमालीढं तु ततोऽग्रतः। दक्षिणे वाममाकुञ्च्य प्रत्यालीढविपर्ययः' इति।

अन्वयः—सः उन्मुखः (सन्) मघवन्तम् एवम् उक्त्वा शरासनं सशरं करिष्यमाणः आलीढविशेषशोभिना वपुः प्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः (सन्) अतिष्ठत्।

हिन्दी—'हे देवेन्द्र ! मुझे पराजित किये बिना आप यज्ञाश्व को नहीं ले जा सकते' यह कह कर वह राजकुमार रघु आकाश की ओर देखते हुए धनुष पर बाण चढ़ा कर पिनाकप्रहारी प्रचण्ड भेषधारी भगवान् शंकर की तरह तनकर युद्धोचित पादन्यास करके खड़े हो गये (और कसकर इन्द्रके ऊपर बाण छोड़ने लगे)॥ ५२॥

रघोरवष्टम्भमयेन पत्रिणा हृदि क्षतो गोत्रभिदप्यमर्षणः।
नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने धनुष्यमोघं समधत्त सायकम्॥ ५३॥

सञ्जी०—रघोरिति। रघोरवष्टम्भमयेन स्तम्भरूपेण। 'अवष्टम्भः, सुवर्णे च स्तम्भप्रारम्भयोरपि' इति विश्वः। पत्रिणा बाणेन हृदि हृदये क्षतो विद्धः अत एवामर्षणोऽसहनः क्रुद्ध इत्यर्थः, गोत्रभिदिन्द्रोऽपि। 'सम्भावनीये चौरेऽपि गोत्रः क्षोणीधरे मतः' इति विश्वः। नवाम्बुदानामनीकस्य वृन्दस्य मुहूर्तं क्षणमात्रं लाञ्छने चिह्नभूते धनुषि। दिव्ये धनुषीत्यर्थः। अमोघमवन्ध्यं सायकं बाणं समधत्त संहितवान्।

अन्वय,—रघोः अवष्टम्भमयेन पत्रिणा हृदि क्षतः (अत एव) अमर्षणः गोत्रभिद् अपि नवाम्बुदानीकमुहूर्तलाञ्छने धनुषि अमोघं सायकं समधत्त।

हिन्दी—रघु के स्तम्भरूप अव्यर्थ बाण से जब इन्द्र का वक्षःस्थल विंध गया (क्षत-विक्षत हो गया) तब पर्वतों को भी भेदन करने वाले देव-राज इन्द्रने क्रोधित होकर गरजते तथा चमकते हुए प्रलयकारी भयंकर नवीन मेघसमूह के समान रूप को धारण करके उन्होंने भी अपने धनुष पर अमोघ (न व्यर्थ होने वाले) बाण को चढ़ा लिया (और रघु के ऊपर छोड़ दिया।

यहाँ इन्द्र प्रलयकारी बादल बनकर गरजते हुए बाणवृष्टि करते हैं तो रघु उस बादल की विद्युल्लता के समान रणस्थल में चमक उठते हैं। द्र० श्लो० ५८)॥ ५३॥

दिलीपसूनोः स बृहद् भुजान्तरं प्रविश्य भीमासुरशोणितोचितः।
पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥५४॥

सञ्जी०—दिलीपेति। भीमानां भयङ्कराणामसुराणां शोणिते रुधिरे उचितः परिचितः स इन्द्रमुक्त आशुगः सायको दिलीपसूनोः रघोर्बृहद्विशालं भुजान्तरं वक्षः प्रविश्य अनास्वादितपूर्वं पूर्वमनास्वादितम्। सुप्सुपेति समासः। मनुष्यशोणितं कुतूहलेनेव पपौ।

अन्वयः—भीमासुरशोणितोचितः सः आशुगः दिलीपसूनोः बृहद् भुजान्तरं प्रविश्य अनास्वादितपूर्वं मनुष्यशोणितं कुतूहलेन इव पपौ।

हिन्दी—(इन्द्र के द्वारा रघु के ऊपर छोड़े गये)—भयंकर दैत्यों के रक्तपान करने में प्रख्यात उस बाण ने राजकुमार रघु के वक्षःस्थल में घुसकर जिस मानव रक्त का कभी स्वाद नहीं पाया था, महामानव-योद्धा वीर रघु के रक्त को बड़े चाव से पीने लगा॥ ५४॥

हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥५५॥

सञ्जी०—हरेरिति। कुमारस्य स्कन्दस्य विक्रम इव विक्रमो यस्य स तथोक्तः। 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य—' इत्यादिना समासः। कुमारोऽपि रघुरपि, सुरद्विपस्यैरावतस्यास्फालनेन कर्कशा अङ्गुलयो यस्य स तस्मिन्। शच्याः पत्रविशेषकैरङ्किते शचीपत्रविशेषकाङ्किते हरेरिन्द्रस्य भुजे स्वनामचिह्नं स्वानामाङ्कितं सायकं निचखान निखातवान्। निष्कण्टकराज्यमाप्तस्यायं महानविभव इति भावः।

अन्वयः—कुमारविक्रमः कुमारः अपि सुरद्विपास्फालनकर्कशांगुलौ शचीपत्रविशेषाङ्किते हरेः भुजे स्वनामाङ्कितं सायकं निचखान।

हिन्दी—इन्द्र के अमोघास्त्र से व्यथित होने पर—कार्तिकेय के समान महापराक्रमी राजकुमार रघु ने भी स्वर्गलोक के महादिग्गज ऐरावत हाथियों

के ऊपर शस्त्रप्रहार से जिसकी अंगुलियाँ कर्कश हो गयी हैं तथा गाढालिङ्गन से इन्द्राणी के मस्तक के तिलक-बिन्दु के चिह्न जिसमें पड़ गये हैं, ऐसे देवेन्द्र के बाहुद्वय (के बीच) में अपने (रघु) नामांकित प्रथम बाण को गाड़ दिया (और फिर–) ॥ ५५ ॥

(इस श्लोक के वीररस को कवि ने शृंगार-सरिता का सरोज बना दिया है)

जहार चान्येन मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम् ।
चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—जहारेति । अन्येन मयूरपत्रिणा मयूरपत्रवता शरेण शक्रस्येन्द्रस्य महाशनिध्वजं महान्तमशनिरूपं ध्वजं जहार चिच्छेद च । स शक्रः । सुरश्रियः प्रसह्य बलात्कृत्य केशानां व्यपरोपणादवतारणाच्छेदनादिव । तस्मै रघवे भृशमत्यर्थं चुकोप । तं हन्तुमियेषेत्यर्थः । 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयाऽर्थानां यं प्रति कोपः' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ।

अन्वयः—अन्येन च मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजं जहार (तदा) स सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणात् इव तस्मै भृशं चुकोप ।

हिन्दी—राजकुमार रघु ने प्रथम बाण से पहले इन्द्र के वक्षःस्थल को चीर डाला और जब दूसरे बाण से इन्द्र के रथ के वज्र-चिह्नांकित महाध्वज को भी काट डाला, तब इन्द्र देवताओं की लक्ष्मी के केशपाशों को हठात् काट लेने पर कुपित होने की तरह (रथध्वज के कट जाने पर) रघु के ऊपर अत्यन्त कुपित हो उठे (रघु को मार डालना ही चाहे) ॥ ५६ ॥

तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः ।
बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्त्रिभिः ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—तयोरिति । जयैषिणोरन्योऽन्यजयाकांक्षिणोस्तयोरिन्द्ररघ्वोः । गरुत्मन्तः । पक्षवन्तः । 'गरुत्पक्षच्छदाः पत्त्रम्' इत्यमरः । आशीविशा । आशिषि दंष्ट्रायां विषं येषां ते आशीविषाः सर्पाः । पृषोदरादित्वात्साधु । 'स्त्री त्वाशीर्हिताशंसाऽहिदंष्ट्रयोः' इत्यमरः । त इव भीमदर्शनाः । सपक्षाः । सर्पा इव द्रष्टॄणां भयावहा इत्यर्थः । तैरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च । धन्विनोरुपर्यधोदेशावस्थितत्वादिति भावः पत्त्रिभिर्बाणैरुपान्तस्थितास्तटस्थाः सिद्धा देवा इन्द्रस्य, सैनिकाश्च रघोर्यस्मिंस्तत्तथोक्तं तुमुलं संकुलं युद्धं बभूव ।

अन्वयः—जयैषिणोः तयोः गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः अधोमुखैः ऊर्ध्वमुखैश्च पत्त्रिभिः उपान्तस्थितसिद्धसैनिकं तुमुलं युद्धं बभूव।

हिन्दी—रघु के बाण से इन्द्रध्वज कट जाने पर—परस्पर विजयाभिलाषी इन्द्र और रघु के पंखयुक्त उड़ने वाले सर्प के समान भयावह रघु के ऊर्ध्वगामी और इन्द्र के अधोगामी बाणों से इन्द्र के समीपवर्ती आकाशस्थ सिद्धों (देवयोनि-विशेषों) और रघु के समीपवर्ती भूमिस्थ सैनिकों के समक्ष घोर संग्राम होने लगा ।। ५७ ।।

अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः ।
शशाक निर्वापयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरम्बुदः ।।५८।।

सञ्जी० —अतिप्रबन्धेति । वासवोऽतिप्रबन्धेनातिसातत्येन प्रहिताभिः प्रयुक्ताभिरस्त्रवृष्टिभिर्दुष्प्रसहस्य दुःखेन प्रसह्यत इति दुष्प्रसहं तस्य । दुःखेनाप्यसह्यस्येत्यर्थः । तेजसः प्रतापस्याश्रयं तं रघुम् । अम्बुदोऽद्भिः स्वतश्च्युतं निर्गतं वह्निमिव । निर्वापयितुं न शशाक । रघोरपि लोकपालात्मकत्वेनेन्द्रांशसम्भवत्वादिति भावः ।

अन्वयः—वासवः अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिः दुष्प्रसहस्य तेजसः आश्रयम् तम् अम्बुदः अद्भिः स्वतः च्युतं वह्निम् इव निर्वापयितुं न शेके ।

हिन्दी—इन्द्र रघु के उस घमासान युद्ध में देवेन्द्र से अत्यन्त सावधानीपूर्वक छोड़े गये बाणों की वर्षा में (बाणों के बीच) रणस्थल में पृथिवीपर विद्युल्लता के समान अति देदीप्यमान (तेजस्वी) उस नन्दिनी-वरद पुत्र रघु को इन्द्र उसी प्रकार तेजोहत न कर सके जिस प्रकार घनघोर वृष्टि के समय मेघ से ही उत्पन्न विद्युल्लता (विद्युताग्नि) को मेघ बुझा नहीं सकता (प्रत्युत मेघ की गड़गड़ाहट सुनकर और चमक उठती है । द्र० श्लो ५३)

(मेघ—विद्युत् का दृष्टान्त यहाँ इसलिये है कि विद्युत् मेघ के गड़गड़ाहट से ही उत्पन्न होती है, अतः मेघ जैसे उसके तेज को नाश नहीं करता, उसी तरह राजकुमार रघु लोकपालों के अंशों से ही उत्पन्न हुए हैं—लोकपालों में इन्द्र भी हैं—द्र० सर्ग २ श्लो ७५) ।। ५८ ।।

ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघुः शशाङ्कार्द्धमुखेन पत्त्रिणा शरासनज्यामलुनाद्बिडौजसः ।।५९।।

सञ्जी०—तत इति। ततो रघुर्हरिचन्दनाङ्किते प्रकोष्ठे मणिबन्धे प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीं प्रमथ्यमानार्णव इव धीरं गम्भीरं नदतीति तां तथोक्ताम्। वेवेष्टि व्याप्नोतीति विड्, व्यापकमोजो यस्य सः, तस्य विडौजस इन्द्रस्य। पृषोदरादित्वात्साधुः। शरासनज्यां धनुर्मौर्वीम्। शशाङ्कस्यार्द्धः खण्ड इव मुखं फलं यस्य तेन पतत्रिणाऽलुनादच्छिनत्।

अन्वयः—ततः रघुः हरिचन्दनांकिते प्रकोष्ठे प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीं विडौजसः शरासनज्यां शशांकार्धमुखेन पतत्रिणा अलुनात्।

हिन्दी—इसके बाद रघु ने गोशीर्षाख्य कपिल वर्णके चन्दनविशिष्ट से प्रलिप्त प्रकोष्ठ (केहुनी से कलाई तक के निचले भाग) से मथे जाते हुए समुद्र के गम्भीर शब्द की तरह शब्द करने वाली इन्द्र के धनुष की डोरी को ही अर्धचन्द्राकार वाले अपने वाण से काट डाला॥ ५९॥

स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः।
महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे॥ ६०॥

सञ्जी०—स इति। विवृद्धमत्सरः प्रवृद्धवैरः स इन्द्रश्चापमुत्सृज्य प्रबलस्य विद्विषः शत्रोः प्रणाशनाय वधाय। महीं धारयन्तीति महीध्राः पर्वताः। मूलविभुजादित्वात् कप्रत्ययः। तेषां पक्षव्यपरोपणे उचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रं वज्रायुधमाददे जग्राह।

अन्वयः—विवृद्धमत्सरः सः चापम् उत्सृज्य प्रबलस्य विद्विषः प्रणाशनाय महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलम् अस्त्रम् आददे।

हिन्दी—रघु के बाण से धनुष की डोरी कट जाने पर—अत्यन्त कुपित इन्द्र ने उस भग्न धनुष को फेंक कर पर्वतों के पंखों को काटने में प्रख्यात तथा जिसके तेजःपुंज चारों ओर फैल रहे थे ऐसे वज्रसंज्ञक घातक अस्त्र को धारण कर लिया—रघु के ऊपर छोड़ दिया॥ ६०॥

रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः॥६१॥

सञ्जी०—रघुरिति। रघुस्तेन वज्रेण भृशमत्यर्थं वक्षसि ताडितो हतः सन्। सैनिकानामश्रुभिः सह भूमौ पपात। तस्मिन्पतिते रुरुदुरित्यर्थः। निमेष-

मात्रात्तद्व्यथां दुःखमवधूय तिरस्कृत्य सैनिकानां हर्षेण ये निःस्वना क्ष्वेडास्तैः सहोत्थितश्च । तस्मिन्नुत्थिते हर्षात् सिंहनादांश्चक्रुरित्यर्थः ।

अन्वयः—रघुः तेन वक्षसि भृशं ताडितः (सन्) सैनिकाश्रुभिः सह भूमौ पपात, (तु) निमेषमात्रात् तद्व्यथाम् अवधूय सैनिकहर्षनिःस्वनैः उत्थितश्च ।

हिन्दी—उस इन्द्र के वज्र-प्रहार से छाती में गहरे आघात का अनुभव करते हुए राजकुमार रघु को देख कर सैनिक रो पड़े और उस सैनिकाश्रु के साथ ही रघु जमीन पर गिर गये किन्तु क्षणमात्र में ही उस व्यथा को भूलकर धनुष को पुनः थामने लगे यह देख सैनिकों की हर्ष-ध्वनि गूंज उठी और उसके साथ ही रघु पुनः (तनकर) खड़े हो गये ॥ ६१ ॥

तथाऽपि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः ।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—तथाऽपीति । तथाऽपि वज्रपातेऽपि शस्त्राणामायुधानां व्यवहारेण व्यापारेण निष्ठुरे क्रूरे विपक्षभावे शात्रवे चिरं तस्थुषः स्थितवतोऽस्य रघोर्वीर्यातिशयेन । वृत्रं हतवानिति वृत्रहा । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' । तुतोष । स्वयं वीर एव वीरं जानातीति भावः । कथं शत्रोः सन्तोषोऽत आह-गुणैः सर्वत्र शत्रुमित्रोदासीनेषु पदमङ्घ्रिर्निधीयते । गुणैः सर्वत्र संक्रम्यत इत्यर्थः, गुणाः शत्रूनप्यावर्जयन्तीति भावः ।

अन्वयः—तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरं तस्थुषः अस्य वीर्यातिशयेन वृत्रहा तुतोष हि सर्वत्र गुणैः पदं निधीयते ।

हिन्दी—वज्राहत होने पर भी शस्त्र प्रयोग करने से निष्ठुर, तथा शत्रुभाव में बहुत देर से टिके हुए इस रघु के प्रकर्ष पराक्रम से वृत्रासुर को मारने वाले इन्द्र रघु पर प्रसन्न हो उठे, क्योंकि गुण ही सर्वत्र (शत्रु में भी) अपने पैर को जमा लेता है अर्थात् गुण से ही मनुष्य सर्वत्र आदर को प्राप्त करता है ॥ ६२ ॥

असङ्गमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम् ।
अवेहि मां प्रीतमृते तुरङ्गमात्किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—असङ्गमिति । सारवत्तयाऽद्रिष्वप्यसङ्गमप्रतिबन्धं मे आयुधं वज्रं त्वदन्येन न विसोढम् । अतो मां प्रीतं सन्तुष्टमवेहि । तुरङ्गमादृते तुरङ्गं वर्जयित्वा । 'अन्यारादितरर्त्ते' इति पञ्चमी । किमिच्छसीति स्फुटं वासव आह तुरङ्गमादन्यददेयं नास्तीति भावः ।

अन्वयः—सारवत्तया अद्रिष्वपि असङ्गं मे आयुधं त्वदन्येन न विसोढं मां प्रीतम् अवेहि तुरङ्गमात् ऋते किम् इच्छसि स्फुटं वासवः आह ।

हिन्दी—(रघु से पराजित होने की संभावना से पैतरा बदलते हुए इन्द्रने कहा, हे रघु !)—अति बलिष्ठ होने के कारण पर्वतों को भी वेधन करने वाला (पर्वत-पक्ष-घातक) मेरा वज्र आज तक तुम्हें छोड़ किसी दूसरे से नहीं सहा गया, इस लिये मैं तुम पर अति प्रसन्न हूँ, कहो रघु ! इस घोड़े को छोड़कर तुम क्या चाहते हो ? (मन-पसन्द वर माँग लो ?) ऐसा इन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में रघु से कहा ॥ ६३ ॥

ततो निषङ्गादसमग्रमुद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम् ।
नरेन्द्रसूनुः प्रतिसंहरन्निषुं प्रियंवदः प्रत्यवदत् सुरेश्वरम् ॥ ६४ ॥

सञ्जी०—तत इति । ततो निषङ्गात् तूणीरादसमग्रं यथा तथोद्धृतं सुवर्णपुंखद्युतिभी रञ्जिता अङ्गुलयो येन तमिषुं प्रतिसंहरन्निवर्त्तयन् । 'नाप्रहरन्तं प्रहरेदि'ति निषेधादिति भावः । प्रियं वदतीति प्रियंवदः । 'प्रियवशे वदः खच्' इति खचप्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदजन्तस्य' इत्यादिना मुमागमः । नरेन्द्रसूनू रघुः सुरेश्वरं प्रत्यवदत् न प्राहरदिति भावः ।

अन्वयः—ततः निषङ्गात् असमग्रम् उद्धृतं सुवर्णपुंखद्युतिरञ्जितांगुलिम् इषुं प्रतिसंहरन् प्रियंवदः नरेन्द्रसूनुः सुरेश्वरं प्रति अवदत् ।

हिन्दी—इसके बाद—(घोड़े को छोड़ कर जो भी चाहो वर मांग लो इन्द्र के ऐसा कहने पर)—घमासान युद्ध के समय तरकस से ऊपर उठ चुके हुए पर पूरे नहीं निकले तथा जिसकी स्वर्णरचित मुष्टिभाग की कान्ति से (वाण चलाते चलाते) अंगुलियां रंग गईं थीं ऐसे बाणों को पुनः पूर्ववत् (शान्त होकर) तरकस में खसकाते हुए प्रियवचन बोलनेवाले नरेन्द्रकुमार (रघु ने) देवेन्द्र से कहा ॥ ६४ ॥

अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि ।
अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्‌गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् ॥६५॥

सञ्जी०—अमोच्यमिति । हे प्रभो इन्द्र ! अश्वममोच्यं मन्यसे यदि ततस्तर्ह्यजस्रदीक्षायां प्रयतः स मद्‌गुरुर्मम पिता विधिनैव कर्मणि समाप्ते क्रतोर्यत्फलं तेन फलेनाशेषेण कृत्स्नेन युज्यतां युक्तोऽस्तु । अश्वमेधफललाभे किमश्वेनेति भावः ।

अन्वयः—प्रभो यदि अश्वम् अमोच्यं (इति) मन्यसे, ततः अजस्रदीक्षाप्रयतः सः मद्‌गुरुः विधिना एव कर्मणि समाप्ते अशेषेण क्रतोः फलेन युज्यताम् ।

हिन्दी—रघु ने कहा—हे प्रभो देवेन्द्र ! मेरे पिता के सौवें अश्वमेध यज्ञ के इस घोड़े को छोड़ने में यदि आप समर्थ नहीं हैं तो विकल्प पक्ष यही है कि—नित्य निरन्तर यज्ञादि सत्कर्म करने वाले मेरे पिता राजा दिलीप को सौवां अश्वमेध यज्ञ करने का जो फल होता है, वह संपूर्ण फल उन्हे प्राप्त हो जाय—(ऐसा वर दीजिये और—) ॥ ६५ ॥

यथा च वृत्तान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः ।
तवैव सन्देशहराद्विशांपतिः शृणोति लोकेश तथा विधीयताम् ॥६६॥

सञ्जी०—यथेति । सदोगतः सदोगृहं गतस्त्रिलोचनस्येश्वरस्यैकांशतयाऽष्टानामन्यतममूर्त्तित्वात् । दुरासदोऽस्मादृशैर्दुष्प्राप्यो विशांपतिर्यथेमं वृत्तान्तं तव सन्देशहराद्वार्त्ताहरादेव शृणोति च । हे लोकेशेन्द्र ! तथा विधीयताम् ।

अन्वयः—लोकेश ! सदोगतः त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः विशांपतिः यथा च इमं वृत्तान्तं तव सन्देशहरात् एव शृणोति तथा विधीयताम् ।

हिन्दी—रघुने कहा हे देवेन्द्र ! इस समय यज्ञमण्डप में उपस्थित शवांश को प्राप्त—शिवस्वरूप अत एव दुरासदत मनुजेश्वर मेरे पिता महाराज दिलीप, जिस प्रकार भी हो इस मेरे—आप के वृत्तान्त को आपके दूत द्वारा ही सुनें ऐसा आप करें । (आप अपने वर-दान को अपने दूत द्वारा ही मेरे पिताजी को सुनावें) ॥ ६६ ॥

तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान् रघोर्यथाऽऽगतं मातलिसारथिर्ययौ ।
नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्तत ॥ ६७ ॥

सञ्जी०—तथेतीति। मातलिसारथिरिन्द्रो रघोः सम्बन्धिनं' कामं मनोरथं तथेति तथाऽस्त्विति प्रतिशुश्रुवान्। 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः। यथाऽऽगतं ययौ। सुदक्षिणासूनूः रघुरपि नातिप्रमना विजय-लाभेऽप्यश्वनाशान्नातीव तुष्टः सन्। नञर्थस्य सुप्सुपेति समासः। नृपस्य सदोगृहं प्रति न्यवर्तत।

अन्वयः—मातलिसारथिः रघोः कामं तथेति प्रतिशुश्रुवान् यथागतं ययौ, सुदक्षिणासूनुः अपि नातिप्रमनाः नृपस्य सदोऽहं प्रति न्यवर्तत।

हिन्दी—'मातलि' नामक सारथि वाले इन्द्र रघु की पूर्वोक्त अभिलाषा के बारे में तथास्तु (ऐसा ही होगा) कहा और जिस मार्ग से आये थे उसी मार्ग से स्वर्ग को लौट गये और रघु भी घोड़ा न मिलने से अत्यन्त प्रसन्न नहीं होते हुए अपने पिता के यज्ञमण्डप की ओर चल पड़े॥ ६७॥

तमभ्यनन्दत् प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः।
परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम्॥ ६८॥

सञ्जी०—तमिति। हरेरिन्द्रस्य शासनहारिणा पुरुषेण प्रथमं प्रबोधितो ज्ञापितः वृत्तान्तमिति शेषः। प्रजेश्वरो दिलीपो हर्षजडेन हर्षशिशिरेण पाणिना कुलिशव्रणाङ्कितम्। तस्य रघोरिदं तदीयम् अङ्गं शरीरं परामृशंस्तं रघुम-भ्यनन्दत्।

अन्वयः—हरेः शासनहारिणा प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः हर्षजडेन पाणिना कुलिशव्रणाङ्कितं तदीयम् अङ्गं परामृशन् तम् अभ्यनन्दत्।

हिन्दी—रघु के आने से पहले ही इन्द्र के दूतमुख से समस्त इन्द्र-रघु-संग्राम के इतिवृत्त को जानने वाले प्रजावत्सल राजा दिलीप ने हर्षोद्वेग से काँपते हुए इन्द्र-वज्र के ताजे घाव से चिह्नित अपने नन्दिनी के वरद पुत्र उस वीर रघु के शरीर को गाढ़ालिङ्गन से छाती में चिपकाते हुए अभि-नन्दन किया॥ ६८॥

इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव॥ ६९॥

सञ्जी०—इतीति। महनीयशासनः पूजनीयाज्ञः क्षितीश इत्यनेन प्रकारेण 'इति हेतुप्रकरणप्रकारादिसमाप्तिषु' इत्यमरः। महाक्रतूनामश्वमेधानां नवभिरधिकां नवतिमेकोनशतमायुषः क्षये सति दिवं स्वर्गं समारुरुक्षुरारोढुमिच्छुः सोपानानां परम्परां पंक्तिमिव ततान।

अन्वयः—महनीयशासनः क्षितीशः इति महाक्रतूनां नवाधिकां नवतिम् आयुषः क्षये (सति) दिवं समारुरुक्षुः सोपानपरम्परामिव ततान।

हिन्दी—इस प्रकार महान् लोकप्रिय शासक चक्रवर्ती राजा दिलीप ने निन्यानवे यज्ञोपरान्त सौवें अश्वमेध यज्ञ के फलों को भी इन्द्र से प्राप्त करके अपने जीवन के अन्त काल में मानो सदेह स्वर्ग जाने के लिये स्वर्ग-सोपान (सीढ़ी) ही तैयार कर दिया॥ ६९॥

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्॥ ७०॥

इति रघुवंशमहाकाव्ये रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः समाप्तः।

सञ्जी०—अथेति। अथ विषयेभ्यो व्यावृत्तात्मा निवृत्तचित्तः स दिलीपो यथाविधि यथाशास्त्रं यूने सूनवे नृपतिककुदं राजचिह्नम्। 'ककुद्वत्ककुदं श्रेष्ठे वृषाङ्के राजलक्ष्मणि' इति विश्वः। सितातपवारण श्वेतच्छत्रं दत्त्वा तया देव्या सुदक्षिणया सह मुनिवनतरोश्छायां शिश्रिये श्रितवान्। वानप्रस्थाश्रमं स्वीकृतवानित्यर्थः। तथाहि। गलितवयसां वृद्धानामिक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकोर्गोत्रापत्यानाम्। तद्राजसंज्ञकत्वादणो लुक्। इदं बनगमनं कुलव्रतम्। देव्या सहेत्यनेन सस्त्रीकवानप्रस्थाश्रमपक्ष उक्तः। तथा च याज्ञवल्क्यः—'सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम्। वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत्॥' इति। हरिणीवृत्तमेतत्। तदुक्तं—'रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा' इति।

इति मल्लिनाथविरचित-सञ्जीविनीटीकायां तृतीयः सर्गः समाप्त।

अन्वयः—अथ विषयव्यावृत्तात्मा सः यथाविधि यूने सूनवे नृपतिककुदं

सितातपवारणं दत्त्वा तया देव्या सह मुनिवनतरुच्छायां शिश्रिये, हि गलितवयसाम् ईक्ष्वाकूणामिदं कुलव्रतम् (अस्ति) ।

हिन्दी — इन्द्र द्वारा सौवें अश्वमेधयज्ञ के फलप्राप्त्यनन्तर वृद्धावस्था होने पर सांसारिक विषय-वासनाओं से विरक्त होने वाले चक्रवर्ती महाराज दिलीप, यथाशास्त्रोक्त विधि से युवराज रघु को राज-चिह्न ('शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे' द्र० श्लो० १६) देकर अपनी पत्नी सुदक्षिणा के साथ वाणप्रस्थ धारण कर मुनियों के तपोवन में जा बसे। क्योंकि उनके इक्ष्वाकुवंश की यही परम्परागत रीति थी ।। ७० ।।

इत्यधिकाशि श्रीरामचन्द्रझा विरचित सान्वय **'इन्दुमति'**
टीकासहितः रघुवंशतृतीयसर्गः समाप्तः ।

श्रीकाशीपतिः पातु वः



अथ चतुर्थः सर्गः

प्राप्तराज्यस्य रघोः शोभामाह—

स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ।
दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः ॥ १ ॥

सञ्जी०—शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे।
सर्वदा सर्वदाऽस्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात् ॥

स रघुर्गुरुणा पित्रा दत्तं राज्यं राज्ञः कर्म प्रजापरिपालनात्मकम्। पुरोहितादित्वाद्यक्। प्रतिपद्य प्राप्य। दिनान्ते सायंकाले सवित्रा सूर्येण निहितं तेजः प्रतिपद्य हुताशनोऽग्निरिव। अधिकं बभौ। 'सौरं तेजः सायमग्निं संक्रमते। आदित्यो वा अस्तं यन्नग्निमनुप्रविशति। अग्निं वा आदित्यः सायं प्रविशति' इत्यादिश्रुतिः प्रमाणम् ॥ १ ॥

अन्वयः—सः गुरुणा दत्तं राज्यं प्रतिपद्य दिनान्ते सवित्रा विहितं तेजः (प्रतिपद्य) हुताशनः इव अधिकं बभौ।

हिन्दी—वे महाराज रघु अपने पिता सम्राट् दिलीप द्वारा प्रदत्त राज्य को पाकर उसी प्रकार अत्यधिक सुशोभित हुए जिस प्रकार सायंकाल में सूर्य द्वारा प्राप्त प्रकाश से अग्नि अधिक तेजस्वी हो जाता है ॥

(इस सर्ग में ८६ श्लोक तक निरन्तर अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग है)

रघो राज्यस्थितिमाकर्ण्य शत्रुहृदि तापाधिक्यं बभूव इत्याह—

दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम्।
पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः ॥ २ ॥

सञ्जी०—दिलीपानन्तरं राज्ये प्रतिष्ठितमवस्थितं तं रघुं निशम्याकर्ण्य पूर्वं दिलीपकाले राज्ञां हृदये प्रकर्षेण धूमोऽस्य सञ्जातः प्रधूमितोऽग्निः सन्तापाग्निरुत्थित इव प्रज्वलित इव। पूर्वेभ्योऽधिकसन्तापोऽभूदित्यर्थः। राजकर्तृकस्यापि निशमनस्याग्नावुपचारान्न समानकर्तृकत्वविरोधः ॥ ३ ॥

अन्वयः—दिलीपानन्तरं राज्ये तं प्रतिष्ठितं निशम्य पूर्वं राज्ञां हृदये प्रधूमितः अग्निः उत्थितः इव आसीदिति शेषः ।

हिन्दी—महाराज दिलीप के बाद राज्यशासन पर उस महाराज रघु को सुप्रतिष्ठित सुनकर जिन शत्रु राजाओं के मन में पहले (दिलीप के शासनकाल में) पराजयजन्य परिताप का धुआँ घुमड़ रहा था अब वह मानो अग्नि बनकर धधकने लगा ॥ २ ॥

रघोः सुप्रजानन्दमाह—

पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः ।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः ॥ ३ ॥

सञ्जी०—पुरुहूतध्वज इन्द्रध्वजः । स किल राजभिर्वृष्ट्यर्थं पूज्यत इत्युक्तं भविष्योत्तरे—'एवं यः कुरुते यात्रामिन्द्रकेतोर्युधिष्ठिर । पर्जन्यः कामवर्षी स्यात्तस्य राज्ये न संशयः ॥' इति । 'चतुरस्रध्वजाकारं राजद्वारे प्रतिष्ठितम् । आहुः शक्रध्वजं नाम पौरलोकसुखावहम्' इति । पुरुहूतध्वजस्येव तस्य रघोर्नवाभ्युत्थानमभ्युदयं च पश्यन्तीति नवाभ्युत्थानदर्शिन्यः । ऊर्ध्वं प्रस्थिता उल्लसिताश्च नयनपङ्क्तयो यासां ताः सप्रजाः ससन्तानाः प्रजा जनाः । 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्युभयत्राप्यमरः । ननन्दुः ॥ ३ ॥

अन्वयः—पुरुहूतध्वजस्य इव तस्य नवाभ्युत्थानदर्शिन्यः उन्नयनपङ्क्तयः सप्रजाः प्रजाः ननन्दुः ।

हिन्दी—इन्द्र के ध्वज के समान उस महाराज रघु के नवीन अभ्युदय को देखनेवाली, ऊपर की ओर की हुई आँखों की पंक्ति वाली, सन्तान सहित, प्रजा प्रमुदित हुई ॥ ३ ॥

सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम् ॥ ४ ॥

सञ्जी०—द्विरद इव द्विरदैश्च गच्छतीति द्विरदगामिना । 'कर्तर्युपमाने' इति 'सुप्यजातौ' इति च णिनिः । तेन रघुणा समं युगपदेव द्वयं समाक्रान्तमधिष्ठितम् । किं तद् द्वयम् । पितुरागतं पित्र्यम् । 'पितुर्यत्' इति यत्प्रत्ययः । सिंहासनम् अखिलमरीणां मण्डलं राष्ट्रञ्च ॥ ४ ॥

अन्वयः—द्विरदगामिना तेन समम् एव द्वयं समाक्रान्तम्, दिव्यं सिंहासनम् अखिलम् अरिमण्डलञ्च ।

हिन्दी—गजगामी उस महाराज रघु ने एक ही साथ पिता से प्राप्त राजसिंहासन और समस्त शत्रुमण्डल दोनों को आक्रान्त कर लिया।

महाराज रघु सिंहासनारूढ़ होते समय हाथी के समान धीरे-धीरे मस्ती से झूमते हुए गम्भीरतापूर्वक चलते थे एवं शत्रु पर आक्रमण करते समय गजराज की सवारी से चलते थे अतः दोनों ही स्थितियों में उन्हें कवि ने द्विरदगामी ठीक ही कहा है ॥ ४ ॥

सिंहासनारोहणानन्तरं रघोः लक्ष्मीसन्निधानमावेदयति—

छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥ ५ ॥

सञ्जी०—अत्र रघोस्तेजोविशेषेण स्वयं सन्निहितया लक्ष्म्या छत्रधारणं कृतमित्युत्प्रेक्षते। पद्मा लक्ष्मीः, 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' इत्यमरः। सा स्वयमदृश्या किल, किलेति सम्भावनायाम्, सती। छायामण्डललक्ष्येण कान्तिपुञ्जानुमेयेन न तु स्वरूपतो दृश्येन। छायामण्डलमित्यनेनानातपज्ञानं लक्ष्यते। 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्युभयत्राप्यमरः। पद्मातपत्रेण पद्ममेवातपत्रं तेन कारणभूतेन साम्राज्यदीक्षितं साम्राज्ये साम्राज्यकर्मणि मण्डलाधिपत्ये दीक्षितमभिषिक्तं तं भेजे। अन्यथा कथमेतादृशी कान्तिसम्पत्तिरिति भावः ॥ ५ ॥

अन्वयः—पद्मा स्वयं अदृश्या किल सती छायामण्डललक्ष्येण पद्मातपत्रेण साम्राज्यदीक्षितं तं भेजे।

हिन्दी—लक्ष्मी स्वतः अदृश्यरूप से, कान्तिसमूह से तथा अनुमेय कमलरूपी छत्र से प्रजापालनादिरूप सम्राट् के कार्य में अभिषिक्त—दीक्षित महाराज रघु की सेवा करने लगी ॥ ५ ॥

इदानीं सरस्वतीसान्निध्यमाह—

परिकल्पित सान्निध्या काले काले च वन्दिषु।
स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती ॥ ६ ॥

सञ्जी०—सरस्वती च काले काले सर्वेष्वपि योग्यकालेषु। 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्सायां द्विवचनम्। वन्दिषु परिकल्पितसान्निध्या कृतसन्निधाना

सती स्तुत्यं स्तोत्रार्हं तं रघुम् । अर्थ्याभिरर्थादनपेताभिः । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः । स्तुतिभिः स्तोत्रैरुपतस्थे । देवताबुद्धया पूजितवतीत्यर्थः । देवतात्वं च 'नाविष्णुः पृथिवीपतिः' इति वा लोकपालात्मकत्वाद्वेत्यनुसंधेयम् । एवं च सति 'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिषु' इति वक्तव्यादात्मनेपदं सिध्यति ॥ ६ ॥

अन्वयः—सरस्वती च काले बन्दिषु परिकल्पितसान्निध्या 'सती' स्तुत्यं तम् अर्थ्याभिः स्तुतिभिः उपतस्थे ।

हिन्दी—सरस्वती ने भी स्तुति के समस्त अवसरों पर स्तुतिपाठकों की स्तुतिवाणी में सन्निहित होकर स्तुति करने योग्य उस महाराज रघु की अर्थपूर्ण स्तुतियों से आराधना की । (तात्पर्य यह है कि राजा विष्णु का ही अंशावतार होता है, अत एव सरस्वती ने रघु को विष्णुदेव की बुद्धि से सम्मानित किया) ॥ ६ ॥

मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः ।
तथाऽप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद् वसुन्धरा ॥ ७ ॥

सञ्जी०—वसुन्धरा मनुप्रभृतिभिर्मन्वादिभिर्मान्यैः पूज्यै राजभिर्भुक्ता यद्यपि । भुक्तैवेत्यर्थः । यद्यपीत्यवधारणे 'अप्यर्थे यदि वाऽर्थे स्यात्' इति केशवः । तथाऽपि । तस्मिन् राज्ञि । अन्यः पूर्वो यस्याः साऽन्यपूर्वा, अन्यपूर्वा न भवतीत्यनन्यपूर्वा अनन्योपभुक्तेवासीत् । तत्प्रथमपतिकेवानुरक्तवतीत्यर्थः ॥

अन्वयः—वसुन्धरा मनुप्रभृतिभिः मान्यैः राजभिः भुक्ता यद्यपि, तथापि तस्मिन् अनन्यपूर्वा इव आसीत् ॥ ७ ॥

हिन्दी—यद्यपि पृथ्वी मनु इत्यादि माननीय राजाओं के द्वारा उपभुक्त हुई थी; तथापि महाराज रघु के विषय में वह मानो पहले कभी न भोगी गई की भाँति थी । अर्थात् रघुरूप प्रथम भूपति के द्वारा ही उपभुक्त की तरह अपूर्व अनुरागमयी हो गयी ॥ ७ ॥

तस्मिन् रघौ वसुन्धरायाः अनन्यपूर्वात्वे कारणमाह—

स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः ।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥ ८ ॥

सञ्जी०—हि यस्मात्कारणात्स रघुर्युक्तदण्डतया यथाऽपराधदण्डतया

सर्वस्य लोकस्य मन आददे जहार। क इव। अतिशीतोऽत्युष्णो वा न भवतीति नातिशीतोष्णः। नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप्सुपे'ति समासः। दक्षिणो दक्षिणदिग्भवो नभस्वान्वायुरिव। मलयानिल इवेत्यर्थः। युक्तदण्डतयेत्यत्र कामन्दकः—'उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदुना परिभूयते। दण्डेन नृपतिस्तस्माद्युक्तदण्डः प्रशस्यते॥' इति॥ ८॥

अन्वयः—हि सः युक्तदण्डतया सर्वस्य लोकस्य मनः नातिशीतोष्णः दक्षिणः नभस्वानिव आददे।

हिन्दी—चूँकि उस रघु ने न अधिक शीतल और न अधिक उष्ण—समशीतोष्ण, दक्षिण दिशा में समुत्पन्न मलयपवन के समान अपराध के अनुसार उपयुक्त दण्डविधान के कारण समस्त संसार के मन को आकृष्ट कर लिया (अतः "उसके शासन में वसुन्धरा अनन्यपूर्वा की भाँति हो गयी" यह पूर्व श्लोक के साथ अन्वयपूर्वक अर्थ लगाना चाहिए)॥ ८॥

रघोः प्रजावर्गस्य दिलीपकृतसुप्रबन्धस्य विस्मरणमाह—

मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ।
फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः॥ ९॥

सञ्जी०—तेन रघुणा प्रजा गुरौ दिलीपविषये। सहकारोऽतिसौरभश्चूतः 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' इत्यमरः। तस्य फलेन पुष्पोद्गमे पुष्पोदय इव ततोऽपि गुणाधिकतया हेतुना मन्दोत्कण्ठा अल्पौत्सुक्याः कृताः। गुणोत्तरश्चोत्तरो विषयः पूर्वं विस्मारयतीति भावः॥ ९॥

अन्वयः—तेन प्रजाः गुरौ, सहकारस्य फलेन पुष्पोद्गम इव गुणाधिकतया मन्दोत्कण्ठाः कृताः।

हिन्दी—उस महाराज रघु के द्वारा प्रजा अपने पिता दिलीप के विषय में आम के फल के पुष्प प्रादुर्भाव होने के विषय की भाँति गुणों की अधिकता के कारण मन्द उत्कण्ठा वाली कर दी गई (दिलीप से अधिक गुणशाली रघु को पाकर प्रजा दिलीप को भूल-सी गयी)॥ ९॥

रघोः सदसतोर्मध्ये सदेवाभिमतमासीदित्याह—

नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम्।
पूर्व एवाभवत् पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः॥ १०॥

सञ्जी०—नयविद्भिर्नीतिशास्त्रज्ञैर्नवे तस्मिन् राज्ञि विषये । तमधिकृत्ये-त्यर्थः । सद्धर्मयुद्धादिकमसत्कूटयुद्धादिकं चोपदर्शितम् । तस्मिन्राज्ञि पूर्वः पक्ष एवाभवत् संक्रान्त इत्यर्थः । इतरः पक्षो नाभवत् । न संक्रान्त इत्यर्थः । तत्र सदसतोर्मध्ये सदेवाभिमतं नासत् । तदुद्भावनं तु ज्ञानार्थमेवेत्यर्थः । पक्षः साधनयोग्यार्थः । 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति केशवः ॥१०॥

अन्वयः—नयविद्भिः नवे राज्ञि सद् असत् च उपदर्शितम् । तस्मिन् पूर्वः पक्षः एव अभवत्, उत्तरः न अभवत् ।

हिन्दी—राजनीति में कुशल पण्डितों ने उस नवीन राजा रघु को ज्ञान के लिए सत्य और असत्य दोनों का उपदेश दिया; किन्तु रघु ने सद्धर्मादिक पूर्वपक्ष को ही ग्रहण किया अधर्मादिक असत् उत्तर पक्ष को नहीं ग्रहण किया।

राजाओं को सत्य और असत्य अर्थात् भले और बुरे दोनों का ज्ञान होना चाहिए परन्तु आचरण सत्यपक्ष का ही करना चाहिए, अत एव महाराज रघु ने ज्ञान तो भले-बुरे दोनों पक्षों का प्राप्त किया; परन्तु व्यवहार में उन्होंने सदैव सत्पक्ष का ही आश्रय लिया ॥ १० ॥

रघुराज्ये पञ्चभूतगुणोत्कर्षमाह—

पञ्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः ।
नवे तस्मिन् महीपाले सर्वं नवमिवाभवत् ॥ ११ ॥

सञ्जी०—पृथिव्यादीनां पञ्चानां भूतानामपि गुणा गन्धादय उत्कर्षमतिशयं पुपुषुः । अत्रोत्प्रेक्षते—तस्मिन् रघौ नाम नवे महीपाले सर्वं वस्तुजातं नवमिवाभवत् । तदेव भूतजातमिदानीमपूर्वं गुणयोगादपूर्वमिवाभवदिति भावः ॥ ११ ॥

अन्वयः—पञ्चानां भूतानामपि गुणाः उत्कर्षं पुपुषुः, तस्मिन् नवे महीपाले सर्वं नवमिव अभवत् ।

हिन्दी—पाँचों महाभूतों—(पृथिवी-जल तेज-वायु और आकाश) के गुणों (गन्धः रस-रूप-स्पर्श और शब्द) ने उत्कर्ष की वृद्धि की । अर्थात् पञ्चभूतों का गुणोत्कर्ष प्रवृद्ध हुआ । उस महाराज रघु के नवीन पृथ्वीपालक हो जाने पर सब-का सब मानो नवीन जैसा हो गया ॥ ११ ॥

रघुः अन्वर्थः राजाभूदित्याह—

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥ १२ ॥

सञ्जी०—यथा चन्दयत्याह्लादयतीति चन्द्रः इन्दुः। चन्दिधातोरौणादिको रप्रत्ययः। प्रह्लादनादाह्लादकरणादन्वर्थोऽनुगतार्थनामकोऽभूत्। यथा च तपतीति तपनः सूर्यः 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' इत्यनेन ल्युप्रत्ययः। प्रतापात्सन्तापजननादन्वर्थः तथैव स राजा प्रकृतिरञ्जनादन्वर्थः सार्थकराजशब्दोऽभूत्। यद्यपि राजशब्दो राजतेर्दीप्त्यर्थात्कनिन्प्रत्ययान्तो न तु रञ्जेस्तथापि धातूनामनेकार्थत्वाद्रञ्जनाद्राजेत्युक्तं कविना ॥ १२ ॥

अन्वयः—यथा चन्द्रः प्रह्लादनात् अन्वर्थोऽभूत् यथा तपनः प्रतापात् अन्वर्थः अभूत् तथा एव सः राजा प्रकृतिरञ्जनात् अन्वर्थः अभूत्।

हिन्दी—जिस प्रकार आह्लादकारी गुण होने से चन्द्रमा का (चन्द्र) नाम सार्थक हुआ, प्रकृष्ट तापकारी होने के कारण सूर्य का 'तपन' नाम अन्वर्थ अर्थ का अनुसरण करने वाला हुआ; उसी प्रकार प्रजा का रञ्जन करने वाला होने के कारण रघु का 'राजा' होना सार्थक हो गया ॥ १२ ॥

चक्षुष्मतोऽपि रघोर्लोचनं शास्त्रमेवासीदित्याह—

कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने।
चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना ॥ १३ ॥

सञ्जी०—विशाले तस्य रघोर्लोचने कामं कर्णान्तयोर्विश्रान्ते कर्णप्रान्तगते। चक्षुष्मत्ता तु। चक्षुःफलं त्वित्यर्थः। सूक्ष्मान् कार्योऽर्थान् कर्तव्यार्थान् दर्शयति प्रकाशयतीति। सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना शास्त्रेणैव। शास्त्रं दृष्टिर्विवेकिनामिति भावः ॥ १३ ॥

अन्वयः—तस्य विशाले लोचने कामं कर्णान्तविश्रान्ते (आस्ताम्) चक्षुष्मत्ता तु सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना शास्त्रेण एव। (आसीत्)

हिन्दी—यद्यपि महाराज रघु के नेत्र कानों तक विस्तृत होने के कारण पर्याप्त विशाल थे तथापि उनकी नेत्रवत्ता सूक्ष्म कर्तव्यवस्तु को विवेकदृष्टि से देखने वाले शास्त्र से ही थी।

('सर्वस्य लोचनं शास्त्रं' के अनुसार सबका नेत्र शास्त्र है। इस दृष्टि से महाराज रघु के भी आकर्ण विशाल नेत्र मुखशोभावर्द्धक भले ही थे पर कार्याकार्य का निर्णय शास्त्रदृष्टि से करने के कारण ही वे वस्तुतः नेत्रवान् थे) ॥ १३ ॥

रघोः दिग्विजययोग्ययुक्तः शरत्कालः समागतः इत्याह—

लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता ।
पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा ॥ १४ ॥

सञ्जी०—अथ लब्धस्य राज्यस्य प्रशमनेन परिपन्थिनामनुरञ्जनप्रतीकाराभ्यां स्थिरीकरणेन स्वस्थं समाहितचित्तमेनं रघुं पङ्कजलक्षणा पद्मचिह्ना। श्रियोऽपि विशेषणमेतम्। शरद्। द्वितीया पार्थिवश्री राजलक्ष्मीरिव। समुपस्थिता प्राप्ता। 'रक्षा पौरजनस्य देशनगरग्रामेषु गुप्तिस्तथा योधानामपि संग्रहोऽपि तुलया मानव्यवस्थापनम्। साम्यं लिङ्गिषु दानवृत्तकरणं त्यागः समानेऽर्चनं कार्याण्येव महीभुजां प्रशमनान्येतानि राज्ये नवे ॥' १४ ॥

अन्वयः—अथ लब्धप्रशमनस्वस्थं एनं पङ्कजलक्षणा शरद् द्वितीया पार्थिवश्रीः इव समुपस्थिता।

हिन्दी—इसके पश्चात् प्राप्त राज्य में सुशान्ति की व्यवस्था से स्वस्थ उस रघु के पास कमलरूपी लक्षणवाली शरद, दूसरी राजलक्ष्मी की भाँति आकर उपस्थित हो गई ॥ १४ ॥

शरद्गुणवर्णनपुरस्सरं कविः आदौ सूर्यरघुसाम्यस्थितिमाह—

निर्वृष्टलघुभिर्मेघैर्मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः ।
प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद् व्यानशे दिशः ॥ १५ ॥

सञ्जी०—निःशेषं वृष्टा निर्वृष्टाः। कर्तरि क्तः। अत एव लघवः। तैर्मेघैर्मुक्तवर्त्मा त्यक्तमार्गः। अत एव सुदुःसहः। तस्य रघोर्भानोश्च प्रतापः पौरुषमातपश्च 'प्रतापौ पौरुषातपौ' इति यादवः। युगपद्दिशो व्यानशे व्याप ॥

अन्वयः—निर्वृष्टलघुभिः मेघैः मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः तस्य भानोश्च प्रतापः युगपद् दिशः व्यानशे ॥ १५ ॥

हिन्दी—पूर्णरूप से बरस जाने के कारण जलहीन लघु (हलके) बादलों

के द्वारा उन्मुक्तमार्ग वाले सूर्य और रघु के सुदुःसह प्रताप ने एक साथ ही दिशाओं को व्याप्त कर लिया। (पूर्णवृष्टि से बादल जलहीन होकर हलके हो गये। जिससे आकाशमार्ग उन्मुक्त हो गया। वर्षाऋतु में बादलों से आकाश घिरा रहता है, जिससे सूर्य का प्रताप दिगन्तव्यापी नहीं होता किन्तु शरद् में जलहीन बादलों से आकाश स्वच्छ एवं उन्मुक्त रहता है जिससे सूर्य के प्रताप के प्रसार में कोई अवरोध उत्पन्न नहीं होता और वह समस्त दिशाओं को बेरोक-टोक व्याप्त कर लेता है। सूर्य के ही समान महाराज रघु के सुदुःसह प्रताप ने—दिशाओं को व्याप्त कर लिया) ॥ १५ ॥

इन्द्रस्य वर्षाकालीनं धनुः संहारानन्तरं रघोः जैत्रधनुर्धारणमाह—

वार्षिकं सञ्जहारेन्द्रो धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ।
प्रजाऽर्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ ॥ १६ ॥

सञ्जी०—इन्द्रः वर्षासु भवं वार्षिकम्। वर्षानिमित्तमित्यर्थः। 'वर्षाभ्यष्ठक्' इति ठक्प्रत्ययः। धनुः सञ्जहार। रघुर्जैत्रं जयशीलम्। जेतृशब्दात्तृन्नन्तात् 'प्रजादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः। धनुर्दधौ। हि यस्मात्ताविन्द्ररघू प्रजानामर्थस्य प्रयोजनस्य वृष्टिविजयलक्षणस्य साधनविषये पर्यायेणोद्यते कार्मुके याभ्यां तौ पर्यायोद्यतकार्मुकौ। 'पर्यायोद्यमविश्रमौ' इति पाठान्तरे पर्यायेणोद्यमो विश्रमश्च ययोस्तौ पर्यायोद्यमविश्रमौ। द्वयोः पर्यायकरणादक्लेश इति भावः ॥ १६ ॥

अन्वयः—इन्द्रः वार्षिकं धनुः सञ्जहार, रघुः जैत्रं धनुः दधौ हि तौ प्रजार्थसाधने पर्यायोद्यतकार्मुकौ आस्तामिति शेषः।

हिन्दी—इन्द्र ने वर्षाकालीन इन्द्रधनुष समेट लिया और रघु ने जयशील धनुष धारण किया क्योंकि वे दोनों जनहित साधन में एक के बाद दूसरे क्रम से धनुष धारण करने वाले हैं। वर्षा ऋतु में लोकमंगल के लिए इन्द्रधनुषका आकाश में दर्शन होता है। शरद आने पर इन्द्र उस धनुष को संहृत कर लेता है, तब रघु जनकल्याणार्थ अपना धनुष धारण करते हैं। इस प्रकार दोनों बारी-बारी से धनुष धारण कर परस्पर परम श्रेय प्राप्त करते हैं ॥ १६ ॥

रघोः राजचिह्नस्य छत्रचामररूपस्य शरदृतुद्वारानुकरणमाह—

पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामरः ।
ऋतुर्विडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रियम् ॥ १७ ॥

सञ्जी०—पुण्डरीकं सिताम्भोजमेवातपत्रं यस्य स तथोक्तः । विकसन्ति काशानि काशाख्यतृणकुसुमान्येव चामराणि यस्य स तथोक्तः । ऋतुः शरदृतुः पुण्डरीकनिभातपत्रं काशनिभचामरं तं रघुं विडम्बयामासानुचकार । तस्य रघोः श्रियं पुनः शोभां तु न प्राप । 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिति कथ्यते' इति शाश्वतः ॥ १७ ॥

अन्वयः—पुण्डरीकातपत्रः विकसत्काशचामरः ऋतुः तं विडम्बयामास पुनः तच्छ्रियं न प्राप ।

हिन्दी—श्वेतकमलरूपी छत्र और विकसित काशपुष्परूपी चामर धारी शरद् ऋतु ने पुण्डरीक के समान शुभ्र छत्रधारी एवं खिले हुए काशपुष्प के समान उज्ज्वल चामरधारी राजा रघु का अनुकरण तो किया किन्तु उसे महाराज रघु की शोभा–श्री नहीं मिली ॥ १७ ॥

अथ रघौ सर्वप्रजाप्रीतिमाह—

प्रसादसुमुखे तस्मिंश्चन्द्रे च विशदप्रभे ।
तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत् समरसा द्वयोः ॥ १८ ॥

सञ्जी०—प्रसादेन सुमुखे तस्मिन् रघौ विशदप्रभे निर्मलकान्तौ चन्द्रे च द्वयोर्विषये तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरनुरागः समरसा समस्वादा । तुल्ययोगेति यावत् । 'रसो गन्धे रसः स्वादे' इति विश्वः । आसीत् ।

अन्वयः—प्रसादसुमुखे तस्मिन् विशदप्रभे चन्द्रे च द्वयोः तदा चक्षुष्मतां प्रीतिः समरसा आसीत् ।

हिन्दी—उस समय प्रसन्नता से सुन्दर मुखवाले रघु और निर्मल प्रभावाले चन्द्रमा इन दोनों में नेत्रधारियों की एक समान आनन्ददायिनी प्रीति थी । (तात्पर्य यह है कि उस समय नेत्रवानों को शरत्कालीन निर्मल चन्द्र-दर्शन और प्रसन्नता से हँसमुख रघुदर्शन दोनों में समान आनन्द की अनुभूति होती थी) ॥ १८ ॥

अथ रघोः सुयशधवलतामाह—

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु।
विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥ १९ ॥

सञ्जी०—हंसानां श्रेणीषु पंक्तिषु, तारासु नक्षत्रेषु कुमुदानि येषु सन्तीति कुमुद्वन्ति। 'कुमुद्वान्कुमुदप्राये' इत्यमरः। 'कुमुदनड्वेतसेभ्यो ड्मतुप्'। तेषु कुमुदप्रायेष्वित्यर्थः। वारिषु च तदीयानां रघुसम्बन्धिनां यशसां विभूतयः सम्पदः पर्यस्ता इव प्रसारिताः किम्। इत्युत्प्रेक्षा। अन्यथा कथमेषां धवलिमेति भावः ॥ १९ ॥

अन्वयः—हंसश्रेणीषु तारासु कुमुदवत्सु च वारिषु च तदीयानां यशसां विभूतयः पर्यस्ता इव।

हिन्दी—हंसपंक्तियों, तारागणों, और कुमुदों से परिपूर्ण जलों में मानो रघु के ही समुज्ज्वल यश की विभूतियाँ बिखरी हुई थीं ॥ १९ ॥

ग्रामीणस्त्रियोऽपि रघुयशोगानं कुर्वन्तीत्याह—

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥ २० ॥

सञ्जी०—इक्षूणां छायेक्षुच्छायम्। 'छाया बाहुल्ये' इति नपुंसकत्वम्। तत्र निषण्णा इक्षुच्छायनिषादिन्यः 'इक्षुच्छायनिषादिन्यः' इति स्त्रीलिङ्गपाठे इक्षोश्छायेति विग्रहः। अन्यथा बहुत्वे नपुंसकत्वप्रसङ्गात्। शालीन् गोपायन्ति रक्षन्तीति शालिगोप्यः सस्यपालिकाः स्त्रियः। कर्मण्यण्। 'टिड्ढाणञ्०' इत्यादिना ङीप्। गोप्तुः रक्षकस्य तस्य रघोः, गुणेभ्य उदयो यस्य तत् गुणोदयं गुणोत्पन्नमाकुमारं कुमारादारभ्य कथोद्घातः कथाऽऽरम्भो यस्य तत्। कुमारैरपि स्तूयमानमित्यर्थः। यशो जगुर्गायन्ति स्म। अथवा कुमारस्य सतो रघोर्याः कथा इन्द्रविजयादयस्तत आरभ्याकुमारकथम्। तत्राप्यभिविधावव्ययीभावः। आकुमारकथमुद्घातो यस्मिन्कर्माणि। गानक्रियाविशेषणमेतत्। 'स्यादभ्यादानमुद्घात आरम्भः' इत्यमरः। 'आकुमारकथोद्भूतम्' इति पाठे कुमारस्य सतस्तस्य कथाभिश्चरितैरुद्भूतं यद्यशस्तद्यश आरभ्य यशो जगुरिति व्याख्येयम् ॥ २० ॥

अन्वयः—इक्षुच्छायनिषादिन्यः शालिगोप्यः गोप्तुः तस्य गुणोदयम् आकुमारकथोद्घातं यशः जगुः ।

हिन्दी—गन्ने की छाया में बैठी हुँई धानकी सुरक्षा करने वाली कृषक-ललनाओं ने उस प्रजापालक रघु की कुमारावस्था से आरम्भ होने वाली कथा का यशोगान किया ॥ २० ॥

रघोः प्रतापाद् द्विषतां मनः चुक्षुभे इत्याह—

प्रसादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः ।
रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः ॥ २१ ॥

सञ्जी०—महौजसः कुम्भयोनेरगस्त्यस्य । 'अगस्त्यः कुम्भसम्भवः' इत्यमरः । उदयादम्भः प्रसन्नं बभूव महौजसो रघोरुदयादभिवाशङ्कि द्विषतां मनश्चुक्षुभे कालुष्यं प्रापः । 'अगस्त्योदये जलानि प्रसीदन्ति' इत्यागमः ॥२१॥

अन्वयः—महौजसः कुम्भयोनेः उदयात् अम्भः प्रससाद । महौजसः रघोः उदयात् अभिभवाशङ्कि द्विषतां मनः चुक्षुभे ।

हिन्दी—महातेजस्वी घट से उत्पन्न होनेवाले अगस्त्य नक्षत्र के उगने से जल स्वच्छ हो गया । महापराक्रमी रघु के दिग्विजयार्थ प्रस्थान करने पर अपनी पराजय की आशंका से शत्रुओं का मन क्षुभित हो उठा ॥ २१ ॥

रघोः महोक्षविक्रममाह—

मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः ।
लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम् ॥ २२ ॥

सञ्जी०—मदोदग्रा मदोद्धताः कुकुदेषामस्तीति ककुद्मन्तः । महाककुद इत्यर्थः, यवादित्वान्मकारस्य वत्वाभावः । सरितां कूलान्युद्रुजन्तीति कूलमुद्रुजाः । 'उदि कूले रुजिवहोः' इति खशप्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यनेन मुमागमः । महान्त उक्षाणो महोक्षाः । 'अचतुर—' इत्यादिना निपातनादकारान्तः । लीलाखेलं विलाससुभगं तस्य रघोरुत्साहवतो वपुष्मतः परभञ्जकस्य विक्रमं शौर्यमनुप्रापुरनुचक्रुः ॥ २२ ॥

अन्वयः—मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः महोक्षाः लीलाखेलं तस्य विक्रमम् अनुप्रापुः ।

हिन्दी—मदोन्मत्त उच्च स्कन्ध से युक्त नदियों के तटों को विदीर्ण करने वाले बड़े-बड़े साँड़ों ने उस रघु के विलास से सुन्दर विक्रम का अनुकरण किया ॥ २२ ॥

रघुसैन्ये मदोन्मत्तगजशक्तिवर्णनम्—

प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः ।
असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्रुवुः ॥ २३ ॥

सञ्जी०-मदस्येव गन्धो येषां तैर्मदगन्धिभिः । 'उपमानाच्च' इतीकारः समासान्तः । सप्तपर्णानां वृक्षविशेषाणाम् । 'सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः । प्रसवैः पुष्पैराहतास्तस्य रघोर्नागा गजाः 'गजेऽपि नागमातङ्गौ' इत्यमरः । असूययेवाहतिनिमित्तया स्पर्धयेव सप्तधैव प्रसुस्रुवुर्मदं ववृषुः । प्रतिगजगन्धाभिमानादिति भावः । 'करात्कटाभ्यां मेढ्राच्च नेत्राभ्यां च मदस्रुतिः' इति पालकाप्ये । करान्नासारन्ध्राभ्यामित्यर्थः ॥ २३ ॥

अन्वयः—मदगन्धिभिः सप्तपर्णानां प्रसवैः आहताः तन्नागाः असूयया सप्तधा एव प्रसुस्रुवुः ।

हिन्दी—हाथी के मदजल के समान गन्धवाले सप्तपर्ण—सातपत्तेवाले छरिवन के पुष्पों से आहत, उस रघु के हाथियों ने मानो स्पर्धा से सातों प्रकार से (एक-एक पर्ण की स्पर्धा से एक-एक अङ्ग के हिसाब से सातों पर्णों की स्पर्धा से सातों प्रकार से – सूंड़ के दोनों छिद्रों, दोनों गण्डस्थलों, दोनों नेत्रों और लिङ्ग से) मदवर्षा की ।

(रघु के हाथियों ने जब सप्तपर्ण के पुष्पों का गन्ध ग्रहण किया तो उसे अन्य गजगन्ध जैसा उन्मत्त कर देने वाला लगा और उस उत्कट गन्ध से आहत होकर उसी के समान ये हाथी भी सात पत्तों की स्पर्धा से ही मानों सातो अङ्गों से मदवर्षा करने लगे) ॥ २३ ॥

तं दिग्विजयाय प्रथमं शरदृतुः प्रेरयामासेत्याह—

सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्दमान् ।
यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत् ॥ २४ ॥

सञ्जी०—सरितो गाधाः सुप्रतराः कुर्वती । पथो मार्गांश्चाश्यानः

कर्दमाञ्छुष्कपङ्कान्कुर्वती । 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति श्यतेर्निष्ठातस्य नत्वम् । शरच्छरद्दतुस्तं रघुं शक्तेरुत्साहशक्तेः प्रथमं प्राग्यात्रायै दण्डयात्रायै चोदयामास प्रेरयामास । प्रभावमन्त्रशक्तिसम्पन्नस्य शरत्स्वमुत्साहमुत्पादयामासेत्यर्थः ।

अन्वय,—सरितः गाधाः कुर्वती पथश्च आश्यानकर्दमान् कुर्वती शरद् तं शक्तेः प्रथमं यात्रायै चोदयामास ।

हिन्दी—नदियों को थाहने योग्य—सुगमतापूर्वक पार करने योग्य; स्वल्प जल वाली बनाती हुई और मार्ग को कीचड़रहित करती हुई शरद् ने उस रघु को प्रभाव, उत्साह और मन्त्र शक्ति से पूर्व ही दिग्विजय यात्रा के लिये प्रेरणा दी ॥ २४ ॥

रघोः यात्रावसरे शुभशकुनमाह—

तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ ।
प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ॥ २५ ॥

सञ्जी०—वाजिनामश्वानां नीराजनाविधौ नीराजनाऽऽख्ये शान्तिकर्मणि सम्यग्विधिवद् हुतो होमसमिद्धो वह्निः । प्रगता दक्षिणं प्रदक्षिणम् । तिष्ठद्गुप्रभृतित्वादव्ययीभावः । प्रदक्षिणं यार्ऽचिर्ज्वाला तस्या व्याजेन हस्तेनेव तस्मै जयं ददौ । उक्तमाहवयात्रायाम्—'इद्धः प्रदक्षिणगतो हुतभुङ्नृपस्य धात्रीं समुद्ररशनां वशगां करोति' इति । वाजिग्रहणं गजादीनामप्युलक्षणं तेषामपि नीराजनाविधानात् ।

अन्वयः—वाजिनीराजनाविधौ सम्यग् हुतः वह्निः प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेन इव तस्मै जयं ददौ ।

हिन्दी—घोड़ों की नीराजना नामक शान्तिकर्मविधि में शास्त्रीय विधि के साथ आहुति दी गई अग्नि ने दक्षिणावर्ती लपटों के बहाने से मानो अपने हाथ से उस रघु को विजयश्री प्रदान की ॥ १५ ॥

रघोः दिग्विजययात्रार्थसैन्यप्रस्थानमाह—

स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः ।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥ २६ ॥

सञ्जी०—गुप्तौ मूलं स्वनिवासस्थानं प्रत्यन्तः प्रान्तदुर्गं च येन स गुप्तमूलप्रत्यन्तः। शुद्धपार्ष्णिरुद्धूतपृष्ठशत्रुः सेनया रक्षितपृष्ठदेशो वा। अयान्वितः शुभदैवान्वितः 'अयः शुभावहो विधिः' इत्यमरः। स रघुः, षड्विधं मौलभृत्यादिरूपं बलं सैन्यम्। मौलं भृत्यः सुहृच्छ्रेणी द्विषदाटविकं बलम्' इति कोषः। आदाय दिशां जिगीषया जेतुमिच्छया प्रतस्थे चचाल।

अन्वयः—गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिः अयान्वितः सः षड्विधम् बलम् आदाय दिग्जिगीषया प्रतस्थे।

हिन्दी—सुरक्षित मूल और प्रत्यन्त वाले, शुद्धपार्ष्णि वाले तथा सुन्दर-अनुकूल भाग्य से युक्त उस रघु ने दिग्विजय की कामना से छः प्रकार की सेना लेकर प्रस्थान किया।

यहाँ मूल—प्रत्यन्त–शुद्धपार्ष्णि और अयान्वित शब्द ध्यान देने योग्य हैं। मूल—जहाँ राजा का स्वकीय निवास स्थान हो, केन्द्रीयगृह। प्रत्यन्त–प्रान्तीय दुर्ग जिसके स्वकीयावास और प्रान्तीयदुर्ग गुप्त–सुरक्षित हों उसे गुप्तमूल प्रत्यन्त कहा जाता है। शुद्धपार्ष्णिः=यहाँ शुद्ध शब्द का अर्थ शोधित किया गया अथवा उन्मूलित कर दिया गया या उखाड़ कर फेंक दिया गया करना चाहिए। पार्ष्णि शब्द पृष्ठ भाग में रहने वाले शत्रु के लिए प्रयुक्त हुआ है। जिसके पृष्ठ प्रदेश के शत्रु उद्धृत हो चुके हों अथवा जिसका पृष्ठभाग पूर्ण सुरक्षित हो उसे शुद्धपार्ष्णि कहते हैं। अयान्वितः–शुभाशंसी भाग्य 'अय" कहलाता है। जो सौभाग्य से समन्वित है उसे अयान्वित कहते हैं॥ २६॥

दिग्विजयार्थमुद्यतस्य रघोरुपरि पौरैः लाजवर्षणमाह—

अवाकिरन् वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः।
पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम्॥ २७॥

सञ्जी०—वयोवृद्धाः पौरयोषितस्तं रघुं प्रयान्तं लाजैराचारलाजैः। मन्दरोद्धूतैः पृषतैर्बिन्दुभिः क्षीरोर्मयः क्षीरसमुद्रोर्मयोऽच्युतं विष्णुमिव। अवाकिरन्पर्यक्षिपन्॥ २७॥

अन्वयः—वयोवृद्धाः पौरयोषितः तं लाजैः मन्दरोद्धूतैः पृषतैः क्षीरोर्मयः अच्युतम् इव अवाकिरन्।

हिन्दी—जिस प्रकार मन्दराचल से समुत्थित दुग्धकणों से क्षीरसागर

की तरङ्गों ने भगवान् विष्णु का अभिषेक किया उसी प्रकार दिग्विजय के लिए प्रस्तुत उस रघु के ऊपर वयोवृद्ध नगर की नारियों ने धान के लावों की वर्षा की ॥ २७ ॥

प्रथमतः रघोः पूर्वदिग्गमनमाह—

स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा ।
अहिताननिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः ॥ २८ ॥

सञ्जी०—प्राचीनबर्हिर्नाम कश्चिन्महाराज इति केचित् । प्राचीनबर्हिरिन्द्रः 'पर्जन्यो मघवा वृषा हरिहयः प्राचीनबर्हिः स्मृतः' इतीन्द्रपर्यायेषु हलायुधाभिधानात् । तेन तुल्यः स रघुः अनिलेनानुकूलवातेनोद्धूतैः केतुभिर्ध्वजैरहितान् रिपूंस्तर्जयन्निव भर्त्सयन्निव । तर्जिभर्त्स्योर्नुदात्तेत्त्वेऽपि चक्षिङो ङित्करणेनानुदात्तेत्त्वनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वज्ञापनात्परस्मैपदमिति वामनः । प्रथमं प्राचीं दिशं ययौ । ॥ २८ ॥

अन्वयः—प्राचीनबर्हिषा तुल्यः स अनिलोद्धूतैः केतुभिः अहितान् तर्जयन्निव प्रथमं प्राचीं ययौ ।

हिन्दी—इन्द्र के समान महाराज रघुने पवन से उड़ाये जाते हुए ध्वज से मानों शत्रुओं को तर्जना-फटकारते हुए सर्वप्रथम पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान किया ॥ २८ ॥

रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः ।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेवभूतलम् ॥ २९ ॥

सञ्जी०—किं कुर्वन् स्यन्दनोद्धूतैः रजोभिर्घनसन्निभैर्वर्णतः, क्रियातः परिमाणतश्च मेघतुल्यैर्गजैश्च यथाक्रमं व्योमाकाशं भुवस्तलमिव भूतलं च व्योमेव कुर्वन् । ययाविति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ २९ ॥

अन्वयः—स्यन्दनोद्धूतै रजोभिः घनसन्निभैः गजैश्च व्योम भुवस्तलम् इव भूतलं व्योमेव कुर्वन् 'ययौ' इति पूर्वश्लोकेनान्वयः ।

हिन्दी—रथों के द्वारा उड़ाई गई धूलि राशि से आकाश को भूतल के समान और बादलों के समान हाथियों से भूतल को आकाश के समान बनाते हुए महाराज रघु पूर्व दिशा की ओर चले ॥ २९ ॥

रघोः सैन्यप्रमाणमाह—

प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम्।
ययौ पश्चाद्रथादीति चतुस्कन्धेव सा चमूः ॥ ३० ॥

सञ्जी०—अग्रे प्रतापस्तेजोविशेषः। 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः। ततः शब्दः सेनाकलकलः तदनन्तरं परागो धूलिः। 'परागः पुष्परजसि धूलिस्नानीययोरपि' इति विश्वः। पश्चाद्रथादि रथाश्वादिकं चतुरङ्गबलम्। 'स्थानीकम्' इति पाठे, इतिशब्दाध्याहारेण योज्यम्। इतीत्थं चतुःस्कन्धेव चतुर्व्यूहेव। स्कन्धः प्रकाण्डे कायांशे विज्ञानादिषु पञ्चसु। नृपे समूहे च' इति हैमः। सा चमूर्ययौ ॥ ३० ॥

अन्वयः—अग्रे प्रतापः, ततः शब्दः तदनन्तरं परागः पश्चाद् रथादि इति चतुस्कन्धा इव सा चमूः ययौ।

हिन्दी—रघु के दिग्विजय अभियान में सबसे आगे उनका प्रताप चला, तब सेना का कलकल घोष चला, इसके बाद धूलि चली, तदन्तर पीछे से रथ आदि चले। इस प्रकार मानों चार व्यूहों वाली की भाँति वह सेना चली ॥ ३० ॥

रघोः प्रतापातिशयात्सर्वत्र सुगमनमाह—

मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः ॥ ३१ ॥

सञ्जी०—स रघुः शक्तिमत्त्वात्समर्थत्वान्मरुपृष्ठानि निर्जलस्थानानि। 'समानौ मरुधन्वानौ' इत्यमरः। उदम्भांस्युद्भूतजलानि चकार। नाव्याः—नौभिस्तार्याः नदीः। 'नाव्यं त्रिलिङ्गं नौतार्ये' इत्यमरः। 'नौवयोधर्मविषमूलसीतातुलाभ्यः' इत्यादिना यत्प्रत्ययः। सुप्रतराः सुखेन तर्याश्चकार। विपिनान्यरण्यानि। 'अटव्यरण्यं विपिनम्' इत्यमरः। प्रकाशानि निर्वृक्षाणि चकार। शक्त्युत्कर्षात्तस्यागम्यं किमपि नासीदिति भावः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—सः शक्तिमत्त्वात् मरुपृष्ठानि उदम्भांसि चकार, नाव्याः नदीः सुप्रतराः (चकार) विपिनानि प्रकाशानि (चकार)।

हिन्दी—अपनी शक्तिमत्ता के कारण महाराज रघु ने मरुस्थलो को जलमय बना दिया; नौका से पार करने योग्य नदियों को सुगमतापूर्वक जाने

योग्य बना दिया और सघन वृक्षों से घिरे होने के कारण अन्धकारपूर्ण कानन को (काट छांटकर) प्रकाशमय बना दिया ।। ३१ ।।

पूर्वसागरगामिनीं महतीं सेनामाह—

स सेनां महतीं कर्षन् पूर्वसागरगामिनीम् ।
बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः ।। ३२ ।।

सञ्जी०—महतीं सेनां पूर्वसागरगामिनीं कर्षन् स रघुः हरस्य जटाभ्यो भ्रष्टां गङ्गां कर्षन् । (साऽपि पूर्वसागरगामिनी) भगीरथ इव बभौ । भागीरथी नामा कश्चित्कपिलदग्धानां सगराणां नप्ता, तत्पावनाय हरकिरीटाद् गङ्गां प्रवर्तयिता राजा, यत्सम्बन्धाद् गङ्गा च भागीरथी गीयते ।।३२।।

अन्वयः—महतीं सेनां पूर्वसागरगामिनीम् कर्षन् सः हरजटाभ्रष्टां गंगां कर्षन् भगीरथः इव बभौ ।

हिन्दी—पूर्वी समुद्र की ओर जाने वाली विशाल सेना को ले जाते हुए महाराज रघु उसी प्रकार सुशोभित हुए जिस प्रकार शङ्कर की जटा से गिरी पूर्वसागर की ओर जाने वाली गंगा को ले जाते हुए महाराज भगीरथ सुशोभित हुए थे ।। ३२ ।।

रघुसैन्यस्याप्रतिहतं मार्गमाह—

त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः ।
तस्यासीदुल्बणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ।। ३३ ।।

सञ्जी०—फलं लाभम् । 'फलं फले धने बीजे निष्पत्तौ भोगलाभयोः' इति केशवः । वृक्षपक्षे—प्रसवं च । त्याजितैः त्यजेर्ण्यन्ताद् द्विकर्मकाद् प्रधाने कर्मणि क्तः । उत्खातैः स्वपदाच्च्यावितैः । अन्यत्रोत्पाटितैः बहुधा भग्नैः रणे जितैः । अन्यत्र छिन्नैः नृपैः पादपैः दन्तिनो गजस्येव । तस्य रघोर्मार्ग उल्बणः प्रकाश आसीत् । 'प्रकाशं प्रकटं स्पष्टमुल्बणं बिशदं स्फुटम्' इति यादवः ।।

अन्वयः—फलं त्याजितैः उत्खातैः बहुधा भग्नैश्च नृपैः पादपैः दन्तिनः इव तस्य मार्गः उल्बण आसीत् ।

हिन्दी—जिस प्रकार प्रबल गजेन्द्र मार्ग में चलते समय मिलने वाले वृक्षों को कहीं फलों से विहीन कर कहीं उसे उखाड़ कर और कहीं तोड़-फोड़

कर विविध प्रकार से छिन्न-भिन्न कर अपना मार्ग प्रशस्त करता चलता है। उसी प्रकार महाराज रघु ने अपने दिग्विजय मार्ग में पड़ने वाले राजाओं में से किसी को राज्यपद लाभ से वंचित कर, किसी को अपने पदसे हटाकर और किसी को युद्ध में पछाड़ कर विविध प्रकार से राजाओं से अपना मार्ग प्रशस्त (निष्कण्टक) किया ॥ ३३ ॥

अथ दिग्विजयिनः रघोः पूर्वसागरोपकण्ठप्राप्तिमाह—

पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्ताञ्जनदाञ्जयी ।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—जयी जयनशीलः । 'जिदृक्षिविश्री०' इत्यादिनेनिप्रत्ययः, स रघुरेवम् । पुरो भवान् पौरस्त्यान् प्राच्यान् । दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' इति त्यक् प्रत्ययः । तांस्तान् । सर्वानित्यर्थः । वीप्सायां द्विरुक्तिः जनपदात् देशानाक्रामंस्तालीवनैः श्यामं महोदधेरुपकण्ठमन्तिकं प्राप ॥ ३४ ॥

अन्वयः—जयी 'रघुः' एवं पौरस्त्यान् तान् तान् जनपदान् आक्रामन् तालीवनश्यामं महोदधेः उपकण्ठं प्राप ।

हिन्दी—इस प्रकार विजयशील महाराज रघु पूर्व दिशा के तत्तद् जनपदों को आक्रान्त करते हुए ताड़ों के वन से श्यामबर्ण महोदधि के समीप जा पहुँचे ॥ ३४ ॥

रघोः सकाशाद् सुह्मदेशीयनृपाणां चरणावपातेनाऽऽत्मसंरक्षणमाह—

अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव ।
आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ॥ ३५ ॥

सञ्जी०—अनम्राणाम् कर्मणि षष्ठी । समुत्तर्तुरुन्मूलयितुस्तस्माद्रघोः सकाशात् । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानत्वात् पञ्चमी । सिन्धुरयान्नदीवेगादिवसुह्मैः सुह्मदोशीयैः। सुह्मादयः शब्दा जनपदा वचनाः क्षत्रियमाचक्षते। वैतसीं वेनसः सम्बन्धिनीं वृत्तिम् । प्रणतिमित्यर्थः । आश्रित्य । आत्मा संरक्षितः। अत्र कौटिल्यः—'बलीयसाऽभियुक्तो दुर्बलः सर्नत्रानुप्रणतो वेतसं धर्ममातिष्ठेत्' इति ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अनम्राणां समुद्धर्तुः तस्मात् सिन्धुरयात् इव सुह्मैः वैतसीं वृत्तिम् आश्रित्य आत्मा संरक्षितः ।

हिन्दी—उद्दण्ड लोगों को समूल उखाड़ फेंकने वाले नदी के वेग के समान उस रघु से सुह्मदेशीय राजाओं ने वेत्रलता की वृत्ति–(विनम्रता=झुक-जाना) का आश्रय लेकर आत्मरक्षा की।

जिस प्रकार (नदी के तीव्र प्रवाह में उद्दण्ड—तने रहने वाले वृक्ष समूल उखड़ कर बह जाते हैं, किन्तु वेंतस की लता उमड़ते प्रवाह में झुक जाती है तो जलवेग उसके ऊपर से बह जाता है और वेतसलता की जड़ें नहीं उखड़ती हैं। उसी प्रकार प्रतापी रघु के नदी-वेग के समान प्रचण्ड शौर्य-धारा में जो उद्दण्ड राजा तनकर खड़ा हुआ, उसे तो उन्होंने जड़ से ही उखाड़ दिया किन्तु सुह्मदेश के चतुर राजाओं ने वेंत की वृत्ति–विनम्रता अपना कर आत्मरक्षा कर ली ॥ ३५ ॥

रघोः वङ्गनृपपराभवमाह—

वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः ॥ ३६ ॥

सञ्जी०—नेता नायकः स रघुर्नौभिः साधनैरुद्यतान् संनद्धान्वङ्गान्राज्ञस्तरसा बलेन। 'तरसी बलरंहसी' इति यादवः। उत्खायोन्मूल्य गङ्गायाः स्रोतसां प्रवाहाणामन्तरेषु द्वीपेषु जयस्तम्भान्निचखान। स्थापितवानित्यर्थः ॥

अन्वयः—नेता सः नौसाधनोद्यतान् वङ्गान् तरसा उत्खाय गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु जयस्तम्भान् निचखान ॥ ३६ ॥

हिन्दी—उस सेनानायक रघु ने नौका के साधन से युद्ध करने के लिए उद्यत वंगदेशीय राजाओं को बलपूर्वक समुन्मूलितकर—जड़ से ही उखाड़कर गङ्गा की धारा के मध्य-द्वीप में अपने विजयस्तम्भों को गाड़ दिया ॥ ३६ ॥

विजितवङ्गनृपप्रणतिमाह—

आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥ ३७ ॥

सञ्जी०—आपादपद्ममङ्घ्रिपद्मपर्यन्तं प्रणतः। अत एवोत्खाताः पूर्वमुद्धृता अपि प्रतिरोपिताः पश्चात्स्थापितास्ते वङ्गाः, कलमा इव शालिविशेषा इव। 'शालयः कलमाद्याश्च षष्टिकाद्याश्च पुंस्यमी' इत्यमरः। तेऽप्या-

पादपद्मं पादपद्ममूलपर्यन्तं प्रणताः । 'पादौ बुध्ने तुरीयांशशैलप्रत्यन्तपर्वताः' इति विश्वः । उत्खातप्रतिरोपिताश्च । रघुं फलैर्धनैः । अन्यत्र सस्यैः संवर्धयामासुः 'फलं फले घने बीजे निष्पत्तौ भोगलाभयोः । सस्ये' इति केशवः ॥३७॥

अन्वयः—आपादपद्मप्रणताः उत्खातप्रतिरोपिताः ते कलमा इव रघुं फलैः संवर्द्धयामासुः ।

हिन्दी—चरणकमलों तक झुके हुए–विनत उखाड़ कर पुनः स्थापित किये गये—रोपे गये कलम नामक धान के समान उन (वंगदेशीय) राजाओं ने रघु को फलों—धनधान्यों से समृद्ध बना दिया ॥ ३७ ॥

वङ्गविजयानन्तरं कलिङ्गाभिमुखप्रस्थानमाह—

स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः ।
उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥ ३८ ॥

सञ्जी०—स रघुर्बद्धा द्विरदा एव सेतवो येस्तैः सैन्यैः कपिशां नाम नदीं तीर्त्वा । 'करभाम्' इति केचित्पठन्ति । उत्कलैः राजभिरादर्शितपथः सन्दर्शितमार्गः सन् कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥ ३८ ॥

अन्वयः—सः बद्धद्विरदसेतुभिः सैन्यैः कपिशां तीर्त्वा उत्कलादर्शितपथः सन् कलिङ्गाभिमुखो ययौ ।

हिन्दी—आबद्ध गजराज ही जिनके जलसेतु हैं ऐसे सैनिकों से कपिशा नदी पार कर वे महाराज रघु उत्कल देश के राजाओं के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग के अनुसार कलिङ्ग की ओर चले ॥ ३८ ॥

रघोः महेन्द्राचलव्यापिप्रतापमाह—

स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत् ।
अङ्कुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—स रघुर्महेन्द्रस्य कुलपर्वतविशेषस्य । 'महेन्द्रो मलयः सह्यः शक्तिमानृक्षपर्वतः । विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः' । इति विष्णुपुराणात् । मूर्ध्नि तीक्ष्णं दुःसहं प्रतापम् । यन्ता सारथिर्गम्भीरवेदिनो द्विरदस्य गजविशेषस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं शितमंकुशमिव । न्यवेशयन्निक्षिप्तवान् । 'त्वग्भेदाच्छोणितस्रावान्मांसस्य कथनादपि । आत्मानं यो न जानाति स स्याद् गम्भीर-

वेदिता ।' इति राजपुत्रीये । 'चिरकालेन यो वेत्ति शिक्षां परिचितामपि । गम्भीरवेदी विज्ञेयः स गजो गजवेदिभिः', इति मृगचर्मीये ।। ३९ ।।

अन्वयः—सः महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं प्रतापं यन्ता गम्भीरवेदिनः द्विरदस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णम् अङ्कुशम् इव न्यवेशयत् ।

हिन्दी—जिस प्रकार हाथी का संचालक (पिलवान) गम्भीर वेदी (गहरा आघात होने पर ही जानने वाला—साधारण चोट को कुछ समझता ही नहीं) हाथी के मस्तक में तीव्र अङ्कुश भोंक देता है उसी प्रकार उस महाराज रघु ने महेन्द्र पर्वत के शिखर पर अपना प्रचण्डप्रताप स्थापित किया । अपना उग्र प्रभाव जमा लिया ।। ३९ ।।

कलिङ्गानां राजा तं रघुमस्त्रैः प्रतिजग्राहेत्याह—

प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः ।
पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः ।। ४० ।।

सञ्जी०—गजसाधनः सन् कलिङ्गानां राजा 'द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्' इत्यनेनाण्प्रत्ययः । अस्त्रैरायुधैस्तं रघुम् । पक्षाणां छेदे उद्यतमुद्युक्तं शक्रं शिलावर्षी पर्वत इव प्रतिजग्राह प्रत्यभियुक्तवान् ।। ४० ।।

अन्वयः—गजसाधनः कालिङ्गः अस्त्रैः तं पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षी पर्वत इव प्रतिजग्राह ।

हिन्दी—जिस प्रकार पर्वतों ने अपने पक्ष (पंख) काटने के लिए उद्यत इन्द्र का पत्थरवर्षा से सामना किया उसी प्रकार अपने समर्थन करने वाले पक्षधरों के पक्षों को उच्छिन्न करने के लिए उद्यत रघु का पर्याप्त गजसाधन वाले कलिङ्गदेश के राजा ने अस्त्रों से प्रतिरोध किया ।। ४० ।।

रघोः विजयश्रीलाभमाह—

द्विषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम् ।
सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम् ।। ४१ ।।

सञ्जी०—काकुत्स्थो रघुस्तत्र महेन्द्राद्रौ द्विषां नाराचदुर्दिनं नाराचानां बाणविशेषाणां दुर्दिनम् । लक्षणया वर्षमुच्यते । विषह्य सहित्वा सद्यथाशास्त्रं मङ्गलस्नात इव विजयमङ्गलार्थमभिषिक्त इव जयश्रियं प्रतिपेदे प्राप । 'यत्तु सर्वौषधिस्नानं तन्मङ्गल्यमुदीरितम्' इति यादवः ।। ४१ ।।

अन्वयः—काकुत्स्थः तत्र द्विषां नाराचदुर्दिनम् विषह्य सन्मङ्गलस्नातः इव जयश्रियं प्रतिपेदे ।

हिन्दी—जिस प्रकार विधिपूर्वक मङ्गलस्नान करने वाला (राजा) राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करता है उसी प्रकार कलिङ्ग देश में ककुत्स्थवंश में उत्पन्न महाराज रघु ने शत्रुओं के बाणों की वर्षा का दुर्दिन सहन कर विजय-लक्ष्मी प्राप्त की ॥ ४१ ॥

महेन्द्राचले रघुसैन्यविजयोत्सवमाह—

ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः ।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—तत्र महेन्द्रादौ युध्यन्त इति योधाः । पचाद्यच् । रचिताः कल्पिता आपानभूमयः पानयोग्यप्रदेशा यैस्ते तथोक्ताः सन्तो नारिकेलासवं नारिकेलमद्यं ताम्बूलीनां नागवल्लीनां दलैः पपुः, तत्र विजह्रुरित्यर्थः । शात्रवं यशश्च पपुः जह्रुरित्यर्थः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—तत्र योधाः रचितापानभूमयः सन्तः नारिकेलासवं ताम्बूलीनां दलैः पपुः शात्रवं यशश्च पपुः ।

हिन्दी—वहाँ मदेन्द्र पर्वत पर रघु के वीर योद्धाओं ने मद्य पीने योग्य-स्थान बनाकर पान के पत्तों के दोनों से नारियल का मधुर मद्य का पान किया और शत्रु का यश भी पी लिया अर्थात् शत्रुस्वरूप कलिङ्गराज की इतने दिनों की अर्जित अपराजित कीर्ति को स्वयं विजयी होकर मिट्टी में मिला दिया ॥ ४२ ॥

रघुः शरणागतं महेन्द्रपतिं पुनः पदासीनमकरोदित्याह—

गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः ।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥ ४३ ॥

सञ्जी०—धर्मविजयी धर्मार्थं विजयशीलः स नृपो रघुः । गृहीतश्चासौ प्रतिमुक्तश्च गृहीतप्रतिमुक्तः । तस्य महेन्द्रनाथस्य कालिङ्गस्य श्रियं जहार । धर्मार्थमिति भावः । मेदिनीं तु न जहार । शरणागतवात्सल्यादिति भावः ॥

अन्वयः—धर्मविजयी सः नृपः गृहीतप्रतिमुक्तस्य महेन्द्रनाथस्य श्रियं जहार मेदिनीं तु न जहार ।

हिन्दी—धर्म के लिए विजयार्थी महाराज रघु ने पहले पराजित कर (स्वाधीन कर) पुनः विनत हो जाने पर (दयावश) मुक्त कर दिये गये कलिंगराज की केवल लक्ष्मी (शोभा) को ही छीन लिया पर उनकी भूमि नहीं छीनी ॥४३॥

एवं पूर्वदिशायां विजयश्रियमादाय रघुः दक्षिणां दिशमभिययावित्याह—

ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना।
अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥ ४४ ॥

सञ्जी०—ततः प्राचीविजयानन्तरम् फलवत्पूगमालिना फलितक्रमुकश्रेणीमता। व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः। वेलायाः समुद्रकूलस्य तटेनोपान्तेनैवागस्त्येनाचरितामाशां दक्षिणां दिशमनाशास्यजयः अयत्नसिद्धत्वादप्रार्थनीयजयः सन्। ययौ। 'अगस्त्यो दक्षिणामाशामाश्रित्य नभसि स्थितः। वरुणस्यात्मजो योगी विन्ध्यवातापिमर्दनः' इति ब्रह्मपुराणे ॥ ४४ ॥

अन्वयः—ततः फलवत्पूगमालिना वेलातटेनैव अगस्त्याचरिताम् आशाम् अनाशास्यजयः सन् ययौ।

हिन्दी—पूर्व दिशा में विजयश्री प्राप्त कर लेने के बाद महाराज रघु ने फलयुक्त सुपारी की पंक्तियों से सुशोभित समुद्रतट से ही अगस्त्य मुनि द्वारा संचरित दिशा अर्थात् दक्षिण दिशा की ओर (अनायास विजय सिद्धि मिलने के कारण) बिना विजय की प्रार्थना किये ही प्रस्थान किया ॥ ४४ ॥

रघुः दक्षिणां दिशमभिगच्छन् कावेरीं नदीं प्रापेत्याह—

स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना।
कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—स रघुः गजानां दानेन मदेन सुगन्धिना सुरभिगन्धिना। 'गन्धस्येदुत्पूतिसुरभिभ्यः' इत्यनेनेकारादेशः समासान्तः। यद्यपि गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणं कर्तव्यमिति नैसर्गिकगन्धविवक्षायामेवेकारादेशः, तथाऽपि 'निरङ्कुशाः कवयः' तथा माघकाव्ये—'ववुरयुक्छदगुच्छसुगन्धयः सततगास्तुतगानगिरोऽलिभिः' (६।५०)। नैषधे च 'अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादु सुगन्धिः स्वदते तुषारा।' (३।९४) इति। 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः' इति निषेधादिनिप्रत्ययपक्षोऽपि जघन्य एव। सेनाया समवेताः सैन्याः।

'सेनायां समवेता ये सैन्यास्ते सैनिकाश्च ते' इत्यमरः। 'सेनाया वा' इति ण्य-प्रत्ययः तेषां परिभोगेण कावेरीं नाम सरितं सरितां पत्युः समुद्रस्य शङ्कनीया-मविश्वसनीयामिवाकरोत्। संभोगलिङ्गदर्शनाद्भर्तुरविश्वासो भवतीति भावः॥

अन्वयः—सः गजदानसुगन्धिना सैन्यपरिभोगेण कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिव अकरोत्।

हिन्दी—उस महाराज रघु ने मतङ्गजों के मदजल से युक्त सैनिकों के स्नान-पान-आलोडन-विलोडन आदि जलक्रीडारूप सम्भोग से कावेरी नदी को नदियों के स्वामी समुद्र के लिए मानो शङ्का करने योग्य बना दिया॥४५॥

मार्गे रघुसैन्यै मलयगिरेरुपत्यकाः अध्युषिताः इत्याह—

बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः।
मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः॥ ४६॥

सञ्जी०—विजिगीषोर्विजेतुमिच्छोर्गताध्वनस्तस्य रघोर्बलैः सैन्यैः। 'बलं शक्तिर्बलं सैन्यम्' इति यादवः। मारीचेषु मरीचवनेषूद्भ्रान्ताः परिभ्रान्ताः हारीताः पक्षिविशेषा यासु ताः। 'तेषां विशेषा हारीतो मद्गुः कारण्डवः प्लवः' इत्यमरः। मलयाद्रेरुपत्यका आसन्नभूमयः। 'उपत्यकाऽद्रेरासन्ना भूमि-रूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इत्यनेन त्यक-न्प्रत्ययः। अध्युषिताः। उपत्यकासूषितमित्यर्थः। 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम्॥ ४६॥

अन्वयः—विजिगीषोः गताध्वनः तस्य बलैः मारीचोद्भ्रान्तहारीताः मलयाद्रेः उपत्यकाः अध्युषिताः।

हिन्दी—विजय की कामना वाले कुछ दूर तक मार्ग व्यतीत करने वाले उस रघु के सैनिकों ने काली मिर्च के वनों में जहाँ हारीत नामक पक्षिविशेष भ्रमणरत थे मलयपर्वत की समीपवर्ती भूमि में निवास किया—अपना पड़ाव डाल दिया॥ ४६॥

तत्रोपत्यकासु एलानां प्राचुर्यमाह—

ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः।
तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः॥ ४७॥

सञ्जी०—अश्वैः क्षुण्णानामेलानामेलालतानामुत्पतिष्णव उत्पतनशीलाः । 'अलंकृञ्निराकृञ्—' इत्यादिनेष्णुच्प्रत्ययः । फलरेणवः फलरजांसि तुल्यगन्धिषु समानगन्धिषु । सर्वधनीतिवदिन्नन्तो बहुव्रीहिः । मत्तेभानां कटेषु ससञ्जुः सक्ताः । 'गजगण्डे कटीकटौ' इति कोशः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अश्वक्षुण्णानां एलानां उत्पतिष्णवः फलरेणवः, तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु ससञ्जुः ।

हिन्दी—घोड़ों के टापों से मर्दित इलायचियों के फलों की उड़ती हुई धूलि अपने समान सुगन्धि वाले मदोन्मत्तहाथियों के गण्डस्थलों पर आसक्त हो गई थी—जम गई थी ॥ ४७ ॥

मलयवृक्षबद्धसेनागजवर्णनमाह—

भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् ।
नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि ॥ ४८ ॥

सञ्जी०—चन्दनानां चन्दनद्रुमाणां भोगिवेष्टनमार्गेषु सर्पवेष्टनान्निम्नेषु समर्पितं सञ्चितं त्रिपदीच्छेदिनां पादशृङ्खलच्छेदकानामपि 'त्रिपदी पादबन्धनम्' इति यादवः । करिणाम् । ग्रीवासु भवं ग्रैवं कण्ठबन्धनम् । 'ग्रीवाभ्योऽच्' इत्यण्प्रत्ययः । नास्रसन्न स्रस्तमभूत् । 'द्युद्भ्यो लुङि' इति परस्मैपदे पुषादित्वादङ् । 'अनिदिता'मिति नकारलोपः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—चन्दनानां भोगिवेष्टनमार्गेषु समर्पितं त्रिपदीच्छेदिनाम् अपि करिणां ग्रैवं न अस्रसत् ।

हिन्दी—चन्दनवृक्षों में साँपों के परिवेष्टित रहने के कारण बने हुए गहरे चिह्नों में बाँधे गए, चरणों की शृङ्खलाओं के बन्धन को भी तोड़ डालने वाले हाथियों के गले के बन्धन ढीले नहीं पड़े ॥ ४८ ॥

रघोः प्रतापं पाण्ड्याः न विषेहिरे इत्याह—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥ ४९ ॥

सञ्जी०—दक्षिणस्यां दिशि रवेरपि तेजो मन्दायते मन्दं भवति । लोहितादित्वात्क्यष्प्रत्ययः । 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदम् । दक्षिणायने तेजोमान्द्या-

दिति भावः । तस्यामेव दिशि पाण्ड्याः पाण्डूनां जनपदानां राजानः पाण्ड्याः । 'पाण्डोर्ड्यण्वक्तव्यः' । रघोः प्रतापं न विषेहिरे न सोढवन्तः । सूर्यविजयिनोऽपि विजितवानिति नायकस्य महानुत्कर्षो गम्यते ॥ ४९ ॥

अन्वयः—दक्षिणस्यां दिशि रवेः अपि तेजः मन्दायते तस्याम् एव पाण्ड्याः रघोः प्रतापं न विषेहिरे ।

हिन्दी —(दक्षिणायन हो ने पर) दक्षिण दिशा में सूर्य का भी तेज मन्द पड़ जाता है; उसी दक्षिण दिशा में पाण्डु जनपद के राजा रघु का प्रताप न सहन कर सके । रघु का प्रताप सूर्य से भी अधिक प्रचण्ड रहा ऐसा प्रतीत होता है ॥ ४९ ॥

रघवे मुक्तासारोपहारसमर्पणमाह—

ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः ।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव सञ्चितम् ॥ ५० ॥

सञ्जी०—ते पाण्ड्यास्ताम्रपर्ण्या नद्या समेतस्य संगतस्य महोदधेः सम्बन्धि सञ्चितं मुक्तासारं मौक्तिकवरम् । 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्यमरः । स्वं स्वकीयं सञ्चितं यश इव । तस्मै रघवे निपत्य प्रणिपत्य ददुः । यशसः शुभ्रत्वादौपम्यम्, ताम्रपर्णीसंगमे मौक्तिकोत्पत्तिरिति प्रसिद्धम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—ते ताम्रपर्णीसमेतस्य महोदधेः सञ्चितत् मुक्तासारं स्वं सञ्चितं यशः इव तस्मै निपत्य ददुः ।

हिन्दी—पाण्डुदेशाधिपतिनृपों ने 'ताम्रपर्णी' नामक नदी सहित महासागर के संचित उत्तमोत्तम मुक्तामणियों को जो अपने उज्ज्वल यश के समान ही थे अतिशय विनम्र होकर (चरण कमलों में साष्टाङ्ग प्रणाम कर) महाराज रघु को उपहार में दिया । परमोज्ज्वल मौक्तिक मणियों को इस प्रकार समर्पित किया मानो अपनी कमाई सारी सुकीर्ति ही सौंप दी ॥ ५० ॥

रघुः मलयदर्दुरपर्वतयोः निर्विश्य सह्यपर्वतमलङ्घयति श्लोकद्वयेन युग्मेनाह—

स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ ।
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥ ५१ ॥

असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता ।
नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलङ्घयत् ॥ ५२ ॥

सञ्जी०—युग्ममेतद् । असह्यविक्रमः सः रघुस्तटेषु सानुष्वालीनचन्दनौ व्याप्तचन्दनद्रुमौ । 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । स्तनपक्षे–प्रान्तेषु व्याप्तचन्दनानुलेपौ । तस्या दक्षिणास्या दिशः स्तनाविव स्थितौ मलयदर्दुरौ नाम शैलौ यथाकामं यथेच्छं निर्विश्योपभुज्य । 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः । उदकान्यस्य सन्तीत्युदन्वानुदधिः । 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातः । उदन्वता दूरान्मुक्तं दूरतस्त्यक्तम् । 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' इति समासः । 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' इत्यलुक् । स्रस्तांशुकं मेदिन्याः नितम्बमिव स्थितं सह्यं सह्याद्रिमलङ्घयत्प्राप्तोऽतिक्रान्तो वा ॥ ५१–५२ ॥

अन्वयः—असह्यविक्रमः सः तटेषु आलीनचन्दनौ तस्याः दिशः स्तनौ इव "स्थितौ" मलयदर्दुरौ शैलौ यथाकामं निर्विश्य उदन्वता दूरान्मुक्तं स्रस्तांशुकं मेदिन्या नितम्बम् इव 'स्थितं' सह्यम् अलङ्घयत् ॥ ५१–५२ ॥

हिन्दी—असह्य पराक्रमी महाराज रघु ने पर्वतीय तटों में चन्दन वृक्षों से व्याप्त उस दक्षिण दिशा रूपी सुन्दरी के चन्दनचर्चित स्तनों के समान विराजमान 'मलय' और 'दर्दुर' नामक पर्वतों का यथेच्छ उपभोग कर समुद्र से दूरसे ही उन्मुक्त पृथ्वी के खिसके हुए वस्त्रवाले अर्थात् निर्वसन नितम्ब के समान स्थित सह्य पर्वत का अतिक्रमण कर उपभोग किया । नायिका के चन्दनचर्चित स्तन नायक द्वारा उपभोग करने योग्य होते हैं । यहाँ दक्षिण दिशा नायिका बतायी गई है । दक्षिण में चन्दनवृक्षों के आवेष्टन से युक्त मलय और दर्दुर पर्वत उसके (दक्षिणदिशा रूपी सुन्दरी के) स्तन के समान हैं । रघु ने दक्षिण दिशा में विजय प्राप्त कर ली है । अतः वे दक्षिण दिशा के नायक हैं । इसीलिए उसके स्तनों का यथेच्छ उपभोग करने में सक्षम हैं ॥५१–५२ ॥

विमर्श–पर्वतें पृथिवी के स्तन हैं एवं समुद्र मेखला है । 'समुद्रमेखलेदेवि ! पर्वतस्तनमण्डले ।' यह बात ध्यान में रखकर इस श्लोक का अर्थ समझने मे सुगमता होगी ।' दक्षिण के 'मलय' और 'दर्दुर' पर्वतों का दक्षिण-दिशा

सुन्दरी बताया गया है और समुद्र से कुछ दूर मुक्त 'सह्य' पर्वत को पृथ्वी का नितम्ब कहा गया है। रघु ने 'मलय' और 'दर्दुर' पर्वतों का तो दक्षिणदिशारूपी पत्नी के (क्योंकि राजा रघु वास्तवमें भूपति हैं और दक्षिण के विजेता नायक भी हैं। अत एव पत्नीस्वरूपा दक्षिणदिशा के स्तनों और निर्वस्त्र नितम्ब का उपभोग करना वर्णित है) दोनों स्तनों के समान कर-मर्दन चुम्बनादि द्वारा उपयोग किया और 'सह्य' पर्वत का समुद्र से कुछ दूर उन्मुक्त होने के कारण कमर से वस्त्र खिसक जाने के कारण निर्वसन-नितम्ब के रूप में अतिक्रमण पूर्वक उपभोग किया। इस प्रकार महाराज रघु का विक्रम असह्य रहा ॥ ५१–५२ ॥

प्रतीचीं दिशमभिजगामेत्याह—

तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः ।
रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत् सह्यलग्न इवार्णवः ॥ ५३ ॥

सञ्जी०—अपरान्तानां पाश्चात्यानां जय उद्यतैरुद्युक्तैः। 'अपरान्तास्तु पाश्चात्यास्ते च सूर्परिकादयः' इति यादवः। विसर्पद्भिर्गच्छद्भिस्तस्य रघोरनीकैः सैन्यैः। 'अनीकं तु रणे सैन्ये' इति विश्वः। अर्णवो रामस्य जामदग्न्यस्यास्त्रैरुत्सारितः परिसारितोऽपि सह्यलग्न इवासीत्। सैन्यं द्वितीयोऽर्णव इवादृश्यतेति भावः॥ ५३ ॥

अन्वयः—अपरान्तजयोद्यतैः विसर्पद्भिः तस्य अनीकैः अर्णवः रामास्त्रोत्सारितः अपि सह्यलग्नः इव आसीत्।

हिन्दी—पश्चिमी नरेशों के विजय करने में उद्यत फैल कर जाती हुई रघु की सेनाओं से परशुराम के अस्त्रों से हटाया गया भी समुद्र सह्य पर्वत में सटे हुए की भाँति लग रहा था॥ ५३ ॥

विमर्श—प्राचीनकाल में ब्राह्मणों ने अपने रहने के लिए परशुराम जी से भूमि मांगी तो परशुराम जी ने सह्य पर्वत से समुद्र को अपने अस्त्रों से हटा दिया। वही भूमि ब्राह्मणों की आवासस्थली बनी। जब महाराज रघु की विशाल सेना पश्चिमी राजाओं को जीतने के लिए उमड़ती हुई चली तो ऐसा लगा कि मानों सागर ही उमड़ कर सह्य पर्वत के अति निकट आकर उससे मिल गया हो। तात्पर्य यह है कि सह्य पर्वत और सागर के बीच जो

दूरी थी वह सागर के समान विशाल रघु की सेना से पटकर सह्य पर्वत से लगी हुई-सी दीखने लगी ॥ ५३ ॥

भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम् ।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—तेन रघुणा भयेनोत्सृष्टविभूषाणां परिहृतभूषणानां केरलयोषितां केरलाङ्गनानामलकेषु चमूरेणुः सेनारजश्चूर्णस्य कुङ्कुमादिरजसः प्रतिनिधीकृतः एतेन योषितां पलायनं चमूनां च तदनुधावनं ध्वन्यते ॥५४॥

अन्वयः—तेन भयोत्सृष्टविभूषाणां केरलयोषिताम् अलकेषु चमूरेणुः चूर्णप्रतिनिधीकृतः ।

हिन्दी—महाराज रघु ने (सेना के) भय से आभूषणों का परित्याग कर देने वाली केरल देश की स्त्रियों के सिर के बालों पर सेना की धूलि को कुङ्कुमरज का प्रतिनिधि बना दिया ॥ ५४ ॥

विमर्श—जब केरल की स्वभावतः भीरु प्रकृति वाली स्त्रियों ने महाराज रघु की विशाल सेना देखी तो भय के मारे अपने-अपने आभूषणों को छोड़कर भाग खड़ी हुई, तब उनके मस्तक के घुंघराले बालों पर सेना के द्वारा उड़ायी गई धूलि उड़कर जा बैठी । वही बालों में लगी धूलि इस प्रकार लगने लगी मानों कुंकुम पराग का प्रतिनिधित्व कर रही हो ॥ ५४ ॥

रघोः सेना मुरलानदीं प्रापेत्याह—

मुरलामारुतोद्धूतमगमत् कैतकं रजः ।
तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम् ॥ ५५ ॥

सञ्जी०—मुरला नाम केरलदेशेषु काचिन्नदी । 'मुरलीमारुतोद्धूतम्' इति केचित्पठन्ति । तस्या मारुतेनोद्धूतमुत्थापितं कैतकं केतकीसम्बन्धि रजस्तद्योधवारबाणानां रघुभटकञ्चुकानाम् । 'कञ्चूको वारबाणोऽस्त्री' इत्यमरः । अयत्नपटवासतामयत्नसिद्धवस्त्रवासनाद्रव्यत्वमगमत् 'पिष्टातः पटवासकः' इत्यमरः ॥ ५५ ॥

अन्वयः— मुरलामारुतोद्धूतं कैतकं रजः तद्योधवारबाणानां अयत्नपटवासताम् अगमत् ।

हिन्दी—मुरला नामक नदी की हवा से उड़ाये हुए केतकी पुष्पों के पराग उस रघु के सैनिकों के कवचों के लिए अनायास ही वस्त्रों को सुवासित बनाने वाले चूर्णपदार्थ हो गये ॥ ५५ ॥

रघोः चलतां वहानां राजतालीवनप्रवेशमाह—

अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रशिञ्जितैः ।
वर्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—चरतां गच्छतां वाहानां वाजिनाम् । 'वाजिवाहार्वगन्धर्वहय-सैन्धवसप्तयः इत्यमरः । गात्रशिञ्जितैर्गात्रेषु शब्दायमानैः । कर्तरि क्तः । "गात्रसञ्जितैः' इति वा पाठः । सञ्जतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । वर्मभिः कवचैः । "मर्मरः' इति पाठे वाहानां गात्रशिञ्जितैर्गात्रध्वनिभिरित्यर्थः । मर्मरो मर्मरायमाण इति ध्वनेर्विशेषणम् । पवनेनोद्धूताना कम्पितानां राजतालीवनानां ध्वनिरभ्यभूयत तिरस्कृतः । ॥ ५६ ॥

अन्वयः—चरतां वाहानां गात्रशिञ्जितैः वर्मभिः पवनोद्धूतराजताली-वनध्वनिः अभ्यभूयत ।

हिन्दी—चलते हुए घोड़ों की पीठपर खनखन की ध्वनि करने (खनखना कर वजने) वाले कवचों की झनझनाहट से वायु से आन्दोलित बड़े-बड़े ताड़ों के वन की ध्वनि अभिभूत हो गई—पराजित हो गई या मात खा गई ॥ ५६ ॥

पुन्नागेभ्यः भ्रमराः रघुगजकटेषु निपतन्नित्याह—

खर्जूरीस्कन्धनद्धानां महोद्गारसुगन्धिषु ।
कटेषु करिणां पेतुः पुन्नागेभ्यः शिलीमुखाः ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—खर्जूरीणां तृणद्रुमर्विशेषाणाम् । 'खर्जूरः केतकी ताली खजूरी च तृणद्रुमाः' इत्यमरः । स्कन्धेषु प्रकाण्डेषु । 'अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मलाच्छाखाऽवधेस्तरोः' इत्यमरः । नद्धानां बद्धानां करिणां मदोद्गारेण मदस्रावेण सुगन्धिषु । 'गन्धस्येत्पूतिसुसुरभिभ्यः' इत्यनेनेकारः । कटेषु पुन्नागेभ्यो नागकेसरेभ्यः पुन्नागपुष्पाणि विहाय । ल्यब्लोपे पञ्चमी । शिलीमुखा

अलयः पेतुः । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः । ततोऽपि सौगन्ध्यातिशया-दिति भावः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—खर्जूरीस्कन्धनद्धानां करिणां मदोद्गारसुगन्धिषु कटेषु पुन्नागेभ्यः शिलीमुखाः पेतुः ।

हिन्दी—खजूर के स्कन्ध में बांधे गए रघु के हाथियों के मदधार से सुगन्धित गण्डस्थलों पर पुन्नाग—नागकेसर के पुष्पों से (नागकेसर के पुष्पों को छोड़कर (भ्रमर आ बैठे ॥ ५७ ॥

विमर्श—पहले भ्रमर नागकेसर के पुष्पों पर बैठे थे, किन्तु जब उन्हें खजूर में बांधे रघु के हाथियों के मद की अधिक सुगन्धि मिली तो वे पुष्पों को छोड़कर हाथियों के गण्डस्थलों पर आ बैठे ॥ ५७ ॥

पाश्चात्त्याः नृपाः रघवे करं ददावित्याह—

अवकाशं किलोदन्वान् रामायाभ्यर्थितो ददौ ।
अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम् ॥ ५८ ॥

सञ्जी०—उदन्वानुदधी रामाय जामदग्नाय । अभ्यर्थितो याचितः सन् । अवकाशं स्थानं ददौ किल । किलेति प्रसिद्धौ । रघवे त्वपरान्तमहीपालव्याजेन करं बलिं ददौ । 'बलिर्हस्तांशवः कराः' इत्यमरः । अपरान्तानां समुद्रमध्यदेशवर्तित्वात्तैर्दत्ते करे समुद्रदत्तत्वोपचारः । करदानं च भीत्या न तु याञ्चयेति रामाद्रघोरुत्कर्षः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—उदन्वान् रामाय अभ्यर्थितः अवकाशं ददौ किल, रघवे अपरान्तमहीपालव्याजेन करं 'ददौ' ।

हिन्दी—सागर ने परशुराम जी को प्रार्थना करने पर स्थान ही दिया था किन्तु महाराज रघु को तो पश्चिमी नरेशों के व्याज-बहाने से 'कर' दिया । इससे यह ध्वनित होता है कि महाराज रघु समुद्र की दृष्टि में भी परशुराम की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली थे ॥ ५८ ॥

रघुः त्रिकूटाचलमेव जयस्तम्भं चकारेत्याह—

मत्तेभरदनोत्कीर्ण-व्यक्तविक्रमलक्षणम् ।
त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः ॥ ५९ ॥

सञ्जी०—तत्र स रघुर्मत्तानामिभानां रदनोत्कीर्णानि दन्तक्षतान्येव, भावे क्तः, व्यक्तानि स्फुटानि विक्रमलक्षणानि पराक्रमचिह्नानि विजयवर्णावलिस्थानानि यस्मिंस्तं तथोक्तं त्रिकूटमेवोच्चैर्जयस्तम्भं चकार। गाढप्रहारस्त्रिकूटोऽद्रिरेवोत्कीर्णवर्णस्तम्भो रघोर्जयस्तम्भोऽभूदित्यर्थः ॥५९॥

अन्वयः—तत्र सः मत्तेभरदनोत्कीर्ण-व्यक्तविक्रमलक्षणं त्रिकूटम् एव उच्चैः जयस्तम्भं चकार।

हिन्दी—वहाँ केरल देश में उस रघु ने मदोन्मत्तहाथियों के दाँतों से उत्कीर्ण—खोदे गए अभिव्यक्त पराक्रम के लक्षण वाले त्रिकूट पर्वत को ही महोच्च विजयस्मारक स्तम्भ बनाया ॥ ५९ ॥

विमर्श—महाराज रघु के हाथियों ने त्रिकूट पर्वत के शिखरों में अपने दाँतों को रगड़ लिया जिससे चोटी में घर्षणजन्य दरारें अभिलेखपंक्ति के समान दीखने लगीं। रघुने त्रिकूटपर्वत को विजयस्तम्भ बनाया और उसमें हाथियों के दाँतों के उत्खनन से उत्पन्न खरोंच पराक्रम के लक्षणों से युक्त अभिलेखपंक्ति के समान लगने लगी ॥ ५९ ॥

ततः पारसीकान् विजेतुं प्रतस्थे इत्याह—

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥ ६० ॥

सञ्जी०—ततः स रघुः। संयमी योगी तत्त्वज्ञानेनेन्द्रियाख्यानिन्द्रियनामकान् रिपूनिव पारसीकान् राज्ञो जेतुं स्थलवर्त्मना प्रतस्थे। न तु निर्दिष्टेनापि जलपथेन, समुद्रयानस्य निषिद्धत्वादिति भावः ॥ ६० ॥

अन्वयः—ततः (सः रघुः) संयमी तत्त्वज्ञानेन इन्द्रियाख्यान् रिपून् इव पारसीकान् जेतुं स्थलवर्त्मना प्रतस्थे।

हिन्दी—केरल विजय के पश्चात् महाराज रघु ने जिस प्रकार संयमी योगी परमतत्त्व के स्वरूपज्ञान से इन्द्रिय नामक शत्रुओं को जीतता है उसी प्रकार पारस देश के नरेशों को जीतने के लिए भूमार्ग से प्रस्थान किया ॥६०॥

रघुः यवनीमुखारविन्दमधुमदं न सेहे इत्याह—

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥ ६१ ॥

सञ्जी०—स रघुर्यवनीनां यवनस्त्रीणाम्। 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीष्। मुखानि पद्मानीव मुखपद्मानि। उपमितसमासः। तेषां मधुना मद्येन यो मदो मदरागः। कार्यकारणभावयोरभेदेन निर्देशः। तं न सेहे। कमिव। अकाले प्रावृड्व्यतिरिक्ते काले जलदोदयः। प्रायेण प्रावृषि पद्मविकासस्याप्रसक्तत्वादब्जानां सम्बन्धिनं बालातपमिव। अब्जहितत्वादब्जसम्बन्धित्वं सौरातपस्य ॥ ६१ ॥

अन्वयः—सः यवनीमुखपद्मानां मधुमदं अकालजलदोदयः अब्जानां बालातपम् इव।

हिन्दी—महाराज रघु ने यवनीस्त्रियों के मुखकमल का मधुमद उसी प्रकार नहीं सहा जिस प्रकार असमय मेघों का प्रादुर्भाव प्रातःकालीन सूर्य के आतप को नहीं सहता है ॥ ६१ ॥

अथ पारसीकैः सह रघोः तुमुलयुद्धं बभूवेत्याह—

संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्त्यैरश्वसाधनैः।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—तस्य रघोरश्वसाधनैर्वाजिसैन्यैः। 'साधनं सिद्धिसैन्ययोः' इति हैमः। पश्चाद्भवैः पाश्चात्त्यैर्यवनैः सह। 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' इति त्यक्। सहार्थे तृतीया। शृङ्गानां विकाराः शार्ङ्गाणि धनूंषि तेषां कूजितैः शब्दैः। 'शार्ङ्गं पुनर्धनुषि शार्ङ्गिणः। जये च शृङ्गविहिते चापेऽप्याह विशेषतः' इति केशवः। अथवा शार्ङ्गैः शृङ्गसम्बन्धिभिः कूजितैर्विज्ञेया अनुमेयाः प्रतियोधाः प्रतिभटा यस्मिंस्तस्मिन् रजसि तुमुलः संग्रामः संकुलं युद्धमभूत्। 'तुमुलं रणसंकुले' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—तस्य अश्वसाधनैः पाश्चात्त्यैः 'सह' शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजसि तुमुलः संग्रामः अभूत्।

हिन्दी—उस महाराज रघु का अश्व सेना प्रधान पश्चिमी नरेशों के साथ धूलि में, जहाँ धनुष के शब्द से ही प्रतिभटों का अनुमान किया जा सकता था घनघोर संग्राम हुआ ॥ ६२ ॥

रघुः तेषां शिरोभिः महीं तस्तारेत्याह—

भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥ ६३ ॥

सञ्जी०—स रघुर्भल्लापवर्जितैर्बाणविशेषकृतैः । 'स्नुहीदलफलो भल्लः' इति यादवः । श्मश्रुलैः प्रवृद्धमुखरोमवद्भिः । 'सिध्मादिभ्यश्च' इति लच्प्रत्ययः । तेषां पाश्चात्यानां शिरोभिः सरघाभिर्मधुमक्षिकाभिर्व्याप्तैः । सरघामधुमक्षिका' इत्यमरः । क्षुद्राः सरघाः । 'क्षुद्रा व्यङ्गा नटी वेश्या सरघा कण्टकारिका' इत्यमरः । क्षुद्राभिः कृतानि क्षौद्राणि मधूनि । 'मधु क्षौद्रं माक्षिकादि' इत्यमरः । 'क्षुद्राभ्रमरवटरपादपादञ्' इति संज्ञायामञ्प्रत्ययः । तेषां पटलैः सञ्चयैरिव । 'पटलं तिलके नेत्ररोगे छन्दसि सञ्चये । पिटके परिवारे च' इति हेमः । महीं तस्ताराच्छादयामास ॥ ६३ ॥

अन्वयः—सः भल्लापवर्जितैः श्मश्रुलैः तेषां शिरोभिः सरघाव्याप्तैः क्षौद्रपटलैः इव महीं तस्तार ।

हिन्दी—जिस प्रकार मधुमक्खियों से मधु का छत्ता आच्छादित रहता है उसी प्रकार महाराज रघु ने 'भाला' नामक अस्त्रों से उच्छिन्न मस्तकों से जिसमें दाढ़ी मूँछ लगे थे, भूमि को ढक दिया ॥ ६३ ॥

हतावशिष्टाः पारसीकाः रघुंशरणं गता इत्याह—

अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः ।
प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥ ६४ ॥

सञ्जी०—शेषा हतावशिष्टा अपनीतशिरस्त्राणा अपसारितशीर्षण्याः सन्तः । 'शीर्षकम् । शीर्षण्यं च शिरस्त्रे' इत्यमरः । शरणागतलक्षणमेतत् । तं रघुं शरणं ययुः । तथाहि । महात्मनां संरम्भः कोपः । 'संरम्भः सम्भ्रमे कोपे' इति विश्वः । प्रणिपातः प्रणतिरेव प्रतिकारो यस्य स हि । महतां परकीयमौद्धत्यमेवासह्यं न तु जीवितमिति भावः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—शेषाः अपनीतशिरस्त्राणाः तं शरणं ययुः महात्मनां संरम्भः प्रणिपातप्ररीकारः हि ।

हिन्दी—मारने से अवशिष्ट यवन लोग अपने-अपने शिरस्त्राण—लौह-टोप उतारकर महाराज रघु के शरणागत हुए क्योंकि महात्माओं का प्रकोप विनयरूप प्रतीकारवाला ही होता है अर्थात् महात्माओं का प्रकोप केवल प्रणिपात से शान्त हो जाता है ॥ ६४ ॥

अथ रघुसैन्यानां विजयश्रमापनयनमाह—

विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम् ।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥ ६५ ॥

सञ्जी०—तस्य रघोर्योधा भटा आस्तीर्णान्यजिनरत्नानि चर्मश्रेष्ठानि यासु तासु द्राक्षावलयानां भूमिषु । 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा स्वाद्वी मधुरसेति च' इत्यमरः । मधुभिर्द्राक्षाफलप्रकृतिकैर्मद्यैर्विजयश्रमं युद्धखेदं विनयन्ते स्मापनीतवन्तः । 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदम् । 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—तद्योधाः आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु मधुभिः विजयश्रमम् विनयन्ते स्म ।

हिन्दी—महाराज रघु के वीरभटों ने उत्तम मृगचर्म बिछे द्राक्षामण्डप के स्थलों में मधुपान द्वारा विजय की थकावट दूर की ॥ ६५ ॥

अथ रघोः उदीचीदिशमभिप्रस्थानमाह—

ततः प्रतस्थे कौवेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम् ।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव ॥ ६६ ॥

सञ्जी०—ततो रघुर्भास्वान्सूर्य इव शरैर्बाणैरुस्रैः किरणैरिव । 'किरणोस्रमयूखांशगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः । उदीच्यानुदग्भवान् नृपान्रसानुदकानीवोद्धरिष्यन्कौवेरीं कुबेरसम्बन्धिनीं दिशमुदीचीं प्रतस्थे । अनेकेनेवशब्देनेयमुपमा । यथाऽऽह दण्डी–'एकाऽनेकेवशब्दत्वात्सा वाक्यार्थोपमा द्विधा' इति ॥

अन्वयः—ततः रघुः भास्वान् शरैः उस्रैः इव उदीच्यान् रसान् इव उद्धरिष्यन् कौवेरीं दिशम् प्रतस्थे ।

हिन्दी—पारसी राजाओं के विजयोपरान्त महाराज रघु ने जिस प्रकार सूर्य किरणों से जल सुखाते हुए उत्तरदिशा की ओर (उत्तरायण) जाते हैं उसी प्रकार बाणों से उत्तरदिशा में होने वाले राजाओं को समुन्मूलित करते हुए कुबेर की दिशा (उत्तर) की ओर प्रस्थान किया ॥ ६६ ॥

उत्तरदिशः विजययात्रायां सैन्याश्वान्वर्णयति—

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः ।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धांल्लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥ ६७ ॥

सञ्जी०—सिन्धुर्नाम काश्मीरदेशेषु कश्चिन्नदविशेषः 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्' इत्यमरः। सिन्धोस्तीरे विचेष्टनैरङ्गपरिवर्तनैर्विनीताध्वश्रमास्तस्य रघोर्वाजिनोऽश्वाः, लग्नाः कुकुमकेसराः कुंकुमकुसुमकिञ्जल्का येषां तान्। यद्वा लग्नकुङ्कुमाः केसराः सटा येषां तान्। 'अथ कुंकुमम्। काश्मीरजन्म' इत्यमरः। 'केसरो नागकेसरे। तुरङ्गसिंहयोः स्कन्धकेशेषु बकुलद्रुमे। पुन्नागवृक्षे किञ्जल्के स्यात्' इति हैमः। स्कन्धान्कायान्। 'स्कन्धः प्रकाण्डे कायेंऽसे विज्ञानादिषु पञ्चसु। नृपे समूहे व्यूहे च' इति हैमः। दुधुवुः कम्पयन्ति स्म ॥ ६७ ॥

अन्वयः—सिन्धुतीरविचेष्टनैः विनीताध्वश्रमाः तस्य वाजिनः लग्नकुङ्कुमकेसरान् स्कन्धान् दुधुवुः।

हिन्दी—सिन्धु नदी के तट पर शरीर के लोट-पोट करने से मार्ग की थकावट दूर किए हुए उस महाराज रघु के घोड़ों ने कुंकुम लगे कन्धों के बालों वाले शरीर को हिलाया-कँपाया ॥ ६७ ॥

अथ रघुः युधि हूणान् विजितवानित्याह—

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ ६८ ॥

सञ्जी०—तत्रोदीच्यां दिशि भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्। भर्तृवधेन स्फुटपराक्रममित्यर्थः। रघुचेष्टितम् रघुव्यापारः। हूणा जनपदाख्याः क्षत्रियाः तेषामवरोधा अन्तःपुरस्त्रियः। तासां कपोलेषु पाटलस्य पाटलिम्नस्ताडनादिकृतारुण्यस्यादेश्युपदेशकं बभूव। अथवा पाटल आदेश्यादेष्टा यस्य तद् बभूव। स्वयं लेख्यायत इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—तत्र भर्तृषु व्यक्तविक्रमं रघुचेष्टितम् हूणावरोधानां कपोलपाटलादेशि बभूव।

हिन्दी—वहाँ उत्तर दिशा में अपने पतियों पर अभिव्यक्त पराक्रम वाले रघु के व्यापार (चेष्टा) ने हूंणों की स्त्रियों के कपोलों पर श्वेतरक्त वर्ण बना दिया। रघु द्वारा मारे गये पतियों के शोक में हाथ से सिर-कपोल पीट-पीट कर रोनेवाली हूणस्त्रियों के कपोलों पर श्वेतमिश्रित लालिमा झलकने लगी ॥ ६८ ॥

कम्बोजविजयमाह—

काम्बोजाः समरे सोढुं कस्य वीर्यमनीश्वराः ।
गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः ॥ ६९ ॥

सञ्जी०—काम्बोजाः राजानः समरे यस्य रघोर्वीर्यं प्रभावम् । 'वीर्यं तेजः प्रभावयोः' इति हैमः । सोढुमनीश्वरा अशक्ता सन्तः । गजानामालानं बन्धनम् । भावे ल्युटि । 'विभाषा लीयतेः' इत्यात्वम् । तेन परिक्लिष्टैः परिक्षतैरक्षोटैर्वृक्षविशेषैः सार्धमानताः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—काम्बोजाः समरे तस्य वीर्यं सोढुम् अनीश्वराः 'सन्तः' गजालानपरिक्लिष्टैः अक्षोटैः सार्धम् आनताः 'बभूवुः' ।

हिन्दी—कम्बोजाधिपति संग्राम में महाराज रघु के पराक्रम—तेज को सहने में असमर्थ होते हुए हाथियों के बन्धनों से विक्षत अखरोट के वृक्षों के साथ विनम्र हो गए, झुक गए ॥ ६९ ॥

काम्बोजाः रघवे प्रचुरोपायनं ददौ इत्याह—

तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः ।
उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम् ॥ ७० ॥

सञ्जी०—तेषां काम्बोजानां सद्भिरश्वैर्भूयिष्ठा बहुलास्तुङ्गा द्रविणानां हिरण्यानाम् । 'हिरण्यं द्रविणं द्युम्नम्' इत्यमरः । राशय एवोपदा उपायनानि । 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः । कोसलेश्वरं कोसलदेशाधिपतिं तं रघुं शश्वदसकृद्विविशुः । 'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः' इत्यमरः । तथाऽप्युत्सेका गर्वास्तु न विविशुः, सत्यपि गर्वकारणे न जगर्वेत्यर्थः ॥ ७० ॥

अन्वयः—तेषां सदश्वभूयिष्ठाः तुङ्गाः द्रविणराशयः उपदाः कोसलेश्वरं शश्वद् विविशुः उत्सेकाः 'तु' न विविशुः ।'

हिन्दी—उन काम्बोजों के सुन्दर घोड़ों और प्रचुर सुवर्णराशियों का उपहार रघु को मिला पर उन्हें अभिमान छू तक न गया ॥ ७० ॥

काम्बोजविजयानन्तरं रघुः हिमालयमारोह इत्याह—

ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः ।
वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥ ७१ ॥

सञ्जी०—ततोऽनन्तरमश्वसाधनः सन् गौर्या गुरुं पितरं शैलं हिमवन्तम्। उद्धूतैरश्वखुराद्धूतैर्धातूनां गैरिकादीनां रेणुभिस्तत्कूटांस्तस्य शृङ्गाणि। 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः। वर्धयन्निव आरुरोह। उत्पतद्धूलिदर्शनाद् गिरिशिखरवृद्धिभ्रमो जात इति भावः॥ ७१॥

अन्वयः—ततः अश्वसाधनः सः गौरीगुरुं शैलं उद्धूतैः, धातुरेणुभिः तत्कूटान् वर्धयन् इव आरुरोह।

हिन्दी—तत्पश्चात् (काम्बोज विजय के अनन्तर) घोड़ों के उपकरणों से युक्त वे महाराज रघु गौरी के गुरु अर्थात् पार्वती के पिता हिमालय पर्वत पर घोड़ों के खुरों से उड़ायी गयी (मनःशिला गेरु आदि) धातुओं की धूलिराशि से उसके—(हिमालय के) शिखरों को मानों बढ़ाते हुए चढ़ गये। उड़ती हुई धूलिराशि से ऐसा लगता था मानो हिमालय की चोटी बढ़ती जा रही है॥ ७१॥

हिमालयगुहाशयानां सिंहानामालोकितमाह—

शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसम्भ्रमम्।
गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम्॥ ७२॥

सञ्जी०—तुल्यसत्त्वानां सैन्यैः समानबलानाम्। गुहासु शेरत इति गुहाशयास्तेषाम्। 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच्प्रत्ययः। 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातबिले गुहा' इत्यमरः। सिंहानां हरीणाम्। 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरः। सम्बन्धि परिवृत्य परावृत्यावलोकितं शयित्वैव ग्रीवाभङ्गेनावलोकनं कर्तृ सैन्यघोषे सेनाकलकले सम्भ्रमकारणे सत्यप्यसम्भ्रममन्तःक्षोभविरहितम्। नञः प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि समास इष्यते। शशंस कथयामास। सैन्येभ्य इत्यर्थाल्लभ्यते। वाह्यचेष्टितमेव मनोवृत्तेरनुमापकमिति भावः। असम्भ्रान्तत्वे हेतुस्तुल्यसत्त्वानामिति। नहि समबलाः समबलाद् बिभ्यतीति भावः॥ ७२॥

अन्वयः—तुल्यसत्त्वानां गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्य अवलोकितं सैन्यघोषे अपि असम्भ्रमं शशंस।

हिन्दी—समान बलशाली, कन्दराओं में सोने वाले सिंहों का घूमकर ताकना (घूर लेना) सैनिकों के कोलाहल शब्द होने पर भी क्षोभरहित

होने का सूचक था। अर्थात् हिमालय पर आरोहणकाल में सैनिकों के कोलाहल शब्द से गुफा में सोये हुए समान बल वाले सिंहों के हृदय में किसी प्रकार की घबराहट की प्रतीत नहीं हो रही थी ॥ ७२ ॥

गङ्गाऽम्बुसंपृक्तपवनगतिमाह—

भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः।
गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ॥ ७३ ॥

सञ्जी०—भूर्जेषु भूर्जपत्रेषु। भूर्जपत्रो भूजो भूर्जो मृदुत्वक्चर्मिका मता' इति यादवः। मर्मरः शुष्कपर्णध्वनिः 'मर्मरः शुष्कपर्णानाम्' इति यादवः। अयं च शुक्लादिशब्दवद् गुणिन्यपि वर्तते प्रयोज्यते च 'मर्मरै रगुरुधूपगन्धिभिः' इति। अतो मर्मरीभूताः। मर्मरशब्दवन्तो भूता इत्यर्थः। कीचकानां वेणुविशेषाणां ध्वनिहेतवः। श्रोत्रसुखाश्चेति भावः। गङ्गाशीकरिण; शीतला इत्यर्थः : मरुतो वाताः मार्गे तं सिषेविर ॥ ७३ ॥

अन्वयः—भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः गङ्गाशीकरिणः मरुतः मार्गे तं सिषेविरे।

हिन्दी—भोजपत्रों में 'मर्मर' ध्वनियुक्त छिद्रित बाँसों में शब्दों को उत्पन्न करने के हेतु, गंगा के जलकणों से संपृक्त (होने के कारण शीतल एवं मन्द) पवन ने मार्ग में महाराज रघु की सेवा की ॥ ७३ ॥

अथ रघोः सैनिकाः नमेरूणां छायायां विशश्रमुरित्याह—

विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः।
दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगनाभिभिः ॥ ७४ ॥

सञ्जी०—सैनिकाः सेनायां समवेताः, प्राग्वहतीयष्ठक्प्रत्ययः। नमेरूणां सुरपुन्नागानां छायासु निषण्णानां दृषदुपविष्टानां मृगाणां कस्तूरीमृगाणां नाभिभिर्वासितोत्सङ्गाः सुरभिततला दृषदः शिला अध्यास्याधिष्ठाय। अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इति कर्म। 'दृषत्स्वधिरुह्येत्यर्थः। विशश्रमुर्विश्रान्ताः ॥

अन्वयः—सैनिकाः नमेरूणां छायासु निषण्णमृगनाभिभिः वासितोत्सङ्गाः दृषदः अध्यास्य विशश्रमुः।

हिन्दी—महाराज रघु के सैनिकों ने सुरपुन्नागों की छायाओं में बैठे हुए मृगों की कस्तूरी से सुगन्धित अन्तरभाग वाली शिलाओं पर बैठकर विश्राम किया ॥ ७४ ॥

हिमालये रात्रौ ज्योतिर्लताः रघोः दीपकार्यं चक्रुरित्याह—

सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः ।
आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीकाः ॥ ७५ ॥

सञ्जी०—सरलेषु देवदारुविशेषेष्वासक्तानि यानि मातङ्गानां गजानाम् ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयाणि कण्ठशृङ्खलानि । 'ग्रीवाभ्योऽण्च' इति चकाराड्ढञ्प्रत्ययः तेषु स्फुरितत्विषः प्रतिफलितभास ओषधयो ज्वलन्ती ज्योतिर्लताविशेषा नक्तं रात्रौ नेतुर्नायकस्य रघोरस्नेहदीपिकास्तैलनिरपेक्षाः प्रदीपा आसन् ॥ ७५ ॥

अन्वयः—सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः ओषधयः नक्तं नेतुः अस्नेहदीपिकाः आसन् ।

हिन्दी—देवदारु के वृक्षों में आसक्त हाथियों के कण्ठ की शृङ्खलाओं में देदीप्यमान कांतिवाली ओषधियाँ—प्रज्वलित ज्योतिर्लता रात्रि में नायक रघु की तेलविहीन दीपिकाएँ हो गईं। देवदारुवृक्ष में बँधे हाथियों के गले की लौहशृंखलाओं में प्रज्वलित ज्योतिलता रात में ऐसी चमकती थी मानो नायक रघु के लिए विना तेल का ही दीपक जल रहा हो ॥ ७५ ॥

रघोः गजौन्नत्यं किराताः शशंसुरित्याह—

तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः ।
गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥ ७६ ॥

सञ्जी०—तस्य रघोरुत्सृष्टेषूज्झितेषु निवासेषु सेनानिवेशेषु कण्ठरज्जुभिर्गजग्रैवेयैः क्षता निष्पिष्टास्त्वचो येषां ते देवदारवः किरातभ्यो वनचरेभ्यो गजानां वर्ष्म प्रमाणम् । 'वर्ष्म देहप्रमाणयोः' इत्यमरः । शशंसुः कथितवन्तः । देवदारुस्कन्धत्वक्क्षतैर्गजानामौन्नत्यमनुमीयत इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—तस्य उत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः देवदारवः किरातेभ्यः गजवर्ष्म शशंसुः ।

हिन्दी—उस महाराज रघु के छोड़े हुए सेनानिवासस्थानों पर हाथियों की ग्रीवा में लगी रस्सी से कटी हुई त्वचा वाले देवदारु के वृक्षों ने किरातों से हाथियों के शरीर की ऊँचाई बता दी ॥ ७६ ॥

रघोः पर्वतीयैः किरातैः सह तुमुलरणमभूदित्याह—

तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत् ।
नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥ ७७ ॥

सञ्जी०—तत्र हिमाद्रौ रघोः पर्वते भवैः पर्वतीयैः । 'पर्वताच्च' इति छप्रत्ययः गणैरुत्सवसंकेताख्यैः सप्तभिः सह । 'गणानुत्सवसङ्केतानजयत्सप्त पाण्डवः' इति महाभारते । नाराचानां बाणविशेषाणां क्षेपणीयानां भिन्दिपालानामश्मनां च निष्पेषेण सङ्घर्षेणोत्पतिता अनला यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । 'क्षेपणीयो भिन्दिपालः खड्गो दीर्घो महाफलः' इति यादवः । घोरं भीमं जन्यं युद्धमभूत् । 'युद्धमायोधनं जन्यम्' इत्यमरः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—तत्र रघोः पर्वतीयैः गणैः नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलं घोरं जन्यम् अभूत् ।

हिन्दी—वहाँ हिमालयपर्वत पर रघु का पहाड़ी गणों—उत्सवसंकेत नामक सात म्लेच्छों के समुदायों के साथ भीषण युद्ध हुआ जिसमें नाराच नामक विशेषवाणों क्षेपणीयों—(फेंककर मारे जाने वाले अस्त्रों) और पत्थरों के संघर्षण से अग्नि निकल रही थी ॥ ७७ ॥

पर्वतीयगणविजेतुः रघोः यशोगानं किन्नरैः कृतमित्याह—

शरैरुत्सवसंकेतान् स कृत्वा विरतोत्सवान् ।
जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान् ॥ ७८ ॥

सञ्जी०—स रघुः शरैर्बाणैरुत्सवसङ्केतान्नाम गणान्विरतोत्सवान् कृत्वा । जित्वेत्यर्थः, किन्नरान् बाह्वोः स्वभुजयोर्जयोदाहरणं जयख्यापकं प्रबन्धविशेषं गापयामास । 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' इत्यनेन किन्नराणां कर्मत्वम् ॥ ७८ ॥

अन्वयः—स शरैः उत्सवसङ्केतान् विरतोत्सवान् कृत्वा बाह्वोः जयोदाहरणं किन्नरान् गापयामास ।

हिन्दी—महाराज रघु ने बाणों से 'उत्सवसंकेत' नामक गणों को उत्सव-विहीन बनाकर भुजाओं की विजय का उदाहरण किन्नरों से गवाया ॥ ७८ ॥

(रघु ने अपने बाणों से उत्सवसंकेतगणों को परास्त कर उत्सवविहीन बना दिया तो वे पराजय के दुःख से म्लानमुख होकर रघु की भुजाओं के पराक्रम और विजय का गीत गाने लगे ।)

रघवे पराजितगणैः उपहारार्पणमाह—

परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु ।
राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ।। ७९ ।।

सञ्जी०—तेषु गणेषूपायनयुक्ताः पाणयो येषां तेषु सत्सु परस्परेणान्योऽन्यं राज्ञा हिमवतः सारो धनरूपो विज्ञातः, हिमाद्रिणाऽपि राज्ञः सारो बलरूपो विज्ञातः । एतेन तत्रत्यवस्तूनामनर्ध्यत्वं गणानामभूतपूर्वश्च पराजयः इति ध्वन्यते ।। ७९ ।।

अन्वयः—तेषु उपायनपाणिषु परस्परेण राज्ञा हिमवतः सारः हिमाद्रिणा राज्ञः सारः विज्ञातः ।

हिन्दी—पराजित उत्सवसंकेतगणों के अपने हाथों में बहुमूल्य रत्नादिक उपहार लेकर आने पर राजा रघु और हिमालय ने परस्पर एक दूसरे के सार-सम्पत्ति और बाहुबल को समझ लिया ।। ७९ ।।

रघुः कैलासमगत्वैव प्रतिनिवृत्तः इत्याह—

तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः ।
पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम् ।। ८० ।।

सञ्जी०—स रघुस्तत्र हिमाद्रावक्षोभ्यमधृष्यं यशोराशिं निवेश्य निधाय । पौलस्त्येन रावणेन तुलितस्य चालितस्याद्रेः कैलासस्य ह्रियमादधानो जनयन्निव । अवरुरोहावततार । कैलासमगत्वैव प्रतिनिवृत्त इत्यर्थः । नहि शूराः परेण पराजितमभियुञ्जत इति भावः ।। ८० ।।

अन्वयः—सः तत्र अक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्य पौलस्त्य-तुलितस्य अद्रेः ह्रियम् आदधानः इव अवरुरोह ।

हिन्दी—महाराज रघु वहाँ हिमालय पर अविचल कीर्तिपुञ्ज संस्थापित कर पुलस्त्य कुलोत्पन्न रावण के द्वारा उत्तोलित-उठाये गए कैलास पर्वत को मानों लज्जा उत्पन्न करते हुए नीचे उतर आए ।। ८० ।।

रघोः भयेन प्राग्ज्योतिषाधिपतिः चकम्पे इत्याह—

चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन् प्राग्ज्योतिषेश्वरः ।
तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः ॥ ८१ ॥

सञ्जी०—तस्मिन् रघौ । तीर्णा लौहित्या नाम नदी येन तस्मिंस्तीर्णलौहित्ये सति । प्राग्ज्योतिषाणां जनपदानामीश्वरः, तस्य रघोर्गजानामालानतां प्राप्तैः कालागुरुद्रुमैः कृष्णागुरुवृक्षैः सह चकम्पे कम्पितवान् ॥ ८१ ॥

अन्वयः—तस्मिन् तीर्णलौहित्ये (सति) प्राग्ज्योतिषेश्वरः तद्गजालानतां प्राप्तैः कालागुरुद्रुमैः सह चकम्पे ।

हिन्दी—महाराज रघु के 'लौहित्या' नाम की नदी पार कर लेने पर प्राग्ज्योतिषेश्वर (प्राग्ज्योतिष नामक जनपद का स्वामी) उनके (रघु के) हाथियों के बन्धनस्तम्भता को प्राप्त हुए (गजबन्धनस्तम्भ बने) कृष्ण अगुरु-वृक्षों के साथ काँप उठा ॥ ८१ ॥

प्राग्ज्योतिषेश्वरः रघोः रथमार्गरजोऽपि न प्रसेहे इत्याह—

न प्रसेहे सः रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम् ।
रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥ ८२ ॥

सञ्जी०—स प्राग्ज्योतिषेश्वरो रुद्धार्कमावृतसूर्यम् । अधारावर्षं च तद् दुर्दिनं च धारावृष्टिं विना दुर्दिनीभूतम् । अस्य रघो रथवर्त्मरजोऽपि न प्रसेहे । पताकिनीं सेनां तु कुतः प्रसेहे । न कुतोऽपीत्यर्थः ।

अन्वयः—सः रुद्धार्कम् अधारावर्षदुर्दिनम् अस्य रथवर्त्मरजः अपि न प्रसेहे पताकिनीम् 'तु' कुतः एव प्रसेहे ।

हिन्दी—वह प्राग्ज्योतिषाधिपति सूर्य को अवरुद्ध करने वाली विना मूसलाधारवर्षा के ही (मेघों से अच्छादित) दुर्दिन बनाने वाली उस परम-प्रतापी महाराज रघु के रथ के मार्ग की धूलि को भी न सहन कर सका तो पताका धारिणी सेना को कैसे सहन कर सकता था ? अर्थात् सेना को नहीं सहन कर सका ॥ ८२ ॥

तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम् ।
भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥ ८३ ॥

सञ्जी०—कामरूपाणां नाम देशानामीशोऽत्याखण्डलविक्रममतीन्द्रपराक्रमं तं रघुम्। भिन्नाः स्रवन्मदाः कटा गण्डा तैर्नागैर्गजैः साधनैर्भेजे। नागान्दत्वा श·णङ्गत इत्यर्थः। कीदृशैर्नागैः? यैरन्यान् रघुव्यतिरिक्तान्नृपानुपरुरोध। शूराणामपि शूरो रघुरिति भावः।

अन्वयः—कामरूपाणाम् ईशः अत्याखण्डलविक्रमं तं भिन्नकटैः नागैः भेजे यैः अन्यान् उपरुरोध।

हिन्दी—कामरूप नामक देश विशेष के अधिपति ने इन्द्र के पराक्रम को भी अतिक्रमण करने वाले महाराज रघु की, मदजल स्रवित करनेवाले गण्डस्थलों से सुशोभित उन गजराजों के (उपहार) द्वारा, सेवा की जिनसे अन्य शत्रुओं को अवरुद्ध कर दिया था ॥ ८३ ॥

कामरूपेश्वरः रत्नपुष्पोपहारेण रघुचरणार्चनम् कृतवानित्याह—

कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम्।
रत्नपुष्पोपहारेण च्छायामानर्च पादयोः ॥ ८४ ॥

सञ्जी०—कामरूपेश्वरो हेमपीठस्याधिदेवतां तस्य रघोः पादयोश्छायां कनकमयपादपीठव्यापिनीं कान्ति रत्नान्येव पुष्पाणि तेषामुपहारेण समर्पणेनानर्चार्चयामास ॥ ८३ ॥

अन्वयः—कामरूपेश्वरः हेमपीठाधिदेवतां तस्य पादयोः छायां रत्नपुष्पोपहारेण आनर्च।

हिन्दी—कामरूप देश के राजा ने सुवर्णमय आसन के अधिष्ठातृ देवता उस रघु के चरणों की (छाया) कान्ति की रत्नरूपी पुष्पों के उपहार से पूजा की ॥ ८४ ॥

रघुः सर्वं दिग्विजयं कृत्वा न्यवर्तत इत्याह—

इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथाद्धतम्।
रजो विश्रामयन् राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु ॥ ८५ ॥

सञ्जी०—जिष्णुर्जयशीलः। 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' इति ग्स्नुप्रत्ययः। स रघुरितीत्थं दिशो जित्वा रथैरुद्धतं रजश्छत्रशून्येषु। रघोरेकच्छत्रकत्वादिति भावः। राज्ञां मौलिषु किरीटेषु। 'मौलिः किरीटे धम्मिल्ले चूडाकङ्केलिमूर्धजे' इति हैमः। विश्रामयन्, सङ्क्रामयन्नित्यर्थः। न्यवर्तत निवृत्तः ॥

अन्वयः—जिष्णुः 'सः' इति दिशः जित्वा रथोद्धतं रजः छत्रशून्येषु राज्ञां मौलिषु विश्रामयन् न्यवर्तत ।

हिन्दी—विजयी महाराज रघु उपर्युक्त प्रकार से दिशाओं को—दिशाओं के राजाओं को, जीतकर रथ से उड़ायी धूलि, छत्रविहीन राजाओं के मस्तक या किरीटों पर रखते हुए (अपनी राजधानी अयोध्यापुरी) लौट आए ।। ८५ ।।

रघुः विश्वजितं यज्ञं कृतवानित्याह—

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम् ।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ।। ८६ ।।

सञ्जी०—स रघुः सर्वस्वं दक्षिणा यस्य तं सर्वस्वदक्षिणम् । 'विश्वजित्सर्वस्वदक्षिणः, इति श्रुतेः । विश्वजितं नाम यज्ञमाजह्रे कृतवानित्यर्थः । युक्तं चैतदित्याह—सतां साधूनाम् वारिमुचां मेघानामिव । आदानमर्जनं विसर्गाय त्यागाय हि पात्रविनियोगायेत्यर्थः ।। ८६ ।।

अन्वयः—सः सर्वस्वदक्षिणं विश्वजितं यज्ञम् आजह्रे । सतां वारिमुचाम् इव आदानं विसर्गाय हि ।

हिन्दी—उस महाराज रघु ने जिसमें सर्वस्वदक्षिणा के रूप में दे दिया जाता है ऐसा विश्वजित् नामक यज्ञ किया क्योंकि जल बरसाने वाले बादलों की भाँति सज्जनों का धनसंग्रह त्यागमय दान के लिए ही होता है ।। ८६ ।।

दिग्विजयोपरान्तयज्ञमुपसंहरन् रघुः राजन्यान् स्वपुरनिवृत्यर्थमनुमेने इत्याह—

सत्रान्ते सचिवसखः पुरस्क्रियाभिर्गुर्वीभिः शमितपराजयव्यलोकान् ।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान्राजन्यान्स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ।।८७।।

सञ्जी०—काकुत्स्थो रघुः सत्रान्ते यज्ञान्ते । 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदा दाने नेऽपि च' इत्यमरः । सचिवानाममात्यानां सखेति सचिवसखः सन् । 'सचिवो भृतकेऽमात्ये' इति हैमः । तेषामत्यन्तानुसरणद्योतनार्थं राज्ञः सखित्वव्यपदेशः । 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' । गुर्वीभिर्महतीभिः 'गुरुर्महत्याङ्गिरसे पित्रादौ धर्मदेशके' इति हैमः । पुरस्क्रियाभिः पूजाभिः शमितं पराजयेन व्यलीकं दुःखं वैलक्ष्यं वा येषां तान् । 'दुःखे वैलक्ष्ये व्यलीकम्' इति यादवः । चिरविरहेणोत्सुका उत्कण्ठिता अवरोधा अन्तःपुरांगना येषां तान् । राज्ञोऽपत्यानि

राजन्याः, क्षत्रियास्तान्। 'राजश्वशुराद्यत्' इत्यपत्यार्थे यत्प्रत्ययः। 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः। स्वपुरं प्रति निवृत्तये प्रतिगमनायानुमेनेऽनुज्ञातवान्। प्रहर्षिणीवृत्तमेतत्। तदुक्तम्-'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति ॥ ८७ ॥

अन्वयः—काकुत्स्थः सत्रान्ते सचिवसखः गुर्वीभिः पुरस्क्रियाभिः, शमितपराजयव्यलीकान् चिरविरहोत्सुकावरोधान् राजन्यान् स्वपुरनिवृत्तये अनुमेने।

हिन्दी—ककुत्स्थ गोत्र में उत्पन्न महाराज रघु ने विश्वजित् यज्ञ के अन्त में अमात्यों से मन्त्रणाकर महती सत्क्रिया—महान् सम्मान से पराजयजन्य दुःखों से मुक्त शान्तचित्त, चिरकालीन वियोग से समुत्कण्ठित अन्तःपुराङ्गनाओं वाले क्षत्रियराजाओं को अपने नगर लौटने की अनुमति प्रदान की।

स्वनगरनिवृत्त्यर्थं प्राप्तानुज्ञानां राज्ञां रघूचरणयोः प्रणिपातमाह—

ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं सम्राजश्चरणयुगं प्रसादलभ्यम्।
प्रस्थानप्रणतिभिरङ्गुलीषु चक्रुर्मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरम् ॥८८॥

सञ्जी०—ते राजानः रेखा एव ध्वजाश्च कुलिशानि चातपत्राणि च; ध्वजाद्याकाररेखा इत्यर्थः। तानि चिह्नानि यस्य तत्तथोक्तम्। प्रसादेनैव लभ्यम् प्रसादलभ्यम्। सम्राजः सार्वभौमस्य रघोश्चरणयुगं प्रस्थाने प्रयाणसमये याः प्रणतयो नमस्कारास्ताभिः करणैः। अंगुलीषु मौलिषु केशबन्धनेषु याः स्रजो माल्यानि ताभ्यश्च्युतैर्मकरन्दैः पुष्परसैः। 'मकरन्दः पुष्परसः' इत्यमरः। रेणुभिः परागैश्च। 'परागः सुमनोरजः इत्यमरः। गौरं गौरवर्णं चक्रुः ॥८८॥

अन्वयः—ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं प्रसादलभ्यं सम्राजः चरणयुगं प्रस्थानप्रणतिभिः अंगुलीषु मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरं चक्रुः।

हिन्दी—उन राजाओं ने रेखाओं से ध्वजा, वज्र और छत्र के लक्षणधारी प्रसन्नता से प्राप्त होने योग्य सम्राट रघु के दोनों चरणों को प्रस्थानकालीन प्रणामों से (दोनों चरणों की अङ्गुलियों) में संयतकेशों में लगी माला से गिरे हुए पुष्परसों परागों से समुज्ज्वल बना दिया ॥ ८८ ॥

इति सञ्जीविनी-हिरिप्रिया-संस्कृत-हिन्दीव्याख्यासहितः
रघुवंशचतुर्थसर्गः समाप्तः।



अथ पञ्चमः सर्गः

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ १ ॥

सञ्जी०—तमिति । विश्वजिति विश्वजिन्नाम्न्यध्वरे यज्ञे । 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः' इत्यमरः । निःशेषं विश्राणितं दत्तम् । 'श्रण दाने' चुरादिः । कोषाणामर्थराशीनां जातं समूहो येन तं तथोक्तम् । 'कोषोऽस्त्री कुड्मले खड्गे पिधानेथौंघदिव्ययोः' इत्यमरः । 'जातं जनिसमूहयोः' इति शाश्वतः । एतेन कौत्सस्यानवसरप्राप्तिं सूचयति । तं क्षितीशं रघुमुपात्तविद्यो लब्धविद्यो वरतन्तोः शिष्यः कौत्सः । 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इत्यण् । इञोऽपवादः । गुरुदक्षिणार्थी । 'पुष्करादिभ्यो देशे' इत्यत्रार्थाच्चासन्निहिते तदन्ताच्चेतीनिः । अप्रत्याख्येय इति भावः । प्रपेदे प्राप । अस्मिन्सर्गे वृत्तमुपजातिः । तल्लक्षणं तु—(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ । अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदियावुपजातयस्ताः) ॥ १ ॥

अन्वयः—विश्वजिति, अध्वरे, निःशेषविश्राणितकोषजातम्, क्षितीशम्, उपात्तविद्यः वरतन्तुशिष्यः, कौत्सः, गुरुदक्षिणार्थी तम् प्रपेदे ।

हिन्दी—विश्वजित् नामक यज्ञ में सम्पूर्ण कोश की राशि दान में दे देने वाले उस भूपति रघु के पास (चौदह) विद्याओं का अध्ययन करने वाला वरतन्तु का छात्र कौत्स गुरुदक्षिणा देने की कामना करता हुआ पहुँचा ॥ १ ॥

स मृन्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥ २ ॥

सञ्जी०—स इति । अनर्घशीलोऽमूल्यस्वभावः । असाधारणस्वभाव इत्यर्थः । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इति । 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इति चामरशाश्वतौ । यशसा कीर्त्या प्रकाशत इति प्रकाशः । पचाद्यच् । अतिथिषु साधुरातिथेयः । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' इति ढञ् । स रघुः हिरण्यस्य

विकारो हिरण्मयम्। 'दाण्डिनायन०' इत्यादिना सूत्रेण निपातः। वीतहिरण्मयत्वादपगतसुवर्णपात्रत्वात्। यज्ञस्य सर्वस्वदक्षिणाकत्वादिति भावः। मृन्मये मृद्विकारे पात्रे। अर्घार्थमिदमर्घ्यम्। 'पादार्घाभ्यां च' इति यत्। पूजार्थं द्रव्यं निधाय श्रुतेन शास्त्रेण प्रकाशं प्रसिद्धम्। श्रूयत इति श्रुतं वेदशास्त्रम्। 'श्रुतं शास्त्रावधृतयोः' इत्यमरः। अतिथिमभ्यागतं कौत्सम्। प्रत्युज्जगाम ॥२॥

अन्वयः—अनर्घशीलः यशसा प्रकाशः आतिथेयः सः वीतहिरण्मयत्वात् मृन्मये पात्रे अर्घ्यम् निधाय श्रुतप्रकाशः अतिथिम् प्रत्युज्जगाम।

हिन्दी—असामान्य शीलवान् कीर्ति से विख्यात अतिथिसेवा परायण उस महाराज रघु ने (यज्ञ में सर्वस्व दान कर देने के कारण) सुवर्णमय पात्रों के अभाव होने से मृत्तिका के पात्र में पूजा की सामग्री रखकर शास्त्र से प्रसिद्ध अतिथि (कौत्स) का स्वागतार्थं अभ्युत्थान किया ॥ २ ॥

तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी।
विशाम्पतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच॥ ३ ॥

सञ्जी०—तमिति। विधिज्ञः शास्त्रज्ञः। अकरणे प्रत्यवायभीरुरित्यर्थः। मानधनानामग्रयाय्यग्रेसरः। अपयशोभीरुरित्यर्थः कृत्यवित्कार्यज्ञः। आगमनप्रयोजनमवश्यं प्रष्टव्यमिति कृत्यवित्। विशाम्पतिर्मनुजेश्वरः। 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः। विष्टरभाजमासनगतम्। उपविष्टमित्यर्थः। 'विष्टरो विटपी दर्भमुष्टिः पीठाद्यमासनम्' इत्यमरः। 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति निपातः। तं तपोधनं विधिवद्विध्यर्हम्। यथाशास्त्रमित्यर्थः—'तदर्हम्' इति वतिप्रत्ययः।. अर्चयित्वाऽऽरात्समीपे। 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः। कृताञ्जलिः सन्निति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच ॥ ३ ॥

अन्वयः—विधिज्ञः मानधनाग्रयायी कृत्यवित् विशां पतिः विष्टरभाजम् तं तपोधनम् विधिवत् अर्चयित्वा आरात् कृताञ्जलिः, 'सन्' इति उवाच।

हिन्दी—शास्त्र की विधियों को जानने वाले सम्मान को ही धन मानने वालों में अग्रेसर (आगे चलने वाले) (अतिथि से आने का प्रयोजन अवश्य पूछना चाहिए' इस) कृत्य को जानने वाले मनुष्यों के स्वामी महाराज रघु ने आसन पर विराजमान उस तपस्वी की विधिपूर्वक पूजा कर समीप में जाकर हाथ जोड़ते हुए इस प्रकार निवेदन किया ॥ ३ ॥

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे ! कुशली गुरुस्ते ।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥ ४ ॥

सञ्जी०—अप्यग्रणीरिति । हे कुशाग्रबुद्धे ! सूक्ष्मबुद्धे ! । 'कुशाग्रीयमतिः प्रोक्तः सूक्ष्मदर्शी च यः पुमान्' इति हलायुधः । मन्त्रकृतां मन्त्रस्रष्टॄणाम् । 'सुकर्मपापमन्त्र' इत्यादिना क्विप् । ऋषीणामग्रणीः श्रेष्ठस्ते तव गुरुः कुशल्यपि क्षेमवान्किम् । अपिः प्रश्ने । 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि' इत्यमरः । यतो यस्माद् गुरोः सकाशात्त्वयाऽशेषं ज्ञानम् । लोकेनोष्णरश्मेः सूर्याच्चैतन्यं प्रबोध इव । आप्तं स्वीकृतम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—कुशाग्रबुद्धे ! मन्त्रकृतां ऋषीणां अग्रणीः ते गुरुः कुशली अपि, यतः त्वया अशेषं ज्ञानं लोकेन उष्णरश्मेः चैतन्यमिव आप्तम् ।

हिन्दी—हे कुश के अग्रभाग के समान प्रखर बुद्धि वाले ! मन्त्रद्रष्टा ऋषियों में अग्रगण्य आपके गुरु सकुशल तो हैं ? जिनसे आपने समस्त ज्ञान उसी प्रकार प्राप्त किया है जिस प्रकार उष्णरश्मि सूर्य से संसार चेतना प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसाऽपि शश्वद्यत्सम्भृतं वासवधैर्यलोपि ।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥ ५ ॥

सञ्जी०—कायेनेति । कायेनोपवासादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिना वाचा वेदपाठेन मनसा गायत्रीजपादिना कायेन वाचा मनसाऽपि करणेन वासवस्येन्द्रस्य धैर्यं लुम्पतीति वासवधैर्यलोपि । स्वपदापहारशंकाजनकमित्यर्थः । यत्तपः शश्वदसकृत् । 'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः' इत्यमरः । सम्भृतं सञ्चितं महर्षेर्वरतन्तोस्त्रिविधं वाङ्मनःकायजं तत्तपोऽन्तरायैर्विघ्नैरिन्द्रप्रेरिताप्सरःशापैर्व्ययं नाशं नापाद्यते कच्चित् न नीयते किम् । 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः ॥ ५ ॥

अन्वयः—कायेन वाचा मनसा अपि वासवधैर्यलोपि, यत् शश्वत् सम्भृतम् महर्षेः त्रिविधम् तत् तपः अन्तरायैः व्ययम् न आपाद्यते कच्चित् ?

हिन्दी—शरीर वचन और मन से भी इन्द्र के (कहीं इन्द्रासन छिन न जाय) धैर्य को लुप्त कर देने वाला जो सर्वदा सञ्चित होने वाला महर्षि

का त्रिविध-शारीरिक वाचिक और मानसिक तप है वह विघ्नों (इन्द्र के द्वारा भेजी नई अप्सराओं अथवा शाप आदि के द्वारा) से कहीं विनष्ट तो नहीं होता ? ॥ ५ ॥

आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥ ६ ॥

सञ्जी०—आधारेति । आधारबन्धप्रमुखैरालवालनिर्माणादिभिः प्रयत्नैरुपायैः । 'आधार आलवालेऽधिकरणेऽपि च' इति विश्वः । सुतेभ्यो निर्गतो विशेषोऽतिशयो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा संवर्धितानां श्रमच्छिदां व आश्रमपादपानां वाय्वादिः । आदिशब्दाद्दावानलादिः । उपप्लवो बाधको न कच्चिन्नास्ति किम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः सुतनिर्विशेषम् संवर्धितानां श्रमच्छिदाम् वः आश्रमपादपानाम् वाय्वादिः उपप्लवः न कच्चित् ।

हिन्दी—थाले बाँध कर प्रमुखरूप के प्रयत्नों से पुत्रवत् संवर्द्धित (पालित) श्रम—थकावट दूर करने वाले आश्रम के वृक्षों का वायु आदि से विघात तो नहीं होना ? अर्थात् वायु आदि के प्रकोप से आश्रम के वृक्ष विनष्ट तो नहीं होते ॥ ६ ॥

क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥ ७ ॥

सञ्जी०--क्रियानिमित्तेष्विति । क्रियानिमित्तेष्वनुष्ठानसाधनेष्वपि कुशेषु मुनिभिर्वत्सलत्वान्मृगस्नेहादभग्नकामाऽप्रतिहतेच्छा । तेषां मुनीनामङ्का एव शय्यास्तासु च्युतानि नाभिनालानि यस्याः सा तथोक्ता मृगीणां प्रसूतिः सन्ततिरनघाऽव्यसना कच्चित् । अनपायिनी किमित्यर्थः । 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इति यादवः । ते हि व्यालभयाद् दशरात्रमङ्क एव धारयन्ति ॥ ७ ॥

अन्वयः—क्रियानिमित्तेषु अपि कुशेषु मुनिभिः वत्सलत्वात् अभग्नकामा तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला, मृगीणाम् प्रसूतिः अनघा कच्चित् ।

हिन्दी—यज्ञ आदि अनुष्ठान कार्य के साधन कुशों पर भी मुनियों के द्वारा वात्सल्यवश (पुत्रवत्स्नेह के कारण) जिनकी इच्छा भंग नहीं की गई

तथा उन मुनियों की गोदरूपी शय्या पर ही जिनकी नाभि का नाल गिर पड़ा इस प्रकार की हरिणियों की सन्तति निरापद-सकुशल तो है ।। ७ ।।

निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम् ।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ।। ८ ।।

सञ्जी०—निर्वर्त्यत इति । यैस्तीर्थजलैर्नियमाभिषेको नित्यस्नानादिर्निर्वर्त्यते निष्पाद्यते । येभ्यो जलेभ्यः उद्धृत्येति शेषः । पितॄणामग्निष्वात्तादीनां निवापाञ्जलयस्तर्पणाञ्जलयः । 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः । निर्वर्त्यन्ते । उञ्छानां प्रकीर्णोद्धृतधान्यानां षष्ठैः षष्ठभागैः पालकत्वाद्राजग्राह्यै रङ्कितानि सैकतानि पुलिनानि येषां तानि तथोक्तानि वो युष्माकं तानि तीर्थजलानि शिवानि भद्राणि कच्चित् । अनुपप्लवानि किमित्यर्थः । 'उञ्छो धान्यांशकादानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्' इति यादवः । 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' इति षष्ठशब्दाद्भागार्थेऽञ्प्रत्ययः । अत एवापूरणार्थत्वात् 'पूरणगुण०' इत्यादिना न षष्ठीसमासप्रतिषेधः । सिकता येषु सन्ति तानि सैकतानि । 'सिकताशर्कराभ्यां च' इत्यण्प्रत्ययः ।। ८ ।।

अन्वयः—यैः नियमाभिषेकः, निर्वर्त्यते, येभ्यः पितॄणाम् निवापाञ्जलयः उञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि, वः तानि तीर्थजलानि शिवानि कच्चित् ?

हिन्दी—आप जिनसे नित्य स्नान सन्ध्यावन्दनादि क्रिया सम्पन्न करते हैं तथा जिनसे पितृ-तर्पण करते हैं, कृषकों द्वारा काट लेने के बाद छोड़े गये एक-एक कण चुने गए उञ्छ अन्नों के छठे हिस्से से चिह्नित सिकतातट वाले आप लोगों के वे तीर्थजल प्रसन्नमङ्गलमय तो हैं ? ।। ८ ।।

नीवारपाकादि कडङ्गरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित् ।
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ।।९।।

सञ्जी०—नीवारेति । कालेषु योग्यकालेषूपपन्नानामागतानामतिथीनां कल्प्या भागा यस्य तत्तथोक्तम् । वने भवं वन्यम् । शरीरस्थितेर्जीवितस्य साधनं वो युष्माकम् । पच्यत इति पाकः फलम् । धान्यमिति यावत् । नीवारपाकादि । आदिशब्दाच्छ्यामाकादिधान्यसंग्रहः । जनपदेभ्य आगतैर्जानपदैः । 'तत आगतः' इत्यण् । कडङ्गरीयैः । कडङ्गरं बुसमर्हन्तीति कडङ्गरीयाः ।

'कडङ्गरो बुसं क्लीबे धान्यत्वचि तुषः पुमान्' इत्यमरः 'कडङ्गरदक्षिणाच्छ च' इति छप्रत्ययः। तैर्गोमहिषादिभिर्नामृश्यते कच्चित्। न भक्ष्यते किमित्यर्थः॥ ९॥

अन्वयः—कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागम्, वन्यम् शरीरस्थितिसाधनम् वः नीवारपाकादि जानपदैः कडङ्गरीयैः न आमृश्यते कच्चित् ?

हिन्दी—समय समय पर आने वाले अतिथियों के भाग (अंश) जिनसे कल्पित किये जाते हैं, वन में उत्पन्न होने वाले, शरीर धारण करने के साधन आप लोगों के नीवार आदि धान्यविशेष जनपदों से आए हुए सांड़ भैंसों के द्वारा चर तो नहीं लिए जाते ? ॥ ९ ॥

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
कालो ह्ययं सङ्क्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते॥ १०॥

सञ्जी०—अपीति। किञ्च त्वं प्रसन्नेन सता महर्षिणा सम्यग्विनीय शिक्षयित्वा। विद्यामुपदिश्येत्यर्थः। गृहाय गृहस्थाश्रमं प्रवेष्टुम्। 'क्रियार्थोपपद०' इत्यादिना चतुर्थी। अनुमतोऽप्यनुज्ञातः किम्। हि यस्मात्ते तव सर्वेषामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यवानप्रस्थयतीनामुपकारक्षमं शक्तम्। 'क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः। द्वितीयमाश्रमं गार्हस्थ्यं संक्रमितुं प्राप्तुमयं कालः। विद्याग्रहणानन्तर्यात्तस्येति भावः। 'कालसमयवेलासु तुमुन्' इति तुमुन्। सर्वोपकारक्षममित्यत्र मनुः—(यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः। वर्तन्ते गृहिणस्तद्वदाश्रित्येतर आश्रमाः) इति॥ १०॥

अन्वयः—त्वं प्रसन्नेन (सता) महर्षिणा सम्यग् विनीय गृहाय अनुमतः अपि ? हि, ते सर्वोपकारक्षमम् द्वितीयम् आश्रमम् संक्रमितुं अयम् कालः 'अस्ति'।

हिन्दी—आप प्रसन्नचित्त महर्षि वरतन्तु के द्वारा समुचित शिक्षा ग्रहण कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की अनुमति प्राप्त कर चुके हैं क्या ? क्योंकि आपका सभी आश्रमों (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास) के उपकार करने में सक्षम दूसरे आश्रम—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का यह समुचित समय है॥ १०॥

एवं कुशलं संपृच्छयेदानीं आगमनप्रयोजनमाह—

तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।
अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्माम् ॥११॥

सञ्जी०—तवार्हत इति । अर्हतः पूज्यस्य प्रशस्यस्य । 'अर्हः प्रशंसायाम्' इति शतृप्रत्ययः । तवाभिगमेनागमनमात्रेण मे मनो न तृप्तं न तुष्टम् । किन्तु नियोगक्रिययाऽऽज्ञाकरणेनोत्सुकं सोत्कण्ठम् । 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः', इत्यमरः । 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' इति सप्तम्यर्थे तृतीया । शासितुर्गुरोराज्ञयाप्यात्मना स्वतो वा । 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति तृतीया । मां सम्भावयितुं वनात्प्राप्तोऽसि । गुर्वर्थं स्वार्थं वाऽऽगमनमित्यर्थः ॥ ११ ॥

अन्वयः—अर्हतः तव अभिगमेन मे मनः न तृप्तम्, किन्तु नियोगक्रियया उत्सुकम् शासितुः आज्ञया अपि आत्मना वा माम् सम्भावयितुं वनात् प्राप्तः असि ?

हिन्दी—प्रशंसा करने योग्य आपके आगमनमात्र से मेरा मन सन्तुष्ट नहीं है किन्तु आपके आदेश—आज्ञा के लिए समुत्कण्ठित है अर्थात् मेरा मन आपके आदेश को जानने के लिए उत्कण्ठित हो रहा है। आप अपने शासक गुरु वरतन्तु की आज्ञा से यहाँ पधारे हैं अथवा स्वयं मुझे सम्मान देने के लिए तपोवन से आये हैं ॥ ११ ॥

इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोरुदारामपि गां निशम्य ।
स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यवोचद्वरतन्तुशिष्यः ॥ १२ ॥

सञ्जी०—इतीति । अर्घ्यपात्रेण मृन्मयेनानुमितो व्ययः सर्वस्वत्यागो यस्य तस्य रघोरित्युक्तप्रकारामौदार्ययुक्तामपि गां वाचम् । 'मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे' इत्येवं रूपाम् । "स्वर्गेषु पशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्याः स्त्रियां पुंसि गौः इत्यमरः । निशम्य श्रुत्वा वरतन्तुशिष्यः कौत्सः स्वार्थोपपत्तिं स्वकार्यसिद्धिं प्रति दुर्बलाशः सन्मृण्मयपात्रदर्शनाच्छिथिलमनोरथः संस्तं रघुमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणावोचत् ॥ १२ ॥

अन्वयः—अर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोः इति उदाराम् अपि गाम् निशम्य वरतन्तुशिष्यः स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशः सन् तम् इति अवोचत् ।

हिन्दी—पूजा के पात्रों-मिट्टी के बरतनों से ही जिसके व्यय-सर्वस्वदान का अनुमान कर लिया गया है उस रघु की पूर्वोक्त प्रकार की परमोदार वाणी सुनकर वरतन्तु के शिष्य—कौत्स ने अपनी (गुरुदक्षिणा के निमित्त देय धनके) स्वार्थसिद्धि के प्रति निराश होते हुए इस प्रकार कहा ।। १२ ।।

सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन् नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम् ।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ।। १३ ।।

सञ्जी०—सर्वत्रेति । राजन् ! त्वं सर्वत्र नोऽस्माकं वार्तं स्वास्थ्यमवेहि जानीहि । 'वार्तं बल्गुन्यरोगे च' इत्यरः । 'वार्तं पाटवमारोग्यं भव्यं स्वास्थ्यमनामयम्' इति यादवः । न चैतदाश्चर्यमित्याह—नाथ इति । त्वयि नाथ ईश्वरे सति प्रजानामशुभं दुःखं कुतः । तथाहि । अर्थान्तरं न्यस्यति—सूर्ये इत्यादिना । सूर्ये तपति प्रकाशमाने सति तमिस्रा तमस्ततिः । 'तमिस्रं तिमिरं रोगे तमिस्रा तु तमस्ततौ । कृष्णपक्ष निशायां च' इति विश्वः । 'तमिस्रम्' इति पाठे तमिस्रं तिमिरम् । 'तमिस्रं तिमिरं तमः' इत्यमरः । लोकस्य जनस्य । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । दृष्टेरावणाय कथं कल्पेत ? दृष्टिमावरितुं नालमित्यर्थः । क्लृपेरलमर्थत्वात्तद्योगे 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधावषड्योगाच्च' इत्यनेन चतुर्थी । 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' इति भगवान्भाष्यकारः । कल्पेत । सम्पद्येत । न कल्पत इत्यर्थः । क्लृपि सम्पद्यमाने चतुर्थीति वक्तव्यात् ।।१३।।

अन्वयः—राजन् ! 'त्वम्' सर्वत्र नः वार्तम् अवेहि, त्वयि नाथे 'सति' प्रजानाम् अशुभम्, कुतः ? सूर्ये तपति 'सति' तमिस्रा लोकस्य दृष्टेः आवरणाय कथम् कल्पेत् ?

हिन्दी—हे राजन् ! आप हमलोगों का सर्वत्र कुशल समझें । आपके समान स्वामी के रहते हुए प्रजाओं का अमङ्गल हो ही नहीं सकता । क्या सूर्य के तपते रहने पर अँधेरी रात लोगों की दृष्टि का आवरण कर सकती है ? तात्पर्य यह है कि जैसे सूर्य के प्रकाशित रहते श्यामा निशा लोगों की दृष्टि नहीं ढक सकती उसी प्रकार आप जैसे स्वामी के रहते हुए किसी प्रकार का कमी कहीं कोई अमङ्गल नहीं हो सकता ।। १३ ।।

भक्तिः प्रतीक्ष्येषु कुलोचिता ते पूर्वान्महाभाग ! तयातिशेषे ।
व्यतीतकालस्त्वहमत्युपेतस्त्वामर्थिभावादिति मे विषादः ।। १४ ।।

सञ्जी०—भक्तिरिति। प्रतीक्ष्येषु पूज्येषु। 'पूज्यः प्रतीक्ष्यः' इत्यमरः। भक्तिरनुरागविशेषस्ते तव कुलोचिता कुलाभ्यस्ता। 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः। हे महाभाग! सार्वभौम! तया भक्त्या पूर्वानतिशेषेऽतिवर्तसे। किंतु सर्वत्र वार्तं चेत्तर्हि कथं खेदभिन्न इव दृश्यसेऽत आह—व्यतीतेति। अहं व्यतीतकालोऽतिक्रान्तकालः सन्नर्थिभावात्त्वामभ्युपेत इति मे मम विषादः॥ १४॥

अन्वयः—प्रतीक्ष्येषु भक्तिः ते कुलोचिता महाभाग? तया पूर्वान् अतिशेषे, तु अहम् व्यतीतकालः 'सन्' अर्थिभावात् त्वाम् अभ्युपेतः, इति मे विषादः 'अस्ति'।

हिन्दी—हे महाभाग! पूज्यों के विषय में भक्ति-भावना आपके कुल के उपयुक्त है। उस भक्ति से आज अपने पूर्वजों का अतिक्रमण कर रहे हैं। (पूर्वजों से भी बढ़कर पूजनीयों के प्रति भक्ति-भाव दिखा रहे हैं) किन्तु मैं समय बिताकर याचना के भाव से आपके पास आया इसी बात का मुझे खेद है॥ १४॥

शरीरमात्रेण नरेन्द्र! तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः॥ १५॥

सञ्जी०—शरीरमात्रेणेति। हे नरेन्द्र! तीर्थे सत्पात्रे प्रतिपादिता दत्ता ऋद्धिर्येन स तथोक्तः। 'योनौ जलावतारे च मन्त्र्याद्यष्टादशस्वपि। पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्याद्दर्शनेष्वपि'। इति हलायुधः। शरीरमात्रेण तिष्ठन्। आरण्यका अरण्ये भवा मनुष्या मनुष्यप्रमुखाः। 'अरण्यान्मनुष्ये' इति वुञ्प्रत्ययः। तैरुपात्ता फलमेव प्रसूतिर्यस्य स स्तम्बेन काण्डेनावशिष्टः (प्रकृत्यादित्वात्तृतीया)। नीवार इव। आभासि शोभसे॥ १५॥

अन्वयः—नरेन्द्र! तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः 'त्वम्' शरीरमात्रेण तिष्ठन् आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः, स्तम्बेन अवशिष्टः नीवारः इव आभासि।

हिन्दी—हे नरेन्द्र! (विश्वजित् यज्ञ में) सत्पात्रों में अपनी सारी समृद्धि दान देकर केवल शरीर से आप उसी प्रकार सुशोभित हो रहे हैं जिस प्रकार वनवासी मुनियों आदि के द्वारा फल ग्रहण कर लेने के उपरान्त केवल डण्ठल बचा हुआ नीवार सुशोभित होता है॥ १५॥

स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति ।
पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥१६॥

सञ्जी०—स्थान इति । भवानेकनराधिपः सार्वभौमः सन् । मखजं मखजन्यम् । न विद्यते किंचन यस्येत्यकिंचनः । (मयूरव्यंसकादित्वात्तत्पुरुषः)। तस्य भावस्तत्त्वं निर्धनत्वं व्यनक्ति प्रकटयति । स्थाने युक्तम् । 'युक्ते द्वे सांप्रतं स्थाने' इत्यमरः । तथाहि सुरैर्देवैः पर्यायेण क्रमेण पीतस्य हिमांशोः कलाक्षयो वृद्धेरुपचयाच्छ्लाघ्यतरो हि वरः खलु । 'मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः । कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपाः ॥' (भर्तृ० २।४४) इति भावः । अत्र कामन्दकः—'धर्मार्थं क्षीणकोषस्य क्षीणत्वमपि शोभते । सुरैः पीतावशेषस्य कृष्णपक्षे विधोरिव' ॥ १६ ॥

अन्वयः—भवान् एक नराधिपः सन् मखजम् अकिञ्चनत्वम् यत् व्यनक्ति 'तत्' स्थाने, हि सुरैः पर्यायपीतस्य हिमांशोः कलाक्षयः' वृद्धेः श्लाघ्यतरः 'भवति' ।

हिन्दी—आप एकमात्र चक्रवर्ती सम्राट् होते हुए यज्ञ के कारण उत्पन्न होने वाली अकिञ्चनता—निर्धनता व्यक्त कर रहे हैं यह उचित ही है । क्योंकि क्रमशः देवताओं के द्वारा पान की गई चन्द्रकला का क्षय वृद्धि से अधिक प्रशंसनीय है ॥ १६ ॥

तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये ।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ॥ १७ ॥

सञ्जी०—तदिति । तत्तस्मात्तावदनन्यकार्यः । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इति विश्वः । प्रयोजनान्तररहितोऽहमन्यतो वदान्यान्तराद् गुर्वर्थं गुरुधनमाहर्तुमर्जयितु यतिष्य उद्योक्ष्ये । ते तुभ्यं स्वस्ति शुभमस्तु । 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' इत्यनेन चतुर्थी । तथाहि—चातकोऽपि । (धरणीपतितं तोयं चातकानां रुजाकरम्) इति हेतोरनन्यगतिकोऽपीत्यर्थः । निर्गलितोऽम्बवेव गर्भो यस्य तं शरद्घनं नार्दति न याचते । 'अर्द—गतौ याचने च' इति धातुः । 'याचनाऽर्थे रणेऽर्दनम्' इति यादवः ॥ १७ ॥

अन्वयः—तत् तावद् अनन्यकार्यः अहम् अन्यतः गुर्वर्थम् आहर्तुम् यतिष्ये, ते स्वस्ति अस्तु, चातकः अपि निर्गलिताम्बुगर्भम् शरद्घनम्, न अर्दति ।

हिन्दी—तो (जब तक अभीष्ट गुरु-दक्षिणा के द्रव्य की प्राप्ति नहीं हो जाती) तब तक मेरा कोई और कार्य नहीं है । मैं अन्य दाता के पास से गुरु के लिए दक्षिणाद्रव्य प्राप्त करने का प्रयत्न करूँगा । आपका कल्याण हो । चातक पक्षी भी पानी बरस जाने के कारण रिक्तजल वाले शरद् के मेघ से याच्ञा नहीं करता ।। १७ ।।

एतावदुक्त्वा प्रतियातुकामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य ।
किं वस्तु विद्वन् ! गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त ।। १८ ।।

सञ्जी०—एतावद्वाक्यमुक्त्वा प्रतियातुं कामो यस्य तं प्रतियातुकामं गन्तुकामम् । 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । महर्षेर्वरतन्तोः शिष्यं कौत्सं नृपती रघुर्निषिध्य निवार्य । हे विद्वन् ! त्वया गुरवे प्रदेयं वस्तु किं किमात्मकं कियत् किं परिमाणं वा । इत्येवं तं कौत्समन्वयुङ्क्तापृच्छत् । 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः ।। १८ ।।

अन्वयः—एतावत् उक्त्वा प्रतियातुकामम् महर्षेः शिष्यम् नृपतिः निषिध्य, हे विद्वन् 'त्वया गुरवे प्रदेयम् किं वस्तु वा कियत् इति तम् अन्वयुङ्क्त ।

हिन्दी—इतना कहकर वापस लौट चलने की कामना वाले महर्षि के शिष्य को (वापस जाने से) मना करके राजा ने पूछा कि हे विद्वन् ! आपको अपने गुरु को कौन सी वस्तु देनी है अथवा कितना देनी है ? ।। १८ ।।

ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय ।
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे ।। १९ ।।

सञ्जी०—तत इति । ततो यथावद्यथाऽर्हम् । अर्हार्थे वतिः । विहिताध्वराय विधिवदनुष्ठितयज्ञाय । सदाचारायेत्यर्थः । स्मयावेशविवर्जिताय गर्वाभिनिवेशशून्याय । अनुद्धतायेत्यर्थः । वर्णानां ब्राह्मणादीनामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां च गुरवे नियामकाय । 'वर्णाः स्युर्ब्राह्मणादयः' इति । 'ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थी भिक्षुश्चतुष्टये । आश्रमोऽस्त्री' इति चामरः । सर्वकार्यनिर्वाहकाये-

त्यर्थः । तस्मै रघवे विचक्षणो विद्वान्वर्णी ब्रह्मचारी । 'वर्णिनो ब्रह्मचारिणः' इत्यमरः । 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' इतीनिप्रत्ययः । स कौत्सः प्रस्तुतं प्रकृतमाचचक्षे ॥ १९ ॥

अन्वयः—ततः यथावत् विहिताध्वराय, स्मयावेशविवर्जिताय वर्णाश्रमाणां गुरवे तस्मै सः विचक्षणः वर्णी प्रस्तुतम् आचचक्षे ।

हिन्दी—तदनन्तर शास्त्रविधिपूर्वक 'विश्वजित्' यज्ञ करने वाले, गर्व के आवेग से शून्य (निरभिमान) वर्णों—(ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्य-शूद्रों) और आश्रमों (ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ एवं सन्यासों) के नियामक उस राजा रघु स विद्वान् ब्रह्मचारी कौत्स ने अपना वृत्तान्त इस प्रकार कहा ॥ १९ ॥

समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै ।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ॥ २० ॥

सञ्जी०—समाप्तेति । समाप्तविद्येन मया महर्षिर्गुरुदक्षिणायै गुरुदक्षिणास्वीकारार्थं विज्ञापितोऽभूत् । स च गुरुश्चिरायास्खलितोपचारां तां दुष्करां मे भक्तिमेव पुरस्तात्प्रथममगणयत् संख्यातवान् । भक्त्यैव सन्तुष्टः किं दक्षिणयेत्युक्तवानित्यर्थः । अथवा भक्तिमेव तां दक्षिणामगणयदिति योज्यम् ॥ २० ॥

अन्वयः—समाप्तविद्येन मया महर्षिः गुरुदक्षिणायै विज्ञापितः अभूत् सः चिराय अस्खलितोपचाराम् ताम् मे भक्तिम् एव पुरस्तात् अगणयत् ।

हिन्दी—विद्याध्ययन समाप्त करने वाले मेरे द्वारा महर्षि गुरुदक्षिणा के लिए प्रार्थित हुए । (विद्यार्जन समाप्त करने के बाद मैंने गुरुदक्षिणा के लिये गुरु जी से प्रार्थना की ।) उन्होंने बहुत दिनों से मेरे द्वारा निष्ठापूर्वक सावधानी से की गई सेवा भक्ति को ही उत्तम गुरुदक्षिणा समझा ॥ २० ॥

निर्बन्धसञ्जातरुषाऽर्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाऽहमुक्तः ।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥ २१ ॥

सञ्जी०—निर्बन्धेति । निर्बन्धेन प्रार्थनाऽतिशयेन सञ्जातरुषा सञ्जातक्रोधेन गुरुणा । अर्थकार्श्यं दारिद्र्यमचिन्तयित्वाऽविचार्याहम् । वित्तस्य धनस्य चतस्रो दश च कोटीश्चतुर्दशकोटी मे मह्यमाहरानयेति विद्यापरिसंख्यया

विद्यापरिसंख्याऽनुसारेणैवोक्तः । अत्र मनुः—('अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ।।') इति ।। २१ ।।

अन्वयः—निर्बन्धसंजातरुषा, गुरुणा अर्थकार्श्यम् अचिन्तयित्वा अहम् वित्तस्य चतस्रः दश च कोटीः मे आहर इति विद्यापरिसंख्यया उक्तः ।

हिन्दी—अतिशय आग्रह के कारण क्रोध उत्पन्न हो जाने से गुरु जी ने धन की कृशता—(मेरी दरिद्रता) का विना विचार किये ही मुझसे 'चौदह करोड़ मुद्राएँ लाओ' ऐसा विद्या की संख्या के अनुसार कहा है ।। २१ ।।

सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम् ।
अभ्युत्सहे सम्प्रति नोपरोद्धुमल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य ।। २२ ।।

सञ्जी०—सोऽहमिति । सोऽहं सपर्याविधिभाजनेनार्घ्यपात्रेण भवन्तं प्रभुशब्द एव शेषो यस्य तं मत्वा । निःस्वं निश्चित्येत्यर्थः । श्रुतनिष्क्रयस्य विद्यामूल्यस्याल्पेतरत्वादतिमहत्त्वात्सम्प्रत्युपरोद्धुं नाभ्युत्सहे ।। २२ ।।

अन्वयः—सः अहम् सपर्याविधिभाजनेन भवन्तम् प्रभुशब्दशेषम्, मत्वा श्रुतनिष्क्रयस्य अल्पेतरत्वात् सम्प्रति उपरोद्धुम् न अभ्युत्सहे ।

हिन्दी—इस प्रकार का मैं पूजाविधि के पात्र से आपको 'केवल प्रभु शब्द ही बचा है' ऐसा मानकर विद्यामूल्य की—१४ करोड़ मुद्राएँ अत्यधिक होने के कारण इस समय अधिक प्रार्थना करने का साहस नहीं कर सकता हूँ ।। २२ ।।

इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण ।
एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद भूयो जगदेकनाथः ।। २३ ।।

सञ्जी०—इत्थमिति । द्विजराजकान्तिश्चन्द्रकान्तिः 'द्विजराजः शशधरो नक्षत्रेशः क्षपाकरः' इत्यमरः । 'तस्मात्सोमो राजा नो ब्राह्मणानाम्' इति श्रुतेः । द्विजराजकान्तित्वेनार्थावाप्तिवैराग्यं वारयति । एनसः पापान्निवृत्तेन्द्रियवृत्तिर्यस्य स जगदेकनाथो रघुर्वेदविदां वरेण श्रेष्ठेन द्विजेन कौत्सेनेत्थमावेदितो निवेदितः सन् । एनं कौत्सं भूयः पुनर्जगाद ।। २३ ।।

अन्वयः—द्विजराजकान्तिः एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिः जगदेकनाथः 'वेदविदाम् वरेण' द्विजेन इत्थं आवेदितः 'सन्' एनम् भूयः जगाद ।

हिन्दी—ब्राह्मणों के राजा चन्द्रमा की कान्ति के समान कान्ति वाले, समस्त पापों से विमुख इन्द्रियों की वृत्तिवाले एकमात्र लोकनाथ महाराज रघु ने वेदों के जानने वालों में श्रेष्ठ ब्राह्मण कौत्स के द्वारा इस प्रकार निवेदित होते हुए उनसे (कौत्स से) पुनः कहा।

(चन्द्रमा ब्राह्मणों का राजा है जैसा कि श्रुति भगवती का प्रमाण है– 'तस्मात् सोमो राजा नो ब्राह्मणानाम्।' महाराज रघु सोमवत् प्रियदर्शन थे अतः उनकी कान्ति भी चन्द्रमा की कान्ति के समान थी। जितेन्द्रिय होने के कारण उनकी समस्त इन्द्रियों की वृत्ति पाप से पराङ्मुख थी। वेदज्ञश्रेष्ठ अतिथि कौत्स उनके यहाँ से भग्नाश होकर लौट जाय यह रघु जैसे सद्गृहस्थ के लिए पाप का विषय है इसलिए पुरुषोत्तम रघु ने अतिथिवर कौत्स से पुनः कहा) ॥ २३ ॥

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे माभूत्परीवादनवावतारः ॥ २४ ॥

सञ्जी०—गुर्वर्थमिति। श्रुतस्य पारं दृष्टवाञ्छ्रुतपारदृश्वा। 'दृशेः क्वनिप्' इति क्वनिप्। गुर्वर्थं गुरुदक्षिणाऽर्थं यथा तथाऽर्थी याचकः। विशेषणद्वयेनाप्यस्याप्रत्याख्येयत्वमाह। रघोः सकाशात्कामं मनोरथमनवाप्याप्राप्य वदान्यान्तरं दात्रन्तरं गतः। 'स्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे' इत्यमरः। इत्येवंरूपोऽयं परीवादस्य नवा नूतनं प्रथमोऽवतार आविर्भावो मे मा भून्माऽस्तु। रघोरिति स्वनामग्रहणं सम्भावितत्वद्योतनार्थम् तथा च— (सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते) इति भावः ॥ २४ ॥

अन्वयः—श्रुतपारदृश्वा, गुर्वर्थम् अर्थी रघोः सकाशात् कामम् अनवाप्य वदान्यान्तरम् गतः इति अयम् मे परीवादनवावतारः मा भूत्।

हिन्दी—वेदान्त पारंगत विद्वान् गुरु को दक्षिणा देने के लिए अर्थ की प्रार्थना करनेवाला याचक (प्रसिद्ध दानी) रघु के पास से मनोरथ को न पाकर (भग्न मनोरथ होकर) दूसरे दानी के पास चला गया इस प्रकार का यह मेरे लिए अपवाद का नूतन प्रादुर्भाव न हो ॥ २४ ॥

स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन् यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ॥ २५ ॥

सञ्जी०—स इति । स त्वं महिते पूजिते प्रशस्ते प्रसिद्धे मदीयेऽग्न्यगारे त्रेताग्निशालायां चतुर्थोऽग्निरिव वसन्द्वित्राणि द्वे त्रीणि वाऽह्वानि दिनानि । 'संख्ययाऽव्ययाऽऽसन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' इति बहुव्रीहिः । 'बहुव्रीहौ संख्येये डज्बहुगणात्' इति डच्प्रत्ययः समासान्तः । सोढुमर्हसि । हे अर्हन् ! मान्य ! । त्वदर्थं तव प्रयोजनं साधयितुं यावद्यते यतिष्ये । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट् ।। २५ ।।

अन्वयः—सः त्वं महिते प्रशस्ते मदीये अग्न्यगारे, चतुर्थः अग्निः इव वसन् द्वित्राणि अह्वानि सोढुम् अर्हसि, अर्हन् यावत् त्वदर्थम् साधयितुं यते ।

हिन्दी—गुरु को दक्षिणा देने के लिए अर्थ की कामनावाले आप मेरी पूजित प्रशस्त अग्निशाला में चतुर्थ अग्नि के समान निवास करते हुए दो तीन दिन तक सहन करने के योग्य हैं (दो या तीन दिन तक प्रतीक्षा करने की कृपा करें) हे पूजनीय ! तब तक मैं आपके प्रयोजन के लिए अर्थसिद्धि का प्रयत्न करूँगा ।। २५ ।।

तथेति तस्यावितथं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्सङ्गरमग्रजन्मा ।
गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुबेरात् ।। २६ ।।

सञ्जी०—तथेतीति । अग्रजन्मा ब्राह्मणः प्रतीतः प्रीतः सन्स्तस्य रघोरवितथममोघं सङ्गरं प्रतिज्ञाम् । 'अथ प्रतिज्ञाऽऽजिसंविदापत्सु सङ्गरः' इत्यमरः । 'तां गिरम्' इति केचित्पठन्ति । तथेति प्रत्यग्रहीत् । रघुरपि गां भूमिमात्तसारां गृहीतधनामवेक्ष्य कुबेरादर्थं निष्क्रष्टुमाहर्तुं चकम इयेष ।। २६ ।।

अन्वयः—अग्रजन्मा, प्रतीतः 'सन्' तस्य, अवितथम् संगरम्, तथा इति प्रत्यग्रहीत् रघुः अपि गाम् आत्तसाराम् अवेक्ष्य कुबेरात् अर्थम् निष्क्रष्टुम् चकमे ।

हिन्दी—अग्रजन्मा—ब्राह्मण कौत्स ने प्रसन्न होते हुए रघु की अमोघ प्रतिज्ञा 'तथास्तु' कहकर स्वीकार कर ली । रघु ने भी पृथ्वी को निःसार समझ कर कुबेर से धन लाने की कामना की ।। २६ ।।

वशिष्ठमन्त्रोक्षणजातप्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु ।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने नहि तद्रथस्य ।। २७ ।।

सञ्जी०—वसिष्ठमन्त्रेति। वसिष्ठस्य यन्मन्त्रेणोक्षणमभिमन्त्र्य प्रोक्षणं तज्जातप्रभावात्सामर्थ्याद्धेतोः। उदन्वदाकाशमहीधरेषूदन्वत्युदधावाकाशे महीधरेषु वा। मरुत्सखस्य मरुतः सखेति तत्पुरुषो, बहुव्रीहौ समासान्ताभावात्। ततो वायुसहायस्येति लभ्यते। वारीणां वाहको बलाहकः (पृषोदरादित्वात्साधुः) तस्येव मेघस्येव। तद्रथस्य गतिः सञ्चारो न विजघ्ने न विहता हि ॥ २७ ॥

अन्वयः—वसिष्ठमन्त्रोक्षणजात्, प्रभावात्, उदन्वदाकाशमहीधरेषु, मरुत्सखस्य बलाहकस्य इव तद् रथस्य, गतिः न हि विजघ्ने।

हिन्दी—(रघुकुल के प्राचीन पुरोहित) वसिष्ठ के मन्त्रप्रोक्षण से समुत्पन्न होने वाले प्रभाव के कारण सागर–आकाश और पर्वतों पर वायु के सहयोग से मेघ की भाँति महाराज रघु के रथ की गति प्रतिहत नहीं हुई। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वायु के (मैत्रीसम्बन्ध) प्रभाव से मेघ समुद्र–आकाश और पर्वत सर्वत्र जाता है उसी प्रकार कुलपुरोहित वसिष्ठ के मन्त्र से अभिप्रोक्षित प्रभाव से रघु के रथ की गति समुद्र–आकाश और पर्वतों पर सर्वत्र अव्याहत रही। कहीं कोई रघु का रथ रोकने में सक्षम नहीं था, अतः कुबेर के यहाँ भी धन के लिए वे रथ से जा सकते थे। इसमें सन्देह नहीं ॥ २७ ॥

अथाधिशिश्ये प्रयतः प्रदोषे रथं रघुः कल्पितशस्त्रगर्भम्।
सामन्तसम्भावनयैव धीरः कैलासनाथं तरसा जिगीषुः ॥ २८ ॥

सञ्जी०—अथेति। अथ प्रदोषे रजनीमुखे। 'तत्काले यानाधिरोहणविधानात्। प्रयतो धीरो रघुः। समन्ताद्भवः सामन्तः। राजमात्रमिति सम्भावनयैव कैलाशनाथं कुबेरं तरसा बलेन जिगीषुर्जेतुमिच्छुः सन्। कल्पितं सज्जितं शस्त्रं गर्भे यस्य तं रथमधिशिश्ये। रथे शयितवानित्यर्थः। 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इति कर्मत्वम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—अथ, प्रदोषे प्रयतः धीरः रघुः सामन्तसम्भावनया, एव कैलासनाथम् तरसा जिगीषुः कल्पितशस्त्रगर्भम् रथम् अधिशिश्ये।

हिन्दी—इसके बाद सायंकाल हो जाने पर प्रयत्नशील धैर्यवान् रघु ने सामान्य सामन्त की सम्भावना से ही कैलास के स्वामी कुबेर को बलसे

जीतने की इच्छा से मध्यभाग में सुसज्जित शस्त्र वाले रथ पर ही शयन किया ॥ २८ ॥

प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोशगृहे नियुक्ताः ।
हिरण्मयीं कोषगृहस्य मध्ये वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः ॥ २९ ॥

सञ्जी०—प्रातरिति । प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै रघवे कोष-गृहे नियुक्ता अधिकृता भाण्डागारिकाः सविस्मयाः सन्तः कोषगृहस्य मध्ये नभस्तो नभसा । (पञ्चम्यास्तसिल्प्रत्ययः) । पतितां हिरण्मयीं सुवर्ण-मयीम् । ,दाण्डिनायन०' इत्यादिना निपातनात्साधुः । वृष्टिं शशंसुः कथ-यामासुः ॥ २९ ॥

अन्वयः—प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै, कोशगृहे, नियुक्ताः सविस्मयाः कोशगृहस्य मध्ये नभस्तः पतिताम् हिरण्मयीम् वृष्टिं शशंसु ।

हिन्दी—प्रातःकालः प्रस्थान करने के लिए तत्पर रघु से कोशागार में नियुक्त लोगों ने आश्चर्य पूर्वक कोशालय के मध्य में आकाश से गिरी सुवर्ण-मयी वर्षा की बात कही ॥ २९ ॥

तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात् ।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ॥ ३० ॥

सञ्जी०—तमिति । भूपती रघुः । अभियास्यमानादभिगमिष्यमाणा-त्कुबेराल्लब्धम् । वज्रेण कुलिशेन भिन्नं सुमेरोः पादं प्रत्यन्तपर्वतमिव स्थितम् । 'पादाः प्रत्यन्तपर्वताः' इत्यमरः । 'शृङ्गम्' इति क्वचित्पाठः । तं भासुरं भास्वरम् । 'भञ्जभासमिदो घुरच्' इति घुरच् । हेमराशिं समस्तं कृत्स्नमेव कौत्साय दिदेश ददौ । न तु चतुर्दशकोटिमात्रमित्येवकारार्थः ॥ ३० ॥

अन्वयः—भूपतिः अभियास्यमानात् कुबेरात् लब्धम् वज्रभिन्नम्, सुमेरोः पादम् इव तम् भासुरहेमराशिम् समस्तम् एव कौत्साय दिदेश ।

हिन्दी—धराधिपति रघु ने आक्रम्यमान (जिसके ऊपर आक्रमण किया जाने वाला हो) कुबेर से प्राप्त वज्र से तोड़े गए सुमेरु पर्वत के एक चरण—(प्रत्यन्तपर्वत) के समान उग्र देदीप्यमान सुवर्णराशिको समस्तरूप में कौत्स को दे दिया ॥ ३० ॥

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहाऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥ ३१ ॥

सञ्जी०—जनस्येति । तावर्थिदातारौ द्वावपि साकेतनिवासिनोऽयोध्यावासिनः । 'साकेतः स्यादयोध्याया कोसला नन्दिनी च सा' इति यादवः । जनस्याभिनन्द्यसत्त्वौ स्तुत्यव्यवसायावभूताम् । 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सात्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः । कौ द्वौ ? गुरुप्रदेयादधिकेऽतिरिक्तद्रव्ये निःस्पृहोऽर्थी । अर्थिकामादर्थिमनोरथादधिकं प्रददातीति तथोक्तः । 'प्रे दाज्ञः' इति कप्रत्ययः । नृपश्च ॥ ३१ ॥

अन्वयः—गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहः अर्थी अर्थिकामात् अधिकप्रदः नृपश्च तौ द्वौ अपि साकेतनिवासिनः जनस्य अभिनन्द्यसत्त्वौ अभूताम् ।

हिन्दी—गुरु को दक्षिणा में जितना देना है उससे अधिक की स्पृहा न करने वाला याचक कौत्स और याचक की कामना से अधिक प्रदान करने वाला राजा रघु वे दोनों ही (याचक और दाता) अयोध्यावासी लोगों के लिए अभिनन्दन करने योग्य प्राणी हो गए ॥ ३१ ॥

अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः ।
स्पृशन्करेणानतपूर्वकायं सम्प्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—अथेति । अथ प्रीतमना महर्षिः कौत्सः सम्प्रस्थितः प्रस्थास्यमानः सन् । 'आशंसायां भूतवच्च' इति भविष्यदर्थे क्तः । उष्ट्राणां क्रमेलकानां वामीनां वडवानां च शतैर्वाहितार्थं प्राप्तिधनमानतपूर्वकायम्, विनयनम्रमित्यर्थः । प्रजेश्वरं रघुं करेण स्पृशन्वाचमुवाच ॥ ३२ ॥

अन्वयः—अथ प्रीतमनाः महर्षिः कौत्सः सम्प्रस्थितः 'सन्' उष्ट्रवामीशतवाहितार्थं, आनतपूर्वकायं, प्रजेश्वरं करेण स्पृशन् वाचं उवाच ।

हिन्दी—तत्पश्चात् प्रसन्नचित्त महर्षि कौत्स ने प्रस्थान करते हुए सैंकड़ों ऊटों और खच्चरों से दक्षिणा का धन पहुँचवाने वाले नतमस्तक प्रजानाथ रघु को हाथ से स्पर्श करते हुए वचन कहा ॥ ३२ ॥

किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम् ।
अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषीतं द्यौरपि येन दुग्धा ॥३३॥

सञ्जी०—किमिति । वृत्ते स्थितस्य । (न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धनं पालनं तथा । सत्पात्रे प्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधम् ॥) इति कामन्दकः । तस्मिन्वृत्तेस्थितस्य प्रजानामधिपतेर्नृपस्य भूः कामान्सूत इति कामसूर्यदि । 'सत्सूद्विषद्रुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्' इत्यनेन क्विप् । अत्र कामप्रसवने किं चित्रम् । न चित्रमित्यर्थः । किन्तु तव प्रभावो महिमा त्वचिन्तनीयः । येन त्वया द्यौरपि मनीषितमभिलषितं दुग्धा । दुहेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि क्तः । (प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम् । अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः ॥) इति स्मरणात् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—वृत्ते स्थितस्य प्रजानां अधिपतेः भूः कामसूः यदि, अत्र किम् चित्रम्, तु तव प्रभावः अचिन्तनीयः, येन द्यौः अपि मनीषितं दुग्धा ।

हिन्दी—(न्यायोचित ढंग से धनोपार्जन करना उसे बढ़ाना और उसकी रक्षा करना तथा सुपात्रों में वितरण करना राजवृत्त है ।) इस राजवृत्त में स्थित प्रजाओं के स्वामी रघु की पृथ्वी यदि मनोरथ की वस्तु उत्पन्न करने वाली है तो इसमें क्या आश्चर्य है ? किन्तु आपका प्रभाव अकल्पनीय है, जिसने स्वर्ग को भी यथेच्छ रूप से दोहन किया । (लड़ने की तैयारी कर स्वर्ग का भी यथेष्ट सुवर्ण दुह लिया) ॥ ३३ ॥

आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते ।
पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—आशास्यमिति । सर्वाणि श्रेयांसि शुभान्यधिजग्मुषः प्राप्तवतस्ते तवान्यत्पुत्रातिरिक्तमाशास्यमाशीःसाध्यमाशंसनीयं वा पुनरुक्तभूतम् । सर्वसिद्धमित्यर्थः । किन्त्वीड्यं स्तुत्यं भवन्तं भवतः पितेवात्मगुणानुरूपम् । त्वया तुल्यगुणमित्यर्थः । पुत्रं लभस्व प्राप्नुहि ॥ ३४ ॥

अन्वयः—सर्वाणि श्रेयांसि अधिजग्मुषः ते अन्यत् आशास्यं पुनरुक्तभूतं, ईड्यं भवन्तं भवतः पिता इव त्वम् अपि आत्मगुणानुरूपं पुत्रं लभस्व ।

हिन्दी—समस्त कल्याण को प्राप्त कर लेने वाले आपके लिए अन्य आशीर्वचन तो पुनः कथित (द्विरुक्त) जैसा ही होगा अतः जिस प्रकार आपके पिता ने स्तुति करने योग्य आपको प्राप्त किया उसी प्रकार आप भी अपने गुणों के अनुरूप पुत्र लाभ करें ॥ ३४ ॥

इत्थं प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम् ।
राजाऽपि लेभे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोकः ॥३५॥

सञ्जी०—इत्थमिति । अग्रजन्मा ब्राह्मणः । 'अग्रजन्मा द्विजे श्रेष्ठे भ्रातरि ब्रह्मणि स्मृतः' इति विश्वः । इत्थं राज्ञ आशिषं प्रयुज्य दत्त्वा गुरोः सकाशं समीपं प्रतीयाय प्राप । राजाऽपि । जीवलोको जीवसमूहः । 'जीवः प्राणिनि गीष्पतौ' इति विश्वः । अर्कादालोकं प्रकाशमिव । शीघ्रम् । चैतन्यम्' इति पाठे ज्ञानम् । तस्मादृषेराशु सुतं लेभे प्राप ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अग्रजन्मा इत्थं राज्ञे आशिषं प्रयुज्य गुरोः सकाशं प्रतीयाय । [राजा अपि जीवलोकः अर्कात् आलोकं इव तस्मात् आशु सुतं लेभे ।

हिन्दी—अग्रजन्मा—ब्राह्मण कौत्स इस प्रकार राजा रघु को आशीर्वाद देकर गुरु के पास लौट आये । राजा रघु ने भी उस आशीर्वाद से शीघ्र ही उसी प्रकार पुत्र प्राप्त किया जिस प्रकार प्राणियों का समूह सूर्य से प्रकाश प्राप्त करता है ॥ ३५ ॥

ब्राम्हे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम् ।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ॥३६॥

सञ्जी०—ब्राह्म इति । तस्य रघोर्देवी महिषी ब्राह्मे 'तस्येदम्' इत्यण् । ब्रह्मदेवताकेऽभिजिन्नामके मुहूर्ते किलेषदसमाप्तं कुमारं कुमारकल्पं स्कन्द-सदृशम् 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' इत्यनेन कल्पप्प्रत्ययः । कुमारं पुत्रं सुषुवे । 'कुमारो बालके स्कन्दे' इति विश्वः । अतो ब्राह्ममुहूर्तोत्पन्नत्वात्पिता रघुर्ब्रह्मणो विधेरेव नाम्ना तमात्मजन्मानं पुत्रमजमजनामकं चकार । 'अजो हरौ हरे कामे विधौ छागे रघोः सुते' इति विश्वः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—तस्य देवी ब्राह्मे मुहूर्ते किल कुमारकल्पं कुमारं सुषुवे, अतः पिता ब्रह्मणः एव नाम्ना तम् आत्मजन्मानं अजं चकार ।

हिन्दी—महाराज रघु की पटरानी ने ब्राह्ममुहूर्त में पार्वतीपुत्र स्कन्द के समान पुत्र को जन्म दिया, इसीलिए (ब्राह्ममुहूर्त में जन्म होने के कारण) पिता रघु ने ब्रह्मा के ही नाम से उसका नामकरण 'अज' किया ॥

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम् ।
न कारणात् स्वाद् बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात् ॥

सञ्जी०—रूपमिति। ओजस्वि तेजस्वि बलिष्ठं वा। 'ओजस्तेजसि धातूनामवष्टम्भप्रकाशयोः। 'ओजो बले च दीप्तौ च' इति विश्वः। रूपं वपुः। 'अथ रूपं नपुंसकम्। स्वभावाकृतिसौन्दर्यवपुषि श्लोकशब्दयोः'। इति विश्वः। तदेव पैतृकमेव वीर्यं शौर्यं तदेव नैसर्गिकं स्वाभाविकमुन्नतत्वं तदेव तादृशमेवेत्यर्थः। कुमारो बालकः। प्रवर्तितः उत्पादितो दीपः प्रदीपात्स्वोत्पादकदीपादिव। स्वात्स्वकीयात्। 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति स्माद्भावो वैकल्पिकः। कारणाज्जनकान्न बिभिदे भिन्नो नाभूत्। सर्वात्मना तादृश एवाभूदित्यर्थः॥ ३७॥

अन्वयः—ओजस्वि रूपम् तदेव, वीर्यं तदेव, नैसर्गिकं उन्नतत्वं तदेव, कुमारः प्रदीपात् प्रवर्तितः दीपः इव स्वात् कारणात् न बिभिदे।

हिन्दी—कुमार अज का ओजस्वी रूप वही था जो पिता रघु का था, शौर्य वही था, और स्वाभाविक उँचाई भी वही थी। कुमार अज अपने जनक रघु से उसी प्रकार तनिक भी भिन्न नहीं हुए जिस प्रकार एक दीपक से प्रवर्तित दूसरा दीपक अपने कारणभूत प्रथम दीपक से प्रकाशादि गुणों में किसी प्रकार भिन्न नहीं होता॥ ३७॥

उपात्तविद्यं विधिवद् गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम्।
श्रीः साभिलाषाऽपि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष॥३८॥

सञ्जी०—उपात्तविद्यमिति। गुरुभ्यो विधिवद्यथाशास्त्रमुपात्तविद्यं लब्धविद्यम्। यौवनस्योद्भेदादाविर्भावाद्धेतोर्विशेषेण कान्तं सौम्यं तमजं प्रति साभिलाषाऽपि श्रीः धीरा स्थिरोन्नतचित्ता। 'स्थिरा चित्तोन्नतिर्या तु तद्धैर्यमिति संज्ञितम्' इति भूपालः। कन्या पितुरिव। गुरोरनुज्ञामाचकाङ्क्षेयेष। यौवराज्यार्होऽभूदित्यर्थः। अनुज्ञाशब्दात्पितृपारतन्त्र्यमुपमासामर्थ्यात्पाणिग्रहणयोग्यता च ध्वन्यते॥ ३८॥

अन्वयः—गुरुभ्यः विधिवत् उपात्तविद्यम् यौवनोद्भेदविशेषकान्तम् तम् साभिलाषा अपि श्रीः धीरा कन्या पितुः इव गुरोः अनुज्ञाम् आचकांक्ष।

हिन्दी—गुरुओं से विधिपूर्वक विद्याध्ययन प्राप्त किये हुए यौवन के प्रादुर्भाव से विशेष कमनीय उस अज के प्रति इच्छुक होती हुई भी राज्यलक्ष्मी रघु की आज्ञा (अनुमति) की उसी प्रकार आकाङ्क्षा करने लगी

जिस प्रकार धीर स्वभाववाली कन्या युवावस्था के विकास से विशेष कमनीय कान्त (वर) को मन से चाहती हुई भी पिता की आज्ञा चाहती है ॥

अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः ।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—अथेश्वरेणेति । अथ स्वसुर्भगिन्या इन्दुमत्याः स्वयंवरार्थं कुमारस्याजस्यानयने उत्सुकेन क्रथकैशिकानां विदर्भदेशानामीश्वरेण स्वामिना भोजेन राज्ञाऽऽप्तो हितो दूतो रघवे विसृष्टः प्रेषितः (क्रियामात्रयोगेऽपि चतुर्थी) ॥ ३९ ॥

अन्वयः—अथ स्वसुः इन्दुमत्याः स्वयंवरार्थम् कुमारानयनोत्सुकेन, क्रथकैशिकानाम् ईश्वरेण भोजेन आप्तः दूतः रघवे विसृष्टः ।

हिन्दी—इसके बाद अपनी बहन इन्दुमती के स्वयंवर के लिए कुमार अज को बुलाने के लिए उत्सुक विदर्भ देश के स्वामी 'भोज' ने विश्वस्त दूत महाराज रघु के पास भेजा ॥ ३९ ॥

तं श्लाघ्यसम्बन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम् ।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम् ॥४०॥

सञ्जी०—तमिति । असौ रघुस्तं भोजं श्लाघ्यसम्बन्धमनूचानत्वादिगुणयोगात्स्पृहणीयसम्बन्धं विचिन्त्य विचार्य पुत्रं च दारक्रियायोग्यदशं विवाहयोग्यवयसं विचिन्त्य ससैन्यमेनं पुत्रमृद्धां समृद्धां विदर्भाधिपस्य भोजस्य राजधानीं पुरीं प्रति प्रस्थापयामास । धीयतेऽस्यामिति धानी । 'करणाधिकरणयोश्च' इत्यधिकरणे ल्युट्प्रत्ययः । राज्ञां धानीति विग्रहः ॥ ४० ॥

अन्वयः—असौ तं श्लाघ्यसम्बन्धम्, विचिन्त्य पुत्रम् च दारक्रियायोग्यदशं 'विचिन्त्य' ससैन्यम् एनम् ऋद्धाम् विदर्भाधिपराजधानीम् प्रति प्रस्थापयामास ।

हिन्दी—महाराज रघु ने उस विदर्भाधिपतिभोज के साथ प्रशंसनीय सम्बन्ध का विचार कर और अपने पुत्र अज को पाणिग्रहणसंस्कार करने योग्य अवस्था का विचार कर सेना के साथ उसे (अज को) समृद्धिशाली विदर्भनरेश की राजधानी को भेज दिया ॥ ४० ॥

तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—तस्येति। उपकार्यासु राजयोग्येषु पटभवनादिषु। 'सौधोऽस्त्रीराजसदनमुपकार्योपकारिका' इत्यमरवचनव्याख्याने क्षीरस्वामी। उपक्रियत उपकरोति वा पटमण्डपादि राजसदनमिति। रचिता उपचाराः शयनादयो येषु ते तथोक्ताः। जानपदानां जनपदेभ्य आगतानामुपदाभिरुपायनैः वन्या वने भवा इतरे येषां ते वन्येतराः। अवन्या इत्यर्थः। 'न बहुव्रीहौ' इति सर्वनामसंज्ञानिषेधः। तत्पुरुषे सर्वनामसंज्ञा दुर्वारैव। तस्य मनुजेन्द्रसूनोरजस्य मार्गे निवासा वासनिका उद्यानान्याक्रीडाः। 'पुमानाक्रीड उद्यानम्' इत्यमरः। तान्येव विहारा विहारस्थानानि तत्कल्पाः। तत्सदृशा इत्यर्थः। 'ईषदसमाप्तौ०' इति कल्पप्प्रत्ययः। बभूवुः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—उपकार्यारचितोपचाराः, जानपदोपदाभिः वन्येतराः तस्य मनुजेन्द्रसूनोः, मार्गे, निवासाः, उद्यानविहारकल्पाः बभूवुः।

हिन्दी—राजाओं के रहने योग्य पटनिर्मित राजभवन में किया गया शयनादि उपचार, जनपदों से आये हुए उपहारों से अवन्य (अर्थात् जो जंगली न हो) उस नरोत्तम रघुपुत्र के मार्ग का निवास, उद्यान में बिहार के समान ही हुआ ॥ ४१ ॥

स नर्मदारोधसि सीकरार्द्रैर्मरुद्भिरानर्तितनक्तमाले।
निवेशयामास विलङ्घिताध्वा क्लान्तं रजोधूसरकेतु सैन्यम् ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—स इति। विलङ्घिताध्वाऽतिक्रान्तमार्गः सोऽजः सीकरार्द्रैः। शीतलैरित्यर्थः। मरुद्भिर्वातैरानर्तिताः कम्पिता नक्तमालाश्चिरबिल्वाख्यवृक्षभेदाः। 'चिरबिल्वो नक्तमालः करजश्च करञ्जके' इत्यमरः। यस्मिंस्तस्मिन्। निवेशार्हे इत्यर्थः। नर्मदाया रोधसि। रेवायास्तीरे क्लान्तं श्रान्तं रजोभिर्धूसराः केतवो ध्वजा यस्य तत्सैन्यं निवेशयामास ॥ ४२ ॥

अन्वयः—विलङ्घिताध्वा, सः सीकरार्द्रैः मरुद्भिः आनर्तितनक्तमाले नर्मदारोधसि क्लान्तम् रजोधूसरकेतुसैन्यम्, निवेशयामास।

हिन्दी—मार्ग में जाते हुए राजकुमार अज ने जलविन्दुओं से शीतल

पवन से आन्दोलित चिरबिल्व नामक (नक्तमाल) वृक्षों वाले नर्मदातट पर थकी हुई धूलिधूसरित पताकावाली सेना का पड़ाव डाला ॥ ४२ ॥

अथोपरिष्टाद् भ्रमरैर्भ्रमद्भिः प्राक्सूचितान्तःसलिलप्रवेशः ।
निर्धौतदानामलगण्डभित्तिर्वन्यः सरित्तो गज उन्ममज्ज ॥ ४३ ॥

सञ्जी०—अथेति । अथोपरिष्टादूर्ध्वम् । 'उपर्युपरिष्टात्' इति निपातः । भ्रमद्भिः । मदलोभादिति भावः । भ्रमरैः प्रागुन्मज्जनात्पूर्वं सूचितो ज्ञापितोऽन्तसलिले प्रवेशो यस्य स तथोक्तः । निर्धौतदाने क्षालितमदे अत एवामले गण्डभित्ती यस्य स तथोक्तः । 'दानं गजमदे त्यागे' इति शाश्वतः । प्रशस्तौ गण्डौ गण्डभित्ती । 'प्रशंसावचनैश्च' इति समासः । भित्तिशब्दः प्रशस्तार्थः । तथा च गणरत्नमहोदधौ—'मतल्लिकोद्धमिश्राः स्युः प्रकाण्डस्थलभित्तयः' इति । भित्तिः प्रदेशो वा । 'भित्तिः प्रदेशे कुड्येऽपि' इति विश्वः । निर्धौतदानेनामला गण्डभित्तिर्यस्येति वा । वन्यो गजः सरित्तो नर्मदायाः सकाशात् । पञ्चम्यास्तसिल्प्रत्ययः उन्ममज्जोत्थितः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अथ उपरिष्टात् भ्रमद्भिः भ्रमरैः प्राक् सूचितान्तःसलिलप्रवेशः, निर्धौतदानामलगण्डभित्तिः, वन्यः गजः सरित्तः उन्ममज्ज ।

हिन्दी—सेना का पड़ाव डाल देने के बाद ऊपर मँडराते हुए भ्रमरों से ऊपर निकलने से पूर्व जिसका जल में प्रवेश सूचित हो रहा था एवं मद प्रक्षालित हो जाने से जिसके गण्डस्थल स्वच्छ हो गये थे, ऐसा एक जंगली हाथी नर्मदा नदी से (ऊपर) निकला ॥ ४३ ॥

निःशेषविक्षालितधातुनाऽपि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।
नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शंसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥ ४४ ॥

सञ्जी०—निःशेषेति । कथम्भूतो गजः । निःशेषविक्षालितधातुनाऽपि धौतगैरिकादिनाऽपि । नीलाभिरूर्ध्वाभी रेखाभिस्तटाभिघातजनिताभिः शबलेन कर्बुरेण । 'चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः । अश्मभिः पाषाणैर्विकुण्ठितेन कुण्ठीकृतेन दन्तद्वयेन । ऋक्षवान्नाम कश्चित्तत्रत्यः पर्वतः । तस्य तटेषु वप्रक्रियां वप्रक्रीडाम् । उत्खातकेलिः शृङ्गाद्यैर्वप्रक्रीडा निगद्यते' इति शब्दार्णवः । शंसन्कथयन् । सूचयन्नित्यर्थः । युग्मम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—निःशेषविक्षालितधातुना अपि नीलोर्ध्वरेखाशबलेन, अश्म-विकुण्ठितेन दन्तद्वयेन ऋक्षवतः तटेषु, वप्रक्रियां शंसन् 'सः' बभौ। (इत्यग्रेण श्लोकेन सहान्वयः कार्यः युग्मात्।)

हिन्दी—पूर्णरूप से गैरिक आदि धातु के (नर्मदाजल में) धुल जाने पर भी नीली ऊपर की ओर उभरी हुई रेखाओं के चितकबरेपन से पाषाणों से तोड़े गये दोनों दाँतों से ऋक्षवान् पर्वत के तटों में वप्रक्रीडा (साँड़, भैंसे, हाथी आदि सींगों अथवा दाँतों से किसी ऊँचे टीले या पर्वततटों को कुरेद-कुरेद कर जो क्रीड़ा करते हैं उसे वप्रक्रीड़ा कहा जाता है।) को सूचित करता हुआ 'वह सुशोभित हो रहा था' (अगले श्लोक के साथ युग्मक होने के कारण सम्बद्ध है)॥ ४४॥

संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम्।
बभौ स भिन्दन्बृहतस्तरङ्गान् वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः॥ ४५॥

सञ्जी०—संहारेति। संहारविक्षेपयोः सङ्कोचनप्रसारणयोर्लघुक्रियेण क्षिप्रव्यापारेण। 'लघुक्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः। हस्तेन शुण्डादण्डेन। 'हस्तो नक्षत्रभेदे स्यात्करेभकरयोरपि' इति विश्वः। सशब्दं सघोषं बृहतस्त-रङ्गान्भिन्दन् विदारयन् तीराभिमुखः स गजः। वारी गजबन्धनस्थानम्। 'वारी तु गजबन्धनी' इति यादवः। वार्या अर्गलाया विष्कम्भस्य भङ्गे भञ्जने प्रवृत्त इव बभौ॥ ४५॥

अन्वयः—संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन सशब्दम् बृहतः तरङ्गान् भिन्दन् तीराभिमुखः सः वार्यर्गलाभङ्गे प्रवृत्तः इव बभौ।

हिन्दी—जल्दी-जल्दी सिकोड़ने और फैलाने वाले सूँड़ से शब्द करता हुआ उत्तालतरङ्गों को भेदता (चीरता) हुआ तट की ओर आता हुआ वह हाथी बन्धनशृङ्खला के तोड़ने में लगा हुआ सा सुशोभित हो रहा था॥४५॥

शैलोपमः शैवलमञ्जरीणां जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात्।
पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प॥४६॥

सञ्जी०—शैलोपम इति। शैलोपमः स गजः शैवलमञ्जरीणां जालानि वृन्दान्युरसा कर्षन्पश्चात्तटमुत्ससर्प। पूर्वं तेन गजेनोत्पीडितो नुन्नो वारिरा-शिर्यस्य स सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प॥ ४६॥

अन्वयः—शैलोपमः सः शैवलमञ्जरीणां जालानि उरसा कर्षन् पश्चात् तटम् उत्ससर्प, पूर्वम् तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहः तटम् ।

हिन्दी—पर्वत के समान विशाल वह हाथी सेवार की मञ्जरियों के जाल को छाती से खींचता हुआ जब तक तट पर पहुँचा, उससे पहले ही उस हाथी के द्वारा क्षुब्ध जलसमूह वाला नर्मदा नदी का प्रवाह तट पर पहुँच चुका था ॥ ४६ ॥

तस्यैकनागस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहक्षणमात्रशान्ता ।
वन्येतरानेकपदर्शनेन पुनर्दिदीपे मददुर्दिनश्रीः ॥ ४७ ॥

सञ्जी०—तस्येति । तस्यैकनागस्यैकाकिनो गजस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहेन क्षणमात्रं शान्ता निवृत्ता मददुर्दिनश्रीर्मदवर्षलक्ष्मीर्वन्येतरेषां ग्राम्याणामनेकपानां द्विपानां दर्शनेन पुनर्दिदीपे ववृधे ॥ ४७ ॥

अन्वयः—तस्य, एकनागस्य, कपोलभित्त्योः जलावगाहक्षणमात्रशान्ता मददुर्दिनश्रीः वन्येतरानेकपदर्शनेन, पुनः दिदीपे ।

हिन्दी—उस एक अद्वितीय हाथी के दोनों कपोलस्थलों की मदजलवर्षा की शोभा जो नर्मदा-जल के अवगाहन से क्षणमात्र के लिए अदृश्य हो गई थी वह वन में उत्पन्न होने वालों से भिन्न अर्थात् अवन्य (अज के पालतू हाथियों (गजों) के देखने से पुनः उद्दीप्त हो गई । तात्पर्य यह है कि अज के हाथियों को देखने से उस जंगली हाथी का मद पुनः चूने लगा ॥ ४७ ॥

सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमसह्यमाघ्राय मदं तदीयम् ।
विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः ॥ ४८ ॥

सञ्जी०—सप्तच्छदेति । सप्तच्छदस्य वृक्षविशेषस्य क्षीरवत्कटुः सुरभिः प्रवाहः प्रसारो यस्य तम् । 'कटुतिक्तकषायास्तु सौरभ्येऽपि प्रकीर्तिताः' इति यादवः । असह्यं तदीयं मदमाघ्राय सेनागजेन्द्राः । विलङ्घितस्तिरस्कृत आधोरणानां हस्तिपकानां तीव्रो महान् यत्नो यैस्ते तथोक्ताः सन्तः । 'आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिनः' इत्यमरः । विमुखाः पराङ्मुखाः । बभूवुः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहम् असह्यम् तदीयम् मदम् आघ्राय सेनागजेन्द्राः विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः विमुखाः बभूवुः ।

हिन्दी--सप्तपर्ण (सात पत्तेवाला) छतिवन के दूध के समान तीव्र गन्धवाले असह्य उस हाथी के मद को सूँघकर सेना के गजराज, हस्तिपकों—(महावतों) के नियंत्रित करने (रोकने) के प्रबल प्रयत्नों को भी उल्लङ्घित करते हुए विमुख हो गये (भागने लगे) ॥ ४८ ॥

स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥ ४९ ॥

सञ्जी०--स इति। स गजः। छिन्ना बन्धा यैस्ते छिन्नबन्धा द्रुता पलायिताः, युगं वहन्तीति युग्या वाहा यस्मिन् सः, स चासौ शून्यश्च तम्। भग्ना अक्षा रथावयवदारुविशेषाः। 'अक्षो रथस्यावयवे पाशकेऽप्यक्षमिन्द्रियम्' इति शाश्वतः। येषान्ते भग्नाक्षा अत एव पर्यस्ताः पतिता रथा यस्मिस्तम्। रामाणां स्त्रीणां परित्राणे संरक्षणे विहस्ता व्याकुलाः। 'विहस्तव्याकुलौ समौ' इत्यमरः। योधा यस्मिस्तं सेनानिवेशं शिविरं क्षणेन तुमुलं संकुलं चकार ॥ ४९ ॥

अन्वयः--सः छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यम् भग्नाक्षपर्यस्तरथम्, रामापरित्राण-विहस्तयोधम् सेनानिवेशम्, क्षणेन तुमुलम् चकार।

हिन्दी—उस (नर्मदा के जल से निकले हुए) हाथी ने क्षण भर के लिए सेनानिवेश को अस्त-व्यस्त कर दिया। बन्धन टूट जाने से रथ के घोड़े भाग खड़े हुए, रथ की कील-धुरी टूट गई जिससे वह (रथ) गिर पड़ा और सैनिक स्त्रियों की सुरक्षा में व्याकुल हो गये ॥ ४९ ॥

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करोति श्रुतवान् कुमारः।
निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः ॥ ५० ॥

सञ्जी०—तमिति। नृपते राज्ञो वन्यः कर्यवध्य इति श्रुतवाञ्शास्त्राज्ज्ञातवान् कुमार आपतन्तमभिधावन्तं तं गजं निवर्तयिष्यन्न तु प्रहरिष्यन्। अत एव नात्यायतमनतिदीर्घं यथा स्यात् (नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः)। कृष्टशार्ङ्गः ईषदाकृष्टचापः सन् विशिखेन बाणेन कुम्भे जघान। अत्र चाक्षुषः—(लक्ष्मीकामो युद्धादन्यत्र करिवधं न कुर्यात्। इयं हि श्रीर्यै करिणः) इति। अत एव (युद्धादन्यत्र) इति द्योतनार्थमेव वन्यग्रहणं कृतम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—नृपतेः वन्यः करी अवध्यः इति श्रुतवान् कुमारः आपतन्तं तम् निवर्तयिष्यन् नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः विशिखेन कुम्भे जघान।

हिन्दी—"नरपति के लिए वनोत्पन्न हाथी वध करने योग्य नहीं होता है" इस शास्त्रप्रमाण को जानने वाले राजकुमार अज ने सामने झपटते हुए उस हाथी को लौटा देने की इच्छा करते हुए नाममात्र धनुष की प्रत्यञ्चा खींचते हुए बाण से मस्तक के ऊपर हल्का प्रहार किया ॥ ५० ॥

स विद्धमात्रः किल नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्टः।
स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ॥ ५१ ॥

सञ्जी०—स इति। स गजो विद्धमात्रस्ताडितमात्रः किल न तु प्रहतस्तथाऽपि नागरूपं गजशरीरमुत्सृज्य तेन वृत्तान्तेन विस्मितैस्तद्विस्मितैः सैन्यैर्दृष्टः सन् स्फुरतः प्रभामण्डलस्य मध्यवर्ति कान्तं मनोहरं व्योमचरं वपुः प्रपेदे प्राप ॥ ५१ ॥

अन्वयः—सः विद्धमात्रः किल नागरूपं उत्सृज्य तद् विस्मितसैन्यदृष्टः 'सन्' स्फुरतः प्रभामण्डलमध्यवर्ति, कान्तं व्योमचरं वपुः प्रपेदे।

हिन्दी—उस वन्य हाथी ने (राजकुमार अज के बाण से) घायल होते ही अपने हाथी के स्वरूप को छोड़कर देदीप्यमान प्रभामण्डल के मध्य विराजमान मनोहर आकाशचारी शरीर को प्राप्त कर लिया, ऐसा अज के विस्मित सैनिकों द्वारा देखा गया ॥ ५१ ॥

अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः।
उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः ॥ ५२ ॥

सञ्जी०—अथेति। अथ प्रभावेणोपनतैः प्राप्तैः कल्पद्रुमोत्पन्नैः पुष्पैः कुमारमजमवकीर्याभिवृष्य दशनप्रभाभिर्दन्तकान्तिभिः संवर्धिता उरःस्थले ये तारहाराः स्थूला मुक्ताहारास्ते येन स तथोक्तः। वाचोऽस्य सन्तीति वाग्मी वक्ता। 'वाचो ग्मिनिः' इति ग्मिनिप्रत्ययः। स पुरुष उवाच ॥ ५२ ॥

अन्वयः—अथ प्रभावोपनतैः कल्पद्रुमोत्थैः पुष्पैः कुमारम् अवकीर्य, दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः वाग्मी उवाच।

हिन्दी—दिव्यदेह प्राप्ति के अनन्तर अपने प्रभाव से प्राप्त कल्पवृक्ष से

प्रादुर्भूत पुष्पों की, कुमार अज के ऊपर वर्षा करते हुए, दाँतों की प्रभा से वक्षस्थल के मौक्तिक हार को संवर्धित करने वाले वाक्पटु उस 'दिव्यपुरुष' ने कहा ॥ ५२ ॥

मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम् ।
अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य ॥ ५३ ॥

सञ्जी०–मतङ्गशापादिति । अवलेपमूलाद् गर्वहेतुकात् । 'अवलेपस्तु गर्वे स्याल्लेपने द्वेषणेऽपि च' इति विश्वः । मतङ्गस्य मुनेः शापान्मतङ्गजत्वमवाप्तवानस्मि । मां प्रियदर्शनाख्यस्य गन्धर्वपतेर्गन्धर्वराजस्य तनूजं पुत्रम् । 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः 'तन्वादेर्वा' इत्यूङिति केचित् । प्रियंवदं प्रियंवदाख्यमवेहि जानीहि । प्रियं वदतीति प्रियंवदः । 'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्प्रत्ययः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अवलेपमूलात् मतङ्गशापात् मतङ्गजत्वम् अवाप्तवान् अस्मि । मां, प्रियदर्शनस्य गन्धर्वपतेः तनूजं प्रियंवदं अवेहि ।

हिन्दी—मैं अभिमान के कारण मतंगमुनि के शाप से मतङ्गजत्व को प्राप्त हो गया हूँ—(मुझे हाथी का शरीर मिला है।) मुझे गन्धर्वों के स्वामी प्रियदर्शन का आत्मज 'प्रियंवद' समझें ॥ ५३ ॥

स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत् ।
उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—स इति । स महर्षिश्च प्रणतेन मयाऽनुनीतः सन्पश्चान्मृदुतां शान्तिमगच्छत् तथा हि । जलस्योष्णत्वमग्नेरातपस्य वा संप्रयोगात्संपर्कात् न तु प्रकृत्योष्णत्वम् । यच्छैत्यं सा प्रकृतिः स्वभावः । विधेयप्राधान्यात्सेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । महर्षीणां शान्तिरेव स्वभावो न क्रोध इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—सः महर्षिः च प्रणतेन मया अनुनीतः 'सन्' पश्चात् मृदुताम् अगच्छत्, हि जलस्य उष्णत्वेन, अग्न्यातपसंप्रयोगात् यत् शैत्यं सा प्रकृतिः ।

हिन्दी—और वे महर्षि मेरे द्वारा विनम्रतापूर्वक प्रार्थना करने पर मृदुता-कोमलता को प्राप्त हुए अर्थात् बहुत अनुनय विनय करने पर शान्त हो गए क्योंकि जल की उष्णता अग्नि और धूप के संयोग से होती है तथा शीतलता तो उसकी प्रकृति ही है ॥ ५४ ॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यदा ते भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन ।
संयोक्ष्यसे स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत्स तपोनिधिर्माम् ॥ ५५ ॥

सञ्जी०—इक्ष्वाकुवंशेति । इक्ष्वाकुवंशः प्रभवो यस्य सोऽजो यदा ते कुम्भमयोमुखेन लोहाग्रेण शरेण भेत्स्यति विदारयिष्यति तदा स्वेन वपुषो महिम्ना पुनः संयोक्ष्यसे संगंस्यत इति स तपोनिधिर्मामवोचत् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—इक्ष्वाकुवंप्रभवः अजः यदा ते कुम्भम्, अयोमुखेन, शरेण, भेत्स्यति, तदा स्वेन वपुर्महिम्ना पुनः संयोक्ष्यसे इति सः तपोनिधिः माम् अवोचत ।

हिन्दी—इक्ष्वाकु कुलोत्पन्न 'अज' जब तुम्हारे 'मस्तक को लौहफलकमय बाण से भेदेगा तब अपने शरीर की महिमा से पुनः तुम संयुक्त हो जाओगे (अर्थात् तब तुम्हें पुनः अपना शरीर मिलेगा ।) यह उस तपस्वी मतंग महर्षि ने मुझसे कहा ॥ ५५ ॥

सम्मोचितः सत्त्ववता त्वयाऽहं शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन ।
प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्यां वृथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धिः ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—संमोचित इति । चिरं प्रार्थितं दर्शनं यस्य तेन सत्त्ववता बलवता त्वयाऽहं शापात्सम्मोचितो मोक्षं प्रापितः । भवतः प्रतिप्रियं प्रत्युपकारं न कुर्यां चेन्मे स्वपदोपलब्धिः स्वस्थानप्राप्ति । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । वृथा स्याद्धि । तदुक्तम्–(प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवितान्मरणं वरम्) इति ॥ ५६ ॥

अन्वयः—चिरप्रार्थितदर्शनेन, सत्त्ववता, त्वया अहं शापात् सम्मोचितः, भवतः प्रतिप्रियं न कुर्यां चेत् मे स्वपदोपलब्धिः वृथा स्यात् ।

हिन्दी—(मतंगमुनि के शाप से गजयोनि पाकर उससे मुक्त होने के लिए) बहुत दिनों से जिसके दर्शन की प्रार्थना थी उस बलवान आपके द्वारा मैं शाप से मुक्त कराया गया । यदि मैं आपका प्रत्युपकार न करूँ तो मेरा अपना पदप्राप्त करना व्यर्थ ही है ॥ ५६ ॥

सम्मोहनं नाम सखे ! ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् ।
गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—सम्मोहनमिति। हे सखे ! सखिशब्देन समप्राणतोक्ता। यथोक्तम्—(अत्यागसहनो बन्धुः सदैवानुगतः सुहृत्। एकक्रियं भवेन्मित्रं समप्राणः सखा मतः ॥) इति। प्रयोगसंहारयोर्विभक्तमन्त्रं गान्धर्वं गन्धर्वदेवताकम्। संमोह्यतेऽनेनेति सम्मोहनं नाम ममास्त्रमादत्स्व गृहाण। यतोऽस्त्रात्प्रयोक्तुरस्त्रप्रयोगिणोऽरिहिंसा न च विजयश्च हस्ते। हस्तगतो विजयो भवतीत्यर्थः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—सखे प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रं गान्धर्वं सम्मोहनं नाम मम अस्त्रम् आदत्स्व, यतः प्रयोक्तुः अरिहिंसा न च, विजयः च हस्ते अस्तीति शेषः।

हिन्दी—हे सखे ! अज ! प्रयोग करने एवं उपसंहार करने के अलग-अलग मन्त्रों से युक्त गन्धर्वदेवतात्मक सम्मोहित करने वाले 'सम्मोहन' नामक मेरे अस्त्र को ग्रहण कीजिए जिसके प्रयोग करने वाले को शत्रु की हिंसा भी नहीं होती और विजयश्री भी हस्तगत हो जाती है ॥ ५७ ॥

अलं ह्रिया मां प्रति यन्मुहूर्तं दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम्।
तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिषेधरौक्ष्यम् ॥ ५८ ॥

सञ्जी०—अलमिति। किं च मां प्रति ह्रिया प्रहारनिमित्तयाऽलम्। कुतः यद्यतो हेतोस्त्वं मां प्रहरन्नपि मुहूर्तं दयापरः कृपालुरभूः। तस्मादुपच्छन्दयति प्रार्थयमाने मयि त्वया प्रतिषेधः परिहारः स एव रौक्ष्यं पारुष्यम्। तन्न प्रयोज्यं न कर्तव्यम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—मां प्रति ह्रिया अलम्, 'कुतः' यत् त्वं प्रहरन् अपि मुहूर्तं दयापरः अभूः, तस्मात् उपच्छन्दयति, मयि त्वया प्रतिषेधरौक्ष्यं न प्रयोज्यम्।

हिन्दी—मुझसे लज्जा करना व्यर्थ है क्योंकि आप क्षण भर के लिए मेरे ऊपर प्रहार करते हुए भी दयालु ही बने रहे। (इस शस्त्र को ग्रहण करने की) मेरी प्रार्थना पर आपको अस्वीकृति की रूक्षता (रुखाई) का प्रयोग नहीं करना चाहिए ॥ ५८ ॥

तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः।
उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात् ॥ ५९ ॥

सञ्जी०—तथेतीति। ना सोमश्चन्द्र इव नृसोमः। उपमितसमासः। 'सोम ओषधिचन्द्रयोः' इति शाश्वतः। पुरुषश्रेष्ठ इत्यर्थः। अस्त्रविदस्त्रज्ञः सोऽजस्तथेति सोम उद्भवो यस्या सा तस्याः सोमोद्भवायाः सरितो नर्मदायाः, 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमरः। पवित्रं पय उपस्पृश्य पीत्वा आचम्येत्यर्थः। उदङ्मुखः सन्निगृहीतशापान्निवर्तितशापात्। उपकृतादित्यर्थः। तस्मात्प्रियंवदादस्त्रमन्त्रं जग्राह॥ ५९॥

अन्वयः—नृसोमः अस्त्रवित् सः तथा इति सोमोद्भवायाः पवित्रं पयः उपस्पृश्य उदङ्मुखः 'सन्' निगृहीतशापात् अस्त्रमंत्रं जग्राह।

हिन्दी—चन्द्रवत् सुन्दर अस्त्रविद्या विशारद उस अज ने 'ठीक है ऐसा ही हो' यह कहकर सोम से उत्पन्न नर्मदा का पवित्र जल पीकर उत्तराभिमुख होते हुए शापमुक्त उस प्रियंवद से अस्त्र (के प्रयोग एवं संहार) का मन्त्र ग्रहण किया॥ ५९॥

एवं तयोरध्वनि दैवयोगादासेदुषोः सख्यमचिन्त्यहेतु।
एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान् सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान्॥ ६०॥

सञ्जी०—एवमिति। एवमध्वनि मार्गे दैवयोगाद् दैववशादचिन्त्यहेत्वनिर्धार्यहेतुकं सख्यं सखित्वम्। 'सख्युर्य' इति यप्रत्ययः। आसेदुषोः प्राप्तवतोस्तयोर्मध्ये एको गन्धर्वश्चैत्ररथस्य कुबेरोद्यानस्य प्रदेशान्। 'अस्योद्यानं चैत्ररथम्' इत्यमरः। अपरोऽजः, सौराज्येन राजन्वत्तया रम्यान् विदर्भान् विदर्भदेशान् ययौ॥ ६०॥

अन्वयः—एवं अध्वनि दैवयोगात् अचिन्त्यहेतु सख्यम्, आसेदुषोः, तयोः एकः चैत्ररथप्रदेशान् अपरः सौराज्यरम्यान् विदर्भान् ययौ।

हिन्दी—इस प्रकार मार्ग में दैवसंयोग से असम्भावित मैत्रीभाव को प्राप्त हुए उन दोनों में से एक—प्रियंवद ने कुबेर के उद्यान चैत्ररथ प्रदेश की ओर और द्वितीय अज ने सुशासन से रमणीय विदर्भ प्रदेश की ओर प्रस्थान किया॥ ६०॥

तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली॥ ६१॥

सञ्जी०—तमिति। नगरस्योपकण्ठे समीपे तस्थिवांसं स्थितं तमजं तस्याजस्यागमेनागमनेनारूढ उत्पन्नो गुरुः प्रहर्षो यस्य स क्रथकैशिकेन्द्रो विदर्भराजः। प्रवृद्धोर्मिरूर्मिमाली समुद्रश्चन्द्रमिव प्रत्युज्जगाम ॥ ६१ ॥

अन्वयः—नगरोपकण्ठे तस्थिवांसं तं तदागमारूढगुरुप्रहर्षः, क्रथकैशिकेन्द्रः प्रवृद्धोर्मिः ऊर्मिमाली चन्द्रम् इव प्रत्युज्जगाम।

हिन्दी—जिस प्रकार चन्द्रदर्शन से प्रवृद्ध लहरों वाला सागर तरंगों की माला से चन्द्रमा का अभ्युत्थान द्वारा अभिनन्दन करता है उसी प्रकार भोज की राजधानी के निकट समुपस्थित उस अज का, उस (अज) के आगमन से समुत्पन्न महामोदवान भोजनरेश ने स्वयं सहर्ष अभ्युत्थान कर स्वागत किया ॥ ६१ ॥

प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्रीः।
मेने यथा तत्र जनः समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—प्रवेश्येति। एनमजमग्रयायी। सेवाधर्मेण पुरो गच्छन्नित्यर्थः। नीचैर्नम्रः पुरं प्रवेश्य प्रवेशं कारयित्वा प्रीत्याऽर्पितश्रीस्तथा तेन प्रकारेणोपाचरदुपचरितवान्। यथा येन प्रकारेण तत्र पुरे समेतो मिलितो जनो वैदर्भं भोजमागन्तुं प्राघूर्णिकं मेने। अजं गृहपतिं मेने ॥ ६२ ॥

अन्वयः—एनम् अग्रयायी नीचैः, पुरं प्रवेश्य अर्पितश्रीः तथा उपाचरत् यथा तत्र समेतः जनः वैदर्भम् आगन्तुम् अज च गृहेशं मेमे।

हिन्दी—सेवाभाव से महाराज अज को आगे-आगे मार्ग दर्शन कराते हुए विनम्रभाव से चलते हुए प्रेम से जिन्होंने सारी राजलक्ष्मी सर्मपित कर दी उस महाराज भोज ने उस प्रकार की सेवाभावना प्रदर्शित की कि वहाँ एकत्रित लोगों ने विदर्भनरेश भोज को ही आगन्तुक—अतिथि तथा अज को ही गृहस्वामी समझा ॥ ६२ ॥

तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम्।
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्यां बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास ॥

सञ्जी०—तस्येति। रघुप्रतिनिधी रघुकल्पः। रघुतुल्य इत्यर्थः। उक्तं च दण्डिना सादृश्यवाचकप्रस्तावे 'कल्पदेशीयदेश्यादिप्रख्यप्रतिनिधी अपि' इति। सोऽजः प्रणतैर्नमस्कृतवद्भिः। कर्तरि क्तः। तस्य भोजस्याधिकारो

नियोगस्तस्य पुरुषैः। अधिकृतैरित्यर्थः। प्रदिष्टां निर्दिष्टां प्राग्द्वारस्य वेद्यां विनिवेशितः पूर्णकुम्भो यस्यास्ताम्, स्थापितमङ्गलकलशामित्यर्थः। रम्यां रमणीयां नवोपकार्यां नूतनं राजभवनम्। 'उपकार्या राजसद्मन्युपचारचितेऽन्यवत्' इति विश्वः। मदनो बाल्यात्परां शैशवादनन्तरां दशामिव। यौवनमिवेत्यर्थः। अध्युवासाधिष्ठितवान्। तत्रोषितवानित्यर्थः। 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—रघुप्रतिनिधिः सः प्रणतैः तस्य अधिकारपुरुषैः, प्रदिष्टाम् प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् रम्याम् नवोपकार्याम् मदनः बाल्यात् पराम् दशाम् इव अध्युवास।

हिन्दी—रघु का प्रतिनिधि वह अज विनम्र भोजराज के आधिकारिक पुरुषों द्वारा निर्दिष्ट पूर्व द्वार की वेदी पर संस्थापित जलपूर्ण मंगल कलश से सुशोभित रमणीय नवनिर्मित राजभवन में उसी प्रकार निवास करने लगे जिस प्रकार बाल्यावस्था के अनन्तर युवावस्था में कामदेव निवास करता है ॥ ६३ ॥

तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कन्याललामकमनीयमजस्य लिप्सोः।
भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव ॥

सञ्जी०—तत्रेति। तत्रोपकार्यायां स्वयंवरनिमित्तं समाहृतः सम्मेलितो राजलोको येन तत्कमनीयं स्पृहणीयं कन्याललाम कन्यासु श्रेष्ठम्। 'ललामोऽस्त्री ललामापि प्रभावे पुरुषे ध्वजे। श्रेष्ठभूषाशुण्डशृङ्गपुच्छचिह्नाश्वलिङ्गिषु' इति यादवः। लिप्सोर्लब्धुमिच्छोः। लभेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। अजस्य भावावबोधे पुरुषस्याभिप्रायपरिज्ञाने कलुषाऽसमर्था दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव। 'कामिनं राजानं चौरं प्रविशन्ति प्रजागराः' इति भावः। अभिमुखीशब्दो ङीषन्तश्च्व्यन्तो वा ॥ ६४ ॥

अन्वयः—तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कमनीयं कन्याललाम लिप्सोः, अजस्य भावावबोधकलुषा दयिता इव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव।

हिन्दी—वहाँ उस नवनिर्मित राजभवन में स्वयंवर के लिए जिसके द्वारा राजाओं का समूह आमन्त्रित किया गया था, उस स्पृहणीय कन्यारत्न को प्राप्त करने की लिप्सा करने वाले कुमार अज के नेत्रों के सम्मुख निद्रा उसी

प्रकार विलम्ब से आयी, जिस प्रकार पुरुष के अभिप्राय को समझने में असमर्थ नवोढा प्रिया बहुत देर के बाद प्रियतम के नेत्रों के सामने आती है ॥ ६४ ॥

तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम् ।
सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः ।६५।

सञ्जी०—तमिति । कर्णभूषणाभ्यां निपीडितौ पीवरौ पीनावंसौ यस्य तम् । शय्याया उत्तरच्छदस्योपर्यास्तरणवस्त्रस्य विमर्देन घर्षणेन कृशो विरलोऽङ्गरागो यस्य तम् । न त्वङ्गनासङ्गादिति भावः । प्रथितप्रबोधं प्रकृष्टज्ञानं तमेनमजं सवयसः समानवयस्का उदारवाचः प्रगल्भगिरः सूतात्मजा वन्दिपुत्राः । 'वैतालिकाः' इति वा पाठः । 'वैतालिका बोधकराः' इत्यमरः । वाग्भिः स्तुतिपाठैरुषसि प्राबोधयन् प्रबोधयामासुः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं, शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशांगरागं प्रथितप्रबोधम् तं सवयसः उदारवाचः, सूतात्मजाः वाग्भिः उषसि प्राबोधयन् ।

हिन्दी—कानों के आभूषणों के द्वारा जिनका पुष्ट कन्धा विमर्दित हो गया और शय्या के ऊपर के आच्छादन वस्त्र (चादर) की रगड़ से जिनके अंग में लगा राग—(चन्दन केसर कस्तूरी आदि का लेप) छूट गया, वे उत्कृष्ट ज्ञान के निधि कुमार अज समान अवस्था वाले उदारवाणी के प्रयोग में दक्ष बन्दीपुत्रों के द्वारा स्तुतिगीत वचनों से प्रातःकाल होने पर जगाये गये ॥ ६५ ॥

रात्रिर्गता मतिमतां वर ! मुञ्च शय्यां धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता ।
तामेकतस्तव बिभर्ति गुरुर्विनिद्रस्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥६६॥

सञ्जी०—रात्रिरिति । हे मतिमतां वर ! निर्धारणे षष्ठी । रात्रिर्गता शय्यां मुञ्च, विनद्रो भवेत्यर्थः । विनिद्रत्वे फलमाह—धात्रेति । धात्रा ब्रह्मणा जगतो धूर्भारः । 'धूः स्यायानमुखे भारे' इति यादवः । द्विधैव द्वयोरेवेत्यर्थः । एवकारस्तृतीयनिषेधार्थः । विभक्ता ननु विभज्य स्थापिता खलु । तत्किमत आह—तां धुरमेकत एककोटौ तव गुरुः पिता विनिद्रः सन्बिभर्ति । तस्या धुरो भवान् । धुरं वहतीति धुर्यो भारवाही तस्य पदं वहनस्थानम् । अपरं यद् धुर्यपदं तदवलम्बी । ततो विनिद्रो भवेत्यर्थः । नह्युभयवाह्यमेको वहतीति भावः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—मतिमतां वर रात्रिः गता, शय्यां मुञ्च, धात्रा जगतः धूः द्विधा एव विभक्ता, ननु। ताम् एकतः तव गुरुः विनिद्रः 'सन्' विभर्ति तस्याः भवान् अपरधुर्यपदावलम्बी।

हिन्दी—हे मतिमानों में उत्तम कुमार अज ! रात्रि व्यतीत हो गयी। अत एव शय्या का त्याग कीजिये—सोना छोड़िए। विधाता ने जगत का पालन-भार दो ही प्रकार से विभक्त किया है। उस भार को एक ओर आपके पिता रघु निद्रा त्यागकर जागरूक होकर वहन कर रहे हैं। आप उस भार की दूसरी धुरी के स्थान को अवलम्बन देने वाले हैं ॥ ६६ ॥

निद्रावशेन भवताप्यनपेक्ष्यमाणा पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलंबी सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥

सञ्जी०—चन्द्रारविन्दराजवदनादयो लक्ष्मीनिवासस्थानानीति प्रसिद्धिमाश्रित्योच्यते। निद्रावशेन दिद्राऽधीनेन। स्त्र्यन्तरासङ्गोऽत्र ध्वन्यते। भवता पर्युत्सुकत्वमपि। तदप्यनुरक्तत्वमपीत्यर्थः 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' इति सप्तम्यर्थे तृतीया। अपिशब्दस्तद्विषयानुरागस्यानपेक्षत्वद्योतनार्थः। निशि खण्डिता भर्त्तुरन्यासङ्गज्ञानकलुषिताऽबलेव नायिकेव। 'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति दशरूपके। अनवेक्षमाणाऽविचारयन्ती सती। उपेक्षमाणेत्यर्थः। 'ह्यनवेक्ष्यमाणा' इति पाठे निद्रावशेन भवताऽनवेक्ष्यमाणाऽनिरीक्ष्यमाणा। कर्मणि शानच्। लक्ष्मीः प्रयोजककर्त्री येन प्रयोज्येन चन्द्रेण पर्युत्सुकत्वं त्वद्विरहवेदनाम्। 'कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं मनस्तापज्वरादिकृद्' इत्यलङ्कारे। विनोदयति निरासयतीति योजना। शेषं पूर्ववत्। (नाथस्त्वर्थोपपत्तिमपश्यन्निमं पक्षमुपैक्षिष्ट)। लक्ष्मीर्येन चन्द्रेण सह त्वदाननसदृशत्वादिति भावः। विनोदयति विनोदं करोति। विनोदशब्दात् 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्प्रत्ययः। सादृश्यदर्शनादयो हि विरहिणां विनोदस्थानानीति भावः। स चन्द्रोऽपि दिगन्तलम्बी पश्चिमाशां गतः सन्। अस्तं गच्छन्नित्यर्थः। अत एव त्वदाननरुचिं विजहाति। त्वन्मुखसादृश्यं त्यजतीत्यर्थः। अतो निद्रां विहाय तां लक्ष्मीमनन्यशरणां परिगृहाणेति भावः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—निद्रावशेन भवता पर्युत्सुकत्वम् अपि निशि खण्डिता, अबला इव अनवेक्षमाणा 'सती' लक्ष्मीः येन, पर्युत्सुकत्वं विनोदयति सः, चन्द्रः अपि दिगन्तलम्बी 'सन्' त्वदाननरुचिं विजहाति।

हिन्दी--निद्रा रूपी परस्त्री के वशीभूत तुम्हें जानकर अत्यन्त उत्कण्ठित होती हुई भी रात्रि में खण्डिता नायिका के समान अनदेखी करती हुई या उपेक्षा करती हुई मुखश्री जिस चन्द्रमा के साथ (तुम्हारे मुख की कान्ति के समान चन्द्रमा में भी कान्ति देखकर) अपनी विरह उत्कण्ठा का शमन करती थी वह तुम्हारे मुख के समान शोभाशाली चन्द्रमा भी दिगन्त का अवलम्बन करते हुए--पश्चिम दिशा में अस्त होते हुए तुम्हारे मुख की कान्ति का परित्याग कर रहा है। अब चन्द्रमा में भी तुम्हारे मुख के समान श्री नहीं रह गई है अत एव उठो--जग जाओ जिससे निराश्रिता लक्ष्मी पुनः तुम्हारे मुखकमल में आश्रय प्राप्त करे ॥ ६७ ॥

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत् सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥६८॥

सञ्जी०--तद्वल्गुनेति। तत्तस्माल्लक्ष्मीपरिग्रहणाद्वल्गुना मनोज्ञेन। 'वल्गु स्थाने मनोज्ञे च वल्गु भाषितमन्यवत्' इति विश्वः। युगपत्तावदुन्मिषितेन युगपदेवोन्मीलितेन सद्यो द्वे अपि परस्परतुलामन्योन्यसादृश्यमधिरोहतां प्राप्नुताम्। प्रार्थनायां लोट्। के द्वे अन्तःप्रस्पन्दमाना चलन्ती परुषेतरा स्निग्धा तारा कनीनिका यस्य तत्तथोक्तम्। 'तारकाऽक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः। तव चक्षुः। अन्तःप्रचलितभ्रमरं चलद्भृंगं पद्मं च। युगपदुन्मेषे सति सम्पूर्णसादृश्यलाभ इति भावः ॥ ६८ ॥

अन्वयः--तत् वल्गुना युगपत् तावत् उन्मिषितेन सद्यः द्वे परस्परतुलाम् अधिरोहताम् 'के द्वे' अन्तः प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारं तव चक्षुः "अन्तः" प्रचलितभ्रमरं पद्मं च।

हिन्दी--लक्ष्मी के परिग्रहण के कारण मनोज्ञ--सुन्दर एकसाथ उत्फुल्ल होने से तत्क्षण दोनों--पुतलियों के भीतर चञ्चल सुकुमार तारों वाले तुम्हारे नेत्र और अन्दर में जिसके भ्रमर भ्रमण कर रहे हों ऐसा कमल परस्पर समानता प्राप्त करें। अन्तःचञ्चल सुकुमार श्याम तारों से मनोज्ञ तुम्हारे नेत्र पखुड़ियों के मध्य विचरणशील चंचल भ्रमर वाले कमल के समान सुशोभित हों और भ्रमरयुक्त कमल सुकुमार कृष्णतारायुक्त तुम्हारे नेत्रों के समान सुन्दरता प्राप्त करे ॥ ६८ ॥

**वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य॥**

सञ्जी०—वृन्तादिति। विभातवायुः प्रभातवायुः स्वाभाविकं ते तव मुखमारु य निःश्वासपवनस्य सौरभ्यम् तादृक्सौगन्ध्यमित्यर्थः। परगुणेन अन्यदीयगुणेन सांक्रामिकगन्धेनेत्यर्थः। ईप्सुराप्तुमिच्छुरिव। 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' इतीकारादेशः। अनोकहानां वृक्षाणां श्लथं शिथिलं पुष्पं वृन्तात्पुष्पबन्धनात्। 'वृन्तं प्रसवबन्धनम्' इत्यमरः। हरत्यादत्ते। अरुणांशुभिन्नैस्तरणिकिरणोद्बोधितैः सरसिजैः कमलैः सह। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक्। संसृज्यते संगच्छते। सृजेर्दैवादिकात्कर्त्तरि लट्॥ ६९॥

अन्वयः—विभातवायुः स्वाभाविकं ते मुखमारुतस्य सौरभ्यं परगुणेन ईप्सुः इव अनोकहानाम् श्लथम् पुष्पं वृन्तात् हरति अरुणांशुभिन्नैः सरसिजैः सह संसृज्यते।

हिन्दी—प्रातःकालीन पवन तुम्हारे मुख की स्वाभाविक सुरभिता दुसरे के सांक्रामिक गुण से मानो प्राप्त करने को इच्छुक की भाँति वृक्षों के शिथिल पुष्प को कुसुमबन्ध—(डाली में लगे पुष्प के डंठल) से ग्रहण करता है और सूर्य की किरणों से विकसित कमलों के साथ संगम करता है॥ ६९॥

**ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः।
आभाति लब्धपरभागतयाऽधरोष्ठे लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम्।**

सञ्जी०—ताम्रोदरेष्विति। ताम्रोदरेष्वरुणाभ्यन्तरेषु पतितं निर्धौता या हारगुलिका मुक्तामणयस्तद्वद्विशदं हिमाम्भो लब्धपरभागतया लब्धोत्कर्षतया। 'परभागो गुणोत्कर्ष' इति यादवः। अधरोष्ठे त्वदीयं सदशनार्चिर्दन्तकान्तिसहितं लीलास्मितमिवाभाति शोभते॥ ७०॥

अन्वयः—ताम्रोदरेषु तरुपल्लवेषु पतितं निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः, लब्धपरभागतया, अधरोष्ठे त्वदीयं सदशनार्चिः लीलास्मितं इव आभाति।

हिन्दी—तामे के लाल-लाल मध्यभागवाले वृक्षों के पत्रों पर गिरे पड़े प्रक्षालित मोतियों के दानों के समान स्वच्छ ओसकण, गुणोत्कर्ष प्राप्त करने

से अरुणवर्ण के अधरोष्ठों पर विराजमान आपके दाँतों की कान्तिसहित लीला से मुस्कान के समान सुशोभित होते हैं ।। ७० ।।

यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानुराह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम् ।
आयोघनाग्रसरतां त्वयि वीर याते किं वा रिपूंस्तव गुरुःस्वयमुच्छिनत्ति ।

सञ्जी०—यावदिति । प्रतापनिधिस्तेजोनिधिर्भानुर्यावन्नाक्रमते नोद्गच्छति । 'आङ् उद्गमने' इत्यात्मनेपदम् । तावत् भानावनुदित एवेत्यर्थः । अह्नाय झटिति । 'द्राग्झटित्यञ्जसाऽह्नाय' इत्यमरः । अरुणेनानूरुणा । 'सूर्यसूतोऽरुणोऽनूरुः' इत्यमरः । तमो निरस्तम् । तथाहि । हे वीर ! त्वय्यायोधनेषु युद्धेषु । 'युद्धमायोधनं जन्यम्' इत्यमरः । अग्रसरतां याते सति तव गुरुः पिता रिपून्स्वयमुच्छिनत्ति किं वा । नोच्छिनत्त्येवेत्यर्थः न खलु योग्यपुत्रन्यस्तभाराणां स्वामिनां स्वयं व्यापारखेद इति भावः ।। ७१ ।।

अन्वयः—प्रतापनिधिः भानुः यावत् न आक्रमते तावत् अह्नाय अरुणेन तमः निरस्तं "तथाहि" हे वीर ! त्वयि आयोधनाग्रसरताम् याते "सति" तव गुरुः रिपून् स्वयम् उच्छिनत्ति किं वा ।

हिन्दी—तेजोराशि सूर्य जब तक समुदित नहीं हो जाते तब तक उससे पूर्व ही उनका सारथी अरुण अन्धकार को दूर कर देता है । उसी प्रकार हे शूरशिरोमणि कुमार अज ! आपके युद्ध में अग्रसरता को प्राप्त कर लेने पर भी आपके पिता 'रघु' शत्रुओं को स्वयं उच्छिन्न करते हैं क्या ? अर्थात् आप जैसे वीर पुत्र के युद्ध में अग्रसर होते हुए उन्हें शत्रुओं को स्वयं विनष्ट नहीं करना चाहिए ।। ७१ ।।

शय्या जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते ।
येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगाद्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः ।।

सञ्जी०—शय्यामिति । उभाभ्यां पक्षाभ्यां विनीता अपगता निद्रा येषां ते उभयपक्षविनीतनिद्राः । अत्र समासविषय उभशब्दस्थान उभयशब्दप्रयोग एव साधुरित्यनुसन्धेयम् । यथाऽऽह कैयट—उभादुदात्तो नित्यमि'ति नित्यग्रहणस्येदं प्रयोजनं वृत्तिविषय उभशब्दस्य प्रयोगो माभूत् । उभयशब्दस्यैव यथा स्यात् 'उभयपुत्र इत्यादि भवति' इति । मुखराण्युत्थानचलनाच्छब्दायमानानि शृङ्खलानि निगडानि कुर्षन्तीति तथोक्तास्त एव तव स्तम्बे रमन्त इति स्तम्बेरमा

हस्तिनः । 'स्तम्बकर्णयोरमिजपोः' इत्यच्प्रत्ययः । 'हस्तिसूचकयोः' इति वक्तव्यात् । 'इभः स्तम्बेरमः पद्मी' इत्यमरः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक् । शय्यां जहति त्यजन्ति । येषां स्तम्बेरमाणां दन्ता कोशा इव दन्तकोशाः दन्तकुड्मलास्तरुणारुणरागयोगाद् बालार्कारुणसंपर्काद्धेतोर्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव विभान्ति । धातुरक्ता इव भान्तीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—उभयपक्षविनीतनिद्राः मुखरशृङ्खलकर्षिणः ते स्तम्बेरमाः, शय्यां जहति, दन्तकोशाः तरुणारुणरागयोगात् भिन्नाद्रिगैरिकतटाः इव विभान्ति ।

हिन्दी—उभय पक्ष—दोनों करवटें बदलकर निद्रा त्यागने वाले झनझनाती हुई लौहशृङ्खलाओं को खींचने वाले, तुम्हारे वे हाथी शयनस्थान छोड़ रहे हैं, जिनके दाँतों के कोश (कली के समान दाँत) प्रातःकालीन बालसूर्य के अरुण राग (लालिमा) के सम्पर्क से इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं मानो उन्होंने पहाड़ के गेरू के शिखर तोड़े हों ॥ ७२ ॥

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष ! वनायुदेश्याः ।
वक्त्रोष्मणामलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैंधवशिलाशकलानि वाहाः ।

सञ्जी०—दीर्घेष्विति । हे वनजाक्ष ! नीरजाक्ष ! 'वनं नीरं वनं सत्त्वम्' इति शाश्वतः । दीर्घेषु पटमण्डपेषु नियमिता बद्धा वनायुदेश्या वनायुदेशे भवाः । 'पारसीका वनायुजाः' इति हलायुधः । अमी वाहा अश्वा निद्रां विहाय पुरोगतानि लेह्यान्यास्वाद्यानि सैन्धवशिलाशकलानि । 'सैन्धवोऽस्त्री शीतशिवं मणिमन्थं च सिन्धुजे' इत्यमरः । वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति । मलिनानि कुर्वन्ति । उक्तं च सिद्धयोगसंग्रहे—'पूर्वाह्णकाले चाश्वानां प्रायशो लवणं हितम् । शूलमोहविबन्धघ्नं लवणं सैन्धवं वरम् ॥' इत्यादि ॥ ७३ ॥

अन्वयः—वनजाक्ष ! दीर्घेषु पटमण्डपेषु नियमिताः वनायुदेश्याः अमी वाहाः निद्रां विहाय पुरोगतानि लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति ।

हिन्दी—हे कमल के समान नेत्र वाले ! विशाल वस्त्रनिर्मित मण्डपों में बाँधे गए वनायुदेश में उत्पन्न होने वाले ये घोड़े निद्रा त्यागकर सम्मुख रखे हुए चाहने योग्य सिन्धा नमक की शिला के खण्डों की उष्णता से (मुँह के गरमभाप से) मलिन कर रहे हैं ॥ ७३ ॥

भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहारः
स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः ।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता-
मनुवदतिशुकस्तो मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः ॥ ७४ ॥

सञ्जो०—भवतीति । म्लानः पुष्पोपहारः पुष्पपूजा म्लानत्वादेव विरलभक्तिर्विरलरचनो भवति । प्रदीपाश्च स्वकिरणानां परिवेषस्य मण्डलस्योद्भेदेन स्फुरणेन शून्या भवन्ति । निस्तेजस्का भवन्तीत्यर्थः । अपि चायं मञ्जुवाङ् मधुरवचनः पञ्जरस्थस्ते तव शुकस्त्वत्प्रबोधनिमित्तं प्रयुक्तामुच्चारितां नोऽस्माकं गिरं वाणीमनुवदति अनुकृत्य वदतीत्यर्थः । इत्थं प्रभातलिङ्गानि वर्तन्ते, अतः प्रबोद्धव्यमिति भावः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—म्लान-पुष्पोहारः विरलभक्तिः भवति, प्रदीपाः स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः भवन्ति, अपि च अयं मञ्जुवाक् पञ्जरस्थः ते शुकः, त्वत्प्रबोधप्रयुक्तां नः गिरम् अनुवदति ।

हिन्दी—पुष्पों का उपहार विरल-शिथिल संरचना वाला हो रहा है (अर्थात् रात में शोभावर्धन के लिए लाए गए पुष्पों के उपहार अब सवेरा हो जाने से सिकुड़कर शिथिल-रचना वाले हो रहे हैं, उसमें अब वह सघनता नहीं है जो रात में ताजा होने के कारण थी) दीपक अपनी किरणों के मण्डल के स्फुरण से शून्य अर्थात् निस्तेज हो गया है और यह मधुरभाषी पिंजड़े में स्थित आपका तोता भी आपको जगाने के लिए उच्चारित की गई हम स्तुतिपाठकों की वाणी का अनुकरण कर रहा है ॥ ७४ ॥

इति विरचितवाग्भिर्वन्दिपुत्रैः कुमारः
सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार ।
मदपटुनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः
सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः ॥ ७५ ॥

सञ्जी०—इतीति । इतीत्थं विरचितवाग्भिर्वन्दिपुत्रैर्वैतालिकैः । पुत्रग्रहणं समानवयस्कत्वद्योतनार्थम् । सपदि विगतनिद्रः कुमारः । तल्पं शय्याम् । 'तल्पं शय्याऽट्टदारेषु' इत्यमरः । उज्झाञ्चकार । विससर्ज । 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्याम् प्रत्ययः । कथमिव मदेन पटु मधुरं निनदद्भिः राजहंसैर्वोधितः सुप्रतीकाख्यः । सुरगज ईशानदिग्गजः गङ्गाया इदं गाङ्गं सैकतं

पुलिनमिव । 'तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः । 'सिकताशर्कराभ्यां च' इत्यप्रत्ययः । सुप्रतीकग्रहणं प्रायशः कैलासवासिनस्तस्य नित्यं गङ्गातटविहारसम्भवादित्यनुसधेयम् ।। ७५ ।।

अन्वयः—इति विरचितवाग्भिः वन्दिपुत्रैः सपदि विगतनिद्रः कुमारः तल्पम् उज्झांचकार । "कथमिव" मदपटुनिनदद्भिः राजहंसैः बोधितः सुप्रतीकः सुरगजः गाङ्गं सैकतम् इव ।

हिन्दी—जिस प्रकार हर्षातिरेक से सुमधुर कूजन करने वाले राजहंसों के द्वारा सुप्रतीक नामक 'ईशानकोण के देवताओं का दिग्गज गंगा के सिकतामय तट से जगाया जाता है उसी प्रकार पूर्वोक्त प्रकार से स्तुतिगीतों की रचना करने वाले वैतालिकों के द्वारा तत्क्षण निद्रारहित—जगाये गये कुमार अज ने शय्या का परित्याग किया ।। ७५ ।।

अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमञ्चिताक्षिपक्ष्मा ।
कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात् स्वयंवरस्थम् ।।७६।।

सञ्जी०—अथेति । अथोत्थानानन्तरमञ्चितानि चारूण्यक्षिपक्ष्माणि यस्य सोऽजः शास्त्रदृष्टमवगतं दिवसमुखोचितं प्रातःकालोचितं विधिमनुष्ठानमवसाप्य समाप्य । स्यतेर्ण्यन्ताल्ल्यप् । कुशलैः । प्रसाधनदक्षैर्विरचितोऽनुकूलः स्वयं विरचितो वेषो नेपथ्यं यस्य स तथोक्तः सन् स्वयंवरस्थं क्षितिपसमाजं राजसमूहमनादगमत् । 'इणो गा लुङि' इति गादेशः । पुष्पिताग्रावृत्तमेतत् । तल्लक्षणम्—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति ।। ७६ ।।

अन्वयः—अथ अञ्चिताक्षिपक्ष्मा शास्त्रदृष्टम् दिवसमुखोचितम् विधिम् अवसाय्य कुशलविरचितानुकूलवेषः "सन्" स्वयंवरस्थं क्षितिपसमाजम् अगात् ।

हिन्दी—शय्या त्याग करने के बाद सुन्दर नेत्रों के रोमवाले कुमार अज शास्त्र में ज्ञात प्रातःकालीन समुचित विधि समाप्त कर (सन्ध्यावन्दनादि नित्य क्रिया से निवृत्त होकर) प्रसाधनकला में चतुर लोगों के द्वारा स्वयंवर के अनुकूल वेषभूषा धारण कर पृथ्वीपतियों के समाज में पहुँच गये ।।७६।।

।। इति महाकविकालिदासविरचिते रघुवंशमहाकाव्ये
पञ्चमः सर्गः सम्पूर्णः ।



षष्ठः सर्गः

स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान् ॥ १ ॥

सञ्जी०—स इति । सोऽजस्तत्र स्थाने उपचारवत्सु राजोपचारवत्सु मञ्चेषु पर्यङ्केषु सिंहासनस्थान्मनोज्ञवेषान्मनोहरनेपथ्यान्वैमानिकानां विमानैश्चरताम् । 'चरति' इति ठक्प्रत्ययः । मरुताममराणाम् । 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । आकृष्टलीलान्गृहीतसौभाग्यान्, आकृष्टमरुल्लीलानित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । नरलोकं पालयन्तीति नरलोकपालाः कर्मण्यण्प्रत्ययः । तान्भूपालानपश्यत् । सर्गेऽस्मिन्नुपजातिश्छन्दः ॥ १ ॥

अन्वयः—सः तत्र उपचारवत्सु मञ्चेषु सिंहासनस्थान् मनोज्ञवेषान् वैमानिकानाम् मरुतां आकृष्टलीलान् नरलोकपालन् अपश्यत् ।

हिन्दी—उस रघुपुत्र अज ने वहाँ स्वयंवर में राजाओं के उपकरण से युक्त मञ्चों पर सिंहासन के ऊपर विराजमान सुमनोहर वेषधारी विमानों से विहार करनेवाले देवताओं के सौभाग्य को आकृष्ट करनेवाले नरलोक रक्षक राजाओं को देखा ॥ १ ॥

रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण ।
काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम् ॥ २ ॥

सञ्जी०—रतेरिति । 'रतिः स्मरप्रियायां च रागे च सुरते स्मृता' इति विश्वः । रते कामप्रियाया गृहीतानुनयेन स्वीकृतप्रार्थनेन, गृहीतरत्यनुनयेनेत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । ईश्वरेण हरेण प्रत्यर्पितस्वाङ्गं काममिव स्थितं काकुत्स्थमजमालोकयतां नृपाणां मन इन्दुमतीनिराशं वैदर्भीनिःस्पृहं बभूव । इन्दुमती सत्पतिमेनं विहाय नास्मान्वरिष्यतीति निश्चिक्युरित्यर्थः । सर्वातिशयसौन्दर्यमस्येति भावः ॥ २ ॥

अन्वयः—रतेः गृहतानुनयेन ईश्वरेण प्रत्यर्पितस्वाङ्गम् कामम् इव स्थितम् काकुत्स्थम् आलोकयताम् नृपाणाम् मनः इन्दुमती—निराशम् बभूव ।

हिन्दी—(कामदेव को भस्म करने के पश्चात् पुनः) कामपत्नी रति की प्रार्थना मान लेने वाले आशुतोष भगवान अवढरदानी शङ्कर के द्वारा मानो पुनः प्रदत्त स्वशरीर वाले कामदेव के समान सुन्दर विराजमान कंकुत्स्थ गोत्रोत्पन्न अज को देखने वाले राजाओं का मन इन्दुमती से निराश हो गया ।। २ ।।

वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।
शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह ।। ३ ।।

सञ्जी०—वैदर्भेति । असौ कुमारो वैदर्भेण भोजेन निर्दिष्टं प्रदर्शितं मञ्चं पर्यङ्कं क्लृप्तेन सुविहितेन सोपानपथेन । मृगराजशावः सिंहपोतः । 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः । शिलानां विभङ्गैर्भङ्गीभिस्तुङ्गमुन्नतं नगोत्सङ्गं शैलाग्रमिव आरुरोह ।। ३ ।।

अन्वयः—असौ कुमारः वैदर्भनिर्दिष्टम् मञ्चम् क्लृप्तेन सोपानपथेन मृगराजशावः शिलाविभंगैः तुङ्गम् इव आरुरोह ।

हिन्दी—वह कुमार अज विदर्भ के अधिपति भोजराज के द्वारा निर्दिष्ट—(प्रदर्शित) मञ्च पर सुन्दर बनाये गए सोपान मार्ग से (सीढ़ियों की पगडंडियों से) उसी प्रकार चढ़ गया जिस प्रकार सिंह का शिशु चट्टान के मार्ग से अत्यन्त ऊँचे पर्वत शिखर के ऊपर चढ़ जाता है ।। ३ ।।

परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान् रत्नवदासनं सः ।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ।। ४ ।।

सञ्जी०—परार्ध्येति । परार्ध्याः श्रेष्ठा वर्णा नीलपीतादयो यस्य तेनास्तरणेन कम्बलादिनोपपन्नं सङ्गतं रत्नवद्रत्नखचितमासनं सिंहासनमासेदिवानधिष्ठितवान्सोऽजः मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन सेनान्या सह । 'सेनानीरग्निभूर्गुहः' इत्यमरः । भूयिष्ठमत्यर्थमुपमेयकान्तिरासीत् । मयूरस्य विचित्ररूपवत्वात्तत्साम्यं रत्नासनस्य । तद्द्वारा च तदारूढयोरपीति भावः ।। ४ ।।

अन्वयः—परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नम् रत्नवद् आसनम् आसेदिवान् सः, मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन भूयिष्ठम् उपमेयकान्तिः आसीत् ।

हिन्दी—उत्तमोत्तम विविध वर्ण के हरे पीले आस्तरण या बिछावन से युक्त हीरा पन्ना पोखराज आदि विभिन्न रत्नों से जटित सुवर्णमय सिंहासन

पर विराजमान वह अज, मयूर के विचित्र रूप वाले पृष्ठासन का आश्रय लेने वाले पार्वतीपुत्र स्वामी कार्तिकेय के साथ उपमा करने योग्य कान्ति-वाला हो गया ॥ ५ ॥

तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्यः ।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः पयोमुचां पङ्क्तिषु विद्युतेव ॥ ५ ॥

सञ्जी०—तास्विति । तासु राजपरम्परासु श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या पयोमुचां मेघानां पंक्तिषु विद्युतेव सहस्रधा विभक्तः तरंगेषु तरणिरिव स्वयमेक एव प्रत्येकं सङ्क्रामित इत्यर्थः । प्रभाविशेषस्योदयेनाविर्भावेन दुर्निरीक्ष्यो दुर्दर्शन आत्मा श्रियः स्वरूपं व्यरुचद्व्यद्योतिष्ट । 'द्युद्भ्यो लुङि' इति परस्मैपदम् । द्युतादित्वादङ्प्रत्ययः । तस्मिन् समये प्रत्येकं सङ्क्रान्तलक्ष्मीकतया तेषां किमपि दुरासदं तेजः प्रादुरासीदित्यर्थः ॥ ५ ॥

अन्वयः—तासु राजपरम्परासु श्रिया "कर्त्र्या" पयोमुचाम् पंक्तिषु विद्युता इव सहस्रधा विभक्तः प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्यः आत्मा व्यरुचत् ।

हिन्दी—जिस प्रकार मेघों की पंक्तियों में विद्युत् के द्वारा हजारों प्रकार से विभक्त आत्मा (प्रकाश) विशेष रूप से द्योतित होता है, उसी प्रकार (स्वयंवर सभा में विराजमान) उन राजाओं की पंक्तियों में लक्ष्मी (अज के शरीर की श्री—कान्ति) के द्वारा हजारों भागों में विभक्त आत्मा-स्वरूप प्रभा के समुदय से चकाचौंध हो जाने से दुर्निरीक्ष्य—कठिनाई से देखने योग्य तेजवाले (अज) हो गये ॥ ५ ॥

तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये ।
रराज धाम्ना रघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः ॥ ६ ॥

सञ्जी०—तेषामिति । महार्हासनसंस्थितानां श्रेष्ठसिंहासनस्थानाम् । उदारनेपथ्यभृता—मुज्ज्वलवेषधारिणां तेषां राज्ञां मध्ये । कल्पद्रुमाणां मध्ये पारिजात इव सुरद्रुमविशेष इव । 'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः । संतानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्' इत्यमरः । स रघुसूनुरेव धाम्ना तेजसा । 'भूम्ना' इति पाठेऽतिशयेनेत्यर्थः । रराज । अत्र कल्पद्रुमशब्दः पञ्चान्यतमविशेषवचनः' उपकल्पयन्ति मनोरथानिति व्युत्पत्त्या सुरद्रुममात्रो-

पलक्षकतया प्रयुक्त इत्यनुसन्धेयम् । कल्पा इति द्रुमाः कल्पद्रुमा इति विग्रहः ॥ ६ ॥

अन्वयः—महार्हासनसंस्थितानाम् उदारनेपथ्यभृताम् तेषां मध्ये सः रघुसूनुः एव कल्पद्रुमाणां मध्ये पारिजातः इव धाम्ना रराज ।

हिन्दी—बहुमूल्य आसनों पर विराजमान समुज्ज्वल वेषधारी उन राजाओं के मध्य में कल्पवृक्षों—सन्तान मन्दार–कल्पवृक्ष–हरिचन्दनादि के बीच पारिजात के समान वह रघुपुत्र अज ही, तेज से विशेष रूप से सुशोभित हुआ ॥ ६ ॥

नेत्रव्रजाः पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतुः ।
मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः ॥ ७ ॥

सञ्जी०—नेत्रेति । पौरजनस्य नेत्रव्रजाः सर्वान्नृपतीन्विहाय तस्मिन्नजे निपेतुः । स एव सर्वोत्कर्षेण ददृश इत्यर्थः । कथमिव-मदोत्कटे मदेनोद्भिन्नगण्डे निर्भरमदे वा वन्ये गन्धप्रधाने द्विपे गजे । रेचिता रिक्तीकृताः पुष्पाणां वृक्षा यैस्ते, त्यक्तपुष्पवृक्षा इत्यर्थः । द्विरेफा भृङ्गा इव । द्विपस्य वन्यविशेषणं द्विरेफाणां पुष्पवृक्षत्यागसम्भवार्थं कृतम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—पौरजनस्य नेत्रव्रजाः सर्वान् नृपतीन् विहाय मदोत्कटे वन्ये गन्धद्विपे रेचितपुष्पवृक्षाः द्विरेफाः इव तस्मिन् निपेतुः ।

हिन्दी—नागरिकों के समूह के नेत्र समुदाय सभी राजाओं को छोड़कर मदजल से उत्कट जंगली गन्धगज के ऊपर पुष्पों के वृक्ष त्यागे हुए भ्रमरों की भाँति उसी अज पर आ पड़े ॥ ७ ॥

अथ स्तुते वन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके ।
सञ्चारिते चागुरुसारयोनौ धूपे समुत्सर्पति वैजयन्तीः ॥ ८ ॥

सञ्जी०—अथेति । अथान्वयज्ञै राजवंशाभिज्ञैर्वन्दिभिः स्तुतिपाठकैः । 'वन्दिनः स्तुतिपाठकाः' इत्यमरः । सोमार्कवंश्ये सोमसूर्यवंशभवे नरदेवलोके राजसमूहे स्तुते सति । विवेशेत्युत्तरेण सम्बन्धः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । सञ्चारिते समन्तात्प्रचारिते । अगुरुसारो योनिः कारणं यस्य तस्मिन्धूपे च वैजयन्तीः पताकाः समुत्सर्पति सति अतिक्रम्य गच्छति सति ॥ ८ ॥

अन्वयः—अथ अन्वयज्ञैः वन्दिभिः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके स्तुते सति, संचारिते अगुरुसारयोनौ धूपे वैजयन्तीः समुत्सर्पति च सति (कन्या मञ्चान्तर-राजमार्गं विवेशेति आगामि दशमश्लोकेन सहान्वयः कार्यः)।

हिन्दी—इसके बाद (जहां) राजाओं के कुल के ज्ञाता स्तुतिपाठकों के द्वारा चन्द्र और सूर्य वंश में उत्पन्न राजाओं की स्तुति की जा रही थी; सुगन्धि के सारतत्व के कारणरूप धूप का संचार फहराती हुई पताकाओं के ऊपर हो रहा था, (वहाँ 'मंचो के मध्य राजमार्ग में कुमारी इन्दुमती ने प्रवेश किया' यह उत्तरवर्ति दशम श्लोक से समन्वित है।)॥ ८॥

पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ।
प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे॥ ९॥

सञ्जी०—पुर इति। किं च पुरस्योपकण्ठे समीप उपवनान्याश्रयोः येषां तेषां कलापिनां बर्हिणामुद्धतनृत्यहेतौ मेघध्वनिसादृश्यात्ताण्डवकारणे प्रध्माता पूरिताः शङ्खा यत्र तस्मिन् मङ्गलार्थे मङ्गलप्रयोजनके तूर्यस्वने वाद्यघोषे परितः सर्वतो दिगन्तान्मूर्छति व्याप्नुवति सति॥ ९॥

अन्वयः-पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणाम् कलापिनाम्, उद्धतनृत्यहेतौ प्रध्मात-शंखे मंगलार्थे तूर्यस्वने परितः दिगन्तान् मूर्च्छति (सति)।

हिन्दी—(जहाँ) नगर के निकटवर्ती उपवनों में आश्रय लेनेवाले मयूरों के उद्धतनृत्य के कारण—स्वरूप (मयूर मेघों की गर्जना सुनकर उद्धतनृत्य करते हैं अतः मेघध्वनि उनके नृत्य का कारण है। यहाँ शंखों की ध्वनि मेघों की ध्वनि के ही समान है अतएव मयूर शंखध्वनि को मेघध्वनि समझकर ताण्डवनृत्य करने लगे हैं) मेघध्वनि के समान शंखध्वनि हो रही थी, कल्या-णार्थ वाद्ययन्त्रों की ध्वनि से चारो ओर दिशाओं का अन्त—और छोर व्याप्त हो रहा था—वहाँ "मञ्च के मध्य में जो राजमार्ग था उसमें पतिवंरा कन्या—इन्दुमती ने प्रवेश किया" यह अगले दशम श्लोक से समन्वित है॥९॥

मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा॥ १०॥

सञ्जी०—मनुष्यवाह्यमिति। पतिं वृणोतीति पतिंवरा स्वयंवरा। 'अथ स्वयंवरा। पतिंवरा च वर्याऽथ' इत्यमरः। 'सञ्ज्ञायां भृतृवृजिधारिसहितपिदमः'

इत्यनेन खच्प्रत्ययः। क्लृप्तविवाहवेषा कन्येन्दुमती मनुष्यैर्वाह्यं परिवारेण परिजनेन शोभि चतुरस्रयानं चतुरस्रवाहनं शिविकामध्यास्यारुह्य मञ्चान्तरे मञ्चमध्ये यो राजमार्गस्तं विवेश ॥ १० ॥

अन्वयः—पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा कन्या मनुष्यवाह्यम् परिवार-शोभि चतुरस्रयानं अध्यास्य मञ्चान्तरराजमार्गम् विवेश।

हिन्दी—पति का वरण करने वाली विवाह की वेशभूषा धारण की हुई (भोजराज की) कन्या इन्दुमती ने मनुष्यों के द्वारा वहन करने योग्य (जिसे मनुष्य ले जा रहे थे) परिवार से सुशोभित चतुष्कोंण पालकी पर बैठकर मञ्च के मध्य राजाओं के मार्ग में प्रवेश किया ॥ १० ॥ ८वे ९वें एवं दशम श्लोक का भावार्थ एक साथ अन्वयपूर्वक करने से स्पष्ट होता है।

तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये।
निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु ॥ ११ ॥

सञ्जी०—तस्मिन्निति। नेत्रशतानामेकलक्ष्ये एकदृश्ये कन्यामये कन्यारूपे तस्मिन्विधातुर्विधानातिशये सृष्टिविशेषे नरेन्द्रा अन्तःकरणैर्निपेतुः। आसनेषु देहैः केवलं देहैरेव स्थिताः। देहानपि विस्मृत्य तत्रैव दत्तचित्ता बभूवुरित्यर्थः। अन्तःकरणकर्तृके निपतने नरेन्द्राणां कर्तृत्वव्यपदेश आदरातिशयार्थः ॥११॥

अन्वयः—नेत्रशतैकलक्ष्ये कन्यामये तस्मिन् विधातुः विधानातिशये नरेन्द्राः अन्तकरणैः निपेतुः, आसनेषु देहैः केवलं स्थिताः।

हिन्दी—सैकड़ों नेत्रों के एकमात्र लक्ष्य दर्शनीय कन्यास्वरूप उस विधाता की कलासृष्टि की अनुपम कृति पर नरेशगण अन्तःकरणों से टूट पड़े, सिंहासनों पर तो वे केवल शरीर से अवस्थित थे। अर्थात् स्वयंवर स्थित राजाओं का शरीरमात्र सिंहासन पर स्थित था, हृदय तो विधाता की सृष्टि की अतिशय अनुपम रूपाकृति वाली कन्या इन्दुमती में आसक्त था ॥ ११ ॥

तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥ १२ ॥

सञ्जी०—तामिति। तामिन्दुमतीं प्रति अभिव्यक्तमनोरथानां प्ररूढाभिलाषाणां महीपतीनां राज्ञां प्रणयाग्रदूत्यः प्रणयः प्रार्थना प्रेम वा। 'प्रणयास्त्वमी।

विस्रम्भयाच्ञाप्रेमाणः' इत्यमरः । प्रणयेष्वग्रदूत्यः प्रथमदूतिकाः । प्रणयप्रकाशकत्वसाम्याद् दूतीत्वव्यपदेशः । विविधाः श्रृंगारचेष्टाः श्रृंगारविकाराः पादपानां प्रवालशोभाः पल्लवसम्पद इव बभूवुरुत्पन्नाः । अत्र श्रृंगारलक्षणं रससुधाकरे 'विभावैरनुभावैश्च स्वोचितैर्व्यभिचारिभिः । नीता सदस्यरस्यत्वं रतिः श्रृंगार उच्यते ॥' रतिरिच्छाविशेषः । तच्चोक्तं तत्रैव-'यूनोरन्योन्यविशेषस्थायिनीच्छा रतिः स्मृता' इति । चेष्टाशब्देन तदनुभावविशेषा उच्यन्ते । तेऽपि तत्रैवोक्ताः— 'भावं मनोगतं साक्षात्स्वहेतुं व्यञ्जयन्ति ये । तेऽनुभावा इति ख्याता भ्रूविक्षेपस्मितादयः । ते वेतुवा चित्तगात्रवाग्बुद्ध्यारम्भसम्भवाः' इति । तत्र गात्रारम्भसम्भवांश्चेष्टाशब्दोक्ताननुभावान् 'कश्चित्'—इत्यादिभिः श्लोकैर्वक्ष्यति । श्रृंगाराभासश्चायम् । एकत्रैव प्रतिपादनात् । तदुक्तम्—'एकत्रैवानुरागश्चेत्तिर्यक्शब्दगतोऽपि वा । योषितां बहुसक्तिश्चेद्रसाभासस्त्रिधा मतः' इति ॥ १२ ॥

अन्वयः—तां प्रति अभिव्यक्तमनोरथानाम् महीपतीनाम् प्रणयाग्रदूत्यः विविधाः श्रृंगारचेष्टाः पादपानाम् प्रवालशोभा इव बभूवुः ।

हिन्दी—उस इन्दुमती के प्रति अपने मनोगतभाव व्यक्त करने वाले राजाओं की प्रेम निवेदन की प्रथम दूतियों की सी विविध श्रृंगार की चेष्टाएँ वृक्षों के नव किसलयों की शोभा के समान हो गयीं ॥ १२ ॥

कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम् ।
रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार ॥ १३ ॥

सञ्जी०—कश्चिदिति । कश्चिद्राजा कराभ्यां पाणिभ्यामुपगूढनालं गृहीतनालम् । आलोलैश्चञ्चलैः पत्रैरभिहतास्ताडिता द्विरेफा भ्रमरा येन तत्तथोक्तम् । रजोभिः परागैरन्तःपरिवेषं मण्डलं बध्नातीत्यन्तःपरिवेषबन्धि । लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार । करस्य लीलारविन्दवत्त्वयाहं भ्रमयितव्य इति नृपाभिप्रायः । हस्तघूर्णकोऽयमपलक्षणक इतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

अन्वयः—कश्चित् कराभ्याम् उपगूढनालम्, आलोलपत्राभिहतद्विरेफम्, रजोभिः अन्तः-परिवेषबन्धि लीलारविन्दम् भ्रमयाञ्चकार ।

हिन्दी—[पूर्व श्लोक में राजाओं की विविध श्रृंगारिक चेष्टाओं का संकेत किया गया है । इस श्लोक में प्रति राजा की चेष्टा की औँर कवि का ध्यान गया है] किसी राजा ने दोनों हाथों से कमलनाल पकड़े हुए लीला का

अरविन्द इस प्रकार घुमाया कि उसके चंचल पत्तों से भ्रमर आहत हो गए, तथा पुष्प के रजकणों से उसके अन्दर सुन्दर मण्डल बंध गया ॥ १३ ॥

विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम् ।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः ॥ १४ ॥

संजी०—विस्रस्तमिति । विलसनशीलो विलासी । 'वौ कषलसकत्थस्रम्भः' इति निनुण्प्रत्ययः । अपरो राजांसाद्विस्रस्तं रत्नानुविद्धं रत्नखचितं यदङ्गदं केयूरं तस्य कोटिलग्नं प्रालम्बमृजुलम्बिनीं स्रजम् । 'प्रालम्बमृजुलम्बि स्यातकण्ठात्' इत्यमरः । 'प्रावारम्' इति-पाठे तूत्तरीयं वस्त्रम् । उत्कृष्योद्धृत्य साचीकृतं तिर्यक्कृतं चारु वक्त्रं यस्य स तथोक्तः सन् यथावकाशं स्वस्थानं निनाथ । प्रावारोत्क्षेपणच्छलेनाहं त्वामेवं परिरप्स्य इति नृपाभिप्रायः । गोपनीयं किञ्चिदंगेऽस्ति ततोऽयं प्रावृणुत इतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

अन्वयः—अपरः विलासी अंसात् विस्रस्तम्, रत्नानुविद्धांगदकोटिलग्नम्, प्रालम्बम् उत्कृष्य साचीकृतचारुवक्त्रः सन् यथावकाशं निनाय ।

हिन्दी—अन्य विलासी भूप ने कन्धे से खिसकी हुई रत्नजटित केयूर के नोक में संलग्न रत्नों की लटकती लम्बी माला उठाकर अपना सुन्दर मुख किंचित् तिरछा करते हुए यथास्थान (गले में) धारण कर ली ॥ १४ ॥

आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभः ।
तिर्यग्विसं—सर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥ १५ ॥

सञ्जी०—आकुञ्चितेति । ततः पूर्वोक्तादन्योऽपरो राजा किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभ ईषदर्वाक्पातिता नेत्रशोभः सन् । आकुञ्चिता आभुग्ना अग्राङ्गुलयो यस्य तेन तिर्यग्विसंसर्पिण्यो नखप्रभा यस्य तेन च पादेन हैमं हिरण्मयं पीठं पादपीठं विलिलेख लिखितवान् । पादाङ्गुलीनामाकुञ्चनेन त्वं मत्समीपमागच्छेति नृपाभिप्रायः । भूमिविलेखकोऽयमपलक्षणक इतीन्दुमत्याशयः । भूमिविलेखनं तु लक्ष्मीविनाशहेतुः ॥ १५ ॥

अन्वयः—ततः अन्यः किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभः सन् आकुञ्चिताग्रांगुलिना तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं पीठं विलिलेख ।

हिन्दी—(पूर्वोक्त राजाओं से भिन्न कोई) अन्य राजा कुछ-कुछ तिरछे कटाक्षपातीनेत्रों की शोभा दरसाते हुए सिकुड़ी या मोड़ी गई अंगुलियों के

अग्रभाग्र वाले नख की तिरछी फैलनेवाली प्रभा से युक्त चरण से सुवर्ण निर्मित पैर रखने का पीठ (पीढ़ा) कुरेदने लगा ॥ १५ ॥

निवेश्य वामं भुजमासनार्धे तत्सन्निवेशादधिकोन्नतांसः ।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् ॥ १६ ॥

सञ्जी०—निवेश्येति । कश्चिद्राजा । वामं भुजमासनार्धे सिंहासनैकदेशे निवेश्य संस्थाप्य तत्सन्निवेशात्तस्य वामभुजस्य सन्निवेशात्संस्थापनादधिकोन्नतोंऽसो वामांस एव यस्य स तथोक्तः सन् । विवृत्ते परावृत्ते त्रिके त्रिकप्रदेशे भिन्नहारो लुण्ठितहारः सन् । 'पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः । सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् । वामपार्श्ववर्तिनैव मित्रेण सम्भाषितुं प्रवृत्त इत्यर्थः । अत एव विवृत्तत्रिकत्वं घटते । त्वया वामाङ्गे निवेशितया सहैवं वार्तां करिष्ये इति नृपाभिप्रायः । परं दृष्ट्वा पराङ्मुखोऽयं न कार्यकर्तेतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥

अन्वयः—कश्चित् (नृपः) वामम् भुजम् आसनार्धे निवेश्य तत्सन्निवेशात् अधिकोन्नतांसः सन् विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सन् सुहृत्समाभाषणतत्परः अभूत् ।

हिन्दी—कोई नरेश अपनी बाँईं भुजा सिंहासन के आधे भाग में रखकर बगल के मित्र के साथ वार्तालाप में तल्लीन हो गया । बाँईं भुजा सिंहासन पर रखने से उसका बायाँ कन्धा अधिक ऊँचा हो गया जिससे उसका कण्ठहार मुड़ी हुई पीठपर लोटने लगा ॥ १६ ॥

विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुरं केतकबर्हमन्यः ।
प्रियानितम्बोचितसन्निवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रैः ॥ १७ ॥

सञ्जी०—विलासिनीति । अन्यो युवा विलासिन्याः प्रियाया विभ्रमार्थं दन्तपत्रं दन्तपत्रभूतमापाण्डुरं केतकबर्हं केतकदलम् । 'दलेऽपि बर्हम्' इत्यमरः । प्रियानितम्ब उचितसन्निवेशैरभ्यस्तनिक्षेपणैर्नखाग्रैर्विपाटयामास विदारयामास । अहं तव नितम्ब एवं नखव्रणादीन्दास्यामीति नृपाशयः । तृणच्छेदकवत्पत्रपाटकोऽयमपलक्षणक इतीन्दुमत्याशयः ॥ १७ ॥

अन्वयः—अन्यः युवा विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रम् आपाण्डुरम् केतकबर्हम् प्रियानितम्बोचितसन्निवेशैः नखाग्रैः विपाटयामास ।

हिन्दी—एक अन्य नवयुवक विलासिनी प्रिया के विलास के प्रयोजन के

लिए दन्तपत्र अथवा कर्णभूषण बने हुए कुछ-कुछ पीतवर्ण के केतकी के पत्रको प्रियतमा के नितम्बों के ऊपर चिह्न (नखक्षत) बनाने में अभ्यस्त नख के अग्रभागों से विदीर्ण करने लगा ॥ १७ ॥

कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन ।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥ १८ ॥

सञ्जी०—कुशेशयेति । कश्चिद्राजा कुशेशयं शतपत्रमिवाताम्रं तलं यस्य तेन । 'शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः । रेखारूपो ध्वजो लाञ्छनं यस्य तेन करेण । अङ्गुलीषु भवान्यङ्गुलीयान्यूर्मिकाः । 'अङ्गुलीयकमूर्मिका' इत्यमरः । 'जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः' इति छप्रत्ययः । रत्नानामङ्गुलीयानि तेषां प्रभयानुविद्धान्व्याप्तानक्षान्पाशान् । 'अक्षास्तु देवनाः पाशकाश्चते' इत्यमरः । सलीलमुदारयामासोच्चिक्षेप । अहं त्वया सहैवं रंस्य इति नृपाभिप्रायः । अक्षचातुर्येण कापुरुषोऽयमितीन्दुमत्यभिप्रायः । 'अक्षैर्मा दीव्येत्', इति श्रुतिनिषेधात् ॥ १८ ॥

अन्वयः—कश्चित् कुशेशयाताम्रतलेन रेखाध्वजलाञ्छनेन करेण रत्नांगुलीयप्रभयानुविद्धान् अक्षान् सलीलम् उदीरयामास ।

हिन्दी—किसी राजा ने कमल के समान आरक्त रेखारूपी ध्वजा के लक्षण से युक्त करतल से रत्नजटित अंगूठी की प्रभा से व्याप्त जुआ खेलने की गोटियों को ऊपर उछाला ॥ १८ ॥

कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसन्निवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव ।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे ॥ १९ ॥

सञ्जी०—कश्चिदिति । कश्चिद्यथाभागं यथास्थानमवस्थितेऽपि स्वसन्निवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव स्वस्थानाच्चलित इव किरीटे वज्राणां किरीटगतानामंशवो गर्भे येषां तान्यङ्गुलिरन्ध्राणि यस्य तमेकं करं व्यापारयामास । किरीटवन्मम शिरसि स्थितामपि त्वां भारं न मन्य इति । नृपाभिप्रायः । शिरसि न्यस्तहस्तोऽयमपलक्षण इतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

अन्वयः—कश्चित् यथाभागम् अवस्थिते अपि स्वसन्निवेशात् व्यतिलङ्घिनि इव किरीटे वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रम् एकम् करम् व्यापारयामास ।

हिन्दी—कोई राजा यथोचित स्थान पर सुस्थित होने पर भी मानो

अपने स्थान से सरकते हुए मुकुट पर अपना वह एक हाथ (मुकुट सँभालने के बहाने से) रखने लगा जिसकी अंगुलियों के मध्य छिद्र में मुकुट में लगे रत्नों की कान्ति झलमला रही थी ॥ १९ ॥

ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
प्राक्सन्निकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ॥ २० ॥

सञ्जी०—तत इति । ततोऽनन्तरं नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा श्रुतनृपवृत्तवंशेत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । प्रगल्भा वाग्मिनी सुनन्दा सुनन्दाख्या प्रतिहारं रक्षतीति प्रतिहाररक्षी द्वारपालिका । कर्मण्यण्प्रत्ययः । 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' इत्यनेन ङीप् । प्राक्प्रथमं कुमारीमिन्दुमतीम् । मगधेश्वरस्य सन्निकर्षं समीपं नीत्वा पुंवत्पुंसा तुल्यम् । तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः । अवदत् ॥ २० ॥

अन्वयः—ततः नृपाणाम् श्रुतवृत्तवंशा पुंवत् प्रगल्भा, सुनन्दा प्रतिहाररक्षी, प्राक् कुमारीम् मगधेश्वरस्य सन्निकर्षम् नीत्वा अवदत् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (समागत) राजाओं के चरित्र और कुलशील को जानने वाली पुरुष के समान प्रगल्भ—धृष्ट सुनन्दा नामकी द्वारपालिका सर्वप्रथम कुमारी इन्दुमती को मगध के अधिपति के निकट ले जाकर बोली॥२०॥

असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः ।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा ॥ २१ ॥

सञ्जी०—असाविति । असौ राजा । असाविति पुरोवर्तिनो निर्देशः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । शरणोन्मुखानां शरणार्थिनां शरण्यः शरणे रक्षणे साधुः 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्ययः । शरणं भवितुमर्हः शरण्य इति नाथनिरुक्तिर्निर्मूलैव । अगाधसत्त्वो गम्भीरस्वभावः । 'सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः' इति विश्वः । मगधा जनपदाः तेषु प्रतिष्ठास्पदं यस्य स मगधप्रतिष्ठः, 'प्रतिष्ठा कृत्यमास्पदम्' इत्यमरः । प्रजारञ्जने लब्धवर्णो विचक्षणः । यद्वा प्रजारञ्जनेन लब्धोत्कर्षः । पराञ्छत्रूंस्तापयतीति परन्तपः परन्तपाख्यः । 'द्विषत्परयोस्तापे' इति खच्प्रत्ययः । 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः । नामेति प्रसिद्धौ, यथार्थनामा, शत्रुसन्तापनादिति भावः ॥ २१ ॥

अन्वयः—असौ राजा शरणोन्मुखानाम् शरण्यः अगाधसत्त्वः मगध-प्रतिष्ठः प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परन्तपः नाम यथार्थनामा। (अस्तीति शेषः)

हिन्दी—यह राजा शरण के लिए उन्मुख होनेवाले शरणार्थियों की सुरक्षा में समर्थ, अगाध बलशाली या परम गम्भीर स्वभाव वाला, मगध में प्रतिष्ठित, प्रजाओं के अनुरञ्जन में उत्कर्ष पाने वाला यथानाम तथागुण को चरितार्थ करने वाला शत्रुओं को सन्ताप देने वाला "परन्तप" नाम-धारी है। जैसा इसका नाम 'परन्तप' हैं वैसा ही यह शत्रुओं के लिए सन्तापकारी है अतः यह अपने नाम को सार्थक करने वाला है ॥ २१ ॥

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैवरात्रिः ॥ २२ ॥

सञ्जी०—काममिति। अन्ये नृपाः कामं सहस्रशः सन्तु। भूमिमनेन राजन्वतीं शोभनराजवतीमाहुः, नैतादृक्कश्चिदस्तीत्यर्थः। "सुराज्ञि देशे राज-न्वान्स्यात्ततोऽन्यत्र राजवान्' इत्यमरः। 'राजन्वान्सौराज्ये' इति निपातना-त्साधुः। तथा हि—नक्षत्रैरश्विन्यादिभिस्ताराभिः साधारणैर्ज्योतिर्भिर्ग्रहैर्भौमा-दिभिश्च सङ्कुलापि रात्रिश्चन्द्रमसैव ज्योतिरस्या अस्तीति ज्योतिष्मती, नान्येन ज्योतिषेत्यर्थ ॥ २२ ॥

अन्वयः—अन्ये नृपाः कामं सहस्रशः सन्तु, भूमिम् अनेन राजन्वतीम् आहुः, नक्षत्रताराग्रहसंकुला अपि रात्रिः चन्द्रमसा एव ज्योतिष्मती।

हिन्दी—भले ही अन्य हजारों राजा हों किन्तु लोग पृथ्वी को "सुराज-वाली" इसी के कारण कहते हैं। जैसे नक्षत्रों, तारागणों और ग्रहों से व्याप्त होने पर भी रात्रि चन्द्रमा से ही ज्योतिष्मती—ज्योत्स्नावाली कह-लाती है ॥ २२ ॥

क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकांश्चकार ॥ २३ ॥

सञ्जी०—अन्यं परन्तपोऽध्वराणां क्रतूनां क्रियाप्रबन्धानुष्ठानसातत्यात् अविच्छिन्नादनुष्ठानादित्यर्थः। अजस्रं नित्यमाहूतसहस्रनेत्रः संश्चिरं शच्या अलकान् पाण्डुकपोलयोर्लम्बान्स्रस्तान्। पचाद्यच्। मन्दारैः कल्पद्रुमकुसुमैः शून्यांश्चकार। प्रोषितभर्तृका हि केशसंस्कारं न कुर्वन्ति। 'प्रोषिते मलिना

कृशा' इति। 'क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्। हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका ॥' इति च स्मरणात् ॥ २३ ॥

अन्वयः—अयं अध्वराणाम् क्रियाप्रबन्धात् अजस्रम् आहूतसहस्रनेत्रः सन् शच्याः अलकान् पाण्डुकपोललम्बान् मन्दारशून्यान् चकार।

हिन्दी—इसने (परन्तप ने) यज्ञों के अनवरत अनुष्ठान से लगातार सहस्रनेत्रधारी इन्द्र का (अपने यज्ञों में) आवाहन कर इन्द्राणी के पीतवर्ण कपोलों पर लटकते हुए केशों को मन्दार पुष्पों से विरहित कर दिया ॥२३॥

अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे।
प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥ २४ ॥

सञ्जी०—अनेनेति। वरेण्येन वरणीयेन। वृणोतेरौणादिक एण्यप्रत्ययः। अनेन राज्ञा गृह्यमाणं पाणिमिच्छसि चेत्, पाणिग्रहणमिच्छसि चेदित्यर्थः। प्रवेशे प्रवेशकाले प्रासादवातायनसंश्रितानां राजभवनगवाक्षस्थितानां पुष्पपुराङ्गनानां पाटलिपुराङ्गनानां नेत्रोत्सवं कुरु। सर्वोत्तमानां तासामपि दर्शनीया भविष्यसीति भावः ॥ २४ ॥

अन्वयः—वरेण्येन अनेन गृह्यमाणं पाणिम् इच्छसि चेत् प्रवेशे प्रासादवातायनसंश्रितानाम् पुष्पपुराङ्गनानाम् नेत्रोत्सवं कुरु।

हिन्दी—वरणकरने (वर बनाने) योग्य इस राजा परन्तप से यदि पाणिग्रहण (विवाह) करना चाहती हो तो (इसकी राजधानी में) प्रवेश करने के समय राजमहल की खिड़कियों—(झरोखों) पर बैठी हुई पुष्पपुर (पटना) की सुन्दरियों के नेत्रों का उत्सव करो ॥ २४ ॥

एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ॥ २५ ॥

सञ्जी०—एवमिति। एवं तया सुनन्दयोक्ते सति तं परन्तपमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्रंसिनी दूर्वाङ्का दूर्वाचिह्ना मधूकमाला गुडपुष्पमाला यस्याः सा 'मधूके तु गुडपुष्पमधुद्रुमौ' इत्यमरः। वरणे शिथिलप्रयत्नेति भावः। तन्वीन्दुमत्येनं नृपमभाषमाणर्ज्वा भावशून्यया प्रणामक्रिययैव प्रत्यादिदेश परिजहार ॥ २५ ॥

अन्वयः—एवम् तया उक्ते (सति) तम् अवेक्ष्य किंचित् विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला तन्वी एनम् अभाषमाणा ऋजुप्रणामक्रियया एव प्रत्यादिदेश।

हिन्दी—इस प्रकार इस प्रतिहाररक्षी सुनन्दा के कहने पर उस राजा परन्तप को देखकर कुछ-कुछ खिसकती हुई दूर्वा के चिह्नों से युक्त मधूक की माला वाली कृशांगी-सुन्दरी इन्दुमती उससे (परन्तप से) विना बोले ही सामान्यरूप से—भावशून्य दृष्टि से प्रणाम करके इसे छोड़ कर आगे बढ़ गई ॥ २५ ॥

तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम् ॥ २६ ॥

सञ्जी०—तामिति । सैव नान्या, चित्तज्ञत्वादिति भावः । वेत्रग्रहणे नियुक्ता दौवारिकी सुनन्दा तां राजसुतां राजान्तरमन्यराजं निनाय । नयतिर्द्विकर्मकः । कथमिव ? समीरणोत्था वातोत्पन्ना तरङ्गलेखोर्मिपङ्क्तिर्मानसे सरसि या राजहंसी तां पद्मान्तरमिव ॥ २६ ॥

अन्वयः—सा एव वेत्रग्रहणे नियुक्ता, ताम् राजसुताम् समीरणोत्था तरंगलेखा मानसराजहंसीम् पद्मान्तरम् इव राजान्तरम् निनाय ।

हिन्दी—जिस प्रकार पवन-प्रेरित तरंगों की पंक्ति मानस की राजहंसी को दूसरे कमल के निकट ले जाती है उसी प्रकार वेत्रग्रहण में नियुक्त वहीं द्वारपालिका सुनन्दा उस राजकुमारी इन्दुमती को अन्य राजा के निकट ले गयी ॥ २६ ॥

जगाद चैनामयमङ्गनाथः सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः ।
विनीतनागः किल सूत्रकारैरैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते ॥ २७ ॥

सञ्जी०—जगादेति । एनामिन्दुमतीं जगाद । किमिति, अयमङ्गनाथोऽङ्गदेशाधीश्वरः सुराङ्गनाभिः प्रार्थिता कामिता यौवनश्रीर्यस्य स तथोक्तः, पुरा किलैनमिन्द्रसाहाय्यार्थमिन्द्रपुरगामिनमकामयन्ताप्सरस इति प्रसिद्धिः । किञ्च सूत्रकारैर्गजशास्त्रकृद्भिः पालकादिभिर्महर्षिभिर्विनीतनागः शिक्षितगजः । किलेत्यैतिह्ये । अत एव भूमिगतोऽप्यैन्द्रं पदमैश्वर्यं भुङ्क्ते, भूर्लोक एव स्वर्गसुखमनुभवतीत्यर्थः । गजाप्सरोदेवर्षिसेव्यत्वमैन्द्रपदशब्दार्थः । पुरा किल कुतश्चिच्छापकारणाद् भुवमवतीर्णं दिग्गजवर्गमालोक्य स्वयमशक्तेरिन्द्राभ्यनुज्ञयाऽऽनीतैर्देवर्षिभिः प्रणीतेन शास्त्रेण गजान्वशीकृत्य भुवि सम्प्रदायं प्रावर्तयदिति कथा गीयते ॥ २७ ॥

अन्वयः--एनाम् जगाद च, अयं अंगनाथः सुरांगनाप्रार्थितयौवनश्रीः सूत्रकारैः विनीतनागः किल, (अत एव) भूमिगतः अपि ऐन्द्रं पदं भुङ्क्ते ।

हिन्दी—और सुनन्दा ने इस इन्दुमती से कहा कि यह अंग देश का अधीश्वर है । देवांगनाओं के द्वारा इसके यौवन की शोभा प्रार्थित है अर्थात् सुरसुंदरियाँ भी इसके यौवन की सुन्दरता की कामना करती हैं । इतिहास साक्षी है कि गजशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों के द्वारा इसके हाथी सुशिक्षित किये गये हैं, इसलिए यह भूमि पर रहते हुए भी इन्द्र के पद–स्वर्गीय सुख एवं ऐश्वर्य के उपभोग का अनुभव करता है ।। २७ ।।

अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमान्स्तनेषु ।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हाराः ।।२८।।

सञ्जी०–अनेनेति । शत्रुविलासिनीनां स्तनेषु मुक्ताफलस्थूलतमानश्रुबिन्दून् । 'अस्रमश्रुणि शोणिते' इति विश्वः । पर्यासयता प्रस्तारयता । भर्तृवधादिति भावः । अनेनांगनाथेनोन्मुच्याक्षिप्य सूत्रेण विना हारा एव प्रत्यर्पिताः । अविच्छिन्नाश्रुविन्दुप्रवर्तनादुत्सूत्रहारार्पणमेव कृतमिवेत्युत्प्रेक्षा गम्यते ।।२८।।

अवयः—शत्रुविलासिनीनाम् स्तनेषु मुक्ताफलस्थूलतमान् अश्रुविन्दून् पर्यासयता अनेन उन्मुच्य सूत्रेण विना हाराः एव प्रत्यर्पिताः ।

हिन्दी—(युद्ध में इसके द्वारा मारे गये) शत्रुओं की विलासिनी सुन्दरियों के स्तनों पर मोतियों के दानों के समान बड़े-बड़े अश्रुकणों को विखराने वाले इस राजा के द्वारा (गले का) मुक्ताहार वैधव्यके कारण उतारकर सूत्र के बिना केवल हार ही समर्पित किया गया ।। २८ ।।

निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया ।।२९।।

सञ्जी०–निसर्गेति । निसर्गतः स्वभावतो भिन्नास्पदं भिन्नाश्रयम्, सहावस्थानविरोधीत्यर्थः । श्रीश्च सरस्वती चेति द्वयमस्मिन्नङ्गनाथ एकत्र संस्था स्थितिर्यस्य तदेकसंस्थम् । उभयमिह संगतमित्यर्थः । हे कल्याणि ! 'बह्वादिभ्यश्च इति ङीष् । कान्त्या सूनृतया सत्यप्रियया गिरा च योग्या संसर्गार्हा त्वमेव तयोः श्रीसरस्वत्योस्तृतीया । समानगुणयोर्युवयोर्दाम्पत्यं युज्यत एवेति भावः । दक्षिणनायकत्वं चास्य ध्वन्यते । तदुक्तम्—'तुल्योऽनेकत्र दक्षिणः' इति ।।२९।।

अन्वयः—निसर्गभिन्नास्पदम् श्रीश्च सरस्वती च इति द्वयं अस्मिन् एक-संस्थम्, हे कल्याणि, कान्त्या सूनृतयागिरा च योग्या त्वमेव तयोः तृतीया।

हिन्दी—स्वभावतः पृथक्-पृथक् आश्रय में निवास करने वाली लक्ष्मी और सरस्वती ये दोनों ही इस राजा में एकत्र स्थित हैं। (यह लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का समान कृपापात्र है) हे मंगलमूर्ति तुम उन दोनों लक्ष्मी सरस्वती में अपनी शरीर प्रभा और सत्यप्रियवाणी से योग्य हो तृतीया बन जाओ॥ २९॥

अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति कन्यामवदत्कुमारी।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः॥ ३०॥

सञ्जी०—अथेति। अथ कुमार्याङ्गराजाच्चक्षुरवतार्य, अपनीयेत्यर्थः। जन्यां मातृसखीम्। 'जन्या मातृसखीमुदोः' इति विश्वः। सुनन्दां याहि गच्छत्यवदत्। 'यातेति जन्यामवदत्' इति पाठे जनीं वधूं वहन्तीति जन्या वधूबन्धवः। तान् यात गच्छतेत्यवदत्। 'जन्यौ वरवधूज्ञातिप्रियतुल्यहितेऽपि च' इति विश्वः। अथवा जन्या वधूभृत्याः। 'भृत्याश्चापि नवोढायाः' इति केशवः। 'संज्ञायां जन्या—' इति यत्प्रत्ययान्तो निपातः। यदत्राह वृत्तिकारः—'जनीं वधूं वहन्तीति जन्या जामातुर्वयस्याः' इति। यच्चामरः 'जन्याः स्निग्धा वरस्य ये' इति तत्सर्वमुपलक्षणार्थमित्यविरोधः। न चायमङ्गराजनिषेधो दृश्यदोषान्नापि द्रष्टृदोषादित्याह—नेत्यादिना। असावङ्गराजः काम्यः कमनीयो नेति न, किन्तु काम्य एवेत्यर्थः। सा कुमारी च सम्यग्द्रष्टुं विवेक्तुं न वेदेति न, वेदेत्यर्थः। किन्तु लोको जनो भिन्नरुचिर्हि रुचिरमपि किञ्चित्कस्मैचिन्न रोचते। किं कुर्मो न हीच्छा नियन्तुं शक्यत इति भावः॥ ३०॥

अन्वयः—अथ कुमारी अंगराजात् चक्षुः अवतार्य अन्याम् याहि इति अवदत्, असौ काम्यः न इति न सा च सम्यक् द्रष्टुं न वेद (इति) न (किन्तु) हि लोकः भिन्नरुचिः भवति इति शेषः।

हिन्दी—सुनन्दा के वचन सुनने के उपरान्त इन्दुमती ने उस अंगराज की ओर से अपनी दृष्टि हटाकर माता की सखी (सुनन्दा) से कहा कि आगे चलो। यह राजा कमनीय नहीं है यह बात नहीं है अपितु यह कमनीय है

और यह कुमारी इन्दुमती ठीक से देखना नहीं जानती है ऐसी भी बात नहीं है अपितु वह देखना भी ठीक ही जानती है। (तो वह इसे वरण क्यों नहीं कर लेती) इसमें लोगों की अपनी-अपनी विभिन्न रुचि है। किसी को कुछ रुचता है तो किसी को कुछ रुचता है। मुण्डे-मुण्डे मति भिन्न होती ही है॥ ३०॥

ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ।
निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै॥ ३१॥

सञ्जी०—तत इति। ततोऽन्तरं प्रतिहारभूमौ द्वारदेशे नियुक्ता दौवारिकी। 'स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः' इत्यमरः। द्विषद्भिः शत्रुभिर्दुष्प्रसहं दुःसहम्, शूरमित्यर्थः। विशेषेण दृश्यं दर्शनीयं, रूपवन्तमित्यर्थः। परमन्यं नृपम्। नवोत्थानं नवोदयमिन्दुमिव। इन्दुमत्यै निदर्शयामास॥ ३१॥

अन्वयः—ततः प्रतिहारभूमौ नियुक्ता द्विषद्भिः दुष्प्रसहं विशेष दृश्यं परं नृपं नवोत्थानम् इन्दुम् इव इन्दुमत्यै निदर्शयामास।

हिन्दी—तत्पश्चात् द्वारस्थल पर नियुक्त द्वारपालिका सुनन्दा ने शत्रुओं के द्वारा देखने में अशक्य शूर विशेष रूप से दर्शनीय एक अन्य राजा को नवोदीयमान चन्द्रमा की भाँति इन्दुमती को दिखलाया॥ ३१॥

अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति॥ ३२॥

सञ्जी०—अवन्तीति। उदग्रबाहुर्दीर्घबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः कृशवर्तुलमध्योऽयं राजाऽवन्तिनाथोऽवन्तिदेशाधीश्वरः त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा। भर्तुस्तेजोवेगमसहमानया दुहित्रा संज्ञादेव्या प्रार्थितेनेति शेषः। चक्रभ्रमं चक्राकारं शस्त्रोत्तेजनयन्त्रम्। 'भ्रमोऽम्बुनिर्गमे भ्रान्तौ कुण्डाख्ये शिल्पियन्त्रके' इति विश्वः। आरोप्य यत्नेनोल्लिखित उष्णतेजाः सूर्य इव विभाति। अत्र मार्कण्डेयः—'विश्वकर्मा त्वनुज्ञातः शाकद्वीपे विवस्वता। भ्रममारोप्य तत्तेजःशातनायोपचक्रमे॥' इति॥ ३२॥

अन्वयः—उदग्रबाहुः विशालवक्षाः तनुवृत्तमध्यः अयम् अवन्तिनाथः त्वष्ट्रा चक्रभ्रमम् आरोप्य यत्नोल्लिखितः उष्णतेजाः इव विभाति।

हिन्दी—प्रचण्ड भुजावाला अथवा लम्बी बाहुओं वाला; विस्तृत-चौड़ी

छाती वाला (सिंह के समान) पतली गोलाकार कटि वाला यह अवन्ती का स्वामी है। यह विश्वकर्मा के द्वारा चक्र के समान शिल्पी (शस्त्र को तीक्ष्ण करने वाले) यन्त्र पर (शान पर) रखकर प्रयत्नपूर्वक खरादे गए उष्णरश्मि सूर्य के समान चमक रहा है ॥ ३२ ॥

अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि ।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि ॥ ३३ ॥

सञ्जी०—अस्येति । समग्रशक्तेः शक्तित्रयसम्पन्नस्यास्यावन्तिनाथस्य प्रयाणेषु जैत्रयात्रास्वग्रेसरैर्वाजिभिरश्वैरुत्थितानि रजांसि सामन्तानां समन्ताद्भवानां राज्ञां ये शिखामणयश्चूडामणयस्तेषां प्रभाप्ररोहास्तमयं तेजोङ्कुरनाशं कुर्वन्ति । नासीरैरेवास्य शत्रवः पराजीयन्त इति भावः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—समग्रशक्तेः अस्य प्रयाणेषु अग्रेसरैः वाजिभिः उत्थिानि रजांसि सामन्तशिखामणीनाम् प्रभाप्ररोहास्तमयं कुर्वन्ति ।

हिन्दी—प्रभाव उत्साह और मन्त्र इन समस्त शक्तियों से युक्त इस राजा की विजय यात्राओं में अग्रगामी घोड़ों के द्वारा उड़ायी गयी धूलि की राशि सामन्त राजाओं की मस्तकमणि की कान्तिके अंकुरों को समाप्त कर देती है।

असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥३४॥

सञ्जी०—असाविति । असाववन्तिनाथः महाकालं नाम स्थानविशेषः । तदेव निकेतनं स्थानं यस्य तस्य चन्द्रमौलेरीश्वरस्यादूरे समीपे वसन् । अत एव हेतोस्तमिस्रपक्षे कृष्णपक्षेऽपि प्रियाभिः सह ज्योत्स्नावतः प्रदोषान् रात्रीर्निर्विशत्यनुभवति किल । नित्यज्योत्नाविहारत्वमेतस्यैव नान्यस्येति भावः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—असौ महाकालनिकेतनस्य चन्द्रमौलेः अदूरे वसन् तमिस्रपक्षे अपि प्रियाभिः सह ज्योत्स्नावतः प्रदोषान् निर्विशति किल ।

हिन्दी—यह अवन्ति नरेश महाकाल नामक मन्दिर में निवास करने वाले भगवान् चन्द्रशेखर शिव के निकट निवास करता हुआ कृष्णपक्ष में भी अपनी प्रेयसियों के साथ चन्द्रिकामयी रात्रि का आनन्दभोग करता है। तात्पर्य यह है कि महाकालेश्वर शिव का पड़ोसी होने के कारण शिव के

मस्तक के चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से इसका राजमहल कृष्णपक्ष में भी जगमगाता रहता है ।। ३४ ।।

अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ।। ३५ ।।

सञ्जी०—अनेनेति । रम्भे कदलीस्तम्भाविवोरू यस्याः सा रम्भोरूस्तस्याः सम्बोधनम् । हे रम्भोरु ! 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इत्यूङ्प्रत्ययः । नदीत्वाद्ध्रस्वः । यूनानेन पार्थिवेन सह । सिप्रा नाम तत्रत्या नदी, तस्यास्तरङ्गाणामनिलेन कम्पितासूद्यानानां परम्परासु पङ्क्तिषु विहर्तुं ते तव मनसो रुचिः कच्चित् । स्पृहास्ति किमित्यर्थः । 'अभिष्वङ्गे स्पृहायां च गभस्तौ च रुचिः स्त्रियाम्' इत्यमरः ।। ३५ ।।

अन्वयः—रम्भोरु । अनेन यूना पार्थिवेन सह सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु उद्यानपरम्परासु विहर्तुम् ते मनसः रुचिः कच्चित् ?

हिन्दी—हे केले के खम्भे के समान जङ्घेवाली इस तरुण पृथ्वीपति के साथ सिप्रा नदी के तरंगों की हवाओं से सञ्चालित उद्यानों की पंक्तियों में विहार करने की तुम्हारी मानसिक इच्छा है क्या ? ।। ३५ ।।

तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के ।
बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम् ।। ३६ ।।

सञ्जी०—तस्मिन्निति । उत्तमसौकुमार्योत्कृष्टाङ्गमार्दवा सेन्दुमती । अभिद्योतितान्युल्लसितानि बन्धव एव पद्मानि येन तस्मिन् । तस्मिन्नवन्तिनाथे कुमुद्वती । 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' इति ड्मतुप्प्रत्ययः । भानुमत्यंशुमतीव भावं चित्तं न बबन्ध, न तत्रानुरागमकरोदित्यर्थः । बन्धूनां पद्मत्वेन च निरूपणं राज्ञः सूर्यसाम्यर्थम् ।। ३६ ।।

अन्वयः—उत्तमसौकुमार्या सा अभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के तस्मिन् कुमुद्वती भानुमती इव भावं न बबन्ध ।

हिन्दी—जिस प्रकार पद्मों को प्रकाशित करने वाले प्रचण्ड ताप से पंकों को सुखा डालने वाले अंशुमाली सूर्य में कुमुदिनी का भाव आबद्ध नहीं होता है; (कुमुदनी को सूर्य नहीं भाता है) उसी प्रकार उस परम सुकुमार शरीरवाली राजकुमारी इन्दुमती ने अपने बन्धुरूपी कमलों को उत्फुल्ल करने

वाले एवं उग्र प्रताप से शत्रुरूपी पंक को सुखा देने वाले उस अवन्तिनरेश में अपना चित्त स्थिरतया दृढ़ नहीं किया अर्थात् उसमें इन्दुमती का प्रेमभाव जमा नहीं ॥ ३६ ॥

तामग्रतस्तामरसान्तराभामनूपराजस्य गुणैरनूनाम् ।
विधाय सृष्टिं ललितां विधातुर्जगाद भूयः सुदतीं सुनन्दा ॥ ३७ ॥

सञ्जी०—तामिति । सुनन्दा तामरसान्तराभां पद्मोदरतुल्यकान्ति, कनकगौरीमित्यर्थः । गुणैरनूनाम् अधिकामित्यर्थः । शोभना दन्ता यस्याः सा सुदती, 'वयसि दन्तस्य दतृ' इति दत्रादेशः 'उगितश्च' इति ङीप् । तां प्रकृतां प्रसिद्धां वा विधातुर्ललितां सृष्टिं मधुरनिर्माणं स्त्रियमित्यर्थः । अनुगता आपो येषु तेऽनूपा नाम देशाः । 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इत्यप्प्रत्ययः समासान्तः, 'ऊदनोर्देशे' इत्यूदादेशः । तेषां राज्ञोऽनूपराजस्याग्रतो विधाय व्यवस्थाप्य भूयः पुनर्जगाद ॥ ३७ ॥

अन्वयः—सुनन्दा तामरसान्तराभाम् गुणैः अनूनाम् सुदतीं ताम् विधातुः ललिताम् सृष्टिम् अनूपराजस्य अग्रतः विधाय भूयः जगाद ।

हिन्दी—द्वारपालिका सुनन्दा कमल के मध्य भाग के समान आभा (सोने के समान गौरवर्णवाली) परमगुणशालिनी सुन्दर दाँतों वाली उस ब्रह्मा की सुमधुर सृष्टि परमसुन्दरी इन्दुमती को अनुपम सुन्दर अनूप देश के राजा के आगे व्यवस्थित कर पुनः बोलने लगी ॥ ३७ ॥

सङ्ग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः ।
अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किल कार्तवीर्यः ॥ ३८ ॥

सञ्जी०—संग्रामेति । संग्रामेषु युद्धेषु निर्विष्टा अनुभूताः सहस्रं बाहवो यस्य स तथोक्तः । युद्धादन्यत्र द्विभुज एव दृश्यत इत्यर्थः । अष्टादशसु द्वीपेषु निखाताः स्थापिता यूपा येन स तथोक्तः सर्वक्रतुयाजी सार्वभौमश्चेति भावः । जरायुजादिसर्वभूतरञ्जनादनन्यसाधारणो राजशब्दो यस्य स तथोक्तः । योगी ब्रह्मविद्वानित्यर्थः । स किल भगवतो दत्तात्रेयाल्लब्धयोग इति प्रसिद्धः । कृतवीर्यस्यापत्यं पुमान्कार्तवीर्यो नाम राजा बभूव किलेति । अयं चास्य महिमा सर्वोऽपि दत्तात्रेयवरप्रसादलब्ध इति भारते दृश्यते ॥ ३८ ॥

अन्वयः—संग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुः अष्टादशद्वीपनिखातयूपः अनन्यसाधारणराजशब्दः, योगी कार्तवीर्य बभूवः किल ।

हिन्दी—युद्ध भूमि में हजार बाहुओं का अनुभव करने वाले (युद्ध काल में जिसके हजार बाहु प्रविष्ट हो जाते थे) अठारहों द्वीपों में विजय-स्वरूप यज्ञ के खम्भों को गाड़ने वाले, असामान्य अद्वितीय प्रजानुरंजनकारी होने में राजा के शब्द से विभूषित ब्रह्मज्ञानी योगी कृतवीर्य के पुत्र कार्तवीर्य समुत्पन्न हुए ॥ ३८ ॥

अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवश्चापधरः पुरस्तात् ।
अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—अकार्येति । विनेता शिक्षको यः कार्तवीर्यः । अकार्यस्यासत्कार्यस्य चिन्तया, अहं चौर्यादिकं करिष्यामीति बुद्धया । समकालमेककालमेव यथा तथा पुरस्तादग्रे चापधरः प्रादुर्भवन्सन्, प्रजानां जनानाम्, 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः । अन्तःशरीरेष्वन्तःकरणेषु शरीरशब्देनेन्द्रियं लक्ष्यते । अविनयमपि प्रत्यादिदेश मानसापराधमपि निवारयामासेत्यर्थः । अन्ये तु वाक्कायापराधमात्रप्रतिकर्तार इति भावः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—विनेता यः अकार्यचिन्ता समकालम् एव पुरस्तात् चापधरः प्रादुर्भवन् सन् प्रजानाम् अन्तःशरीरेषु अपि अविनयम् प्रत्यादिदेश ।

हिन्दी—विनय-अनुशासन का उपदेष्टा शिक्षक जो कार्तवीर्य न करने योग्य दुष्कृत्य चोरी आदि का विचार ही करते समय सामने धनुष धारण कर प्रकट होते हुए लोगों के अन्तः शरीर—मन-बुद्धि चित्त के भीतर भी अपराध का निवारण करता था ॥ ३९ ॥

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥ ४० ॥

सञ्जी०—ज्याबन्धेति । ज्याया मौर्व्या बन्धेन बन्धनेन निष्पन्दा निश्चेष्टा भुजा यस्य तेन, विनिश्वसन्ती ज्याबन्धोपरोधाद्दीर्घं निःश्वसन्ती वक्त्रपरम्परा दशमुखी यस्य तेन निर्जितवासवेनेन्द्रविजयिना । अत्रेन्द्रादयोऽप्यनेन जितप्राया एवेति भावः । लङ्केश्वरेण दशास्येन यस्य कार्तवीर्यस्य कारागृहे बन्धनागारे 'कारा स्याद्बन्धनालये' इत्यमरः । आप्रसादादनुग्रहपर्यन्तमुषितं स्थितम् । 'नपुंसके भावे क्तः' । एतत्प्रसाद एव तस्य मोक्षोपायो न तु क्षात्रमिति भावः ॥ ४० ॥

अन्वयः—ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन विनिःश्वसद् वक्त्रपरम्परेण निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेण यस्य कारागृहे आप्रसादात् उषितम् ।

हिन्दी—धनुष के गुण से बाँधने के कारण निश्चेष्ट भुजाओं वाला मुखों की परम्परा से अर्थात् दश मुखों के समूह से दीर्घ श्वास लेने वाला (कस कर बाँधे जाने के कारण मुख समूहों से हाँफने वाला) सुरेश्वर इन्द्र को भी जीतने वाला लंका का ईश्वर रावण जिस कार्तवीर्य के कारागार (जेल) में तब तक पड़ा रहा जब तक वह प्रसन्न न हो गया ॥ ४० ॥

तस्यान्वये भूपतिरेष जातः प्रतीप इत्यागमवृद्धसेवी ।
येन श्रियः संश्रयदोषरूढं स्वभावलोलेत्यशः प्रसृष्टम् ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—तस्येति । आगमवृद्धसेवी प्रतीप इति । ख्यात इति शेषः। एष भूपतिस्तस्य कार्तवीर्यस्यान्वये वंशे जातः । येन प्रतीपेन संश्रयस्याश्रयस्य पुंसो दोषैर्व्यसनादिभी रूढमुत्पन्नं श्रियः सम्बन्धि स्वभावलोला प्रकृतिचञ्चलेत्येवंरूपमयशो दुष्कीर्तिः प्रमृष्टं निरस्तम् । दुष्टाश्रयत्यागशीलायाः श्रियः प्रकृति चापलप्रवादौ मूढजनपरिकल्पित इत्यर्थः । अयं तु दोषराहित्यान्न कदाचिदपि श्रियात्यज्यत इति भावः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—आगमवृद्धसेबी प्रतीपः इति (ख्यातः इति शेषः) एषः भूपतिः तस्य अन्वये जातः येन संश्रयदोषरूढम् श्रियः स्वभावलोला इति अयशः प्रमृष्टम् ।

हिन्दी—शास्त्रों में पारंगतवृद्धों (शास्त्र के मर्मज्ञ ज्ञान वृद्धों) की सेवा करने वाला 'प्रतीप' नाम से प्रसिद्ध यह भूपालक राजा उस कार्तवीर्य के कुल में उत्पन्न हुआ जिसने आश्रय संसर्ग के दोष से उत्पन्न लक्ष्मी के 'स्वभाव से चंचला है' इस अपयश को धो दिया ॥ ४१ ॥

आयोधने कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम् ।
धारां शितां रामपरश्वधस्य सम्भावयत्युत्पलपत्रसाराम् ॥ ४२ ॥

सञ्जी—आयोधन इति । यः प्रतीप आयोधने युद्धे कृष्णगतिं कृष्णवर्त्मानमग्निं सहायमवाप्य क्षत्रियाणां कालरात्रिं, संहाररात्रिमित्यर्थः । रामपरश्वधस्य जामदग्न्यपरशोः । 'द्वयोः कुठारः स्वधितिः परशुश्च परश्वधः' इत्यमरः। शितां तीक्ष्णां धारां मुखम् । 'खड्गादीनां च निशितमुखे धारा प्रकीर्तिता'

इति विश्वः। उत्पलपत्रस्य सार इव सारो यस्यास्तां तथाभूतां सम्भावयति मन्यते। एतन्नगरजिगीषयागतान्रिपून्स्वयमेव वक्ष्यामीति भगवता वैश्वानरेण दत्तवरोऽयं राजा। दह्यन्ते च तथागताः शत्रवः' इति भारते कथानुसन्धेया॥

अन्वयः—यः आयोधने कृष्णगतिं सहायम् अवाप्य क्षत्रियकालरात्रिम् रामपरश्वधस्य शितां धारां उत्पलपत्रसाराम् सम्भावयति।

हिन्दी—जो राजा प्रतीप (इतना प्रतापी हुआ कि) युद्ध में अग्नि का वरदान पाकर क्षत्रियों की कालरात्रि के समान विनाशकारिणी परशुराम के परशु की तीक्ष्ण धार को कमल के पत्र के सार—(बल) के समान सार वाली अर्थात् अत्यन्त मृदु समझता है। (इसे अग्नि ने यह वरदान दिया है कि इसके नगर को जीतने की इच्छा से आये हुए शत्रुओं को वह जला डालेगा।)॥ ४२॥

अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम्।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः॥ ४३॥

सञ्जी०—अस्येति। दीर्घबाहोरस्य प्रतीपस्याङ्कलक्ष्मीर्भव, एनं वृणीष्वेत्यर्थः। अनेनायं विष्णुतुल्य इति ध्वन्यते माहिष्मती नामास्य नगरी। तस्या वप्रः प्रकारः एव नितम्बः तस्य काञ्ची रशनाभूताम् जलानां वेण्या प्रवाहेण रम्याम्। 'ओघः' प्रवाहो वेणी च' इति हलायुधः। रेवां नर्मदां प्रासादजालैर्गवाक्षैः। 'जालं समूह आनायो गवाक्षक्षारकावपि' इत्यमरः। प्रेक्षितुं काम इच्छाऽस्ति यदि॥ ४३॥

अन्वयः—दीर्घबाहोः अस्य अङ्कलक्ष्मीः भव, यदि माहिष्मतीवप्रनितम्ब काञ्चीम् जलवेणिरम्याम् रेवां प्रासादजालैः प्रेक्षितुं कामः अस्ति।

हिन्दी—यदि प्रतीपराज की नगरी माहिष्मतीके प्राकार रूपी नितम्ब की करधनी रशना स्वरूपा, जल के प्रवाह से रमणीय रेवा—नर्मदा नदी को राजभवन के गवाक्षों से देखने की कामना है तो विशाल भुजाओं वाले इस प्रतीपराज के अङ्क की लक्ष्मी बन जाओ, अर्थात् इसके साथ पाणिग्रहण स्वीकार कर लो॥ ४३॥

तस्याः प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि न स क्षितीशो रुचये बभूव।
शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्याः॥ ४४॥

सञ्जी०—तस्या इति । प्रकामं प्रियं प्रीतकरं दर्शनं यस्य सोऽपि, दर्शनीयोऽपीत्यर्थः । स क्षितीशः । शरदा प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधो निरस्तमेघावरणः पर्याप्तकलः पूर्णकालः शशी नलिन्या इव । तस्या इन्दुमत्या रुचये न बभूव, रुचिं नाजीजनदित्यर्थः । लोको भिन्नरुचिरिति भावः ।। ४४ ।।

अन्वयः—प्रकामम् प्रियदर्शनः अपि स क्षितीशः शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः पर्याप्तकलः शशी नलिन्याः इव तस्याः रुचये न बभूव ।

हिन्दी—जिस प्रकार शरद्-ऋतु द्वारा हटाये गये मेघरूपी आवरण वाला सम्पूर्ण कलाओं से युक्त भी चन्द्रमा कमलिनी को नहीं रुचता उसी प्रकार अत्यत प्रियदर्शन वाला भी वह प्रतीप भूपति उस इन्दुमती को रुचिकर नहीं लगा ।। ४४ ।।

सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम् ।
आचारशुद्धोभयवंशदीपं शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी ।। ४५ ।।

सञ्जी०—सेति । लोकान्तरे स्वर्गादावपि गीतकीर्तिमाचारेण शुद्धयोरुभयोर्वंशयोर्मातापितृकुलयोर्दीपं प्रकाशकम् । उभयवंशेत्यत्रोभयपक्षवन्निर्वाहः । शूरसेनानां देशानामधिपतिं सुषेणं नाम नृपतिमुद्दिश्याभिसन्धाय शुद्धान्तरक्ष्यान्तःपुरपालिकया । 'कर्मण्यण्' 'टिड्ढाणञ्—' इति ङीप् । सा कुमारी जगदे ।।

अन्वयः—लोकान्तरगीतकीर्तिम्, आचारशुद्धोभयवंशदीपम्, शूरसेनाधिपतिम्, सुषेणम् उद्दिश्य शुद्धान्तरक्ष्या सा कुमारी जगदे ।

हिन्दी—राजा के अन्तःपुर की रक्षिका उस सुनन्दा ने राजकुमारी उस इन्दुमती से शूरसेन देश के अधीश्वर राजा सुषेण को लक्षित करके कहा कि यह अपने सदाचरण से माता–पिता दोनों के कुलों को पवित्र करने वाला प्रकाशकारी दीपक है और इसकी सुन्दरकीर्ति परलोक में गायी गई है ।।४५।।

नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण ।
सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः ।। ४६ ।।

सञ्जी०—नीपान्वय इति । यज्वा विधिवदिष्टवान् । 'सुयजोर्ङ्वनिप्' इति ङ्वनिप्प्रत्ययः । एष पार्थिवो नीपो नामान्वयोऽस्येति नीपान्वयो नीपवंशजः । यं सुषेणमाश्रित्य गुणैर्ज्ञानमौनादिभिः शान्तं प्रसन्नं सिद्धाश्रममृष्याश्रममेत्य प्राप्य सत्त्वैर्गजसिंहादिभिः प्राणिभिरिव नैसर्गिकः स्वाभाविकोऽपि परस्परेण विरोध उत्ससृजे त्यक्तः ।। ४६ ।।

अन्वयः—यज्वा एषः पार्थिवः नीपान्वयः, यम् आश्रित्य गुणैः शान्तम्, सिद्धाश्रमम् एत्य सत्त्वैः इव नैसर्गिकः अपि परस्परेण विरोधः उत्ससृजे ।

हिन्दी—शास्त्रीय विधिपूर्वक यज्ञ करने वाला यह पृथ्वीपति 'नीप' नामक वंश में समुत्पन्न है । जिस सुषेण का आश्रय लेकर ज्ञान-मौन आदि अथवा सत्त्व-रज-तमोगुणों ने परस्पर स्वाभाविक वैरभाव उसी प्रकार त्याग दिया है जिस प्रकार शान्त सिद्धों के आश्रम में आकर करि—सिंह आदि हिंसक जीव पारस्परिक शाश्वतविरोध त्याग देते हैं ।। ४६ ।।

यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव सन्निविष्टा ।
हर्म्याग्रसंरूढतृणाङ्कुरेषु तेजोऽविषह्यं रिपुमन्दिरेषु ।। ४७ ।।

सञ्जी०—यस्येति । हिमांशोः कान्तिश्चन्द्रकिरणा इव नयनयोरभिरामा यस्य सुषेणस्य कान्तिः शोभात्मगेहे स्वभवने सन्निविष्टा सङ्क्रान्ता । अविषह्यं विसोढुमशक्यं तेजः प्रतापस्तु । हर्म्याग्रेषु धनिकमन्दिरप्रान्तेषु । 'हर्म्यादि धनिनाँ वासः' इत्यमरः । संरूढास्तृणाङ्कुरा येषां तेषु, शून्येष्वित्यर्थः । रिपुमन्दिरेषु शत्रुनगरेषु । 'मन्दिरं नगरे गृहे' इति विश्वः ।' सन्निविष्टम् । स्वजनाह्लादको द्विषन्तपश्चोत भावः ।। ४७ ।।

अन्वयः—हिमांशोः कान्तिः इव नयनाभिरामा यस्य कान्ति आत्मगेहे सन्निबिष्टा अविषह्यम् तेजः हर्म्याग्रसंरूढतृणाङ्कुरेषु रिपुमन्दिरेषु सन्निविष्टम् ।

हिन्दी—शीतकिरण चन्द्रमा की कान्ति के समान नेत्रों के लिए परमाह्लादकारी जिसकी शोभा अपने घर में सङ्क्रान्त हुई और असह्नीय तेज शत्रुओं के उन नगरों पर पड़ा जिनके धनिकों के घरों के अग्रभाग में उगी हुई घासों के अङ्कुर में अर्थात् जिसके प्रचण्ड तेज से शत्रुओं के नगरों के धनिकावास सूने हो गए हैं जिनसे उनमें जो घासें उग आई हैं उन्हें कोई साफ करने वाला भी नहीं बच गया है ।। ४७ ।।

यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले ।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति ।। ४८ ।।

सञ्जी०—यस्येति । यस्य सुषेणस्य वारिविहारकाले जलक्रीडासमयेऽवरोधानामन्तःपुराङ्गनानां स्तनेषु चन्दनानां मलयजानां प्रक्षालनाद्धेतोः कलिन्दो नामशैलस्तत्कन्या यमुना । 'कालिन्दो सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्यमरः ।

मथुरा नामास्य राज्ञो नगरी । तां गतापि । गङ्गाया विप्रकृष्टापीत्यर्थः । मथुरायां गङ्गाभावं सूचयति 'अपि' शब्दः । कालिन्दीतीरे मथुरा लवणासुरवधकाले शत्रुघ्नेन निर्मास्यतेति वक्ष्यति । तत्कथमधुना मथुरासंभव इति चिन्त्यम् मथुरा मथुरापुरीति शब्दभेदः । यद्वा—सान्येति । गङ्गया भागीरथ्या ऊर्मिभिः संसक्तजलेव भाति । धवलचन्दनसंसर्गात्प्रयागादन्यत्राप्यत्र गङ्गायासंगतेव भातीत्यर्थः । सितासिते हि गङ्गायमुने इति घण्टापथः ।। ४८ ।।

अन्वयः—यस्य वारिविहारकाले, अवरोधस्तनचन्दनानाम् प्रक्षालनात् कलिन्दकन्या मथुरां गता अपि गङ्गोर्मिसंसक्तजला इव भाति ।

हिन्दी—जिस सुषेण के जलक्रीड़ा करते समय अन्तःपुर की सुन्दरियों के स्तनों पर अवलिप्त चन्दनों के प्रक्षालित हो जाने (धुल जाने) के कारण कलिन्द पर्वत की पुत्री कालिन्दी–यमुना मथुरा में पहुँची होने पर भी (जहाँ पर कि गंगा नहीं हैं) गंगा के तरंगों से मिले हुए जल में वेणी के समान सुशोभित होती हैं ।। ४८ ।।

त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः ।
वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् ।।४९।।

सञ्जी०—त्रस्तेनेति तार्क्ष्याद् गरुडात्त्रस्तेन । यमुनौकः स्थानं यस्य तेन । कालियेन नाम नागेन विसृष्टं किलाभयदाननिष्क्रयत्वेन दत्तम् । 'कल' इत्यैतिह्ये । वक्षःस्थलव्यापिरुचं मणिं दधानो यः सुषेणः सकौस्तुभं कृष्णं विष्णुं ह्रेपयतीव व्रीड्यतीव । 'अर्तिह्री—' (पा० ७।३।३६) इत्यादि पुगागमः कौस्तुभमंणेरप्युत्कृष्टोऽस्य मणिरिति भावः ।। ४९ ।।

अन्वयः—तार्क्ष्यात् त्रस्तेन यमुनौकसा कालियेन विसृष्टम्, किल वक्षःस्थलव्यापिरुचम् मणिम् दधानः यः सकौस्तुभं कृष्णं ह्रेपयतीव ।

हिन्दी—गरुड से संत्रस्त हुए यमुनाजल में निवास करनेवाले कालियनाग के द्वारा (इस राजा के द्वारा दिए गए अभयदान के बदले में) प्रदत्त, जैसा कि इतिहास में प्रसिद्ध है । वक्षःस्थल पर व्याप्त कान्ति वाले मणि को धारण करने वाला जो सुषेण राजा कौस्तुभमणिधारी श्रीकृष्ण को भी मानो लज्जित-सा कर देता है । अर्थात् कौस्तुभ मणि से भी अधिक कान्तिमय मणि इसके पास है ।

संभाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये ।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि ! यौवनश्रीः ॥ ५० ॥

सञ्जी०—संभाव्येति । युवानममुं सुषेणं भर्तारं संभाव्य मत्वा । पतित्वेनाङ्गीकृत्येत्यर्थः । मृदुप्रवालोत्तरोपरिप्रस्तारितकोमलपल्लवा पुष्पशय्या यस्मिंस्तत्तस्मिंश्चैत्ररथात्कुवेरोद्यानादने वृन्दावदूने वृन्दावननामक उद्याने हे सुन्दरि ! यौवनश्रीर्यौवनफलं निर्विश्यतां भुज्यताम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—युवानम् अमुम् भर्तारम् संभाव्य मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये चैत्ररथादनूने वृन्दावने हे सुन्दरि यौवनश्रीः निर्विश्यताम् ।

हिन्दी—तरुणवयस्क इस सुषेण को अपना भतार—पति मानकर कोमल किसलयरूपी चादर से समाच्छादित पुष्पमय शय्यावाले वृन्दावन में जो कुबेर के उद्यान चैत्ररथ से किसी भी प्रकार से कम नहीं है, हे सुन्दरि ! यौवन की शोभा (फलस्वरूप सुख) का उपभोग करो ॥ ५० ॥

अध्यास्य चाम्भःपृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि ।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥ ५१ ॥

सञ्जी०—अध्यास्येति । किंच, प्रावृषि वर्षासु कान्तासु गोवर्धनस्याद्रेः कन्दरासु दरीषु । 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः । अम्भसः पृषतैर्बिन्दुभिरुक्षितानि सिक्तानि । शिलायां भवं शैलेयम् । 'शिलाजतु च शैलेयम्' इति यादवः । यद्वा शिलापुष्पाख्य ओषधिविशेषः । कालानुसार्यवृद्धाश्मपुष्पशीतशिवानि तु । शैलेयम्' इत्यमरः । 'शिलाया ढः' (पा. ५।३।१०२) इत्यत्र शिलाया इति योगविभागादिवार्थे ढप्रत्ययः । तद्गन्धवन्ति शैलेयगन्धीनि शिलातलान्यध्यास्याधिष्ठाय कलापिनां बर्हिणां नृत्यं पश्य ॥५१॥

अन्वयः—प्रावृषि कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु अम्भः पृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि अध्यास्य कलापिनां नृत्यम् पश्य ।

हिन्दी—और वर्षाऋतु में सुन्दर गोवर्धनगिरि की कन्दराओं में जलबिन्दुओं से अभिसिञ्चित शिलाजीत की सुगन्धिबाली शिला के तल पर बैठकर मयूरों का मनोरम नृत्य देखो ॥५१॥

नृपं तमावर्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री ।
महीधरं मार्गवशादुपेतं स्रोतोवहा सागरगामिनीव ॥ ५२ ॥

सञ्जी०—नृपमिति । 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः । आवर्तमनोज्ञा नाभिर्यस्याः सा । इदं च नदीसाम्यार्थमुक्तम् । अन्यवधूरन्यपत्नी भवित्री भाविनी सा कुमारी महीधरं तं नृपम् । सागरगामिनी सागरं ग्रन्त्री स्रोतोवहा नदी मार्गवशादुपेतं प्राप्तं महीधरं पर्वतमिव । व्यत्यगादतीत्य गता ॥५२॥

अन्वयः—आवर्तमनोज्ञनाभिः अन्यवधूः भवित्री सा तं नृपं सागरगामिनी स्रोतोवहा मार्गवशात् उपेतं महीधरमिव व्यत्यगात् ।

हिन्दी—जिस प्रकार जल की भ्रमी रूपी सुन्दर नाभिवाली धाराओं से प्रवाहित होने वाली समुद्र की ओर जाने वाली नदी (बीच में पड़ने वाले) मार्ग के कारण मिले हुए पर्वत को लांघकर (छोड़कर) आगे बढ़ जाती है उसी प्रकार जल के आवर्त के समान सुन्दर नाभि वाली दूसरे की पत्नी होने-वाली वह इन्दुमती उस भूपालन करने वाले राजा को (मध्य में से होकर जानेवाले) मार्गके कारण मिले हुए पर्वत के समान अतिक्रमण करके चली गई ॥ ५२ ॥

अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम् ।
आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं बालामबालेन्दुमुखीं बभाषे ॥५३॥

सञ्जी०—अथेति । अथ भुजिष्या किंकरी सुनन्दा । 'भुजिष्या किंकरी मता' इति हलायुधः । अङ्गदाश्लिष्टभुजं केयूरनद्धबाहुं सादितशत्रुपक्षं विनाशितशत्रुवर्गं हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथमासेदुषीमासन्नामबालेन्दुमुखीं पूर्णेन्दुमुखीं बालामिन्दुमतीं बभाषे ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अथ भुजिष्या अंगदाश्लिष्टभुजम् सादितशत्रुपक्षम्, हेमांगदं नाम कलिङ्गनाथम् आसेदुषीम् अबालेन्दुमुखीम् बालाम् बभाषे ।

हिन्दी—इसके अनन्तर दासी सुनन्दा ने केयूरकलित भुजावाले, शत्रुपक्ष का विनाश कर देनेवाले 'हेमांगद' नामक कलिंग देश के राजा के समीप पहुँची हुई चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाली सुन्दरी इन्दुमती से कहा ॥५३॥

असौ महेन्द्रादिसमानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च ।
यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छलेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्रः ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—असाविति । महेन्द्राद्रेः समानसारस्तुल्यसत्त्वोऽसौ हेमाङ्गदो महेन्द्रस्य नाम कुलपर्वतस्य महोदधेश्च पतिः स्वामी । महेन्द्रमहोदधी एवास्य

गिरिजलदुर्ग इति भावः। यस्य यात्रासु क्षरतां मदस्राविणां सैन्यगजानां छलेन महेन्द्रो महेन्द्राद्रिः पुरोऽग्रे यातीव। अद्रिकल्पा अस्य गजा इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—महेन्द्राद्रिसमानसारः असौ महेन्द्रस्य महोदधेश्च पतिः, यस्य यात्रासु क्षरत्सैन्यगजच्छलेन महेन्द्रः पुरः याति इव।

हिन्दी—महेन्द्र नामक कुलपर्वत के समान सारवान् (बलशाली) यह हैमाङ्गद नामका राजा महेन्द्रकुलाचल और महासागर का स्वामी है, जिसकी यात्राओं में मद-क्षरण करनेवाले सेना में समवेत हाथियों के छल से—(युद्ध-मर्यादा के चलन से) ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इसके आगे-आगे महेन्द्र-कुलाचल ही चल रहा है। तात्पर्य यह है कि इसके सैन्यगज पर्वताकार हैं ॥ ५४ ॥

ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्यां बिभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः।
रिपुश्रियां साञ्जनबाष्पसेके बन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे ॥ ५५ ॥

सञ्जी०—ज्याघातेति। सुभुजश्चापभृतां पुरोगो धनुर्धराग्रेसरो यः बन्दीकृतानां प्रगृहीतानाम्। 'प्रग्रहोपग्रहौ बन्द्याम्' इत्यमरः। रिपुश्रियां साञ्जनो बाष्पसेको ययोस्ते। कज्जलमिश्राश्रुसिक्ते इत्यर्थः। पद्धति इव। द्वे ज्याघातानां मौर्वीकिणानां रेखे राजी भुजाभ्यां बिभर्ति। द्विवचनात्सव्यसाचित्वं गम्यते। रिपुश्रियां भुजाभ्यामेवाहरणात्तद्गतरेखयोस्तत्पद्धतित्वेनोत्प्रेक्षा। तयोः श्यामत्वात्साञ्जनाश्रुसेकोक्तिः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—सुभुजः चापभृताम् पुरोगः यः वन्दीकृतानाम् रिपुश्रियाम् साञ्जनवाष्पसेके पद्धती इव द्वे ज्याघातरेखे भुजाभ्याम् बिभर्ति।

हिन्दी—सुन्दर भुजाधारी, धनुषधारण करनेवालों में अग्रगामी जो हेमाङ्गद वन्दी बनायी गयी शत्रुओं की राजलक्ष्मी के काजलयुक्त अश्रुओ से सिञ्चित पद्धतियों (पगडंडियों) जैसी धनुष की डोरी के खींचने से बने घात (घट्ठे) की दो रेखायें दोनों भुजाओं से धारण करता है ॥ ५५ ॥

यमात्मनः सद्मनि संनिकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः।
प्रासादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—यमिति। आत्मनः सद्मनि सुप्तं यं हेमाङ्गदं संनिकृष्टः समीपस्थोऽत एव प्रासादवातायनैर्दृश्यवीचिर्मन्द्रेण गम्भीरेण। 'मन्द्रस्तु गम्भीरे'

इत्यमरः। ध्वनिना त्याजितं विवर्जितं यामस्य तूर्यं प्रहरावसानसूचकं वाद्यं येन स तथोक्तः 'द्वौ यामप्रहरौ समौ' इत्यमरः। अर्णव एव प्रबोधयति, अर्णवस्यैव तूर्यकार्यकारित्वात्तद्वैयर्थ्यमित्यर्थः। समुद्रस्यापि सेव्यः किमन्येषामिति भावः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—आत्मनः सद्मनि सुप्तम् यम् सन्निकृष्टः प्रासादवातायनदृश्यवीचिः मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः अर्णवः एव प्रबोधयति।

हिन्दी—अपने घर में सोये हुए जिस राजा हेमाङ्गद को समीपवर्ती वह सागर ही जगाता है, जिसकी तरङ्गें राजमहल की खिड़कियों से देखने योग्य हैं और जिसने अपनी गम्भीर ध्वनि से प्रहर की समाप्ति की सूचना देनेवाले बाजे को बन्द कर दिया है। तात्पर्य यह कि सागर भी इसकी सेवा में निरत है तो और लोगों की बात ही क्या ? ॥ ५६ ॥

अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—अनेनेति। अनेन राज्ञा सार्धं तालीवनैर्मर्मरेषु मर्मरेति ध्वनत्सु। 'अथ मर्मरः, स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्' इत्यमरवचनाद् गुणपरस्यापि 'मर्मर' शब्दस्य गुणिपरत्वं प्रयोगादवसेयम्। अम्बुराशेः समुद्रस्य तीरेषु द्वीपान्तरेभ्य आनीतानि लवङ्गपुष्पाणि देवकुसुमानि यैस्तैः। 'लवङ्गं देवकुसुमम्' इत्यमरः। मरुद्भिर्वातैरपाकृताः प्रशमिताः स्वेदस्य लवा बिन्दवो यस्याः सा तथाभूता सती त्वं विहर क्रीड ॥ ५७ ॥

अन्वयः—अनेन सार्धम् तालीवनमर्मरेषु अम्बुराशेः तीरेषु द्वीपान्तरातीतलवंगपुष्पैः मरुद्भिः अपाकृतस्वेदलवा (सती त्वं) विहर।

हिन्दी—इस राजा हेमांगद के साथ (विवाहकर) ताड़ वृक्षों के बनों की मर्मरध्वनि करते हुए जलराशि समुद्र के तटों पर अन्य द्वीपों से लवंग लताओं के पुष्पों को वहाँ ले जानें वाली वायु के द्वारा पसीने को बूँदों को पोंछवाती हुई तुम विहार करो ॥ ५७ ॥

प्रलोभिताप्याकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजा तयैवम्।
तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात् ॥ ५८ ॥

सञ्जी०—प्रलोभितेति । आकृत्या रूपेण लोभनीयाऽऽकर्षणीया । न तु वर्णनमात्रेणेत्यर्थः । विदर्भराजावरजा भोजानुजेन्दुमती तया सुनन्दयैवं प्रलोभितापि प्रचोदितापि । नीत्या पुरुषकारेण दूरकृष्टा दूरमानीता लक्ष्मीः प्रतिकूलं दैवं यस्य तस्मात् पुंस इव । तस्माद्धेमाङ्गदादपावर्तत प्रतिनिवृत्ता ।।५८।।

अन्वयः—आकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजा तया एवं प्रलोभिता अपि नीत्या दूरकृष्टा लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात् (पुंसः) इव तस्मात् अपावर्तत ।

हिन्दी—जिस प्रकार पुरुषार्थ द्वारा बहुत दूर तक खींचकर लायी गई लक्ष्मी (सम्पत्ति) प्रतिकूल भाग्यवाले (भाग्यविहीन) पुरुष के पास जाकर भी उसे छोड़कर चली जाती है; उसी प्रकार आकृति से ही लुभा लेने वाली विदर्भराज भोज की अनुजा इन्दुमती उस दासी सुनन्दा के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से प्रेरित की जाने पर भी नीतिपूर्वक दूर तक खींच लायी गई, किन्तु हेमांगद के भाग्य विपरीत होने के कारण उसे छोड़कर आगे चली गई ।।५८।।

अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं दौवारिकी देवसरूपमेत्य ।
इतश्चकोराक्षि ! विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम् ।।५९।।

सञ्जी०—अथेति । अथ द्वारे नियुक्ता दौवारिकी सुनन्दा । 'तत्र नियुक्तः' (पा. ४।४।६९) इति ठक्प्रत्ययः । 'द्वारादीनां च' (पा. ७।३।४) इत्यौ आगमः । आकारेण देवसरूपं देवतुल्यम् । उरगाख्यस्य पुरस्य पाण्ड्यदेशे कान्यकुब्जतीरवर्तिनागपुरस्य नाथमेत्य प्राप्य । हे चकोराक्षि ! इतो विलोकयेति पूर्वानुशिष्टाँ पूर्वमुक्तां भोजस्य राज्ञो गोत्रापत्यं स्त्रियं भोज्यामिन्दुमतीम् । 'क्रौड्यादिभ्यश्च' इत्यत्र 'भोजात्क्षत्रियात्' इत्युपसंख्यानात्ष्यङ्प्रत्ययः । 'यङश्चाप्' इति चाप् निजगाद । 'इतो विलोकय' इति पूर्वमुक्त्वा पश्चाद्वक्तव्यं निजगादेत्यर्थः ।।५९।।

अन्वयः—अथ दौवारिकी देवसरूपम् उरगाख्यस्य पुरस्य नाथं एत्य हे चकोराक्षि इतः विलोकय इति पूर्वानुशिष्ठाम् भोज्याम् निजगाद ।

हिन्दी—इसके अनन्तर द्वार पर नियुक्त सुनन्दाने देवता के समान सुन्दर रूपवान् उरगनामक नगर (नागपुर) के स्वामी के समीप आकर "हे चकोर के नयनों के समान नयनों वाली !" उस ओर देखो ऐसा पूर्वोक्त भोजवंश की कुमारी इन्दुमती से कहा । "इधर देखो" यह पहले कहकर पुनः जो वक्तव्य था उसे कहने लगी ।। ५९ ।।

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ।। ६० ।।

सञ्जी०—पाण्ड्य इति । अंसयोरर्पिता लम्बन्त इति लम्बा हारा यस्य सः । हरिचन्दनेन गोशीर्षाख्येन चन्दनेन । 'तैलपर्णिकगोशीर्षे हरिचन्दनमस्त्रियाम्' इत्यमरः । क्लृप्ताङ्गरागः सिद्धानुलेपनोऽयं पाण्डूनां जनपदानां राजा पाण्ड्यः । 'पाण्डोर्जनपदशब्दात्क्षत्रियाड्ड्यण्वक्तव्यः' इति ड्यण्प्रत्ययः । 'तस्य राजन्यपत्यवत्' इति वचनात् । बालातपेन रक्ता अरुणाः सानवो यस्य स सनिर्झरोद्गारः प्रवाहस्यन्दनसहितः । 'वारिप्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । अद्रिराज इवाभातिः ।। ६० ।।

अन्वयः—अंसार्पितलम्बहारः हरिचन्दनेन 'क्लृप्ताङ्गरागः अयं पाण्ड्यः बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गारः अद्रिराजः इव आभाति ।

हिन्दी—अपने कन्धों पर लम्बी लटकती मणिमाला धारण करने वाला, हरिचन्दन से चर्चित अंग लेपन करने वाला, यह पाण्डु देश का राजा उसी प्रकार सुशोभित होता है, जिस प्रकार प्रातःकालीन सूर्य की अरुण किरणों से रंगी लाल चोटी वाला झरनों के प्रवाह से पूर्ण पर्वतराज हिमालय सुशोभित होता है ।। ६० ।।

विन्ध्यस्य संस्तम्भयिता महाद्रेर्निःशेषपीतोज्झितसिन्धुराजः ।
प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः ।।६१।।

सञ्जी०—विन्ध्यस्येति । विन्ध्यस्य नाम्नो महाद्रेः तपनमार्गनिरोधाय वर्धमानस्येति शेषः । संस्तम्भयिता । निवारयिता । निःशेषं पीत उज्झितः पुनस्त्यक्तः सिन्धुराजः समुद्रो येन सोऽगस्त्योऽश्वमेधस्यावभृथे दीक्षान्ते कर्मणि । 'दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञे' इत्यमरः । आर्द्रमूर्तेः । स्नातस्येत्यर्थः । यस्य पाण्ड्यस्य प्रीत्या स्नेहेन । न तु दाक्षिण्येन सुस्नातं पृच्छतीति सौस्नातिकः भवति । 'पृच्छती सुस्नातादिभ्यः' इत्युपसंख्यानाट्ठक् ।। ६१ ।।

अन्वयः—विन्ध्यस्य महाद्रेः संस्तम्भयिता निःशेषपीतोज्झितसिन्धुराजः अगस्त्यः अश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः यस्य प्रीत्या सौस्नातिकः भवति ।

हिन्दी—विन्ध्य नामक महापर्वत को (जो ऊपर उठकर सूर्य का मार्ग रोकना चाहता था) स्तम्भित करने वाले (बढ़ने से रोक देने वाले) समस्त

सागर को आचमन कर पुनः छोड़ देने वाले अगस्त्यमुनि अश्वमेध यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान से आर्द्र (गीले) शरीर वाले जिस पाण्ड्य नरेश से प्रेम से "आपने सुन्दर स्नान किया" यह पूछते हैं, अथवा इस प्रकार पूछने वाले होते हैं ।। ६१ ।।

अस्त्रं हरादाप्तवता दुरापं येनेन्द्रलोकावजयाय दृप्तः ।
पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की संधाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे ।।६२।।

सञ्जी०—अस्त्रमिति । पुरा पूर्वं जनस्थानस्य खरालयस्य विमर्दशङ्की दृप्त उद्धतो लङ्काधिपति रावणो दुरापं दुर्लभमस्त्रं ब्रह्मशिरोनामकं हरादाप्तवता येन पाण्ड्येन संधाय इन्द्रलोकावजयायेन्द्रलोकं जेतुं प्रतस्थे । इन्द्रविजयिजनो रावणस्यापि विजेतेत्यर्थः ।। ६२ ।।

अन्वयः—पुरा जनस्थानविमर्दशंकी दृप्तः लंकाधिपतिः दुरापम् अस्त्रं हरात् आप्तवता येन संधाय, इन्द्रलोकावजयाय प्रतस्थे ।

हिन्दी—पुराने समय में खरालय जनस्थान के विनाश की आशंका करने वाले लंका के अधीश्वर समुद्धत रावण ने दुर्लभ अस्त्र (ब्रह्मशिरोनामक) शिव से प्राप्त करने वाले जिस पाण्ड्यनरेश से सन्धि करके इन्द्रलोक को जीतने के लिए प्रस्थान किया था ।। ६२ ।।

अनेन पाणौ विधिवद् गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ।। ६३ ।।

सञ्जी०—अनेनेति । महाकुलीनेन महाकुले जातेन । 'महाकुलादञ्खञौ' इति खञ्प्रत्ययः अनेन पाण्ड्येन पाणौ त्वदीये विधिवद्यथाशास्त्रं गृहीते सति गुर्वी गुरुः । 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीष् । महीव रत्नैरनुविद्धो व्याप्तोऽर्णव एव मेखला यस्यास्तस्याः । इदं विशेषणं मह्यामिन्दुमत्यां च योज्यम् । दक्षिणस्यां दिशः सपत्नी भव । अनेन सपत्न्यन्तराभावो ध्वन्यते ।। ६३ ।।

अन्वयः—महाकुलीनेन अनेन पाणौ विधिवत् गृहीते सति गुर्वी मही इव रत्नानुविद्धार्णवमेखलायाः दक्षिणस्याः दिशः सपत्नी भव ।

हिन्दी—इस उत्तम कुल में उत्पन्न सज्जन पांड्यनरेश के साथ पाणिग्रहण (विवाह) करने पर महती धरती की भांति रत्नों से परिपूरित सागर की करधनी (मेखला वाली दक्षिण दिशा की सपत्नी (सौत) बन जाओ ।। ६३ ।।

ताम्बूलवल्ली-परिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥ ६४ ॥

सञ्जी०—ताम्बूलेति । ताम्बूलवल्लीभिर्नागवल्लीभिः परिणद्धाः परिरब्धाः पूगाः क्रमुका यासु तासु 'ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागवल्ल्यपि' इति, 'घोण्टा तु पूगः क्रमुकः' इति चामरः, एलालताभिरालिङ्गिताश्चन्दना मलयजा यासु तासु । 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तमालस्य तापिच्छस्य पत्राण्येवास्तरणानि यासु तासु । 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । मलयस्थलीषु शश्वन्मुहुः सदा वा रन्तुं प्रसीदानुकूला भव ॥ ६४ ॥

अन्वयः—ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगासु एलालतालिङ्गितचन्दनासु तमालपत्रास्तरणासु मलयस्थलीषु शश्वत् रंतुं प्रसीद ।

हिन्दी—पान की लताओं से घिरी हुई सुपारीवाली, इलायची की लताओं से चुम्बित चन्दनों वाली, और तमाल के पत्तों की चादरवाली मलय पर्वत की सुन्दर स्थली में सदैव रमण करने के लिए प्रसन्न हो जाओ ॥६४॥

इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः ।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥ ६५ ॥

सञ्जी०—इन्दीवरेति । असौ नृप इन्दीवरश्यामतनुः, त्वं रोचना गोरोचनेव गौरी शरीरयष्टिर्यस्याः सा । ततस्तडित्तोयदयोर्विद्युन्मेघयोरिव वां युवयोर्योगः समागमोऽन्योन्यशोभायाः परिवृद्धयेऽस्तु ॥ ६५ ॥

अन्वयः—असौ नृप इन्दीवरश्यामतनुः, त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः, तडित्तोयदयोः इव वां योगः अन्योन्यशोभापरिवृद्धये अस्तु ।

हिन्दी—यह पाण्ड्यनरेश नीलकमल के समान श्यामल सुन्दर शरीरवाला है और तुम गोरोचना के समान गोरी शरीररूपी लतावाली हो, (कनक छड़ी सी कामिनी हो) अत एव बिजली और बादल के समान तुम दोनों का (वैवाहिक) सम्बन्ध एक दूसरे की शोभा बढ़ाने के लिए हो अर्थात् जैसे बिजली से बादल की और बादल से बिजली की शोभा बढ़ती है उसी प्रकार तुमसे इनकी और इनसे तुम्हारी शोभा बढ़ेगी ॥ ६५ ॥

स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः ।
दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे ।। ६६ ।।

सञ्जी०—स्वसुरिति । विदर्भाधिपतेर्भोजस्य स्वसुरिन्दुमत्याश्चेतसि तदीयः सुनन्दासंबन्ध्युपदेशो वाक्यम् । दिवाकरस्यादर्शनेन बद्धकोशे मुकुलितेऽरविन्दे नक्षत्रनाथांशुश्चन्द्रकिरण इव अन्तरमवकाशं न लेभे ।। ६६ ।।

अन्वयः—विदर्भाधिपतेः स्वसुः चेतसि तदीयः उपदेशः दिवाकरादर्शनबद्धकोशे अरविन्दे नक्षत्रनाथांशुः इव अन्तरम् न लेभे ।

हिन्दी—जिस प्रकार सूर्य की किरणों के दर्शन न मिलने से बद्ध-सम्पुटित कोश वाले कमल में नक्षत्रपति चन्द्रमा की किरण प्रवेश नहीं कर पाती है उसी प्रकार विदर्भ देश के स्वामी भोज की अनुजा इन्दुमती के चित्त में सुनन्दा की पूर्वोक्त बातें धँसी नहीं ।। ६६ ।।

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ।। ६७ ।।

सञ्जी०—संचारिणीति । पतिंवरा सेन्दुमती रात्रौ संचारिणी दीपशिखेव यं यं भूमिपालं व्यतीयायातीत्य गता स स भूमिपालः । स सर्व इत्यर्थः । 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्सायां द्विर्वचनम् । नरेन्द्रमार्गे राजपथेऽट्टाख्यो गृहभेद इव 'स्यादट्टः क्षौममस्त्रियाम्' इत्यमरः । विवर्णभावं विच्छायत्वम् । प्रपेदे ।।

अन्वयः—पतिंवरा सा रात्रौ संचारिणी दीपशिखा इव यं यं व्यतीयाय सः सः भूमिपालः नरेन्द्रमार्गाट्ट इव विवर्णभावं प्रपेदे ।

हिन्दी—पति को वरण करनेवाली वह इन्दुमती रात में संचरण करनेवाली (चलती-फिरती) दीपक की शिखा (ज्योति) के समान जिस-जिस राजा को छोड़कर आगे बढ़ती गयी वह-वह भूमिपाल राजपथ के भवन की भाँति विवर्णता (मुख-मालिन्य) को प्राप्त होता गया अर्थात् उसके-उसके मुँह की श्री हत होती गयी ।। ६७ ।।

तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत् ।
वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ।। ६८ ।।

सञ्जी०—तस्यामिति । तस्यामिन्दुमत्यामुपस्थितायामासन्नायां सत्यां रघोः सूनुरजो मां वृणीत न वेति समाकुलः संशयितोऽभूत् । अथास्याजस्य

वामेतरो वामादितरो दक्षिणो बाहुः केयूरं बध्यतेऽत्रेति केयूरबन्धोऽङ्गदस्थानम् । तस्योच्छ्वसितैः स्फुरणैः संशयं नुनोद ।। ६८ ।।

अन्वयः—तस्याम् उपस्थितायां रघोः सूनुः मां वृणीत न वा इति समाकुलः अभूत् । अस्य वामेतरः बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैः संशयं नुनोद ।

हिन्दी—उस पतिंवरा इन्दुमती के समीप में आकर उपस्थित हो जाने पर रघु का पुत्र अज "मुझे वरण करेगी कि नहीं" इस प्रकार के संशय से व्याकुल हो उठा । तब उसके (अज के) बांये से इतर अर्थात् दाहिने हाथ ने अंगद के बन्धनस्थल के स्फुरण द्वारा इस संशय को दूर किया अर्थात् जब अज की दक्षिण भुजा फड़कने लगी, तो उसका सन्देह जाता रहा और उसे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि इन्दुमती उसे ही वरण करेगी ।। ६८ ।।

तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात् कुमारी ।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ।। ६९ ।।

सञ्जी०—तमिति । कुमारी । सर्वेष्ववयवेष्वनवद्यमदोषं तमजं प्राप्य । अन्योपगमाद्राजान्तरोपगमाद् व्यावर्तत निवृत्ता, तथाहि—षट्पदाली भृङ्गावलिः । प्रफुल्लतीति प्रफुल्लं विकसितम् । पुष्पितमित्यर्थः । प्रपूर्वात्फुल्लतेः पचाद्यच् । फलतेस्तु प्रफुल्लमिति पठितव्यम् । 'अनुपसर्गात्—' (पा. ८।२।५५) इति निषेधात् । इत्युभयथापि न कदाचिदनुपपत्तिरित्युक्तं प्राक् । सहकारं चूतविशेषमेत्य । 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' इत्यमरः । वृक्षान्तरं न काङ्क्षति । न हि सर्वोत्कृष्टवस्तुलाभेऽपि वस्त्वन्तरस्याभिलाषः स्यादित्यार्थः ।। ६९ ।।

अन्वयः—कुमारी सर्वावयवानवद्यं तं प्राप्य अन्योपगमात् व्यावर्तत हि षट्पदाली प्रफुल्लं सहकारं एत्य वृक्षान्तरं न काङ्क्षति ।

हिन्दी—कुमारी इन्दुमती सर्वाङ्गसुन्दर (पूर्ण निर्दोष) उस अज को पाकर अन्य राजा के पास जाने से रुक गई, क्योंकि भ्रमरों की पंक्ति विकसित अतिसौरभ सने आम के पास पहुँच कर अन्य वृक्ष की कामना नहीं करती ।। ६९ ।।

तस्मिन् समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेक्ष्य ।
पचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा ।। ७० ।।

सञ्जी०—तस्मिन्निति । तस्मिन्नजे समावेशिता संक्रामिता चित्तवृत्तिर्यया ताम् । इन्दोः प्रभेव प्रभा यस्यास्ताम् । आह्लादकत्वादिन्दुसाम्यम् । इन्दुमतीमवेक्ष्यानुक्रमज्ञा वाक्यपौर्वापर्याभिज्ञा सुनन्देदं वक्ष्यमाणं सविस्तरं सप्रपञ्चम् । 'प्रथने वावशब्दे' इति घञो निषेधात्, 'ऋदोरप्' इत्यप्प्रत्ययः । 'विस्तारो विग्रहो व्यासः स च शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः । वाक्यं वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ७० ॥

अन्वयः—तस्मिन् समावेशितचित्तवृत्तिम् इन्दुप्रभाम् इन्दुमतीम् अवेक्ष्य अनुक्रमज्ञा सुनन्दा इदं सविस्तरं वाक्यं वक्तुं प्रचक्रमे ।

हिन्दी—उस अज में अपनी चित्तवृत्ति को आसक्त कर देनेवाली चन्द्रमा की प्रभा के समान प्रभावाली इन्दुमती को देखकर राजाओं की वंशावलियों के क्रम को जाननेवाली अथवा पूर्वा पर वाक्यों के क्रमको जानने वाली सुनन्दा ने यह विस्तार के साथ वाक्य बोलना प्रारम्भ किया ॥ ७० ॥

इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत् ।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्राः ॥७१॥

सञ्जी०—इक्ष्वाक्विति । इक्ष्वाकोर्मनुपुत्रस्य वंश्यो वंशे भवः । नृपाणां ककुदं श्रेष्ठः । 'ककुच्च ककुदं श्रेष्ठं वृषांसे राजलक्ष्मणि' इत विश्वः । आहितलक्षणः प्रख्यातगुणः । 'गुणैः प्रतीते तु कृतलक्षणाहितलक्षणौ' इत्यमरः । ककुदि वृषांसे तिष्ठतीति ककुत्स्थ इति प्रसिद्धः कश्चिद्राजाभूत् । यतः ककुत्स्थादारभ्योन्नतेच्छा महाशयाः । 'महेच्छस्तु महाशयः' इत्यमरः । उत्तरकोसलेन्द्रा राजानो दिलीपादयः श्लाघ्यं प्रशस्तम् । ककुत्स्थस्यापत्यं पुमान् काकुत्स्थ इति शब्दं संज्ञां दधति बिभ्रति । तन्नामसंस्पर्शोऽपि वंशस्य कीर्तिकर इति भावः । पुरा किल पुरंजयो नाम साक्षाद्भगवतो विष्णोरंशावतारः कश्चिदैक्ष्वाको राजा देवैः सह समयबन्धेन देवासुरयुद्धे महोक्षरूपधारिणी महेन्द्रस्य ककुदि स्थित्वा पिनाकिलीलया निखिलमसुरकुलं निहत्य ककुत्स्थसंज्ञां लेभ इति पौराणिकी कथाऽत्रानुसंधेया । वक्ष्यते चायनेवार्थ उत्तरश्लोके ॥ ७१ ॥

अन्वयः—इक्ष्वाकुवंश्यः नृपाणां ककुदम् आहितलक्षणः ककुत्स्थः इति कश्चित् अभूत् यतः उन्नतेच्छाः उत्तरकोसलेन्द्राः श्लाघ्यं काकुत्स्थशब्दं दधति ।

हिन्दी—इक्ष्वाकु (मनुपुत्र) के वंश में उत्पन्न राजाओं में श्रेष्ठ प्रख्यात गुणों से युक्त 'ककुत्स्थ' इस नाम का कोई प्रसिद्ध राजा हुआ; जिससे महाशय (महत्त्वाकांक्षी) उत्तरकोसल के इन्द्र दिलीपादि राजा प्रशस्त काकुत्स्थ शब्द को धारण करते हैं। उनके नाम का संस्पर्श भी वंश की कीर्ति करने वाला हैं।

विशेष–प्राचीन काल में पुरञ्जय नामका कोई साक्षात् भगवान विष्णु का अंशावतार इक्ष्वाकु कुल में राजा हुआ था। उसने देवताओं के साथ सन्धि करके देवासुरसंग्राम में वृषभरूप धारी महेन्द्र के कन्धे पर स्थित होकर शिवजी की लीला से समस्त असुर कुल का संहार कर ककुत्स्थ उपाधि प्राप्त की। तभी से उन्हें वृषभ के ककुद पर बैठने के कारण ककुत्स्थ कहा जाने लगा और उनके गोत्र में जो भी राजे हुए वे सब काकुत्स्थ कहलाये, ऐसी पौराणिक कथा है ॥ ७१ ॥

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥ ७२ ॥

सञ्जी०—महेन्द्रमिति। यः ककुत्स्थः संयति युद्धे। महानुक्षा महोक्षः। 'अचतुर—' (पा. ५।४।७७) इत्यादिना निपातः। तस्य रूपमिव रूपं यस्य तं महेन्द्रमास्थायारुह्य। अत एव प्राप्ता पिनाकिन ईश्वरस्य लीला येन स तथोक्तः सन् बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखा निवृत्तपत्ररचनाश्चकार। तद्भर्तॄनसुरानवधीदित्यर्थः। न हि विधवाः प्रसाध्यन्त इति भावः ॥

अन्वयः—यः संयति महोक्षरूपं महेन्द्रम् आस्थाय प्राप्तपिनाकिलीलः, सन् बाणैः असुरांगनानाम् गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः चकार।

हिन्दी—जिस राजा ककुत्स्थ ने युद्ध में वृषभरूपधारीमहेन्द्र के ऊपर बैठकर (अतएव वृषभारूढ़ भगवान) शंकर की लीला प्राप्त करते हुए बाणों से दैत्यों की स्त्रियों के कपोलस्यलों को पत्ररचनाविहीन कर दिया ॥ ७२ ॥

ऐरावतास्फालनविश्लथं यः संघट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन।
उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ ॥ ७३ ॥

सञ्जी०—ऐरावतेति। यः ककुत्स्थ ऐरावतस्य स्वर्गजस्यास्फालनेन ताडनेन विश्लथं शिथिलमङ्गदमैन्द्रमङ्गदेन स्वकीयेन संघट्टयन् संघर्षयन्

स्वामग्रयां श्रेष्ठां मूर्तिमुपेयुषोऽपि प्राप्तस्यापि गोत्रभिद इन्द्रस्यार्धमासनस्यार्धासनम्। 'अर्धं नपुंसकम्' (पा. २।२।२) इति समासः। अधितष्ठावधिष्ठितवान्। 'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य (पा. ८।३।६४) इत्यभ्यासेन व्यवायेऽपि षत्वम्। न केवलं महोक्षरूपधारिण एव तस्य ककुदमारुरुक्षत्। किन्तु निजरूपधारिणोऽपीन्द्रस्यार्धासनमित्यपिशब्दार्थः। अथवा—अर्धासनमपीत्यपेरन्वयः॥ ७३॥

अन्वयः—यः ऐरावतस्फालनविश्लथम् अंगदम् अंगदेन संघट्टयन् स्वाम् अग्र्यां मूर्तिम् उपेयुषः अपि गोत्रभिदः अर्धासनम् अधितष्ठौ।

हिन्दी—जो (महाराज ककुत्स्थ) ऐरावत हाथी के ताड़ने से ढीले-इन्द्रकेयूर को अपने केयूर से संघर्षण करते हुए (रगड़ते हुए) अपनी उत्तम मूर्ति को प्राप्त हुए भी पृथ्वी को धारण करने वाले पर्वतों के भेदन करने वाले इन्द्र के आधे सिंहासन पर विराजमान हुआ। वह महाराज ककुत्स्थ न केवल महावृषभरूपधारी इन्द्रके ककुद पर बैठा बल्कि अपने वास्तविक स्वरूपधारी इन्द्र के भी सिंहासन के अर्धभाग में बैठकर सुशोभित हुआ॥७३॥

जातः कुले तस्य किलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः।
अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः॥ ७४॥

सञ्जी०—जात इति। उरुकीर्तिर्महायशाः कुलप्रदीपो वंशप्रदीपको दिलीपो नृपतिस्तस्य ककुत्स्थस्य कुले जातः किल। यो दिलीपः शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये। न त्वशक्त्येति भावः। एकेनोनाः शतं क्रतवो यस्य स एकोनशतक्रतुस्तस्य भावे तत्त्वेऽतिष्ठत्। इन्द्रप्रीतये शततमं क्रतुमवशेषितवानित्यर्थः॥

अन्वयः—उरुकीर्तिः कुलप्रदीपः दिलीपः नृपतिः तस्य कुले जातः यः शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये एकोनशतक्रतुत्वे अतिष्ठत्।

हिन्दी—महान् यशस्वी, वंश को दीपक के समान उजागर (प्रकाशित) करने वाले दिलीप नामक राजा उस ककुत्स्थ के कुल में उत्पन्न हुए जो सौ यज्ञ करने वाले इन्द्र की असूया के निवारणार्थ ही एक कम सौ यज्ञ करके रुक गए॥ ७४॥

विशेष—पूर्णतः सौ यज्ञ करने से दिलीप भी शतक्रतु हो जाते तब इन्द्र को ईर्ष्या होती। अतः इन्द्र को ईर्ष्या न हो इसलिए दिलीप ने एक कम सौ (९९) यज्ञ किए। सौ यज्ञ पूर्ण करने की उनमें शक्ति नहीं थी ऐसी बात नहीं।

यस्मिन् महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्त्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥ ७५ ॥

सञ्जी०—यस्मिन्निति । यस्मिन् दिलीपे महीं शासति सति । विहरत्यत्रेति विहारः क्रीडास्थानम् । तस्यार्धपथे निद्रां गतानां वाणिनीनां मत्ताङ्गनानाम् । 'वाणिनी नर्तकीमत्ताविदग्धवनितासु च' इति विश्वः । 'वाणिन्यौ नर्तकीमत्ते' इत्यमरश्च । अंशुकानि वस्त्राणि वातोऽपि नास्त्रंसयन्नाकम्पयत् । आहरणायापहर्तुं को हस्तं लम्बयेत् ? यस्याज्ञासिद्धत्वादकुतोभयसंचाराः प्रजा इत्यर्थः । अर्धश्चासौ पन्थाश्चेति विग्रहः । समप्रविभागे प्रमाणाभावान्नैकदेशिसमासः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—यस्मिन् महीं शासति सति विहारार्धपथे निद्रां गतानां वाणिनीनाम्, अंशुकानि वातः अपि न अस्त्रंसयत् आहरणाय कः हस्तं लम्बयेत् ।

हिन्दी—जिस (परम प्रतापी) राजा दिलीप के पृथ्वी पर प्रशासन करते हुए क्रीडास्थल के आधे मार्ग में निद्रा को प्राप्त हुई अर्थात् सोयी हुई नर्तकियों या प्रमत्तस्त्रियों के वस्त्रों को हवा भी नहीं हिला सकती थी तो अपहरण (दुर्नीतिपूर्वक हटाने) के लिए कौन हाथ बढ़ाता अर्थात् कोई भी नहीं हाथ बढ़ा सकता था ॥ ७५ ॥

पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता ।
चतुर्दिगावर्जितसंभृतां या मृत्पात्रशेषामकरोद् विभूतिम् ॥ ७६ ॥

सञ्जी०—पुत्र इति । विश्वजितो नाम महाक्रतोः प्रयोक्ताऽनुष्ठाता तस्य दिलीपस्य पुत्रो रघुः पदं पैत्र्यमेव । प्रशास्ति पालयति । यो रघुश्चतसृभ्यो दिग्भ्य आवर्जिताहृता संभृता सम्यग्वर्धिता च या तां चतुर्दिगावर्जितसंभृतां विभूतिं संपदं मृत्पात्रमेव शेषो यस्यास्तामकरोत् । विश्वजिद्यागस्य सर्वस्वदक्षिणाकत्वादित्यर्थः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—विश्वजितः महाक्रतोः प्रयोक्ता, तस्य पुत्रः रघुः पदं प्रशास्ति, यः चतुर्दिगावर्जितसंभृताम् विभूतिं मृत्पात्रशेषाम् अकरोत् ।

हिन्दी—विश्वजित् नामक महायज्ञ के अनुष्ठानकर्ता उस दिलीप के सुपुत्र रघु पैतृक राज्यपद का प्रशासन करते हैं । जिन्होंने पूर्व–दक्षिण–पश्चिम और उत्तर चारों दिशाओं से उपार्जित एवं संवर्धित सम्पदा को मृत्तिका के

पात्र तक ही बचा रहने दिया। विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व दक्षिणा देने के कारण उनके पास केवल मिट्टी के पात्र ही बचे रहे। ऐसे परमोदार दानी महाराज रघु इस समय अपने पिता का शासन चला रहे हैं ॥ ७६ ॥

आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम्।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम् ॥ ७७ ॥

सञ्जी०—आरूढमिति। किंच, अद्रीनारूढम्। उदधीन्वितीर्णमवगाढम्। सकलभूगोलव्यापकमित्यर्थः। भुजंगमानां वसतिं पातालं प्रविष्टम्। ऊर्ध्वं स्वर्गादिकं गतं व्याप्तम्। इत्थं सर्वदिग्व्यापीत्यर्थः। अनुबध्नातीत्यनुबन्धि चाविच्छेदि। कालत्रयव्यापकं चेत्यर्थः, अत एवैवंभूतं यस्य यश इयत्तया देशतः कालतो वा केनचिन्मानेन परिच्छेत्तुं परिमातुं नालं न शक्यम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—अद्रीन् आरूढम् उदधीन् वितीर्णम् भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम् ऊर्ध्वं गतम् अनुबन्धि च (अतः एवं भूतम्) यस्य यशः इयत्तया परिच्छेत्तुं न अलम्।

हिन्दी—जिस महाराज रघु का यश पर्वतों पर समारूढ है, समुद्रतक विस्तीर्ण है और सर्पों के निवासस्थान पाताल में प्रविष्ट हुआ है तथा ऊपर स्वर्गादिलोकों तक पहुँचा हुआ होने के कारण सर्वत्र व्यापक है अतएव तीनों लोकों, तीनों कालों में व्याप्त होने से यहाँ तक है इस प्रकार इयत्तया परिसीमित करने योग्य नहीं है। उनका यश असीम है ॥ ७७ ॥

असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः।
गुर्वीं धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं बिभर्ति ॥ ७८ ॥

सञ्जी०—असाविति। असावजाख्यः कुमारः। त्रिविष्टपस्य स्वर्गस्य पतिमिन्द्रं जयन्त इव। 'जयन्तः पाकशासनिः' इत्यमरः। तं रघुमनुजातः। तस्माज्जात इत्यर्थः। तज्जातोऽपि तदनुजातो भवति, जन्यजनकयोरानन्तर्यात्। 'गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च' (पा. ३।४।७२) इति क्तः। सोपसृष्टत्वात्सकर्मकत्वम्। आह चात्रैव सूत्रे वृत्तिकारः—'श्लिषादयः सोपसृष्टाः सकर्मका भवन्ति' इति। दम्यः शिक्षणीयावस्थः। योऽजो गुर्वीं भुवनस्य धुरं धुर्येण धुरंधरेण चिरनिरूढेन पित्रा सदृशं तुल्यं यथा तथा

बिभर्ति । यथा कश्चिद्वत्सतरोऽपि धुर्येण महोक्षेण समं वहतीत्युपमालंकारो ध्वन्यते । 'दम्यवत्सतरौ समौ' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—असौ कुमारः त्रिविष्टपस्य पतिं जयन्त इव तम् अनुजातः, दम्यः सः गुर्वीम् भुवनस्य धुरं धुर्येण पित्रा सदृशं बिभर्ति ।

हिन्दी—जिस प्रकार स्वर्ग के स्वामी इन्द्र को जयन्त हुआ उसी प्रकार यह कुमार अज (इस भूलोक के स्वामी) रघु को उत्पन्न हुआ । जो इस प्रशिक्षण प्राप्त करने योग्य अवस्थावाला होते हुए भी संसार के गुरुतर भार को अपने पिता के समान उसी प्रकार वहन कर रहा है जिस प्रकार अल्पः वयस्क बछड़ा बड़े प्रौढ़ बलीवर्द (बड़े बैल) के साथ गाड़ी के धुरे को वहन करता है ॥ ७८ ॥

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥ ७९ ॥

सञ्जी०—कुलेनेति । कुलेन कान्त्या लावण्येन नवेन वयसा यौवनेन विनयः प्रधानं येषां तैस्तैर्गुणैः श्रुतशीलादिभिश्चात्मनस्तुल्यं स्वानुरूपममुमजं त्वं वृणीष्व । किं बहुना, रत्नं काञ्चनेन समागच्छतु संगच्छताम् । प्रार्थनायां लोट् । रत्नकाञ्चनयोरिवात्यन्तानुरूपत्वाद् युवयोः समागमः प्रार्थ्यत इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—कुलेन कान्त्या नवेन वयसा विनयप्रधानैः तैः तैः गुणैः आत्मनः तुल्यम् अमुम् त्वं वृणीष्व, रत्नं काञ्चनेन समागच्छतु ।

हिन्दी—कुल से, कान्ति से, नवीन अवस्था से और विनय आदि प्रमुख तत्तद् गुणों से अपने समान इस अज को तुम वर रूप में वरण करो । मणि-काञ्चन के समान तुम दोनों का अनुरूप समागम हो यही प्रभु से प्रार्थना है ॥ ७९ ॥

ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या ।
दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव ॥ ८० ॥

सञ्जी०—तत इति । ततः सुनन्दावचनस्यावसानेऽन्ते नरेन्द्रकन्येन्दुमती लज्जां तनूकृत्य संकोच्य प्रसादेन मनःप्रसादेनामलया प्रसन्नया दृष्ट्या

संवरणस्य स्रजा स्वयंवरणार्थं स्रजेव कुमारमजं प्रत्यग्रहीत् स्वीचकार। सम्यक्सानुरागमपश्यदित्यर्थः ॥ ८० ॥

अन्वयः—ततः सुनन्दावचनावसाने नरेन्द्रकन्या लज्जां तनूकृत्य प्रसादामलया दृष्ट्या संवरणस्रजा इव कुमारं प्रत्यग्रहीत्।

हिन्दी—इसके अनन्तर सुनन्दा के वचन के अन्त हो जाने पर (सुनन्दा के चुप हो जाने पर) राजकुमारी इन्दुमती ने लज्जा को कुछ संकुचित कर प्रसन्नता से निर्मल आँखों से मानो स्वयंवर की माला के समान कुमार अज को वर रूप में स्वीकार कर लिया ॥ ८० ॥

सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम्।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्याः ॥ ८१ ॥

सञ्जी०—सेति। सा कुमारी यूनि तस्मिन्नजेऽभिलाषबन्धमनुरागग्रन्थि शालीनतयाऽधृष्टतया। 'स्यादधृष्टे तु शालीनः' इत्यमरः। 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' (पा. ५।२।२०) इति निपातः। वक्तुं न शशाक। तथाप्यरालकेश्याः सोऽभिलाषबन्धो रोमाञ्चलक्ष्येण पुलकव्याजेन। 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्यं च' इत्यमरः। गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामत् सात्त्विकाविर्भावलिङ्गेन प्रकाशित इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—सा यूनि तस्मिन् अभिलाषबन्धं शालीनतया वक्तुं न शशाक। अरालकेश्याः सः रोमाञ्चलक्ष्येण गात्रयष्टिम् भित्वा निराक्रामत्।

हिन्दी—वह राजकुमारी इन्दुमती उस तरुण अज के विषय में प्रेमाभिलाषा के बन्धन को शालीनता के कारण कह तो न सकी, किन्तु कुटिल केशों वाली उस इन्दुमती का वह अभिलाष बन्धन रोमाञ्च नामक सात्विक भाव के व्याज (बहाने) से शरीररूपी छड़ी को भेद कर बाहर निकल कर प्रकट हो गया ॥ ८१ ॥

तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे।
आर्ये! व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥ ८२ ॥

सञ्जी०—तथेति। सख्यामिन्दुमत्यां तथागतायां तथाभूतायाम्। दृष्टानुरागायां सत्यामित्यर्थः। सखी सहचरी। 'सख्यशिश्वीति भाषायाम्' (पा.

४।१।५२) इति निपातनान्ङीष् । वेत्रभृत् । सुनन्दा । हे आर्ये पूज्ये ! अन्यतोऽन्यं प्रति व्रजाम इति परिहासपूर्वमाबभाषे । अथ वधूरिन्दुमत्येनां सुनन्दामसूयमारोषेण कुटिलं ददर्श । अन्यत्र गमनस्यासह्यत्वादित्यर्थः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—सख्यां तथागतायां सत्यां सखी वेत्रभृत् हे आर्ये ! अन्यतः व्रजामः इति परिहासपूर्वम् आबभाषे । अथ वधूः एनां असूयाकुटिलं ददर्श ।

हिन्दी—सखी इन्दुमती के उस प्रकार अनुराग के प्रकट हो जाने पर वेत्रग्राहिणी सुनन्दा ने हँसीपूर्वक कहा कि हे आर्ये अब हम लोग अन्य राजा के पास चलें ? तब वधू इन्दुमती ने इस (सुनन्दा) को असूया से कुटिल दृष्टि से घूरकर ताका क्योंकि अब इन्दुमती अपने अभीष्ट तक पहुँचकर पुनः दूसरे राजा के पास नहीं जाना चाहती थी ॥ ८२ ॥

सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः ।
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम् ॥ ८३ ॥

सञ्जी०—सेति । करभः करप्रदेशविशेषः । 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः । करभ उपमा ययोस्तावूरू यस्याः सा करभोपमोरूः । 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' (पा. ४।१।६९) इत्यूङ्प्रत्ययः । सा कुमारी चूर्णेन मङ्गलचूर्णेन गौरं लोहितं गुणं स्रजम् । मूर्तं मूर्तिमन्तमनुरागमिव । धात्र्या उपमातुः सुनन्दायाः कराभ्यां रघुनन्दनस्याजस्य कण्ठे यथाप्रदेशं यथास्थानमासञ्जयामासासक्तं करयामास । न तु स्वयमाससञ्ज, अनौचित्यात् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—करभोपमोरूः सा चूर्णगौरं गुणं मूर्तं अनुरागम् इव धात्रीकराभ्यां रघुनन्दनस्य कण्ठे यथाप्रदेशम् आसञ्जयामास ।

हिन्दी—करभ के समान सुन्दर जाँघों वाली उस इन्दुमती ने कुङ्कुम के चूर्ण से गौरवर्ण (इस स्थल में अरुण वर्ण) की माला को मानो अनुराग या प्रेम के समान धाई सुनन्दा के दोनों हाथों से रघुपुत्र अज के कण्ठ में यथास्थान पहनवा दिया ॥ ८३ ॥

तया स्रजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवक्षःस्थललम्बया सः ।
अमंस्त कण्ठार्पितबाहुपाशां विदर्भराजावरजां वरेण्यः ॥ ८४ ॥

सञ्जी०—तयेति । वरेण्यो वरणीय उत्कृष्टः । वृञ एण्यः । सोऽजो मङ्गलपुष्पमय्या मधूकादिकुसुममय्या विशालवक्षःस्थले लम्बया लम्बमानया तथा प्रकृतया स्रजा विदर्भराजावरजामिन्दुमतीं कण्ठार्पितौ बाहू एव पाशौ ययाताममंस्त । मन्यतेर्लुङ् । बाहुपाशकल्पसुखमन्वभूदित्यर्थः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—वरेण्यः सः मंगलपुष्पमय्या विशालवक्षःस्थललम्बया तया स्रजा विदर्भराजावरजां कण्ठार्पितबाहुपाशाम् अमंस्त ।

हिन्दी—वरण करने योग्य उस श्रेष्ठ वर अज ने विशाल वक्षःस्थल पर लटकती हुई मंगलपुष्पमयी उस माला से इस प्रकार का सुख अनुभव किया मानों विदर्भराज भोज की अनुजा इन्दुमती ही कण्ठ में दोनों भुजाओं के पाश समर्पित कर कण्ठाश्लेष का सुख दे रही हो ॥ ८४ ॥

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा ।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः ॥ ८५ ॥

सञ्जी०—शशिनमिति । स्वयंवरे समगुणयोस्तुल्यगुणयोरिन्दुमती-रघुनन्दनयोर्योगेन प्रीतिर्येषां ते समगुणयोगप्रीतयः पौराः पुरे भवा जनः इयमजसंगतेन्दुमती मेघैर्मुक्तं शशिनं शरच्चन्द्रमुपगता कौमुदी । अनुरूपं सदृशं जलनिधिमवतीर्णा प्रविष्टा जह्नुकन्या भागीरथी । तत्सदृशीत्यर्थः । इत्येवं नृपाणां श्रवणयोः कटु परुषमेकमविसंवादि वाक्यमेकवाक्यं विवव्रुः । मालिनीवृत्तम् ॥ ८५ ॥

अन्वयः—तत्र समगुणयोगप्रीतयः पौराः इयं मेघमुक्तं शशिनम् उपगता कौमुदी अनुरूपं जलनिधिम् अवतीर्णा जह्नुकन्या इति नृपाणां श्रवणकटु एकवाक्यं विवव्रुः ।

हिन्दी—उस स्वयंवर में (कुल, कान्ति, नववय और विनयप्रधान) समान गुणवाले उन दोनों इन्दुमती और अज के संयोग से प्रेम-पगे पुरवासियों ने एक स्वर से यही एक वाक्य कहना प्रारम्भ किया कि यह इन्दुमती मेघों से मुक्त चन्द्रमा के संग में मिली चन्द्रिका और अनुरूप समुद्र में अवतीर्ण गंगा

है। अर्थात् इन्दुमती और अज का यह समगुण संयोग उसी प्रकार है जैसे चन्द्रमा और चन्द्रिका का तथा सागर और गंगा का। नागरिकों का यह एक वाक्य अन्य राजाओं के कानों में कटु लगने वाला था क्योंकि वे इन्दुमती और अज के संयोग से मन ही मन जल रहे थे; वे स्वयं इन्दुमती को चाहते थे पर इन्दुमती ने उनकी ओर देखा भी नहीं ॥ ८५ ॥

प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम्।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥ ८६ ॥

सञ्जी०—प्रमुदितेति। एकत एकत्र प्रमुदितो हृष्टो वरस्य जामातुः पक्षो वर्गो यस्य तत्तथोक्तम्। अन्यतोऽन्यत्र वितानं शून्यम्। भग्नाशत्वादप्रहृष्टमित्यर्थः। तत्क्षितिपतिमण्डलम्। उषसि प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनेन प्रतिपन्ननिद्रं प्राप्तनिमीलनं सर इव सरस्तुल्यम् आसीत्। पुष्पिताग्रावृत्तमेतत् ॥८६॥

अन्वयः—एकतः प्रमुदितवरपक्षम् अन्यतः वितानं तत्क्षितिपतिमण्डलम्, उषसि प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रम् सरः इव आसीत्।

हिन्दी—स्वयंवर स्थल के एक ओर प्रसन्नचित्त वरपक्ष और दूसरी ओर उन निराश राजाओं का अवसन्न खिन्नमनस्क या सूना-सूना सा समूह उसी प्रकार लग रहा था जैसे प्रातःकालीन वह सरोवर जिसमें एक ओर विकसित कमल हो और दूसरी ओर (श्रीहत) कुमुदों के बन निद्रित से हो रहे हों। वरपक्ष कन्यालाभ से प्रसन्न चित्त था अतः विकसित कमल के समान सुशोभित हो रहा था किन्तु जिन-जिन राजाओं को कन्या नहीं मिली उनकी आशाओं पर तुषारपात हो गया जिससे उनका मुखमण्डल श्रीहत हो उसी प्रकार शून्य सा लग रहा था जैसे प्रातःकाल सरोवर में एक ओर खिले कमलों से शोभा होती है तो दूसरी ओर अपश्री कुमुदवनों से सरोवर सोता हुआ-सा (ऊँघता हुआ सा) लगता है ॥ ८६ ॥

इति हरिप्रियाव्याख्यासहिते रघुवंशमहाकाव्ये षष्ठः सर्गः समाप्तः।



सप्तमः सर्गः

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ।। १ ।।

सञ्जी०—अथेति । अथ विदर्भनाथो भोजः सदृशेनोपयन्त्रा वरेण युक्ताम् । अत एव साक्षात् प्रत्यक्षम् 'प्रत्यक्षतुल्योः' इत्यमरः । स्कन्देन युक्तां देवसेनामिव । देवसेना नाम देवपुत्री स्कन्दपत्नी तामिव स्थितां स्वसारं भगिनीमिन्दुमतीमादाय गृहीत्वा पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव । उपजातिवृत्तं सर्गेऽस्मिन् ।। १ ।।

अन्वयः—अथ विदर्भनाथः सदृशेन उपयन्त्रा युक्ताम् अत एव साक्षात् स्कन्देन युक्ताम् देवसेनाम् इव स्वसारम् आदाय पुरप्रवेशाभिमुखः बभूव ।

हिन्दी—सुनन्दा द्वारा दोनों हाथों से अज के कण्ठ में यथास्थान स्वयंवरमाला अर्पित कर देने के पश्चात् विदर्भ (बरार) नरेश भोज रूप-कुलशीलवयगुणादि से समान वर से युक्त होने के कारण साक्षात् सेनापति कार्तिकेय से संयुक्त देवसेना के समान अपनी अनुजा इन्दुमती को लेकर नगर में प्रवेश करने के लिए अभिमुख हो गए ।। १ ।।

सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः ।
भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेषु वेशेषु च साभ्यसूयाः ।। २ ।।

सञ्जी०—सेनेति । भोजस्य राज्ञो गोत्रापत्यं स्त्री भोज्या तामिन्दुमतीं प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेष्वाकृतिषु वेशेषु नेपथ्येषु च साभ्यसूया वृथेति निन्दतः । किंच विभाते प्रातःकाले ये ग्रहाश्चन्द्रादयस्त इव मन्दभासः क्षीण-कान्तयः पृथिवीक्षितो नृपा अपि सेनानिवेशान् शिविराणि जग्मुः ।। २ ।।

अन्वयः—भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वात् रूपेषु वेशेषु च साभ्यसूयाः विभातग्रहमन्दभासः पृथिवीक्षितः अपि सेनानिवेशान् जग्मुः ।

हिन्दी—भोजराज के गोत्र में उत्पन्न स्त्री इन्दुमती के प्रति व्यर्थ मनोरथ (निराश) हो जाने से अपने रूप और वेश के विषयों में असूयाभाव रखने वाले (अपने सौन्दर्य और वेशभूषा की निन्दा करने वाले कि हमारा यह

रूप व्यर्थ है हमारी यह वेषभूषा व्यर्थ है जिससे इन्दुमती रीझकर हमें न वर सकी) प्रातःकालीन चन्द्र आदि ग्रहों के समान क्षीण कान्ति वाले राजागण भी अपनी सेना के शिविर में चले गये ।। २ ।।

सांनिध्ययोगात्किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः ।
काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोऽपि शशाम तेन क्षितिपाललोकः ।। ३ ।।

सञ्जी०—सांनिध्येति । तत्र स्वयंवरक्षेत्रे शच्याः इन्द्राण्याः । संनिधिरेव सांनिध्यम् । तस्य योगात्सद्भावाद्धेतोः स्वयंवरस्य क्षोभकृतां विघ्नकारिणामभावः किल । 'किल' इति स्वयंवरविघातकाः शच्या विनाश्यन्त इत्यागमसूचनार्थम् । तेन हेतुना काकुत्स्थमजमुद्दिश्य समत्सरोऽपि क्षितिपाललोकः शशाम नाक्षुभ्यत् ।

अन्वयः—तत्र शच्याः सांनिध्ययोगात् स्वयंवरक्षोभकृताम् अभावः किल तेन काकुत्स्थम् उद्दिश्य समत्सरः अपि क्षितिपाललोकः शशाम ।

हिन्दी—वहाँ (स्वयंवर में) शची- (इन्द्राणी) की सन्निधि के संयोग से स्वयम्बर में क्षोभ करने वालों का अभाव ही रहा; क्योंकि स्वयंवर के विघातक इन्दाणी द्वारा विनष्ट कर दिये जाते हैं यह शास्त्र वचन है। इसीलिए अज के प्रति मात्सर्यभाव रखने वाले भी रांजागण प्रशान्त हो गए ।। ३ ।।

तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।
वरः सवध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ।४।।

सञ्जी०—तावदिति । 'यावत्तावच्च साकल्ये' इत्यमरः । तावत्प्रकीर्णाः साकल्येन प्रसारिता अभिनवा नूतना उपचाराः पुष्पप्रकरादयो यस्य तं तथोक्तम् । इन्द्रायुधानीव द्योतितानि प्रकाशितानि तोरणान्यङ्काश्चिह्नानि यस्य तम् ।

अन्वयः—सः वरः बध्वा सह तावत् प्रकीर्णाभिनवोपचारम्, इन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् राजमार्गम् प्राप ।

हिन्दी—वह दूल्हा अज नववधू इन्दुमती के साथ उस राजमार्ग पर पहुँचा जहाँ पूर्णतः अभिनव पुष्पोपहार बिखेरे जा रहे थे, (पुष्पवृष्टि की जा रही थी) इन्द्र के आयुध अर्थात् इन्द्रधनुष के समान रंग विरंगे विद्योतित होते

हुए तोरणों के चित्र सुशोभित हो रहे थे, और ध्वजाओं की छाया से धूप का निवारण किया जा रहा था ॥ ४ ॥

ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु ।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ५ ॥

सञ्जी०—तत इति । ततस्तदनन्तरं चामीकरजालवत्सु सौवर्णगवाक्ष-युक्तेषु सौधेषु तस्याजस्यालोकने तत्पराणामासक्तानां पुरसुन्दरीणामित्थं वक्ष्यमाणप्रकाराणि त्यक्तान्यन्यकार्याणि केशबन्धनादीनि येषु तानि विचेष्टि-तानि व्यापाराः । नपुंसके भावे क्तः । बभूवुः ॥ ५ ॥

अन्वयः—ततः चामीकरजालवत्सु सौधेषु तदालोकनतत्पराणां पुर-सुन्दरीणाम् इत्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टानि बभूवुः ।

हिन्दी—राजपथ पर पहुँचने के बाद सुवर्ण निर्मित जालीदार खिड़कियों वाले राजभवनों पर उस वर-वधू के अवलोकन में आसक्त नगर सुन्दरियों की इस प्रकार की चेष्टायें होने लगीं जिनमें अन्य-अन्य कार्य छूट गये ॥ ५ ॥

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
बन्धुं न संभावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ ६ ॥

सञ्जी०—आलोकेति । सहसाऽऽलोकमार्गं गवाक्षपथं व्रजन्त्या । कयाचि-त्कामिन्योद्वेष्टनवान्तमाल्यः । उद्वेष्टनो द्रुतगतिवशादुन्मुक्तबन्धनः । अत एव वान्तमाल्यो बन्धविश्लेषेणोद्गीर्णमाल्यः । करेण रुद्धो गृहीतोऽपि च केशपाशः केशकलापः । 'पशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे' इत्यमरः । तावदा-लोकमार्गप्राप्तिपर्यन्तं बन्धुं बन्धनार्थं न संभावितो न चिन्तित एव ।

अन्वयः—सहसा आलोकमार्गं व्रजन्त्या कयाचित् उद्वेष्टनवान्तमाल्यः करेण रुद्धः अपि च केशपाशः तावत् बन्धुं न सम्भावितः एव ।

हिन्दी—अचानक गवाक्षमार्ग की ओर जाती हुई किसी सुन्दरी ने शीघ्र झपट कर चलने के कारण केशपाश खुल जाने से केशों में लगे पुष्प गिर पड़ने पर हाथ से पकड़े रहने पर भी केश-बन्ध तब तक बाँधने की बात नहीं सोची जब तक अज को भर पेट देखती रही ॥ ६ ॥

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद् द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥ ७ ॥

सञ्जी०—प्रसाधिकेति। काचित्। प्रसाधिकयाऽलंकर्त्र्या लम्बितं रञ्जनार्थं धृतं द्रवरागमेवार्द्रालक्तकमेव। अग्रश्चासौ पादश्चेत्यग्रपाद इति कर्मधारयसमासः। 'हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदाभ्याम्' इति वामनः। तमाक्षिप्याकृष्य। उत्सृष्टलीलागतिस्त्यक्तमन्दगमना सती। आ गवाक्षाद् गवाक्षपर्यन्तं पदवीं पन्थानमलक्तकाङ्कां लाक्षारागचिह्नां ततान विस्तारयामास॥ ७॥

अन्वयः—काचित् प्रसाधिकालम्बितम् द्रवरागम् एव अग्रपादम् आक्षिप्य उत्सृष्टलीलागतिः सती आगवाक्षात् पदवीम् अलक्तकाङ्कां ततान।

हिन्दी—किसी सुन्दरी ने प्रसाधन करनेवाली (पैर रँगनेवाली दासी नाउन आदि) के द्वारा रँगने के लिए पकड़े हुए गीले लाक्षारस लगे ही पैर के अगले भाग को खींचकर लीलापूर्वक गज के समान मस्ती से भरी चाल को छोड़ती हुई तेजी से गवाक्षतक के मार्ग पर अलक्तक के चिह्नों को विस्तृत कर दिया। मन्दगति त्यागकर अपना ताजारंगा पैर छुड़ाकर इस प्रकार गवाक्ष तक दौड़ती गयी कि रास्ते भर लाक्षारस का चिह्न फैलता गया॥६॥

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती॥ ८॥

सञ्जी०—विलोचनमिति। अपरा स्त्री दक्षिणं विलोचनमञ्जनेन संभाव्यालंकृत्य। संभ्रमादिति भावः। तद्वञ्चितं तेनाञ्जनेन वामनेत्रं यस्याः सा सती तथैव शलाकामञ्जनतूलिकां वहन्ती सती वातायनसंनिकर्षं गवाक्षसमीपं ययौ। 'दक्षिण' ग्रहणं संभ्रमाद्व्युत्क्रमकरणद्योतनार्थम् 'सव्यं हि पूर्वं मनुष्या अञ्जते' इति श्रुतेः॥ ८॥

अन्वयः—अपरा दक्षिणं विलोचनम् अञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामलोचना सती तथा एव शलाकां वहन्ती सती वातायनसन्निकर्षं ययौ।

हिन्दी—शास्त्र के अनुसार स्त्रियों को पहले अपने वाम नेत्र में अञ्जन लगाना चाहिए किन्तु शीघ्रतावश कोई सुन्दरी दक्षिण नेत्र को अञ्जन से अलंकृत कर तथा उस अञ्जन से वञ्चित वाम नेत्रवाली (वामनेत्र में बिना अञ्जन लगाये) उसी प्रकार अञ्जन लगाने की शलाका (सलाई) लेती हुई ही गवाक्ष के निकट चली गयी॥ ८॥

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम् ।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥ ९ ॥

सञ्जी०—जालेति । अन्या-स्त्री जालान्तरप्रेषितदृष्टिर्गवाक्षमध्यप्रेरित-दृष्टिः सती प्रस्थानेन गमनेन भिन्नां त्रुटितां नीवीं वसनग्रन्थिम् । 'नीवी परिपणे ग्रन्थौ स्त्रीणां जघनवाससि' इति विश्वः । न बबन्ध । किन्तु नाभि-प्रविष्टाभरणानां कङ्कणादीनां प्रभा यस्य तेन, प्रभैव नाभेराभरणमभूदिति भावः, हस्तेन वासोऽवलम्ब्य गृहीत्वा तस्थौ ॥ ९ ॥

अन्वयः—अन्या जालान्तरप्रेषितदृष्टिः सती प्रस्थानभिन्नां नीवीं न बबन्ध, किन्तु, नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन वासः अवलम्ब्य तस्थौ ।

हिन्दी—एक दूसरी सुन्दरी गवाक्ष के मध्य में अपनी दृष्टि प्रेषित करती हुई प्रस्थान करने से खुली हुई नीवी को (साड़ी की गाँठ) बाँध तो नहीं सकी किन्तु नाभिप्रदेश में प्रविष्ट कङ्कण आदि आभूषण की प्रभा वाले हाथ से वस्त्र सँभाल कर खड़ी रही । (हाथ के कंकणादि आभूषण की प्रभा ही नाभि को समाच्छादित करने के लिए भूषण बन गयी) ॥ ९ ॥

अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती ।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥ १० ॥

सञ्जी०—अर्धेति । सत्वरमुत्थितायाः कस्याश्चिदर्धाञ्चिता मणिभिरर्ध-गुम्फिता दुर्निमिते संभ्रमादुत्क्षिप्ते । 'डुमिञ्प्रक्षेपणे' इति धातोः कर्मणि क्तः । पदे पदे प्रतिपदम् । वीप्सायां द्विर्भावः । गलन्ती गलद्रत्ना सती रशना मेखला तदानीं गमनसमयेऽङ्गुष्ठमूलेऽर्पितं सूत्रमेव शेषो यस्याः सा । आसीत् ॥१०॥

अन्वयः—सत्वरम् उत्थितायाः कस्याश्चित् अर्धाञ्चिता दुर्निमिते पदे पदे गलन्ती (सती) रशना तदानीम् अंगुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा आसीत् ।

हिन्दी—शीघ्रतावश उठी हुई किसी सुन्दरी की मणियों से आधी ही गुम्फित होने के कारण सम्भ्रमपूर्वक उठाये गये पद पद पर टूट टूटकर बिखरते जाते हुए रत्नों की मेखला (करधनी) उस समय पैर के अंगूठे के मूल में फँसे हुए सूत्रमात्र से अवशिष्ट रह गयी ॥ १० ॥

तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥ ११ ॥

सञ्जी०—तासामिति। तदानीं सान्द्रकुतूहलानां तासां स्त्रीणामासवगन्धो गर्भे येषां तैः। विलोलानि नेत्राण्येव भ्रमरा येषां तैः मुखैर्व्याप्तान्तराश्छन्नावकाशा गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इव कमलालंकृता इव 'सहस्रपत्रं कमलम्' इत्यमरः। आसन्॥ ११॥

अन्वयः—तदानीम् सान्द्रकुतूहलानाम् तासाम् आसवगन्धगर्भैः विलोलनेत्रभ्रमरैः मुखैः व्याप्तान्तराः गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणाः इव आसन्।

हिन्दी—उस समय अत्यधिक कुतूहल से युक्त उन नगर सुन्दरियों के मद्य के गन्ध से पूरित अन्तराल भाग वाले, चंचल नेत्र रूपी भ्रमरों वाले मुखमण्डल से व्याप्त मध्य भागवाले गवाक्ष कमलों के आभरणों के समान हो गए। तात्पर्य यह है कि जब सुन्दरियाँ सजधज कर गवाक्षों से अज को देखने लगीं तो ऐसा प्रतीत हुआ मानों गवाक्ष उन सुरभित कमलों से अलंकृत कर दिये गये हों। जिनके ऊपर भ्रमर मँडराते हुए मकरन्द रस का पान कर रहे हों। यहाँ युवतियों के आसव-गन्धपूरित मुख ही मकरन्द रस एवं सुरभि से परिपूर्ण कमल तथा चंचल नेत्र भ्रमरों के स्थानापन्न हैं॥ ११॥

ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि।
तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा॥ १२॥

सञ्जी०—ता इति। ता नार्यो रघोरपत्यं राघवमजम्। 'तस्यापत्यम्' इत्यण्प्रत्ययः। दृष्टिभिरापिबन्त्योऽतितृष्णया पश्यन्त्यो विषयान्तराण्यन्यान्विषयान्न जग्मुः। न विविदुरित्यर्थः। तथा हि-आसां नारीणां शेषेन्द्रियवृत्तिश्चक्षुर्व्यतिरिक्तश्रोत्रादीन्द्रियव्यापारः सर्वात्मना स्वरूपकार्त्स्न्येन चक्षुः प्रविष्टेव। श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि। स्वातन्त्र्येण ग्रहणाशक्तेश्चक्षुरेव प्रविश्य कौतुकात्स्वयमप्येनमुपलभन्ते किमु। अन्यथा स्वस्वविषयाधिगमः किं न स्यादिति भावः॥ १२॥

अन्वयः—ताः नार्यः राघवं दृष्टिभिः आपिबन्त्यः विषयान्तराणि न जग्मुः, तथाहि आसां शेषेन्द्रियवृत्तिः सर्वात्मना चक्षुः प्रविष्टा इव।

हिन्दी—उन कामिनियों ने रघुपुत्र अज को एकाग्रदृष्टि से पान करते हुए (निर्निमेष दृष्टि से देखते हुए) अन्य विषयों—रसगन्ध स्पर्शादि को जाना

ही नहीं क्योंकि इनकी शेष (नेत्रों को छोड़कर अन्य बची) इन्द्रियों (रसनाश्रोत्र-घ्राण तथा त्वचाओं) की वृत्ति सब प्रकार से मानों चक्षु में ही प्रविष्ट हो गयी। श्रवण आदि इन्द्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ होने के कारण चक्षु में ही प्रविष्ट होकर कुतूहल वश स्वयं उनको यह उपालम्भ देने लगीं कि नेत्रों ने खूब अघाकर अपने विषय 'रूप' का पान किया हम लोग अपने विषयों के ग्रहण से वंचित ही रहीं ॥ १२ ॥

स्थाने वृता भूपतिभिः परोक्षैः स्वयंवरं साधुममंस्त भोज्या।
पद्मेव नारायणमन्यथासौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् ? ॥१३॥

सञ्जी०—स्थान इति। भोज्येन्दुमती परोक्षैरदृष्टैर्भूपतिभिर्वृता 'ममैवेयम्' इति प्रार्थितापि स्वयंवरमेव साधु स्वहितममंस्त मेने। न तु परोक्षमेव कंचित्प्रार्थनं वव्रे। स्थाने युक्तमेतत्। 'युक्ते द्वे सांप्रतं स्थाने' इत्यमरः। कुतः ? अन्यथा स्वयंवराभावे। असाविन्दुमती। पद्ममस्या अस्तीति पद्मा लक्ष्मीः। 'अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः। नारायणमिव। आत्मतुल्यं स्वानुरूपं कान्तं पतिं कथं लभेत ? न लभेतैव। सदसद्विवेकासौकर्यादिति भावः ॥ १३ ॥

अन्वयः—भोज्या परोक्षैः भूपतिभिः वृता स्वयंवरमेव साधुम् अमंस्त स्थाने, (कुतः) अन्यथा असौ पद्मा नारायणम् इव आत्मतुल्यं कान्तं कथं लभेत।

हिन्दी—भोजराज की गोत्रजा इन्दुमती ने अप्रत्यक्ष राजाओं के द्वारा विवाहार्थ प्रार्थित होने पर भी स्वयंवर को ही उपयुक्त माना यह ठीक ही हुआ नहीं तो यह सुन्दरी जैसे लक्ष्मी ने नारायण को प्राप्त किया उसी प्रकार कमनीय पति को कैसे पाती ॥ १३ ॥

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत्।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ॥ १४ ॥

सञ्जी०—परस्परेणेति। स्पृहणीयशोभं सर्वाशास्यसौन्दर्यमिदं द्वन्द्वं मिथुनम्। 'द्वन्द्वं रहस्य—' इत्यादिना निपातः। परस्परेण नायोजयिष्यच्चेत्। न योजयेद्यदि तर्हि प्रजानां पत्युर्विधातुरस्मिन्द्वये द्वन्द्वे रूपविधानयत्नः सौन्दर्यनिर्माणप्रयासो वितथो विफलोऽभविष्यत्। एतादृशानुरूपस्त्रीपुंसान्तराभावा-

दिति भावः। 'लिङ्निमित्ते लृङ्क्रियातिपत्तौ' इति लृङ्। 'कुतश्चित्कारणवैगुण्यात्क्रियाया अनभिनिष्पत्तिः क्रियातिपत्तिः' इति वृत्तिकारः ॥ १४ ॥

अन्वयः—स्पृहणीयशोभम् इदं द्वन्द्वं परस्परेण न अयोजयिष्यत् चेत् (तर्हि) प्रजानां पत्युः अस्मिन् द्वये रूपविधानयत्नः वितथः अभविष्यत्।

हिन्दी—यदि सभी लोगों के द्वारा स्पृहा करने योग्य शोभाशाली इस वर-वधू के जोड़े को परस्पर न जोड़ता तो प्रजाओं के पति विधाता का इस युगल जोड़ी में रूप विधान का प्रयत्न निष्फल हो जाता। तात्पर्य यह है कि स्पृहणीय शोभाशाली समान वर और वधू दोनों के परस्पर संयोग से विधाता का प्रयास सफल हो गया ॥ १४ ॥

रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथा हि बाला।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम् ॥ १५ ॥

सञ्जी०—रतीति। रतिस्मरौ यौ नित्यसहचरावित्यभिप्रायः। नूनं तावेवेयं चायं चेमौ दंपती। अभूताम्। एतद्रूपेणोत्पन्नौ। कुतः? तथा हि—इयं बाला राज्ञां सहस्रेषु राजसहस्रमध्ये। सत्यपि व्यत्यासकरण इति भावः। आत्मप्रतिरूपं स्वतुल्यमेव। 'तुल्यसंकाशनीकाशप्रकाशरूपकाः' इति दण्डी। गता प्राप्ता। तदपि कथं जातमत आह—हि यस्मान्मनो जन्मान्तरसंगतिज्ञं भवति। 'तदेवेदम्' इति प्रत्यभिज्ञाभावेऽपि वासनाविशेषवशादनुभूतार्थेषु मनः प्रवृत्तिरस्तीत्युक्तम्। जन्मान्तरसाहचर्यमेवात्र प्रवर्तकमिति भावः ॥१५॥

अन्वयः—रतिस्मरौ नूनम् इमौ अभूताम्, तथाहि इयम् बाला राज्ञां सहस्रेषु आत्मप्रतिरूपमेव गता, हि मनः जन्मान्तरसंगतिज्ञम् भवति।

हिन्दी—रति और कामदेव ही निश्चित रूप से ये दोनों अजेन्दुमती रूप में दम्पति हुए हैं, क्योंकि यह सुन्दरी हजारों राजाओं के मध्य अपने ही अनुरूप वर को प्राप्त हुई। सच है मन तो जन्मान्तर की संगति को जानने वाला होता है ॥ १५ ॥

इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः।
उद्भासितं मङ्गलसंविधाभिः संबन्धिनः सद्म समाससाद ॥ १६ ॥

सञ्जी०—इतीति। इति 'स्थाने वृत्तता' इत्याद्युक्तप्रकारेण पौरवधू-

मुखेभ्य उद्गता उत्पन्ना, श्रोत्रयोः सुखा मधुराः । 'सुख' शब्दो विशेष्यनिघ्नः । 'पापपुण्यसुखादि च' इत्यमरः । कथा गिरः शृण्वन् कुमारोऽजो मङ्गलसंविधाभिर्मङ्गलरचनाभिरुद्भासितं शोभितं संबन्धिनः कन्यादायिनः सद्म गृहं समाससाद प्राप ॥ १६ ॥

अन्वयः–इति पौरवधूमुखेभ्यः उद्गताः श्रोत्रसुखाः कथाः शृण्वन् कुमारः मंगलसंविधाभिः उद्भासितम् संबन्धिनः सद्म समाससाद ।

हिन्दी––इस प्रकार नगर की सुन्दरियों के मुखों से विसृत (निकली हुयी) कर्णप्रिय कथाओं को सुनते हुए राजकुमार अज मांगलिक संरचनाओं से जगमगाने वाले सम्बन्धी भोजराज के भवन में पहुँचे ॥ १६ ॥

ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥ १७ ॥

सञ्जी०—तत इति । ततोऽनन्तरं करेणुकाया हस्तिन्याः सकाशादाशु शीघ्रमवतीर्य । कामरूपेश्वरो दत्तो हस्तो येन सोऽजः । अथो अनन्तरं वैदर्भेण निर्दिष्टं प्रदर्शितमन्तश्चतुष्कं चत्वरम् । नारीणां मनांसीव विवेश ॥ १७ ॥

अन्वयः—ततः करेणुकायाः आशु अवतीर्य कामरूपेश्वरदत्तहस्तः सः अथ वैदर्भनिर्दिष्टम् अन्तः चतुष्कम् नारीणां मनांसि इव विवेश ।

हिन्दी—तब हथिनी से शीघ्र उतर कर कामरूप देश के स्वामी के ऊपर हाथ का सहारा देकर चलने वाला वह अज बाद में विदर्भ नरेश भोज द्वारा दिखाये गये मानों स्त्रियों के मन के समान भीतर आँगन में प्रविष्ट हो गया ॥ १७ ॥

महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥ १८ ॥

सञ्जी०—महार्हेति । महार्हसिंहासने संस्थितोऽसावजः । भोजेनोपनीतम् । रत्नैः सहितं सरत्नम् । मधुपर्कमिश्रमर्घ्यं पूजासाधनाद्रव्यं दुकूलयोः क्षौमयोर्युग्मं च वनिताकटाक्षैरन्यस्त्रीणामपाङ्गदर्शनैः सार्धम् । जग्राह गृहीतवान् ॥ १८ ॥

अन्वयः—महार्हसिंहासनसंस्थितः असौ भोजोपनीतम् सरत्नम्, मधुपर्कमिश्रम् अर्घ्यं दुकूलयुग्मं च वनिताकटाक्षैः सार्धं जग्राह ।

हिन्दी—बहुमूल्यसिंहासन पर विराजमान उस अज ने भोजराज के द्वारा लाये गए रत्नयुक्त घृतशर्करादि मधुपर्क मिश्रित पूजन सामग्री और रेशमी वस्त्र के जोड़ेको सुन्दरियों के कटाक्षों (तिरछी चितवनों) के साथ ग्रहण किया ॥ १८ ॥

दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥१९॥

सञ्जी०—दुकूलेति । दुकूलवासाः सोऽजः विनीतैर्नम्रै रवरोधरक्षैरन्तःपुराधिकृतैर्वधूसमीपं निन्ये । तत्र दृष्टान्तः—स्फुटफेनराजिरुदन्वान् समुद्रो नवैर्नूतनैश्चन्द्रपादैश्चन्द्रकिरणैर्वेलायाः सकाशं समीपमिव । पूर्णदृष्टान्तोऽयम् ॥१९॥

अन्वयः - दुकूलवासाः सः विनीतैः अवरोधरक्षैः स्फुटफेनराजिः उदन्वान् नवैः चन्द्रपादैः वेलासकाशम् इव वधूसमीपम् निन्ये ।

हिन्दी—जिस प्रकार चन्द्रमा की अभिनव किरणें सुस्पष्ट फेनों की पंक्ति वाले सागर को वेला तट पर पहुँचा देती हैं, उसी प्रकार विनम्र अवरोध रक्षियों ने दुकूलवस्त्रधारी उस अज को वधू—इन्दुमती के पास पहुँचा दिया ॥ १९ ॥

तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयांचकार ॥२०॥

सञ्जी०—तत्रेति । तत्र सद्मन्यर्चितः पूजितोऽग्निकल्पोऽग्नितुल्यो भोजपते भोजदेशाधीश्वरस्य पुरोधाः पुरोहितः । 'पुरोधास्तु पुरोहितः' इत्यमरः । आज्यादिभिर्द्रव्यैरग्निं हुत्वा तमेव चाग्निं—विवाहसाक्ष्य आधाय । साक्षिणं च कृत्वेत्यर्थः । वधूवरौ संगमयांचकार योजयामास ॥ २० ॥

अन्वयः—तत्र अर्चितः अग्निकल्पः भोजपतेः पुरोधाः आज्यादिभिः अग्निं हुत्वा तमेव च विवाहसाक्ष्ये आधाय वधूवरौ संगमयाञ्चकार ।

हिन्दी—वहाँ भोजराज को प्राङ्गणवेदी पर पूजित अग्नि के समान तेजस्वी भोजपति के पुरोहित ने घी आदि हवनीय सामग्रियों से अग्नि में हवन कर और उसी अग्नि को विवाह का साक्षी बनाकर वधू और वर दोनों का संयोजन—ग्रन्थिबन्धन कर दिया ॥ २० ॥

हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे ।
अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥ २१ ॥

सञ्जी०—हस्तेनेति । स राजसूनुर्हस्तेन स्वकीयेन वध्वा हस्तं परिगृह्य । अनन्तरायाः संनिहिताया अशोकलतायाः प्रवालं पल्लवं प्रतिपल्लवेन स्वकीयेन प्राप्य चूत आम्र इव सुतरां चकासे ॥ २१ ॥

अन्वयः—सः राजसूनुः हस्तेन वध्वाः हस्तं परिगृह्य 'अनन्तराशोकलताप्रवालं प्रतिपल्लवेन प्राप्य चूतः इव सुतरां चकासे ।

हिन्दी—जिस प्रकार समीपवर्ती अशोकलता के मूँगे के समान लाल पल्लव को अपने प्रतिपल्लव से पाकर आम सुशोभित होता है; उसी प्रकार वह राजकुमार अज अपने हाथ से वधू इन्दुमती का हाथ ग्रहण कर सुशोभित होने लगा ॥ २१ ॥

आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नाङ्गुलिः संववृते कुमारी ।
तस्मिन् द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥२२ ॥

सञ्जी०—आसीदिति । वरः कण्टकितः पुलकितः प्रकोष्ठो यस्य स आसीत् । 'सूच्यग्रे क्षुद्रशत्रौ च रोमहर्षे च कण्टकः' इत्यमरः । कुमारी स्विन्नाङ्गुलिः संववृते वभूव । अत्रोत्प्रेक्षते—तस्मिन्द्वये मिथुने तत्क्षणमात्मवृत्तिः सात्त्विकोदयरूपा वृत्तिर्मनोभवेन कामेन समं विभक्तेव पृथक्कृतेव । प्राक्सिद्धस्याप्यनुरागसाम्यस्य संप्रति तत्कार्यदर्शनात्पाणिस्पर्शकृतत्वमुत्प्रेक्षते । अत्र वात्स्यायनः कन्या तु प्रथमसमागमे स्विन्नाङ्गुलिः स्विन्नमुखी च भवति । पुरुषस्तु रोमाञ्चितो भवति एभिरनयोर्भावं परीक्षेत् ।' इति । स्त्री-पुरुषयोः स्वेदरोमाञ्चाभिधानं सात्त्विकमात्रोपकुमारसम्भवे 'रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुंगवकेतुरासीत्' इति व्युत्क्रमवचनं न दोषायेति । वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य' इत्यपरार्धस्य पाठान्तरे व्याख्यानान्तरम्—पाणिसमागमेन पाण्योः संस्पर्शेन कर्त्रा तयोर्वधूवरयोर्मनोभवस्य वृत्तिः स्थितिः समं विभक्तेव । समीकृतेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

अन्वयः—वरः कण्टकितप्रकोष्ठः आसीत्, कुमारी स्विन्नाङ्गुलिः संववृते, तस्मिन् द्वये तत्क्षणम् आत्मवृत्तिः मनोभवेन समं विभक्तेव ।

हिन्दी—वर अज की कलाई के निकट रोमाञ्च हो गया था; और वधू इन्दुमती की अँगुलियाँ पसीने से गीली हो गयीं। उन दोनों युगल जोड़े में उस समय मानो कामदेव ने अपनी वृत्ति-(सात्त्विकभावोत्पत्तिस्वरूप वाली कामवृत्ति) समान रूप से बाँट सी दी हो ॥ २२ ॥

तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि ।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥ २३ ॥

सञ्जी०—तयोरिति । अपाङ्गेषु नेत्रप्रान्तेषु प्रतिसारितानि प्रवर्तितानि क्रिययोर्निरीक्षणलक्षणयोः समापत्त्या यदृच्छासंगत्या निवर्तितानि प्रत्याकृष्टान्यन्योन्यस्मिल्लोलानि सतृष्णानि । 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः । तयोर्दम्पत्योर्विलोचनानि दृष्टयो मनोज्ञां रम्यां ह्रिया निमित्तेन यन्त्रणां संकोचमानशिरे प्रापुः ॥ २३ ॥

अन्वयः—अपाङ्गप्रतिसारितानि, क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि, अन्योन्यलोलानि तयोः विलोचनानि, मनोज्ञां ह्रीयन्त्रणाम् आनशिरे ।

हिन्दी—अपाङ्गो (नेत्रप्रान्तों) में प्रसारित निरीक्षणरूप क्रियाओं से विनिवृत्त-(नेत्रों के मिलने पर संकोचवश लौटा लिये गये) परस्पर सतृष्ण (तृषाकुल की भाँति एक-दूसरे को देखने वाले) उन दोनों वर-वधुओं के नेत्र मनोहर लज्जा के कारण यन्त्रणा—(संकोचभाव) को प्राप्त हुए ॥ २३ ॥

प्रदक्षिणप्रक्रमणात् कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥ २४ ॥

सञ्जी०—प्रदक्षिणेति । तन्मिथुनमुदर्चिष उन्नतज्वालस्य कृशानोर्वह्नेः प्रदक्षिणप्रक्रमणात् प्रदक्षिणीकरणात् मेरोरुपान्तेषु समीपेषु वर्तमानमावर्तमानम् । मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वदित्यर्थः । अन्योन्यसंसक्तं परस्परसंयतम् । मिथुनस्याप्येतद्विशेषणम् । अहश्च त्रियामा चाहस्त्रियामं रात्रिदिवमिव । समाहारे द्वंद्वैकवद्भावः । चकासे दिदीपे ॥ २४ ॥

अन्वयः—तन्मिथुनम् उदर्चिषः कृशानोः प्रदक्षिणप्रक्रमणात्, मेरोः उपान्तेषु वर्तमानम् ,अन्योऽन्यसंसक्तम् अहस्त्रियामम् इव चकासे ।

हिन्दी—वे दोनों दम्पति उज्ज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा करने से सुमेरु पर्वत के निकट वर्तमान परस्पर मिले—(संसक्त) दिन और रात के समान देदीप्यमान लग रहे थे ॥ २४ ॥

नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ।। २५ ।।

अन्वयः—नितम्बेति । नितम्बेन गुर्व्यलघ्वी । 'दुर्धरालघनोर्गुर्वी' इति शाश्वतः । विधातृप्रतिमेन ब्रह्मतुल्येन तेन गुरुणा याजकेन प्रयुक्ता 'जुहुधि' इति नियुक्ता । मत्तचकोरस्येव नेत्रे यस्याः सा वधूः । अग्नौ लाजविसर्गं चकार ।२५।

अन्वयः—नितम्बगुर्वी विधातृप्रतिमेन तेन गुरुणा प्रयुक्ता मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती सा वधूः अग्नौ लाजविसर्गं चकार ।

हिन्दी—भारी नितम्बवाली उन्मत्त चकोर के नेत्रों के समान नेत्रों वाली लजीली उस वधू इन्दुमती ने ब्रह्मा के समान उस पुरोहित की प्रेरणा से अग्नि में धान के लावों को छोड़ा । अर्थात् गुरु पुरोहित के कहने से अग्नि में लावे से हवन किया ।

हविः शमीपल्लवलाजगन्धो पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः ।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ।।२६।।

सञ्जी०—हविरिति । हविष आज्यादेः शमीपल्लवानां लाजानां च गन्धोऽस्यास्तीति हविःशमीपल्लवलाजगन्धी । 'शमीपल्लवमिश्राँल्लाजानञ्जलिना वपति' इति कात्यायनः । पुण्यो धूमः कृशानोः पावकादुदियायोद्भूतः । कपोलयोः संसर्पिणी प्रसरणशीला शिखा यस्य स तथोक्तः स धूमस्तस्या वध्वा, मुहूर्तकर्णोत्पलतां कर्णाभरणतां प्रपेदे ।। २६ ।।

अन्वयः—हविःशमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः धूमः कृशानोः उदियाय, कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ।

हिन्दी—घी आदि हवनीय पदार्थ शमी की पत्ती और धान के लावा की सुगन्धि वाला पवित्र धूम अग्नि से प्रादुर्भूत हुआ, और वह इन्दुमती के कपोलों पर प्रसरित होता हुआ क्षणभर के लिए उसके कर्णभूषण-नीलकमल की शोभा को प्राप्त हुआ । धूम की रेखा क्षणभर के लिए उसके कपोलों पर नीलकमल के कर्णभूषण जैसी लगने लगी ।। २६ ।।

तदञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरम् ।
वधूमुखं पाटलगण्डलेखमाचारधूमग्रहणाद् बभूव ।। २७ ।।

सञ्जी०—तदिति । तद्वधूमुखमाचारेण प्राप्ताद् धूमग्रहणात् । अञ्जनस्य क्लेदोऽञ्जनक्लेदः । अञ्जनमिश्रवाष्पोदकमित्यर्थः । तेन समाकुलाक्षम् । प्रम्लानो बीजाङ्कुरो यवाङ्कुर एव कर्णपूरोऽवतंसो यस्य तत् पाटलगण्डलेख-मरुणगण्डस्थलं च बभूव ॥ २७ ॥

अन्वयः—तद् वधूमुखम् आचारधूमग्रहणात्, अञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षम् प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरम्, पाटलगण्डलेखं च बभूव ।

हिन्दी—वधू इन्दुमती का वह मुख मांगलिक धूम के ग्रहण करने से काजल मिश्रित अस्रुओं से आकुल नेत्रोंवाला, म्लान यवाङ्कुर के कर्णफूलों वाला तथा श्वेत लाल वर्ण कपोलों की रेखा वाला हो गया ॥ २७ ॥

तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरंध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥ २८ ॥

सञ्जी०—ताविति । कनकासनस्थौ तौ कन्याकुमारौ स्नातकैर्गृहस्थवि-शेषैः । 'स्नातकत्वात् प्लुतो व्रती' इत्यमरः । बन्धुमता । बन्धुपुरःसरेणेत्यर्थ, । राज्ञा च पुरंध्रिभिः पतिपुत्रवतीभिर्नारीभिश्च क्रमशः प्रयुक्तं स्नातकादीनां पूर्वपूर्ववैशिष्टयात्क्रमेण कृतमार्द्राक्षतानामारोपणमन्वभूतामनुभूतवन्तौ ॥२८॥

अन्वयः—कनकासनस्थौ तौ कन्याकुमारौ स्नातकैः बन्धुमता राज्ञा च पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम्, आर्द्राक्षतरोपणम् अन्वभूताम् ।

हिन्दी—सुवर्णपीठ पर बैठे उन दोनों कन्या कुमारों (इन्दुमती और अज) ने व्रती गृहस्थ विशेषों, वन्धु बांधवों सहित राजा भोज और पतिपुत्र-वती युवतियों द्वारा क्रम से दिए गए आशीर्वाद सहित आर्द्र अक्षतों के दान के अनुभव किए ॥२८॥

इति स्वसुर्भोजकुलप्रदीपः संपाद्य पाणिग्रहणं स राजा ।
महीपतीनां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिश्रीः ॥२९॥

सञ्जी०—इतीति । अधिश्रीरधिकसंपन्नो भोजकुलप्रदीपः स राजा । इति स्वसुरिन्दुमत्याः पाणिग्रहणं विवाहं संपाद्य कारयित्वा । महीपतीनां राज्ञां पृथगेकैकशोऽर्हणार्थं पूजार्थमधिकृतानधिकारिणः समादिदेशाज्ञापयामास ॥२९॥

अन्वयः—अधिश्रीः भोजकुलप्रदीपः सः राजा इति स्वसुः पाणिग्रहणं सम्पाद्य महीपतीनां पृथगर्हणार्थम् अधिकृतान् समादिदेश ।

हिन्दी—अधिक श्रीसम्पन्न भोजकुल के प्रदीप के समान प्रकाशक उस राजा भोज ने इस प्रकार अपनी अनुजा इन्दुमती का विवाह सम्पादित करा कर अन्य राजाओं के अलग-अलग एक-एक करके पूजन-सम्मान करने के लिए अधिकारियों को आदेश दिया ॥२९॥

लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः ।
वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाछलेन ॥३०॥

सञ्जी०—लिङ्गैरिति । मुदः संतोषस्य लिङ्गैश्चिह्नैः कपटहासादिभिः संवृतविक्रिया निगूहितमत्सराः । अत एव प्रसन्ना बहिर्निर्मला गूढनक्रा अन्तर्लीनग्राहा ह्रदा इव स्थितास्ते नृपा वैदर्भं भोजमामन्त्र्यापृच्छ्य तदीयां वैदर्भीयां पूजामुपदाछलेनोपायनमिषेण प्रत्यर्प्य ययुर्गतवन्तः ॥३२॥

अन्वयः—मुदः लिङ्गैः संवृतविक्रियाः प्रसन्ना गूढनक्राः ह्रदाः इव ते वैदर्भम् आमन्त्र्य तदीयां पूजाम् उपदाछलेन प्रत्यर्प्य ययुः ।

हिन्दी—हर्ष के चिह्नों से मात्सर्य आदि मनोविकारों को ढँके हुए अत एव ऊपर से प्रसन्न दीखने वाले, जिसके भीतर नक्र—घड़ियाल छिपे हों ऐसे गम्भीर जलाशय के समान स्थित उन राजाओं ने विदर्भेश्वर भोज को बुलाकर उनकी पूजा को उपहार के बहाने प्रत्यर्पित कर अपने-अपने स्थानों के लिए प्रस्थान किया ॥३०॥

स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम् ।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ ॥३१॥

सञ्जी०—स इति । आरम्भसिद्धौ कार्यसिद्धौ विषये । पूर्वं कृता कृतपूर्वा । सुप्सुपेति समासः । कृतपूर्वा संवित् संकेतो मार्गावरोधरूप उपायो येन स तथोक्तः । 'संविद्युद्धे प्रतिज्ञायां संकेताचारनामसु' इति केशवः । स राजलोकः समयोपलभ्यमजप्रस्थानकाले लभ्यम् । तदा तस्यैकाकित्वादिति भावः । 'समरोपलभ्यम्' इति पाठे युद्धसाध्यमित्यर्थः । तत्प्रमदैवामिषं भोग्यवस्तु । 'आमिषं त्वस्त्रियां मांसे तथा स्याद्भोग्यवस्तुनि' इति केशवः । आदास्यमानो ग्रहीष्यमाणः सन्, अस्य पन्थानमावृत्यावरुध्य तस्थौ ॥३१॥

अन्वयः—आरम्भसिद्धौ कृतपूर्वसंवित् स राजलोकः समयोपलभ्यम् तत् प्रमदामिषम् आदास्यमानः सन् अजस्य पन्थानम् आवृत्य तस्थौ ।

हिन्दी—कार्य सिद्धि के विषय में पहले ही विचार कर लेने वाला वह राजाओं का समुदाय (इन्दुमती को अपने साथ अकेले ले जाते हुए अज को हम लोग मार्ग में पछाड़कर उससे इन्दुमती को अपहृत कर लेंगे इस विचार से) भोजराजा के जाने के समय पर उपलब्ध होने योग्य उस स्त्री रूपी भोग्य पदार्थ को ग्रहण करने की कामना करता हुआ अज के मार्ग को रोककर स्थित हो गया ॥३१॥

भर्तापि तावत् क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥३२॥

सञ्जी०—भर्तेति । अनुष्ठितः संपादितोऽनन्तरजाया अनुजाया विवाहो-येन स । तथोक्तः क्रथकैशिकानां देशानां भर्ता स्वामी भोजोऽपि तावत् तदा सत्त्वानुरूपमुत्साहानुरूपं यथा तथा । आ समन्तात् । अनेनानियतवस्तु-दानमित्यर्थः । हरणं कन्यायै देयं धनम् । 'यौतुकादि तु यद्देयं सुदायो हरणं च तत्' इत्यमरः । आहरणीकृता श्रीर्येन तथोक्तः सन्, राघवमजं प्रास्थापयत् प्रस्थापितवान् । स्वयमन्वगादनुजगाम च ॥३२॥

अन्वय—अनुष्ठितानन्तरजाविवाहः क्रथकैशिकानां भर्ता अपि तावत् सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः सन् राघवं प्रास्थापयत् स्वयं च अन्वगात् ।

हिन्दी—अपनी अनुजा इन्दुमती का विवाह प्रतिपादित कर लेने वाले विदर्भ देश के स्वामी भोज ने तब अपने उत्साह के अनुरूप यथाशक्ति दान—दहेज की सम्पदा उपहार स्वरूप प्रदान करते हुए रघुपुत्र अज को विदा किया एवं स्वयं भी उनके पीछे–पीछे गए ॥३२॥

तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा ।
तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥ ३३ ॥

सञ्जी०—तिस्र इति । कुण्डिनं विदर्भनगरं तस्येशो भोजस्त्रिषु लोकेषु प्रथितेनाजेन सार्धं मार्गे पथि तिस्रो वसती रात्रीरुषित्वा स्थित्वा । 'वसती रात्रिवेश्मनोः' इत्यमरः । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । पर्वात्यये दर्शान्ते उष्णरश्मेः सूर्यात् सोमश्चन्द्र इव । तस्मादजादपावर्तत । तं विसृज्य निवृत्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—कुण्डिनेशः त्रिलोकप्रथितेन अजेन सार्धं मार्गे तिस्रः वसतीः उषित्वा, पर्वात्यये उष्णरश्मेः सोमः इव तस्मात् अपावर्तत ।

हिन्दी—कुण्डिन नगर के स्वामी भोजराज त्रैलोक्य प्रसिद्ध अज के साथ मार्ग में तीन रात निवास कर उससे विदा होकर पुनः उसी प्रकार लौट आये जिस प्रकार पर्व की समाप्ति होने पर प्रखर किरणों वाले सूर्य से चन्द्रमा प्रत्यावर्तित हो जाता है ॥ ३३ ॥

प्रमन्यवः प्रागपि कोसलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः ।
अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—प्रमन्वय इति । नृपा राजानः प्रागपि प्रत्येकमात्तस्वतया दिग्विजये गृहीतधनत्वेन कोसलेन्द्रे रघौ प्रमन्यवो रूढवैरा बभूवुः । अतो हेतोः समेताः संगताः सन्त स्तदात्मजस्य रघुसूनोः स्त्रीरत्नलाभं न चक्षमिरे न सेहिरे ॥ ३४ ॥

अन्वयः—नृपाः प्राग् अपि प्रत्येकम् आत्तस्वतया कोसलेन्द्रे प्रमन्यवः बभूवुः, अतः समेताः सन्तः तदात्मजस्य स्त्रीरत्नलाभं न चक्षमिरे ।

हिन्दी—राजा लोग इस स्वयंवर से पूर्व भी एक-एक करके सबका दिग्विजय में धन ग्रहण कर लेने के कारण कोसलपति रघु के ऊपर अत्यधिक शोक व बैर-भाव से युक्त हो गए थे इसलिए एक साथ संगठित होते हुए उसके पुत्र अज के स्त्रियों में रत्न या स्त्रीरूपी रत्न इन्दुमती की प्राप्ति के लाभ को नहीं सहन कर सके थे ॥ ३४ ॥

तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः ।
बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥ ३५ ॥

सञ्जी०—तमिति । दृप्त उद्धतः स राजन्यगणो राजसंघातः भोजकन्यामुद्वहन्तं नयन्तं तमजम् । बलिना वैरोचनिना प्रदिष्टां दत्तां श्रियमाददानं स्वीकुर्वाणम् । त्रिविक्रमस्येमं त्रैविक्रमम् । पादमिन्द्रशत्रुः प्रह्लाद इव । पथि रुरोध । तथा च ब्रह्माण्डपुराणे—'विरोचनविरोऽधेपि प्रह्लादः प्राक्तनं स्मरन् । विष्णोस्तु क्रममाणस्य पादाम्भोजं रुरोध ह ॥' इति ॥३५॥

अन्वयः—दृप्तः स राजन्यगणः भोजकन्याम् उद्वहन्तं तम् बलिप्रदिष्टां श्रियम् आददानं त्रैविक्रमं पादम् इन्द्रशत्रुः इव पथि रुरोध ।

हिन्दी—जिस प्रकार दैत्यराज बलि के द्वारा प्रदत्त श्री को ग्रहण करने

वाले वामनावतारी त्रिविक्रम भगवान् विष्णु के चरण को इन्द्र के शत्रु प्रह्लाद ने रोक लिया था उसी प्रकार भोजकुमारी इन्दुमती को साथ ले जाते हुए अज को उद्दण्ड उन राजाओं के समूह ने मार्ग में ही रोक लिया ॥ ३५ ॥

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः।
प्रत्यग्रहीत् पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरङ्गः ॥ ३६ ॥

सञ्जी०—तस्या इति। स कुमारोऽजस्तस्या इन्दुमत्या रक्षार्थमनल्पयोधं बहुभट्टम्। पितुरागतं पित्र्यम्। आप्तमित्यर्थः, सचिवमादिश्याज्ञाप्य तां पार्थिववाहिनीं राजसेनाम्। 'ध्वजिनी वाहिनी सेना' इत्यमरः। भागीरथीमुत्तरंगः शोणः शोणाख्यो नद इव। प्रत्यग्रहीदभियुक्तवान् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—सः कुमारः तस्याः रक्षार्थम् अनल्पयोधं पित्र्यं सचिवम् आदिश्य, तां पार्थिववाहिनीं भागीरथीम् उत्तरंगः शोणः इव प्रत्यग्रहीत्।

हिन्दी—उस परम प्रतापी कुमार अज ने उस वधू इन्दुमती की रक्षा कें लिए अत्यधिक योद्धाओं से युक्त पितृपरम्परागत मन्त्री को आदेश देकर उस राजसेना को उसी प्रकार रोक लिया जिस प्रकार वृहत्तरंगोंवाला शोणभद्र भागीरथी गंगा को रोक लेता है ॥ ३६ ॥

पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरंगसादी तुरगाधिरूढम्।
यन्ता गजस्याभ्यपतद् गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम् ॥३७॥

सञ्जी०—पत्तिरिति। पत्तिः पादचारोयोद्धा पदातिं पादचारमभ्यपतत्। पदा पादाभ्यामततीति पदातिः। 'पादस्य पद—' इत्यादिना पदादेशः। 'पदातिपत्तिपदगपादातिकपदाजयः'। रथेशो रथिको रथिनं रथारोहमभ्यपतत्। तुरंगसाद्यश्वारोहस्तुरगाधिरूढमश्वारोहमभ्यपतत्। 'रथिनः स्यन्दनारोहा अश्वारोहास्तु सादिनः' इत्यमरः। गजस्य यन्ता हस्त्यारोहो गजस्थं पुरुषमभ्यपतत्। इत्थमनेन प्रकारेण तुल्यप्रतिद्वन्द्वि एकजातीयप्रतिभटं युद्धं बभूव। अन्योन्यं द्वन्द्वं कलहोऽस्त्येषामिति प्रतिद्वन्द्विनो योधाः। द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः इत्यमरः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—पत्तिः पदातिं रथेशः रथिनं तुरंगसादी तुरगाधिरूढम् गजस्य यन्ता गजस्थम् अभ्यपतत् 'प्रत्येकं सम्बन्धः'। इत्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि युद्धं बभूव।

हिन्दी—पैदल चलने वाले योद्धा पैदल चलने वाले योद्धाओं से, रथारूढ योद्धा रथारोहियों से, घुड़सवार घुड़सवारों और गज के नियामक गजारोहियों से भिड़ गए। इस प्रकार समान प्रतिभटों वाला यह बराबरी का युद्ध हुआ ॥ ३७ ॥

नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान् ।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः ॥ ३८ ॥

सञ्जी०—नदत्स्वति। तूर्येषु नदत्सु सत्सु, अविभाव्यवाचोऽनवधार्यगिरश्चापभृतो धानुष्काः कुलमुपदिश्यते यैस्ते कुलोपदेशास्तान्कुल—नामानि नोदीरयन्ति स्म नोच्चारयामासुः। श्रोतुमशक्यत्वाद्वाचो नाब्रुवन्नित्यर्थः। किंतु बाणाक्षरैर्बाणेषु लिखिताक्षरैरेव परस्परस्यान्योन्यस्योर्जितं प्रख्यातं नाम शशंसुरूचुः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—तूर्येषु नदत्सु सत्सु अविभाव्यवाचः चापभृतः कुलोपदेशान् नोदीरयन्ति स्म, 'किन्तु' बाणाक्षरैः एव परस्परस्य ऊर्जितं नाम शशंसुः।

हिंदी—युद्धस्थान में रणभेरियों के तुमुल कोलाहल शब्दों के ध्वनित होने के कारण अपने पराये शब्दों के भेद न समझ सकने वाले धनुषधारी कुलोपदेशों का उच्चारण नहीं करते थे। किन्तु बाणों पर अंकित अक्षरों से ही शत्रु—मित्र एक दूसरे के प्रभावशाली विख्यात नाम को कह देते थे ॥ ३८ ॥

उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंशचक्रैः ।
विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम् ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—उत्थापित इति। संयति संग्रामेऽश्वैरुत्थापितः। स्यन्दनवंशानां रथसमूहानां चक्रैः रथाङ्गैः सान्द्रीकृतो घनीकृतः। 'वंश पृष्ठास्थिन गेहोर्ध्वकाष्ठे वेणौ गणे कुले' इति केशवः। कुञ्जरकर्णानां तालैस्ताडनैर्विस्तारितः प्रसारितो रेणुर्नेत्रक्रमेणांशुकपरिपाट्यां, अंशुकमिवेत्यर्थः। स्याज्जटांशुकयोर्नेत्रम्' इति, 'क्रमोऽङ्घ्रौ परिपाट्यां च' इति च केशवः। सूर्यमुपरुरोधाच्छादयामास ॥ ३९ ॥

अन्वयः—संयति अश्वैः उत्थापितः, स्यन्दनवंशचक्रैः सान्द्रीकृतः, कुञ्जरकर्णतालैः विस्तारितः, रेणुः नेत्रक्रमेण सूर्यम् उपरुरोध।

हिन्दी—युद्ध में घोड़ों के द्वारा उड़ायी गयी, रथसमूहों के पहियों द्वारा

घनी की गयी और हाथियों के कानरूपी ताडपत्रों-पंखों से फैलायी गयी धूलि ने नेत्र के क्रम से—वस्त्र की परिपाटी से या वस्त्र के समान सूर्य को ढँक लिया ॥ ३९ ॥

मत्स्यध्वजा वायुवशाद्विदीर्णैर्मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि ।
बभुः पिबन्तः परमार्थमत्स्याः पर्याविलानीव नवोदकानि ॥ ४० ॥

सञ्जी०—मत्स्येति । वायुवशाद्विदीर्णैर्विवृतैर्मुखैः प्रवृद्धानि ध्वजिनीरजांसि सैन्यरेणून् पिबन्तो गृह्णन्तो मत्स्यध्वजा मत्स्याकारा ध्वजाः पर्याविलानि परितः कलुषानि नवोदकानि पिबन्तः परमार्थमत्स्याः सत्यमत्स्या इव । बभुर्भान्ति स्म ।

अन्वयः—वायुवशात् विदीर्णैः मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि पिबन्तः ध्वजाः पर्याविलानि नवोदकानि पिबन्तः परमार्थमत्स्या इव बभुः ।

हिन्दी—वायुवश उन्मुक्त मुखों से अत्यधिक बढ़ी हुयी सेना की धूलि को पीते हुए मछली के आकार के ध्वज मटमैले-अस्वच्छ नये जल को पीते हुए असली (वास्तविक) मत्स्य के समान लगते थे ॥ ४० ॥

रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे विलोलघण्टाक्वणितेन नागः ।
स्वभर्तृनामग्रहणाद् बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—रथ इति । सान्द्रे प्रवृद्धे रजसि रथो रथाङ्गध्वनिना चक्रस्वनेन विजज्ञे ज्ञातः । नागो हस्ती विलोलानां घण्टानां क्वणितेन नादेन विजज्ञे । आत्मपरावबोधः स्वपरविवेकः । योधानामिति शेषः, स्वभर्तृणां स्वस्वामिनां नामग्रहणान्नामोच्चारणाद् बभूव । रजोऽन्धतया सर्वे स्वं परं च शब्दादेवानुमाय प्रजह्रुरित्यर्थः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—सान्द्रे रजसि रथः रथांगध्वनिना विजज्ञे, नागः विलोलघण्टाक्वणितेन विजज्ञे, आत्मपरावबोधः स्वभर्तृनामग्रहणात् बभूव ।

हिन्दी—प्रगाढ़ धूलि में रथ का ज्ञान चक्र की ध्वनि से और हाथी का ज्ञान चपल-घण्टा के नाद से होता था । अपने और पराये का बोध अपने स्वामी के नाम लेने से हुआ । धूलि से अन्धकार छा जाने के कारण नेत्रों से कुछ नहीं दीखता था अतः सभी योद्धा अपने और पराये का ज्ञान शब्द से ही निश्चित कर प्रहार करते थे ।

आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ रजोन्धकारस्य विजृम्भितस्य।
शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा बालारुणोऽभूद्रुधिरप्रवाहः ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—आवृण्वत इति। लोचनमार्गमावृण्वतो दृष्टिपथमुपरुन्धतः। आजौ युद्धे विजृम्भितस्य व्याप्तस्य। रज एवान्धकारं तस्य। शस्त्रक्षतेभ्योऽश्वद्विपवीरेभ्यो जन्म यस्य स तथोक्तो रुधिरप्रवाहो बालारुणो बालार्कोऽभूत्। 'अरुणो भास्करेऽपि स्यात्' इत्यमरः। बालविशेषणं रुधिरसावर्ण्यार्थम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—लोचनमार्गम् आवृण्वतः आजौ विजृम्भितस्य, रजोन्धकारस्य शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा रुधिरप्रवाहः बालारुणः अभूत्।

हिन्दी—नेत्रों के मार्ग को आच्छादित्त करने वाले युद्ध में व्याप्त धूलिरूपी अन्धकार के शस्त्रों से कटे घोड़ों, हाथियों और वीरों से उत्पन्न होने वाला रुधिर का प्रवाह बाल-रवि (प्रातःकालीन सूर्य) की भाँति लाल हो गया ॥ ४२ ॥

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे ॥ ४३ ॥

सञ्जी०—स इति। क्षतजेन रुधिरेण छिन्नमूलः त्याजितभूतलसंबन्ध इत्यर्थः। तस्य क्षतजस्योपरिष्टात् पवनावधूतो वाताहतः स रेणुः। अङ्गारशेषस्य हुताशनस्याग्नेः पूर्वोत्थितो धूम इव। आवभासे दिदीपे ॥ ४३ ॥

अन्वयः—क्षतजेन छिन्नमूलः तस्य उपरिष्टात् पवनावधूतः स रेणुः, अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितः धूमः इव आवभासे।

हिन्दी—शास्त्रों से विक्षत घोड़े हाथी और वीरों के रक्त से विछिन्न मूलभूतलसम्पर्क वाली और ऊपर वायु से उड़ाई गई वह धूलि, अङ्गार मात्र बची हुयी अग्नि के पूर्व उठे धुएँ के समान शोभित हो रही थी। तात्पर्य यह है कि रक्तप्रवाह से सनी धूलि भूतल में अग्नि जैसी और वायु से उड़ायी गयी आकाश में फैली हुयी धूलि धुएँ के समान लग रही थी ॥४३॥

प्रहारमूर्च्छापगमे रथस्था यन्तॄनुपालभ्य निवर्तिताश्वान्।
यैः सादिता लक्षितपूर्वकेतूंस्तानेव सामर्षतया निजघ्नुः ॥ ४४ ॥

सञ्जी०—प्रहारेति । रथस्था रथिनः प्रहारेण या मूर्च्छा तस्या अपगमे सति । मूर्च्छितानामन्यत्र नीत्वा संरक्षणं सारथिधर्म इति कृत्वा । निवर्तिताश्वान् यन्तॄन् सारथीनुपालभ्य 'असाधु कृतम्' इत्यधिक्षिप्य । पूर्वं यैः स्वयं सादिता हताः । लक्षितपूर्वकेतून् । पूर्वदृष्टैः केतुभिः प्रत्यभिज्ञातानित्यर्थः । तानेव सामर्षतया सकोपत्वेन हेतुना विजघ्नुः प्रजह्रुः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—रथस्थाः, प्रहारमूर्छापगमे, निर्वर्तिताश्वान् यन्तॄन् उपालभ्य, यैः सादिताः, लक्षितपूर्वकेतुन्, तानेव, सामर्षतया, निजघ्नुः ।

हिन्दी—रथ पर बैठे योद्धाओं ने शस्त्रप्रहार के कारण हुई मूर्च्छा के दूर हो जाने पर युद्धस्थल से सुरक्षित स्थान में घोड़ों को पहुँचाने वाले सारथियों को 'तुमने यह उचित नहीं किया' इस प्रकार उपालम्भ देकर जिनके द्वारा वे घायल किये गये थे और जिन्हें उन्होंने पहले पताकाओं से लक्षित किया था उन्हीं के ऊपर अमर्ष से युक्त होने के कारण प्रहार किया ॥ ४४ ॥

अप्यर्धमार्गे परबाणलूना धनुर्भृतां हस्तवतां पृषत्काः ।
संप्रापुरेवात्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यम् ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—अपीति । अर्धश्चासौ मार्गश्च तस्मिन्नर्धमार्गे परेषां बाणैर्लूनाश्छिन्ना अपि हस्तवतां कृतहस्तानां धनुर्भृतां पृषत्काः शराः आत्मजवानुवृत्त्या स्ववेगानुबन्धेन हेतुना फलिभिर्लोहाग्रवद्भिः । 'सस्यबाणाग्रयोः फलम्' इति विश्वः । पूर्वार्धभागैः । शृणातीति शरुः । तस्मै हितं शरव्यं लक्ष्यम् । 'उगवादिभ्यो यत्' इति यत्प्रत्ययः । 'लक्षं लक्ष्यं शरव्यं च' इत्यमरः । संप्रापुरेव, न तु मध्ये पतिता इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—अर्धमार्गे परबाणलूना अपि हस्तवतां धनुर्भृतां पृषत्काः आत्मजवानुवृत्त्या फलिभिः पूर्वार्धभागैः शरव्यं सम्प्रापुः एव ।

हिन्दी—आधे रास्ते में शत्रुओं के बाणों से छिन्नकर दिये जाने पर भी प्रसिद्ध हस्त (सधे हाथ वाले) धनुर्धारियों के बाण अपने प्रबल वेग की अनुवृत्ति के कारण लोहे के अग्रभागवाले पूर्वार्ध के अंश से लक्ष्य को प्राप्त ही कर लेते थे न कि वीच में ही गिर पड़ते थे ॥ ४५ ॥

आधोरणानां गजसंनिपाते शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः ।
हृतान्यपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥ ४६ ॥

सञ्जी०—आधोरणानामिति । गजसंनिपाते गजयुद्धे निशितैरत एव क्षुराग्रैः क्षुरस्याग्रमिवाग्रं येषां तैश्चक्रै रायुधविशेषैर्हृतानि छिन्नान्यपि । श्येनानां पक्षिविशेषाणाम् । 'पक्षी श्येनः' इत्यमरः । नखाग्रकोटिषु व्यासक्ताः केशा येषां तानि । आधोरणानां हस्त्यारोहाणाम् । 'आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिनः' इत्यमरः । शिरांसि चिरेण पेतुः पतितानि । शिरःपातात्प्रागेवारुह्य पश्चादुत्पततां पक्षिणां नखेषु केशसङ्गश्चिरपातहेतुरिति भावः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—गजसन्निपाते निशितैः क्षुराग्रैः; चक्रैः हृतानि अपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि आधोरणानां शिरांसि चिरेण पेतुः ।

हिन्दी—हाथियों की लड़ाई में तीक्ष्ण किये गये क्षुरे की धार के समान तेज चक्रों से कटे हुए होने पर भी वाजपक्षी के नखों के अग्रभागों में लगे हुए केशवाले गजयन्ताओं (महावतों) के शिर बहुत विलम्ब से गिरते थे ॥ ४६ ॥

पूर्वं प्रहर्ता न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी ।
तुरंगमस्कन्धनिषण्णदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकाङ्क्ष ॥ ४७ ॥

सञ्जी०—पूर्वमिति । पूर्वं प्रथमं प्रहर्ताऽश्वसादी तौरंगिकः प्रतिहारेऽक्षममशक्तं तुरंगमस्कन्धे निषण्णदेहम् । मूर्च्छितमित्यर्थः । रिपुं भूयो न जघान पुनर्न प्रजहार । किन्तु प्रत्याश्वसन्तं पुनरुज्जीवन्तमाचकाङ्क्ष । 'नायुधव्यसनं प्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्' इति निषेधादिति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—पूर्वं प्रहर्ता अश्वसादी प्रतिप्रहाराक्षमं तुरंगमस्कन्धनिषण्णदेहम् रिपुं भूयः न जघान, (किन्तु), प्रत्याश्वसन्तम् आचकाङ्क्ष ।

हिन्दी—पहले प्रहार करने वाले अश्वारोही ने प्रहार के बदले प्रतिप्रहार करने में असमर्थ घोड़े के कन्धे पर झुके शरीर वाले मूर्च्छित शत्रु पर पुनः प्रहार नहीं किया किन्तु उसके पुनः जीवित हो जाने की कामना की । (अस्त्रहीन, विपन्न आर्त और अत्यन्त विक्षत शरीरवाले शत्रु पर मनु के अनुसार प्रहार नहीं करना चाहिए इसी विचार से पुनः प्रहार नहीं किया) ॥ ४७ ॥

तनुत्यजां वर्मभृतां विकोशैर्बृहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः ।
उद्यन्तमग्निं शमयांबभूवुर्गजा विविग्नाः करशीकरेण ॥ ४८ ॥

सञ्जी०—तनुत्यजामिति। तनुत्यजाम्। तनुषु निःस्पृहाणामित्यर्थः। वर्मभृतां कवचिनां सम्बन्धिभिर्बृहत्सु दन्तेषु पतद्भिरत एव विकोशैः पिधानादुद्धृतैः। 'कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेऽर्थौघदिव्ययोः' इत्यमरः। असिभिः खड्गैरुद्यन्तमुत्थितमग्निं विविग्ना भीता गजाः करशीकरेण शुण्डादण्डजलकणेन शमयांबभूवुः शान्तं चक्रुः॥ ४८॥

अन्वयः—तनुत्यजां वर्मभृतां "सम्बन्धिभिः" बृहत्सु दन्तेषु पतद्भिः विकोशैः असिभिः उद्यन्तम् अग्निम् विविग्नाः गजाः करशीकरेण शमयांबभूवुः।

हिन्दी—शरीर की चिन्ता न करनेवाले कवचधारी वीरों के बड़े-बड़े दाँतों पर गिरने वाली म्यान से निकली हुयी तलवारों से छिटकती अग्नि को सभीत (उद्विग्न) हाथियों ने अपनी सूँड़ के जलविन्दुओं से शान्त कर दिया॥ ४८॥

शिलीमुखोत्कृत्तशिरःफलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः॥ ४९॥

सञ्जी०—शिलीमुखेति। शिलीमुखैर्बाणैरुत्कृत्तानि शिरांस्येव फलानि तैराढ्या संपन्ना। च्युतैर्भ्रष्टैः शिरांसि त्रायन्त इति शिरस्त्राणि शीर्षण्यानि। 'शीर्षण्यं च शिरस्त्रे च' इत्यमरः। तैश्चषकोत्तरा चषकः पानपात्रमुत्तरं यस्याः सेव। 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः। शोणितान्येव मद्यं तस्य कुल्याः प्रवाहा यस्यां सा। 'कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः। रणक्षितियुद्धभूमिर्मृत्योः पानभूमिरिव रराज॥ ४९॥

अन्वयः—शिलीमुखोत्कृत्तशिरः-फलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैः चषकोत्तरा इव शोणितमद्यकुल्या रणक्षितिः मृत्योः पानभूमिः इव रराज।

हिन्दी—बाणों से कटे मस्तक रूपी फलों से परिपूर्ण और गिरे हुए शिरोरक्षक-लौह टोपों से मानों मद्यपान के पात्र-(प्याला) के समान खून रूपी मदिरा की नहर वाली रणभूमि मृत्यु की मधुशाला के समान लगने लगी॥ ४९॥

उपान्तयोर्निष्कुषितं विहंगैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि।
केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार॥ ५०॥

सञ्जी०—उपान्तयोरिति। उपान्तयोः प्रान्तयोर्विहंगैः पक्षिभिर्निष्कुषितं

खण्डितम् । 'इण्निष्ठायाम्' इतीडागमः । भुजच्छेदं भुजखण्डं तेभ्यो विहंगेभ्यः आक्षिप्याच्छिद्य पिशितप्रिया मांसप्रियाऽपि शिवा क्रोष्ट्री । 'शिवः कीलः शिवा क्रोष्ट्री' इति विश्वः । केयूरकोटयाऽङ्गदाग्रेण क्षतस्तालुदेशो यस्याः सा सती । अपाचकारापसारयामास । किरतेः करोतेर्वा लिट् ॥ ५० ॥

अन्वयः—उपान्तयोः विहंगैः निष्कुषितम् भुजच्छेदं तेभ्यः आक्षिप्य पिशितप्रिया अपि शिवा केयूरकोटिक्षततालुदेशा सती अपाचकार ।

हिन्दी—दोनों किनारों पर पक्षियों द्वारा खण्डित भुजाओं के टुकड़ों को उनसे (पक्षियों से) छीनकर मांस की प्रिया (मांस जिसे प्रिय हो) होने पर भी सियारिन भुजाओं में लगे अंगदों बाजूबन्दों के तीक्ष्ण कोरों से तालु का एक भाग कट जाने से (विना मांस खाये ही) अन्यत्र चली गयी ॥ ५० ॥

कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य ।
वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श ॥ ५१ ॥

सञ्जी०—कश्चिदिति । द्विषतः खड्गेन हृतोत्तमाङ्गश्छिन्नशिराः कश्चिद्वीरः सद्यो विमानप्रभुतां विमानाधिपत्यम् । देवत्वमित्यर्थः । उपेत्य प्राप्य वामाङ्गसंसक्ता सव्योत्सङ्गसङ्गिनी सुराङ्गना यस्य स तथोक्तः सन्, समरे नृत्यत्स्वं निजं कबन्धं अशिरस्कं कलेवरं ददर्श । 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्' इत्यमरः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—द्विषत्खड्गहृतोत्तमांगः कश्चित् वीरः सद्यः विमानप्रभुताम् उपेत्य वामांगसंसक्तसुरांगनः सन्, समरे नृत्यत् स्वं कबन्धं ददर्श ।

हिन्दी—शत्रु की तलवार से उच्छिन्न मस्तक वाला कोई वीर तत्क्षण विमान की प्रभुता पाकर (देवत्व लाभकर) वामांग में देवांगना से युक्त हो विलसित होता हुआ युद्ध में नाचते हुए अपने शिर कटे शरीर को देखने लगा ॥ ५१ ॥

अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित् ।
व्यश्वौ गदाव्यायतसंप्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ ॥ ५२ ॥

सञ्जी०—अन्योन्येति । कौचिद्वीरावन्योन्यस्य सूतयोः सारथ्योरुन्मथना-

न्निधनात्तावेव सूतौ रथिनौ योद्धारौ चाभूताम्। तावेव व्यश्वौ नष्टाश्वौ सन्तौ गदाभ्यां व्यायतो दीर्घः संप्रहारो युद्धं ययोस्तावभूताम्। ततो भग्नायुधौ सन्तौ बाहुविमर्दे निष्ठा नाशो ययोस्तौ बाहुयुद्धसक्तावभूताम्। 'निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ताः' इत्यमरः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—कौचित् अन्योन्यसूतोन्मथनात् तौ एव सूतौ रथिनौ च अभूताम्, तौ एव व्यश्वौ सन्तौ गदाव्यायतसंप्रहारौ अभूताम्; भग्नायुधौ सन्तौ बाहुविमर्दनिष्ठौ च अभूताम्।

हिन्दी—कोई दो वीर परस्पर सारथियों के मर जाने से वे ही दोनों सारथी और रथी-योद्धा बन गए। वे ही दोनों वीर अश्वों के नष्ट हो जाने पर गदाओं के द्वारा दीर्घ प्रहार में संलग्न हो गए, और जब आयुध भी भग्न हो गए तो बाहुयुद्ध में गुथंगुत्थी करने को तल्लीन हो गए ॥ ५२ ॥

परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाय्वोः समकालमेव।
अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरः प्रार्थितयोर्विवादः ॥ ५३ ॥

सञ्जी०—परस्परेणेति। परस्परेणान्योन्यं क्षतयो क्षततन्वोः समकालमेककालं यथा तथोत्क्रान्तवाय्वोर्युगपदुद्गतप्राणयोः एकैवाप्सराः प्रार्थिता याभ्यां तयोरेकाप्सरः—प्रार्थितयोः। प्रार्थितैकाप्सरसोरित्यर्थः। 'वाहिताग्न्यादिषु' इति परनिपातः। अथवा—एकस्यामप्सरसि प्रार्थितं प्रार्थना ययोरिति विग्रहः। 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः' इति बहुत्वाभिधानं प्रायिकम्। कयोश्चित्प्रहर्त्रोर्योधयोरमर्त्यभावेऽपि देवत्वेऽपि विवादः कलह आसीत्। एकामिषाभिलाषो हि महद्वैरबीजमिति भावः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—परस्परेण क्षतयोः समकालमेव, यथा स्यात्तथा, उत्क्रान्तवाय्वोः एकाप्सरः प्रार्थितयोः कयोश्चित् प्रहर्त्रोः अमर्त्यभावेऽपि विवादः आसीत्।

हिन्दी—परस्पर एक दूसरे के द्वारा विनष्ट शरीर वाले दो युद्ध प्रेमियों के एक समय में ही जैसे-तैसे प्राणवायु के निकल जाने से एक ही अप्सरा को प्रार्थना करने वाले किन्हीं दो प्रहार कर्ताओं में देवत्व लाभ होने पर भी विवाद हो रहा था ॥ ५३ ॥

व्यूहावुभौ तावितरेतरस्माद् भङ्गं जयं चापतुरव्यवस्थम्।
पश्चात्पुरो मारुतयोः प्रवृद्धौ पर्यायवृत्त्येव महार्णवोर्मी ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—व्यूहाविति । तावुभौ व्यूहौ सेनासंघातौ । 'व्यूहस्तु बलविन्यासः इत्यमरः । पश्चात्पुरश्च यौ मारुतौ तयोः पर्यायवृत्त्या प्रवृद्धौ महान्तावर्णवोर्मी महार्णवोर्मी इव । इतरेतरस्मादन्योन्यस्मादव्यवस्थं व्यवस्थारहितमनियतं जयं भङ्गं पराजयं चापतुः प्राप्तवन्तौ ।। ५४ ।।

अन्वयः—तौ उभौ व्यूहौ पश्चात्पुरो मारुतयोः पर्यायवृत्त्या प्रवृद्धौ महार्णवोर्मी इव इतरेतरस्मात् अव्यवस्थं जयं भङ्गञ्च आपतुः ।

हिन्दी—उन दोनों समान बलवान सैन्य-व्यूहों ने आगे-पीछे वायु की क्रमिक आवृत्ति या झोंकेसे प्रवर्द्धित महासागर की दो तरंगों के समान एक–दूसरे से अनियत जय-पराजय पाया ।। ५४ ।।

परेण भग्नेऽपि बले महौजा ययावजः प्रत्यरिसैन्यमेव ।
धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव वह्निः ।। ५५ ।।

सञ्जी०—परेणेति । बले स्वसैन्ये परेण परबलेन भग्नेऽपि महौजा महाबलोऽजोऽरिसैन्यं प्रत्येव ययौ । तथा हि–समीरणेन वायुना धूमो निवर्त्येत कक्षादपासर्येत । वर्ततेर्ण्यन्तात्कर्मणि संभावनायां लिङ् । वह्निस्तु यतो यत्र कक्षस्तृणम् । 'कक्षौ तु तृणवीरुधौ' इत्यमरः । तत एव तत्रैव । प्रवर्तत इति शेषः । सार्वविभक्तिकस्तसिः ।। ५५ ।।

अन्वयः—बले परेण भग्ने अपि महौजाः अजः अरिसैन्यं प्रत्येव ययौ, हि समीरणेन धूमः निवर्त्येत वह्निस्तु यतः कक्षः ततः एव (प्रवर्तते इति शेषः) ।

हिन्दी—अपनी सेना के शत्रुसेना द्वारा छिन्न-भिन्न विमर्दित हो जाने पर भी महान् ओजस्वी अज शत्रु सेना के सम्मुख ही बढ़ता गया, क्योंकि प्रबल वायु से धूम भले ही अन्यत्र उड़ाकर ले जाया जा सकता है अग्नि तो जहाँ तृणकाष्ठादि इन्धन है वहीं प्रवृत्त होती है ।। ५५ ।।

रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान्दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः ।
निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः ।। ५६ ।।

सञ्जी०—रथीति । रथी रथारूढो निषङ्गी तूणीरवान् । 'तूणोपासंगतूणीरनिषंगा इषुधिर्द्वयोः' इत्यमरः । कवची वर्मधरो धनुष्मान् धनुर्धरो दृप्तो रणदृप्त एकवीरोऽसहायशूरः सोऽजो राजन्यकं राजसमूहम् । 'गोत्रोक्षो' इत्यादिना वुञ्प्रत्ययः । महावराहो वराहावतारो विष्णुः कल्पक्षये कल्पान्तकाल उद्वृत्तमुद्वेलमर्णवाम्भ इव । निवारयामास ।। ५६ ।।

अन्वयः—रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान् दृप्तः एकवीरः सः राजन्यकम् महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तम् अर्णवाम्भः इव निवारयामास।

हिन्दी—रथारूढ, तरकसकसे युक्त कवचधारी, धनुर्धर, रणदृप्त, अद्वितीय वीर उस अज ने क्षत्रियों के समूह का उसी प्रकार निवारण किया जिस प्रकार महावराह शूकरावतारी विष्णु ने कल्पान्त में सीमातीत सागर के जल को रोक लिया था ॥ ५६ ॥

स दक्षिणं तूणमुखेन वामं व्यापारयन्हस्तमलक्ष्यताजौ।
आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धुर्मौर्वीव बाणान्सुषुवे रिपुघ्नान् ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—स इति। सोऽजः। आजौ संग्रामे दक्षिण-हस्तं तूणमुखेन निषङ्गविवरेण वाममतिसुन्दरम्। 'वामं सव्ये प्रतीते च द्रविणे चातिसुन्दरे' इति विश्वः। व्यापारयन्नलक्ष्यत, शरसंधानादयस्तु दुर्लक्ष्या इत्यर्थः। सकृदाकर्णकृष्टा। योद्धुरस्याजस्य मौर्वी ज्या रिपून्घ्नन्तीति रिपुघ्नाः। तान्। 'अमनुष्यकर्तृके च' इति ठक्प्रत्ययः। बाणान्सुषुव इव सुषुवे किमु। इत्युत्प्रेक्षा ॥५७॥

अन्वयः—सः आजौ दक्षिणं हस्तं तूणमुखेन वामं व्यापारयन् अलक्ष्यत आकर्णकृष्टा योद्धुः अस्य मौर्वी रिपुघ्नान् बाणान् सुषुवे इव।

हिन्दी—वह वीर अज रणकुशल दक्षिण हाथ को तरकस के मुख्य द्वार पर सुन्दरता पूर्वक सञ्चालित करते हुए लक्षित होता था। कानों तक एक ही बार खिंची हुयी इस योद्धा की धनुष-डोरी मानों शत्रुनाशक वाणों को जन्म दे रही थी। उसके तरकस से जो बाण निकलते थे वे शत्रुओं का संहार ही कर डालते थे ॥ ५७ ॥

स रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैर्व्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटीर्वहद्भिः।
तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुंकारगर्भैर्द्विषतां शिरोभिः ॥ ५८ ॥

सञ्जी—स इति। सोऽजः रोषेण दष्टा अत एवाधिकलोहिता औष्ठा येषां तानि तैः। व्यक्ता ऊर्ध्वा रेखा यासां ता भ्रुकुटीर्भ्रूभंगान्वहद्भिः। भल्लनिकृत्ता वाणविशेषच्छिन्नाः कण्ठा येषां तैः। हुंकारगर्भैः सहुंकारैः हुंकुर्वद्भिरित्यर्थः। द्विषतां शिरोभिर्गां भूमिं तस्तार छादयामास ॥ ५८ ॥

अन्वयः—सः रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैः व्यक्तोर्ध्वरेखाः भ्रुकुटिः वहद्भिः भल्लनिकृत्तकण्ठैः हुंकारगर्भैः द्विषतां शिरोभिः गां तस्तार।

हिन्दी—उस अज ने शत्रुओं के क्रोध से दाँतों से पीसने के कारण अधिक लाल ओठों वाले, स्पष्ट ऊपर उभरी हुयी रेखाओं वाली भ्रूभंगिमा धारण

करने वाले भाले से कटे कण्ठ वाले हुंकार भरे मस्तकों से पृथ्वी पाट दी ॥ ५८ ॥

सर्वैर्बलाङ्गैर्द्विरदप्रधानैः सर्वायुधैः कङ्कटभेदिभिश्च ।
सर्वप्रयत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रजह्रुर्युधि सर्व एव ॥ ५९ ॥

सञ्जी०—सर्वैरिति । द्विरदप्रधानैर्गजमुख्यैः सर्वैर्बलांगैः सेनांगैः । हस्त्यश्वरथपादातं सेनांगं स्याच्चतुष्टयम्' इत्यमर, । कङ्कटभेदिभिः कवचभेदिभिः 'उरश्छदः कङ्कटकोऽजगरः कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । सर्वायुधैश्च बाह्यबलमुक्त्वान्तरमाह—सर्वप्रयत्नेन च सर्व एव भूमिपाला युधि तस्मिन्नजे प्रजह्रुः । तं प्रजह्रुरित्यर्थः । सर्वत्र सर्वकारकशक्तिसंभवात्कर्मणोऽप्यधिकरणविवक्षायां सप्तमी । तदुक्तम्—'अनेकशक्तियुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः । सर्वदा सर्वथाभावात्क्वचित्किंचिद्विवक्ष्यते ॥ ५९ ॥

अन्वयः—द्विरदप्रधानैः सर्वैः बलाङ्गैः कङ्कटभेदिभिः सर्वायुधैः च सर्वप्रत्यनेन च सर्वे एव भूमिपालाः युधि तस्मिन् प्रजह्रुः ।

हिन्दी—गज प्रमुख समस्त सेना के अंगों घोड़े रथ पैदल सैनिकों के द्वारा कवचों को भेदने वाले समस्त अस्त्रों से और इस प्रकार के प्रयत्न से सभी भूपालों ने युद्ध में उस एक अज के ऊपर प्रहार किया ॥ ५९ ॥

सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथः परेषां ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्यः ।
नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किञ्चित्प्रकाशेन विवस्वतेव ॥ ६० ॥

सञ्जी०—स इति । परेषां द्विषामस्त्रव्रजैश्छन्नरथः सोऽजः । नीहारैर्हिमैर्मग्नो दिनपूर्वभागः प्रातकालः किञ्चित्प्रकाशेनेषल्लक्ष्येण विवस्वतेव । ध्वजाग्रमात्रेण लक्ष्यो बभूव । ध्वजाग्रादन्यन्न किंचिल्लक्ष्यते स्मेत्यर्थः ॥ ६० ॥

अन्वयः—परेषाम् अस्त्रव्रजैः छन्नरथः सः नीहारमग्नः दिनपूर्वभागः किंचित्प्रकाशेन विवस्वता इव ध्वजाग्रमात्रेण लक्ष्यः बभूब ।

हिन्दी—शत्रुओं के शस्त्रों के समूहों से आच्छादित रथवाला वह अज पताका के केवल अगले भाग से उसी प्रकार लक्षित हो रहा था जिस प्रकार कोहरे से घिरा हुआ दिन का पूर्वभाग (प्रातःकाल) स्वल्प प्रकाश वाले सूर्य से झलकता है ॥ ६० ॥

प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः ।
गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः ॥ ६१ ॥

सञ्जी०—प्रियंवदादिति । अधिराजसूनुर्महाराजपुत्रः कुसुमास्त्रकान्तो

मदनसुन्दरः। स्वप्ननिवृत्तलौल्यः स्वप्नवितृष्णः। जाकरूक इत्यर्थः। असौ कुमारोऽजः प्रियंवदात्पूर्वोक्ताद्गन्धर्वात्प्राप्तं गान्धर्वं गन्धर्वदेवताकम्। 'सास्य देवता' इत्यण्। प्रस्वापयतीति प्रस्वापनं निद्राजनकमस्त्रं राजसु प्रायुंक्त प्रयुक्तवान् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—अधिराजसूनुः कुसुमास्त्रकान्तः स्वप्ननिवृत्तलौल्यः असौ कुमारः प्रियंवदात् प्राप्तम् गान्धर्वं प्रस्वापनम् अस्त्रम् राजसु प्रायुङ्क्त।

हिन्दी—महाराजाधिराज श्री रघु के सुपुत्र पुष्पायुध काम के समान अतिशय कमनीय, स्वप्न से विनिवृत्तचित्त वाले अर्थात् जागरूक रहने वाले उस कुमार अज ने प्रियंवद नामक गन्धर्व से (जिसे अज ने अपने बाण के प्रहार से गजयोनि से मुक्त कर गन्धर्व रूप प्रदान किया था) प्राप्त गन्धर्व-देवतावाले, शत्रु को सुला देनेवाले अस्त्र का राजाओं के ऊपर प्रयोग किया।

ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम्।
तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—तत इति। ततो धनुष्कर्षणे चापकर्षणे मूढहस्तमव्यापृत-हस्तम्। एकस्मिन्नंसे पर्यस्तं स्रस्तं शिरस्त्राणां शीर्षण्यानां जालं समूहो यस्य तत्। ध्वजस्तम्भेषु निषण्णा अवष्टब्धा देहा यस्य तत्। नरदेवानां राज्ञां सेनैव सैन्यम्। चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः। निद्राविधेयं निद्रापरतन्त्रं तस्थौ ॥ ६२ ॥

अन्वयः—ततः धनुष्कर्षणमूढहस्तम्, एकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम्, ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहम्, नरदेवसैन्यं निद्राविधेयं तस्थौ।

हिन्दी—गान्धर्व अस्त्र छोड़े जाने पर देवतास्वरूप उन राजाओं की वह सेना निद्रा के वशीभूत हो गयी धनुष के खींचने में जिनके हाथ निश्चेष्ट हो गये थे तथा जिनके एक कन्धे पर उलटा टिका हुआ लौह टोपों का समूह था, और पताकाओं के खम्भों के सहारे जिनके शरीर टिके हुए थे ॥ ६२ ॥

ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः।
तेन स्वहस्तार्जितमेकवीरः पिबन्यशो मूर्तमिवावभासे ॥ ६३ ॥

सञ्जी०—तत इति। ततः कुमारोऽजः प्रिययेन्दुमत्योपात्तरस आस्वादित-माधुर्ये। अतिश्लाघ्य इति भावः। अधरोष्ठे जलजं शङ्खं निवेश्य। 'जलज शङ्खपद्मयोः' इति विश्वः। दध्मौ मुखमारुतेन पूरयामास। तेनौष्ठ-निविष्टेन शङ्खेनैकवीरः सः स्वहस्तार्जितं मूर्तं मूर्तिमद्यशः पिबन्निवावभासे। यशसः शुभ्रत्वादिति भावः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—ततः कुमारः प्रियोपात्तरसे अधरोष्ठे जलजं निवेश्य दध्मौ तेन एकवीरः सः स्वहस्तार्जितं मूर्तं यशः पिबन् इव आवभासे।

हिन्दी—शत्रु सेना के निद्राभिभूत हो जाने के बाद कुमार अपने अपनी प्रिया इन्दुमती के द्वारा आस्वादित (चुम्बित) रस वाले ओठ पर जल से उत्पन्न होनेवाले शंख को रखकर बजाया। जिससे वह अद्वितीय वीर अपने हाथों से उपार्जित साक्षात् यश को मानों पीता हुआ सा सुशोभित हुआ॥ ६३॥

शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः।
निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम्॥६४॥

सञ्जी०—शङ्खेति। शङ्खस्वनस्याजशङ्खध्वनेरभिज्ञतया प्रत्यभिज्ञातत्वान्निवृत्ताः प्राक्पलाय्य संप्रति प्रत्यागताः स्वयोधाः सन्नशत्रुं निद्राणशत्रुं तमजम्। निमीलितानां मुकुलितानां पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमा चासौ शशाङ्कश्च तं प्रतिमाशशाङ्कं प्रतिबिम्बचन्द्रमिव ददृशुः॥ ६४॥

अन्वयः—शंखस्वनाभिज्ञतया निवृत्ताः स्वयोधाः सन्नशत्रुं तम् निमीलितानां पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशांकम् इव ददृशुः।

हिन्दी—शंखध्वनि की पहचान करने के कारण लौटे हुए अपने वीरों ने सोये हुए शत्रुवाले उस अज को संकुचित कमलों के मध्य में चमकते हुए प्रतिबिम्ब के चन्द्रमा के समान देखा॥ ६४॥

सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रैर्निक्षेपिता केतुषु पार्थिवानाम्।
यशो हृतं संप्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्णाः॥६५॥

सञ्जी०—सशोणितैरिति। संप्रति राघवेण रघुपुत्रेण। पूर्वं रघुणेति भावः। हे राजानः! वो युष्माकं यशो हृतं, जीवितं तु कृपया न हृतम्। न त्वशक्त्येति भावः। इत्येवंरूपा वर्णाः। एतदर्थप्रतिपादकं वाक्यमित्यर्थः। सशोणितैः शोणितदिग्धैः शिलीमुखाग्रैर्बाणाग्रैः साधनैस्तेनाजेन प्रयोजनकर्त्रा। पार्थिवानां राज्ञां केतुषु ध्वजस्तम्भेषु निक्षेपिताः प्रयोज्यैरन्यैर्निवेशिताः लेखिता इत्यर्थः। क्षिपतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः॥ ६५॥

अन्वयः—सम्प्रति राघवेण 'हे राजानः' वः यशः हृतम् जीवितं तु कृपया न हृतम्, इति वर्णाः सशोणितैः शिलीमुखाग्रैः तेन पार्थिवानां केतुषु निक्षेपिताः।

हिन्दी—इस समय "हे राजाओं! रघुपुत्र अज के द्वारा आप लोगों का यश हर लिया गया किन्तु दया आ जाने से प्राण नहीं लिये गए" इस अर्थ

के प्रतिपादक वाक्य रक्त युक्त बाण के अग्रभाग से अज के सैनिक के द्वारा राजाओं के ध्वजों पर लिख दिया ॥ ६५ ॥

स चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ।
ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुर्भीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे ॥ ६६ ॥

सञ्जी०—स इति । चापकोटयां निहित एकबाहुर्येन सः । शिरस्त्रस्य निष्कर्षणेनापनयनेन भिन्नमौलिः श्लथकेशबन्धः । 'चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रयः इत्यमरः ।' ललाटे बद्धाः श्रमवारिबिन्दवो यस्य सः सोऽजो भीतां प्रियामिन्दुमतीमेत्यासाद्य वचो बभाषे ॥ ६६ ॥

अन्वयः—चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुः सः भीतां प्रियाम् एत्य वचः बभाषे ।

हिन्दी—धनुष के एक छोर पर एक हाथ रखे हुए, शिरोरक्षक लौह टोप के उतार देने से बिखरे बालों वाले, ललाट पर झलकते हुए प्रस्वेद-कण से सुशोभित उस अज ने भयग्रस्त प्रिया इन्दुमती के निकट आकर कहा।

इतः परानर्भकहार्यशस्त्रान्वैदर्भि ! पश्यानुमता मयासि ।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः ॥ ६७ ॥

सञ्जी—स इति । वैदर्भि इन्दुमति ! इत इदानीमर्भकहार्यशस्त्रान् बालकापहार्यायुधान् पराञ्शत्रून्पश्य । मयाऽनुमतासि । द्रष्टुमिति शेषः । एभिर्नृपैरेवंविधेन निद्रारूपेणाहवचेष्टितेन रणकर्मणा मम हस्तगता । हस्तगतवद्दुर्ग्रहेत्यर्थः । त्वं प्रार्थ्यसे । अपजिहीर्ष्यस इत्यर्थः । 'एवंविधेन' इत्यत्र स्वहस्तनिर्देशेन सोपहासमुवाचेति द्रष्टव्यम् ॥ ६७ ॥

अन्वयः—हे वैदर्भि इतः अर्भकहार्यशस्त्रान् परान् पश्य, मया अनुमतासि "द्रष्टुमिति शेषः" एभिः एवंविधेन आहवचेष्टितेन मम हस्तगता त्वं प्रार्थ्यसे ।

हिन्दी—हे विदर्भराजपुत्री अब बालकों के द्वारा भी छीन लेने योग्य शस्त्र वाले इन शत्रुओं को देखो । मैं तुम्हें देखने की अनुमति देता हूँ । इन लोगों के द्वारा इसी प्रकार निद्रारूप युद्धकर्म से मेरे हाथों में पहुँची हुयी तुम चाही जाती हो ॥ ६७ ॥

तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादात्सद्यो विमुक्तं मुखमाबभासे ।
निःश्वासबाष्पापगमात्प्रपन्नः प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः ॥ ६८ ॥

सञ्जी०—तस्या इति । प्रतिद्वन्द्विभवाद्रिपूत्थाद्विषादाद्दैन्यात् सद्यो विमुक्तं तस्या मुखम् । निःश्वासस्य यो बाष्प ऊष्मा । 'बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः' इति विश्वः । तस्यापगमाद्धेतोरात्मीयं प्रसादं नैर्मल्यं प्रपन्नः प्राप्तः । आत्मा स्वरूपं दृश्यतेऽनेनेत्यात्मदर्शो दर्पण इव । आबभासे ॥ ६८ ॥

अन्वयः—प्रतिद्वन्द्विभवात् विषादात् सद्यः विमुक्तं तस्याः मुखम् निःश्वासबाष्पापगमात् आत्मीयं प्रसादं प्रपन्नः आत्मदर्श इव आबभासे ।

हिन्दी—प्रतिद्वन्द्वी शत्रुओं से उत्पन्न विषाद से तत्क्षण विमुक्त हुआ उस इन्दुमती का मुख निःश्वास के भाप के पोंछ देने के कारण अपनी निर्मलता को प्राप्त अपने स्वरूप को दिखाने वाले दर्पण के समान चमकने लगा ।।६८।।

हृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत् ।
स्थली नवाम्भः—पृषताभिवृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम् ।।६९।।

सञ्जी०—हृष्टेति । सेन्दुमती हृष्टापि पत्युः पौरुषेण प्रमुदितापि ह्रिया विजिता यतोऽतः प्रियमजं साक्षात् स्वयं नाभ्यनन्दन्न प्रशशंस । किंतु नवैरम्भः पृषतैः पयोबिन्दुभिरभिवृष्टाऽभिषिक्ता स्थल्यकृत्रिमा भूमिः । 'जानपदकुण्डगोणस्थल—' इत्यादिनाऽकृत्रिमार्थे ङीष् । अभ्रबृन्दं मेघसंघं मयूरकेकाभिरिव सखीनां वाग्भिरभ्यनन्दत् ।। ६९ ।।

अन्वयः—सा हृष्टा अपि ह्रीविजिता "यतः अतः" प्रियं साक्षात् न अभ्यनन्दत् "किन्तु" नवाम्भःपृषताभिर्वृष्टा स्थली अभ्रवृन्दं मयूरकेकाभिः इव सखीनां वाग्भिः अभ्यनन्दत् ।

हिन्दी—यद्यपि वह इन्दुमती अपने पति अज के पुरुषार्थ से परम हर्षित हुई किन्तु (नारी सुलभ सहज) लज्जा ने उसे पराजित कर दिया । इसलिये लज्जा से हारी इन्दुमती ने अपने प्राणवल्लभ का साक्षात् (स्वयं ही) अभिनन्दन नहीं किया अपितु नवीन जल बिन्दुओं से सींची गई पृथ्वी जैसे बादलोंके समूह का मयूरों की वाणी से अभिनन्दन करती है; उसी प्रकार सखियों की केकावाणी के समान सुमधुर वाणी के द्वारा अभिनन्दन किया ।। ६९ ।।

इति शिरसि स वामं पादमाधाय राज्ञा-
मुदवहदनवद्यां तामवद्यादपेतः ।
रथतुरगरजोभिस्तस्य रूक्षालकाग्रा
समरविजयलक्ष्मीः सैव मूर्ता बभूव ।। ७० ।।

सञ्जी०—इतीति । नोद्यते नोच्यत इत्यवद्यं गर्ह्यम् । 'अवद्यपण्य—' इत्यादिना निपातः । 'कुपूयकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकाः समाः' इत्यमरः । तस्मादपेतः । निर्दोष इत्यर्थः । सोऽज इति राज्ञां शिरसि वामं पादमाधायानवद्यामदोषां तामिन्दुमतीमुदवहदुपानयत् । आत्मसाच्चकारेत्यर्थः । अयमर्थः

'तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्याम्' इत्यत्र न श्लिष्टः। तस्याजस्य रथतुरगाणां रजोभी रूक्षाणि परुषाण्यलकाग्राणि यस्याः सा, सेन्दुमत्येव मूर्ता मूर्तिमती समरविजयलक्ष्मीर्बभूव। एतल्लाभादन्यः को विजयलक्ष्मीलाभ इत्यर्थः ॥७०॥

अन्वयः—अवद्यात् अपेतः स इति राज्ञां शिरसि वामं पादम् आधाय अनवद्यां ताम् उदवहत्, तस्य रथतुरगरजोभिः रूक्षालकाग्रा सा एव मूर्ता समरविजयलक्ष्मीः बभूव।

हिन्दी—(निन्दनीय से विनिर्गत) प्रशंसनीय निर्दोष उस अज ने इस प्रकार राजाओं के मस्तक पर बाँया पैर रखकर अनिन्द्य उस सुन्दरी इन्दुमती को स्वीकार कर अपना लिया। उसके रथ के घोड़ों की धूलि से रूखे बालों के अग्रभाग वाली वही इन्दुमती मूर्तिमती साक्षात् युद्धकी विजयलक्ष्मी हो गयी।

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः संनिवृत्तं
विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम्।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभू-
न्न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय ॥७१॥

सञ्जी०—प्रथमेति। प्रथममजागमनात्प्रागेव परिगतो ज्ञातोऽर्थो विवाह-विजयरूपो येन प्रथमपरिगतार्थो रघुर्विजयिनं विजययुक्तं श्लाघ्यजायासमेतं संनिवृत्तं प्रत्यागतं तमजमभिनन्द्य। तस्मिन्नज उपहितकुटुम्बः सन्। 'सुत-विन्यस्तपत्नीकः' इति याज्ञवल्क्यस्मरणादिति भावः। शान्तिमार्गे मोक्षमार्गे उत्सुकोऽभूत्। तथा हि—कुलधुर्ये कुलधुरंधरे सति सूर्यवंश्या गृहाय गृहस्था-श्रमाय न भवन्ति ॥ ७१ ॥

अन्वयः—प्रथमपरिगतार्थः रघुः विजयिनं श्लाघ्यजायासमेतं संनिवृत्तम् तम् अभिनन्द्य तदुपहितकुटुम्बः सन् शान्तिमार्गोत्सुकः अभूत्।

हिन्दी—अज के आगमन के पूर्व ही विवाहरूप अर्थ को जानने वाले रघु ने विजयी स्तुत्य पत्नी समेत अपने विवाहकर लौटे हुए सुपुत्र अज का अभि-नन्दन कर और उसके ऊपर राजपरिवार का भार सौंपकर शान्ति के मार्ग—मोक्ष के लिए उत्कण्ठा की, क्योंकि कुल के धुर को बहन करने योग्य सुपात्र के रहते हुए सूर्यवंशी राजा गृहस्थाश्रम में रहने के लिए नहीं होते हैं ॥ ७१ ॥

इति 'हरिप्रिया' संस्कृत-हिन्दी व्याख्यायां रघुवंशमहाकाव्ये सप्तमः सर्गः समाप्तः



॥ श्रीः ॥

रघुवंशमहाकाव्यम्

'सञ्जीविनी' सान्वय-'हरिप्रिया' व्याख्योपेतम्

—:✥:—

अष्टमः सर्गः

अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः ।
वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमतीमिवापराम् ॥ १ ॥

* सञ्जीविनी *

हेरम्बमवलम्बेऽहं यस्मिन् पातालकेलिषु ।
दन्तेनोदस्यति क्षोणीं विश्राम्यन्ति फणीश्वराः ॥

अथेति । अथ पार्थिवो रघुर्ललितं सुभगं विवाहकौतुकं विवाहमंगलं विवाहहस्तसूत्रं वा बिभ्रत एव । 'कौतुकं मङ्गले हर्षे हस्तसूत्रे कुतूहले' इति शाश्वतः । तस्याजस्य । अपरामिन्दुमतीमिव वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोत्, राज्ये तमभ्यषिञ्चदित्यर्थः । अस्मिन् सर्गे वैतालीयं छन्दः ॥ १ ॥

* हरिप्रिया *

अन्वयः—अथ पार्थिवः ललितं विवाहकौतुकं बिभ्रत एव तस्य अपरामिन्दुमतीमिव वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोत् ।

इसके अनन्तर पृथ्वीपति रघु ने सुन्दर विवाह के मंगलसूत्र को धारण करते ही अज के हाथों में अन्य इन्दुमती के समान पृथ्वी को भी समर्पित कर दिया । [अपने पराक्रम से अज ने इन्दुमती का पाणिग्रहण किया और महाराज रघु ने पृथ्वी का शासनसूत्र सौंपकर उसे अन्य इन्दुमती के समान वसुमती का भी पति बना दिया]''

दुरितैरपि कर्तुमात्मसात् प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत् ।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया ॥ २ ॥

दुरितैरिति । नृपसूनवो राजपुत्रा यद्राज्यं दुरितैरपि विषप्रयोगादिनिषिद्धोपायैरप्यात्मसात् स्वाधीनम् । 'तदधीनवचने' इति सातिप्रत्ययः । कर्तुं प्रयतन्ते

हि, प्रवर्तन्त एवेत्यर्थः । तथाहि—'राजपुत्रा महोद्वृत्ता गजा इव निरकुंशाः । भ्रातरं पितरं वापि निघ्नन्त्येवाभिमानिनः' ॥ हिशब्दोऽवधारणे । 'हि हेतावव-धारणे' इत्यमरः । उपस्थितं स्वतः प्राप्तं तद्राज्यमजः । पितुराज्ञेति हेतोरग्रहीत् स्वीचकार भोगतृष्णया तु नाग्रहीत् ॥ २ ॥

अन्वयः—नृपसूनवः यद् (राज्यं) दुरितैरपि आत्मसात् कर्तुम् प्रयतन्ते हि, उपस्थितं तद् (राज्यं) अजः पितुः आज्ञा इति अग्रहीत् भोगतृष्णया तु न अग्रहीत् ।

राजा के पुत्र जिस राज्य को (विष प्रयोगादि निषिद्ध) पाप कर्मों से भी अपने अधिकार में करने का प्रयत्न करते हैं, उस प्राप्त राज्याधिकार को अज ने "पिता की आज्ञा है" यह मानकर स्वीकार किया न कि राज्यभोग की तृष्णा से ॥ २ ॥

अनुभूय वसिष्ठसम्भृतैः सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम् ।
विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी कथयामास कृतार्थतामिव ॥ ३ ॥

अनुभूयेति । मेदिनी भूमिः । महिषी च ध्वन्यते वसिष्ठेन सम्भृतैः सलिलैस्तेनाजेन सहाभिषेचनमनुभूय विशदोच्छ्वसितेन स्फुटमुद्बृंहणेन आनन्दनिर्मलोच्छ्वसितेन चेति ध्वन्यते । कृतार्थतां गुणवद्भर्तृलाभकृतां साफल्यं कथयामासेव । न चैतावता पूर्वेषामपकर्षः । प्रशंसापरत्वात् 'सर्वत्र जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इत्यङ्गीकृतत्वाच्च ॥ ३ ॥

अन्वयः—मेदिनी वसिष्ठसम्भृतैः सलिलैः तेन सह अभिषेचनम् अनुभूय विशदोच्छ्वसितेन कृतार्थताम् कथयामास इव ।

वसुन्धरा ने महर्षि वसिष्ठ द्वारा अभिमन्त्रित जल से उस राजा अज के साथ अभिषेक का अनुभव कर विमल आनन्दोच्छ्वास के द्वारा मानो (सत्पति-प्राप्ति की) कृतकार्यता—सफलता की अभिव्यक्ति की ॥ ३ ॥

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाऽथर्वविदा कृतक्रियः ।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥ ४ ॥

स इति । अथर्वविदाऽथर्ववेदाभिज्ञेन गुरुणा वसिष्ठेन कृतक्रियः, अथर्वोक्तविधिना कृताभिषेकसंस्कार इत्यर्थः । सोऽजः परैः शत्रुभिर्दुरासदो दुर्धर्षो बभूव । तथा हि । अस्त्रतेजसा क्षत्रतेजसा सहितं युक्तं यद् ब्रह्म ब्रह्मतेजोऽयं पवनाग्निसमागमो हि, तत्कल्प इत्यर्थः । पवनाग्नीत्यत्र पूर्वनिपातशास्त्रस्यानित्यत्वात् 'द्वन्द्वे

चि' इति नाग्निशब्दस्य पूर्वनिपातः । तथा च काशिकायाम्—'अयमेकस्तु लक्ष-गद्हेत्वोरिति निर्देशः पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्नम्' इति । क्षात्त्रेणैवायं दुर्धर्षः किमयं पुनर्वसिष्ठमन्त्रप्रभावे सतीत्यर्थः । अत्र मनुः—'नाक्षत्त्रं ब्रह्म भवति क्षत्त्रं नाब्रह्म वर्धते । ब्रह्मक्षत्त्रे तु संयुक्ते इहामुत्र च वर्धते' ॥ ४ ॥

अन्वयः—अथर्वविदा गुरुणा कृतक्रियः सः परैः दुरासदः बभूव । हि अस्त्रतेजसा सहितं यद् ब्रह्म अयं पवनाग्निसमागमः हि ।

अथर्ववेद के विज्ञाता गुरु वसिष्ठ द्वारा अभिसिञ्चित महाराज अज शत्रुओं के लिये दुर्धर्ष-दुर्विजेय हो गए, क्योंकि अस्त्रतेज (क्षात्र तेज) से संयुक्त ब्रह्मतेज पवन और पावक के समागम जैसा ही होता है । क्षात्रतेजो मण्डित अज स्वयं शत्रुओं के लिये दुर्धर्ष थे, गुरु वसिष्ठ के ब्राह्म तेज से समलङ्कृत होने पर तो उनकी बात ही क्या ! अग्नि स्वतः प्रतापी होता है और यदि वायु का उसे सहयोग प्राप्त हो जाय तब तो कहना ही क्या ?

यहाँ मनुस्मृति का यह वचन ध्यान देने योग्य है कि—'क्षात्र तेज विरहित ब्रह्म तेज एवं ब्रह्मतेज रहित क्षात्र तेज संवर्द्धित नहीं होता । क्षात्र तेज और ब्रह्मतेज दोनों संयुक्त होकर ही इस लोक और परलोक में अभिवर्द्धित होता है ।। ४ ।।

रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः ।
स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान् गुणानपि ॥ ५ ॥

रघुमिति । प्रजा नवेश्वरं तमजं निवृत्तयौवनं प्रत्यावृत्तयौवनं रघुमेवामन्यन्त । न किञ्चिद्भेदकमस्तीत्यर्थः । कुतः ? हि यस्मात्सोऽजस्तस्य रघोः केवलामेकां श्रियं न प्रतिपेदे, किन्तु सकलान्गुणाञ्छौर्यदाक्षिण्यादीनपि प्रतिपेदे, अतस्तद्गुणयोगात्तद्बुद्धिर्युक्तेत्यर्थः ॥ ५ ॥

अन्वयः—प्रजाः नवेश्वरं तं निवृत्तयौवनं रघुमेव अमन्यत । हि सः तस्य केवलां श्रियं न प्रतिपेदे सकलान् गुणानपि ।

प्रजा लोगों ने उस अभिनव सम्राट् को पुनः लौटकर आयी हुई जवानी वाला रघु ही समझा, क्योंकि उस राजा अज ने उस महाराज रघु की केवल राजलक्ष्मी ही नहीं प्राप्त की अपितु शूरता उदारता आदि समस्त गुणों को भी प्राप्त किया था ॥ ५ ॥

अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम् ।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम् ॥ ६ ॥

अधिकमिति । द्वयमेव शुभंयुना शुभवता । 'शुभंयुस्तु शुभान्वितः' इत्यमरः । 'अहंशुभमोर्युस्' इति युस्प्रत्ययः । द्वितयेन सङ्गतं युतं सदधिकं शुशुभे । किं केनेत्याह—पदमिति । पैतृकं पितुरागतम् । 'ऋतष्ठञ्' इति ठञ्प्रत्ययः । ऋद्धं समृद्धं पदं राज्यमजेन । अस्याजस्य नवं यौवनं विनयेनेन्द्रियजयेन च । 'विजयो हीन्द्रियजयस्तद्युक्तः शास्त्रमर्हति' इति कामन्दकः । राज्यस्थोऽपि प्राकृतवन्न दृप्तोऽभूदित्यर्थः ॥ ६ ॥

अन्वयः—द्वयमेव शुभंयुना द्वितयेन सङ्गतं सत् अधिकं शुशुभे । पैतृकं पदं अजेन, अस्य नवं यौवनं विनयेन च ।

दोनों ही—अज तथा उनका विनय शुभसंयुक्त हो दूसरे से संगत होते हुए अधिक सुशोभित हुए पिता से प्राप्त समृद्ध राज्यपद अज से और अज का नव यौवन विनय से (सुशोभित हुआ) ॥ ६ ॥

सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति ।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥ ७ ॥

सदयमिति । महाभुजः सोऽजोऽचिरोपनतां नवोपगतां मेदिनीं भुवं नवं पाणिग्रहणं विवाहो यस्यास्तां नवोढां वधूमिव । उक्तं च रतिरहस्ये—सौम्यैरालिङ्गनैर्वाक्यैश्चुम्बनैश्चापि सांत्वयेत्' । सहसा बलात्कारेण चेत् । सहो बलं सहा मार्गः' इत्यमरः । इय मेदिनी वधूर्वोद्वेगं भयं व्रजेदिति हेतोः । सदयं सकृपं बुभुजे भुक्तवान् । 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—महाभुजः सः अचिरोपनतां मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव सहसा इयं उद्वेगं व्रजेत् इति सदयं बुभुजे ।

विशाल भुजाओं वाले अज ने नवागता पृथ्वी का उपयोग अभिनव बधू के समान कहीं यह (पृथ्वी और नवबधू) सहसा बलात्कार से उद्विग्न न हो जाय इसलिए दया से युक्त हो कर ही किया ।

जिस प्रकार नवोढ़ा बधू सहसा बलात्कार करने से अङ्कागत होकर भी भय भीत होकर चली जाती है, उसी प्रकार अभिनव राज्यलक्ष्मी कठोर शासन से त्रस्त होकर चली जाती है, अतः बुद्धिमान महाबाहु अज ने राज्यश्री का उपभोग अभिनवा बधू के समान अत्यन्त दयालुता पूर्वक ही किया ॥ ७ ॥

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ॥ ८ ॥

अहमिति । प्रकृतिषु प्रजासु मध्ये सर्वोऽपि जनः । अथवा प्रकृतिष्वित्यस्याहमित्यनेनान्वयः । व्यवधानं तु सह्यम् । सर्वोऽपि जनः प्रकृतिष्वहमेव महीपतेर्मतो महीपतिना मन्यमानः । 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति वर्तमाने क्तः । 'क्तस्यच वर्तमाने' इति षष्ठी । इत्यचिन्तयदमन्यत । उदधेर्निम्नगाशतेष्विवास्य नृपस्य कर्तुः । कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्तरि षष्ठी । क्वचिदपि विमाननाऽवगणना तिरस्कारो नाभवत् । यतो न कश्चिददमन्यतेऽतः सर्वोऽप्यहमेवास्य मत इत्यमन्यतेत्यर्थः ॥

अन्वयः—प्रकृतिषु सर्वः अपि अथवा सर्वोऽपि जनः प्रकृतिषु अहमेव महीपतेः मतः इति अचिन्तयत् । उदधेः निम्नगाशतेषु इव अस्य क्वचिदपि विमानना नाभवत् ।

प्रजाओं में सब लोगों ने यही समझा कि मैं ही महाराज अज का सबसे अधिक अभिमत व्यक्ति हूँ । सैकड़ों सरिताओं में सागर के समान इसके द्वारा कहीं भी किसी का अपमान नहीं हुआ । चूँकि कभी कोई अपमानित नहीं हुआ अतः सभी यही समझते थे कि मैं हो राजा का प्रियपात्र हूँ ॥ ८ ॥

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहानिव ।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥ ९ ॥

नेति । नृपो भूयसा बाहुल्येन खरस्तीक्ष्णो न । भूयसा मृदुरतिमृदुरपि न । किन्तु पुरस्कृतमध्यमक्रमः सन्, मध्यमपरिपाटीमवलम्ब्येत्यर्थः । पवमानो वायुः पृथिवीरुहांस्तरूनिव । नृपाननुद्धरन्ननुत्पाटयन्नेव नमयामास । अत्र कामन्दकः—'मृदुश्चेदवमन्येत तीक्ष्णादुद्विजते जनः । तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव प्रजानां स च सम्मतः' ॥ इति ॥ ९ ॥

अन्वयः—सः भूयसा खरः न, भूयसा मृदुः अपि न (किन्तु) पुरस्कृतमध्यमक्रमः सन् पवमानः पृथिवीरुहानिव नृपान् अनुद्धरन् नमयामास ।

जिस प्रकार न अधिक प्रचण्ड और न बहुत अधिक मन्द पवन वृक्षों को बिना निर्मूल किये ही झुका देता है, उसी प्रकार न अधिक प्रखर और न अधिक कोमल अपितु मध्यममार्ग का अनुसरण करते हुए उस (अज) ने राजाओं को बिना विनष्ट किये अवनत कर दिया ।

यदि राजा अधिक ढीला ढाला शासन करता है तो प्रजा उसका अपमान करने लगती है, और यदि कठोर शासन करता है तो लोग उससे उद्विग्न हो जाते हैं, अतएव जो प्रशासक आवश्यकतानुसार प्रखर और कोमल उभय शासन प्रणाली का अनुसरण कर मध्यममार्गी होता है वही प्रजाओं का सम्मान पात्र होता है ॥ ९ ॥

अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया ।
विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥ १० ॥

अथेति । अथ रघुरात्मजं पुत्रमात्मवत्तया, निर्विकारमनस्कतयेत्यर्थः । 'उदयादिष्वविकृतिर्मनसः सत्त्वमुच्यते । आत्मवान् सत्त्ववानुक्तः' इत्युत्पलमालायाम् । प्रकृतिष्वमात्यादिषु प्रतिष्ठितं रूढमूलं वीक्ष्य ज्ञात्वा विनाशो धर्मो येषां तेषु विनाशधर्मसु, अनित्येष्वित्यर्थः । 'धर्मादनिच्केवलात्' इत्यनिच्प्रत्ययः समासान्तः । त्रिदिवस्थेषु स्वर्गस्थेष्वपि विषयेषु शब्दादिषु निःस्पृहो निर्गतेच्छोऽभवत् ॥ १० ॥

अन्वयः—अथ रघुः आत्मजं आत्मवत्तया प्रकृतिषु प्रतिष्ठितं वीक्ष्य विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेषु अपि विषयेषु निःस्पृहः अभवत् ।

इसके पश्चात् महाराज रघु अपने पुत्र अज को निर्विकार मन से अमात्य आदि प्रकृतियों में प्रतिष्ठित जानकर विनाशशील-अनित्य स्वर्गीय शब्दादि विषयों में भी स्पृहा रहित हो गए । आत्मज अज को प्रजाओं में प्रभावशाली समझकर रघु को अब स्वर्गीय पदार्थों की भी इच्छा नहीं रह गयी ॥ १० ॥

गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः ।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे ॥ ११ ॥

गुणवदिति । दिलीपवंशजाः परिणामे वार्धके गुणवत्सुतेषु रोपितश्रियः स्थापितलक्ष्मीकाः प्रयताश्च सन्तः तरुवल्कान्येव वासांसि येषां तेषां संयमिनां यतीनां पदवीं प्रपेदिरे यस्माच्चस्मादस्यापीदमुचितमित्यर्थः ॥ ११ ॥

अन्वयः—दिलीपवंशजाः परिणामे गुणवत्सुतरोपितश्रियः प्रयताः तरुवल्कवाससां संयमिनां पदवीं प्रपेदिरे हि ।

चूँकि दिलीप के वंश में उत्पन्न होने वाले राजाओं ने वृद्धावस्था में गुणी पुत्रों पर राज्यश्री समारोपित कर संयम करते हुए वल्कलवस्त्र धारण करने वाले संन्यासियों की पदवी प्राप्त की (इसलिए रघु का भी विषयों से निःस्पृह होना समुचित ही था) ॥ ११ ॥

तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः।
पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः ॥ १२ ॥

तमिति। अरण्यसमाश्रयोन्मुखं वनवासोद्युक्तम्। अत्र मनुः—'गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः। सापत्यो निरपत्यो वा तदारण्यं समाश्रयेत्॥' पितरं तं रघुं सुतोऽजः। वेष्टनशोभिनोष्णीषमनोहरेण शिरसा पादयोः प्रणिपत्य। आत्मनोऽपरित्यागमयाचत। मां परित्यज्य न गन्तव्यमिति प्रार्थितवानित्यर्थ॥ १२ ॥

अन्वयः—अरण्यसमाश्रयोन्मुखं पितरं तं सुतः वेष्टनशोभिना शिरसा पादयोः प्रणिपत्य आत्मनः अपरित्यागं अयाचत।

वनवास के लिए उन्मुख पिता रघु को पुत्र अज ने पगड़ी से सुशोभित शिर से दोनों चरणों पर अवनत हो प्रणाम कर अपने न त्यागने की प्रार्थना की। "मुझे मत त्यागिये" इस प्रकार निवेदन किया॥ १२ ॥

रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः।
न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम्॥ १३ ॥

रघुरिति। आत्मजप्रियः पुत्रवत्सलो रघुः। अश्रूणि मुखे यस्य तस्याश्रुमुखस्याजस्य तदपरित्यागरूपमोप्सितमभिलषितं कृतवान्। किन्तु सर्पस्त्वचमिव व्यपवर्जितां त्यक्तां श्रियं पुनर्न प्रतिपेदे न प्राप॥ १३ ॥

अन्वयः—आत्मजप्रियः रघुः अश्रुमुखस्य तस्य तत् ईप्सितं कृतवान् तु सर्पः त्वचमिव व्यपवर्जितां श्रियं पुनः न प्रतिपेदे।

पुत्रस्नेही रघु ने अश्रुपूर्ण नेत्रोंवाले उस अज की वह इच्छा (छोड़कर न जाने की) रख ली; किन्तु जिस प्रकार सर्प छोड़ी गयी त्वचा—केंचुल को पुनः नहीं ग्रहण करता उसी प्रकार परित्यक्त राज्यश्री को पुनः नहीं ग्रहण किया॥ १३ ॥

स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद् बहिः।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया॥ १४ ॥

स इति। स रघुः किलान्त्यमाश्रमं प्रव्रज्यामाश्रितः पुरान्नगराद् बहिरावसथे स्थाने निवसन्नविकृतेन्द्रियः, जितेन्द्रियः सन्नित्यर्थः। अत एव स्नुषयेव वध्वेव पुत्रभोग्यया न स्वभोग्यया। श्रिया समुपास्यत शुश्रूषितः। जितेन्द्रियस्य तस्य स्नुषयेव श्रियापि पुष्पफलोदकाहरणादिशुश्रूषाव्यतिरेकेण न किञ्चिदपेक्षितमासीदित्यर्थः। अत्र यद्यपि 'ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति' इति श्रुतेः, 'आत्मन्यग्नीन्समारोप्य

ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्' इति मनुस्मरणात् । 'मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्ग-धारणम् । बाहुजातोरुजातानामयं धर्मो न विद्यते ।' इति निषेधाच्च ब्राह्मण-स्यैव प्रव्रज्या न क्षत्रियादेरित्याहुः, तथापि 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इत्यादिश्रुतेस्त्रैवर्णिकसाधारण्यात्, 'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः' इति सूत्रकारवचनात्, 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात्' इति स्मरणात्, 'मुखजानामयं धर्मो वैष्णवं लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानां त्रिदण्डं न विधीयते ॥' इति निषेधस्य त्रिदण्डविषयत्वदर्शनाच्च कुत्रचिद् ब्राह्मण-पदस्योपलक्षणमाचक्षाणाः केचित् त्रैवर्णिकाधिकारं प्रतिपेदिरे । तथा सति 'स किलाश्रममन्त्यमाश्रितः' इत्यत्रापि कविनाप्ययमेव पक्षो विवक्षित इति प्रतीमः । अन्यथा वानप्रस्थाश्रमतया व्याख्याते 'विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमन-ग्निमग्निचित्' इति वक्ष्यमाणेनानग्निसंस्कारेण विरोधः स्यात् । अग्निसंस्कार-रहितस्य वानप्रस्थस्यैवाभावात् इत्यलं प्रासङ्गिकेन ॥ १४ ॥

अन्वयः—स किल अन्त्यं आश्रमम् आश्रितः पुराद् बहिः आवसथे निवसन् अविकृतेन्द्रियः (सन्) अत एव स्नुषया इव पुत्रभोग्यया श्रिया समुपास्यत ।

वे महाराज रघु अन्तिम आश्रम-संन्यास का आश्रय लेकर नगर से बाहरी स्थान में रहते हुए इन्द्रियों के विकारों से मुक्त हो पुत्रद्वारा उपभोग करने योग्य पुत्रवधू के समान राज्यश्री द्वारा सुसेवित हुए ॥ १४ ॥

प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम् ।
नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत् ॥ १५ ॥

प्रशमेति । प्रशमे स्थितः पूर्वपार्थिवो रघुर्यस्य तत् । अभ्युद्यतोऽभ्युदितो नूतने-श्वरोऽजो यस्य तत् । प्रसिद्धं कुलं निभृतेन्दुनाऽस्तमयासन्नचन्द्रेणोदितार्केण प्रक-टितसूर्येण च नभसा तुलां सादृश्यं समारुरोह प्राप । न च नभसा तुलामित्यत्र 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन प्रतिषेधस्तृतीयायाः । तस्य सदृशवाचितुलाशब्दाविषयत्वात् । 'कृष्णस्य तुला नास्ति' इति प्रयोगात् । अस्य च सादृश्यवाचित्वात् ॥ १५ ॥

अन्वयः—प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवम् अभ्युद्यतनूतनेश्वरम् तत् कुलम् निभृ-तेन्दुना उदितार्केण च नभसा तुलां समारुरोह ।

जिस प्रकार चन्द्रमा के अस्ताचलगामी एवं सूर्य के उदयाचलगामी होने पर आकाश सुशोभित होता है उसी प्रकार शान्ति में स्थित पूर्व पृथ्वीपति रघु वाला

और उदीयमान अभिनव राजा अज वाला वह प्रसिद्ध वैवस्वत मनु का कुल (सुशोभित) हुआ ।। १५ ।।

यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः ।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ ।। १६ ।।

यतीति । यतिर्भिक्षुः । पार्थिवो राजा । तयोर्लिङ्गधारिणौ रघुराघवौ रघुतत्सुतौ । अपवर्गमहोदयार्थयोर्मोक्षाभ्युदयफलयोर्धर्मयोः । निवर्तकप्रवर्तकरूपयोरित्यर्थः । भुवं गतौ भूलोकमवतीर्णावंशाविव । जनैर्ददृशाते दृष्टौ ।। १६ ।।

अन्वयः—यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ रघुराघवौ अपवर्गमहोदयार्थयोः धर्मयोः भुवं गतौ अंशौ इव जनैः ददृशाते ।

(रघु ने संन्यासी का एवं उनके पुत्र ने सम्राट् का चिह्न धारण किया जिससे लोगों ने उन्हें इस प्रकार देखा मानो धर्म के मोक्ष और अभ्युदय रूप प्रयोजनों का साक्षात् अंश ही इस धराधाम पर अवतरित हो गया हो)

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसप्राप्तिः स धर्मः"

जिससे अभ्युदय और परम श्रेय मोक्ष की प्राप्ति हो वह धर्म है । अभ्युदय प्रवर्तक रूप होता है और मोक्ष निवर्तकरूप । महाराज रघु का काषाय वस्त्रादि यति चिह्न धारण करना एवं उसके पुत्र अज का छत्र चामरमुकुटादि राजचिह्न धारण करना लोगों को ऐसा लगा मानों धर्म के निवृत्तिमूलक मोक्ष और प्रवृत्तिमूलक अभ्युदय उभयरूपों का अंश पृथ्वी पर अवतरित हो गया हो ।

संन्यासी और समाट् के चिह्नों को धारण करने वाले रघु और उनके आत्मज अज लोगों के द्वारा मोक्ष और अभ्युदय रूप प्रयोजनों वाले धर्मों के पृथ्वी पर अवतरित अंशों के सामान देखे गये ।। १६ ।।

अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरजः ।
अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ।। १७ ।।

अजितेति । अजोऽजिताधिगमायाजितपदलाभाय नीतिविशारदैर्नीतिज्ञैर्मन्त्रिभिर्युयुजे सङ्गतः । रघुरप्यनपायिपदस्योपलब्धये मोक्षस्य प्राप्तये यथार्थदर्शिनो यथार्थवादिनश्चाप्ताः तैर्योगिभिः समियाय सङ्गतः । उभयत्राप्युपायचिन्तार्थमिति शेषः ।। १७ ।।

अन्वयः—अजः अजिताधिगमाय नीतिविशारदैः मन्त्रिभिः युयुजे, रघुः (अपि) अनपायिपदोपलब्धये आप्तैः योगिभिः समियाय ।

अज ने अजितपद के लाभ के लिए नीति-निपुण-मन्त्रियों से मन्त्रणा की और रघु ने अक्षय मोक्षपद लाभार्थ यथार्थ दर्शी तत्त्वज्ञानी योगियों से संगति की।

नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा।
परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥ १८ ॥

नृपतिरिति। युवा नृपतिरजः प्रकृतीः प्रजाः कार्यार्थिनीरवेक्षितुम् दुष्टादुष्टपरिज्ञानार्थमित्यर्थः। व्यवहारासनं धर्मासनमाददे स्वीचकार। 'व्यवहारान्नृपः पश्येत्' इति याज्ञवल्क्यस्मरणात्। प्रवयाः स्थविरो नृपती रघुस्तु। 'प्रवयाः स्थविरो वृद्धः' इत्यमरः। धारणां चित्तस्यैकाग्रतां परिचेतुमभ्यसितुमुपांशु विजने। 'उपांशु विजने प्रोक्तम्' इति हलायुधः। कुशैः पूतं विष्टरमासनमाददे। 'यमादिगुणसंयुक्ते मनसः स्थितिरात्मनि। धारणा प्रोच्यते सद्भिर्योगशास्त्रविशारदैः' इति वसिष्ठः ॥ १८ ॥

अन्वयः—युवा नृपतिः प्रकृतीः अवेक्षितुम् व्यवहारासनम् आददे। प्रवयाः (नृपतिः) धारणां परिचेतुम् उपांशु कुशपूतम् विष्टरम् आददे।

युवा सम्राट् अज ने प्रजाओं के कार्यकलाप का निरीक्षण करने के लिए धर्मासन ग्रहण किया और वृद्ध राजा रघु ने यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार युक्त आत्मा में मन की स्थिरता का अभ्यास करने के लिए निर्जन एकान्त में कुशों से पवित्र विस्तर ग्रहण किया ॥ १८ ॥

[धारणा—योग के ८ अंग हैं—यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान और समाधि। वसिष्ठ मुनि के अनुसार यम आदि गुण संयुक्त आत्मा में मन की स्थिति योगशास्त्रपारंगत सज्जनों द्वारा धारणा कहीं जाती है]।

अनयत्प्रभुशक्तिसम्पदा वशमेको नृपतीननन्तरान्।
अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ॥ १९ ॥

अनयदिति। एकोऽन्यतरः, अज इत्यर्थः। अनन्तरान् स्वभूम्यनन्तरान्नृपतीन्यातव्यपार्ष्णिग्राहादीन्प्रभुशक्तिसम्पदा कोशदण्डमहिम्ना वशं स्यायत्ततामनयत्। 'कोषो दण्डो बलं चैव प्रभुशक्तिः प्रकीर्तिता' इति मिताक्षरायाम्। अपरो रघुः प्रणिधानयोग्यया समाध्यभ्यासेन। 'योग्याभ्यासार्कयोषितोः' इति विश्वः। शरीरगोचरान् देहाश्रयान्पञ्च मरुतः प्राणादीन्वशमनयत्। प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः। शरीरस्थाः' इत्यमरः ॥ १९ ॥

अन्वयः—एकः अनन्तरान् नृपतीन् प्रभुशक्तिसम्पदा वशं अनयत् अपरः प्रणिधानयोग्यया शरीरगोचरान् पञ्च मरुतः वशमनयत् ।

एक (राजा अज) ने अनन्तर राजाओं को कोश-दण्ड-बल ; रूप प्रभुशक्ति की महिमा से वशीभूत किया तथा दूसरे (रघु) ने समाधि के अभ्यास द्वारा शरीर में स्थित प्राण-अपान-समान-उदान और व्यान पञ्चवायुओं को अपने वश में किया ॥ १९ ॥

अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ द्विषदारम्भफलानि भस्मसात् ।
इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना ॥ २० ॥

अकरोदिति । अचिरेश्वरोऽजः क्षितौ द्विषतामारम्भाः कर्माणि तेषां फलानि भस्मसादकरोत्कात्स्न्र्येन भस्मीकृतवान् । 'विभाषा साति कात्स्न्र्ये' इति साति-प्रत्ययः । इतरो रघुर्ज्ञानमयेन तत्त्वज्ञानप्रचुरेण वह्निना पावकेन करणेन स्वकर्मणां भवबीजभूतानां दहने भस्मीकरणे ववृते । स्वकर्माणि दग्धुं प्रवृत्त इत्यर्थः । 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इति गीतावचनात् ॥ २० ॥

अन्वयः—अचिरेश्वरः क्षितौ द्विषदारम्भफलानि भस्मसात् अकरोत्, इतरः ज्ञानमयेन वह्निना स्वकर्मणां दहने ववृते ।

अभिनव राजा अज ने पृथ्वी पर शत्रुओं के प्रारम्भ किये गये कार्य के परिणामों को जलाकर नष्ट कर दिया । और अन्य (वृद्ध राजा रघु) ज्ञानमय अग्नि के द्वारा (ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन इति गीतायां भगवद्वचनानुसारेण) अपने कर्मों के जलाने में प्रवृत्त हो गये ॥ २० ॥

पणबन्धमुखान्गुणानजः षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् ।
रघुरप्यजयद् गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्टकाञ्चनः ॥२१॥

पणबन्धेति । 'पणबन्धः सन्धिः' इति कौटिल्यः । अजः पणबन्धमुखान्सन्ध्यादीन्षड्गुणान् । 'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः । षड्गुणाः' इत्यमरः । तत्फलं तेषां गुणानां फलं समीक्ष्यालोच्योपायुङ्क्त । फलिष्यन्तमेव गुणं प्रायुङ्क्तेत्यर्थः । 'प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु' इत्यात्मनेपदम् । समस्तुल्यतया भावितो लोष्टो मृत्पिण्डः काञ्चनं सुवर्णं च यस्य स समलोष्टकाञ्चनः, निःस्पृह इत्यर्थः । 'लोष्टानि लेष्टवः पुंसि' इत्यमरः । रघुरपि गुणत्रयं सत्त्वादिकम् । 'गुणाः सत्त्वं रजस्तमः' इत्यमरः । प्रकृतौ साम्यावस्थायामेव तिष्ठतीति प्रकृतिस्थं पुनर्विकारशून्यं यथा तथाऽजयत् ॥२१॥

अन्वयः—अजः पणबन्धमुखान् षड्गुणान् तत्फलम् समीक्ष्य उपायुङ्क्त, समलोष्टकाञ्चनः रघुः अपि गुणत्रयं प्रकृतिस्थं अजयत् ।

अज ने सन्धि प्रमुख (विग्रह-यान-आसन द्वैध-आश्रय) छः गुणों और उनके फलों को सम्यक् रूप से विचार कर (फलवान् गुणों का ही) उपयोग किया; मिट्टी और सुवर्ण में समदृष्टि रखने वाले रघु ने भी सत्व, रज और तमोगुण की साम्यावस्था स्वरूप प्रकृति में स्थित तीनों गुणों—सत्व-रजः और तम को जीत लिया ॥२१॥

न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः ।
न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ॥२२॥

नेति । स्थिरकर्मा फलोदयकर्मकारी नवः प्रभुरजः आ फलोदयात्फलसिद्धिपर्यन्तं कर्मण आरम्भान्न विरराम न निवृत्तः । 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' इत्यपादानात्पञ्चमी । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । स्थिरधीर्निश्चलचित्तः । तदुक्तं गीतायां—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः । वीतरागभयक्रोधः स्थिरधीर्मुनिरुच्यते' ॥ नवेतरो रघुश्चापरमात्मदर्शनात्परमात्मसाक्षात्कारपर्यन्तं योगविधेरैक्यानुसंधानान्न विरराम ॥२२॥

अन्वयः—स्थिरकर्मा नवः प्रभुः आफलोदयात् कर्मणः न विरराम, स्थिरधीः नवेतरः च आपरमात्मदर्शनात् योगविधेः न विरराम ।

(प्रथमसर्ग में महाकवि ने "आफलोदयकर्मणां रघूणामन्वयं वक्ष्ये" कहा था । यहाँ उसी का वर्णन किया जा रहा है)

स्थिरकर्मवाले नये राजा अज ने तब तक कार्य करना नहीं छोड़ा जब तक कि उसका फल निष्पन्न नहीं हो गया, और दुःखों में अनुद्विग्नमनवाले तथा सुखों में स्पृहारहित, राग-भय-क्रोध से विनिर्मुक्त स्थिर बुद्धि वाले प्राचीन राजा रघु ने परमात्मा के दर्शन होने तक योगविधियों से विराम नहीं लिया ॥२२॥

इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ ।
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः ॥२३॥

इतीति । इत्येवं प्रतिषिद्धः प्रसरः स्वार्थप्रवृत्तिर्येषां तेषु शत्रुषु चेन्द्रियेषु च जाग्रतावप्रमत्तावुदयापवर्गयोरभ्युदयमोक्षयोः प्रसितावासक्तौ । 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः । उभावजरघू उभयीं द्विविधामभ्युदयमोक्षरूपाम् । 'उभादुदात्तो

नित्यन्' इति तयप्प्रत्ययस्यायजादेशः। 'टिड्ढाणञ्-' इति ङीप्। सिद्धिफलमवापतुः। उभावुभे सिद्धी यथासंख्यमवापतुरित्यर्थः ॥२३॥

अन्वयः—इति प्रतिषिद्धप्रसरेषु शत्रुषु च इन्द्रियेषु च जाग्रतौ उदयापवर्गयोः प्रसितौ उभौ उभयीं सिद्धि अवावतुः।

इस प्रकार अपने-अपने अर्थों में अवरोध उत्पन्न करने वाले शत्रुओं और इन्द्रियों में सजग रहने वाले अभ्युदय और मोक्ष में आसक्त उन (दोनों अज और रघु) ने (धर्म की) दोनों सिद्धियाँ (अभ्युदय और अपवर्ग रूप) प्राप्त कर लीं ॥२३॥

अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥२४॥

अथेति। अथ रघुः समदर्शनः सर्वभूतेषु समदृष्टिः सन्नजव्यपेक्षयाऽजाकाङ्क्षानुरोधेन काश्चित्समाः कतिचिद्वर्षाणि 'समा वर्ष समं तुल्यम्' इति विश्वः। गमयित्वा नीत्वा। योगसमाधिनैक्यानुसन्धानेन। 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः' इति वसिष्ठः। अव्ययमविनाशिनं तमसः परमविद्यायाः परम्, मायातीतमित्यर्थः। 'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मबुद्धिरविद्या' इति योगशास्त्रे। पुरुषं परमात्मानमापत्प्राप, सायुज्यं प्राप्त इत्यर्थः ॥२४॥

अन्वयः—अथ रघुः समदर्शनः सन् अजव्यपेक्षया काश्चित्समाः गमयित्वा योगसमाधिना अव्ययं तमसः परं पुरुषं आपत्।

इसके अनन्तर रघु ने सबको समान भाव से देखते हुए अज की आकांक्षा के अनुरोध से कुछ वर्ष व्यतीत कर योगसमाधि के द्वारा अविनाशी तमोगुण से परे (मायातीत) परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त किया ॥

श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥२५॥

श्रुतेति। अग्निचिदग्निं चितवानाहितवान्। 'अग्नौ चेः' इति क्विप्प्रत्ययः। राघवोऽजः पितुः श्रुतदेहविसर्जन आकर्णितपितृतनुत्यागः संश्चिरमश्रूणि वाष्पाणि विमुच्य विसृज्यास्य पितुरनग्निम्, अग्निसंस्काररहितमित्यर्थः। नैष्ठिकं निष्ठायामन्ते भवं विधिमाचारमन्त्येष्टिं यतिभिः संन्यासिभिः सार्धं सह विदधे चक्रे। अनग्निविधिमित्यत्र शौनकः—'सर्वसङ्गनिवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च। न तस्य दहनं

कार्यं नैव पिण्डोदकक्रिया ।। निदध्यात्प्रणवेनैव बिले भिक्षोः कलेवरम् । प्रोक्षणं खननं चैव सर्वं तेनैव कारयेत् ।।२५।।

अन्वयः—अग्निचित् राघवः पितुः श्रुतदेहविसर्जनः सन् चिरम् अश्रूणि विमुच्य अस्य अनग्निम् नैष्ठिकम् विधिम् यतिभिः सार्धम् विदधे ।

अग्निहोत्री रघुनन्दन अज ने पिता का देहान्त सुनकर बहुत देर तक अश्रुपात कर उनकी दाहसंस्काररहित नैष्ठिक विधि संन्यासियों के साथ सम्पन्न की ।

विशेष—अनग्निविधि के विषय में शौनक का मत है कि समस्त आसक्ति से विमुक्त ध्यानयोगपरायण पुरुष का न तो अग्नि संस्कार किया जाना चाहिए और न पिण्डदान तर्पण ही । इसीलिए अज ने रघु का अग्निसंस्कार नहीं किया ।।२५।।

अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित् ।
न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः ।।२६।।

अकरोदिति । पितृकार्यस्य तातश्राद्धस्य कल्पविद्विधानज्ञः सोऽजः पितृभक्त्या पितरि प्रेम्णा करणेन न पितुः परलोकसुखापेक्षया । मुक्तत्वादिति भावः । तस्य रघोरौर्ध्वदैहिकम् । देहादूर्ध्वं भवतीति तत्तिलोदकपिण्डदानादिकमकरोत् । 'ऊर्ध्वं देवाच्च' इति वक्तव्याट्ठक्प्रत्ययः । अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः । ननु कथं भक्तिरेव श्राद्धादिफलप्रेप्सापि कस्मान्नाभूदित्याशङ्क्याह—न हीति । तेन पथा योगरूपेण मार्गेण तनुत्यजः शरीरत्यागिनः पुरुषास्तनयेनावर्जितं दत्तं पिण्डं काङ्क्षन्तीति तथोक्ता न हि भवन्ति ।।२६।।

अन्वयः—पितृकार्यकल्पवित् सः पितृभक्त्या तदौर्ध्वदैहिकं अकरोत् तेन पथा तनुत्यजः तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः न हि (भवन्ति)

पिता के श्राद्धकर्म की विधि जानने वाले उस अज ने पितृभक्ति के कारण ही उनका (रघु का) देहावसान के अनन्तर होने वाला श्राद्ध-पिण्डदान तर्पण तिलाञ्जलि आदि कार्य सम्पन्न किया, क्योंकि उस योगमार्ग से शरीर त्यागने वाले (योगेनान्ते तनुत्यजाम्) पुत्र द्वारा प्रदत्त पिण्ड की आकाङ्क्षा नहीं करते हैं ।।२६।।

विशेष—योगद्वारा शरीरत्यागने वाले रघु के लिए श्राद्ध तर्पण आदि अपेक्षित नहीं था फिर भी अज ने अतिशय पितृभक्ति के कारण ही अपने पिता का समस्त अन्तिम संस्कार किया ।।

स परार्ध्यगतेरशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः ।
शमिताधिरधिज्यकार्मुकः कृतवानप्रतिशासनं जगत् ॥२७॥

स इति । परार्ध्यगतेः प्रशस्तगतेः प्राप्तमोक्षस्य पितुरशोच्यतामशोचनीयत्वमुद्दिश्याभिसन्धाय । शोको न कर्तव्य इत्युपदिश्येत्यर्थः । 'परिव्राजि विपन्ने तु पतिते चात्मवेश्मनि । कार्यो न शोको ज्ञातीनामन्यथा दोषभागिनः ॥' इति सुमन्तुस्मरणात् । सदर्थवेदिभिः परमार्थज्ञैर्विद्वद्भिः शमिताधिर्निवारितमनोव्ययः । 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः । सोऽजोऽधिज्यकार्मुकः अधिज्यमारोपितमौर्वीकं कार्मुकं यस्य स तथोक्तः सन् जगत्कर्मभूतमप्रतिशासनं द्वितीयाज्ञारहितम्, आत्माज्ञाविधेयमित्यर्थः । कृतवांश्चकार ॥२७॥

अन्वयः—परार्ध्यगतेः पितुः अशोच्यताम् उद्दिश्य, सदर्थवेदिभिः शमिताधिः सः अधिज्यकार्मुकः सन् जगत् अप्रतिशासनं कृतवान् ।

उत्तमगति को प्राप्त पिता की अशोचनीयता को लक्ष्य कर तत्त्वज्ञानियों द्वारा मानसिक व्यथा समाप्त कर देने पर उस अज ने धनुष पर प्रत्यञ्चा आरोपित कर विश्व को अद्वितीय शासन वाला बना दिया ।

[रघु के परलोक में उत्तमगति प्राप्त कर लेने पर भी पितृभक्ति के कारण अज को व्यथा हुई । जब तत्त्वदर्शी परमार्थवेत्ताओं ने उन्हें यह समझाया कि आपके पिता उत्तमगति को प्राप्त हुए हैं, उनके लिए आपको शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि संन्यासियों के देहान्त पर शोक करने से दोषभाजन होना पड़ता है तो अज की मानसिक व्यथा शान्त हुई और उन्होंने धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर विश्व को एक शासन वाला कर दिया] ॥२७॥

क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्र्यपौरुषम् ।
प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत्सुतम् ॥२८॥

क्षितिरिति । क्षितिर्मही भामिनी कामिनीन्दुमती च । 'भामिनी कामिनी च' इति हलायुधः । अग्र्यपौरुषं महापराक्रममुत्कृष्टभोगशक्ति च तमजं पतिमासाद्य प्राप्य । तत्र प्रथमा क्षितिः बहूनि रत्नानि श्रेष्ठवस्तूनि सूत इति बहुरत्नसूरभूत् । 'रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि' इत्यमरः । अपरेन्दुमती वीरं विशेषेण शत्रून् ईरयति कम्पयतीति वीरस्तं सुतमजीजनज्जनयति स्म । जायतेर्णौ लुङि रूपम् । सहोक्त्या सादृश्यमुच्यते ॥२८॥

अन्वय:—क्षिति: भामिनी इन्दुमती च अग्रयपौरुषं तम् पतिम् आसाद्य तत्र प्रथमा (क्षिति:) बहुरत्नसू: अभूत् अपरा वीरं सुतमजीजनत् ॥

पृथ्वी और कामिनी इन्दुमती ने महापराक्रमी और उत्कृष्ट भोगशक्ति सम्पन्न उस अज को पति पाकर उनमें से पहली अर्थात् पृथ्वी अनन्तरत्नों को प्रसव करने वाली हुई, और द्वितीया इन्दुमती ने वीर पुत्र को जन्म दिया ॥२८॥

किन्नामकोऽसावत आह—

दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम् ।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधा: ॥२९॥

दशेति । दश रश्मिशतानि यस्य स दशरश्मिशत: सूर्य: । स उपमा यस्या: सा दशरश्मिशतोपमा द्युतिर्यस्य तम् । यशसा करणेन दशस्वपि दिक्ष्वाशासु श्रुत प्रसिद्धम् । दशकण्ठारे रावणारे रामस्य गुरुं पितरं यं सुतम् । आख्यया नाम्ना दशपूर्वो दशशब्दपूर्वो रथो रथशब्दस्तम्, दशरथमित्यर्थ: । बुधा विद्वांसो विदुर्वदन्ति । 'विदो लटो वा' इति झेर्जुसादेश: ॥२९॥

अन्वय:—दशरश्मिशतोपमद्युतिम् यशसा दशस्वपि दिक्षु श्रुतम् दशकण्ठारिगुरुम् यं आख्यया दशपूर्वरथं बुधा: विदु: ।

इन्दुमती ने जिस पुत्र को जन्म दिया उसे विद्वान् सहस्रकिरण सूर्य के समान तेजस्वी, यश से दशों दिशाओं में विख्यात, दशकण्ठ रावण के शत्रु राम के पिता दशरथ नाम से जानते हैं ॥२९॥

ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवै: स पार्थिव: ।
अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधिति: ॥३०॥

ऋषीति । श्रुतयागप्रसवैरध्ययनयज्ञसन्तानै: करणै: यथासंख्यमृषीणां देवगणानामिन्द्रादीनां स्वधाभुजां पितृणामनृणत्वमृणविमुक्तत्वमुपेयिवान्प्राप्तवान् । 'ऋणं देवस्य यज्ञेन पितृणां दानकर्मणा । सन्तत्या पितृलोकानां शोधयित्वा परिव्रजेत्' ॥ 'एष वा अनृणो य: पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वा' इति श्रुते: । स पार्थिवोऽज: परिधे: परिवेषात् । 'परिवेषस्तु परिधि:' इत्यमर: । मुक्तो निर्गत: कर्मकर्ता । उष्णदीधिति: सूर्य इव । बभौ दिदीपे । इत्युपमा ॥३०॥

अन्वय:—श्रुतयागप्रसवै: ऋषिदेवगणस्वधाभुजाम् अनृणत्वम् उपेयिवान् स: पार्थिव: परिधे: मुक्त: उष्णदीधिति: इव बभौ ।

[मनुष्य पर ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण ये तीन ऋण रहते हैं। इनसे मनुष्य क्रमशः अध्ययन, यज्ञ और सन्तान द्वारा उऋण होता है। यहाँ अज के इन्हीं तीनों ऋणों से मुक्त होने का निरूपण किया गया है।]

वेदाध्ययन, यज्ञ और सन्तान के द्वारा ऋषियों, देवगणों और स्वधाभोगी पितरों के ऋण से मुक्त हुए वे राजा अज परिधि (परिवेश) मण्डल से मुक्त सूर्य के समान सुशोभित हुए ॥३०॥

बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहु श्रुतम्।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना॥ ३१ ॥

बलमिति। तस्य विभोरजस्य केवलं वसु धनमेव परप्रयोजनं परोपकारकं नाभूत्। किन्तु गुणवत्तापि गुणत्वमपि परप्रयोजना परेषामन्येषां प्रयोजनं यस्यां सा। विधेयांशत्वेन प्राधान्याद् गुणवत्ताया विशेषणं वस्वित्यत्र तूहनीयम्। तथा हि। बलं पौरुषमार्तानामापन्नानां भयस्योपशान्तये निषेधाय न तु स्वार्थं परपीडनाय वा। बहु भूरि श्रुतं विद्या विदुषां सत्कृतये सत्काराय। न तूत्सेकाय बभूव। तस्य धनं परोपयोगीति किं वक्तव्यम्। बलश्रुतादयोऽपि गुणाः परोपयोगिन इत्यर्थः॥ ३१ ॥

अन्वयः—तस्य विभोः केवलं वसु परप्रयोजनं न गुणवत्ताऽपि परप्रयोजना (तथाहि) बलं आर्तभयोपशान्तये, बहुश्रुतम् विदुषाम् सत्कृतये।

उस सामर्थ्यवान् महाराज अज का केवल धन ही परहित के लिए नहीं हुआ अपितु उनकी गुणवत्ता भी दूसरों के प्रयोजन के लिए (सिद्ध) हुयी। उनका पौरुष पीड़ितों के भय को प्रशान्त करने के लिए और पर्याप्त शास्त्र-अध्ययन विद्वानों के सत्कार के लिए हुआ ॥३१॥

स कदाचिदवेक्षितप्रजः सह देव्या विजहार सुप्रजः।
नगरोपवने शचीसखो मरुतां पालयितेव नन्दने ॥३२॥

स इति। अवेक्षितप्रजोऽकुतोभयत्वेनानुसंहितप्रजः। 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' इत्यसिच्प्रत्ययः। न केवलं स्त्रैण इति भावः। शोभना प्रजा यस्यासौ सुप्रजः सुपुत्रवान्। पुत्रन्यस्तभार इति भावः। सोऽजः कदाचिद् देव्या महिष्येन्दुमत्या सह नगरोपवने नन्दने नन्दनाख्येऽमरावत्युपकण्ठवने शचीसखः, शच्या सहेत्यर्थः। मरुतां देवानां पालयितेन्द्र इव। विजहार चिक्रीड ॥३२॥

अन्वयः—अवेक्षितप्रजः सुप्रजः सः कदाचित् देव्या सह नगरोपवने नन्दने शचीसखः मरुतां पालयिता इव विजहार।

प्रजाओं के पालक सुपुत्रवान् वे महाराज अज किसी समय अपनी महारानी इन्दुमती के साथ नगर के उपवन में उसी प्रकार विहार करने गये जिस प्रकार देवताओं के प्रतिपालक इन्द्र अपनी रानी शची इन्द्राणी के साथ अमरावती नगरी के निकट नन्दन नामक वन में विहार करने जाते हैं ॥३२॥

अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः ॥३३॥

अथेति। अथ दक्षिणस्योदधेः समुद्रस्य रोधसि तीरे श्रितगोकर्णनिकेतमधिष्ठितं गोकर्णाख्यस्थानमीश्वरं शिवमुपवीणयितुं वीणयोपसमीपे गातुम्। 'सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्' इत्यनेन वीणाशब्दादुपमानार्थे णिच्प्रत्ययः। ततस्तुमुन्। नारदः नराणां समूहः नारं तद् द्यति खण्डयति कलहदानात् इति नारदः देवर्षी रवेः सूर्यस्य सम्बन्धिनोदयावृत्तिपथेनाकाशमार्गेण ययौ जगाम। सूर्योपमानेनास्यातितेजस्त्वमुच्यते ॥३३॥

अन्वयः—अथ दक्षिणोदधेः रोधसि श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम् उपवीणयितुम् नारदः रवेः उदयावृत्तिपथेन ययौ।

इसके अनन्तर दक्षिण के सागर तट पर गोकर्ण नामक स्थान पर अधिष्ठित शिव जी की वीणा से स्तुति करने के लिए देवर्षि नारद सूर्य के आवृत्तिमार्ग—आकाशपथ से चले ॥३३॥

कुसुमैर्ग्रथितामपार्थिवैः स्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम्।
अहरत्किल तस्य वेगवानधिवासस्पृहयेव मारुतः ॥३४॥

कुसुमैरिति। अपार्थिवैरभौमैः, दिव्यैरित्यर्थः। कुसुमैर्ग्रथितां रचिताम्। तस्य नारदस्यातोद्यस्य वाद्यस्य वीणायाः शिरस्यग्रे निवेशिताम्। 'चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्' इत्यमरः। स्रजं मालां वेगवान्मारुतः। अधिवासे वासनायां स्पृहयेव, स्रजा स्वाङ्गं संस्कर्तुमित्यर्थः। 'संस्कारो गन्धमाल्याद्यैर्यः स्यात्तदधिवासनम्' इत्यमरः। अहरत्किल किलेत्यैतिह्ये ॥३४॥

अन्वयः—अपार्थिवैः कुसुमैः ग्रथिताम् तस्य आतोद्यशिरोनिवेशिताम् स्रजम् वेगवान् मारुतः अधिवासस्पृहया इव अहरत् किल।

पार्थिवेतर अर्थात् दिव्य पुष्पों से गुम्फित उस नारद की वीणा के शिरोभाग में लगी माला को तीव्र वायु ने मानो सुगन्धिग्रहण की वासना से उड़ा लिया।

भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम् ॥३५॥

भ्रमरैरिति। कुसुमानुसारिभिः पुष्पानुयायिभिर्भ्रमरैरलिभिः परिकीर्णा व्याप्ता मुनेर्नारदस्य परिवादिनी वीणा। 'वीणा तु वल्लकी। विपञ्चो सा तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी'॥ इत्यमरः। पवनस्य वायोरवलेपोऽधिक्षेपस्तज्जमञ्जनेन कज्जलेनाविलं कलुषं बाष्पमश्रु सृजती मुञ्चतीव ददृशे दृष्टा। भ्रमराणां साञ्जन-बाष्पविन्दुसादृश्यं विवक्षितम्। 'वा नपुंसकस्य' इति वर्तमाने 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति नुम्विकल्पः ॥३५॥

अन्वयः—कुसुमानुसारिभिः भ्रमरैः परिकीर्णा मुनेः परिवादिनी पवनाव-लेपजं अञ्जनाविलं बाष्पम् सृजती इव ददृशे।

पुष्पों का अनुसरण करने वाले भ्रमरों से परिव्याप्त मुनि की वीणा वायु के द्वारा किये गए इस अपमान से उत्पन्न, काजल से कलुषित अश्रुपात करती हुई की भाँति देखी गयी ॥३५॥

अभिभूय विभूतिमार्तवीं मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम्।
नृपतेरमरस्रगाप सा दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम् ॥३६॥

अभिभूयेति। साऽमरस्रग्दिव्यमाला मधुगन्धयोर्मकरन्दसौरभयोरतिशयेनाधिकेन। वीरुधां लतानाम्। 'लता प्रतानिनी वीरुत्' इत्यमरः। ऋतोः प्राप्ता-मार्तवीमृतुसम्बन्धिनीं विभूतिं समृद्धिमभिभूय तिरस्कृत्य नृपतेरजस्य दयिताया इन्दुमत्या ऊर्वोर्विशालयोः स्तनयोर्ये कोटी चूचुकौ तयोः सुस्थितिं गोप्यस्थाने पतितत्वात्प्रशस्तां स्थितिं स्थानमाप प्राप्ता ॥३६॥

अन्वयः—सा अमरस्रक् मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम् आर्तवीं विभूतिम् अभिभूय नृपतेः दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम् आप।

उस अमर माला ने मधु तथा सुगन्धि की तीव्रता से लताओं की ऋतु संबंधिनी विभूति को तिरस्कृत कर राजा अज की प्रिया इन्दुमती के उन्नत स्तनों के अग्रभाग— चूचुकों पर सुन्दर स्थिति प्राप्त की ॥३६॥

क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला।
निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचन्द्रा तमसेव कौमुदी ॥३७॥

क्षणमात्रेति । सुजातयोः सुजन्मनोः, सुन्दरयोरित्यर्थः । स्तनयोः क्षणमात्रं सखीं सखीमिव स्थिताम्, सुजातत्वसाधर्म्यात्स्रजः स्तनसखीत्वमिति भावः । तां स्रजमवलोक्येषद्दृष्ट्वा विह्वला परवशा नरोत्तमप्रियेन्दुमती तमसा राहुणा । 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः' इत्यमरः । हृतचन्द्रा कौमुदी चन्द्रिकेव निमिमील मुमोह, ममारेत्यर्थः । 'निमीलो दीर्घनिद्रा च' इति हलायुधः । कौमुद्या निमीलनं प्रतिसंहारः ॥३७॥

अन्वयः—सुजातयोः स्तनयोः क्षणमात्रसखीं ताम् अवलोक्य विह्वला नरोत्तमप्रिया तमसा हृतचन्द्रा कौमुदी इव निमिमील ।

सुन्दर स्तनों की कुछ क्षणों की सखी (संगिनी) उस दिव्य माला को देखकर विह्वल हुयी नरश्रेष्ठ अज की प्रिया इन्दुमती ने राहु के द्वारा अपहृत चन्द्रमा वाली चन्द्रिका के समान अपनी आँखें दीर्घ निद्रा में बन्द कर लीं ।।३७।।

वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत् ।
ननु तैलनिषेकविन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम् ॥३८॥

वपुषेति । करणैरिन्द्रियैरुज्झितेन मुक्तेन । 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि' इत्यमरः । वपुषा निपतन्ती सेन्दुमती पतिमजमप्यपातयत्पातयति स्म । तथा हि । निषिच्यते इति निषेकः तैलस्य निषेकस्तैलनिषेकः, क्षरत्तैलमित्यर्थः । तस्य विन्दुना सह दीपार्चिर्दीपज्वाला मेदिनीं भुवमुपैति ननूपैत्येव । नन्वत्रावधारणे । 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः । इन्दुमत्या दीपार्चिरुपमानम् । अजस्य तैलविन्दुः । तत एव तस्या जीवितसमाप्तिस्तस्य जीवितशेषश्च सूच्यते ॥३८॥

अन्वयः—करणोज्झितेन वपुषा निपतन्ती सा पतिमपि अपातयत् (तथाहि) तैलनिषेकविन्दुना सह दीपार्चिः मेदिनीम् उपैति ननु ।

इन्द्रियविहीन शरीर से गिरती हुई उस (इन्दुमती) ने पति अज को भी गिरा दिया; (इन्दुमती को चेतना शून्य देखकर अज भी शोक से पछाड़ खाकर गिर पड़े ।) तेल के विन्दु के टपकने के साथ दीप की शिखा पृथ्वी पर आ ही पड़ती है ।।३८।।

उभयोरपि पार्श्ववर्तिनां तुमुलेनार्तरवेण वेजिताः ।
विहगाः कमलाकरालयाः समदुःखा इव तत्र चुक्रुशुः ॥३९॥

उभयोरिति । उभयोर्दम्पत्योः पार्श्ववर्तिनां परिजनानां तुमुलेन सङ्कुलेनार्त-

रवेण करुणस्वनेन वेजिता भीताः कमलाकरालयाः सरः स्थिता विहगा हंसादयोऽपि तत्रोपवने समदुःखा इव तत्पार्श्ववर्तिनां समानशोका इव चुक्रुशुः क्रोशन्ति स्म ॥

अन्वयः—उभयोः पार्श्ववर्तिनाम् तुमुलेन आर्तरवेण वेजिताः कमलाकरालयाः विहगाः अपि तत्र समदुःखा इव चुक्रुशुः ।

दोनों राजा और रानी के निकटवर्ती परिजनों के व्यापक आर्तस्वर (करुण क्रन्दन की ध्वनि) से उद्विग्न कमलों के आकर सरोवर में निवास करने वाले पक्षी भी वहाँ मानो समान दुःखी की भाँति करुण-कूजन करने लगे ॥३९॥

नृपतेर्व्यजनादिभिस्तमो नुनुदे सा तु तथैव संस्थिता ।
प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते ॥ ४० ॥

नृपतेरिति । नृपतेरजस्य तमोऽज्ञानं व्यजनादिभिः साधनैर्नुनुदेऽपसारितम् । आदिशब्देन जलसेककर्पूरक्षोदादयो गृह्यन्ते । सा त्विन्दुमती तथैव संस्थिता मृता । तथा हि । प्रतिकारविधानं चिकित्साकरणम् आयुषो जीवितकालस्य शेषे सति विद्यमाने । 'आयुर्जीवितकालो ना' इत्यमरः । फलाय सिद्धये कल्पते आरोग्याय भवति । 'क्लृपि' सम्पद्यमाने च इति चतुर्थी । नान्यथा नृपतेरायुःशेषसद्भावात्प्रतीकारस्य साफल्यम् । तस्यास्तु तदभावाद्वैफल्यमित्यर्थः ॥ ४० ॥

अन्वयः—नृपतेः तमः व्यजनादिभिः नुनुदे, सा तु तथैव संस्थिता । (तथाहि) हि प्रतिकारविधानं आयुषः शेषे सति फलाय कल्पते ।

राजा की अचेतनता (मूर्च्छा) पंखे की हवा, शीतल जल के सिंचन आदि शीतोपचारों से समाप्त कर दी गयी, किन्तु वह रानी इन्दुमती उसी प्रकार मृत पड़ी रही, क्योंकि (औषध) उपचार आदि का विधान आयु के शेष रहने पर ही सफल होता है । [राजा की आयु शेष थी अतः उपचार करने से मूर्च्छित होने पर भी वह जीवित हो उठा और रानी की आयु समाप्त हो गयी थी अतः वह उसी प्रकार मृत पड़ी रही ।] ॥४०॥

प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्त्वविप्लवात् ।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम् ॥ ४१ ॥

प्रतीति । अथ सत्त्वस्य चैतन्यस्य विप्लवाद्विनाशाद्धेतोः । 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वम्' इत्यमरः । प्रतियोजयितव्या तन्त्रीभिर्योजनीया, न तु योजिततन्त्रीत्यर्थः । या वल्लकी वीणा तस्याः समावस्था दशा यस्यास्तामङ्गनां वनितां

नितान्तवत्सलोऽतिप्रेमवान्सोऽजः परिगृह्य हस्ताभ्यां गृहीत्वोचितं परिचितमङ्कमुत्सङ्गं निनाय नीतवान्। वल्लकीपक्षे तु सत्त्वं तन्त्रीणामवष्टम्भकः शलाकाविशेषः ॥

अन्वयः—अथ सत्त्वविप्लवात् प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थाम् अङ्गनाम् नितान्तवत्सलः सः परिगृह्य उचितं अङ्कं निनाय।

इसके पश्चात् चेतनाविनष्ट हो जाने के कारण तार चढ़ाने योग्य तन्त्रीवीणा के समान अवस्था वाली प्रियतमा को अत्यन्त प्रिय-प्रेमी उस अज ने (हाथों से) पकड़कर सुपरिचित अपनी गोद में बैठा लिया ॥ ४१ ॥

पतिरङ्कनिषण्णया तया करणापायविभिन्नवर्णया।
समलक्ष्यत बिभ्रदाविलां मृगलेखामुषसीव चन्द्रमाः ॥ ४२ ॥

पतिरिति। पतिरजोऽङ्कनिषण्णयोत्सङ्गस्थितया करणानामिन्द्रियाणां तदुपलक्षितस्य चैतन्यस्य वा अपायेनापगमेन हेतुना विभिन्नवर्णया विच्छायया तया। 'इत्थंभूतलक्षणे' इत्यनेन तृतीया। उषसि प्रातःकाले आविलां मलिनां मृगलेखां लाञ्छनं मृगरेखारूपं बिभ्रद्धारयंश्चन्द्रमा इव। समलक्ष्यतादृश्यत इत्युपमा॥४२॥

अन्वयः—पतिः अङ्कनिषण्णया करणापायविभिन्नवर्णया तया उषसि आविलाम् मृगलेखाम् बिभ्रद् चन्द्रमाः इव समलक्ष्यत।

गोद में आसीन एवं इन्द्रियों के नष्ट हो जाने से विवर्ण उस इन्दुमती से पति अज प्रातः काल में मलिन मृगलाञ्छन को धारण करते हुए चन्द्रमा के समान जान पड़ते थे ॥ ४२ ॥

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥ ४३ ॥

विललापेति। सोऽजः सहजां स्वाभाविकीमपि धीरतां धैर्यमपहाय विप्रकीर्य वाष्पेण कण्ठगतेन गद्गदं विशीर्णाक्षरं यथा तथा ध्वनिमात्रानुकारिगद्गदशब्दैर्विललाप परिदेवितवान्। 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः। धीरस्य कुतः शोकः इति चेदत आह—अभितप्तमग्निना सन्तप्तमयो लोहमचेतनमपि मार्दवं मृदुत्वमवैरत्वं च भजते प्राप्नोति। शरीरिषु देहिषु अभिसन्तप्तेष्विति शेषः। विषये कैव कथा वार्ता, अनुक्तसिद्धमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—सः सहजामपिधीरतां अपहाय वाष्पगद्दम् विललाप। अभितप्तम् अयः अपि मार्दवम् भजते शरीरिषु कैव कथा।

वे महाराज अज अपनी सहज धीरता को भी त्यागकर आँसुओं से भरे

गद्गद् स्वर में विलखने लगे। अग्नि से संतप्त लोहा भी पिघलकर कोमल हो जाता है तो शोक-सन्तप्त शरीरधारियों की तो बात ही क्या ? ।। ४३ ।।

कुसुमान्यपि गात्रसङ्गमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि ।
न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत्प्रहरिष्यतो विधेः ।। ४४।।

कुसुमानीति। कुसुमानि पुष्पाण्यपि। अपिशब्दो नितान्तमार्दवद्योतनार्थः। गात्रसङ्गमाद्देहसंसर्गादायुरपोहितुमपहर्तुं प्रभवन्ति यदि। हन्त विषादे। 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः। प्रहरिष्यतो हन्तुमिच्छतोविधेर्दैवस्यान्यत्कुसुमातिरिक्तं किमिव वस्तु। इवशब्दो वाक्यालङ्कारे, कीदृशमित्यर्थः। साधनं प्रहरणं न भविष्यति न भवेत्, सर्वमपि साधनं भविष्यत्येवेत्यर्थः ।।४४।।

अन्वयः—कुसुमानि अपि गात्रसंगमात् आयुः अपोहितुम् प्रभवन्ति यदि, हन्त प्रहरिष्यतः विधेः अन्यत् किमिव साधनं न भविष्यति।

यदि पुष्प भी शरीर में लगने से आयु नष्ट करने के लिए समर्थ हैं तो खेद है कि प्रहार करने की इच्छा वाले विधाता की पुष्पेतर अन्य कौन-सी वस्तु (प्राणापहरण के लिए) साधन नहीं होगी ।।४४।।

[यदि पुष्प जैसी कोमल वस्तु के स्पर्श मात्र से मृत्यु हो सकती है तो विधाता की मारने की इच्छा होने पर कोई भी वस्तु साधन हो ही जायगी।]

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे. नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ।। ४५ ।।

अथवेति। अथवा पक्षान्तरे। प्रजान्तकः कालो मृदु कोमलं वस्तु मृदुना वस्तुना हिंसितुं हन्तुमारभत उपक्रमते। अत्रार्थे हिमसेकेन तुषारनिष्यन्देन विपत्तिर्मृत्युर्यस्याःसा तथा नलिनी पद्मिनी मे पूर्वं प्रथमं निदर्शनमुदाहरणं मता। द्वितीयं निदर्शनं पुष्पमृत्युरिन्दुमतीति भावः ।। ४५ ।।

अन्वयः—अथवा प्रजान्तकः मृदु वस्तु मृदुना (वस्तुना) एव हिंसितुम् आरभते, अत्र हिमसेकविपत्तिः नलिनी मे पूर्वदर्शनं मता।

अथवा प्रजाओं का अन्त करने वाला काल कोमल वस्तु को कोमल वस्तु से ही मारने का उपक्रम करता है। इस विषय में तुषारपात से नष्ट होने वाली कमलिनी प्रथम उदाहरण के रूप में (एवं पुष्प संपर्क से मरनेवाली प्रिया इन्दुमती द्वितीय उदाहरण रूप में) मुझे मान्य है ।।४५।।

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषयमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥ ४६ ॥

स्रगिति । इयं स्रग्जीवितमपहन्तीति जीवितापहा यदि, हृदये वक्षसि, 'हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः । निहिता सती मां किं न हन्ति । ईश्वरेच्छया क्वचित्प्रदेशे विषमप्यमृतं भवेत्क्वचिदमृतं वा विषं भवेत्, दैवमेवात्र कारणमित्यर्थः ।

अन्वयः—इयं स्रक् जीवितापहा यदि हृदये निहिता (सती) माम् न हन्ति । ईश्वरेच्छया क्वचित् विषमपि अमृतं भवेत् अमृतं वा विषं भवेत् ।

यदि यह माला प्राणों का अपहरण करनेवाली है तो हृदय पर सन्निहित हुई यह मुझे क्यों नहीं मार डालती ? अथवा ईश्वर की इच्छा से कहीं विष भी अमृत हो जाता है और कहीं अमृत भी विष बन जाता है ॥ ४६ ॥

अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा ।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ॥ ४७ ॥

अथवेति । अथवा मम भाग्यस्य विप्लवाद्विपर्ययादेषः, स्रगित्यर्थः । विधेय-प्राधान्यात्पुंल्लिगनिर्देशः । वेधसा विधात्राऽशनिर्वैद्युतोऽग्निः कल्पितः । 'दम्भो-लिरशनिर्द्वयोः' इत्यमरः । यद्यस्मादनेनाप्यशनिना प्रसिद्धाशनिनेव तरुस्तरु-स्थानीयः स्वयमेव न पातितः । किन्तु तस्य तरोर्विटपाश्रिता लता वल्ली क्षपिता नाशिता ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अथवा मम भाग्यविप्लवात् एषः वेधसा अशनिः कल्पितः यद् अनेन तरुः न पातितः (किन्तु) तद् विपाश्रिता लता क्षपिता ।

अथवा मेरे अभाग्य वश यह माला विधाता द्वारा वज्र बना दिया गया जो कि इसने (मुझ जैसे) वृक्ष को नहीं गिराया अपितु उस वृक्ष की आश्रित लता (वृक्षरूप अज के आश्रित इन्दुमती रूपी लता) को विनष्ट कर दिया ॥ ४७ ॥

कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि ।
कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे ॥ ४८ ॥

कृतवतीति । मयि चिरं भूरिशोऽपराद्धेऽप्यपराधं कृतवत्यपि । राधेः कर्तरि क्तः । यदा यस्माद्धेतोः । यदेति हेत्वर्थः । 'स्वरादौ पठ्यते यदेति हेतौ' इति गणव्याख्यानात् । अवधीरणामवज्ञां न कृतवत्यसि नाकार्षीः । तत्कथमेकपदे तत्क्षणे । 'स्यात्तत्क्षण एकपदम्' इति विश्वः । निरागसं नितरामनपराधमिमं

जनम् । इममिति स्वात्मनिर्देशः, मामित्यर्थः । आभाष्यं सम्भाष्यं न मन्यसे न चिन्तयसि ॥ ४८ ॥

अन्वयः—मयि चिरं अपराद्धेऽपि यदा अवधीरणाम् न कृतवती असि (तत्) कथमेकपदे निरागसं इमं जनं आभाष्यं न मन्यसे ।

जब अनेक बार मेरे अपराध करने पर भी (तुमने कभी) मेरा अपमान नहीं किया एकाएक बिना अपराध के भी इस व्यक्ति (मुझ अज) को वार्तालाप करने योग्य भी क्यों नहीं मानती ? ॥ ४८ ॥

ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते ! विदितः कैतववत्सलस्तव ।
परलोकमसन्निवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ॥ ४९ ॥

ध्रुवमिति। हे शुचिस्मिते धवलहसिते ! शठो गुढविप्रियकारी कैतवेन कपटेन वत्सलः कैतवस्निग्ध इति ध्रुवं सत्यं तव विदितस्त्वया विज्ञातोऽस्मि, 'मति बुद्धिपूजाजेभ्यश्च' इत्यनेन कर्तरि क्तः । 'क्तस्य च वर्तमाने', इति कर्तरि षष्ठी । कुतः, यद्यस्मान्मामनापृच्छ्यानामन्त्र्येतोऽस्माल्लोकात्परलोकमसन्निवृत्तयेऽपुनरावृत्तये गतासि ॥ ४९ ॥

अन्वयः—शुचिस्मिते ! शठः कैतववत्सलः ध्रुवं तव विदितः अस्मि, यद् माम् अनापृच्छ्य इतः परलोकसन्निवृत्तये गतासि ।

हे निर्मल मुसकान वाला प्राणप्रिये ! तुम निश्चित रूप से यह जान गयी हो कि मैं गुप्त रूप से अहित करने वाला कपटी प्रेमी हूँ, क्योंकि इसी से तुम मुझसे बिना पूछे यहाँ से परलोक पुनः नहीं आने के लिए ही चली गयी हो ॥ ४९ ॥

दयितां यदि तावदन्वगाद्विनिवृत्तं किमिदं तया विना ।
सहतां हतजीवितं मम प्रबलामात्मकृतेन वेदनाम् ॥५०॥

दयितामिति । इदं मम हतजीवितं कुत्सितं जीवितं तावदादौ दयितामिन्दुमतीमन्वगादन्वगच्छद्यदि अन्वगादेव । यद्यत्रावधारणे । पूर्वं मूर्च्छितत्वादिति भावः तर्हि तया दयितया विना किं किमर्थं विनिवृत्तं प्रत्यागतम्, प्रत्यागमनं न युक्तमित्यर्थः । अत एवात्मकृतेन स्वदुश्चेष्टितेन निवृत्तिरूपेण प्रबलामधिकां वेदनां दुःखंसहतां क्षमताम् । स्वयंकृतापराधेषु सहिष्णुतैव शरणमिति भावः ॥५०॥

अन्वयः—इदं मम हतजीवितं तावत् दयिताम् अन्वगात् यदि (तर्हि) तया विना इदं किम् विनिवृत्तम् (अत एव) आत्मकृतेन प्रबलाम् वेदनाम् सहताम् ।

ये मेरे हत प्राण यदि प्रिया के पीछे गये ही थे (प्रिया के मरने पर

मूर्च्छित हो ही गये थे) तो उसके बिना पुनः क्यों लौट आये ? इसलिए अपने से ही किये (दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप) अतिशय कष्ट को भोगें ॥५०॥

सुरतश्रमसम्भृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते ।
अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥५१॥

सुरतश्रमेति । सुरतश्रमेण सम्भृतो जनितः स्वेदलवोद्गमोऽपि ते तव मुखे ध्रियते वर्तते । अथ च त्वमात्मना स्वरूपेणास्तं नाशमिता प्राप्ता । अतः कारणाद्देहभृतां प्राणिनामिमां प्रत्यक्षामसारसारतामस्थिरतां धिक् ॥५१॥

अन्वयः—सुरतश्रमसम्भृतः स्वेदलवोद्गमः अपि ते मुखे ध्रियते, अथ च त्वमात्मना अस्तमिता देहभृतां इमां असारतां धिक् ।

रति क्रीड़ा के श्रम से उत्पन्न पसीने की कुछ-कुछ बूँदें भी तुम्हारे मुख पर पड़ी हैं और तुम आत्मा से वियुक्त (मृत) हो गयी । शरीरधारियों की इस असारता (क्षणभंगुरता) को धिक्कार है ॥५१॥

मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ।
ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥५२॥

मनसेति । मया मनसापि तव विप्रियं न कृतपूर्वम्, पूर्वं न कृतमित्यर्थः । सुप्सुपेति समासः । किं केन निमित्तेन मां जहासि त्यजसि । नन्वहं क्षितेः शब्दपतिः शब्दत एव पतिः न त्वर्थत इत्यर्थः । भावनिबन्धनाभिप्रायनिबन्धना स्वभावहेतुका मे रतिः प्रेम तु त्वय्येव । अस्तीति शेषः ॥५२॥

अन्वयः—मया मनसा अपि तव विप्रियं न कृतपूर्वम्, किं मां जहासि । नन्वहं क्षितेः शब्दपतिः भावनिबन्धना मे रतिः त्वयि (एवास्तीति शेषः) ।

मैंने मन से भी तुम्हारा अप्रिय पहले कभी नहीं किया तो मुझे क्यों त्याग रही हो ? भूपति तो मैं शब्द मात्र से हूँ, वस्तुतः मेरा भावात्मक अनुराग तो तुम में ही है ॥५२॥

[महाराज अज के कहने का अभिप्राय यह है कि राजा भूपति कहलाता है और वह इन्दुमती का भी पति है । इसलिए पृथ्वी इन्दुमती की सौंत हुयी । इसी कारण सम्भवतः इन्दुमती उसे छोड़कर स्वर्ग चली गयी । यहाँ अज उसके सपत्नी शोक का समाधान यह कहकर कर रहे हैं कि मैं भूपति नाममात्र का हूँ । पतिपत्नी विषयक प्रेमभाव पृथ्वी के साथ सम्भव नहीं है । भूपति तो शब्दमात्र का व्यवहार है । यथार्थ रूप से मैं तुमसे भावात्मक प्रेम बन्धन में आबद्ध हूँ ।]

भूपति शब्द की सार्थकता से सम्बन्धित एक मनोहर उदाहरण आचार्य कवि केशवदास की रामचन्द्रिका से उद्धृत किया जाता है—

(विश्वामित्र) विजय—

आपने आपने ठौरनि तो भुवपाल सबै भुव पालै सदाई ।
केवल नामहिं के भुवपाल कहावत हैं, भुवपालि न जाई ॥
भूपन की तुम ही धरि देह विदेहन में कल कीरति गाई ।
केशव भूषण की भुवि भूषण भू-तन ते तनया उपजाई ॥

[वस्तुतः पृथ्वीपति तो जनक ही कहलाने योग्य हुए जिन्होंने पृथ्वी के शरीर से पुत्री-जानकी उत्पन्न की]

कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन्भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः ॥५३॥

कुसुमेति । कुसुमैरुत्खचितानुत्कर्षेण रचितान्वलीभूतो भङ्गीयुक्तान्, कुटिलानित्यर्थः । भृङ्गरुचो नीलांस्तवालकांश्चलयन्कम्पयन्मारुतः । हे करभोरु करभसदृशोरु ! 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः । मे मनस्त्वदुपावर्तनशङ्कि तव पुनरागमने शङ्कावत्करोति । त्वदुज्जीवने शङ्कां कारयतीत्यर्थः ।

अन्वयः—कुसुमोत्खचितान् वलीभृतः भृङ्गरुचः तव अलकान् चलयन् मारुतः हे करभोरु ! मे मनः त्वदुपावर्तनशङ्कि करोति ।

हे करभ के समान सुन्दर उरु वाली ! पुष्पों से गुम्फित, घुँघराले, भ्रमर के समान काले-काले तुम्हारे केश कलापों को सञ्चालित करती हुई वायु मेरे मन को तुम्हारे पुनरागमन की आशंका से युक्त कर रहा है ॥५३॥

तदपोहितुमर्हसि प्रिये ! प्रतिबोधेन विषादमाशु मे ।
ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ॥५४॥

तदिति । हे प्रिये ! तत्तस्मात्कारणादाशु मे विषादं दुःखम् नक्तं रात्रावोषधिस्तृणज्योतिराख्या लता ज्वलितेन प्रकाशेन तुहिनाद्रेर्हिमालयस्य गुहागतं तमोऽन्धकारमिव प्रतिबोधेन ज्ञानेनापोहितुं निरसितुमर्हसि ॥५४॥

अन्वयः—प्रिये ! तत् आशु मे विषादं नक्तमोषधिः ज्वलितेन तुहिनाद्रेः गुहागतं तमः इव प्रतिबोधेन अपोहितुं अर्हसि ।

इसलिए हे प्रिये ! जिस प्रकार रात्रि में तृणज्योति नामक लता (ओषधि)

अपने प्रकाश से हिमालय पर्वत की गुहा के अन्धकार को दूर करती है, उसी प्रकार तुम्हें भी ज्ञानोपदेश से शीघ्र ही मेरे विषाद को नष्ट कर देना चाहिए ॥५४॥

इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम् ।
निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं विरताभ्यन्तरषट्पदस्वनम् ॥५५॥

इदमिति । इदमुच्छ्वसितालकं चलितचूर्णकुन्तलं विश्रान्तकथं निवृत्तसंलापं तव मुखम् । निशि रात्रौ सुप्तं निमीलितं विरतोऽभ्यन्तराणामन्तर्वर्तिनां षट्पदानां स्वनो यत्र तत्, निःशब्दभृङ्गमित्यर्थः । एकपङ्कजमद्वितीयं पद्ममिव । मां दुनोति परितापयति ॥५५॥

अन्वयः—इदम् उच्छ्वसितालकं विश्रान्तकथं तव मुखम् निशि सुप्तं विरताभ्यन्तरषट्पदस्वनम् एकपङ्कजमिव माम् दुनोति ।

यह प्रकम्पित अलकों वाला निःशब्द (मौन) तुम्हारा मुख, निशा में प्रसुप्त अन्दर में भ्रमरों के गुंजार से विहीन एक अद्वितीय कमल की भाँति मुझे परिताप (पीड़ा) पहुँचा रहा है ॥५५॥

शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्रिणम् ।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥५६॥

शशिनमिति । शर्वरी रात्रिः शशिनं चन्द्रं पुनरेति प्राप्नोति । द्वन्द्वीभूय चरतीति द्वन्द्वचरः तं पतत्रिणं चक्रवाकं दयिता चक्रवाकी पुनरेति । इति हेतोस्तौचन्द्रचक्रवाकौ विरहान्तरक्षमौ विरहावधिसहौ । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः । अत्यन्तगता पुनरावृत्तिरहिता त्वं तु कथं न मां दहेर्न सन्तापयेः । अपि तु दहेरेवेत्यर्थः ॥५६॥

अन्वयः—शर्वरी शशिनं पुनः एति, द्वन्द्वचरं पतत्रिणं दयिता पुनरेति इति तौ विरहान्तरक्षमौ । अत्यन्तगता (त्वं) कथं न माम् दहेः ।

रात्रि चन्द्रमा को पुनः प्राप्त करती है, एक साथ जोड़े के रूप में विचरण करने वाले पक्षी—चकवा के निकट उसकी प्रिया चकवी पुनः आ जाती है, इसलिए वे दोनों चन्द्रमा एवं चक्रवाक विरह के अन्तराल को सह लेते हैं । सदा के लिए गयी हुयी तुम मुझे क्यों नहीं परिताप से जलाओगी ? ॥५६॥

नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु ! चिताधिरोहणम् ॥५७॥

नवेति । नवपल्लवसंस्तरे नूतनप्रवालास्तरणेऽप्यर्पितं स्थापितं मृदु ते तव

यदङ्गं शरीरं दूयेत परितप्तं भवेत् । वामौ सुन्दरौ ऊरू यस्याः सा हे वामोरु ! 'वामं स्यात्सुन्दरे सव्ये' इति केशवः । 'संहितशफलक्षणवामादेश्च' इत्यादिनो-ङ्प्रत्ययः । तदिदमङ्गं चितायाः काष्ठसञ्चयस्याधिरोहणं कथं विषहिष्यते ? वद ।

अन्वयः—नवपल्लवसंस्तरेऽपि अर्पितं मृदु ते यद् अङ्गं दूयेत, वामोरु ! तद् इदं चिताधिरोहणं कथं विषहिष्यते ? वद ।

अभिनव किसलय की कोमल शैय्या पर समर्पित होने पर जो तुम्हारा यह सुकुमार शरीर पीड़ा की अनुभूति करता था, हा हे सुजघने ! यह चिता के ऊपर बिठाया जाना किस प्रकार सहेगा ? बोलो ॥ ५७ ॥

इयमप्रतिबोधशायिनी रशना त्वां प्रथमा रहःसखी ।
गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ॥ ५८ ॥

इयमिति । इयं प्रथमाऽऽद्या रहःसखी । सुरतसमयेऽप्यनुयानादिति भावः । गतिविभ्रमसादेन विलासोपरमेण नीरवा निःशब्दा रशना मेखला अप्रतिबोधमपुन-रुद्बोधं यथा तथा शायिनीम्, मृतामित्यर्थः । त्वामनु त्वया सह । 'तृतीयार्थे' इत्यनुशब्दस्य कर्मप्रवचनीयत्वात् । 'कर्मप्रवचनीययुक्ते-द्वितीया' इत्यनेन द्वितीया । शुचा शोकेन मृतेव न लक्ष्यत इति न, लक्ष्यत एवेत्यर्थः । सम्भाव्यनिषेधनिवर्त-नाय द्वौ प्रतिषेधौ ॥ ५८ ॥

अन्वयः—इयं प्रथमा रहःसखी गतिविभ्रमसादनीरवा अप्रतिबोधशायि-नीम् त्वाम् अनु शुचा मृतेव न लक्ष्यते (इति) न (अपितु लक्ष्यत एव) ।

यह प्रथम एकान्त की संगिनी-सखी सञ्चरण कालीन विलास के विरमित हो जाने के कारण मूक बनी मेखला (करधनी) अपुनर्जागरण के लिए सोयी हुयी तुम्हारे साथ शोक से मरी हुयी के समान नहीं दीखती ऐसी बात नहीं अपितु यह रशना भी मौन भाव से तुम्हारा अनुसरण करती हुयी मृत ही लक्षित होती है ॥ ५८ ॥

कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम् ।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥ ५९ ॥
त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥ ६० ॥

कलमिति, त्रिदिवेति । युग्मम्, उभयोरेकान्वयः । अन्यभृतासु कोकिलासु कलं मधुरं भाषितं भाषणम् । कलहंसीषु विशिष्टहंसीषु मदालसं मन्थरं गतं गम-

नम् । पृषतीषु हरिणीषु विलोलमीक्षितं चञ्चला दृष्टिः । पवनेन वायुनाऽधूतलतास्वीषत्कम्पितलतासु विभ्रमा विलासाः । इत्यमी पूर्वोक्ताः कलभाषणादयो गुणाः । एषु कोकिलादिस्थानेष्विति शेषः । त्रिदिवोत्सुकयापीह जीवन्त्येव स्वर्गं प्रति प्रस्थितयापि त्वया ममावेक्ष्य विरहासहं विचार्य सत्यं निहिताः, मत्प्राणधारणोपायतया स्थापिता इत्यर्थः । तव विरहे गुरुव्यथमतिदुःख मे हृदयं मनोऽवलम्बितं स्थापयितुं न क्षमा न शक्ताः । ते तु त्वत्संगम एव सुखकारिणो नान्यथा, प्रत्युत प्राणानपहरन्तीति भावः ॥५९-६०॥

अन्वयः—अन्यभृतासु कलं भाषितं, कलहंसीषु मदालसं गतं, पृषतीषु विलोलमीक्षितम् पवनाधूतलतासु विभ्रमाः इति अमी गुणाः त्रिदिवोत्सुकयापि त्वया मामवेक्ष्य सत्यं निहिताः, तु तव विरहे गुरुव्यथं मे हृदयं अवलम्बितुम् न क्षमाः ।

यह युग्म श्लोक है अतः इसका एक साथ ही अन्वय किया गया है । इसका अर्थ भी एक ही साथ सम्भव है । इन्दुमती जब स्वर्ग जाने लगी तो अपने प्रियतम के मनोरञ्जनार्थ अपने विशिष्ट गुणों को प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों के पास धरोहर रूप में दे गयी किन्तु इन्दुमती के अभाव में उसके द्वारा निहित वे गुण अज के हृदय को सहारा न दे सके यही बात इन दोनों श्लोकों में इस प्रकार व्यक्त की गयी है—

दूसरों (कौवों) के द्वारा पालित कोयलों में मधुर भाषण, कलहंसियों में मदमाती गति, हरिणियों में चञ्चल दृष्टि, और वायु से आन्दोलित लताओं में विलास ये उपर्युक्त गुण इन कोकिलादि में स्वर्गारोहण के लिए उत्कण्ठित होती हुयी भी तुम्हारे द्वारा विरह से असहाय मुझे देखकर मेरे प्राणों के अवलम्बन हेतु ही सचमुच स्थापित किये गये किन्तु तुम्हारे वियोग में अत्यधिक व्यथित मेरे हृदय को अवलम्बनप्रदान करने में ये समर्थ नहीं हैं । (ये सभी गुण तुम्हारे साथ ही सुखकारी थे, तुम्हारे अभाव में तो ये ही प्राणों को अपहृत कर ले रहे हैं] ॥५९-६०॥

मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसाम्यतम् ॥६१॥

मिथुनमिति । ननु हे प्रिय ! सहकारश्चूतविशेषः फलिनी प्रियङ्गुलता चेमौ त्वया मिथुनं परिकल्पितं मिथुनत्वेनाभ्यमानि । अनयोः फलिनीसहकारयोर्विवाह-

सत्क्रियां विवाहमङ्गलमविधायाकृत्वा गम्यत इत्यसांप्रतमयुक्तम् । मातृहीनानां न किञ्चित्सुखमस्तीति भावः ॥६१॥

अन्वयः—ननु सहकारः फलिनी च इमौ त्वया मिथुनं परिकल्पितम्, अनयोः विवाहसत्क्रियां अविधाय गम्यते इति असाम्प्रतम् ।

तुमने इस आम्रविशेष और प्रियङ्गुलता की दम्पति रूप में परिकल्पना की थी तो किस प्रकार इन दोनों का विवाहसंस्कार विना किये ही चल बसी ? यह समुचित नहीं है ॥६१॥

कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति ।
अलकाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम् ॥६२॥

कुसुममिति । वृक्षादिपोषकं दोहदम् । त्वया कृतं दोहदं पादताडनरूपं यस्य सोऽयमशोको यत्कुसुममुदीरयिष्यति प्रसविष्यते । तवालकानामाभरणमाभरणभूतं तत्कुसुमं कथं नु केन प्रकारेण निवापमाल्यतां दाहाञ्जलेरर्घ्यतां नेष्यामि ? 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—त्वया कृतदोहदः अयं अशोकः यद् (कुसुमम्) उदीरष्यिति तव अलकारभरणं तत् (कुसुमम्) कथं नु निवापमाल्यताम् नेष्यामि ।

प्रमदाओं के पादाघात से अशोक पुष्पित होता है, यह कवि समय प्रसिद्धि है । इसी का अनुसरण करते हुए महाकवि कालिदास अज के मुख से इस प्रकार का विलापवचन व्यक्त करवा रहे हैं)

तुम्हारे द्वारा पादप्रहार रूप दोहद--(पोषक तत्त्व) पानेवाला यह अशोक जो पुष्प प्रसव करेगा वह तुम्हारे अलकों के आभरण के उपयुक्त होगा उसे मैं किस प्रकार दाहसंस्कार के अनन्तर तिलाञ्जलि में दूँगा ? ॥ ६२ ॥

स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि ! शोच्यसे ॥ ६३ ॥

स्मरतेति । अन्यदुर्लभम्, किन्तु स्मर्तव्यमेवेत्यर्थः सशब्दं ध्वनियुक्तं नूपुरं मञ्जीरं यस्य तं चरणेनानुग्रहं पादेन ताडनरूपं स्मरतेव चिन्तयतेव कुसुमाण्येवाश्रूणि तद्वर्षिणाऽमुना पुरोवर्तिनाऽशोकेन । हे सुगात्रि ! 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्' इति ङीप् । त्वं शोच्यसे ॥ ६३ ॥

अन्वयः—अन्यदुर्लभं सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहम् स्मरता इव कुसुमाश्रुवर्षिणा अमुना अशोकेन सुगात्रि ! त्वं शोच्यसे ।

हे सुन्दरि ! अन्यों के लिए दुर्लभ नूपुर की ध्वनि से सुशोभित चरणों के प्रहार रूप अनुग्रह का मानो स्मरण करने वाला, पुष्प रूपी अश्रुवर्षा करने वाला यह अशोक तुम्हारे विषय में सशोक बन गया है ॥ ६३ ॥

तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचितां समं मया ।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि ! सुप्यते ॥६४॥

तवेति । तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैर्बकुलकुसुमैर्मया समं सार्धमर्धचितामर्धं यथा तथा रचितां विलासमेखलामसमाप्यापूरयित्वा । किन्नरस्य देवयोनिविशेषस्य कण्ठ इव कण्ठो यस्यास्तत्संबुद्धिर्हे किन्नरकण्ठि ! 'अंगगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्' इति ङीप् । किमिदं सुप्यते निद्रा क्रियते । 'वचिस्वपियजादीनां किति' इत्यनेन सम्प्रसारणम् । अनुचितमिदं स्वपनमित्यर्थः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—तव निःश्वसितानुकारिभिः बकुलैः मया सम अर्धचिताम् विलासमेखलाम् असमाप्य किन्नरकण्ठि ! किमिदं सुप्यते ।

हे किन्नर नामक देवयोनिविशेष के कण्ठ के समान कण्ठ वाली ! तुम्हारे निःश्वास का अनुकरण करने वाले वकुलपुष्पों से मेरे साथ अर्ध गुम्फित विलासरशना को बिना पूरा किये ही इस प्रकार क्यों सो रही हो ? ॥ ६४ ॥

समदुःखसुखः सखीजनः प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः ।
अहमकरसस्तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥ ६५ ॥

समेति । सखीजनःसमदुःखसुखः, त्वद्दुःखेन दुःखी त्वत्सुखेन सुखीत्यर्थः । अयमात्मजो बालः प्रतिपचन्द्रनिभः दर्शनीयो वर्धिष्णुश्चेत्यर्थः । प्रतिपच्छब्देन द्वितीया लक्ष्यते । प्रतिपदि चन्द्रस्यादर्शनात् । अहमेकरसोऽभिन्नरागः । 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रस' इत्यमरः । तथा जीवितसामग्रीसत्त्वेऽपीत्यर्थः । ते तव व्यवसायोऽस्मत्परित्यागरूपो व्यापारः प्रतिपत्त्या निश्चयेन निष्ठुरः क्रूरः । प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ प्रकृतौ गौरवेऽपि च । प्रागल्भ्ये च प्रबोधे च' इति विश्वः । स्मर्तुं न शक्यः किमुताधिकर्तुमिति भावः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सखीजनः समदुःखसुखः अयमात्मजः प्रतिपच्चन्द्रनिभः, अहमेकरसः तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ।

(ये तुम्हारे) मित्रजन (सखियाँ) तुम्हारे सुख में सुखी और दुःख में दुःखी रहने वाले हैं, यह पुत्र प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान बालक है और मैं अनन्य

रसनिष्ठ प्रेमी हूँ तथापि तुम्हारा (हमलोगों का इस प्रकार परित्याग रूप) व्यवसाय निश्चित-रूप से अति कठोर है ॥ ६५ ॥

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥ ६६ ॥

धृतिरिति। अद्य मे धृतिर्धैर्यं प्रतीतिर्वाऽस्तं नाशमिता। रतिः क्रीडा च्युता गता। गेयं गानं विरतम्। ऋतुर्वसन्तादिर्निरुत्सवः। आभरणानां प्रयोजनं गतमपगतम्, शेतेऽस्मिन्निति शयनीयं तल्पम्, 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इत्यधिकरणार्थेऽनीयर् प्रत्ययः परिशून्यम्। त्वां विना सर्वमपि निष्फलमिति भावः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—अद्य मे धृतिः अस्तमिता, रतिः च्युता, गेयं विरतम्, ऋतुः निरुत्सवः, आभरणप्रयोजनं गतम्, शयनीयं परिशून्यम्।

आज मेरा धैर्य अस्त हो गया, प्रेम स्खलित हो गया, गान विरमित हो गया, ऋतु उल्लास-हीन हो गयी, आभूषणों का प्रयोजन विनष्ट हो गया और शैय्या सूनी हो गयी ॥ ६६ ॥

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥ ६७ ॥

गृहिणीति। त्वमेव गृहिणी दाराः। अनेन सर्वं कुटुम्बं त्वदाश्रयमिति भावः। सचिवो बुद्धिसहायो मन्त्री सर्वो हितोपदेशस्त्वदायत्त इत्यनेनोच्यते। मिथो रहसि सखी नर्मसचिवः। सर्वोपभोगस्त्वदाश्रय इत्यमुना प्रकटितम्। ललिते मनोहरे कलाविधौ वादित्रादिचतुःषष्टिकलाप्रयोगे प्रियशिष्या। प्रियत्वं प्राज्ञत्वादित्यभिसन्धिः। सर्वानन्दोऽनेन त्वन्निबन्धेन इत्युद्घाटितम्। अतस्त्वां समष्टिरूपां हरता अत एव करुणाविमुखेन कृपाशून्येन मृत्युना मे मत्संबन्धि किं वस्तु न हृतं वद सर्वमपि हृतमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—(त्वमेव) गृहिणी, सचिवः, मिथः सखी, ललिते कलाविधौ प्रियशिष्या त्वां हरता करुणाविमुखेन मृत्युना मे किम् न हृतम् वद।

तुम मेरी गृहलक्ष्मी थीं (सारा कुटुम्ब तुम्हारे आश्रित था) तुम (मेरी बुद्धि की सहायिका) मन्त्री थीं, (समस्त हितकर उपदेश तुम्हारे अधीन थे) तुम एकान्त की प्रिय सखी थीं। (समस्त उपभोग तुम्हारे आश्रित थे) तुम मनोरम कलाओं के प्रयोग में प्रियशिष्या थीं। (जीवन का समस्त आनन्द तुम्हारे अधीन था) इसलिए बताओ कि समष्टि रूप से तुम्हारा हरण करने

वाले क्रूर काल ने मेरा क्या नहीं हर लिया। अर्थात् मृत्यु ने मेरा सर्वस्व छीन लिया ॥६७॥

मदिराक्षि ! मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥ ६८ ॥

मदिराक्षीति। माद्यत्यनयेति मदिरा लोकप्रसिद्धा। तथापि 'नार्यो मदिरलोचनाः' इत्यादिप्रयोगदर्शनान्माद्यत्याभ्यामिति मदिरे अक्षिणी यस्यास्तत्संबुद्धिर्हे मदिराक्षि मत्तलोचने ! मदाननेनार्पितं रसवत्स्वादुतरं मधु मद्यं पीत्वा बाष्पदूषितमश्रुतप्तं परलोकोपनतं परलोकप्राप्तं मे जलाञ्जलिं तिलोदकाञ्जलिं कथं नु अन्वनन्तरं पास्यसि तदनन्तरमिदमनर्हमित्यर्थः। यथाह भट्टमल्लः—'अनुपानं हिमजलं यवगोधूमनिर्मिते। दध्नि मद्ये विषे द्राक्षे पिष्टे पिष्टमयेऽपि च ॥' इति। तच्चेहैव युज्यते। इदं तूष्णं लोकान्तरोपयोगि चेत्यायुर्वेदविरोधात्कथमनुपास्यसीति भावः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—हे मदिराक्षि ! मदाननार्पितं रसवत् मधु पीत्वा बाष्पदूषितं परलोकोपनतं मे जलाञ्जलिम् कथं नु अनुपास्यसि।

हे मदिरा के समान उन्मत्त कर देने वाली आँखों वाली ! पहले मेरे मुख से अर्पित स्वादिष्ठ मधु पान कर अब किस प्रकार अश्रु-दूषित परलोक में प्राप्त मेरे द्वारा प्रदत्त जलाञ्जलि का अनुपान करोगी ? ॥ ६८ ॥

विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम्।
अहृतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्वदाश्रयाः ॥६९॥

विभव इति। विभव ऐश्वर्ये सत्यपि त्वया विनाऽजस्यैतावदेव सुखं गण्यताम् यावत्त्वया सह भुक्तं ततोऽन्यन्न किञ्चिद्भविष्यतीत्यर्थः। कुतः ? विलोभनान्तरैरन्यैर्विशेषेण लोभजनकवस्तुभिरैश्वर्यादिभिरहृतस्यानाकृष्टस्य मम सर्वे विषया भोगादयस्त्वदधीनाः। त्वां विना मे न किञ्चिद्रोचत इत्यर्थः ॥६९॥

अन्वयः—विभवे सति अपि त्वया विना अजस्य एतावद सुखं गण्यताम्, विलोभनान्तरैः अहृतस्य मम सर्वे विषयाः त्वदाश्रयाः।

राज्य आदि वैभव के रहते हुए भी तुम्हारे बिना अज का इतना ही (जो कुछ तुम्हारे साथ भोग लिया उतना ही) सुख समझो। क्योंकि अन्य-अन्य आकर्षक विषयों से आकृष्ट न होने वाले मेरे सभी विषय तुम्हारे ही अधीन थे। [तुम्हारे बिना अब ये सब मुझे तनिक भी नहीं रुचते]

विलपन्निति कोसलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति ।
अकरोत् पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसवाष्पदूषितान् ॥७०॥

विलपन्निति । कोसलाधिपोऽज इति करुणः शोकरसः स एवार्थस्तेन ग्रथितं संबद्धं यथा तथा प्रियां प्रतीन्दुमतीमुद्दिश्य विलपन् पृथिवीरुहानवृक्षानपि स्रुताः शाखारसा मकरन्दा एव वाष्पास्तैर्दूषितानकरोत्, अचेतनानप्यरोदयदित्यर्थः ॥७०॥

अन्वयः—कोसलाधिपः इति करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति विलपन् पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसवाष्पदूषितान् अकरोत् ।

कोसलेश अज ने इस प्रकार करुणार्द्र होकर प्रिया के प्रति विलाप करते हुए पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले जड़ वृक्षों को भी गिरे हुए मकरन्द रसरूपी आँसुओं से दूषित कर दिया ॥७०॥

अथ तस्य कथंचिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम् ।
विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे ॥७१॥

अथेति । अथ स्वजनो बन्धुवर्गस्तस्याऽजस्याङ्कत उत्सङ्गात्कथंचिदपनीय । तद्दिव्यकुसुममेवान्त्यं मण्डनमलंकारो यस्यास्तां । तां सुन्दरीमगुरूणि चन्दनान्येधांसीन्धनानि यस्य तस्मै अनलायाग्नये विससर्ज विसृष्टवान् । 'क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति क्रियामात्रप्रयोगे सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ॥७१॥

अन्वयः—अथ स्वजनः तस्य अङ्कतः कथंचित् अपनीय तदन्त्यमण्डनाम् तां सुन्दरीम् अगुरुचन्दनैधसे अनलाय विससर्ज ।

इसके बाद अपने बन्धुजनों ने उस अज की गोद से किसी प्रकार (अतिशय कष्ट से) उतारतर उस अन्तिम दिव्य पुष्पमाला रूप आभूषण वाली सुन्दरी इन्दुमती को अगर और चन्दन के इन्धनों से प्रज्ज्वलित होने वाली अग्नि को समर्पित कर दिया ॥७१॥

प्रमदामनु संस्थितः शुचा नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात् ।
न चकार शरीरमग्निसात्सह देव्या न तु जीविताशया ॥७२॥

प्रमदामिति । नृपतिरजः सन्नपि विद्वानपि शुचा शोकेन प्रमदामनु प्रमदया सह संस्थितो मृत इति वाच्यदर्शनान्निन्दादर्शनाद्देव्येन्दुमत्या सह शरीरमग्निसादग्न्यधीनं न चकार 'तदधीनवचने' इति साति प्रत्ययः । जीविताशया प्राणेच्छया तु नेति ॥७२॥

अन्वयः—नृपतिः सन् (अपि) शुचा प्रमदामनु संस्थितः इति वाच्य-दर्शनात् देव्या सह शरीरम् अग्निसात् न चकार जीविताशया तु न ।

महाराज अज "विद्वान् होते हुये भी शोक से अपनी प्रियतमा इन्दुमती के पीछे चिता में बैठ कर मर गये" इस लोकापवाद के भय के कारण ही उन्होंने महादेवी के साथ अपना शरीर अग्नि के अधीन नहीं किया, न कि जीवित रहने की आशा से ॥७२॥

अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामपदिश्य भामिनीम् ।
विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः ॥७३॥

अथेति । अथ विदुषा शास्त्रज्ञेन तेनाजेन । गुणा एव शेषा रूपादयो यस्यास्तां गुणशेषां भामिनीं इन्दुमतीमपदिश्योद्दिश्य दशानामह्नां समाहारो दशाहः । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन समासः । समाहारस्यैकत्वादेकवचनम् । 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इति टच् । 'रात्राह्नाह्नाः पुंसि' इति पुंवत् । ततस्तसिल् । तस्माद्दशाहतः पर ऊर्ध्वं कर्तव्या महर्द्धयो महासमृद्धयो विधयः क्रियाः पुरः पुर्या उपवन उद्यान एव समापिताः सम्पूर्णमनुष्ठिताः । 'दशाहतः' इत्यत्र 'विप्रः शुद्ध्येद्दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः' इति मनुवचनविरोधो नाशङ्कनीयः । तस्य निर्गुणक्षत्रियविषयत्वात् । गुणवत्क्षत्रियस्य तु दशाहेन शुद्धिमाह पराशरः—'क्षत्रियस्तु दशाहेन स्वधर्मनिरतः शुचिः' इति सूच्यतेऽस्यापि गुणवत्त्वं विदुषेत्यनेन ॥७३॥

अन्वयः—अथ विदुषा तेन गुणशेषां भामिनीम् उपदिश्य दशाहतः परे महर्द्धयः विधयः पुरः उपवने एव समापिताः ।

इसके अनन्तर शास्त्रज्ञानी उस अज ने रूपादि गुणमात्र से अवशिष्ट प्रिया को लक्ष्य कर दस दिनों के पश्चात् महा समृद्धिशाली श्राद्ध विधियाँ नगर के उपवन में ही सम्पन्न कीं ॥७३॥

स विवेश पुरीं तया विना क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः ।
परिवाहमिवावलोकयन् स्वशुचः पौरवधूमुखाश्रुषु ॥७४॥

स इति । तयेन्दुमत्या विना । क्षणदाया रात्रेरपायेऽपगमे यः शशाङ्कश्चन्द्रः स इव दृश्यत इति क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः प्रातःकालिकचन्द्र इव दृश्यमान इत्यर्थः । दृश्यत इति कर्मार्थे ल्युट् । सोऽजः पौरवधूमुखाश्रुषु स्वशुचः स्वशोकस्य परिवाहं जलोच्छ्वासमिवावलोकयन् । 'जलोच्छ्वासाः परीवाहाः' इत्यमरः ।

स्वदुःखपूरातिशयमिव पश्यन्पुरीं विवेश। वधूग्रहणात्तस्यामिन्दुमत्यां सख्याभिमानादजसमानदुःखसूचकपरिवाहोक्तिर्निर्वहति ॥७४॥

अन्वयः—तया विना क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः सः अजः पौरवधूमुखाश्रुषु स्वशुचः परिवाहं इव अवलोकयन् पुरीम् विवेश।

उस इन्दुमती के विना रात्रि के व्यतीत होने पर चन्द्रमा के समान निष्प्रभ उस अज ने नगर की वधुओं के मुख पर प्रवाहित अश्रुओं में अपने शोक के प्रवाह को मानो देखते हुए नगर में प्रवेश किया ॥७४॥

अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रतिधानाद् गुरुराश्रमस्थितः।
अभिषङ्गजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥ ७५ ॥

अथेति। अथ सवनाय यागाय दीक्षितो गुरुर्वसिष्ठ आश्रमे स्वकीयाश्रमे स्थितः सन् तमजमभिषङ्गजडं दुःखमोहितं प्रणिधानाच्चित्तैकाग्रयाद्विजज्ञिवाञ्ज्ञातवान्। 'क्वसुश्च' इति क्वसुप्रत्ययः इति वक्ष्यमाणप्रकारेण शिष्येणान्वबोधयत्किल बुधेर्ण्यन्ताण्णिचि लङ् ॥ ७५ ॥

अन्वयः—अथ सवनाय दीक्षितः गुरुः आश्रम स्थितः तम् अभिषङ्गजडम् विजज्ञिवान् इति शिष्येण अन्वबोधयत् किल।

इसके पश्चात् यज्ञार्थ दीक्षा ग्रहण किये हुए कुल गुरु महर्षि वसिष्ठ ने आश्रम पर स्थित रहते हुए ही शोक से विमुग्ध उस अज को चित्त की एकाग्रता के बल से जान लिया और शिष्य द्वारा इस प्रकार प्रबोध दिखलाया ॥७५॥

[वसिष्ठ जी ने यज्ञ के लिये दीक्षा ले ली थी इसलिए विना यज्ञ पूर्ण किये वे योग बल से अज को शोकमुग्ध जानते हुए भी स्वयं उन्हें सान्त्वना देने के लिए नगर जाने में असमर्थ थे, इसलिए उन्होंने अपने शिष्य को उन्हें समझाने के लिए भेजा।]

वसिष्ठशिष्य आह—

असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तव विद्वानपि तापकारणम्।
न भवन्तमुपस्थितः स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम् ॥ ७६ ॥

असमाप्तेति। यतो हेतोर्मुनिरसमाप्तविधिरसमाप्तक्रतुस्ततस्तव तापकारणं दुःखहेतुं कलत्रनाशरूपं विद्वाञ्जानन्नपि। 'विदेः शतुर्वसुः' इति वस्वादेशः। 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्, इत्यनेन षष्ठीप्रतिषेधः पथश्च्युतं स्वभावाद्भ्रष्टं भवन्तं प्रकृतौ स्वभावे स्थापयितुं समाश्वासयितुमित्यर्थः। स्वयं नोपस्थितो नागतः ॥७६॥

अन्वयः—यतः मुनिः असमाप्तविधिः (ततः) तव तापकारणं विद्वानपि पथश्च्युतं भवन्तं प्रकृतौ स्थापयितुम् स्वयं न उपस्थितः ।

चूँकि वसिष्ठ मुनि की यज्ञविधि अभी समाप्त नहीं हुयी है इसलिए आपके (स्त्री मरण रूप) शोक के कारण को जानते हुए भी वे धैर्य मार्ग से भ्रष्ट हुए आपको प्रकृतिस्थ करने के लिए उपस्थित न हो सके ।

मयि तस्य सुवृत्त ! वर्तते लघुसन्देशपदा सरस्वती ।
शृणु विश्रुतसत्त्वसार ! तां हृदि चैनामुपधातुमर्हसि ॥ ७७ ॥

मयीति । हे सुवृत्त सदाचार ! सन्दिश्यत इति संदेशः सन्देष्टव्यार्थः । तस्य पदानि वचकानि लघूनि संक्षिप्तानि सन्देशपदानि यस्यां सा लघुसंदेशपदा तस्य मुनेः सरस्वती वाङ्मयि वर्तते । विश्रुतसत्त्वसार ! प्रख्यातधैर्यातिशय ! तां सरस्वतीं शृणु एनां वाचं हृद्युपधातुं धर्तुं चार्हसि ॥ ७७ ॥

अन्वयः—(हे) सुवृत्त ! लघुसन्देशपदा सरस्वती मयि वर्तते, हे विश्रुत-सत्त्वसार ताम् शृणु, एनाम् हृदि उपधातुम् च अर्हसि ।

हे सदाचारी ! संक्षिप्त सन्देश वाली उस मुनि वसिष्ठ की वाणी मुझमें विद्यमान है (उन्होंने अपना संक्षिप्त संदेश मेरे द्वारा कहलवाया है) हे विख्यात पराक्रमी ! आप उसे सुनें । और हृदय में धारण करें ॥ ७७ ॥

वक्ष्यमाणार्थानुगुणं मुनेः सर्वज्ञत्वं तावदाह—

पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च ।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥ ७८ ॥

पुरुषस्येति । अजन्मनः पुराणपुरुषस्य भगवतस्त्रिविक्रमस्य पदेषु विक्रमेषु त्रिभुवनेष्वपीत्यर्थः समतीतं भूतं च भवद्वर्तमानं च भावि भविष्यच्चेति त्रितयं स मुनिर्निष्प्रतिघेनाप्रतिबन्धेन ज्ञानमयेन चक्षुषा ज्ञानदृष्ट्या पश्यति हि । अतस्तदुक्तिषु न संशयितव्यमित्यर्थः । लोकत्रये कालत्रयस्य वार्तां गुरुर्वसिष्ठो जानातीति भावः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—अजन्मनः पुरुषस्य पदेषु समतीतं च भवद च भावि च त्रितयं सः निष्प्रतिघेन ज्ञानमयेनचक्षुषा पश्यति हि ।

अजन्मा पुरुष के चरणों में (विराट पुरुषोत्तम वामन भगवान् के त्रैलोक्य मापक त्रिपाद में) तीनों लोकों में भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में

वे मुनि वशिष्ठ अप्रतिहत ज्ञानमय नेत्रों से देखते हैं। [त्रिलोक एवं त्रिकालदर्शी मुनि वसिष्ठ के कथन में संशय नहीं करना चाहिए।] ॥ ७८ ॥

चरतः किल दुश्चरं तपस्तृणबिन्दोः परिशङ्कितः पुरा।
प्रजिघाय समाधिभेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥७९॥

चरत इति। पुरा किल दुश्चरं तीव्रं तपश्चरतस्तृणबिन्दोस्तृणबिन्दुनामकात्कस्माच्चिदृषेः परिशङ्कितो भीतः। कर्तरि क्तः। 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानात्पञ्चमी। हरिरिन्द्रः समाधिभेदिनीं तपोविघातिनीं हरिणीं नाम सुराङ्गनामस्मै तृणबिन्दवे प्रजिघाय प्रेरितवान् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—पुराकिल दुश्चरं तपश्चरतः तृणबिन्दोः परिशङ्कितः हरिः समाधिभेदिनीम् हरिणीम् सुराङ्गनाम् अस्मै प्रजिघाय।

[अब इस श्लोक से शिष्य मुनि वसिष्ठ का सन्देश वचन कह रहा है—] 'प्राचीन काल में अत्यन्त कठोर तप करते हुए "तृणबिन्दु" नामक किसी ऋषि से आशंकित इन्द्र ने समाधि भंग करने वाली हरिणी नाम की देवाङ्गना को इसके लिए भेजा ॥ ७९ ॥

स तपःप्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम्।
अशपद्भव मानुषीति तां शमवेलाप्रलयोर्मिणा भुवि ॥ ८० ॥

स इति। स मुनिः शमः शान्तिरेव वेला मर्यादा तस्याः प्रलयोर्मिणा प्रलयकालतरङ्गेण शमविघातकेनेत्यर्थः। 'अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला कालमर्यादयोरपि' इत्यमरः। तपसः प्रतिबन्धेन विघ्नेन यो मन्युः क्रोधस्तेन हेतुना प्रमुखेऽग्रे आविष्कृतचारुविभ्रमां प्रकाशितमनोहरविलासां तां हरिणीं भुवि भूलोके मानुषी मनुष्यस्त्री भवेत्यशपच्छशाप ॥ ८० ॥

अन्वयः—सः शमवेलाप्रलयोर्मिणा तपः प्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम् ताम् भुवि मानुषी भव इति अशपद्।

उस मुनि ने शान्तिरूपी वेला (तट) के प्रलयकालीन तरङ्ग के समान तपस्या में बाधक होने के कारण क्रोध से सम्मुख मनोहर विलास (हाव-भाव-कटाक्षादि) दिखाने वाली उस (हरिणी नामक देवाङ्गना) को "भूलोक में मानवी हो जाओ" इस प्रकार का शाप दिया ॥ ८० ॥

भगवन् परवानयं जनः प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व मे।
इति चोपनतां क्षितिस्पृशं कृतवाना सुरपुष्पदर्शनाद् ॥ ८१ ॥

भगवन्निति । हे भगवन्महर्षे ! अयं जनः परोऽस्यास्तीति स्वामित्वेन परवान् पराधीनः। इन्द्राधीन इत्यर्थः। अयमित्यात्मनिर्देशः। अहं पराधीनेत्यर्थः। मे मम प्रतिकूलाचरितमपराधं क्षमस्वेत्यनेन प्रकारेणोपनतां शरणागतां च हरिणीमासुरपुष्पदर्शनात्सुरपुष्पदर्शनपर्यन्तम्। क्षितिं स्पृशतीति क्षितिस्पृक् तां क्षितिस्पृशं मानुषीं कृतवानकरोत्। दिव्यपुष्पदर्शनं शापावधिरित्यनुगृहीतवानित्यर्थः ॥८१॥

अन्वयः—हे भगवन्। अयं जनः परवान्, मे प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व। इति उपनताम् आ सुरपुष्पदर्शनात् क्षितिस्पृशं कृतवान्।

हे भगवन् ! यह जन (मैं हरिणी) परवश है। [मैं इन्द्र के अधीन हूँ मेरा क्या दोष है ?] इसलिए मेरे प्रतिकूल आचरण-अपराध को क्षमा करें। इस प्रकार शरण में आयी उस हरिणी को दिव्य पुष्प का दर्शन करने तक के लिए पृथ्वी का स्पर्श करने वाली मानुषी बना दिया। [दिव्य पुष्प का दर्शन करने पर तुम मानव तन त्याग कर पुनः दिव्य लोकगामिनी हो जाओगी इस प्रकार मुनि ने शाप की अवधि सुनिश्चित कर दी] ॥ ८१ ॥

क्रथकैशिकवंशसम्भवा तव भूत्वा महिषी चिराय सा।
उपलब्धवती दिवश्च्युतं विवशा शापनिवृत्तिकारणम् ॥ ८२ ॥

क्रथेति। क्रथकैशिकानां राज्ञां वंशे सम्भवो यस्याः सा हरिणी तव महिष्यभिषिक्ता स्त्री 'कृताभिषेका महिषी' इत्यमरः। भूत्वा चिराय दिवः स्वर्गाच्च्युतं पतितं शापनिवृत्तिकारणं सुरपुष्परूपमुपलब्धवती। विवशा अभूदिति शेषः। मृतेत्यर्थः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—क्रथकैशिकवंशसम्भवा तव महिषी भूत्वा चिराय दिवश्च्युतं शापनिवृत्तिकारणम् उपलब्धवती विवशा (अभूदिति शेषः)।

क्रथकैशिक कुल की उस कन्या ने बहुत दिनों तक तुम्हारी महारानी होकर स्वर्ग से पतित शाप की निवृत्ति के कारण उस दिव्य पुष्प की प्राप्ति से (पुष्प पाते ही वह दिवंगत होने के लिए) विवश हो गयी ॥ ८२ ॥

तदलं तदपायचिन्तया विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता।
वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः ॥ ८३ ॥

तदलमिति। तत्तस्मात्तस्या अपायचिन्तयालं, तस्या मरणं न चिन्त्यमित्यर्थः। निषेधक्रियां प्रति कारणत्वाच्चिन्तयेति तृतीया। कुतो न चिन्त्यमत आह—उत्पत्तिमतां जन्मवतां विपद्विपत्तिरुपस्थिता सिद्धा। 'जातस्य हि ध्रुवो

मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इत्यर्थः। तथापि कलत्ररहितस्य किं जीवितेन। तत्राह—त्वयेयं वसुधा भूमिरवेक्ष्यतां पाल्यताम्। हि यस्मान्नृपा वसुमत्या पृथिव्या कलत्रिणः कलत्रवन्तः, अतो न शोचितव्यमित्यर्थः॥ ८३॥

अन्वयः—तत् तदपायचिन्तया अलम्। उत्पत्तिमताम् विपत् उपस्थिता। त्वया इयम् वसुधा अवेक्ष्यताम् हि नृपाः वसुमत्या कलत्रिण.।

इसलिए उसके मर जाने की आप चिन्ता न करें। जन्म लेने वालों की मृत्यु उपस्थित होती ही है। आप इस पृथ्वी को देखें [आप पृथ्वी पति हैं अतः पृथ्वी की ही देखभाल करें अथवा आप भूलोक को देखें। यहाँ जो जन्म लेता है वह अवश्य मरता है। यह इसका नियम है। इसे कोई रोक नहीं सकता] आप यह न सोचें कि पत्नीरहित होकर जोने से क्या लाभ है ? क्योंकि पृथ्वीपति—राजा पृथ्वी से ही पत्नी वाले होते हैं॥ ८३॥

उदये मदवाच्यमुज्झता श्रुतमाविष्कृतमात्मवत्त्वया।
मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीबतया प्रकाश्यताम्॥ ८४॥

उदय इति। उदयेऽभ्युदये सति मदेन यद्वाच्यं निन्दादुःखं तदुज्झता परिहरता सत्यपि मदहेतावमाद्यता त्वया यदात्मवदध्यात्मप्रचुरं श्रुतं शास्त्रम्, तज्जनितं ज्ञानमिति यावत्। आविष्कृतं प्रकाशितं तच्छ्रुतं मनसो ज्वरे सन्ताप उपस्थिते प्राप्तेऽक्लीबतया धैर्येण लिङ्गेन पुनः प्रकाश्यताम्। विदुषा सर्वास्ववस्थास्वपि धीरेण भवितव्यमित्यर्थः॥ ८४॥

अन्वयः—उदये मदवाच्यम् उज्झता त्वया (यद्) आत्मवत् श्रुतं आविष्कृतम् तद् मनसः ज्वरे उपस्थिते अक्लीबतया पुनः प्रकाश्यताम्।

अभ्युदय होने पर मद से उत्पन्न होने वाली निन्द्य बातों का परित्याग करते हुए आपने जिस आत्मनिष्ठ शास्त्रज्ञान का प्रकाशन किया उसे मन की व्याधि उपस्थित होने पर पुरुषत्वरूप से पुनः प्रकट करें॥ ८४॥

इतोऽपि न रोदितव्यमित्याह—

रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्॥ ८५॥

रुदतेति। रुदता भवता सा कुत एव लभ्यते। न लभ्यत एव। अनुम्रियत इत्यनुमृत्। क्विप्। तेनानुमृताऽनुमृतवतापि भवता पुनर्न लभ्यते। कथं न लभ्यत इत्याह—परलोकजुषां लोकान्तरभाजां देहिनाम्। गम्यन्ते इति गतयो गम्यस्थाना-

नि स्वकर्मभिः पूर्वाचरितपुण्यपापैर्भिन्नपथाः पृथक्कृतमार्गा हि। परत्रापि स्वस्वधर्मानुरूपफलभोगाय भिन्नदेहगमनान्न मृतेनापि लभ्यत इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—रुदता भवता सा कुत एव लभ्यते। अनुमृतापि (भवता न लभ्यते) न। परलोक जुषाम् देहिनाम् गतयः स्वकर्मभिः भिन्नपथा हि।

रोते हुए आप उसे कहाँ से पा सकते हैं ? उसके पीछे मर जाने से भी उसे आप नहीं पा सकते, क्योंकि परलोकवासी जीवों की गतियाँ अपने-अपने कर्मों से भिन्न-भिन्न मार्ग वाली होती हैं ॥ ८५ ॥

[मरणोपरान्त जीव स्वकर्मानुसार पुण्यपाप का फल भोगने के लिए विभिन्न शरीर धारण करता है।]

अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः।
स्वजनाश्रु किलातिसन्ततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥ ८६ ॥

अपशोकमना इति। किन्त्वपशोकमना निर्दुःखचित्तः सन् कुटुम्बिनीं पत्नीं निवापदत्तिभिः पिण्डोदकादिदानैरनुगृह्णीष्व, तर्पयेत्यर्थः। अन्यथा दोषमाह--अतिसन्ततमविच्छिन्नं स्वजनानां बन्धूनां 'बन्धुस्वस्वजनाः समाः' इत्यमरः। अश्रु कर्तृ प्रेतं मृतं दहतीति प्रचक्षते मन्वादयः किल। अत्र याज्ञवल्क्यः—'श्लेष्माश्रु बन्धुभिर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः। अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः' ॥ इति ॥

अन्वयः—अपशोकमनाः कुटुम्बिनीम् निवापदत्तिभिः अनुगृह्णीष्व, अतिसन्तप्तम् स्वजनाश्रु प्रेतं दहति इति प्रचक्षते किल।

मन को शोक मुक्त करते हुए पत्नी को पिण्डदान से अनुगृहीत कीजिये। क्योंकि "अत्यन्त शोक से सन्तप्त आत्मीय जनों के अश्रु प्रेतात्मा को कष्ट देते हैं" ऐसा कहा जाता है।

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥ ८७ ॥

मरणमिति। शरीरिणां मरणं प्रकृतिः स्वभावः, ध्रुवमित्यर्थः। जीवितं विकृतिर्यादृच्छिकं बुधैरुच्यते। एवं स्थिते जन्तुः प्राणी क्षणमपि। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। श्वसञ्जीवन्नवतिष्ठते यद्यसौ क्षणजीवी लाभवान्ननु। जीवने यथालाभं सन्तोष्टव्यम्। अलभ्यलाभात्। मरणे तु न शोचितव्यम्। स्वाभाव्यादिति भावः। अत्र मरणशब्देन स्थूलशरीरत्यागोऽवगन्तव्यः ॥ ८७ ॥

अन्वयः—शरीरिणाम् मरणं प्रकृतिः जीवितं विकृतिः बुधैः उच्यते। जन्तुः क्षणमपि श्वसन् अवतिष्ठते यदि असौ लाभवाननु।

"शरीर धारण करने वालों का मरण तो प्रकृति है और जीवन विकार है" ऐसा विद्वानों का कहना है। प्राणी क्षण भर भी श्वास लेते हुए यदि जीवित है तो वह लाभवान् है।

अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥ ८८ ॥

अवेति। मूढचेतनो भ्रान्तबुद्धिः प्रियनाशमिष्टनाशं हृद्यर्पितं निखातं शल्यं शङ्कुमवगच्छति मन्यते। स्थिरधीर्विद्वांस्तु तदेव शल्यं समुद्धृतमुत्खातं मन्यते। प्रियनाशे सतीति शेषः। कुतः। कुशलद्वारतया प्रियनाशस्य मोक्षोपायतयेत्यर्थः। विषयलाभविनाशयोर्यथाक्रमं हिताहितसाधनत्वाभिमानः पामराणां विपरीतं तु विपश्चितामिति भावः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि अर्पितम् शल्यं अवगच्छति। स्थिरधीः तु तदेव कुशलद्वारतयासमुद्धृतं (अवगच्छति)।

मोहित चित्त वाला मूर्ख व्यक्ति प्रिय के नाश को हृदय में गड़ा हुआ काँटा मानता है किन्तु स्थिर बुद्धि वाला प्राणी उस विनाश को कुशल मार्ग से (हृदय में गड़े हुए शोक कंटक को) निकाला हुआ समझता है ॥ ८८ ॥

स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा।
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् ॥ ८९ ॥

स्वशरीरेति। स्वस्य। शरीरशरीरिणौ देहात्मानावपि यदा यतः श्रुतौ श्रुत्यवगतौ संयोगविपर्ययौ संयोगवियोगौ ययोस्तौ तथोक्तौ, तदा बाह्यैर्विषयैः पुत्रमित्रकलत्रादिभिर्विरहो विपश्चितं विद्वांसं किमिवानुतापयेत्त्वं वद, न किञ्चिदित्यर्थः। अथवा स्वशब्दस्य शरीरेणैव सम्बन्धः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—स्व शरीरशरीरिणौ अपि यदा श्रुतसंयोगविपर्ययौ, तदा बाह्यैः विरहः विपश्चितं किमिव अनुतापयेद् वद।

जब अपने शरीर और शरीरी आत्मा का भी संयोग और वियोग सुना गया है तब बाह्य विषयों— (पुत्र मित्र स्त्री आदि) के द्वारा किया गया विरह विद्वान् पुरुष को किस प्रकार सन्तप्त कर सकता है? बताइये। विद्वानों को विषयों का वियोग शोक-सन्तप्त नहीं कर सकता ॥ ८९ ॥

न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम ! गन्तुमर्हसि ।,
द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥९०॥

नेति । हे वशिनामुत्तम जितेन्द्रियवर्य ! पृथग्जनवत्पामरजनवच्छुचः शोकस्य वशं गन्तुं नार्हसि । तथा हि द्रुमसानुमतां तरुशिखरिणां किमन्तरं को विशेषः । वायौ सति द्वितयेऽपि द्विप्रकारा अपि । 'प्रथम चरम—' इत्यादिना जसि विभाषया सर्वनामसंज्ञा । ते द्रुमसानुमन्तश्चलाश्चञ्चला यदि । सानुमतामपि-चलने द्रुमवत्तेषामप्यचलसंज्ञा न स्यादित्यर्थः ॥ ९० ॥

अन्वयः—हे वशिनामुत्तम! पृथक् जनवत् शुचः वशं गन्तुं न अर्हसि । द्रुम-सानुमतां किमन्तरम् वायौ द्वितयेपि ते चलाः यदि ।

हे जितेन्द्रिय शिरोमणि महाराज अज ! आप अन्य प्राकृत लोगों की भाँति शोक के वशीभूत होने योग्य नहीं हैं क्योंकि वृक्ष और पर्वतों में अन्तर ही क्या है ? यदि वायु चलने पर दोनों ही-वृक्ष-पर्वत चञ्चल हो जाते हैं ॥ ९० ॥

[मूर्ख और विद्वान् में वही अन्तर है जो वृक्ष और पर्वत में । वायु चलने पर वृक्ष हिलने लगते हैं किन्तु पर्वत अचल रहते हैं । शोक की आँधी आने पर मूर्ख वृक्ष की भाँति चञ्चल-अधीर हो उठते हैं किन्तु विद्वान् पर्वत की भाँति अविचल रहते हैं । यदि विद्वान् भी शोक-संवेग में अधीर हो जायँ तो उनमें और प्राकृत-प्राणियों में अन्तर ही क्या रहेगा ?]

स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम् ।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः ॥९१॥

स इति । सोऽज उदारमतेर्विनेतुर्गुरोर्वसिष्ठस्य वचस्तच्छिष्यमुखेरितं तथेति प्रतिगृह्याङ्गीकृत्य मुनिं वसिष्ठशिष्यं विससर्ज प्रेषयामास । किन्तु तद्वचः शोकघने दुःखसान्द्रेऽस्याजस्य हृद्यलब्धपदमप्राप्तावकाशं सद्गुरोर्वसिष्ठस्यान्तिकं प्रतियात-मिव प्रतिनिवृत्तं किमु । इत्युत्प्रेक्षा । तोटकवृत्तमेतत्--'इह तोटकमम्बुधिसैः प्रथि-तम्' इति तल्लक्षणम् ॥ ९१ ॥

अन्वयः—सः उदारमतेः विनेतुः वचः तथेति प्रतिगृह्य मुनिं विससर्ज । (किन्तु) तद् शोकघने अस्य हृदि अलब्धपदम् (सत्) अस्यगुरोः-अन्तिकं प्रतियातम् इव ।

उस उदारमति वाले गुरु वसिष्ठ की बात "ठीक है मैं वैसा ही करूँगा" इस प्रकार मानकर अज ने वसिष्ठ के शिष्य मुनि को विदा किया । किन्तु उनका

वचन शोक के सघन हो जाने पर अज के हृदय में स्थान न प्राप्त करता हुआ मानो उनके गुरु वसिष्ठ के पास लौट कर चला गया हो ॥ ९२ ॥

तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथञ्चिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥९२॥

तेनेति । अवितथं यथार्थं सूनृतं प्रियवचनं यस्य तेनाजेन । सूनोः पुत्रस्य बालत्वात्, राज्याक्षमत्वादित्यर्थः । प्रियाया इन्दुमत्याः सादृश्यं वस्त्वन्तरगतमाकारसाम्यम् । प्रतिकृतिश्चित्रम् । तयोर्दर्शनैः स्वप्नेषु क्षणिकाः क्षणभङ्गुरा ये समागमोत्सवास्तैश्च । कथञ्चित्कृच्छ्रेण । अष्टौ समा वत्सराः । 'संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत्समाः' इत्यमरः । परिगमिताअतिवाहिताः । उक्तं च—'वियोगावस्थासु प्रियजनसदृक्षानुभवनं, ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि । तदङ्गस्पृष्टानामुपगतवतां स्पर्शनमपि प्रतीकारः कामव्यथितमनसां कोऽपि कथितः' ॥ इति ॥ प्रकृते सादृश्यादित्रितयाभिधानं तदङ्गस्पृष्टपदार्थस्पृष्टेरप्युपलक्षणम् । प्रहर्षिणीवृत्तमेतत् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—अवितथसूनृतेन तेन सूनोः बालत्वात् प्रियायाः सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च कथचिद् अष्टौ समाः परिगमिताः ।

सत्य एवं प्रियवादी उस अज ने आत्मज (दशरथ) के अबोध बालक होने के कारण प्रियतमा इन्दुमती के समान चित्रों के दर्शन तथा स्वप्नों में क्षणिक समागम सुख के उत्सवों से किसी प्रकार आठ वर्ष व्यतीत किये ॥ ९२ ॥

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशङ्कुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद ।
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने॥॥९३॥

तस्येति । शोक एव शङ्कुः कीलः । 'शङ्कु कीले शिवेऽस्त्रे च' इति विश्वः । तस्याजस्य हृदयम् । प्लक्षप्ररोहः सौधतलमिव । प्रसह्य बलात्किल बिभेद । सोऽजः प्राणान्तहेतुं मरणकारणमपि भिषजामसाध्यमप्रतिसमाधेयं तं शोकशङ्कुं रोगपर्यवसितं प्रियाया अनुगमने त्वरयोत्कण्ठया लाभं मेने । तद्विरहस्यातिदुःसहत्वत्तत्प्राप्तिकारणं मरणमेव वरमित्यमन्यतेत्यर्थः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—शोकशंङ्कुः तस्य हृदयं प्लक्षप्ररोहः सौधतलम् इव प्रसह्य बिभेद । सः प्राणान्तहेतुमपि भिषजाम् असाध्यं तं प्रियानुगमने त्वरया लाभं मेने ।

जिस प्रकार पीपल का अङ्कुर भवनतलको हठात् छेद देता है, उसी प्रकार शोक रूपी कील ने उस अज के हृदय को विदीर्ण कर दिया । उसने

प्राणान्त का कारण होते हुए भी वैद्यों के लिए असाध्य (अचिकित्स्य) उस शोक-कील को प्रिया के अनुसरण में उत्कण्ठा या शीघ्रतावश लाभकारी समझा ॥ ९३ ॥

सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत् प्रजानाम् ।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ॥ ९४ ॥

सम्यगिति । अथ नृपतिरजः सम्यग्विनीतं निसर्गसंस्काराभ्यां विनयवन्तम् । वर्म हरतीति वर्महरः कवचधारणार्हवयस्कः । 'वयसि च' इत्यच्प्रत्ययः । तं कुमारं दशरथं प्रजानां रक्षणविधौ राज्ये विधिवद्विध्यर्हं, यथाशास्त्रमित्यर्थः । 'तदर्हम्' इति वतिप्रत्ययः । आदिश्य नियुज्य रोगेणोपसृष्टाया 'व्याप्तायास्तनोः शरीरस्य दुर्वसतिं दुःखावस्थितिं मुमुक्षुर्जिहासुः सन् । प्रायोपवेशनेऽनशनावस्थाने मतिर्यस्य स बभूव । 'प्रायश्चानशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपि' इति विश्वः । अत्र पुराणवचनम्—'समासक्तो भवेद्यस्तु पातकैर्महदादिभिः । दुश्चिकित्स्यैर्महारोगैः पीडितो वा भवेत्तु यः ॥ स्वयं देहविनाशस्य काले प्राप्ते महामतिः । आ ब्रह्माणं वा स्वर्गादिमहाफलजिगीषया ॥ प्रविशेज्ज्वलनं दीप्तं कुर्यादनशनं तथा । एतेषामधिकारोऽस्ति नान्येषां सर्वजन्तुषु ॥ नराणामथ नारीणाम् सर्ववर्णेषु सर्वदा' इति । अनयोर्वसन्ततिलकाछन्दः । तल्लक्षणम्—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति ॥ ९४ ॥

अन्वयः—अथ नृपतिः सम्यग् विनीतं वर्महरम् कुमारं प्रजानां रक्षणविधौ विधिवत् आदिश्य रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिम् मुमुक्षुः प्रायोपवेशनमतिः बभूव ।

इसके बाद राजा अजने स्वभाव एवं संस्कार से विनीत कवचधारण करने योग्य उस राजकुमार दशरथ को प्रजाओं के रक्षाकार्य में विधिपूर्वक नियुक्त कर रोगग्रस्तशरीर की दुर्दशा से मुक्ति पाने की इच्छा करते हुए अनशन करने का निश्चय किया ॥ ९४ ॥

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्वाकाराधिकतररुचा सङ्गतः कान्तयाऽसौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ ९५ ॥

तीर्थ इति । असावजो जह्नुकन्यासरय्वोस्तोयानां जलानां व्यतिकरेण सम्भेदेन भवे तीर्थे गङ्गासरयूसङ्गमे देहत्यागात्सद्य एवामरगणनायां लेख्यं

लेखनम् । 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इति भावार्थे यत्प्रत्ययः । आसाद्य प्राप्य । पूर्वस्मादाकारादधिकतरा रुग्यस्यास्तया कान्तया रमण्या सङ्गतः सन् नन्दनस्येन्द्रोद्यानस्याभ्यन्तरेष्वन्तर्वर्तिषु लीलागारेषु क्रीडाभवनेषु पुनररमत । 'यथाकथंचित्तीर्थेऽस्मिन्देहत्यागं करोति यः । तस्यात्मघातदोषो न प्राप्नुयादीप्सितान्यपि' ॥ इति स्कान्दे । मन्दाक्रान्ताछन्दः । तल्लक्षणम्—'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौं नतौ ताद्गुरू चेत्' इति ॥९५॥ इति श्रीमहोपाध्यकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनोसमाख्यया व्याख्या समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ महाकाव्ये अजविलापो नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

अन्वयः—असौ जह्नुकन्यासरय्वोः तोयव्यक्तिकरभवे तीर्थे देहत्यागात् सद्यः एव अमरगणना लेख्यम् आसाद्य पूर्वाकाराधिकतररुचा कान्तया सङ्गतः नन्दनाभ्यन्तरेषु लीलागारेषु पुनः अरमत ।

उस (महाराज अज) ने जह्नुपुत्री गंगा और सरयू के जल के परस्पर मिलने से उत्पन्न तीर्थ में शरीर त्याग करने से तत्क्षण अमरत्व की प्राप्ति कर, पहले के आकार से अधिकतर कान्ति वाली दिव्य कान्ता के साथ नन्दन वन के भीतरी क्रीडा-भवनों में पुनः रमण किया ॥ ९५ ॥

समाप्तः अष्टमः सर्गः

नवमः सर्गः

पितुरनन्तरमुत्तरकोसलान् समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः ॥ १ ॥

एकलोचनमेकार्धे सार्धलोचनमन्यतः ।
नीलार्धं नीलकण्ठार्धं महः किमपि मन्महे ॥

पितुरिति । समाधिना संयमेन जितेन्द्रियः । 'समाधिर्नियमे ध्याने' इति कोशः । यमवतां संयमिनामवताम् । 'ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्पता । अहिंसाऽस्तेयमाधुर्यंदमाश्चेति यमाः स्मृताः' इति याज्ञवल्क्यः । रक्षतां राज्ञां च धुयग्रे स्थितो महारथः । एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च स महारथ उच्यते' ॥ इति ॥ दशरथः पितुरन्तरमुत्तरकोसलाञ्जनपदान्समधिगम्य प्रशशास । अत्र मनुः—'क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानां परिपालनम् ।' इति। द्रुतविलम्बितमेतद्वृत्तम् तल्लक्षणम्-'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति ॥१॥

अन्वयः—समाधिजितेन्द्रियः यमवताम् अवताम् च धुरि स्थितः महारथः दशरथः पितुः अनन्तरम् उत्तरकोसलान् समधिगम्य प्रशशास ।

संयम-नियम द्वारा इन्द्रियों को विजित करने वाले, संयम करने वालों और रक्षा करने वालों में अग्रगण्य महारथी दशरथ ने पिता के पश्चात् उत्तर कोसल जनपद को प्राप्तकर प्रशासित किया ।

अधिगतं विधिवद्यदपालयत् प्रकृतिमण्डलमात्मकुलोचितम् ।
अभवदस्य ततो गुणवत्तरं सनगरं नगरन्ध्रकरौजसः ॥ २ ॥

अधिगतमिति । अधिगतं प्राप्तमात्मकुलोचितं स्वकुलागतं सनगरं नगरजनसहितं प्रकृतिमण्डलं जानपदमण्डलम् । अत्र प्रकृतिशब्देन प्रजामात्रवाचिना नगरशब्दयोगाद्गोवलीवर्दन्यायेन जानपदमात्रमुच्यते । यद्यस्माद्विधिवद्यथाशास्त्रमपालयत् । ततो हेतोः । रन्ध्रं करोतीति रन्ध्रकरः रन्ध्रहेतुरित्यर्थः । 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति टप्रत्ययः । नगस्य रन्ध्रकरो नगरन्ध्रकरः कुमारः । 'कुमारः क्रौञ्चदारणः' इत्यमरः । तदोजसस्तत्तुल्यबलस्यास्य दशरथस्य गुणवत्तरमभवत् । तत्पौरजनपदमण्डलं तस्मिन्नतिवासक्तमभूदित्यर्थः ॥ २ ॥

अन्वयः—अधिगतं आत्मकुलोचितं सनगरं प्रकृतिमण्डलं यद् विधिवत् अपालयत् ततः नगरन्ध्रकरौजसः अस्य गुणवत्तरमभवत् ।

चूंकि (दशरथ ने) सम्प्राप्त अपने कुलोचित नगरसहित प्रकृति-मण्डल का विधिपूर्वक पालन पोषण किया। अतः क्रौञ्च पर्वत को विदीर्ण करने वाले स्वामी कार्तिकेय के समान ओजस्वी इसकी गुणवत्ता और भी अधिक बढ़ गयी । (प्रजा समूह दशरथ की पालनविधि से अधिक प्रसन्न था) ॥ २ ॥

उभयमेव वदन्ति मनीषिणः समयवर्षितया कृतकर्मणाम् ।
बलनिषूदनमर्थपतिं च तं श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम् ॥ ३ ॥

उभयमिति । मनस ईषिणो मनीषिणो विद्वांसः । पृषोदरादित्वात्साधुः । बलनिषूदनमिन्द्रम् । दण्डस्य धरो राजा मनुरिति यो दण्डधरः स एवान्वयः कूटस्थो यस्य तमर्थपतिं दशरथं चेत्युभयमेव समयेऽवसरे जलं धनं च वर्षतीति समयवर्षी तस्य भावः समयवर्षिता तया हेतुना कृतकर्मणां स्वकर्मकारिणाम् । नुदतीति नुदम् । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः । श्रमस्य नुदं श्रमनुदम् । क्विबन्तत्वे नपुंसकलिङ्गेनोभयशब्देन सामानाधिकरण्यं न स्यात् इति वदन्ति ॥ ३ ॥

अन्वयः—मनीषिणः बलनिषूदनं मनुदण्डधरान्वयम् तं अर्थपतिं च उभयमेव समयवर्षितया कृतकर्मणां श्रमनुदं वदन्ति ।

विद्वज्जन बल नामक दैत्य को मारने वाले इन्द्र तथा मनुवंश के दण्डधारी उस पृथ्वी-पति दशरथ दोनों को (जल एवं धन की) समय से वर्षा करने के कारण अपने कर्म सम्पादन करने वालों के श्रम को दूर करने वाला कहते हैं ॥३॥

["इन्द्र एवं दशरथ दोनों समयानुसार जल एवं धन की वर्षा कर अपने-अपने कार्यों में लगे लोगों के श्रम को दूर कर देते हैं" यह विद्वानों का कथन है]

जनपदे न गदः पदमादधावभिभवः कुत एव सपत्नजः ।
क्षितिरभूत् फलवत्यजनन्दने शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे ॥ ४ ॥

जनपद इति । शमरते शान्तिपरेऽमरतेजस्यजन्दने दशरथे पार्थिवे पृथिव्या ईश्वरे सति । 'तस्येश्वरः' इत्यण् प्रत्ययः जनपदे देशे गदो व्याधिः । 'उपतापरोग-व्याधिगदामयाः' इत्यमरः । पदं नादधौ, नाचक्रामेत्यर्थः । सपत्नजः शत्रुजन्योऽभिभवः कुत एव, असम्भावित एवेत्यर्थः । क्षितिः फलवत्यभूच्च इति दैवानुकूल्यमभूदित्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वयः—शमरते अमरतेजसि अजनन्दने पार्थिवे जनपदे गदः पदं नादधौ, सपत्नजः अभिभवः कुतः एव क्षितिः फलवती अभूत् ।

शान्तिप्रिय, दिव्य तेजस्वी अज के पुत्र दशरथ के पृथ्वी पति होने पर जनपद में रोगों ने पदार्पण नहीं किया तो शत्रुओं से पराजय की तो बात ही दूर रही । पृथ्वी फलों (धन-धान्यों) से परिपूर्ण हो गयी ॥ ४ ॥

दशदिगन्तजिता रघुणा यथा श्रियमपुष्यदजेन ततः परम् ।
तमधिगम्य तथैव पुनर्बभौ न न महीनमहीनपराक्रमम् ॥ ५ ॥

दशेति । मही दशदिगन्ताञ्जितवानिति दशदिगन्तजित् । चतस्रः कीर्तयेद्वाऽष्टौ दश वा ककुभः क्वचित् इति बाग्भटः । तेन रघुणा यथा श्रियं कान्तिमपुष्यत् । ततः परं रघोरनन्तरमजेन च यथा श्रियमपुष्यत् तथैवाहीनपराक्रमं न हीनः पराक्रमो यस्य तमन्यूनपराक्रमं तं दशरथमिनं स्वामिनमधिगम्य पुनर्न बभाविति न । बभावेवेत्यर्थः । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः ॥ ५ ॥

अन्वयः—मही दशदिगन्तजिता रघुणा यथा श्रियम् अपुष्यत् ततः परम् अजेन यथा श्रियम् अपुष्यत् तथैव अहीनपराक्रमम् तम् इनम् अधिगम्य पुनः न बभौ इति न । (अपितु बभौ एव) ।

पृथ्वी दशोदिशओं के छोर को जीतने वाले रघु के द्वारा जिस प्रकार वैभव सम्पन्न हुयी और उनके बाद अज के द्वारा जिस प्रकार धनधान्य से परिपूर्ण हुयी उसी प्रकार महा पराक्रमी उस दशरथ को स्वामी के रूप में पाकर पुनः सुशोभित नहीं हुयी ऐसी बात नहीं, अपितु सुशोभित हुयी है ॥ ५ ॥

[रघु और अज के समान महापराक्रमी दशरथ के शासनकाल में भी पृथ्वी वैभव-पूर्ण थी] ।

समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥ ६ ॥

समतयेति । नराधिपो दशरथः समतया समवर्तित्वेन, मध्यस्थत्वेनेत्यर्थः । वसुवृष्टेर्धनवृष्टेर्विसर्जनैः असतां दुष्टानां नियमनान्निग्रहाच्च । सवरुणौ वरुणसहितौ यमपुण्यजनेश्वरौ यमकुबेरौ यमकुबेरवरुणान् यथासंख्यमनुययावनुचकार । रुचा तेजसाऽरुणाग्रसरमरुणसारथिं सूर्यमनुययौ ॥ ६ ॥

अन्वयः—नराधिपः समतया वसुवृष्टिविसर्जनैः असताम् नियमनात् च सवरुणौ यमपुण्यजनेश्वरौ अनुययौ । रुचा अरुणाग्रसरम् अनुययौ ।

नरपति दशरथ ने समान भाव से धन एवं जलवर्षा के करने से और असज्जनों के नियन्त्रण से वरुण सहित यमराज और कुबेर का अनुसरण किया तथा कान्ति से अरुण के अनुयायी सूर्य का अनुगमन किया ॥ ६ ॥

[कुबेर, वरुण, यमराज एवं सूर्य इन चारों देवों की दशरथ के धनदान, वर्षा, दुष्टनिग्रह एवं तेजस्विता के गुणों से समानता की गई है ।]

तस्य व्यसनासक्तिर्नासीदित्याह—

न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु ।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत् ॥ ७ ॥

नेति । उदयाय यतमानमभ्युदयार्थं व्याप्रियमाणं तं दशरथं मृगयाभिरतिराखेटव्यसनं नापाहरन्नाचकर्ष । 'आच्छोदनं मृगव्यं स्यादाखेटो मृगया स्त्रियाम्' इत्यमरः । दुष्टमासमन्तादुदरमस्येति दुरोदरं द्यूतं च नापाहरत् । 'दुरोदरो द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमरः । शशिनः प्रतिमा प्रतिबिम्बमाभरणं यस्य तन्मधुनापाहरत् । न वेति पदच्छेदः । वा शब्दः समुच्चये । नवयौवना नवं नूतनं यौवनं तारुण्यं यस्यास्तादृशी प्रियतमा वा स्त्री-नापाहरत् । जातावेकवचनम् ।

अत्र मनुः—'पानमक्षाः स्त्रियश्चेति मृगया च यथाक्रमम्। एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे' ॥ इति ॥ ७ ॥

अन्वयः—उदयाय यतमानम् तम् मृगयाभिरतिः न अपाहरत्। दुरोदरं न अपाहरत्, शशिप्रतिमाभरणं मधु च न अपाहरत्, नवयौवना वा न अपाहरत्।

अभ्युदय के लिए प्रयास-शील उस राजा दशरथ को मृगया विषयक आसक्ति, द्यूत क्रीड़ा के दुर्व्यसन एवं चन्द्रमा की प्रतिच्छाया में सुमधुर मधुपान ने कभी आकृष्ट नहीं किया अथवा नव-यौवना सुन्दरी ने उन्हें आकृष्ट नहीं किया ॥ ७ ॥

[महाराज दशरथ अभ्युदय के लिए निरन्तर प्रयास करते रहे। इस कार्य में वे कभी मृगया, जूआ, मद्यपान एवं सुन्दरी के आकर्षण-पाश में नहीं बँधे]

न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता ॥ ८ ॥

नेति। तेन राज्ञा प्रभवति प्रभौ सति वासवेऽपि कृपणा वाङ् नेरिता नोक्ता। परिहासकथास्वपि वितथाऽनृता वाङ् नेरिता। किञ्चापरुषा रोषशून्येन तेन सपत्नजनेष्वपि शत्रुजनेष्वपि परुषाक्षरं निष्ठुराक्षरं यथा तथा वाङ् नेरिता। किमुतान्यत्रेति सर्वत्रापिशब्दार्थः किन्त्वदीना सत्या मधुरैव वागुक्तेति फलितोऽर्थः ॥८॥

अन्वयः—तेन प्रभवति वासवे अपि कृपणा वाग् न ईरिता परिहास कथासु अपि वितथा वाग् न ईरिता, अपरुषा (तेन) सपत्नजनेष्वपि परुषाक्षरं च (तथा वाक्) न ईरिता।

उसने अपने प्रशासन काल में इन्द्र के समक्ष भी दीन वाणी नहीं कही, परिहास कथाओं में भी हँसी मजाक में भी असत्य बात नहीं कही और रोष-रहित रहने वाले उसने शत्रुओं के विषय में कठोर वचन नहीं कहे ॥८॥

उदयमस्तमयं च रघूद्वहादुभयमानशिरे वसुधाधिपाः।
स हि निवेशमलङ्घयतामभूत्सुहृदयोहृदयः प्रतिगर्जताम् ॥ ९ ॥

उदयमिति। वसुधाधिपा राजानः उद्वहतीत्युद्वहो नायकः। पचाद्यच्। रघूणामुद्वहो रघुनायकः। तस्माद्रघुनायकादुदयं वृद्धिम्, अस्तमयं नाशं च इत्युभयमानशिरे लेभिरे। कुतः। हि यस्मात्स दशरथो निदेशमाज्ञामलङ्घयताम्। शोभनं हृदयमस्येति सुहृन्मित्रमभूत्। 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति निपातः। प्रति-

गर्जतां प्रतिस्पर्धिनाम् । अय इव हृदयं यस्येत्ययोहृदयः कठिनचित्तोऽभूत् । आज्ञाकारिणो रक्षति, अन्यान्मारयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

अन्वयः—वसुधाधिपाः रघूद्वहात् उदयं अस्तमयञ्च उभयम् आनशिरे हि सः निदेशमलङ्घयताम् सुहृद् अभूत् प्रतिगर्जताम् अयोहृदयः ।

पृथ्वी के पालन करने वाले राजाओं ने रघुकुल के धुरन्धर महाराज दशरथ से अभ्युदय और विनाश दोनों ही प्राप्त किये; क्योंकि वह आदेश पालन करने वालों का मित्र था और प्रतिस्पर्धा करने वाले के लिए लौह हृदय। [महाराज दशरथ अपने आदेश पालन करने वाले राजाओं के मित्र थे अतः उनका अभ्युदय हुआ और जो प्रतिस्पर्धा करने वाले थे उनका लोहे के समान कठोर हृदय होकर सर्वनाश किया] ॥ ९ ॥

अजयदेकरथेन स मेदिनीमुदधिनेमिमधिज्यशरासनः ।
जयमघोषयदस्य तु केवलं गजवती जवतीव्रहया चमूः ॥ १० ॥

अजयदिति । अधिज्यशरासनः ज्यामधिरूढम् अधिज्यं शरासनं यस्य स दशरथ उदधिर्नेमि समुद्रवेष्टनां मेदिनीमेकरथेनाऽजयत्, स्वयमेकरथेनाजैषीदित्यर्थः । गजवती गजयुक्ता जवेन तीव्रा जवाधिका हया यस्यां सा चमूस्त्वस्य नृपस्य केवलं जयमघोषयदप्रथयत् । स्वयमेकवीरस्य चमूरुपकरणमात्रमिति भावः ॥ १० ॥

अन्वयः—अधिज्यशरासनः सः उदधिनेमिम् मेदिनीम् एकरथेन अजयत् । गजवती जवतीव्रहया चमू तु अस्य केवलं जयं अघोषयत् ।

धनुष पर प्रत्यञ्चा आरोपित किए हुए उस महाराज दशरथ ने समुद्र की मेखला वाली पृथ्वी को एक रथ से जीत लिया। महाराज दशरथ की गजसेना और तीव्रगामी अश्वसेना ने तो केवल इनका जय-घोष किया ॥ १० ॥

[राजा दशरथ समुद्र पर्यन्त पृथ्वी के स्वामी थे। स्वयं एक रथ से उन्होंने विजय प्राप्त की थी। हाथी, सेना और अश्वसेना केवल उनकी विजय की घोषणा ही करती थी]।

अवनिमेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्भृतः ।
विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसम्पदः ॥ ११ ॥

अवनिमिति । वरूथिना गुप्तिमता । 'वरूथो रथगुप्तिर्ना तिरोधत्ते रथस्थितिम्' इति सज्जनः । एकरथेनाद्वितीयरथेनावनिं जितवतो धनुर्भृतो नरवाहनसम्पदः-

कुबेरतुल्यश्रीकस्य तस्य दशरथस्य घनरवा मेघसमघोषा अर्णवा विजयदुन्दुभितां किल ययुः' अर्णवान्तविजयीत्यर्थः ॥ ११ ॥

अन्वयः—वरूथिना एकरथेन अवनिम् जितवतः धनुर्भृतः नरवाहनसम्पदः तस्य घनरवा अर्णवा विजयदुन्दुभिताम् किल ययुः ।

सुरक्षा के निमित्त रथगुप्ति (बख्तरबन्द) वाले एक रथ से भूमण्डल को जीतने वाले धनुर्धारी एवं कुबेर के समान सम्पत्तिशाली उस दशरथ की मेघ के समान गर्जना करनेवाले सागरों ने विजय-दुन्दुभि बजाने का कार्य किया ॥११॥

शमितपक्षबलः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरन्दरः ।
स शरवृष्टिमुचा धनुषा द्विषां स्वनवता नवतामरसाननः ॥ १२ ॥

शमितेति । पुरन्दर इन्द्रः शतकोटिना शतास्त्रिणा कुलिशेन वज्रेण शिखरिणां पर्वतानां शमितपक्षबलो विनाशितपक्षसारः । नवतामरसाननो नवपङ्कजाननः । 'पङ्करुहं तामरसम्' इत्यमरः । स दशरथः शरवृष्टिमुचा स्वनवता धनुषा द्विषां शमितो नाशितः पक्षः सहायो बलं च येन स तथोक्तः । 'पक्षः सहायेऽपि' इत्यमरः ॥ १२ ॥

अन्वयः—पुरन्दरः शतकोटिना कुलिशेन शिखरिणाम् शमितपक्षबलः नवतामरसाननः सः शरवृष्टिमुचा स्वनवता धनुषा द्विषाम् शमितपक्षबलः ।

पुरभेदन करने वाले इन्द्र ने सौ नोंक वाले वज्र से पहाड़ों के पंख की शक्ति विनष्ट की; और नूतन कमल के समान मुख वाले उस दशरथ ने बाणों की वर्षा करने वाले टङ्कार ध्वनि से युक्त धनुष के द्वारा शत्रु पक्ष के बल को प्रशान्त कर दिया ॥ १२ ॥

चरणयोर्नखरागसमृद्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ।
नृपतयः शतशो मरुतो यथा शतमखं तमखण्डितपौरुषम् ॥ १३ ॥

चरणयोरिति । शतशो नृपतयोऽखण्डितपौरुषम् तं दशरथम् । मरुतो देवाः शतमखं यथा शतक्रतुमिव । नखरागेण चरणनखकान्त्या समृद्धिभिः सम्पादितर्द्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिश्चरणयोरस्पृशन्, तं प्रणेमुरित्यर्थः ॥ १३ ॥

अन्वयः—शतशः नृपतयः अखण्डितपौरुषं तं मरुतः शतमखं यथा नखरागसमृद्धिभिः मुकुटरत्नमरीचिभिः चरणयोः अस्पृशन् ।

जिस प्रकार देवगण चरणों के नखकी लालिमा से अभिवर्द्धित मुकुट के रत्नों की कान्ति से इन्द्र का चरणस्पर्श करते हैं उसी प्रकार सैकड़ों राजा

अखण्डित पौरुषशाली उस महाराजाधिराज दशरथ के चरणों में (नतमस्तक हो) प्रणाम करते थे ।। १३ ।।

निववृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितबालसुताञ्जलीन् ।
समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम् ।। १४ ।।

निववृत इति । दशरथः सचिवैः सम्प्रयोजितैः कारिता बालसुतानामञ्जलयो यैस्तान्, स्वयमसंमुखागतानित्यर्थः । अनलकान् हतभर्तृकतयाऽलकसंस्कारशून्यान्-सपत्नपरिग्रहाञ्छत्रुपत्नीः । 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः । समनुकम्प्यानुगृह्यालकानवमामलकानगरादन्यूनां अलति भूषयति स्वस्थानमित्यलकां पुरीमयोध्यां प्रति महार्णवानां रोधसः पर्यन्तान्निववृते । शरणागतवत्सल इति भावः ।। १४ ।।

अन्वयः—सः सचिवकारितबालसुताञ्जलीन् अनलकान् सपत्नपरिग्रहान् समनुकम्प्य अलकानवमां पुरीं महार्णवरोधसः निववृते ।

वे महाराज दशरथ मन्त्रियों के द्वारा सिखाये जाने से करबद्ध प्रणाम करने वाले बालकों वाली एवं (रणक्षेत्र में पति के दिवंगत हो जाने से) संस्कारहीन केशों वाली शत्रुओं की स्त्रियों पर अनुकम्पा कर समुद्र के तट से अलकापुरी के समान अभिनव सुन्दर अपनी नगरी-अयोध्या लौट आये ।। १४ ।।

उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः ।
श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः ।। १५ ।।

उपगत इति । अनुदितमनुच्छ्रितमन्यत्स्वछत्रातिरिक्तं सितातपवारण श्वेतच्छत्रं यस्य सः । अनलसोमयोरग्निचन्द्रयोः समे द्युती तेजःकान्ती यस्य स तथोक्तः । श्रियं लक्ष्मीं रन्ध्रेऽन्यायालस्यादिरूपे छले चलां चञ्चलामवेक्ष्यावलोक्य । श्रीर्हि केनचिन्मिषेण पुमांसं परिहरति । स दशरथो मण्डलस्य नाभितां द्वादशराजमण्डलस्य प्रधानमहीपतित्वमुपगतोऽपि, चक्रवर्ती सन्नपीत्यर्थः । 'अथ नाभिस्तु जन्त्वङ्गे यस्य संज्ञा प्रतारिका । रथचक्रस्य मध्यस्थपिण्डिकायां च ना पुनः ।। आद्य क्षत्रियभेदे तु मतो मुख्यमहीपतौ' । इति केशवः । अनलसोऽप्रमत्तोऽभूत् । 'अजितमस्ति नृपास्पदम्' इति पाठान्तरेऽजितं नृपास्पदमस्तीति बुद्धयाऽनलसोऽप्रमत्तोऽभूत् । विजितनिखिलजेतव्योऽपि पुनर्जेतव्यान्तरवानिव जागरूक एवावतिष्ठतेऽर्थः । द्वादशराजमण्डलं तु कामन्दकेनोक्तम्—'अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम् । तथारिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरःसराः ।। पार्ष्णिग्राह-

स्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम् । आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु पृष्ठतः । अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः । अनुग्रहे संहतयोः समर्थो व्यस्तयोर्वधे । मण्डलाद्बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः । अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः' ॥ इति । 'अरिमित्रादयः पञ्च विजिगीषोः पुरःसराः ॥ पार्ष्णिग्राहाक्रन्दपार्ष्णि-ग्राहासाराश्चपृष्ठतः इति पृष्ठतश्चत्वारः । मध्यमोदासीनौ द्वौ विजिगीषुरेक इत्येवं द्वादशराजमण्डलम् । तत्रोदासीनमध्यमोत्तरचक्रवर्ती, दशरथश्चैतादृगिति तात्पर्यार्थः ॥ १५ ॥

अन्वयः—अनुदितान्यसितातपवारणः अनलसोमसमद्युतिः श्रियम् रन्ध्रचलाम् अवेक्ष्य सः मण्डलनाभिताम् उपगतोऽपि च अनलसोऽभूत् ।

जो महाराज शत्रु के समक्ष अग्नि के समान प्रचण्ड तेजस्वी एवं मित्र के समक्ष चन्द्रमा के समान कान्ति वाले थे तथा जिनके शासन काल में अन्य किसी राजा का (राजचिह्न रूप) श्वेतच्छत्र समुत्थित ही नहीं हुआ वे लक्ष्मी को छिद्र-दोष (अन्याय आलस्य) होने पर चञ्चला देखकर बारह राजाओं को मण्डल के मध्यवर्ती चक्रवर्ती सम्राट् होने पर भी आलस्य-प्रमाद नहीं करते थे ।

तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं पुरुषमात्मभवं च पतिव्रता ।
नृपतिमन्यमसेवत देवता सकमला कमलाघवमर्थिषु ॥ १६ ॥

तमिति । पत्यौ व्रतं नियमो यस्याः सा पतिव्रता सकमला कमलहस्ता देवता लक्ष्मीरर्थिषु विषयेऽलाघवं लघुत्वरहितम्, अपराङ्मुखमित्यर्थः । ककुत्स्थ-कुलोद्भवं तं दशरथमात्मभवं पुरुषं पुरि शरीरे उषतीति पुरुषः तं विष्णुं चाप-हाय त्यक्त्वा । अन्यं कं नृपतिमसेवत, कमपि नासेवतेत्यर्थः । विष्णाविव विष्णु-तुल्ये तस्मिन्नपि श्रीः स्थिराभूदित्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्वयः—पतिव्रता सकमला देवता अर्थिषु अलाघवम् ककुत्स्थकुलोद्भवम् तं आत्मभवं पुरुषं च अपहाय अन्यं कं नृपतिम् असेवत ।

पतिव्रता कमलासना देवी लक्ष्मीने अतिथियाचकों के विषय में गौरवशाली (अतिथि सेवा से कभी विमुख न होने वाले) ककुत्स्थ कुल में उत्पन्न उस दशरथ और आत्मजन्मा परम पुरुष विष्णु को छोड़कर अन्य किस राजा की सेवा कीं ? अर्थात् किसी की नहीं । राजलक्ष्मी ने विष्णु और विष्णु के समान दशरथ की ही सेवा की ॥ १६ ॥

तमलभन्त पतिं पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगाः ।
मगधकोसलकेकयशासिनां दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ॥ १७ ॥

तमिति । पतिरेव देवता यासां ताः पतिदेवताः पतिव्रताः मगधाश्च कोसलाश्च केकयाश्च ताञ्जनपदाञ्छासतीति तच्छासिनः । तेषां राज्ञां दुहितरः पुत्र्यः । सुमित्राकौसल्याकैकेय्य इत्यर्थः । अत्र क्रमो न विवक्षितः । अहितरोपितमार्गणं शत्रुनिखातशरम् । 'कदम्बमार्गणशराः' इत्यमरः । तं दशरथं शिखरिणां क्ष्माभृतां दुहितरः आ समन्तादपगच्छन्तीति । अथवा 'आपेनाप्समन्विना वेगेन गच्छन्तीत्यापगाः' इति क्षीरस्वामी । नद्यः सागरमिव । पतिं भर्तारमलभन्त प्रापुः ॥ १७ ॥

अन्वयः—पतिदेवताः मगधकोसलकेकयशासिनाम् दुहितरः अहितरोपितमार्गणं तं शिखरिणाम् आपगाः सागरम् इव पतिम् अलभन्त ।

जिस प्रकार पर्वतों की पुत्रियाँ-नदियाँ सागर को पति रूप में प्राप्त करती हैं; उसी प्रकार मगध, कोसल और केकय देशोंके शासकों की सुमित्रा कौसल्या और कैकेयी नाम की पतिव्रता कन्याओं ने अहितैषी-शत्रुओं के ऊपर बाण प्रहार करने वाले उस दशरथ को पति रूप में प्राप्त किया ॥ १७ ॥

प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्बभौ तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभिः ।
उपगतो विनिनीषुरिव प्रजा हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः ॥ १८ ॥

प्रियतमाभिरिति । अरीन्घ्नन्तीत्यरिहणो रिपुघ्नाः । हन्तेः क्विप् । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' इति नियमस्य प्रायिकत्वात् । यथाह न्यासकारः—'प्रायिकश्चायं नियमः क्वचिदन्यस्मिन्नप्युपपदे दृश्यते मधुहा । प्रायिकत्वं च वक्ष्यमाणस्य बहुलग्रहणस्य पुरस्तादपकर्षाल्लभ्यते' इति । तेषु योगेषूपायेषु विचक्षणो दक्षः । 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः । इन्द्रेऽपि योज्यमेतत् । असौ दशरथस्तिसृभिः प्रियतमाभिः सह । प्रजा विनिनीषुर्विनेतुमिच्छुस्तिसृभिः शक्तिभिः प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तिभिरेव सह भुवमुपगतो हरिहय इन्द्र इव बभौ ॥ १८ ॥

अन्वयः—अरिहयोगविचक्षणः असौ तिसृभिः प्रियतमाभिः सह प्रजा विनिनीषुः तिसृभिः शक्तिभिः एव सह भुवम् उपगतः हरिहयः इव बभौ ।

शत्रुमारक साधनों में निष्णात महाराज (अरि = शत्रु, ह = हनन करने के, योग में, विचक्षणः = चतुर) दशरथ तीनों रानियों के साथ प्रजाओं को

विनम्र करने की इच्छा करते हुए तीनों शक्तियों (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति एवं उत्साहशक्ति)के साथ ही पृथ्वी पर अवतरित इन्द्र के समान सुशोभित हुए ॥ १८॥

स किल संयुगमूर्ध्नि सहायतां मघवतः प्रतिपद्य महारथः ।
स्वभुजवीर्यमगापयदुच्छ्रितं सुरवधूरवधूतभयाः शरैः ॥ १९ ॥

स इति । महारथः स दशरथः संयुगमूर्ध्नि रणाङ्गणे मघवत इन्द्रस्य सहायतां प्रतिपद्य प्राप्य शरैरवधूतभया निर्वर्तितत्रासाः सुरवधूरुच्छ्रितंस्वभुजवीर्यमगापयत्किल खलु । गायतेः शब्दकर्मत्वात् 'गतिबुद्धि' इत्यादिना सुरवधूनामपि कर्मत्वम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—महारथः सः संयुगमूर्ध्नि मघवतः सहायताम् प्रतिपद्य शरैः अवधूतभयाः सुरवधूः उच्छ्रितम् स्वभुजवीर्यम् अगापयत् किल ।

उस महारथी दशरथ ने युद्ध के प्राङ्गण में इन्द्र की सहायता कर वाणों से भयरहित की गई देवताओं की बधुओं से प्रवर्द्धित अपने भुजबल का यशोगान करवाया ।

[महारथी दशरथ ने देवासुर संग्राम में आगे-आगे इन्द्र की सहायता कर अपने वाणों से देवाङ्गनाओं को निर्भय बना दिया तो उन देवबधुओं ने भी उनके इस बढ़े हुए भुजबल का यशोगान किया] ॥ १९ ॥

क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृताः ।
कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसासरयूतटाः ॥ २० ॥

क्रतुष्विति । क्रतुष्वश्वमेधेषु विसर्जितमौलिनाऽवरोपितकिरीटेन दीक्षितेन मुण्डितेन भाव्यं त्यक्तमुकुटेन वा । भूपा हि यज्ञेषु वपनस्थाने मौलिं विसर्जयन्ति । यावद्यज्ञमध्वर्युरेव राजा भवति' इति राजचिह्नत्यागविधानादित्यभिप्रायः । 'मौलिः किरीटे धम्मिल्ले' इति विश्वः । भुजसमाहृतदिग्वसुना भुजार्जितदिगन्तसम्पदा । अनेन क्षत्रियस्य विजितत्वमुक्तम् । नियमार्जितधनत्वं सद्विनियोगकारित्वं च सूच्यते । वितमसा तमोगुणरहितेन तेन दशरथेन । तमसा च सरयूश्च नद्यौ तयोस्तटाः कनकयूपानां समुच्छ्रयेण समुन्नयनेन शोभिनः कृताः । कनकमयत्वं च यूपानां शोभार्थं विध्यभावात् । 'हेमयूपस्तु शोभिकः' इति यादवः ॥२०॥

अन्वयः—क्रतुषु विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना वितमसा तेन तमसासरयूतटाः कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनः कृताः ।

यज्ञों में किरीट उतारे हुए भुजबल से दिगन्त की सम्पत्ति अर्जित करने

वाले तमोगुण से रहित, उस दशरथ ने तमसा और सरयू नदियों के तटों को यज्ञ के सुनहले ऊँचे स्तम्भों से सुशोभित कर दिया ॥ २० ॥

[यज्ञ में राजा लोग किरीट उतार कर दीक्षा ग्रहण करते हैं और मुण्डन के स्थान पर मुकुट उतार कर यज्ञ करते हैं। जब तक यज्ञ होता है तब तक अध्वर्यु ही राजा होता है अतः यजमान राजा को अपना राजचिह्न किरीट उतार देना पड़ता है]

अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम् ।
अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ॥ २१ ॥

अजिनेति । ईश्वरो भगवानष्टमूर्तिरजिनं कृष्णाजिनं दण्डमौदुम्बरं बिभर्तीति तमजिनदण्डभृतम् । 'कृष्णाजिनं दीक्षयति', 'औदुम्बरं दीक्षितदण्डं यजमानाय प्रयच्छति' इति वचनात् । कुशमयी मेखला यस्यास्तां कुशमेखलाम् । 'शरमयी मौञ्जी वा मेखला, तया यजमानं दीक्षयतीति विधानात् । प्रकृते कुशग्रहणं क्वचित्प्रतिनिधिदर्शनात्कृतम् । यतगिरं वाचंयमम् । 'वाचं यच्छति' इति श्रुतेः । मृगशृङ्गं परिग्रहः कण्डूयनबाधनं यस्यास्ताम् । 'कृष्णविषाणेन कण्डूयते' इति श्रुतेः । अध्वरदीक्षितां संस्कारविशेषयुक्तां तनुं दाशरथीमधिवसन्नधितिष्ठन् सन् । असमा भासो दीप्तयो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा अभासयद्भासयति स्म ॥ २१ ॥

अन्वयः—ईश्वरः अजिनदण्डभृतं कुशमेखलाम् यतगिरम् मृगशृङ्गपरिग्रहाम् अध्वर दीक्षिताम् तनुम् अधिवसन् असमभासम् अभासयत् ।

भगवान् शङ्कर ने कृष्णमृगचर्म और उदुम्बर (गूलर) दण्डधारी कुश की मेखला धारण करने वाले, मौनवाणी वाले, मृग की सींग से शरीर को खुजलाहट दूर करने वाले, यज्ञ के विशेष संस्कार से दीक्षित दशरथ के शरीर में निवास करते हुए उसे अनुपम दीप्तिमय कर दिया ॥ २१ ॥

अवभृथप्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः ।
नमयति स्म स केवलमुन्नतं वनमुचे नमुचेररये शिरः ॥ २२ ॥

अवभृथेति । अवभृथेन प्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितो देवसमाजाधिष्ठानार्हः स दशरथ उन्नतं शिरो वनमुचे जलवर्षिणे 'जलं नीरं वनं सत्त्वम्, इति शाश्वतः । नमुचेरये केवलमिन्द्रायैव नमयति स्म । लोकरक्षार्थं वृष्टेरपेक्षितत्वादिन्द्रमेवानमच्छिरः न कस्मैचिदन्यस्मै मानुषायेत्यर्थः ॥ २२ ॥

अन्वयः—अवभृथप्रयतः नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः सः उन्नतं शिरः वनमुचे नमुचेः अरये केवलं नमयति स्म ।

यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान से विशुद्ध और जितेन्द्रिय तथा देवताओं के समाज में विराजमान होने योग्य महाराज दशरथ केवल जलवर्षा करने वाले नमुचि के शत्रु इन्द्र के लिए ही अपना उन्नत शिर झुकाते थे । [इन्द्र को छोड़ कर और किसी के समक्ष महाराज दशरथ नतमस्तक नहीं हुए] ॥ २२ ॥

असकृदेकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्भृता ।
दिनकराभिमुखा रणरेणवो रुरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम् ॥ २३ ॥

असकृदिति । एकरथेनाद्वितीयरथेन तरस्विना बलवता हरिहयस्येन्द्रस्याग्रेसरेण धनुर्भृता दशरथेनासकृद् बहुशो दिनकरस्याभिमुखाः, अभिमुखस्थिता इत्यर्थः । रणरेणवः सुरद्विषां दैत्यानां रुधिरेण रुरुधिरे निवारिताः ॥ २३ ॥

अन्वयः—एकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्भृता असकृद् दिनकराभिमुखा रणरेणवः सुरद्विषाम् रुधिरेण रुरुधिरे ।

अद्वितीय महारथी शक्तिशाली इन्द्र के आगे-आगे चलने वाले धनुषधारी दशरथ के द्वारा अनेक बार सूर्य की ओर अभिमुख होने वाली युद्ध की धूलियाँ देवद्रोही राक्षसों के रक्त से अवरुद्ध कर दी गयीं ॥ २३ ॥

अथ समाववृते कुसुमैर्नवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम् ।
यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम् ॥ २४ ॥

अथेति । अथ यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां धर्मराजधनदवरुणामरेन्द्राणां समा धूर्भारो यस्य स समधुरः । माध्यस्थवितरणसन्नियमनैश्वर्यैस्तुल्यकक्ष इत्यर्थः । 'ऋक्पूरब्धूःपथामनक्षे' इत्यनेन समासान्तोऽच्प्रत्ययः । तं समधुरम् । अञ्चितविक्रमं पूजितपराक्रममेकनराधिपं तं दशरथं सेवितुमिव । मधुर्वसन्तः । 'मद्ये पुष्परसे मधुः । दैत्ये चैत्रे वसन्ते च जीवाशोके मधुद्रुमे' इति विश्वः । नवैः कुसुमैरुपलक्षितः सन् समाववृते समागतः । 'रिक्तहस्तेन नोपेयाद्राजानं देवतां गुरुम्' इति वचनात्पुष्पसमेतो राजानं सेवितुमागत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अन्वयः—अथ यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणाम् समधुरम् अञ्चितविक्रमम् तम् सेवितुमिव मधुः नवैः कुसुमैः समाववृते ।

इसके अनन्तर यम कुबेर जलाधिपति वरुण और वज्रधारी इन्द्र के समान (प्रजापालन का) भार वहन करने वाले, पूजित पराक्रम वाले उस दशरथ की

मानों सेवा करने के लिए ऋतुराज वसन्त नवीन पुष्पों के साथ समुपस्थित हुआ। [चार दिशाओं के चार दिगीश हैं। दक्षिण दिशा के स्वामी यमराज सभी प्राणियों के समान रूप से प्राणापहर्ता हैं। महाराज दशरथ ने समान रूप से दक्षिणी नरेशों को प्राणों का भय दिखाकर अपने वश में कर लिया। उत्तर दिशा के स्वामी धनाधिपति कुबेर हैं। महाराज दशरथ ने कुबेर की भाँति विपुल धनराशि का प्रचुर दान देकर अपनी उदारता से प्रजा का भरण-पोषण का भार वहन किया। पश्चिम दिशा के स्वामी वरुण हैं जिनका पाश प्राणियों को अपने अनुशासन में रखने के लिए प्रचण्ड फन्दा (वरुणपाश) है। महाराज दशरथ ने वरुण के समान शत्रु राजाओं को अपने शासन के पाश से नियन्त्रित रखा। पूर्व दिशा के स्वामी सुरराज इन्द्र हैं जो अनन्त ऐश्वर्य से निरन्तर देदीप्यमान बने रहते हैं। महाराज दशरथ इन्द्र के परम सहयोगी मित्र थे अतः उन्हीं के समकक्ष परम ऐश्वर्यशाली थे। इस प्रकार वे समदर्शिता दानशीलता, अनुशासन-प्रियता एवं वैभवशालिता से चारों दिगीशों के समकक्ष थे। उनका दिव्य पराक्रम देवतुल्य पूजित था, अतः ऋतुराज वसन्त मानो उनकी आराधना करने के लिए ही अभिनव पुष्पों के उपहारों से भूमण्डल पर समुपस्थित हुआ] ॥२४॥

जिगमिषुर्धनदाध्युषितां दिशं रथयुजा परिवर्तितवाहनः।
दिनमुखानि रविर्हिमनिग्रहैर्विमलयन्मलयं नगमत्यजत् ॥ २५॥

जिगमिषुरिति। धनदाध्युषितां कुबेराधिष्ठितां दिशं जिगमिषुर्गन्तुमिच्छुः। रथयुजा सारथिनाऽरुणेन परिवर्तितवाहनो निवर्तिताश्वो रविः हिमस्य निग्रहैर्निराकरणैर्दिनमुखानि प्रभातानि विमलयन्विशदयन्। मलयं नगं मलयाचलमत्यजत्। दक्षिणां दिशमत्याक्षीदित्यर्थः ॥ २५ ॥

अन्वयः—धनदाध्युषिताम् दिशम् जिगमिषुः रथयुजा परिवर्तितवाहनः रविः हिमनिग्रहैः दिनमुखानि विमलयन् मलयं नगं अत्यजत्।

कुबेर से अधिष्ठित दिशा उत्तर की ओर जाने की इच्छा करने वाले (उत्तरायण के) सारथी अरुण के द्वारा घुमाये गये घोड़ों वाले सूर्य ने हिम को रोकने के कारण प्रभात वेला को निर्मल करते हुए मलय पर्वत को छोड़ दिया ॥ २५ ॥

[भगवान् भास्कर दक्षिणायन से उत्तरायण हो गए।]

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम् ।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥ २६ ॥

कुसुमेति । आदौ कुसुमजन्म ततो नवपल्लवाः । तदनु । 'अनुर्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीयत्वाद्द्वितीया । यथासंख्यं तदुभयानन्तरं षट्पदानां कोकिलानां च कूजितम् । इत्येवम्प्रकारेण यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य पुष्पप्रियो भृङ्गः पल्लवप्रियः कोकिलः इति क्रमोक्तेरयमाशयः । द्रुमवतीं द्रुमभूयिष्ठां वनस्थलीमवतीर्य मधुर्वसन्त आविरभूत् । केषाञ्चिद् द्रुमाणां पल्लवप्राथम्यात्केषाञ्चित्कुसुमप्राथम्यान्नोक्तक्रमस्य दृष्टविरोधः ॥ २६ ॥

अन्वयः—कुसुमजन्म ततः नवपल्लवाः तदनु षट्पदकोकिलकूजितम् इति यथाक्रमम् द्रुमवतीम् वनस्थलीम् अवतीर्य मधुः आविरभूत् ।

सर्वप्रथम पुष्पों का उद्भव, तत्पश्चात् नूतन पल्लवों का प्रादुर्भाव और इन दोनों के अनन्तर क्रमशः पुष्पों पर भ्रमरों का गुञ्जार एवं नवपल्लवों में कोकिलों का मधुर कूजन इस प्रकार वृक्षों से समृद्ध वनस्थली में उतर कर वसन्त प्रकट हुआ ॥ २६ ॥

नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः ।
अभिययुः सरसो मधुसम्भृतां कमलिनीमलिनीरपतत्रिणः ॥ २७ ॥

नयगुणेति । नयो नीतिरेव गुणः तेन, अथवा नयेन गुणैः शौर्यादिभिश्चोपचिताम् । सतामुपकारः फलं यस्यास्तां सदुपकारफलां भूतेर्दशरथस्य श्रियमर्थिन इव मधुना वसन्तेन सम्भृतां सम्यक्पुष्टां सरसः सम्बन्धिनीं कमलिनीं पद्मिनीमलिनीरपतत्रिणः अलया भृङ्गाः नीरपतत्रिणो जलपतत्त्रिणो हंसादयश्च अभिययुः ॥ २७ ॥

अन्वयः—नयगुणोपचिताम् सदुपकारफलाम् भूपतेः श्रियम् अर्थिनः इव मधुसम्भृताम् सरसः कमलिनीम् अलिनीरपतत्त्रिणः अभिययुः ।

जिस प्रकार नीति गुणों से अभिवर्द्धित सज्जनों के उपकाररूपी फलवाली राजा दशरथ की सम्पत्ति के पास याचकगणों का आवागमन होता था उसी प्रकार वसन्त से सम्यक् परिपुष्ट सरोवर की कमलिनी के पास भ्रमर एवं जलचर हंसादि पक्षी आने लगे ॥ २७ ॥

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम् ।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥२८॥

कुसुममिति। ऋतुरस्य प्राप्त आर्तवम्। 'ऋतोरण्' इत्यण्। नवं प्रत्यग्रम-शोकतरोः केवलं कुसुममेव स्मरदीपनमुद्दीपनं न, किन्तु विलासिनां मदयिता मदजनको दयिताश्रवणार्पितः किसलयप्रसवोऽपि पल्लवसन्तानोऽपि स्मरदीपनोऽभवत् ॥ २८ ॥

अन्वयः—आर्तवं नवं अशोकतरोः केवलम् कुसुममेव स्मरदीपनम् न (किन्तु) विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः किसलयप्रसवोऽपि (स्मरदीपनोऽभवत्)।

वसन्त ऋतु में समुत्पन्न अशोक वृक्ष का केवल पुष्प ही कामोद्दीपक नहीं हुआ, अपितु विलासियों को मदोन्मत्त बना देनेवाला प्रियतमाओं के कानों में पहनाया गया कोमल पल्लवों का अङ्कुर भी स्मरोद्दीपक हो गया ॥ २८ ॥

विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरबका रवकारणतां ययुः ॥२९॥

विरचितेति। मधुना वसन्तेन विरचिता उपवनश्रियामभिनवाः पत्रविशेषकाः पत्ररचना इव स्थिता मधूनां मकरन्दानां दाने विशारदाश्चतुराः कुरबकास्तरवो मधुलिहां मधुपानां रवकारणतां ययुः। भृङ्गाः कुरबकाणां मधूनि पीत्वा जगुरित्यर्थः। दानशौण्डानर्थिजनाः स्तुवन्तीति भावः ॥ २९ ॥

अन्वयः—मधुना विरचिता उपवनश्रियामभिनवाः पत्रविशेषकाः इव मधुदानविशारदाः कुरबकाः मधुलिहाम् रवकारणताम् ययुः।

वसन्त के द्वारा विरचित उपवन श्री (शोभा) की अभिनव पत्ररचना के समान **विलसित** मकरन्ददान करने में चतुर कुरबक (कटसरैया) के वृक्ष **भ्रमरों के गुञ्जार की कारणता** को प्राप्त हो गए ॥ २९ ॥

सुवदनावदनासवसम्भृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः ॥ ३० ॥

सुवदनेति। सुवदनावदनासवेन कान्तामुखमद्येन सम्भृतो जनितः। तत्तस्य दोहदमिति प्रसिद्धिः। तस्यासवस्यानुवादी (सदृशो गुणो यस्य तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः कर्ता। मधुलोलुपैरायतपङ्क्तिभिर्दीर्घपंक्तिभिर्मधुपैः करणैः बकुलो ह्यङ्गनानांमद्यगण्डूषेण पुष्पयतीतिप्रसिद्धिः। बकुलं बकुलवृक्षमाकुलमकरोत् ॥३०॥

अन्वयः—सुवदनावदनासवसम्भृतः तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः मधुलोलुपैः आयतपङ्क्तिभिः मधुपैः बकुलम् आकुलम् अकरोत्।

सुन्दरी के सुन्दर मुख की मदिरा से समुत्पन्न एवं उस मद्य के समान गुण

वाले पुष्पों के प्रादुर्भाव ने मधुलोभी विस्तृत पंक्तिबद्ध मधुपों द्वारा बकुल (मौलसरी) वृक्ष को समावृत कर दिया। [भ्रमरों से बकुल वृक्ष ढँक गए]॥३०॥

उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके।
प्रणयिनीह नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयार्पितलज्जया॥ ३१॥

उपहितमिति। शिशिरापगमश्रिया वसन्तलक्ष्म्या किंशुके पलाशवृक्षे 'पलाशे किंशुकः पर्णः' इत्यमरः। उपहितं दत्तं मुकुलजालं कुड्मलसंहतिः। मदेन यापित लज्जयाऽपसारितत्रपया प्रमदया प्रणयिनि प्रियतम उपहितं नखक्षतमेव मण्डनं तदिव। अशोभत॥ ३१॥

अन्वयः—शिशिरापगमश्रिया किंशुके उपहितम् मुकुलजालं मदयापितलज्जया प्रमदया प्रणयिनि उपहितं नखक्षतमण्डनम् इव अशोभत।

शिशिर के अवसान अर्थात् वसन्तलक्ष्मी द्वारा पलाश-वृक्ष में प्रदत्त कलि-समूह, उसीप्रकार सुशोभित हो रहा था, जिस प्रकार मदपान से लज्जारहित प्रमदा द्वारा प्रियतम के अवयवों पर किया गया नखक्षत रूपी आभूषण॥३१॥

व्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलम्।
न खलु तावदशेषमपोहितुं रविरलं विरलं कृतवान् हिमम्॥३२॥

व्रणेति। व्रणैर्दन्तक्षतैर्गुरुभिर्दुर्धरैः प्रमदानामधरैरधरोष्ठैर्दुःसहं हिमस्य व्यथाकरत्वादसह्यम् जघनेषु निर्विषयीकृता निरवकाशीकृता मेखला येन तत्। शैत्यात्त्याजितमेखलमित्यर्थः। एवंभूतं हिमं रविस्तावदा वसन्तादशेषं यथा तथापोहितुं निरसितुं नालं खलु न शक्तो हि, किन्तु विरलं कृतवांस्तनू चकार॥ २३॥

अन्वयः—व्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलम् हिमम् रविः तावत् अवशेषम् अपोहितुं नालं खलु (किन्तु) विरलं कृतवान्।

दन्तक्षतों से भारी, प्रमदाओं के अधरोष्ठों के लिए दुःसह्य, जघनों को मेखला विहीन करने वाले हिम को सूर्य ने (वसन्त के आगमन से) पूर्णतः समाप्त तो नहीं किया किन्तु कुछ कम अवश्य कर दिया॥ ३२॥

[वसन्त के पूर्व शिशिर में शैत्याधिक्य के कारण अधरोष्ठ दन्तक्षत एवं जघन मेखलास्पर्श सहन नहीं कर सकते थे। सूर्य ने उस शीत को अपने ताप से कुछ कम कर दिया। वसन्त में सूर्यताप से शीतबाधा कम हो जाती है]।

अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा।
अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि॥३३॥

अभिनयानिति । अत्र चूतलताया नर्तकीसमाधिरभिधीयते । अभिनयानर्थव्यञ्जकान्व्यापारान् । 'व्यञ्जकाभिनयौ समौ' इत्यमरः । परिचेतुमभ्यसितुमुद्यतेव स्थिता । कुतः मलयमारुतेन कम्पितपल्लवा पल्लवशब्देन हस्तो गम्यते । सकलिका सकोरका, 'कलिका कोरकः पुमान्' इत्यमरः । सहकारलता । कलिः कलहो द्वेष उच्यते । कलिः स्यात्कलहे शूरे कलिरन्त्य युगे युधि' इति विश्वः । कामो रागः तज्जितामपि । जितरागद्वेषाणामपीत्यर्थः मनोऽमदयत् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अभिनयान् परिचेतुं उद्यता इव मलयमारुतकम्पितपल्लवा सकलिका सहकारलता कलिकामजितामपि मनः अमदयत् ।

अभिनयों के अभ्यास के लिए मानो उद्यत, मलय पवन के द्वारा प्रकम्पित पल्लवों वाली, कालिका से युक्त, आम्रलता ने रागद्वेष जीतनेवालों के भी मन को मदोन्मत्त कर दिया ॥ ३३ ॥

प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथा ।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासु मिता वनराजिषु ॥३४॥

प्रथममिति । सुरभिगन्धो यासां तासु सुरभिगन्धिषु 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' इत्यनेनेकारः । कुसुमान्यासां सञ्जातानि कुसुमिताः । तासु वनराजिषु वनपङ्क्तिषु । अन्यभृताभिः कोकिलाभिः प्रथमं प्रारम्भेषूदीरिता उक्ता अत एव मिताः परिमिताः गिर आलापाः । प्रविरला मौग्ध्यात्स्तोकोक्ता मुग्धवधूनां कथा वाच इव शुश्रुविरे श्रुताः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—सुरभिगन्धिषु कुसुमितासु वनराजिषु अन्यभृताभिः प्रथमम् उदीरिताः मिताः गिरः प्रविरला मुग्धवधूकथाः इव शुश्रुविरे ।

सुगन्धिमय पुष्पित वनपंक्तियों में कोकिलों द्वारा प्रथम ध्वनित परिमित वाणी धीरे-धीरे कही जानेवाली मुग्धा नायिकाओं की रतिकथा के समान सुनी गयी ॥ ३४ ॥

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥३५॥

श्रुतीति । श्रुतिसुखाः कर्णमधुरा भ्रमरस्वना एव गीतयो यासां ताः कुसुमान्येव कोमला दन्तरुचो दन्तकान्तयो यासां ताः । अनेन सस्मितत्वं विवक्षितम् । उपवनान्तलता आराममध्यवल्ल्यः पवनेनाहतैः कम्पितैः किसलयैः । सलयैः साभिनयैः । लयशब्देन लयानुगतोऽभिनयो लक्ष्यते । उपवनान्ते पवनाहतैरिति सक्रियत्वाभिधानात् । पाणिभिरिव बभुः । अनेन लतानां नर्तकीसाम्यं गम्यते ॥ ३५ ॥

अन्वयः—श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचः उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैः पाणिभिः इव बभुः ।

कर्णप्रिय भ्रमरगुञ्जार रूपी गीत वाली, पुष्प रूपी कोमल दन्तच्छटा वाली उपवन की समीपवर्तिनी लतायें पवन-प्रेरित किसलयों से अभिनय युक्त हाथों के समान सुशोभित हो रही थीं ॥ ३५ ॥

ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम् ।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ॥ ३६ ॥

ललितेति । अङ्गना ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं मधुरविलासघटनापटुतरम् । सुरभिणा मनोहरेण गन्धेन पराजितकेसरम् निर्जितबकुलपुष्पम्, 'अथ केसरे बकुलः' इत्यमरः । स्मरस्य सखायं स्मरसखं स्मरोद्दीपकमित्यर्थः । मधुम् मद्यम् । 'मधु मद्ये पुष्परसे' इत्यमरः । 'अर्धर्चाः पुंसि च' इति पुंल्लिङ्गता । उक्तं च—'मकरन्दस्य मद्यस्य माक्षिकस्यापि वाचकः । अर्धर्चादिगणे पाठात्पुन्नपुंसकयोर्मधु ॥' इति । पतिषु विषये रसखण्डनवर्जितमनुरागभङ्गरहितं यथा तथा निर्विविशुः । परस्परानुरागपूर्वकं पतिभिः सह पपुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—अङ्गनाः ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम् स्मरसखम् मधुम् पतिषु रसखण्डनवर्जितम् निर्विविशुः ।

सुन्दरियों ने मधुर विलास से अतिशय चतुर, मनोहर गन्ध से मौलसरी को जीतने वाले काम के सहायक—कामोद्दीपक मधु का पतियों के साथ प्रेम पूर्ण हो पान किया ॥ ३६ ॥

शुशुभिरे स्मितचारुतराननाः स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः ।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहङ्गमाः ॥ ३७ ॥

शुशुभिर इति । विचकतामरसा विकसितकमलाः मदेन कला अव्यक्तमधुरं ध्वनन्त उदकलोलविहङ्गमा जलप्रियपक्षिणो हंसादयो यासु ता मदकलोदकलोलविहंगमा गृहेषु दीर्घिका वाप्यः स्मितेन चारुतराण्याननानि यासां ताः 'ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवोचितैः । अलक्षितं अद्विजद्वारे सूत्तमानां स्मितं भवेत्' ॥ इति नाट्यालोचने । श्लथाः शिञ्जिता मुखरा मेखला यासां ताः । शिञ्जितेति कर्तरि क्तः । स्त्रिय इव शुशुभिरे ॥ ३७ ॥

अन्वयः—विचकतामरसाः मदकलोदकलोलविहङ्गमाः गृहदीर्घिकाः स्मितचारुतराननाः श्लथशिञ्जितमेखलाः स्त्रियः इव शुशुभिरे ।

उत्फुल्ल कमलों वाली, मद से मधुर अव्यक्त कलकूजन करने वाली जलचर पक्षियों वाली घर की बावड़ियाँ, मन्द स्मित से सुन्दर वदन वाली शिथिल एवं शब्दायमान करधनियों वाली स्त्रियों के समान सुशोभित हो रही थीं ॥ ३७ ॥

उपययौ तनुतां मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः।
सदृशमिष्टसमागमनिर्वृतिं वनितयाऽनितया रजनीवधूः ॥ ३८ ॥

उपययाविति। मधुना मधुसमयेन खण्डिता ह्रासं गमिता। क्षीयन्ते खलूत्तरायणे रात्रयः, खण्डिताख्या च नायिका ध्वन्यते। हिमकरोदयेन चन्द्रोदयेन पाण्डुर्मुखस्य प्रदोषस्य वक्त्रस्य च छविर्यस्याः सा रजन्येव वधूः। इष्टसमागमनिर्वृतिं प्रियसङ्गमसुखमनितयाऽप्राप्तया। 'इण् गतौ' इति धातोः कर्तरि क्तः। वनितया सदृशं तुल्यं तनुतां कार्श्यं चोपययौ ॥ ३८ ॥

अन्वयः—मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः रजनीवधूः इष्टसमागमनिर्वृतिम् अनितया वनितया सदृशं तनुताम् उपययौ।

वसन्त ऋतु से खण्डित—ह्रास को प्राप्त, चन्द्रोदय के कारण पीली मुख कान्तिवाली (पीत वर्ण की प्रदोष छवि वाली) रात्रि रूपी नायिका प्रियतम के समागम सुख को न प्राप्त करने वाली स्त्री के समान कृशता को प्राप्त हुयी अर्थात् रात्रि छोटी हो गयी ॥ ३८ ॥

अपतुषारतया विशदप्रभैः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः।
कुसुमचापमतेजयदंशुभिर्हिमकरो मकरोर्जितकेतनम् ॥ ३९ ॥

अपेति। हिमकरश्चन्द्रः अपतुषारतयाऽपगतनीहारतया विशदप्रभैर्निर्मलकान्तिभिः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः सुरतसङ्गखेदहारिभिरंशुभिः किरणैः। 'चन्दनं मृदुनालानि हरन्ति सुरतश्रमम्' इति रतिरहस्यम्। मकरोर्जितकेतनं मकरेणोर्जितं केतनं ध्वजो यस्य तम्। लब्धावकाशत्वादुच्छ्रितध्वजमित्यर्थः। कुसुमचापं काममतेजयदशातयत्, 'तिज निशाने' इति धातोर्ण्यन्ताल्लङ्। सहकारिलाभात्कामोऽपि तीक्ष्णोऽभूदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—हिमकरः अपतुषारतया विशदप्रभैः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः अंशुभिः मकरोर्जितकेतनम् कुसुमचापं अतेजयत्।

शीतल किरणोंवाला चन्द्रमा हिम का अन्त हो जाने से निर्मल प्रभा वाली तथा रतिक्रीडा से उत्पन्न श्रम को दूर करने वाली किरणों के द्वारा मकर से उर्जित पताका वाले पुष्पधन्वा काम को तीव्र करने लगा ॥ ३९ ॥

हुतहुताशनदीप्ति वनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत्।
युवतयः कुसुमं दधुराहितं तदलके दलकेशरपेशलम् ॥ ४० ॥

हुतेति। हुतहुताशनदीप्त्याज्यादिप्रज्वलिताग्निप्रभं यत्कुसुमं, कर्णिकारमित्यर्थः। वनश्रियः उपवनलक्ष्म्याः कनकाभरणस्य प्रतिनिधिः, अभूदिति शेषः। दलेषु केसरेषु च पेशलं सुकुमारपत्रकिञ्जल्कमित्यर्थः। आहितं प्रियैरिति शेषः। तत्कुसुमं युवतयोऽलके कुन्तले दधुः ॥ ४० ॥

अन्वयः—हुतहुताशनदीप्ति यत् कुसुमं वनश्रियः कनकाभरणस्य प्रतिनिधिः (अभूदिति शेषः) दलकेसरपेशलम् आहितं (प्रियैरिति शेषः) तत् युवतयः अलके दधुः।

घृत आदि की आहुति से प्रज्वलित अग्नि के समान प्रदीप्त जो कर्णिकार पुष्प उपवन की लक्ष्मी के सुवर्ण भूषण का प्रतिनिधि हो गया था, सुकोमल पत्तों एवं परागों में सुन्दर प्रियतम द्वारा आरोपित उस पुष्प को युवतियों ने अपने केशों में लगा लिया ॥ ४० ॥

अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥४१॥

अलिभिरिति। अञ्जनबिन्दुमनोहरैः कज्जलकणसुन्दरैः कुसुमपङ्क्तिषु निपतन्ति ये तैः अलिभिरङ्कितश्चिह्नितस्तिलकः श्रीमान्नाम वृक्षः। 'तिलकः क्षुरकः श्रीमान्' इत्यमरः। वनस्थलीम्। तिलको विशेषकः। 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्। द्वितीयं च तुरीयं च न स्त्रियाम्' इत्यमरः। प्रमदामिव न शोभयति स्मेति न खलु, अपि त्वशोभयदेवेत्यर्थः। 'लट् स्मे' इति स्मशब्दयोगाद् भूतार्थे लट्। तिलकेष्वञ्जनः बिन्दवः शोभार्थं क्रियन्ते ॥ ४१ ॥

अन्वयः—अञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिः अलिभिः अङ्कितः तिलकः वनस्थलीम् तिलकः प्रमदामिव न शोभयति स्म इति न खलु।

जैसे कज्जल का काला तिलक सुन्दरी को सुशोभित करता है क्या उसी तरह पुष्पों पर निपतित कज्जल कणों जैसे भ्रमरों से युक्त तिलक का वृक्ष वनस्थली को सुशोभित नहीं कर रहा था, ऐसी बात नहीं अपितु सुशोभित कर ही रहा था ॥ ४१ ॥

अमदयन्मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसङ्गतया मनः।
कुसुमसम्भृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥४२॥

अमदयदिति । तरुचारुविलासिनी तरोः पुंसश्च चारुविलासिनी नवमल्लिका सप्तलाख्या लता, 'सप्तला नवमल्लिका' इत्यमरः । मधुनो मकरन्दस्य मद्यस्य च गन्धेन सनाथया, गन्धप्रधानयेत्यर्थः ! किसलयमेवाधरस्तत्र सङ्गतया, प्रसृतरागयेत्यर्थः । कुसुमैः सम्भृतया सम्पादितया कुसुमरूपयेत्यर्थः । स्मितरुचा हासकान्त्या मनः, पश्यतामितिशेषः । अमदयत् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—तरुचारुविलासिनी नवमल्लिका मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसङ्गतया कुसुमसम्भृतया स्मितरुचा मनः (पश्यतामितिशेषः) अमदयत् ।

वृक्ष (रूपी पुरुष) के साथ सुन्दर विलास करने वाली नवमल्लिका लता (तरुणी) ने मकरन्द रूपी मद्य के गन्ध से संयुक्त नवपल्लवरूपी अधरों में फैली हुयी पुष्परूपी हास की कान्ति से (दर्शकों के) मन को मदोन्मत्त कर दिया ।

अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवाङ्कुरैः ।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ॥४३॥

अरुणेति । विलासिनो विलसनशीलाः पुरुषाः 'वौ कषलसकत्थस्रम्भः' इत्यनेन घिनुण्प्रत्ययः । अरुणस्यानूरो रागमारुण्यं निषेधन्ति तिरस्कुर्वन्तीत्यरुणरागनिषेधिनः तैः कुसुम्भादिरञ्जनात्तत्सदृशैरित्यर्थः । 'तमन्वेत्यनुबध्नाति तच्छीलं तन्निषेधति । तस्येवानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यवाचकाः ॥' इति दण्डी । अंशुकैरम्बरैः श्रवणेषु कर्णेषु लब्धपदैः, निवेशितैरित्यर्थः । यवाङ्कुरैश्च परभृताविरुतैः कोकिलाकूजितैश्च । इत्येतैः स्मरबलैः कामसैन्यैः । अबलास्वेक एव रसो रागो येषां तेऽबलैकरसाः स्त्रीपरतन्त्राः कृताः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—विलासिनः अरुणरागनिषेधिभिः अंशुकैः श्रवणलब्धपदैः यवाङ्कुरैश्च परभृताविरुतैश्च स्मरबलैः अबलैकरसाः कृता ।

विलासी पुरुष अरुण की लालिमा को पराजित करने वाले लालवस्त्रों, कानों पर संस्थापित यवाङ्कुरों और कोकिल के मधुर स्वरों रूपी कामदेव के सैनिकों द्वारा अबलाओं में एकमात्र प्रेम रसमय बना दिये गये । [कामदेव के सैनिकों ने विलासी पुरुषों को स्त्रियों में आसक्त कर दिया] ॥ ४३ ॥

उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी ।
सदृशकान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजाऽलकजालकमौक्तिकैः ॥४४॥

उपचितेति । शुचिभिः शुभ्रैः कणै रजोभिरुपचितावयवा पुष्टावयवा । अलिकदम्बकयोगमुपेयुषी प्राप्ता । तिलकजा तिलकवृक्षोत्था मञ्जरी अलकेषु यज्जालकमाभ-

रणविशेषस्तस्मिन् मौक्तिकैः सदृशकान्तिः अलक्ष्यत । भृङ्गसङ्गिनी शुभ्रा तिलकमञ्जरी नीलालकसक्तमुक्ताजालमिवालक्ष्यतेति वाक्यार्थः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—शुचिभिः कणैः उपचितावयवा अलिकदम्बकयोगम् उपेयुषी तिलकजा मञ्जरी अलकजालकमौक्तिकैः सदृशकान्तिः अलक्ष्यत ।

पीत परागों से परिपुष्ट अंगों वाली तथा भ्रमर-समूहों के संयोग को प्राप्त की हुई तिलक वृक्ष से उत्पन्न मञ्जरी केशों को संयमित करने वाले जालों में लगे मौक्तिकों के समान सुन्दर लग रही थी। वाक्यार्थ यह है कि भ्रमरों की संगिनी शुभ्र तिलक मञ्जरी काले केशजालों में मुक्तावली के समान दीख रही थी ॥४४॥

ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः ।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥ ४५ ॥

ध्वजपटमिति । अलिव्रजाः षट्पदनिवहा धनुर्भृतो धानुष्कस्य मदनस्य कामस्य ध्वजपटं पताकाभूतम् । ऋतुश्रियो वसन्तलक्ष्म्याश्छविकरं-शोभाकरं मुखचूर्णं मुखालंकारचूर्णभूतम्, 'चूर्णानि वासयोगाः स्युः' इत्यमरः । सपवनोपवनोत्थितं 'सपवनं पवनेन सहितं यदुपवनं तस्मिन्नुत्थितं कुसुमानां केसरेषु किञ्जल्केषु यो रेणुस्तम् । अन्वयुरन्वगच्छन् । यातेर्लङ् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—अलिव्रजाः धनुर्भृतः मदनस्य ध्वजपटं ऋतुश्रियः छविकरं मुखचूर्णं सपवनोपवनोत्थितम् कुसुमकेसररेणुम् अन्वयुः ।

भ्रमर समूहों ने पुष्पधन्वा कामदेव की पताका के वस्त्र बने हुए, वसन्त ऋतु की लक्ष्मी के शोभावर्द्धक मुख में लगाने योग्य चूर्ण (पाउडर) बने हुए, पवन युक्त उपवन में उड़े हुए पुष्पों के पराग कणों का अनुसरण किया ॥४५॥

अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः ॥ ४६ ॥

अनुभवन्निति । नवा दोला प्रेङ्खा यस्मिंस्तं नवदोलमृतूत्सवं वसन्तोत्सवमनुभवन्नबलाजनः पटुरपि निपुणोऽपि प्रियकण्ठस्य जिघृक्षया ग्रहीतुमालिङ्गितुमिच्छयाऽऽसनरज्जुपरिग्रहे पीठरज्जुग्रहणे भुजलतां बाहुलतां जलतां शैथिल्यम् । डलयोरभेदः । 'यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयोर्न भित्' इति । अनयत् । दोलाक्रीडासु पतनभयनाटितकेन प्रियकण्ठमाश्लिष्यदित्यर्थः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—नवदोलम् ऋतूत्सवं अनुभवन् अबलाजनः पटुः अपि प्रियकण्ठजिघृक्षया आसनरज्जुपरिग्रहे भुजलताम् जलताम् (जड़ताम्) अनयत् ।

नये झूले वाले वसन्तोत्सव का अनुभव करती हुई अबलाओं ने कुशल होती हुई भी प्रियतम के कण्ठ को पकड़ने की इच्छा से झूले के पहरे में लगी रस्सी के पकड़ने में अपनी भुजा रूपी लताओं को ढीला कर दिया ॥ ४६ ॥

त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥४७॥

त्यजतेति । बतेत्यामन्त्रणे । 'खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत' इत्यमरः ! बत अङ्गनाः, मानं कोपं त्यजत । तदुक्तम्—'स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' । इति । विग्रहैर्विरोधैरलं, विग्रहो न कार्य इत्यर्थः । गतमतीतं चतुरमुपभोगक्षमं वयो यौवनं पुनर्नैति नागच्छति इत्येवंरूपे स्मरमते स्मराभिप्राये । नपुंसके भावे क्तः । परभृताभिः कोकिलाभिर्निवेदिते सतीव वधूजनो रमते स्म रेमे, कोकिलाकूजितोद्दीपितस्मरः स्त्रीजनः कामशासनभयादिवोच्छृङ्खलमखेलदित्यर्थः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—बत मानं त्यजत । विग्रहैः अलम् । गतं चतुरं वयः पुनः न एति इति स्मरमते परभृताभिः निवेदिते (सति) इव वधूजनः रमते स्म ।

अरे मान करना छोड़ो । विरोध करने से कुछ लाभ नहीं है । बीती हुयी उपभोग करने योग्य जवानी पुनः लौटकर नहीं आती है इस प्रकार मानो कोयलों के द्वारा कामदेव के अभिप्राय के व्यक्त किये जाने पर रमणियाँ (मानवती स्त्रियाँ) मान भंग कर पति के साथ रमण करने लगीं ।

अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः ।
नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः ॥ ४८ ॥

अथेति । अथानन्तरम् । मधुं मथ्नातीति मधुमद्विष्णुः । सम्पदादित्वात्क्विप् । मधुर्वसन्तः । मथ्नातीति मथः । पचाद्यच् । मनसो मथो मन्मथः कामः तेषां सन्निभः सदृशो मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः स नरपतिर्दशरथो विलासवतीसखः स्त्रीसहचरः सन् । ऋतुः प्राप्तोऽस्यार्तवः । तमुत्सवं वसन्तोत्सवं यथासुखं समनुभूय मृगयारतिं मृगयाविहारं चकमे आचकाङ्क्ष ॥ ४८ ॥

अन्वयः—अथ मधुमत् मधुमन्मथसन्निभः स विलासवतीसखः आर्तवम् उत्सवं यथासुखं समनुभूय मृगयारतिं चकमे ।

इसके बाद मध्वरि विष्णु, वसन्त और कामदेव के समान उस राजा दश-

रथने विलासवती युवतियों के साथ वसन्तोत्सव के सुख का यथेष्ठ अनुभव कर मृगयाविहार करने की आकाङ्क्षा की।

परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम्।
श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥ ४९ ॥

परिचयमिति। असौ मृगया चललक्ष्याणि मृगगवयादीनि तेषां निपातने परिचयमभ्यासं करोति। भयरुषोर्भयक्रोधयोस्तदिङ्गितबोधनं तेषां चललक्ष्याणामिङ्गितस्य चेष्टितस्य भयादिलिङ्गभूतस्य बोधनं ज्ञानं च करोति। तनुं शरीरं श्रमस्य जयान्निरासात्प्रगुणां प्रकृष्टलाघवादिगुणवतीं च करोति अतो हेतो सचिवैरनुमतोऽनुमोदितः सन् ययौ। सर्वं चैतद् युद्धोपयोगीत्यतस्तदपेक्षया मृगयाप्रवृत्तिः। न तु व्यसनितयेति भावः* ॥ ४९ ॥

अन्वयः—असौ चललक्ष्यनिपातने परिचयं करोति, भयरुषोः तदिङ्गितबोधनञ्च करोति, तनुम् श्रमजयात् प्रगुणां च करोति अतः सचिवैः अनुमतः (सन्) ययौ।

यह मृगया चलते हुए मृगवराहादि लक्ष्य को गिरा डालने में अभ्यास करती है और भय तथा क्रोध का उन लक्ष्यों के इंगित (चेष्टा) का ज्ञान कराती है, शरीर को श्रम विजय के कारण उत्कृष्ट गुणोंवाली बनाती है, अतएव (यह मात्र दुर्व्यसन ही नहीं है अपितु युद्धोपयोगी भी है) मन्त्रियों से अनुमति पाकर मृगया के लिए वे चल पड़े ॥ ४९ ॥

मृगवनोपगमक्षमवेषभृद्विपुलकण्ठनिषक्तशरासनः।
गगनमश्वखुरोद्धतरेणुभिर्नृसविता स वितानमिवाकरोत् ॥ ५० ॥

मृगवनेति। मृगाणां वनं तस्योपगमः प्राप्तिः तस्य क्षममर्हं वेषं बिभर्तीति स तथोक्तः, मृगयाविहारानुगुणवेषधारीत्यर्थः। विपुलकण्ठे निषक्तशरासनो लग्नधन्वा। ना सवितेव नृसविता पुरुषश्रेष्ठः। उपमितसमासः। स राजाऽश्वखुरोद्धतरेणुभिर्ग-

---

* एतदाशयक एव श्लोकोऽभिज्ञानशाकुन्तले प्रथमेऽङ्के दुष्यन्तं प्रति सेनापतिनोक्तं दृश्यते तद्यथा—

'मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्साहयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
उत्कर्षः स हि धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥' इति।

गनं वितानं तुच्छमसदिवाकरोत्, गगनं नालक्ष्यतेत्यर्थः। 'वितानं तुच्छमन्दयोः' इति विश्वः। अथवा सवितानमित्येकं पदम्, सवितानमुल्लोचसहितमिवाकरोत्। 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः ॥ ५० ॥

अन्वयः—मृगवनोपगमक्षवेषभृद् विपुलकण्ठनिषक्तशरासनः, नृसविता सः अश्वखुरोद्धतरेणुभिः गगनं वितानम् इव अकरोत्। अथवा सवितानमित्येकं पदम्]।

मृगों के वन में पहुँचने योग्य वेश धारण करने वाले विशाल कण्ठ में धनुष आरोपित किये हुए, मनुष्यों में सूर्य के समान तेजस्वी उस राजा दशरथ ने घोड़ों के खुरों से उठायी गयी धूलों से आकाश को छोटा सा या मानो चँदोवे से संयुक्त कर दिया ॥ ५० ॥

ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः।
तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो विरुरुचे रुरुचेष्टितभूमिषु ॥ ५१ ॥

ग्रथितेति। वनमालया वनपुष्पस्रजा ग्रथितमौलिर्बद्धधम्मिल्लः। 'पत्रपुष्पमयी माला वनमाला प्रकीर्तिता' इति। तरूणां पलाशैः पत्रैः सवर्णः समानस्तनुच्छदो वर्म यस्य स तथोक्तः। इदं च वर्मणः पलाशसावर्ण्याभिधानं मृगादीनां विश्वासार्थम्। तुरमस्य वल्गनेन गतिविशेषेण चञ्चलकुण्डलोऽसौ दशरथो रुरुभिर्मृगविशेषश्चेष्टिताश्चरिता या भूमयस्तासु विरुरुचे विदिद्युते ॥ ५१ ॥

अन्वयः—वनमालया ग्रथितमौलिः तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलः असौ रुरुचेष्टितभूमिषु विरुरुचे।

पत्र पुष्पविरचित वनमाला से केशों को गुम्फित किए हुए, वृक्षों की पत्तियों के समान हरे रंग के कवच से शरीर को आच्छादित किये हुए अश्वों की फुदकती गति से चञ्चल कुण्डलोंवाले वे महाराज दशरथ रुरु नामक मृगविशेषों द्वारा विचरण की गयी भूमि में विशेषरूप से सुशोभित हुए ॥ ५१ ॥

तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसंक्रमितेक्षणवृत्तयः।
ददृशुरध्वनि तं वनदेवताः सुनयनं नयनन्दितकोसलम् ॥५२॥

तनुलतेति। तनुषु लतासु विनिवेशितविग्रहाः संक्रमितदेहाः भ्रमरेषु संक्रमिता ईक्षणवृत्तयो दृग्व्यापारा यासां ता वनदेवताः सुनयनं सुलोचनं नयेन नीत्या नन्दितास्तोषिताः कोसला येन तं दशरथमध्वनि ददृशुः प्रसन्नपावनतया तं देवता अपि गूढवृत्त्या ददृशुरित्यर्थः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसंक्रमितेक्षणवृत्तयः, वनदेवताः सुनयनं नयनन्दितकोसलम् तम् अध्वनि ददृशुः।

सूक्ष्म लताओं में शरीर निवेशित की हुयी एवं भ्रमरों में नेत्रव्यापारों को प्रतिबिम्बित की हुयी वनदेवियों ने सुन्दर नेत्रवाले, सुन्दर नीति से कोसल की प्रजा को प्रमुदित करनेवाले उस राजा दशरथ को मार्ग में देखा ॥ ५२ ॥

श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः।
स्थिरतुरङ्गमभूमि निपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥ ५३ ॥

श्वगणीति। स दशरथः। शुनां गणः स एषामस्तीति श्वगणिनः श्वग्राहिणः तैः। वागुरा मृगबन्धनरज्जुः। 'वागुरा मृगबन्धनी' इत्यमरः। तया चरन्तीति वागुरिका जालिकाः। 'चरति' इति ठक्प्रत्ययः। 'द्वौ वागुरिकजालिकौ' इत्यमरः। तैश्च प्रथममास्थितमधिष्ठितम्। व्यपगता अनला दावाग्नयो दस्यवस्तस्कराश्च यस्मात्तथोक्तम्। 'दस्युतस्करमोषकाः' इत्यमरः 'कारयेदवनिशो धनमादौ मातुरन्तिकमपि प्रविविक्षुः। आप्तशस्त्र्यनुगतः प्रविशेद्वा संकटे च गहने च न तिष्ठेत् ॥' इति कामन्दकः। स्थिरा दृढा पङ्कादिरहिता तुरङ्गमयोग्या भूमिर्यस्य तत्। निपानवदाहावयुक्तम्। 'आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये' इत्यमरः। मृगैर्हरिणादिभिर्वयोभिः पक्षिभिर्गवयैर्गोसदृशैररण्यपशुविशेषैश्चोपचितं समृद्धं वनं विवेश प्रविष्टवान् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—सः श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितम् व्यपगतानलदस्यु स्थिरतुरङ्गमभूमि, निपानवत्, मृगवयोगवयोपचितं वनं विवेश।

उन्होंने (दशरथने) शिकारी कुत्तों के झुण्डों और मृग को फँसाने के लिए जाल लिए हुए लोगों से पहले से ही अधिष्ठित, दावानल और तस्करों (चोरों) से रहित, ठोस-कीचड़ दलदल से रहित घोड़ों के खड़े होने योग्य भूभागवाले, कुओं के निकट पशुओं के पानी पीने योग्य निपान वाले, मृग-पक्षी और गवयों-नीलगायों से समृद्ध वन में प्रवेश किया ॥ ५३ ॥

अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिद्गुणसंयुतम्।
धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोषितकेशरी ॥ ५४ ॥

अथेति। अयानाधिर्मनोव्यथारहितो नरवरो नरश्रेष्ठः। रवेण धनुष्टङ्कारेण रोषिताः केसरिणः सिंहा येन स राजा। कनकमिव पिङ्गः पिशङ्गो यस्तडिदेव गुणो मौर्वी तेन सयुतं त्रिदशायुधमिन्द्रचापं नभस्यो भाद्रपदमास इव। 'स्युर्नभस्य-

प्रोष्ठपदभाद्रभाद्रपदाः समाः' इत्यमरः। अधिज्यमधिगतमौर्वीकं धनुरुपाददे जग्राह ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अथ अनाधिः नरवरः रवरोषितकेशरी कनकपिङ्गतडिद्गुण संयुक्तम् त्रिदशायुधम् नभस्य इव अधिज्यं धनुः उपाददे।

इसके बाद जिस प्रकार भाद्रपद मास सुवर्ण के समान पीतवर्ण विद्युत रूपी प्रत्यञ्चा से युक्त इन्द्र-धनुष को धारण करता है उसी प्रकार मनोव्यथा से रहित पुरुषश्रेष्ठ धनुर्घोष से सिंहों को क्रुद्ध करनेवाले महाराज दशरथ ने प्रत्यञ्चा आरोपित धनुष को धारण कर लिया ॥५४॥

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात्।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥५५॥

तस्येति। स्तनप्रणयिभिः स्तनपायिभिरेणशावैर्हरिणशिशुभिः 'पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः। व्याहन्यमानं तद्वत्सलतया तद्गमनानुसारेण मुहुर्मुहुः प्रतिषिध्यमानं हरिणीनां गमनं गतिर्यस्य तत्। कुशा गर्भे येषां तानि मुखानि यस्य तत्कुशगर्भमुखम्। यस्य यूथस्याग्रसरः पुरःसरो गर्वितो दृप्तश्च कृष्णसारो यस्य तत्। मृगाणां यूथं कुलम्। 'सजातीयैः कुलं यूथं तिरश्चां पुंनपुंसकम् इत्यमरः। तस्य दशरथस्य पुरस्तादग्रे आविर्बभूव। वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—स्तनप्रणयिभिः एणशावैः मुहुः व्याहन्यमानहरिणीगमनं कुशगर्भमुखम् तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् मृगाणां यूथं तस्य पुरस्तात् आविर्बभूव।

स्तनपान करने वाले मृगों के बच्चों के द्वारा बार-बार वात्सल्यवश रोकी गयी हरिणियों की गतिवाला, मुख के मध्य कुश लिये हुए आगे-आगे चलते हुए गर्वीले कृष्णसार नामक मृग वाला मृगों का समूह उसके आगे आकर उपस्थित हो गया ॥ ५५ ॥

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्ति।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ॥५६॥

तदिति। जवनो जवशीलः। 'जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपदः' इत्यनेन युच्प्रत्ययः। 'तरस्वी त्वरितो वेगी प्रजवी जवनो जवः' इत्यमरः। तं वाजिनमश्वं गतेनारूढेन। तूणीषुधिः। 'बह्वादिभ्यश्च' इति स्त्रियां ङीष्। तस्या मुखाद्विवरादुद्धृतशरेण राज्ञा प्रार्थितमभियातम्। 'याच्ञायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः' इति केशवः। अत एव विशीर्णा पङ्क्तिः सङ्घीभावो यस्य तत् मृग-

यूथं कर्तृ । आर्द्रैर्भयादश्रुसिक्तैराकुला भयचकिता ये दृष्टिपातास्तैः । वातेरितोत्पलदलप्रकरैः पवनकम्पितेन्दीवरदलवृन्दैरिव । वनं श्यामीचकार ॥ ५६ ॥

अन्वयः—जवनवाजिगतेन तूणीमुखोद्धृतशरेण राज्ञा प्रार्थितम् विशीर्णपङ्क्ति तत् आर्द्रैः आकुलदृष्टिपातैः वातेरितोत्पलदलप्रकरैः इव वनं श्यामीचकार ।

तीव्रगामी घोड़े पर आरूढ़, तरकस के मुख से बाण निकाले हुए राजा दशरथ के द्वारा अनुगमन किये जाते हुए छिन्न-भिन्न पंक्ति वाले उस मृगझुण्ड ने भयवश अश्रुपूरित एवं चकित दृष्टिपातों से वायु से प्रकम्पित नील कमल दल के समान वन को कृष्णवर्ण (श्यामायमान) कर दिया ॥ ५६ ॥

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य: स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार ॥

लक्ष्यीकृतस्येति । हरिरिन्द्रो विष्णुर्वा । तस्येव प्रभावः सामर्थ्यः यस्य सः तथोक्तः । धन्वी धनुष्मान्स नृपः । लक्ष्यीकृतस्य वेदधुमिष्टस्य हरिणस्य स्वप्रेयसो देहं व्यवधायानुरागादन्तर्धाय स्थिताम् । सह चरतीति सहचरी । पचादिषु चरतेष्टित्करणान्ङीप । यथाह वामनः—'अनुचरीति चरेष्टित्त्वात्' इति । तां सहचरीं हरिणीं प्रेक्ष्य कामितया स्वयं कामुकत्वात्, कृपामृदुमनाः करुणार्द्रचित्तः सन् । आकर्णकृष्टमपि दुष्प्रतिसंहरमपीत्यर्थः । बाणं प्रतिसंजहार, नैपुण्यादित्यर्थः । नैपुण्यं तु धन्वीत्यनेन गम्यते ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हरिप्रभावः सः धन्वी लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य देहं व्यवधाय स्थितां सहचरीं प्रेक्ष्य कामितया कृपामृदुमनाः आकर्णकृष्टमपि बाणं प्रतिसंञ्जहार ।

विष्णु एवं इन्द्र के समान प्रभावशाली उस धनुषधारी दशरथ ने लक्ष्य किये गये मृग के शरीर को व्यवधान कर स्थित साथ में विचरने वाली मृगी को देखकर कामी होने के कारण कृपा से कोमल मन होते हुए कानों तक आकृष्ट होने पर भी बाण को उतार लिया ॥ ५७ ॥

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः
कर्णान्तमेत्यबिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः
प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥ ५८ ॥

तस्येति । त्रासाद्भयादतिमात्रचटुलैरत्यन्तचञ्चलैः सुनेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि प्रगल्भकान्ताविलोचनविलासव्यापारान्सादृश्यात्स्मरतः । अपरेष्वपि

मृगेषु शरान्मुमुक्षोर्मोक्तुमिच्छोस्तस्य नृपस्य निबिडो दृढोऽपि मुष्टिः कर्णान्तमेत्य प्राप्य विभिदे । स्वयमेव भिद्यते स्म । भिदेः कर्मकर्तरि लिट् । कामिनस्तस्य प्रियाविभ्रमस्मृतिजनितकृपातिरेकान्मुष्टिभेदः न त्वनैपुण्यादिति तात्पर्यार्थः ॥५८॥

अन्वयः—त्रासातिमात्रचटुलैः सुनेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि स्मरतः अपरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः तस्य निबिडोऽपि मुष्टिः कर्णान्तमेत्य विभिदे ।

डर से अति चञ्चल सुन्दर नेत्रों से प्रगल्भ कान्ता के नेत्रों की विलास पूर्ण चेष्टाओं का स्मरण करते हुए अन्य हरिणों पर भी बाणों का प्रहार करने की कामना करने वाले उस दशरथ की सुदृढ़ मुष्टि भी कानों के निकट तक पहुँच कर खुल जाती थी ॥ ५८ ॥

उत्तस्थुषः सपदि पल्वलपङ्कमध्यान्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम् ।
जग्राह स द्रुतवराहकुलस्य मार्गं सुव्यक्तमार्गपदपङ्क्तिभिरायताभिः ॥

उत्तस्थुष इति । स नृपः । मुस्ताप्ररोहाणां मुस्ताङ्कुराणां कवला ग्रासाः । तेषामवयवैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः शकलैरनुकीर्णं व्याप्तम् । आयताभिर्दीर्घाभिरार्द्रपदपङ्क्तिभिः सुव्यक्तम् । सपदि पल्वलपङ्कमध्यादुत्तस्थुष उत्थितस्य द्रुतवराहकुलस्य पलायितवराहयूथस्य मार्गं जग्रहानुससार । जिघांसया तदीयपदवीमनुययावित्यर्थः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सः मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम् आयताभिः आर्द्रपदपङ्क्तिभिः सुव्यक्तम् सपदि पल्वलपङ्कमध्यात् उत्तस्थुषः द्रुतवराहकुलस्य मार्गं जग्राह ।

उस महाराज दशरथ ने मोथा के अङ्कुरों के मुख से गिरे कवलों के अवयवों से भरे हुए, लम्बी गीली पद-पंक्तियों से सुस्पष्ट तत्काल छोटे-छोटे जलाशयों के पङ्क के बीच से उठकर भागते हुए शूकरों के समूह के मार्ग का पीछा किया ॥ ५९ ॥

तं वाहनादवनतोत्तरकायमीषद्विध्यन्तमुद्धृतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः ।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु ॥६०॥

तमिति । वराहाः वाहनादश्वादीषदवनतोत्तरकायं किञ्चिदानतपूर्वकायं विध्यन्तं प्रहरन्तं तं नृपम् । उद्धृतसटा ऊर्ध्वकेसराः सन्तः । 'सटा जटाकेसरयोः' इति केशवः । प्रतिहन्तुमीषुः प्रतिहर्तुमैच्छन् । अस्य नृपस्येषुभिः सहसा जघनानामाश्रयेष्वष्टम्भेषु वृक्षेषु विद्धमात्मानं न विविदुः । एतेन वराहाणां मनस्वित्वं नृपस्य हस्तलाघवं चोक्तम् ॥ ६० ॥

अन्वयः—वराहाः वाहनाद् ईषदवनतोत्तरकायं विध्यन्तम् तम् उद्धृतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः अस्य इषुभिः सहसा जघनाश्रयेषु वृक्षेषु विद्धम् आत्मानं न विविदुः ।

शूकरों ने थोड़े से थोड़ा अगला शरीर झुकाकर विद्ध करते हुए उनके ऊपर अपने गर्दन के बालों को उठाते हुए प्रतिघात करना चाहा किन्तु इनके बाणों से सहसा जङ्घों के आश्रय वृक्षों में अपने को विद्ध नहीं समझा ॥ ६० ॥

तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः ।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्खस्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात् ॥

तेनेति । अभिघाते रभस औत्सुक्यं यस्य तस्य, अभिहन्तुमुद्यतस्येत्यर्थः । वन्यस्य वने भवस्य महिषस्य नेत्रविवरे नेत्रमध्ये तेन नृपेण विकृष्याकृष्य मुक्तः पत्री शरो विग्रहं महिषदेहं निर्भिद्य विदार्य । शोणितलिप्तो न भवतीत्यशोणित-लिप्तः पुङ्खो यस्य स तथोक्तः सन् । तं महिषं पातयामास । स्वयं पश्चात्पपात । 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्यत्रानुशब्दस्य व्यवहितविपर्यस्तप्रयोगनिवृत्त्यर्थत्वात् 'पातयां प्रथममास' इत्यपप्रयोग इति पाणिनीयाः । यथा वार्तिककारः - 'विपर्या-सनिवृत्त्यर्थं व्यवहितनिवृत्त्यर्थं च' इति ॥ ६१ ॥

अन्वयः—अभिघातरभसस्य वन्यस्य महिषस्य नेत्रविवरे तेन विकृष्य मुक्तः पत्री विग्रहम् निर्भिद्य अशोणितलिप्तपुङ्खः तं प्रथमं पातयामास पश्चात् पपात् ।

आघात करने में वेगवान् वनैले भैंसे के नेत्र के मध्य में उस (राजा दशरथ) के द्वारा खींचकर छोड़े गये बाण ने शरीर छेद कर पंख के बिना रक्त लगे ही उसे (भैंसे को) पहले गिरा दिया तब बाद में स्वयं गिर पड़ा ॥ ६१ ॥

प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गान्खड्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः ।
शृङ्गं स दृप्तविनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः ॥६२॥

प्राय इति । नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः शरविशेषैः, चन्द्रार्धबाणैरित्यर्थः । खड्गान् खड्गाख्यान्मृगान् 'गण्डके खड्गखड्गिनौ' इत्यमरः । प्रायो बाहुल्येन विषाणपरि-मोक्षेण शृङ्गभङ्गेन लघून्यगुरूण्युत्तमाङ्गानि शिरांसि येषां तांश्चकार, न त्ववधी-दित्यर्थः । कुतः, दृप्तविनयाधिकृतो दुष्टनिग्रहनियुक्तः स राजा परेषां प्रतिकूलाना-मत्युच्छ्रितमुन्नतं शृङ्गं विषाणं प्राधान्यं च । 'शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्च' इत्यमरः । न ममृषे न सेहे । दीर्घमायुर्जीवितकालम् । 'आयुर्जीवितकालो ना' इत्यमरः । न ममृष इति न, किन्तु ममृष एवेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—नृपतिः निशितैः क्षुरप्रैः खड्गान प्रायः विषाणपरिमोक्षलघूत्त-

माङ्गान् चकार दृप्तविनयाधिकृतः सः परेषाम् अत्युच्छ्रितम् शृङ्गम् न ममृषे, दीर्घमायुः न ममृषे इति न।

राजा ने तीक्ष्ण क्षुरप्र नामक बाणविशेषों से खड्ग—गैंडे के प्रायः सींग के अधिकांश भागों को छिन्न-भिन्न कर हल्के माथे वाला बना दिया। दुष्टों के ऊपर शासन करने के लिये नियुक्त उस राजा ने शत्रुओं के अत्यन्त बढ़े हुए (अभिमान सूचक) शृङ्ग को सहन नहीं किया, किन्तु दीर्घायु को सहन न किया हो ऐसी बात नहीं। दीर्घायु को तो सहन कर लिया किन्तु अभिमान सूचक लम्बी सींग को तोड़कर मानमर्दित कर जीवित ही छोड़ दिया॥ ६२॥

व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः
फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान्।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषा-
त्तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान्॥ ६३॥

व्याघ्रानिति। अभीर्निर्भीकः स धन्वी गुहाभ्योऽभिमुखमुत्पतितान्। वायुना रुग्णान्भग्नान् फुल्ला विकसिताः। 'अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इति निष्ठा-तकारस्य लत्वनिपातः। येऽसनस्य सर्जवृक्षस्य। 'सर्जकासनबन्धूकपुष्पप्रियक-जीवकाः' इत्यमरः। अग्रविटपास्तानिव स्थितान्, इषुधिभूतानित्यर्थः। व्याघ्राणां चित्ररूपत्वादुपमाने फुल्लविशेषणम्। शरैः पूरितानि वक्त्ररन्ध्राणि येषां तान्व्या-घ्रान् शिक्षाविशेषेणाभ्यासातिशयेन लघुहस्ततया क्षिप्रहस्ततया निमेषात्तूणीचकार, तूणं शरैः पूरितवानित्यर्थः॥ ६३॥

अन्वयः—अभीः गुहाभ्यः अभिमुखोत्पतितान् वायुरुग्णान् फुल्लासनाग्रविट-पान् इव व्याघ्रान् शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान् शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषात् तूणीचकार।

निर्भीक उस धनुर्धर दशरथ ने गुहाओं से सम्मुख आते हुए हवा से बिखरे हुए उत्फुल्ल पुष्पों वाले सर्ज के पेड़ों के अग्रभाग के समान स्थित बाघों के मुख का छिद्र शिक्षा विशेष के कारण हाथों की स्फूर्ति से क्षण भर में पलक गिरते ही बाणों से परिपूर्ण कर दिया॥ ६३॥

निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनाञ्जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान्।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूद्वीर्योदग्रे राजशब्दे मृगेषु॥ ६४॥

निर्घातेति। कुञ्जेषु लीनान्। 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे'

इत्यमरः। सिंहाञ्जिघांसुर्हन्तुमिच्छुः। निर्घातो व्योमोत्थित औत्पातिकः शब्दविशेषः। तदुक्तं नारदीयसंहितायाम्—'वायुनाऽभिहतो वायुर्गगनात्पतितः क्षितौ। यदाऽदीप्तः खगरुतः स निर्घातोऽतिदोषकृत् ॥' इति। तद्वदुग्रै रौद्रैर्ज्यानिर्घोषैर्मौर्वीशब्दैः क्षोभयामास। अत्रोत्प्रेक्षते—तेषां सिंहानां सम्बन्धिनि वीर्येणोदग्रे उन्नते मृगेषु विषये यो राजशब्दस्तस्मिन्नभ्यसूयापरोऽभून्नूनम्। अन्यथा कथमेतानन्विष्य, हन्यादित्यर्थः। 'मृगाणाम्' इति पाठे समासे गुणभूतत्वाद्राजशब्देन सम्बन्धो दुर्घटः। शालिनीवृत्तम्। 'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' इति लक्षणात् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—कुञ्जलीनान् सिंहान् जिघांसुः निर्घातोग्रैः ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास, तेषाम् वीर्योदग्रे मृगेषु राजशब्दे अभ्यसूयापरोऽभूत् नूनम्।

लताओं से घिरे घरों—कुञ्जों में छिपे हुए सिंहों को मारने की इच्छा करने वाले राजा दशरथ ने वज्रघोष के समान प्रचण्ड धनुष टङ्कारों से विक्षुब्ध कर दिया। लगता है कि वे निश्चय ही उन सिंहों के पराक्रम के उत्कर्ष होने पर मृगों में राज शब्द "मृगराज" के विषय में अत्यधिक असूया करने वाले हो गये ॥ ६४ ॥

तान्हत्वा गजकुलबद्धतीव्रवैरान्काकुत्स्थः कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान्।
आत्मानं रणकृतकर्मणां गजानामानृण्यं गतमिव मार्गणैरमंस्त ॥६५॥

तानिति। काकुत्स्थो दशरथः। गजकुलेषु बद्धं तीव्रं वैरं यैस्तान्। कुटिलेषु नखाग्रेषु लग्ना मुक्ता गजकुम्भमौक्तिकानि येषां तान्सिंहान्हत्वा। आत्मानं रणेषु कृतकर्मणां कृतोपकाराणां गजानामानृण्यमनृणत्वं मार्गणैः शरैः 'मार्गणो याचके शरे' इति विश्वः। गतं प्राप्तवन्तमिवामंस्त मेने ॥६५॥

अन्वयः—काकुत्स्थः गजकुलबद्धतीव्रवैरान् कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान् तान् हत्वा आत्मानम् रणकृतकर्मणां गजानाम् आनृण्यम् मार्गणैः गतमिव अमंस्त।

काकुत्स्थ राजा दशरथ ने हाथियों के झुण्डों से तीव्र वैर बाँधने वाले टेढे-नुकीले नाखूनों में लगे गजमुक्ताओं वाले उन सिंहों को मारकर अपने को युद्ध में उपकार करने वाले हाथियों से वाणों के द्वारा ऋणमुक्त समझा ॥६५॥

चमरान्परितः प्रवर्तिताश्वः क्वचिदाकर्णविकृष्टभल्लवर्षी।
नृपतीनिव तान्वियोज्य सद्यः सितवालव्यजनैर्जगाम शान्तिम् ॥६६॥

चमरानिति। क्वचिच्चमरान्परितः। 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रति-

योगेऽपि' इत्यनेन द्वितीया। प्रवर्तिताश्वः प्रधाविताश्वः। आकर्णविकृष्टभल्लानिषु-विशेषान्वर्षतीति तथोक्तः स नृपः। नृपतीनिव तांश्चमरान्सितबालव्यजनैः शुभ्र-चामरैर्वियोज्य विरहय्य सद्यः शान्ति जगाम। शूराणां परकीयमैश्वर्यमेवासह्यम्। न तु जीवितमिति भावः। औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥६६॥

अन्वयः—क्वचित् चमरान् परितः प्रवर्तिताश्वः आकर्ण विकृष्टिभल्लवर्षी नृपतीन् इव तान् सितवालव्यजनैः वियोज्य सद्यः शान्तिं जगाम।

कहीं चमर मृगों के चतुर्दिक् घोड़ों को घुमाते हुए कानों तक खिचे हुए भालों की वर्षा करने वाले महाराज दशरथ ने राजाओं के समान चमरधारी उन मृगों को श्वेत वालरूपी व्यजनों से विहीन कर तत्काल शांति प्राप्त की ॥ ६६ ॥

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥ ६७ ॥

अपीति। स नृपस्तुरगसमीपादुत्पतन्तमपि, सुप्रहारमपीत्यर्थः। रुचिरकलापं भासुरबर्हम्। मह्यामतिशयेन रौतीति मयूरो बर्ही। पृषोदरादित्वात्साधुः। तं चित्रेण माल्येनानुकीर्णे रतौ विगलितबन्धे प्रियायाः केशपाशे सपदि गतमनस्कः प्रवृत्तचित्तः। 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' इति कप्प्रत्ययः। बाणलक्ष्यीचकार न प्रज-हारेत्यर्थः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—सः तुरगसमीपात् उत्पतन्तमपि रुचिरकलापं मयूरं चित्रमाल्यानु-कीर्णे रतिविगलितबन्धे प्रियायाः केशपाशे सपदि गतमनस्कः न वाणलक्ष्यी चकार।

उसने घोड़े के निकट से उड़ते हुए भी सुन्दर पूँछों वाले मयूर को अपने वाण का लक्ष्य इस विचार से नहीं बनाया की वह चित्र-विचित्र मालाओं से गुम्फित, रति क्रीड़ा के समय बन्धन विहीन प्रिया के केश पाश के समान तत्काल प्रतीत हो रहा था ॥ ६७ ॥

तस्य कर्कशविहारसम्भवं स्वेदमाननविलग्नजालकम्।
आचचाम सतुषारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः ॥ ६८ ॥

तस्येति। कर्कशविहारादतिव्यायामात्सम्भवो यस्य तम्। आनने विलग्न-जालकं बद्धकदम्बकं तस्य नृपस्य स्वेदम्। सतुषारशीकरः शिशिराम्बुकणसहितः।

भिन्ना निर्दलिताः पल्लवानां पुटाः कोशा येन सः वनानिल आचचाम, जहारे-त्यर्थः । रथोद्धता वृत्तमेतत् ।। ६८ ।।

अन्वयः—कर्कशविहारसम्भवं आननविलग्नजालकम् तस्य स्वेदं सतुषार-शीकरः भिन्नपल्लवपुटः वनानिलः आचचाम ।

कठोर मृगयाविहार से समुत्पन्न मुख में संलग्न विन्दुसमूहों वाले उसके प्रस्वेद को शीतल जलकण-मिश्रित, पत्र-पुटों को स्फुटित करने वाले वन के पवन ने पान कर लिया ।। ६८ ।।

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम् ।
परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ।। ६९ ।।

इतीति । इति पूर्वोक्तप्रकारेणात्मनो विस्मृतमन्यत्करणीयं कार्यं येन तम्, विस्मृतात्मकार्यान्तरमित्यर्थः । सचिवैरवलम्बिता धृता धूर्यस्य तम् । 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः । अनुबन्धसेवया सन्ततसेवया परिवृद्धो रागो यस्य तं धराधिपम् । मृग्यन्ते यस्यां मृगा इति मृगया 'परिचर्यापरिसर्यामृ-गयाटाट्यादीनामुपसंख्यानम्' इति शप्रत्ययान्तो निपातः । चतुरा विदग्धा कामि-नीव जहाराचकर्ष । 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णव-र्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।' इति भावः ।। ६९ ।।

अन्वयः—इति आत्मनः विस्मृतान्यकरणीयम् सचिवावलम्बितधुरम्, अनु-बन्धसेवया परिवृद्धरागम् धराधिपम् मृगया चतुरा कामिनी इव जहार ।

इस प्रकार (पूर्वोक्त रूप से) अपने अन्यान्य कर्तव्यों को भुलाकर मन्त्रियों के ऊपर राज्य भर समर्पित किये हुए निरन्तर सेवा करने से बढ़े हुए अनुराग वाले पृथ्वीपाल राजा दशरथ को मृगया ने चतुर कामिनी की भाँति आकृष्ट कर लिया ।। ६९ ।।

स ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम् ।
नरपतिरतिवाहयाम्बभूव क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ।। ७० ।।

स इति । स नरपतिः ललितानि कुसुमानि प्रवालानि पल्लवानि शय्या यस्यां ताम् । ज्वलिताभिर्महौषधीभिरेव दीपिकाभिः सनाथम्, तत्प्रधानामित्यर्थः । त्रियामां त्रयो यामा यस्याः सा ताम् रात्रिं क्वचिदसमेतपरिच्छदः, परिहृतपरि-जनसन्नित्यर्थः । अतिवाहयाम्बभूव गमयामास । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ।। ७० ।।

अन्वयः—सः ललितकुसुमप्रवालशय्याम् ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम् त्रियामाम् क्वचिदसमेतपरिच्छदः, अतिवाहयाम्बभूव।

उसने सुरम्य पुष्पों और किसलयों की शय्या वाली, प्रज्ज्वलित महौषधि रूपी दीपक से युक्त तीन याम वाली रात्रि कहीं परिजनों से रहित हो अकेले ही व्यतीत की ॥ ७० ॥

उषसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः।
अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्विहगविकूजितबन्दिमङ्गलानि ॥७१॥

उषसीति। उषसि प्रातः पटूनां पटहानामिव ध्वनिर्येषां तैर्गजयूथानां हस्तिसमूहानां कर्णैरेव तालैर्वाद्यप्रभेदैर्विनीतनिद्रः स नृपस्तत्र वने मधुराणि विहगानां विहङ्गानां विकूजितान्येव बन्दिनां मङ्गलानि मङ्गलगीतानि शृण्वन्नरमत ॥७१॥

अन्वयः—उषसि पटुपटहध्वनिभिः गजयूथकर्णतालैः विनीतनिद्रः सः तत्र मधुराणि विहगविकूजितबन्दिमङ्गलानि शृण्वन् अरमत।

प्रभातवेला में विशाल नगाड़े की ध्वनि के समान गर्जना करने वाले हाथियों के समूह के कानरूपी तालपत्रों से निद्रा त्यागने वाले उस राजा ने वहाँ मधुर पक्षियों के कलरव रूपी वन्दीजनों के मंगल गीतों का श्रवण करते हुए रमण किया ॥ ७१ ॥

अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरङ्गमेण ॥ ७२ ॥

अथेति। अथ जातु कदाचिद्रुरोर्मृगस्य गृहीतवर्त्मा स्वीकृतरुरुमार्गो विपिने वने पार्श्वचरैरनुचरैरलक्ष्यमाणः, तुरगवेगादित्यर्थः। श्रमेण फेनमुचा सफेनं स्विद्यतेत्यर्थः। तुरङ्गमेण तपस्विभिर्गाढां सेवितां तमसां नाम नदीं सरितं प्राप ॥७२॥

अन्वयः—अथ जातु रुरोः गृहीत्वर्त्मा विपिने पार्श्वचरैः अलक्ष्यमाणः श्रमफेनमुचा तुरङ्गमेण तपस्विगाढाम् तमसां नदीम् प्राप।

इसके अनन्तर किसी समय रुरु नामक मृग विशेष के मार्ग का पीछा करते हुए जंगल में समीपवर्ती सेवकों से नहीं देखे जाते हुए महाराज दशरथ श्रम से फेन गिराने वाले घोड़े द्वारा तपस्वियों से अवगाहन (स्नान) की गयी तमसा नदी में पहुँचे ॥ ७२ ॥

कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः।
तत्र स द्विरदबृंहितशङ्की शब्दपातिनमिषुं विससर्ज ॥ ७३ ॥

कुम्भेति । तस्यास्तमसाया अम्भसि कुम्भपूरेण भव उत्पन्नः । पचाद्यच् । पटुर्मधुरः । उच्चैर्गम्भीरो निनदो ध्वनिरुच्चचारोदियाय । तत्र निनदे स नृपः । द्विरदबृंहितं शङ्कते इति द्विरदबृंहितशङ्की सन् । शब्देन शब्दानुसारेण पततीति शब्दपातिनमिषुं विससर्ज । स्वागता वृत्तम् ॥ ७३ ॥

अन्वयः—तस्याः अम्भसि कुम्भपूरणभवः पटुः उच्चैः निनदः उच्चचार तत्र सः द्विरदबृंहितशङ्की शब्दपातिनम् इषुम् विससर्ज ।

उस तमसा नदी के जल में घड़े के भरने से गम्भीर उच्चध्वनि उच्चरित हुयी । उस ध्वनि में दो दाँतों वाले हाथी के चिग्घाड़ने की आशङ्का करनेवाले उस राजा ने शब्दानुसारी (शब्दभेदी) बाण छोड़ा ॥ ७३ ॥

नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत् ।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥ ७४ ॥

नृपतेरिति । तत्कर्म नृपतेः क्षत्रियस्य प्रतिषिद्धमेव यदेतत्कर्म गजवधरूपं पंङ्क्तिरथो दशरथो विलङ्घ्य । 'लक्ष्मीकामो युद्धादन्यत्र करिवधं न कुर्यात्' इति शास्त्रमुल्लङ्घ्य कृतवान् । ननु विदुषस्तस्य कथमीदृग्विचेष्टितमत आह-अपथ इति । श्रुतवन्तोऽपि विद्वांसोऽपि रजोनिमीलिता रजोगुणावृताः सन्तः । न पन्था इत्यपथम् । 'पथो विभाषा' वा समासान्तः । 'अपथं नपुंसकम्' इति नपुंसकम् । 'अपन्यास्त्वपथं तुल्ये' इत्यमरः । तस्मिन्नपथेऽमार्गे पदमर्पयन्ति हि निक्षिपन्ति हि, प्रवर्तन्त इत्यर्थः । वैतालीयं वृत्तम् ॥ ७४ ॥

अन्वयः—तत् नृपतेः प्रतिषिद्धमेव यत् पंङ्क्तिरथः विलङ्घ्य कृतवान् श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः अपथे पदम् अर्पयन्ति हि ।

दशरथ ने (शास्त्र की आज्ञा का) उल्लंघन कर जो "गजवधरूप" कार्य किया वह राजा के लिए नियम विरुद्ध ही था क्योंकि शास्त्र ज्ञानी भी रजोगुण से आवृत हो जाने पर अनुचित मार्ग में पदार्पण कर ही देते हैं ॥ ७४ ॥

हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्णस्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः ।
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं तापादन्तःशल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि ॥

हेति । हेत्यार्तौ । तातो जनकः । 'हा विषादशुगर्तिषु' इति । 'तातस्तु जनकः पिता' इति चामरः । हा तातेति क्रन्दितं क्रोशनमाकर्ण्य । विषण्णो भग्नोत्साहः सन् । तस्य क्रन्दितस्य वेतसैर्गूढं छन्नम् । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । तमन्विष्यञ्छल्येन शरेण प्रोतं स्यूतम् । 'शल्यं शङ्कौ शरे वंशे' इति विश्वः । सकुम्भं

मुनिपुत्रं प्रेक्ष्य स क्षितिपोऽपि तापाद् दुःखादन्तःशल्यं यस्य सोऽन्तःशल्य इवासीत्। मत्तमयूरं वृत्तम् ॥ ७५ ॥

अन्वयः—हा तात इति क्रन्दितं आकर्ण्य विषण्णः (सन्) तस्य वेतसगूढं प्रभवं अन्विष्यन् शल्यप्रोतम् सकुम्भम् मुनिपुत्रम् प्रेक्ष्य सः क्षितिपोऽपि तापात् अन्तः शल्य इव आसीत् ।

"अरे बाप रे बाप" इस प्रकार की रुलाई सुनकर दुःखी होते हुए उसके (रुदन शब्द के) वेत की लता से आच्छन्न उत्पत्तिस्थान या कारण का पता लगाते हुए बाणविद्ध, घड़ा लिये हुए मुनिकुमार को देखकर वे पृथ्वीपति होते हुए भी सन्ताप से हृदय में बाण चुभे हुए के समान हो गए ॥ ७५ ॥

तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः ।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भिरात्मानमक्षरपदैःकथयाम्बभूव ॥७६॥

तेनेति । प्रथितान्वयन प्रख्यातवंशेन । एतेन पापभीरुत्वं सूचितम् । तेन राज्ञा तुरगादवतीर्य पृष्टान्वयो ब्रह्महत्याशङ्कया पृष्टकुलः । जलकुम्भनिषण्णदेहः स मुनिपुत्रस्तस्मै राज्ञे स्खलद्भिः, अशक्तिवशादर्धोच्चारितैरित्यर्थः । अक्षरप्रायैः पदैरक्षरपदैरात्मानं द्विजेतरश्चासौ तपस्विसुतश्च तं द्विजेतरतपस्विसुतं कथयाम्बभूव न तावत्त्रैवर्णिक एवाहमस्मि किन्तु करणः । 'वैश्यात्तु करणः शूद्रायाम्' इति याज्ञवल्क्यः । कुतो ब्रह्महत्येत्यर्थः । तथा च रामायणे—'ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीयताम् । न द्विजातिरहं राजन्माभूद्यो मनसो व्यथा । शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो जनपदाधिप' ॥ इति ॥ ७६ ॥

अन्वयः—प्रथितान्वयेन तेन तुरगात् अवतीर्य पृष्टान्वयः जलकुम्भनिषण्णदेहः सः तस्मै स्खलद्भिः अक्षरपदैः आत्मानं द्विजेतरतपस्विसुतम् कथयाम्बभूव ।

प्रसिद्ध उच्च कुलीन उसके (राजा दशरथ के) द्वारा घोड़े से उतरकर वंश (जाति) पूछे जाने पर उस ऋषिकुमार ने पानी के घड़े पर अपना शरीर टेकते हुए तथा टूटे-फूटे लड़खड़ाते अक्षरों वाले पदों से अपने को द्विजाति से भिन्न तपस्वी का पुत्र बतलाया ॥ ७६ ॥

तच्चोदितश्च तमनुद्धृतशल्यमेव पित्रोः सकाशमवसन्नदृशोर्निनाय ।
ताभ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्रमज्ञानतः स्वचरितं नृपतिः शशंस ॥

तदिति । तच्चोदितस्तेन पुत्रेण चोदितः प्रेरितः पितृसमीपं प्रापयेत्युक्तः स नृपतिरनुद्धृतशल्यमनुत्पाटितशरमेव तं मुनिपुत्रम् । अवसन्नदृशोर्नष्टचक्षुषोः, अन्ध-

योरित्यर्थः। पित्रोर्मातापित्रोः। 'पिता मात्रा' इत्येकशेषः। सकाशं समीपं निनाय। इदं च रामायणविरुद्धम्। तत्र–'अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ। अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया' इति नदीतीर एव मृतं पुत्रं प्रति पित्रोरानयनाभिधानात्। तथागतं वेतसगूढम्। एकश्चासौ पुत्रश्चैकपुत्रस्तम्। एकग्रहणं पित्रोरनन्यगतिकत्वसूचनार्थम्। तं मुनिपुत्रमुपेत्य सन्निकृष्टं गत्वाज्ञानतः करिभ्रान्त्या स्वचरितं स्वकृतं ताभ्यां मातापितृभ्यां क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी। शशंस कथितवान्॥ ७७॥

अन्वयः—तच्चोदितः नृपतिः अनुद्धृतशल्यम् एव तम् अवसन्नदृशोः पित्रोः सकाशं निनाय। तथागतं एकपुत्रं तं उपेत्य अज्ञानतः स्वचरितम् ताभ्याम् शशंस।

उस मुनिकुमार के द्वारा "मुझे पिता के पास पहुँचा दीजिये" इस प्रकार प्रेरित होकर राजा ने विना बाण निकाले ही उसे नेत्रहीन माता-पिता के पास पहुँचाया। उस प्रकार (बेत की लता से आच्छन्न होकर) आए हुए एकमात्र उस पुत्र के समीप आकर अज्ञानवश (हाथी के भ्रम से) अपने किये हुए कृत्य को उन दोनों (ऋषिकुमार के अन्धे माता-पिता) से कहा॥ ७७॥

तौ दम्पती बहु विलप्य शिशोः प्रहर्त्रा शल्यं निखातमुदहारयतामुरस्तः।
सोऽभूत्परासुरथ भूमिपतिं शशाप हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव वृद्धः॥

ताविति। तौ जाया च पतिश्च दम्पती। राजदन्तादिषु जायाशब्दस्य दम्भावो जम्भावश्च विकल्पेन निपातितः। 'दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ' इत्यमरः। बहु विलप्य भूरि परिदेव्य। 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः। शिशोरुरस्तो वक्षसः। 'पञ्चम्यास्तसिल्' निखातं शल्यं शरं प्रहर्त्रा राज्ञोदहारयतामुद्धारयामासतुः। स शिशुः परासुर्गतप्राणोऽभूत्। अथ वृद्धो हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव शापदानस्य जलपूर्वकत्वात्तैरेव भूमिपतिं शशाप॥ ७८॥

अन्वयः—तौ दम्पती बहु विलप्य शिशोः उरस्तः निखातं शल्यं प्रहर्त्रा उदहारयताम्। सः परासुः अभूत्। अथ वृद्धः हस्तार्पितैः नयनवारिभिः एव भूमिपतिम् शशाप॥

उन दोनों दम्पतियों ने बहुत विलाप कर बालक के वक्षःस्थल से गड़े हुए बाण को प्रहार करने वाले राजा दशरथ के द्वारा निकलवाया। वह बालक निष्प्राण हो गया। इसके पश्चात् उस वृद्ध ऋषि ने हाथ में लिए हुए नेत्रों के अश्रुजलों से ही राजा को शाप दिया॥ ७८॥

दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोका-
दन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम् ।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजङ्गं
प्रोवाच कोसलपतिः प्रथमापराद्धः ॥ ७९ ॥

दिष्टान्तमिति । हे राजन् ! भवानप्यन्त्ये वयस्यहमिव पुत्रशोकाद्दिष्टान्तं कालावसानं, मरणमित्यर्थः । 'दिष्टः काले च दैवे स्याद्दिष्टम्' इति विश्वः । आप्स्यति प्राप्स्यति । इत्युक्तवन्तम् । आक्रान्तः पादाहतः पूर्वमाक्रान्तपूर्वः । सुप्सुपेति समासः । 'राजदन्तादिषु परम्' इत्यनेन परनिपातः । तं प्रथममपकृतमित्यर्थः । मुक्तविषमपकारात्पश्चादुत्सृष्टविषं भुजङ्गमिव स्थितं तं वृद्धं प्रति प्रथमापराद्धः प्रथमापराधी । कर्तरि क्तः इदं च सहने कारणमुक्तम् । कोसलपतिर्दशरथः शापप्रदानात्पश्चादप्येनं मुनिं प्रोवाच ॥ ७९ ॥

अन्वयः—भवानपि अन्त्ये वयसि अहमिव पुत्रशोकात् दिष्टान्तम् आप्स्यति । इति उक्तवन्तं आक्रान्तपूर्वम् मुक्तविषम् भुजङ्गम् इव तम् प्रथमापराद्धः कोसलपतिः प्रोवाच ।

"आप भी अन्तिम अवस्था में मेरे समान पुत्रशोक से अन्तकाल (मृत्यु) प्राप्त करेंगे ।" इस प्रकार कहने वाले पहले आक्रान्त (पैर आदि के नीचे दबे हुए) हुए (अपकार के कारण) विष वमन करने वाले सर्प के समान स्थित उस वृद्ध ऋषि से प्रथम अपराधी कोसलपति दशरथ ने कहा ॥ ७९ ॥

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥ ८० ॥

शाप इति । अदृष्टा तनयाननपद्मशोभा पुत्रमुखकमलश्रीर्येन तस्मिन्नपुत्रके मयि भगवता पातितः । वज्रप्रायत्वात्पातित इत्युक्तम् । अयं पुत्रशोकान्म्रियस्वेत्येवंरूपः शापोऽपि सानुग्रहः । वृद्धकुमारीवरन्यायेनेष्टावाप्तेरान्तरीयकत्वात्सोपकार एव । निग्राहकस्याप्यनुग्राहकत्वमर्थान्तरन्यासेनाह—कृष्यामिति । इन्धनैः काष्ठैरिद्धः प्रज्वलितो ज्वलनोऽग्निः कृष्यां कर्षणार्हाम् । 'ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः' इति क्यप् । क्षितिं दहन्नपि बीजप्ररोहाणां बीजाङ्कुराणां जननीमुत्पादनक्षमां करोति ॥८० ।

अन्वयः—अदृष्टतनयाननपद्मशोभे मयि भगवता पातितः अयम् शापोऽपि सानुग्रहः। इन्धनेद्धो ज्वलनः कृष्यां क्षितिम् दहन्नपि बीजप्ररोहजननी करोति खलु।

पुत्र के मुखरूपी कमल की शोभा न देखने वाले मेरे ऊपर आपके द्वारा गिराया गया यह शाप भी अनुग्रह से युक्त है। इन्धनों से प्रज्ज्वलित अग्नि कृषि योग्य भूमि को जलाती हुयी भी बीजों के अङ्कुरों को जन्म देने वाली ही कर देती है ॥ ८० ॥

इत्थं गते गतघृणः किमयं विधत्तां
वध्यस्तवेत्यभिहितो वसुधाधिपेन ।
एधान्हुताशनवतः स मुनिर्ययाचे
पुत्रं परासुमनुगन्तुमनाः सदारः ॥ ८१ ॥

इत्थमिति। इत्थं गते प्रवृत्ते सति। वसुधाधिपेन राज्ञा। गतघृणो निष्करुणः, हन्तृत्वान्निष्कृप इत्यर्थः। अत एव तव वध्यो वधार्होऽयं जनः। अयमिति राज्ञो निर्वेदादनादरेण स्वात्मनिर्देशः। किं विधत्तामित्यभिहित उक्तः, मया किं विधेयमिति विज्ञापित इत्यर्थः। स मुनिः सदारः सभार्यः परासुं गतासु पुत्रमनुगन्तुं मनो यस्य सोऽनुगन्तुमना सन्। 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः। हुताशनवतः साग्नीनेधान्काष्ठानि ययाचे। न चात्रात्मघातदोषः। 'अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः। भृग्वग्निजलसम्पातैर्मरणं प्रविधीयते' इत्युक्तेः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—इत्थं गते वसुधाधिपेन गतघृणः वध्यः अयं किं विधत्ताम् इति अभिहितः। सः मुनिः सदारः परासुं पुत्रं अनुगन्तुमनाः हुताशनवतः एधान् ययाचे।

ऐसा हो जाने पर पृथ्वीपति दशरथ ने कहा कि यह निर्दय वध करने योग्य व्यक्ति आपका क्या करे?

उस मुनि ने पत्नी सहित मृत पुत्र के पीछे स्वयं मरना चाहते हुए अग्नि से युक्त लकड़ियों (चिता लगाने को) की याचना की ॥ ८१ ॥

प्राप्तानुगः सपदि शासनमस्य राजा
सम्पाद्य पातकविलुप्तधृतिर्निवृत्तः ।
अन्तर्निविष्टपदमात्मविनाशहेतुं
शापं दधज्ज्वलनमौर्वमिवाम्बुराशिः ॥ ८२ ॥

प्राप्तेति। प्राप्तानुगः प्राप्तानुचरो राजा सपद्यस्य मुनेः शासनं काष्ठसम्भरण-

रूपं प्रागेकोऽपि सम्प्रति प्राप्तानुचरत्वात्सम्पाद्य पातकेन मुनिवधरूपेण विलुप्तधृतिर्नष्टोत्साहः सन्। अन्तर्निविष्टपदमन्तर्लब्धस्थानमात्मविनाशहेतुं शापम्। अम्बुराशिरौर्वं ज्वलनं बाडवानलमिव। 'और्वस्तु बाडवो बाडवानलः' इत्यमरः। दधद्धृतवान्सन्। निवृत्तः वनादिति शेष ॥ ८२ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये मृगयावर्णनो नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

अन्वयः—प्राप्तानुगः राजा सपदि अस्य शासनम् सम्पाद्य पातकविलुप्तधृतिः अन्तर्निविष्टपदम् आत्मविनाशहेतुम् शापम् अम्बुराशिः औवम् ज्वलनम् इव दधद् निवृत्तः (वनादिति शेषः)

अपने अनुचरों को प्राप्त किये हुए राजा दशरथ शीघ्र ही इस मुनि का आदेश सम्पादित कर (प्रज्ज्वलित लकड़ियों से चिता लगाकर) मुनिवधरूपी पातक से अधीर होकर हृदयमें घर किये हुए—प्रविष्ट अपने विनाशके कारणभूत शाप को जैसे जलराशि समुद्र अपने अन्दर बड़वाग्नि को धारण करता है उसी प्रकार धारण किये हुए (वन से राजधानी) लौट आये ॥ ८२ ॥

नवम सर्ग समाप्त।

दशमः सर्गः

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः।
किंचिदूनमनूनर्द्धेः शरदामयुतं ययौ ॥ १ ॥

आशंसे नित्यमानन्दं रामनामकथामृतम्।
सद्भिः स्वश्रवणैर्नित्यं पेयं पापं प्रणोदितुम्।

पृथिवीमिति। पृथिवीं शासतः पालयतः पाकशासनतेजस इन्द्रवर्चसः। अनूनर्द्धेर्महासमृद्धेस्तस्य दशरथस्य किञ्चिदूनमीषन्न्यूनं शरदां वत्सराणाम्। 'स्याद्वतौ वत्सरे शरत्' इत्यमरः। अयुतं दशसहस्रं ययौ। 'एकदशशतसहस्राण्ययुतं लक्षं तथा प्रयुतम्। कोट्यर्बुदं च पद्मं स्थानात्स्थानं दशगुणं स्यात्' ॥ इत्यार्यभट्टः। इदं च मुनिशापात्परं वेदितव्यं न तु जननात्। 'षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक। दुःखेनोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि' ॥ इति रामायण विरोधात्। नाप्यभिषेकात्परं तस्यापि 'सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य

रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम्' (८।९४) इति कौमारानुष्ठितत्वाभिधानात्स एव विरोध इति ॥ १ ॥

अन्वयः—पृथिवीं शासतः पाकशासनतेजसः अनूनर्द्धेः तस्य किञ्चिदूनम् शरदाम् अयुतं ययौ ।

पृथ्वी का शासन करते हुए इन्द्र के समान तेजस्वी महा समृद्धिशाली उस राजा दशरथ के कुछ कम दस हजार वर्ष व्यतीत हो गये ॥ १ ॥

न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् ।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥ २ ॥

नेति । स दशरथ पूर्वेषां पितॄणामृणनिर्मोक्षसाधनम् 'एष वा अनृणो यः पुत्री' इति श्रुतेः । पितॄणामृणविमुक्तिकारणम् । सद्य शोक एव तमस्तदपहन्तीति शोकतमोपहम् । अत्राभयकर इतिवदुपपदेऽपि तदन्तविधिमाश्रित्य 'अपे क्लेशतमसोः' इति डप्रत्ययः । सुताभिधानं सुताख्यं ज्योतिर्नोपलेभे न प्राप च ॥२॥

अन्वयः—सः पूर्वेषाम् ऋणनिर्मोक्षसाधनम् सद्यः शोकतमोपहम् सुताभिधानं ज्योतिः नोपलेभे च ।

किन्तु उन्होंने पूर्व पुरुषों (पूर्वजों) के ऋण से मुक्त (उऋण) होने के साधन एवं तत्काल शोकरूपी अन्धकार को दूर करने वाले पुत्र नामक प्रकाश की प्राप्ति नहीं की ॥ २ ॥

अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसन्ततिः स चिरं नृपः ।
प्राङ्मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः ॥ ३ ॥

अतिष्ठदिति । प्रत्ययं हेतुमपेक्षत इति प्रत्ययापेक्षा सन्ततिर्यस्य स तथोक्तः । 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः । स नृपः मन्थात्प्राङ् मन्थनापूर्वमनभिव्यक्ताऽदृष्टा रत्नोत्पत्तिर्यस्य सोऽर्णव इव । चिरमतिष्ठत् । सामग्र्यभावाद्विलम्बो न तु बन्ध्यत्वादिति भावः ॥ ३ ॥

अन्वयः—प्रत्ययापेक्षसन्ततिः सः नृपः मन्थात् प्राङ् अनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिः अर्णवः इव चिरम् अतिष्ठत् ।

कारण सापेक्ष सन्तान वाले वे महाराज दशरथ चिरकाल तक उसी प्रकार पड़े रहे जिस प्रकार मन्थन से पहले सागर में रत्नों की उत्पत्ति अभिव्यक्त नहीं होती ॥ ३ ॥

ऋष्यश्रृङ्गादयस्तस्य सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ ४ ॥

ऋष्येति। ऋष्यश्रृङ्गादयः। ऋष्यश्रृङ्गो नाम कश्चिदृषिः तदादयः ऋतुमृतौ वा यजन्तीत्यृत्विजो याज्ञिकाः। 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च' इत्यनेन क्विन्नन्तो निपातः। जितात्मनो जितान्तःकरणाः सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः पुत्रार्थिनस्तस्य दशरस्य पुत्रीयां पुत्रनिमित्ताम्। 'पुत्राच्छ च' इति छप्रत्ययः। इष्टिं यागमारेभिरे प्रचक्रमिरे ॥ ४ ॥

अन्वयः—ऋष्यश्रृङ्गादयः ऋत्विजः जितात्मानः सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः तस्य पुत्रीयाम् इष्टिम् आरेभिरे।

ऋष्यश्रृङ्ग आदि याज्ञिकों ने जितेन्द्रिय होते हुए पुत्र चाहने वाले उस दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ आरम्भ किया ॥ ४ ॥

तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम् ।
अभिजग्मुर्निदाघार्तश्छायावृक्षमिवाध्वगाः ॥ ५ ॥

तस्मिन्निति। तस्मिन्नवसरे पुत्रकामेष्टिप्रवृत्तिसमये देवाः पुलस्त्यस्य गोत्रापत्यं पुमान्पौलस्त्यो रावणः तेनोपप्लुताः पीडिताः सन्तः। निदाघार्ता घर्मातुराः। अध्वानं गच्छन्तीत्यध्वगाः पान्थाः। 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु ड' इति डप्रत्ययः। छायाप्रधानं वृक्षं छायावृक्षमिव। शाकपार्थिवादित्वात्समासः। हरिं विष्णुमभिजग्मुः ॥ ५ ॥

अन्वयः—तस्मिन् अवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुताः निदाघार्ताः अध्वगाः छायावृक्षम् इव हरिम् अभिजग्मुः।

उस पुत्रकाम यज्ञ के अवसर पर देवगण पुलस्त्य गोत्र के अपत्य पुरुष रावण से पीड़ित होते हुए भगवान विष्णु के पास उसी प्रकार गये जिस प्रकार ग्रीष्म से संतप्त पथिक छायेदार वृक्ष के पास जाते हैं ॥ ५ ॥

ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः ।
अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥ ६ ॥

त इति। ते देवाश्चोदन्वन्तं समुद्रम् 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातः। प्रापुः। आदिपुरुषो विष्णुश्च बुबुधे। योगनिद्रां जहावित्यर्थः। गमनप्रतिबोधयोरविलम्बार्थौ चकारौ। तथाहि अव्याक्षेपो गम्यस्याव्यासङ्गः। अविलम्ब इति यावत्।

भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्लक्षणं लिङ्गं हि । उक्तं च—'अनन्यपरता चास्य कार्यसिद्धेस्तु लक्षणम्' ॥ इति ॥ ६ ॥

अन्वयः—ते च उदन्वन्तम् प्रापुः । आदिपुरुषश्च बुबुधे । अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेः लक्षणं हि ।

वे देवता क्षीर सागर के पास पहुँचे और आदि-पुरुष भगवान विष्णु ने योगनिद्रा का त्याग किया क्योंकि होनेवाली कार्यसिद्धि का अविलम्ब शुभ लक्षण है ॥ ६ ॥

भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः ।
तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥ ७ ॥

भोगीति । द्यौरोको येषां ते दिवौकसो देवाः । पृषोदरादित्वात्साधुः । यद्वा दिवशब्दोऽदन्तोऽप्यस्ति । तथा च बुद्धचरिते—'न शोभते तेन हि नो विना पुरं मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम्' इति । तत्र 'दिवु क्रीडादौ' इति धातोः 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः' इति कः । दिवमोक एषामिति विग्रहः । भोगिनः शेषस्य भोगः शरीरम् । 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः । स एवासनं सिंहासनम् । तत्रासीनमुपविष्टम् । आसः शानच् । 'ईदासः' इतीकारादेशः । तस्य भोगिनः फणामण्डले य उदर्चिष उद्रश्मयो मणयस्तैर्द्योतितविग्रहं तं विष्णुं ददृशुः ॥ ७ ॥

अन्वयः—दिवौकसः भोगिभोगासनासीनं तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहं तं ददृशुः ।

स्वर्ग में रहने वाले देवों ने शेषनाग के फणों के आसन पर विराजमान और उनके (शेषनाग के) फणामण्डल को देदीप्यमान मणिप्रभासे प्रकाशित शरीर वाले भगवान् विष्णु को देखा ॥ ७ ॥

श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले ।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ ८ ॥

श्रिय इति । कीदृशं विष्णुम्, पद्मे निषण्णाया उपविष्टायाः श्रियः क्षौमान्तरिता दुकूलव्यवहिता मेखला यस्य तस्मिन् । आस्तीर्णौ करपल्लवौ पाणिपल्लवौ यस्मिन् । विशेषणद्वयेनापि चरणयोः सौकुमार्यात्कटिमेखलास्पर्शासहत्वं सूच्यते । तस्मिन्नङ्के निक्षिप्तौ चरणौ येन तम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—पद्मनिषण्णायाः श्रियः क्षौमान्तरितमेखले आस्तीर्णकरपल्लवे अङ्के निक्षिप्तचरणं तं ददृशुरिति पूर्वेणान्वयः।

कमलासन पर विराजती लक्ष्मी के रेशमी वस्त्र से आच्छादित करधनी वाले बिछाये गये पल्लव के समान सुकोमल हाथों वाले अङ्क में दोनों चरण रखे हुए उस भगवान् विष्णु को देखा ॥ ८ ॥

प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।
दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ९ ॥

प्रबुद्धेति। पुनः कीदृशम्। प्रबुद्धे विकसिते पुण्डरीके सिताम्भोजे इवाक्षिणी यस्य तम्। दिवसे तु पुण्डरीकमेवाक्षि यस्येति विग्रहः। बालातपनिभमंशुकं यस्य तं, पीताम्बरधरमित्यर्थः। अन्यत्र बालातपव्याजांशुकमित्यर्थः। 'निभो व्याजसदृक्षयोः' इति विश्वः। प्रकृष्ट आरम्भो योगो येषां ते प्रारम्भाः प्रकृष्टोद्योगा योगिनः। तेषां सुखदर्शनम्। अन्यत्र प्रारम्भ आदौ सुखदर्शनं शारदं शरत्सम्बन्धिनं दिवसमिव स्थितम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् प्रारम्भसुखदर्शनं शारदं दिवसमिव।

विकसित पुण्डरीक के समान नेत्रोंवाले, प्रातःकालीन धूप के समान पीताम्बर धारण करने वाले, योगियों के लिए सुखददर्शन वाले अथवा शरत्कालीन दिन की भाँति प्रारम्भ में सुख देनेवाले उस भगवान् विष्णु को देखा ॥ ९ ॥

प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् ।
कौस्तुभाख्यमपां सारं बिभ्राणं बृहतोरसा ॥ १० ॥

प्रभेति। पुनः किंविधिम्। प्रभयाऽनुलिप्तमनुरञ्जितं श्रीवत्सं नाम लाञ्छनं येन तम्। लक्ष्म्या विभ्रमदर्पणः कौस्तुभ इत्याख्या यस्य तम्। अपां समुद्राणां सारं स्थिरांशम्। अम्मयमणिमित्यर्थः। बृहतोरसा विशालवक्षःस्थलेन बिभ्राणम् ॥ १० ॥

अन्वयः—प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् कौस्तुभाख्यं अपां सारम् बृहतोरसा बिभ्राणं तं ददृशुरितिपूर्वेणान्वयः।

दीप्ति से श्रीवत्स नामक लाञ्छन को अनुरञ्जित करने वाले, लक्ष्मी के श्रृंगार करने का दर्पण, कौस्तुभ मणि नामक जल के सारतम पदार्थ को विशाल वक्षःस्थल पर धारण किए हुए भगवान् विष्णु को देखा ॥ १० ॥

बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरणभूषितैः ।
आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम् ॥ ११ ॥

बाहुभिरिति । विटपाकारैः दोर्घपीवरैरित्यर्थः । दिव्याभरणभूषितैर्बाहुभिरुपलक्षितम् । अत एवापां सैन्धवानां मध्ये आविर्भूतमपरं द्वितीयं पारिजातमिव स्थितम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—विटपाकारैः दिव्याभरणभूषितैः बाहुभिः अपां मध्ये आविर्भूतं अपरं पारिजातमिव तं ददृशुरिति पूर्वेणान्वयः ।

वृक्ष की डालियों के समान लम्बी मोटी, दिव्य आभूषणोंसे अलंकृत भुजाओं से उपलक्षित जल के मध्य में प्रकट हुए दूसरे पारिजात के समान अवस्थित भगवान् विष्णु को देखा ॥ ११ ॥

दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः ।
हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥ १२ ॥

दैत्येति । दैत्यस्त्रीगण्डलेखानामसुराङ्गनागण्डस्थलीनां यो मदरागस्तं विलुम्पन्ति हरन्तीति मदरागविलोपिनः तैश्चेतनावद्भिः सजीवैर्हेतिभिः सुदर्शनादिभिः शस्त्रैः । 'रवेरर्चिश्च शस्त्रं च वह्निज्वाला च हेतयः' इत्यमरः । उदीरितजनस्वनं जयशब्दमुद्घोषयन्तीभिर्मूर्तिमतीभिरस्त्रदेवताभिरुपास्यमानमित्यर्थः ॥ १२ ॥

अन्वयः—दैत्यस्त्रीगण्डलेखानाम् मदरागविलोपिभिः चेतनावद्भिः हेतिभिः उदीरितजयस्वनम् ।

दैत्य-सुन्दरियों के कपोल स्थल की मद की लालिमा को लुप्त करनेवाले सचेतन (शंख चक्र गदा पद्म) आयुधों के द्वारा जय जय कार शब्द किये जाते हुए भगवान् विष्णु को देखा ॥ १२ ॥

मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा ।
उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ॥ १३ ॥

मुक्तेति । मुक्तो भगवत्सन्निधानात्त्यक्तः शेषेणाहीश्वरेण सह विरोधः सहजमपि वैरं येन तेन । कुलिशव्रणा वज्रव्रणा अमृताहरणकाल इन्द्रयुद्धे ये वज्रप्रहारास्त एव लक्ष्माणि यस्य स तेन । प्रबद्धोऽञ्जलिर्येन तेन प्राञ्जलिना, प्रबद्धाञ्ज-

७ वें श्लोक में आए "तं ददृशुः" का अन्वय १४ वें श्लोक तक प्रयुक्त हुआ है ।

लिनेत्यर्थः। विनीतेनानुद्धतेन गरुत्मतोपस्थितमुपासितम्। पुरा किल मातलिप्रार्थितेन भगवता तद्दुहितुर्गुणकेश्याः पत्युः कस्य चित्सर्पस्य गरुडादभयदाने कृते स्वविपक्षरक्षणक्षुभितं पक्षिराजं त्वद्बोढाहं त्वत्तो बलाढ्य इति गर्वितं स्ववामतर्जनीभारेणैव भङ्क्त्वा भगवान्विनिनायेति महाभारतीयां कथां सूचयति विनीतेनेत्यनेन ॥ १३ ॥

अन्वयः—मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्णा प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता उपस्थितम्। तं ददृशुः।

(भगवान् विष्णु की सन्निधि के प्रभाव से) शेषनाग के साथ स्वाभाविक विरोध को छोड़ देने वाले (अमृत लाने के समय) वज्र के प्रहार के घाव के चिह्न को धारण करने वाले करबद्ध विनीत पङ्खधारी गरुड के द्वारा उपासित विष्णु को देखा ॥ १३ ॥

योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः।
भृग्वादीननुगृह्णन्तं सौखशायनिकानृषीन् ॥ १४ ॥

योगेति। योगो मनसो विषयान्तरव्यावृत्तिः तद्रूपा या निद्रा तस्यान्तेऽवसाने विशदैः प्रसन्नैः पावनैः शोधनैरवलोकनैः सुखशयनं पृच्छन्तीति सौखशायनिकास्तान्। 'पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः' इत्युपसंख्यानाट्ठक्प्रत्ययः। भृग्वादीनृषीननुगृह्णन्तम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—योगनिद्रान्तविशदैः पावनैः अवलोकनैः सौखशायनिकान् भृग्वादीन् ऋषीन् अनुगृह्णन्तम् तं ददृशुरिति पूर्वेणान्वयः।

(चित्तवृत्तिनिरोध रूप) योग निद्रा के अन्त में प्रसन्न पवित्र अवलोकनों से "सुख से शयन किया" यह पूछने वाले भृगु आदि ऋषियों के ऊपर अनुग्रह करते हुए भगवान् विष्णु को देखा ॥ १४ ॥

प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम्।
अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥ १५ ॥

प्रणिपत्येति। अथ दर्शनानन्तरं सुराः सुरद्विषामसुराणां शमयित्रे विनाशकाय तस्मै विष्णवे प्रणिपत्य स्तुत्यं स्तोत्रार्हम्। 'एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्' इति क्यप्प्रत्ययः। वाक्च मनश्च वाङ्मनसे। 'अचतुर'—'इत्यच्प्रत्ययान्तो निपातः। तयोर्गोचरो विषयो न भवतीत्यवाङ्मनसगोचरः। यदाह—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेः। तमेनं विष्णुं तुष्टुवुरस्तुवन् ॥ १५ ॥

अन्वयः—अथ सुराः सुरद्विषाम् शमयित्रे तस्मै प्रणिपत्य स्तुत्यं अवाङ्-मनसगोचरं एनं तुष्टुवुः ।

दर्शन के अनन्तर देवता गणों ने सुरद्रोही असुरों के शमन करने वाले उस भगवान विष्णु को प्रणाम कर स्तुति करने योग्य एवं वाणी और मन से अगोचर इस विष्णु की स्तुति की ॥ १५ ॥

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते ।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने ॥ १६ ॥

नम इति । पूर्वमादौ विश्वसृजे विश्वस्रष्ट्रे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतेः । तदनु सर्गानन्तरं विश्वं बिभ्रते पुष्णते । अथ विश्वस्य संहर्त्रे । एवं त्रेधा सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृत्वेन स्थित आत्मा स्वरूपं यस्य तस्मै । ब्रह्मविष्णु-हरात्मने तुभ्यं नमः ॥ १६ ॥

अन्वयः—पूर्वं विश्वसृजे तदनु विश्वं बिभ्रते अथ विश्वस्य संहर्त्रे (एवं) त्रेधा स्थितात्मने तुभ्यं नमः ।

सर्व प्रथम विश्व की संरचना करने वाले तत्पश्चात् विश्व का पालन करने वाले और उसके बाद विश्व का संहार करने वाले इस प्रकार सृष्टि पालन संहार त्रिविध रूप से (ब्रह्मा-विष्णु-महेश के स्वरूप में) अवस्थित तुम्हें नमस्कार है ।

ननु कूटस्थस्य कथं त्रैरूप्यमित्याशङ्क्यौपाधिकमित्याह—

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥ १७ ॥

रसान्तराणीति । एकरसं मधुरैकरसं दिवि भवं दिव्यं पयो वर्षोदकं देशे देशे ऊषरादिदेशेऽन्यान् रसान् रसान्तराणि लवणादीनि यथाऽश्नुते प्राप्नोति । एव-मविक्रियो निर्विकारः, एकरूप इत्यर्थः । त्वं गुणेषु सत्त्वादिष्ववस्थाः स्रष्टृत्वादि-रूपा अश्नुषे ॥ १७ ॥

अन्वयः—एकरसं दिव्यं पयः देशे देशे रसान्तराणि यथा अश्नुते एवं अविक्रियः त्वम् गुणेषु अवस्थाः अश्नुषे ।

जिस प्रकार स्वभावतः एकरस (मधुर रस) आकाश का दिव्य जल भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रस स्थिति को प्राप्त होता है । उसी प्रकार स्वरूपतः

निर्विकार होते हुए भी तुम सत्वरजतमो गुणों में सृजन कर्तृत्व आदि रूपों को प्राप्त करते हो ॥ १७ ॥

अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः ।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥ १८ ॥

अमेय इति । हे देव ! त्वममेयो लोकैरियत्तया न परिच्छेद्यः । मितलोकः परिच्छिन्नलोकः । अनर्थी निःस्पृहः । आवहतीत्यावहः । पचाद्यच् । प्रार्थनानामावहः कामदः अजितोऽन्यैर्न जितः । जिष्णुर्जयशीलः । अत्यन्तमव्यक्तोऽतिसूक्ष्मरूपः । व्यक्तस्य स्थूलरूपस्य कारणम् ॥ १८ ॥

अन्वयः—हे देव ! त्वम् अमेयः मितलोकः अनर्थी प्रार्थनावहः अजितः जिष्णुः अत्यन्तं अव्यक्तः व्यक्तकारणम् ।

हे प्रभो ! तुम अपरिमित हो—किसी सीमा में आने योग्य नहीं हो, समस्त लोक में व्याप्त हो । तुम स्पृहा रहित हो । तुम दूसरों की प्रार्थना पूरी करते हो । तुम अन्यों से जीते नहीं गये हो । तुम जयशील हो । तुम अति सूक्ष्मरूप एवं व्यक्त विश्व के कारण हो ॥ १८ ॥

हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम् ।
दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥१९॥

हृदयस्थमिति । हे देव ! त्वां हृदयस्थं सर्वान्तर्यामितया नित्यसन्निहितं तथाप्यनासन्नमगम्यरूपत्वाद्विप्रकृष्टं च विदुः । सन्निकृष्टस्यापि विप्रकृष्टत्वमिति विरोधः । तथाऽकामं न कामोऽभिलाषोऽस्य तं परिपूर्णत्वान्निःस्पृहत्वाच्च निष्कामम् । तथापि तपस्विनं प्रशस्ततपोयुक्तं विदुः । यो निष्कामः स कथं तपः कुरुत इति विरोधः । परिहारस्तु ऋषिरूपेण दुस्तरं तपस्तप्यते । दयालुं परदुःखप्रहरणपरं तथाप्यनघस्पृष्टं नित्यानन्दस्वरूपत्वाददुःखिनं विदुः । 'अघं दुरितदुःखयोः' इति विश्वः । दयालुरदुःखी चेति विरोधः । 'ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः । परभाग्योपजीवी चषडेते नित्यदुःखिताः' ॥ इति महाभारते । पुराणमनादिमजरं निर्विकारत्वादक्षरं विदुः । चिरन्तनं न जीर्यत इति विरोधालंकारः । उक्तं च—'आभासत्वे विरोधस्य विरोधालङ्कृतिर्मता' इति । विरोधेन चालौकिकमहिमत्वं व्यज्यते॥१९॥

अन्वयः—हे देव ! त्वां हृदयस्थम् अनासन्नम्, अकामम् तपस्विनम्, दयालुं अनघस्पृष्टम् पुराणम् अजरम् विदुः ।

हे प्रभो ! तुम्हें हृदय में स्थित होते हुए भी दूरस्थ, निष्काम होते हुए भी तपस्वी, (दूसरे के दुःखको दूर करने वाला) दयालु होते हुए भी दुःख के स्पर्श से रहित, प्राचीन होते हुए भी वार्द्धक्य रहित जानते हैं ॥ १९ ॥

सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः ।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥ २० ॥

सर्वज्ञ इति । त्वं सर्वं जानासीति सर्वज्ञः । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः । अविज्ञातः, न केनापि विज्ञात इत्यर्थः । त्वं सर्वस्य योनिः कारणं त्वमात्मन एव भवतीत्यात्मभूः स्वयम्भूः, न ते किञ्चित्कारणमस्तीत्यर्थः । त्वं सर्वस्य प्रभुः त्वमनीशः त्वमेकः सर्वरूपभाक् । त्वमेक एव सर्वात्मना वर्तस इत्यर्थः ॥ २० ॥

अन्वयः—त्वं सर्वज्ञः, अविज्ञातः । त्वं सर्वयोनिः आत्मभूः त्वं सर्वप्रभुः अनीशः, त्वं एकः सर्वरूपभाक् ।

हे ईश्वर ! तुम सब कुछ जानते हो; तुम्हें कोई नहीं जानता । तुम सबकी उत्पत्ति के कारण हो और स्वयं प्रादुर्भूत होनेवाले हो । तुम सबके प्रभु हो, तुम्हारा कोई प्रभु नहीं है । तुम एक हो और सब रूप धारण करते हो ॥ २० ॥

सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम् ।
सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम् ॥ २१ ॥

सप्तेति । हे देव ! त्वां सप्तभिः सामभी रथन्तरबृहद्रथन्तरवामदेव्यवैरूप्यपावमान्यवैराजचान्द्रमसैरुपगीतम् 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्युत्तरपदसमासः । [1]सप्तानामर्णवानां जलं सप्तार्णवजलम् । पूर्ववत्समासः । तत्र शेते यः स सप्तार्णव जलेशयः तम् । 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्यलुक् । [2]सप्तार्चिर्मुखं यस्य तम् 'अग्निमुखा वै देवाः' इति श्रुतेः । सप्तानां[3] लोकानां भूर्भुवःस्वरादीनामेकसंश्रयम् एवंभूतमाचख्युः ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे प्रभो ! त्वां सप्तसामोपगीतम्, सप्तार्णवजलेशयम्, सप्तार्चिर्मुखम्, सप्तलोकैकसंश्रयम् आचख्युः ।

---

१. 'लवणक्षीरदध्याज्यसुरेक्षुस्वादु वारयः ।' इति (अभिधानचिन्तामणि ४।१४१) ।

२. 'कराली धूमिनी श्वेता लोहिता नीललोहिता ।
सुवर्णा पद्मरागा च सप्त जिह्वा विभावसोः' इति (वाचस्पत्याभिधानम्) ।

३. 'भूर्भुवःस्वर्जनःमहस्तपः सत्यम्' इति सप्त लोकाः ।

हे ईश्वर तुम्हें सात साममन्त्रों (रथन्तर-वृहद्रथन्तर-वामदेव्य-वैरूप्य-पावमान्य-वैराज-और चान्द्रमस) से स्तुति किया गया, सात समुद्र के जल में शयन करने वाला, सात शिखाओं वाली अग्नि रूपी मुखवाला और (भूः भुवः स्वः महः जनः तपः और सत्यः इन) सातों लोकों का एकमात्र आश्रय कहते हैं ॥ २१ ॥

चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः ।
चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात् ॥ २२ ॥

चतुर्वर्गफलमिति । चतुर्णां धर्मार्थकाममोक्षाणां वर्गश्चतुर्वर्गः । 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः' इत्यमरः । तत्फलकं यज्ज्ञानम् । चत्वारि युगानि कृतत्रेतादीनि यासु ताश्चतुर्युगाः कालावस्थाः कालपरिमाणम् । चत्वारो वर्णाः प्रकृता उच्यन्ते यस्मिन्निति चतुर्वर्णमयः, चातुर्वर्ण्यप्रचुर इत्यर्थः । तत्प्रकृतवचने मयट् । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेन तद्धितार्थे विषये तत्पुरुषः । स लोकः इत्येवं रूपं सर्वं चतुर्मुखाच्चतुर्मुखरूपिणस्त्वत्तः जातमिति शेषः । 'इदंसर्वमसृजत यदिदं किञ्च' इति श्रुतेः ॥ २२ ॥

अन्वयः—चतुर्वर्गफलं ज्ञानम्, चतुर्युगाः कालावस्थाः चतुर्वर्णमयः लोकः, सर्वं चतुर्मुखात् त्वत्तः जातमिति शेषः ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के फल को देनेवाला ज्ञान, सत्ययुग त्रेता-द्वापर और कलियुग इन चारों कालों की अवस्थायें, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों से भरा विश्व, यह सब चारमुखधारी तुमसे ही उत्पन्न हुआ है ॥ २२ ॥

अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् ।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये ॥ २३ ॥

अभ्यासेति । अभ्यासेन निगृहीतं विषयान्तरेभ्यो निवर्तितम् । तेन मनसा योगिनो हृदयाश्रयं हृत्पद्मस्थं ज्योतिर्मयं त्वां विमुक्तये मोक्षार्थं विचिन्वन्त्यन्विष्यन्ति ध्यायन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥

अन्वयः—योगिनः हृदयाश्रयम् ज्योतिर्मयम् त्वाम् अभ्यासनिगृहीतेन मनसा विमुक्तये विचिन्वन्ति ।

योगिजन हृदय में स्थित प्रकाशमय आपको अभ्यास के द्वारा वशीभूत मन से मोक्ष के लिए अन्वेषण करते हैं ॥ २३ ॥

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥ २४ ॥

अजस्येति। न जायत इत्यजः। 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः। तस्याजस्य जन्मशून्यस्यापि जन्म गृह्णतः। मत्स्यादिरूपेण जायमानस्य। निरीहस्य चेष्टारहितस्यापि हतद्विषः शत्रुघातिनो जागरूकस्य सर्वसाक्षितया नित्यप्रबुद्धस्यापि स्वपतो योगनिद्रामनुभवतः। इत्थं विरुद्धचेष्टस्य तव याथार्थ्यं को वेद वेत्ति। 'विदो लटो वा' इति णलादेशः ॥ २४ ॥

अन्वयः—अजस्य जन्म गृह्णतः निरीहस्य हतद्विषः, जागरूकस्य स्वपतः तव याथार्थ्यं कः वेद।

अजन्मा होते हुए भी जन्म ग्रहण करने वाले, निश्चेष्ट-निस्पृह होते हुए भी शत्रु-वध करने वाले, नित्यप्रबुद्ध (जागरूक) होते हुए भी योगनिद्रा में शयन का अनुभव करने वाले आपकी वास्तविकता कौन जानता है ? ॥ २४ ॥

शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः।
पर्याप्तोऽसि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम् ॥ २५ ॥

शब्दादीनिति। किञ्च, कृष्णादिरूपेण शब्दादीन्विषयान्भोक्तुम्। नरनारायणादिरूपेण दुश्चरं तपश्चरितुम्। तथा दैत्यमर्दनेन प्रजाः पातुम्। औदासीन्येन ताटस्थ्येन वर्तितुं च पर्याप्तः समर्थोऽसि। तथा भोगतपसोः पालनौदासीन्ययोश्च परस्परविरुद्धयोराचरणे त्वदन्यः कः समर्थ इत्यर्थः ॥ २५ ॥

अन्वयः—शब्दादीन् विषयान् भोक्तुम्, दुश्चरं तपः चरितुम् प्रजाः पातुम्, औदासीन्येन वर्तितुम् (च) पर्याप्तः असि।

हे ईश्वर तुम (राम-कृष्णादि नररूपधारण कर) शब्द आदि विषयों को भोगने के लिए, (नर-नारायण रूप में) कठोर तपश्चरण के लिए, (दैत्यसंहार-दुष्ट निग्रह एवं शिष्ट-अनुग्रह द्वारा) प्रजाओं को पालने के लिए तथा (भोग और तप के पालन और) उदासीनतापूर्वक व्यवहार के लिए सक्षम हो ॥ २५ ॥

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्ना पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ २६ ॥

बहुधेति। आगमैस्त्रयीसांख्यादिभिर्दर्शनैर्बहुधा भिन्ना अपि सिद्धिहेतवः पुरुषार्थसाधकाः पन्थान उपाया जाह्नव्या इमे जाह्नवीया गाङ्गाः। 'वृद्धाच्छः' इति

छप्रत्ययः । ओघाः प्रवाहाः तेऽप्यागमैरागतिभिर्बहुधा भिन्नाः अपि सिद्धिहेतवश्च, अर्णव इव त्वय्येव निपतन्ति प्रविशन्ति । येन केनापि रूपेण त्वामेवोपयान्तीत्यर्थः । यथाहुराचार्याः— 'किं बहुना कारवोऽपि विश्वकर्मेत्युपासते' इति ॥ २६ ॥

अन्वयः—आगमैः बहुधा भिन्नाः अपि सिद्धिहेतवः पन्थानः जाह्नवीया ओघा अर्णवे इव त्वयि एव निपतन्ति ।

जिस प्रकार विभिन्न गति से आने वाला गंगा का प्रवाह सागर में ही गिरता है उसी प्रकार आगम-शास्त्रों से प्रायः भिन्न-भिन्न होने पर भी पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि के साधन मार्ग अन्ततो गत्वा तुममें ही मिल जाते हैं ॥ २६ ॥

त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् ।
गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयःसन्निवृत्तये ॥ २७ ॥

त्वयीति । त्वय्यावेशितं निवेशितं चित्तं यैस्तेषां तुभ्यं समर्पितानि कर्माणि यैस्तेषां 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि कौन्तेय प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।' इति भगवद्वचनात् । वीतरागाणां विरक्तानामभूयःसन्निवृत्तयेऽपुनरावृत्तये मोक्षायेत्यर्थः । त्वमेव गतिः साधनम् । 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति । नान्य पन्थः विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेरित्यर्थः ॥ २७ ॥

अन्वयः—त्वयि आवेशितचित्तानाम् त्वत्समर्पितकर्मणाम् वीतरागाणाम् अभूयः सन्निवृत्तये त्वं गतिः ।

जिन्होंने तुममें अपना चित्त लगा दिया है, और समस्त कर्म तुम्हारे ऊपर समर्पित कर दिया है, उन विरागियों के इस संसार में पुनः न लौटने के लिए (मोक्ष के लिए) तुम्हीं शरण देने वाले हो ॥ २७ ॥

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥ २८ ॥

प्रत्यक्ष इति । प्रत्यक्षः प्रत्यक्षप्रमाणगम्योऽपि तव मह्यादिः पृथिव्यादिर्महिमा ऐश्वर्यमपरिच्छेद्यः इयत्तया नावधार्यः । आप्तवाग्वेदः । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुतेः । अनुमानं—क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद्घटवदित्यादिकं ताभ्यां साध्यं गम्यं त्वां प्रति का कथा प्रत्यक्षमपि त्वत्कृतं जगदपरिच्छेद्यम् । तत्कारणमप्रत्यक्षस्त्वमपरिच्छेद्य इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ २८ ॥

अन्वयः—प्रत्यक्षः अपि तव मह्यादिः महिमा अपरिच्छेद्यः । आप्तवागनुमानाभ्याम् साध्यं त्वां प्रति का कथा ।

(जब) प्रत्यक्ष होते हुए भी तुम्हारी पृथ्वी आदि की महिमा असीमित है (तो) यथार्थवादी वेद वचनों और अनुमान प्रमाणों के द्वारा प्रमाणित होने योग्य तुम्हारी तो बात ही क्या है ? ॥ २८ ॥

केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः ।
अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥ २९ ॥

केवलमिति । स्मरणेन केवलं कृत्स्नम् । 'केवलः कृत्स्नमेकश्च' इति शाश्वतः पुरुषं स्मर्तारं जनं पुनासि यतः, यदित्यर्थः । अनेन स्मृतिकार्येणैव त्वयि त्वद्विषये याः शेषाः अवशिष्टा वृत्तयो दर्शनस्पर्शनादयो व्यापारास्ता निवेदितफला विज्ञापितकार्याः । तव स्मरणस्यैवैतत्फलं दर्शनादीनां तु कियदिति नावधारयाम इति भावः ॥ २९ ॥

अन्वयः—स्मरणेन एवं केवलं पुरुषं पुनासि यतः अनेन त्वयि शेषाः वृत्तयः निवेदितफलाः ।

जब तुम केवल स्मरण करने मात्र से पुरुष को पावन कर देते हो तो इस (स्मरण कार्य) से तुम्हारे विषय में अवशिष्ट (दर्शन-स्पर्शन-वन्दन-पादसेवन आदि) वृत्तियाँ विशेष रूप से ज्ञापित फल देने वाली हैं ॥ २९ ॥

उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः ।
स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥ ३० ॥

उदधेरिति । उदधेरुदकं धीयते इति उदधिस्तस्य रत्नानीव । विवस्वतस्तेजांसीव । दूराण्यवाङ्मनसगोचराणि ते चरितानि स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते । निःशेषं स्तोतुं न शक्यन्त इत्यर्थः ॥ ३० ॥

अन्वयः—उदधेः रत्नानि इव विवस्वतः तेजांसि इव दूराणि ते चरितानि स्तुतिभ्यः व्यतिरिच्यन्ते ।

सागर के रत्नों और सूर्य के तेज के समान तुम्हारे मन-वाणी से अगम्य चरित्र स्तुतियों से बहुत अधिक हैं ॥ ३० ॥

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते ।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥ ३१ ॥

अनवाप्तमिति । अनवाप्तमप्राप्तम् अवाप्तव्यं प्राप्तव्यं ते तव किञ्चन किञ्चिदपि न विद्यते, नित्यपरिपूर्णत्वादिति भावः । तर्हि किंनिबन्धने जन्मकर्मणी तत्राह—

लोकेति। एको लोकानुग्रह एवं: ते तव जन्मकर्मणो हेतुः। परमकारुणिकस्य ते परार्थैव प्रवृत्तिः न स्वार्थेत्यर्थः॥ ३१॥

अन्वयः—अनवाप्तं अवाप्तव्यं ते किञ्चन न विद्यते एकः लोकानुग्रहः एव ते जन्मकर्मणोः हेतुः।

ऐसा कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं है जो तुम्हें प्राप्त न हो; एकमात्र लोक का अनुग्रह ही तुम्हारे जन्म और कर्म का कारण है। (तुम केवल लोक कल्याण के लिये जन्म-कर्म करते हो॥ ३१॥

महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः।
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया॥ ३२॥

महिमानमिति। तव महिमानमुत्कीर्त्य वचः संह्रियत इति यत्। तद्वचः संहरणं श्रमेण वाग्व्यापारश्रान्त्या। अशक्त्या कात्स्न्र्येन वक्तुमशक्यत्वाद्वा। गुणानामियत्तया इदं परिमाणमस्य इयान् तस्य भावः इयत्ता तथा एतावन्मात्रतया न, तेषामानन्त्यादिति भावः॥ ३२॥

अन्वयः—तव महिमानं उत्कृत्य वचः संह्रियते यत् तत् श्रमेण अशक्त्या वा गुणानामियत्तया न।

तुम्हारी महिमा का संकीर्तन कर जो वाणी उपरत हो जाती वह श्रम के कारण अथवा अशिक्त से ही, न कि तुम्हारे गुणों की इयत्ता से॥ ३२॥

इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोक्षजम्।
भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमेष्ठिनः॥ ३३॥

इतीति। इति से सुरास्तमधोभूतमक्षजमिन्द्रियजं ज्ञानं यस्मिंस्तमधोक्षजम्। विष्णुं प्रसादयामासुः प्रसन्नं चकुः। हि यस्मात्परमेष्ठिनः सर्वोत्तमस्य तस्य देवस्य सा देवैः कृता भूतार्थव्याहृतिभूतस्य सतयस्यार्थस्य व्याहृतिरुक्तिः। 'युक्ते क्ष्मादावृते भूतम्' इत्यमरः। न स्तुतिर्न प्रशंसामात्रम्। महान्तो हि यथाकथञ्चिन्न सुलभा इति भावः। परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी। 'परमे कित्' इत्युणादिसूत्रेण तिष्ठतेरिनिः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक्। 'स्थास्थिन्स्थूणाम्–' इति वक्तव्यात्षत्वम्॥ ३३॥

अन्वयः—इति ते सुराः तं अधोक्षजम् प्रसादयामासुः। हि परमेष्ठिनः सा भूतार्थव्याहृतिः न स्तुतिः।

(१६ से ३२ श्लोक तक की गयी स्तुति-वाणी से) इस प्रकार उन देवों ने जिसमें इन्द्रिय-जन्य-ज्ञान अधोमुखी हो गए हैं उस विष्णु को प्रसन्न कर लिया, । क्योंकि वह (देवस्तवन) परम पुरुषोत्तम के सत्य अर्थ का कथन था न कि प्रशंसा मात्र ॥ ३३ ॥

तस्मै कुशलसम्प्रश्नव्यञ्जितप्रीतये सुराः ।
भयमप्रलयोद्वेलादाचख्युर्नैर्ऋतोदधेः ॥ ३४ ॥

तस्मा इति । सुरा देवाः कुशलस्य सम्प्रश्नेन व्यञ्जिता प्रकटीकृता प्रीतिर्यस्य तस्मै लक्षितप्रसादायेत्यर्थः । अन्यथा अनवसरविज्ञप्तिर्मुखराणामिव निष्फला स्यादिति भावः । तस्मै विष्णवेऽप्रलये प्रलयाभावेऽप्युद्वेलादुन्मर्यादात् । नैर्ऋतो राक्षसः स एवोदधिः । तस्माद्भयमाचख्युः कथितवन्तः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—सुराः कुशलसम्प्रश्नव्यञ्जितप्रीतये तस्मै अप्रलयोद्वेलात् नैर्ऋतोदधेः भयं आचख्युः ।

देवों ने कुशल समाचार पूछने से प्रसन्नता प्रकट करने वाले भगवान् विष्णु से बिना प्रलय के ही सीमा-मर्यादा का उल्लङ्घन करने वाले राक्षसरूपी समुद्र से भय का निवेदन किया ।

अथ वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना ।
स्वरेणोवाच भगवान्परिभूतार्णवध्वनिः ॥ ३५ ॥

अथेति । अथ वेलायामब्धिकूले समासन्नानां सन्निकृष्टानां शैलानां रन्ध्रेषु गह्वरेष्वनुनादिना प्रतिध्वनिमता स्वरेण परिभूतार्णवध्वनिस्तिरस्कृतसमुद्रघोषो भगवानुवाच ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अथ वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना स्वरेण परिभूतार्णवध्वनिः भगवान् उवाच ।

इसके पश्चात् सागर-तटवर्ती पर्वत की गुफा में प्रतिध्वनित स्वर से समुद्र के शब्द को पराजित करने वाले भगवान ने कहा ।

पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता ।
बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती ॥३६॥

पुराणस्येति । पुराणस्य चिरन्तनस्य कवेस्तस्य भगवतो वर्णस्थानेषूरःकण्ठादिषु समीरिता सम्यगुच्चारिता । अत एव कृतः सम्पादितः संस्कारः साधुत्वस्पष्ट-

तादिप्रयत्नो यस्याः सा भारती वाणी चरितार्था कृतार्था बभूवैव। एवकारस्त्व-सम्भावनाविपरीतभावनाव्युदासार्थः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—पुराणस्य कवेः तस्य वर्णस्थानसमीरिताकृतसंस्कारा भारती चरितार्था बभूव एव।

पुरातन कवि उस भगवान् विष्णु के वर्णों के स्थानों—कण्ठतालु आदि से सम्यक् उच्चारित होने के कारण संस्कार सम्पन्न भाषा कृतकृत्य हो गयी।

बभौ सदशनज्योत्स्ना सा विभोर्वदनोद्गता।
निर्यातशेषा चरणाद्गङ्गेवोर्ध्वप्रवर्तिनी ॥ ३७ ॥

बभाविति। विभोर्विष्णोर्वदनादुद्गता निःसृता। सदशनज्योत्स्ना दन्त-कान्तिसहिता। इदं च विशेषणं धावल्यातिशयार्थम्। अत एव सा भारती। चरणादङ्घ्रेर्निर्याता चासौ शेषा च निर्यातशेषा, निःसृतावशिष्टेत्यर्थः। 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु' इत्यनुवर्त्य 'पुंवत्क-र्मधारयजातीयदेशीयेषु' इति पुंवद्भावः। निर्यातशब्दस्य या निर्याता सावशेषा सा गङ्गेवेति सामानाधिकरण्यनिर्वाहः। निर्यातायाः शेषेति विग्रहे पुंवद्भावो दुर्घट एव। ऊर्ध्वप्रवर्तिन्यूर्ध्ववाहिनी गङ्गेव बभौ इत्युत्प्रेक्षा ॥ ३७ ॥

अन्वयः—विभोः वदनोद्गता सदशनज्योत्स्ना सा चरणाद् निर्यातशेषा ऊर्ध्वप्रवर्तिनी गङ्गा इव बभौ।

सर्वव्यापक भगवान् विष्णु के मुख से उच्चरित दाँतों की कान्ति से युक्त वह वाणी मानो उसी प्रकार सुशोभित हुई जिस प्रकार चरणों से निकलकर अवशेष ऊपर की ओर प्रवाहित होने वाली गङ्गा ॥ ३७ ॥

यदाह भगवांस्तदाह—

जाने वो रक्षसाऽऽक्रान्तावनुभावपराक्रमौ।
अङ्गिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ ॥ ३८ ॥

जान इति। हे देवाः! वो युष्माकमनुभावपराक्रमौ महिमपुरुषकारौ रक्षसा रावणेन। अङ्गिनां शरीरिणां प्रथममध्यमावुभौ गुणौ सत्त्वरजसी तमसेव तमोगुणेनेव। 'राहौ ध्वान्ते गुणे तमः' इत्यमरः। आक्रान्तौ जाने। वाक्यार्थः कर्म।३८।

अन्वयः—(हे देवा!) वः अनुभावपराक्रमौ रक्षसा अङ्गिनां प्रथममध्यमौ उभौ गुणौ तमसा इव आक्रान्तौ जाने।

हे देवगण ! मैं यह जानता हूँ कि आप लोगों की महिमा और पुरुषार्थ दोनों राक्षस के द्वारा उसी प्रकार दबा दिये गए हैं जिस प्रकार जीवात्मा के प्रथम और मध्यम (सत्वगुण तथा रजोगुण) दोनों गुण तमोगुण से आक्रान्त हो जाते हैं ॥ ३८ ॥

विदितं तप्यमानं च तेन मे भुवनत्रयम् ।
अकामोपनतेनेव साधोर्हृदयमेनसा ॥ ३९ ॥

विदितमिव । किञ्च अकामेनानिच्छयोपनतेन प्रमादादागतेनैनसा पापेन साधोः सज्जनस्य हृदयमिव । तेन रक्षसा तप्यमानं सन्तप्यमानम् । तपेर्मौवादिकात्कर्मणि शानच् । भुवनत्रयं च मे विदितम् । मया ज्ञायत इत्यर्थः । 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इत्यनेन वर्तमाने क्तः । 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी ॥ ३९ ॥

अन्वयः—(किञ्च) अकामोपनतेन एनसा साधोः हृदयमिव तेन तप्यमानं भुवनत्रयं च मे विदितम् ।

मुझे यह भी विदित है कि जिस प्रकार न चाहते हुए भी आए हुए पाप से साधु का हृदय सन्तप्त हो जाता है उसी प्रकार उस राक्षस से त्रैलोक्य संत्रस्त है ॥ ३९ ॥

कार्येषु चैककार्यत्वादभ्यर्थ्योऽस्मि न वज्रिणा ।
स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते ॥ ४० ॥

कार्येष्विति । किञ्च एककार्यत्वात् एकं कार्यं ययोस्तौ तयोर्भावः एककार्यत्वं तस्मादावयोरेककार्यकत्वाद्धेतोः । कार्येषु कर्तव्यार्थेषु विषयेषु वज्रिणेन्द्रेणाभ्यर्थ्यं इदं कुर्विति प्रार्थनीयो नास्मि । तथा हि । वातः स्वयमेवाग्नेः सारथ्यं साहाय्यं प्रतिपद्यते प्राप्नोति । न तु वह्निप्रार्थनया इत्येवकारार्थः प्रेक्षावतां हि स्वार्थेषु स्वत एव प्रवृत्तिः, न तु परप्रार्थनया । स्वार्थश्चायं ममापीत्यर्थः ॥ ४० ॥

अन्वयः—एक कार्यत्वात् कार्येषु वज्रिणा अभ्यर्थ्यः न अस्मि हि वातः स्वयमेव अग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते ।

(शिष्ट अनुग्रह और दुष्टनिग्रह रूप) कार्यों में (हमारी और आप सभी देवों की) एक समानता होने के कारण मैं इन्द्र के द्वारा प्रार्थना करने योग्य नहीं हूँ । (इन्द्र को मुझसे यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि मैं असुर विनाश आदि कार्य करूँ । वह तो हमारा भी उद्देश्य ही है ।) क्योंकि वायु स्वयं ही अग्नि की सहायता करती है ॥ ४० ॥

पुरा किल त्रिपुरारिप्रीणनाय स्वशिरांसि छिन्दता दशकन्धरेण यद्दशमं शिरोऽवशेषितं तन्मच्चक्रार्थमित्याह—

स्वासिधारापरिहृतः कामं चक्रस्य तेन मे ।
स्थापितो दशमो मूर्धा लभ्यांश इव रक्षसा ॥ ४१ ॥

स्वेति । स्वासिधारया स्वखड्गधारया परिहृतः, अच्छिन्न इत्यर्थः । दशमो मूर्धा मे मम चक्रस्य कामं पर्याप्तो लभ्यांशः प्राप्तव्यभाग इव तेन रक्षसा स्थापितः । तत्सर्वथा तमहं हनिष्यामीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—स्वासिधारापरिहृतः दशमो मूर्धा मे चक्रस्य कामं लभ्यांशः इव तेन रक्षसा स्थापितः ।

उसके द्वारा अपनी तलवार की धार से छोड़ा गया दसवाँ मस्तक मेरे सुदर्शन चक्र का पर्याप्त प्राप्तव्य अंश है, इसीलिये मानो उस राक्षसने इसे (दशम मस्तक को) राख छोड़ा है ॥ ४१ ॥

तर्हि किं प्रागुपेक्षितमत आह—

स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मनः ।
अत्यारूढं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः ॥ ४२ ॥

स्रष्टुरिति । किन्तु स्रष्टुर्ब्रह्मणो वरातिसर्गाद्वरदानाद्धेतोः । मया तस्य दुरात्मनो रिपो रावणस्यात्यारूढमत्यारोहणम्, अतिवृद्धिरित्यर्थः । नपुंसके भावे क्तः । भोगिनः सर्पस्यात्यारूढं चन्दनेनेव सोढम् । चन्दनद्रुमस्यापि तथा सहनं स्रष्टुर्नियतेरिति द्रष्टव्यम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—तु स्रष्टुः वरातिसर्गात् मया तस्य दुरात्मनः रिपोः अत्यारूढं भोगिनः अत्यारूढं चन्दनेन इव सोढम् ।

किन्तु विधाता के वरदान के कारण मैंने उस दुष्टात्मा शत्रु की अतिशय वृद्धि उसी प्रकार सहन की, जैसे सर्प की अतिवृद्धि चन्दन सहन करता है ॥४२॥

सम्प्रति वरस्वरूपमाह—

धातारं तपसा प्रीतं ययाचे स हि राक्षसः ।
दैवात्[1] सर्गादवध्यत्वं मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखः ॥४३॥

---

१. देवसर्गोऽष्टविधः श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धे उक्तस्तद्यथा—

धातारमिति। स राक्षसस्तपसा प्रीतं सन्तुष्टं धातारं ब्रह्माणम्। मर्त्येषु विषये आस्थापराङ्मुख आदरविमुखः सन्, मर्त्याननादृत्येत्यर्थः। देवादष्टविधात्सर्गाद्दैव सृष्टेरवध्यत्वं ययाचे हि ॥ ४३ ॥

अन्वयः—स राक्षसः तपसा प्रीतं धातारं मर्त्येषु आस्थापराङ्मुखः (सन्) दैवात् सर्गात् अवध्यत्वं ययाचे हि।

उस राक्षस ने तपस्या से प्रसन्न ब्रह्मा से मनुष्यों के विषय में आस्था से विमुख होते हुए (मनुष्यों को नगण्य मानते हुए) आठ प्रकार की दैव सृष्टि से वध न किये जाने योग्य होने की प्रार्थना की है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में आठ प्रकार की देवसृष्टि बतायी गयी है जैसा टिप्पणी में दिया गया है।

तर्हि का गतिरित्याशङ्क्य मनुष्यावतारेण हनिष्यामीत्याह—

सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिक्षमम्।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरःकमलोच्चयम् ॥ ४४ ॥

स इति। सोऽहं। दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथिः। 'अत इञ्' इति इञ्प्रत्ययः। रामो भूत्वा तीक्ष्णैः शरैस्तस्य रावणस्य शिरांस्येव कमलानि तेषामुच्चयं राशिं रणभूमेर्बलिक्षमं पूजार्हं करिष्यामि। पुष्पविशदा हि पूजेति भावः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—सोऽहं दाशरथिः भूत्वा तीक्ष्णैः शरैः तच्छिरः कमलोच्चयं रणभूमेः बलिक्षमम् करिष्यामि।

वह मैं दशरथ का पुत्र (राम) होकर तीक्ष्ण बाणों से उस रावण के शिर-रूपी कमलों के समूह को युद्धभूमि की बलि के योग्य करूँगा। (युद्धस्थल में मैं अपने बाणों से उसके शिर-कमल की बलि दूँगा) ॥ ४४ ॥

अचिराद्यज्वभिर्भागं कल्पितं विधिवत्पुनः।
मायाविभिरनालीढमादास्यध्वे निशाचरैः ॥ ४५ ॥

'देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ॥
भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः।' इति।

अचिरादिति । हे देवः ! यज्वभिर्याज्ञिकैर्विधिवत्कल्पितमुपहृतं भागं हविर्भागं मायाविभिर्मायावद्भिः । 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति विनिप्रत्ययः । निशाचरै रक्षोभिरनालीढमनास्वादितं यथा तथाऽचिरात्पुनरादास्यध्वे ग्रहीष्यध्वे ॥ ४५ ॥

अन्वयः—यज्वभिः विधिवत् कल्पितं भागं मायाविभिः निशाचरैः अनालीढं अचिरात् पुनः आदास्यध्वे ।

(हे देवो !) यज्ञकर्ता—याज्ञिकों के द्वारा विधिपूर्वक प्रदत्त भाग को मायावी राक्षसों द्वारा विना आस्वाद ग्रहण किये शीघ्र ही पुनः पाओगे ॥४६॥

वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि ।
पुष्पकालोकसंक्षोभं मेघावरणतत्पराः ॥ ४६ ॥

वैमानिका इति । मरुतां देवानां यद्वा वायूनां पथि व्योम्नि वैमानिका विमानैश्चरन्तः । 'चरति' इति ठक्प्रत्ययः । मेघावरणतत्परा रावणभयान्मेघेष्वन्तर्धानतत्पराः पुण्यकृतः सुकृतिनः पुष्पकालोकेन यदृच्छया रावणविमानदर्शनेन यः संक्षोभो भयचकितं तं त्यजन्तु । 'संक्षोभो भयचकितम्' इति शब्दार्णवः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—मरुतां पथि वैमानिकाः मेघावरणतत्पराः पुण्यकृतः पुष्पकालोकसंक्षोभं त्यजन्तु ।

देवताओं अथवा वायुओं के मार्ग में (आकाश में) विमान से चलने वाले बादलों की ओट में छिपने के लिए तत्पर पुण्य करने वाले देवगण (उस रावणके) पुष्पक यान के देखने से होने वाले भय से चकित होना छोड़ दें ॥ ४६ ॥

मोक्ष्यध्वे स्वर्गबन्दीनां वेणीबन्धानदूषितान् ।
शापयन्त्रितपौलस्त्यबलात्कारकचग्रहैः ॥ ४७ ॥

मोक्ष्यध्व इति । हे देवाः ! यूयं शापेन नलकूबरशापेन यन्त्रिताः प्रतिबद्धाः पौलस्त्यस्य रावणस्य बलात्कारेण ये कचग्रहाः केशाकर्षास्तैरदूषिताननुपहतान्स्वर्गबन्दीनां हृतस्वर्गाङ्गनानां वेणीबन्धान्मोक्ष्यध्वे । पुरा किल नलकूबरेणात्मानभिसरन्त्या रम्भाया बलात्कारेण सम्भोगात्क्रुद्धेन दुरात्मा रावणः शप्तः—'स्त्रीणां बलाद्ग्रहणे मूर्धा ते शतधा भविष्यती'ति भारतीया कथानुसन्धेया ॥ ४७ ॥

अन्वयः—(हे देवाः यूयम्) शापयन्त्रित-पौलस्त्यबलात्कार-कचग्रहैः अदूषितान् स्वर्गबन्दीनां वेणीबन्धान् मोक्ष्यध्वे ।

(हे देवों तुम लोग) (कुबेर पुत्र नल कूबर के) शाप से नियन्त्रित पुलस्त्य

पुत्र रावण के बलात्कार पूर्वक केशों के न पकड़ने से अदूषित स्वर्ग की बन्दी देवाङ्गनाओं के केशपाशों को खोलो ॥ ४७ ॥

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥ ४८ ॥

रावणेति । स कृष्णो विष्णुः स एव मेघो नीलमेघश्च । विश्रवसोऽपत्यं पुमानिति विग्रहे रावणः । विश्रवःशब्दाच्छिवादित्वादणि । 'विश्रवसः विश्रवणरवणौ' इत्यन्तर्गणसूत्रेण विश्रवःशब्दस्य वृत्तिविषये रवणादेशे रावण इति सिद्धम् । स एवावग्रहो वर्षप्रतिवन्धः तेन क्लान्तं म्लानं मरुतो देवा एव सस्यं तत् । इत्येवंरूपेण वागमृतेन वाक्सलिलेन । 'अमृतं यज्ञशेषे स्यात्पीयूषे सलिलेऽमृतम्' इति विश्वः । अभिवृष्याभिषिच्य तिरोदधेऽन्तर्दधे ॥ ४८ ॥

अन्वयः—सः कृष्णमेघः रावणावग्रहक्लान्तम् मरुत्सस्यम् इति वागमृतेन अभिवृष्य तिरोदधे ।

वह काले बादल के समान अथवा कृष्ण (विष्णु) रूपी मेघ रावणरूपी वर्षा के प्रतिबन्ध से मुरझाये देवता रूपी धान को इस प्रकार वचनरूपी जल से सींच कर अन्तर्धान हो गया ॥ ४८ ॥

पुरुहूतप्रभृतयः सुरकार्योद्यतं सुराः ।
अंशैरनुययुर्विष्णुं पुष्पैर्वायुमिव द्रुमाः ॥ ४९ ॥

पुरुहूतेति । पुरुहूतप्रभृतय इन्द्राद्याः सुराः सुरकार्ये रावणवधरूप उद्यतं विष्णुमंशैर्मात्राभिः । द्रुमाः पुष्पैः स्वांशैर्वायुमिव अनुययुः सुग्रीवादिरूपेण वानरयोनिषु जाता इत्यभिप्रायः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—पुरुहूतप्रभृतयः सुराः सुरकार्योद्यतम् अंशैः द्रुमाः पुष्पैः वायुमिव अनुययुः ।

जिस प्रकार वृक्ष अपने अंश पुष्पों से वायु का अनुसरण करते हैं उसी प्रकार इन्द्र आदि देवताओं ने देवताओं के कार्य के लिए उद्यत विष्णु भगवान् का (सुग्रीव आदि वानर योनियों में) अंशों से अनुगमन किया ॥ ४९ ॥

अथ तस्य विशाम्पत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणः ।
पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम् ॥ ५० ॥

अथेति । अथ तस्य विशाम्पत्युर्दशरथस्य सम्बन्धिनः काम्यस्य कामयितुमर्ह-

स्यार्थात्पुत्रार्थं वाञ्छितस्य कर्मणः पुत्रकामेष्टेरन्तेऽवसानेऽग्नेः पावकात्पुरुषः कश्चिद्दिव्यः पुमानृत्विजां विस्मयेन सह प्रबभूव प्रादुर्बभूव। तदाविर्भावात्तेषामपि विस्मयोऽभूदित्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्वयः—अथ तस्य विशाम्पत्युः काम्यस्य कर्मणः अन्ते अग्नेः पुरुषः ऋत्विजाम् विस्मयेन सह प्रबभूव।

इसके अनन्तर उस पृथ्वीपति दशरथ के काम्यकर्म (पुत्रेष्टि यज्ञ) के समाप्त होने पर अग्नि से ऋत्विजों के विस्मय के साथ दिव्य पुरुष प्रकट हुआ ॥ ५० ॥

तमेव पुरुषं विशिनष्टि—

हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम्।
अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम् ॥ ५१ ॥

हेमेति। आद्यस्य पुंसो विष्णोरनुप्रवेशादधिष्ठानाद्धेतोस्तेन दिव्यपुरुषेणापि दुर्वहम्। चतुर्दशभुवनोदरस्य भगवतो हरेरतिगरीयस्त्वाद्वोढुमशक्यम्। हेमपात्रगतं पयसि पक्वं चरुं पयश्चरुं पायसान्नं दोर्भ्यामादधानो वहन्। 'अनवस्रावितोन्तरूष्मपक्व ओदनश्चरुः' इति याज्ञिकाः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—आद्यस्य पुंसः अनुप्रवेशाद् तेनापि दुर्वहम् हेमपात्रगतं पयश्चरुम् दोर्भ्याम् आदधानः (प्रबभूवेति पूर्वेणान्वयः)।

आदि पुरुष भगवान् विष्णु के अन्तः प्रविष्ट होने के कारण उस दिव्य पुरुष के द्वारा भी बड़ी कठिनाई से धारण करने योग्य सुवर्णपात्र में रक्खे हुए दुग्ध निर्मित चरु को दोनों हाथों से धारण करता हुआ वह दिव्य पुरुष अग्नि से प्रकट हुआ ॥ ५१ ॥

प्राजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीन्नृपः।
वृषेव पयसां सारमाविष्कृतमुदन्वता ॥ ५२ ॥

प्राजापत्येति। नृपो दशरथः प्राजापत्येन प्रजापतिसम्बन्धिना पुरुषेणोपनीतं न तु वसिष्ठेन। 'प्राजापत्यं नरं विद्धि मामिहाभ्यागतं नृप' इति रामायणात्। तदन्नं पायसान्नम्। अद्यते इत्यन्नम्, उदन्वतोदधिनाविष्कृतं प्रकाशितं पयसां सारममृतं वृषा वासव इव। 'वासवो वृत्रहा वृषा' इत्यमरः। प्रत्यगृहीत्स्वीचकार ॥ ५२ ॥

अन्वयः—नृपः प्राजापत्योपनीतं तदन्नं उदन्वता आविष्कृतं पयसां सारं वृषा इव प्रत्यग्रहीत्।

राजा दशरथ ने प्रजापति-सम्बन्धी उस दिव्य पुरुष के द्वारा प्रदत्त उस चरु भक्ष्य को उसी प्रकार ग्रहण किया जिस प्रकार सागर से प्रकट जल के सार-अमृत को इन्द्र ने ग्रहण किया था ॥ ५२ ॥

अनेन कथिता राज्ञो गुणास्तस्यान्यदुर्लभाः ।
प्रसूतिं चकमे तस्मिंस्त्रैलोक्यप्रभवोऽपि यत् ॥ ५३ ॥

अनेनेति । तस्य राज्ञो दशरथस्यान्यदुर्लभा असाधारणा गुणा अनेन कथिता व्याख्याताः । यद्यस्मात्त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ् । तस्य प्रभवः कारणं विष्णुरपि तस्मिन् राज्ञि प्रसूतिमुत्पत्तिं चकमे कामितवान् । त्रिभुवनकारणस्यापि कारणमिति परमावधिर्गुणसमाश्रय इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—तस्य राज्ञः अन्यदुर्लभाः गुणाः अनेन कथिताः यत् त्रैलोक्यप्रभवः अपि तस्मिन् प्रसूतिम् चकमे ।

उस राजा दशरथ के दूसरों के लिए दुर्लभ असाधारण गुण इससे कहे गए; क्योंकि तीनों लोकों की उत्पत्ति के कारण भगवान् विष्णु ने उस राजा में जन्म लेने की कामना की ॥ ५३ ॥

स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम् ।
द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम् ॥ ५४ ॥

स इति । स नृपः चरुसंज्ञास्य संजाता चरुसंज्ञितं । वैष्णवं तेजः । पत्न्योः कौसल्याकैकेय्योः । द्यौश्च पृथिवी वा द्यावापृथिव्यौ । 'दिवसश्च पृथिव्याम्' इति चकाराद्दिवशब्दस्य द्यावादेशः । तयोर्द्यावापृथिव्योः । अह्नः पतिरहर्पतिः सूर्यः । 'अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः' इत्युपसंख्यानाद्वैकल्पिको रेफस्य रेफादेशो विसर्गापवादः । प्रत्यग्रं नूतनमातपं बालातपमिव विभेजे । विभज्य ददावित्यर्थः ॥५४॥

अन्वयः—सः चरुसंज्ञितम् वैष्णवं तेजः पत्न्योः द्यावापृथिव्योः अहर्पतिः प्रत्यग्रं आतपमिव विभेजे ।

उस राजा दशरथ ने चरु नाम धारी विष्णु के तेज को अपनी दो पत्नियों कौसल्या और कैकेयी को बराबर विभाग कर उसी प्रकार दे दिया जैसे दिन का स्वामी सूर्य अपनी प्रातःकालीन अभिनव धूप को आकाश और पृथ्वी को दे देता है ॥ ५४ ॥

पत्नीत्रये सति द्वयोरेव विभागे कारणमाह—

अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा।
अतः सम्भाविता ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः ॥ ५५ ॥

अर्चितेति। तस्य राज्ञः। कौ पृथिव्यां सलति गच्छतीति कोसलः। 'सल गतौ पचाद्यच्। कुशब्दस्य पृषोदरादित्वाद्गुणः। कोसलस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री कौसल्या। 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्' इति ञ्यङ्। 'यङश्चाप्' इति चाप्। अत एव सूत्रे निर्देशात्कोसलशब्दो दन्त्यसकारमध्यमः। अर्चिता ज्येष्ठा मान्या। केकयवंशजा कैकेयी प्रियेष्टा। अतो हेतोरीश्वरो भर्ता नृपः सुमित्रा ताभ्यां कौसल्याकैकेयीभ्यां सम्भावितां भागदानेन मानितामैच्छदिच्छति स्म। एवं च सामान्यं तिसृणां च भागप्रापणमिति राज्ञ्युचितज्ञता कौशलं च लभ्यते ॥ ५५ ॥

अन्वयः—तस्य कौसल्या अर्चिता, केकयवंशजा प्रिया अतः ईश्वरः सुमित्राम् ताभ्याम् सम्भाविताम् ऐच्छत्।

उस राजा की कौसल्या माननीया बड़ी रानी थी एवं केकय देश की कुमारी कैकेयी प्रिय पत्नी थी इसलिए राजा ने उन दोनों रानियों द्वारा सुमित्रा को अपने अंशदान से सम्मानित कराना चाहा ॥ ५५ ॥

ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः।
चरोरर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे ॥ ५६ ॥

त इति। बहुज्ञस्य सर्वज्ञस्य। उचितज्ञस्येत्यर्थः। पत्युर्महीक्षितः क्षितीश्वरस्य विशेषणत्रयेण राज्ञोऽनुसरणीयतामाह-चित्तज्ञे अभिप्रायज्ञे ते उभे पत्न्यौ कौसल्या-कैकेय्यौ। चरोर्यावर्धभागौ समभागौ तयोर्यावर्धौ तौ च तौ भागौ चेत्यर्धभागावे कदेशौ ताभ्यामर्धार्धभागाभ्याम्, 'पुंस्यर्धोऽर्धं समेंऽशके' इत्यमरः। तां सुमित्रामा-योजयतां युक्तां चक्रतुः। अयं च विभागो न रामायणसंवादी तत्र 'चरोरर्धं कौस-ल्यायै अवशिष्टार्धं कैकेय्यै, शिष्टं पुनः सुमित्रायाः' इत्यभिधानात्। किन्तु पुराणा-न्तरसंवादो द्रष्टव्यः उक्तं च नारसिंहे—'ते पिण्डप्राशने काले सुमित्रायै महीपतेः। पिण्डाभ्यामल्पमल्पं तु स्वभगिन्यै प्रयच्छतः.॥ इति एवमन्यत्रापि विरोधे पुराणान्तरात्समाधातव्यम् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—बहुज्ञस्य पत्युः महीक्षितः चित्तज्ञे ते उभे चरोः अर्धार्धभागाभ्यां तां योजयताम्।

सब कुछ जाननेवाले पति और पृथ्वीपालक राजा दशरथ के चित्त को जानने वाली उन दोनों—कौसल्या और कैकेयी ने चरु के आधे-आधे भागों में से अपना आधा-आधा भाग उस (सुमित्रा) को दिया ॥ ५६ ॥

न चैवं सत्यपीर्ष्या स्यादित्याह—

सा हि प्रणयवत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि।
भ्रमरी वारणस्येव मदनिष्यन्दरेखयोः ॥ ५७ ॥

सेति। सा सुमित्रोभयोरपि। समान एकः पतिर्ययोस्तयोः सपत्न्योः। 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति ङीप् नकारादेशश्च। भ्रमरी भृङ्गाङ्गना वारणस्य गजस्य मदनिष्यन्दरेखयोरिव गण्डद्वयगतयोरिति भावः। प्रणयवती प्रेमवत्यासीत्। सपत्न्योरित्यत्र समासान्तर्गतस्य पत्युरुपमानं वारणस्येति ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हि सा उभयोरपि सपत्न्योः भ्रमरी वारणस्य मदनिष्यन्दरेखयोः इव प्रणयवती आसीत्।

(उनमें परस्पर सौतिया डाह नहीं था क्योंकि) वह सुमित्रा दोनों (कौसल्या और कैकेयी) सौतों से उसी प्रकार प्रेम करती थी जिस प्रकार भ्रमरी हाथी की दोनों कपोलभित्तियों से निकलने वाली दोनों मद धारा की रेखाओं से समान प्रेम करती है ॥ ५७ ॥

ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशसम्भवः।
सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मयः ॥ ५८ ॥

ताभिरिति। ताभिः कौसल्यादिभिः प्रजानां भूत्यै अभ्युदयाय। देवस्य विष्णोरंशः सम्भवः कारणं यस्य स गर्भः। सूर्यस्येमाः सौर्यः, ताभिः, सौरीभिः 'सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः' इत्युपधायकारस्य लोपः। अमृता इत्याख्या यासां ताभिः जलवहनसाम्यान्नाडीभिरिव। नाडीभिर्वृष्टिविसर्जनीभिर्दीधितिभिरपां विकारोऽम्मयो जलमयो गर्भ इव। दध्रे धृतः। जातावेकवचनम्, गर्भा दधिर इत्यर्थः। अत्र यादवः—तासां शतानि चत्वारि रश्मीनां वृष्टिसर्जने शतत्रयं हिमोत्सर्गे तावद्गर्भस्य सर्जने ॥ आनन्दाश्च हि मेघ्याश्च नूतनाः पूतना इति। चतुःशतं वृष्टिवाहास्ताः सर्वा अमृताः स्त्रियः ॥' इति ॥ ५८ ॥

अन्वयः—ताभिः प्रजाभूत्यै देवांशसम्भवः गर्भः सौरीभिः अमृताख्याभिः नाडीभिः अम्मयः गर्भः इव दध्रे।

उन रानियों ने सन्तान के अभ्युदय के लिए भगवान विष्णु के अंश से सम्पन्न गर्भ उसी प्रकार धारण किया जैसे सूर्य की अमृता नामक नाडियों के द्वारा जलमय गर्भ धारण किया जाता है ॥ ५८ ॥

सममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः।
अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानामिव सम्पदः ॥ ५९ ॥

सममिति । समं युगपदापन्ना गृहीताः सत्त्वाः प्राणिनो याभिस्त' आपन्नसत्वा गर्भिण्यः 'आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः । अत एवापाण्डुरत्विष ईषत्पाण्डुरवर्णास्ता राजपत्न्यः । अन्तर्गता गुप्ताः फलारम्भाः फलप्रादुर्भावा यासां ताः । सस्यानां सम्पद इव रेजुर्बभुः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सममापन्नसत्त्वाः आपाण्डुरत्विषः ताः अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानाम् सम्पदः इव रेजुः ।

एक ही साथ गर्भवती होने के कारण पीली कान्ति वाली वे तीनों रानियाँ उसी प्रकार सुशोभित हुयीं जिस प्रकार अन्दर में फल आरम्भ करने वाली धान्य सम्पदायें सुशोभित होती हैं ॥ ५९ ॥

सम्प्रति तासां स्वप्नदर्शनान्याह—

गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः ।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ॥ ६० ॥

गुप्तमिति । सर्वास्ताः स्वप्नेषु जलजः शङ्खः जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रैर्लाञ्छिता मूर्तयो येषां तैर्वामनैर्ह्रस्वैः पुरुषैर्गुप्तं रक्षितमात्मानं स्वरूपम् । जातावेकवचनम् । ददृशुः दृष्टवत्यः ॥ ६० ॥

अन्वयः—सर्वाः स्वप्नेषु जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः वामनैः गुप्तं आत्मानं ददृशुः ।

उन सभी रानियों ने स्वप्नों में शंख (पाञ्चजन्य) तलवार (नन्दक) गदा (कौमोदकी) शार्ङ्ग धनुष और चक्र (सुदर्शन) से सुशोभित मूर्तिवाले वामन रूपधारी पुरुषों द्वारा अपने को सुरक्षित देखा ॥ ६० ॥

हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता ।
उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा ॥ ६१ ॥

हेमेति । किञ्चेति चार्थः । हेम्नः सुवर्णस्य पक्षाणां प्रभाजालं कान्तिपुञ्जं वितन्वता विस्तारयता वेगेनाकृष्टाः पयोमुचो मेघा येन तेन । सुपर्णेन गरुत्मता गरुडेन गगने ता उह्यन्ते स्मोढाः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—च हेमपक्षप्रभाजालं वितन्वता वेगाकृष्टपयोमुचा सुपर्णेन गगने (ताः) उह्यन्ते स्म ।

और (उन्होंने स्वप्न में यह देखा कि) वे सुवर्ण पंखों की प्रभा के समूह

को विकीर्ण करते हुए वेग से बादलों को आकृष्ट करने वाले गरुड़ के द्वारा आकाश में उड़ायी जा रही थीं ॥ ६१ ॥

बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम् ।
पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥ ६२ ॥

बिभ्रत्येति । किञ्च स्तनयोरन्तरे मध्ये विलम्बिनं लम्बमानम् । न्यस्यत इति न्यासः कौस्तुभ एव न्यासस्तम् । पत्या कौतुकान्न्यस्तं, कौस्तुभमित्यर्थः । बिभ्रत्या पद्ममेव व्यजनं हस्ते यस्यास्तया लक्ष्म्या पर्युपास्यन्तोपासिताः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—किञ्च स्तनान्तरविलम्बिनम् कौस्तुभन्यासं बिभ्रत्या पद्मव्यजन-हस्तया लक्ष्म्या पर्युपास्यन्त ।

(और उन्होंने यह भी देखा कि) वे दोनों स्तनों के मध्य में लटकते हुए कौस्तुभमणि रूपी (पति प्रदत्त) धरोहर को धारण करने वाली तथा कमल रूपी पंखा हाथ में लिये हुए लक्ष्मी द्वारा पंखा झेली जा रही थीं ॥ ६२ ॥

कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः ।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे ॥ ६३ ॥

कृतेति । किञ्च । दिवि भवायां दिव्यायां त्रिस्रोतस्याकाशगङ्गायां कृता-भिषेकैः कृतावगाहैः परं ब्रह्म वेदरहस्यं गृणद्भिः पठद्भिः सप्तभिर्ब्रह्मर्षिभिः कश्य-पप्रभृतिभिरुपतस्थिर उपासाञ्चक्रिरे ॥ ६३ ॥

अन्वयः—किञ्च दिव्यायां त्रिस्रोतसि कृताभिषेकैः परं ब्रह्म गृणद्भिः सप्तभिः ब्रह्मर्षिभिः उपतस्थिरे ।

(उन रानियों ने स्वप्नों में यह भी देखा कि) आकाश-गंगा में स्नान किये हुए परब्रह्म (वेद-रहस्य) का पाठ करते हुए सात ब्रह्मर्षियों द्वारा उनका उपस्थान किया जा रहा था ॥ ६३ ॥

ताभ्यस्तथाविधान् स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतो हि पार्थिवः ।
मेने परार्ध्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः ॥ ६४ ॥

ताभ्य इति । पार्थिवो दशरथस्ताभ्यः पत्नीभ्यः 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादान-त्वात्पञ्चमी । तथाविधानुक्तप्रकारान्स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतः सन् आत्मानं जगद्गुरो-र्विष्णोरपि गुरुत्वेन पितृत्वेन हेतुना परार्ध्यं सर्वोत्कृष्टं मेने हि ॥ ६४ ॥

अन्वयः—पार्थिवः ताभ्यः तथाविधान् स्वप्नान् श्रुत्वा प्रीतः (सन्) आत्मानं जगद्गुरोः (अपि) गुरुत्वेन परार्ध्यं मेने हि ।

भूपाल दशरथ ने उन रानियों से उस (पूर्वोक्त श्लोक ६०-६३) प्रकार के स्वप्नों को सुनकर प्रमुदित होते हुए अपने को जगत्पिता विष्णु का भी पिता होने के कारण सर्वोत्तम माना ॥ ६४ ॥

विभक्तात्मा विभुस्तासामेकः कुक्षिष्वनेकधा ।
उवास प्रतिमाचन्द्रः प्रसन्नानामपामिव ॥ ६५ ॥

विभक्तेति । एक एकरूपो विभुर्विष्णुस्तासां राजपत्नीनां कुक्षिषु गर्भेषु प्रसन्नानां निर्मलानामपां कुक्षिषु प्रतिमाचन्द्रः प्रतिबिम्बचन्द्र इव अनेकधा विभक्तात्मा सन् उवास ॥ ६५ ॥

अन्वयः—एकः विभुः तासां कुक्षिषु प्रसन्नानाम् अपाम् कुक्षिषु प्रतिमाचन्द्रः इव अनेकधा विभक्तात्मा (सन्) उवास ।

एक रूप विष्णु ने उन रानियों की कुक्षियों (गर्भों) में निर्मल जल के भीतर प्रतिबिम्बत चन्द्रमा के समान अनेक प्रकार से विभाजित स्वरूप वाला होते हुए निवास किया ॥ ६५ ॥

अथाग्र्यमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती ।
पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः ॥ ६६ ॥

अथेति । अथ राज्ञो दशरथस्य सती पतिव्रता अग्र्या चासौ महिषी चाग्र्यमहिषी कौसल्या प्रसूतिसमये प्रसूतिकाले ओषधिर्नक्तं रात्रिसमये तमः अपहन्तीति तपोपहम् 'अपे क्लेशतमसोः' इति डप्रत्ययः । ज्योतिरिव तमोपहं तमोनाशकरं पुत्रं लेभे प्राप ॥ ६६ ॥

अन्वयः—अथ राज्ञः सती अग्र्यमहिषी प्रसूतिसमये औषधिः नक्तं तमोपहं ज्योतिरिव (तमोपहं) पुत्रं लेभे ।

इसके पश्चात् राजा दशरथ की पतिव्रता पटरानी कौसल्या ने प्रसव के समय में जिस प्रकार औषधि अन्धकार को नष्ट करने वाली ज्योति रात्रि में पाती है उसी प्रकार निराशान्धकार को नष्ट करने वाले (कुल ज्योति स्वरूप) पुत्र को प्राप्त किया ॥ ६६ ॥

राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः ।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ॥ ६७ ॥

राम इति । अभिरमतेऽत्रेत्यभिरामं मनोहरम् अधिकरणार्थे घञ्प्रत्ययः । तेन

वपुषा चोदितः प्रेरितो गुरुः पिता दशरथतस्य पुत्रस्य जगतां प्रथमं मङ्गलं सुलक्षणं राम इति नामधेयं चक्रे। अभिरामत्वमेव रामशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः ॥६७॥

अन्वयः—अभिरामेण वपुषा चोदितः गुरुः तस्य जगत्प्रथममङ्गलम् 'राम' इति नामधेयम् चक्रे ।

अभिराम (परम मनोहर) शरीर से प्रेरित पिता ने उस पुत्र का नाम 'राम' रक्खा जो विश्व का प्रथम मंगल स्वरूप है ॥ ६७ ॥

रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा ।
रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन् ॥ ६८ ॥

रघुवंशेति । रघुवंशस्य प्रदीपेन प्रकाशकेन अप्रतिमतेजसा तेन रामेण रक्षागृहगताः सूतिकागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टाः प्रतिबद्धाः इवाभवन् । महादीपसमीपे नाल्पाः स्फुरन्तीति भावः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—रघुवंश-प्रदीपेन अप्रतिमतेजसा तेन रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टाः इव अभवन् ।

रघुकुल के प्रदीप स्वरूप अद्वितीय अनुपम तेजस्वी उस बालक राम के द्वारा प्रसूति गृह में रक्षार्थ रखे गये दीपक मानो निस्तेज हो गये ॥ ६८ ॥

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ ।
सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥ ६९ ॥

शय्यागतेनेति । शातोदरी गर्भमोचनात्कृशोदरी माता शय्यागतेन रामेण सैकते पुलिने योऽम्भोजबलिःपद्मोपहारस्तेन शरदि कृशा जाह्नवी गङ्गेव बभौ ।

अन्वयः—शातोदरी माता शय्यागतेन रामेण सैकताम्भोजबलिना शरत्कृशा जाह्नवी इव बभौ ।

(गर्भमोचन के कारण) कृशोदरी माता शय्या पर लिटाये गये राम के साथ उसी प्रकार सुशोभित हुयी जिस प्रकार शरत्काल में बालुकामय तट पर कमल के उपहार से गंगा सुशोभित होती हैं ॥ ६९ ॥

कैकेय्यास्तनयो जज्ञे भरतो नाम शीलवान् ।
जनयित्रीमलञ्चक्रे यः प्रश्रय इव श्रियम् ॥ ७० ॥

कैकेय्या इति । केकयस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री कैकेयी, 'तस्यापत्यम्' इत्यणि कृते 'केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः' इतीयादेशः । तस्या भरतो नाम शीलवांस्तनयो जज्ञे जातः । यस्तनयः प्रश्रयो विनयः श्रियमिव । जनयित्रीं मातरमलञ्चक्रे ।

अन्वयः—कैकेय्याः भरतः नाम शीलवान् तनयः जज्ञे । यः प्रश्रयः श्रियम् इव जनयित्रीम् अलञ्चक्रे ।

कैकेयी से भरत नामक शील सम्पन्न पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने जन्म देनेवाली माता को उसी प्रकार अलङ्कृत किया जिस प्रकार विनय लक्ष्मी को सुशोभित करता है ॥ ७० ॥

सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ ।
सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥ ७१ ॥

सुताविति । सुमित्रा लक्ष्मणशत्रुघ्नौ नाम यमौ युग्मजातौ सुतौ पुत्रौ । सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयौ तत्त्वज्ञानेन्द्रियजयाविव । सुषुवे ॥ ७१ ॥

अन्वयः—सुमित्रा लक्ष्मण शत्रुघ्नौ यमौ सुतौ सम्यक् आराधिता विद्या प्रबोधविनयौ इव सुषुवे ।

जिस प्रकार सम्यक् आराधना की गयी विद्या तत्त्वज्ञान और इन्द्रिय जय को उत्पन्न करती है उसी प्रकार सुमित्रा ने लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामक यमल (जुड़वे) पुत्रों को जन्म दिया ॥ ७१ ॥

निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत् ।
अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥ ७२ ॥

निर्दोषमिति । सर्वं जगद् भूलोको निर्दोषं दुर्भिक्षादिदोषरहितम् आविष्कृतगुणं प्रकटीकृतारोग्यादिगुणं चाभवत् । अत्रोत्प्रेक्ष्यते—गां भुवं गतमवतीर्णं पुरुषोत्तमं विष्णुं स्वर्गोऽप्यन्वगादिव । स्वर्गो हि गुणवान्निर्दोषश्चेत्यागमः । स्वर्गतुल्यमभूदित्यर्थः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—सर्वं जगद् निर्दोषं आविष्कृतगुणमभवत् गां गतं पुरुषोत्तमम् स्वर्गोहि अन्वगाद् इव ।

समस्त विश्व अकाल आदि दोषों से रहित एवं आरोग्य आदि गुणों से संयुक्त हो गया । मानो स्वर्ग ने भी पृथ्वी पर पहुँचे पुरुषोत्तम विष्णु का अनुसरण किया ॥ ७२ ॥

तस्योदये चतुर्मूर्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः ।
विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव ॥ ७३ ॥

तस्येति । चतुर्मूर्ते रामादिरूपेण चतूरूपस्य सतस्तस्य हरेरुदये सति । पौल-

स्त्याद्रावणाच्चकिता भीता ईश्वरा नाथा इन्द्रादयो यासां ता दिशश्चतस्रो विरजस्कैरपधूलिभिर्नभस्वद्भिर्वायुभिः मिषेण उच्छ्वसिता इव इत्युत्प्रेक्षा। श्वसेः कर्तरि क्तः। स्वनाथशरणलाभसन्तुष्टानां दिशामुच्छ्वासवाता इव, वाता ववुरित्यर्थः। चतुर्दिगीशरक्षण मूर्तिचतुष्टययोजनमिति भावः॥ ७३॥

अन्वयः—चतुर्मूर्तेः तस्य उदये (सति) पौलस्त्यचकितेश्वराः दिशः विरजस्कैः नभस्वद्भिः उच्छ्वसिता इव।

(राम-भरत-लक्ष्मण और शत्रुघ्न इन) चारों रूपों से उस विष्णु के प्रकट होने पर पुलस्त्यपुत्र रावण से भयभीत स्वामी वाली दिशाओं ने धूलि रहित वायु द्वारा मानों (उन्मुक्त वातावरण में सुख की) साँस ली॥ ७३॥

कृशानुरपधूमत्वात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः।
रक्षोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव॥ ७४॥

कृशानुरिति। रक्षसा रावणेन विप्रकृतावपकृतौ पीडितावित्यर्थः। कृशानुरग्निः प्रभाकरः सूर्यश्च यथासंख्यमपधूमत्वात्प्रसन्नत्वाच्चापविद्धशुचौ निरस्तदुःखाविवास्तामभवताम्॥ ७४॥

अन्वयः—रक्षोविप्रकृतौ कृशानुः प्रभाकरः च अपधूमत्वात् प्रसन्नत्वात् च अपविद्धशुचौ इव आस्ताम्।

राक्षसराज रावण से अपकृत-पीड़ित अग्नि और सूर्य निर्धूम और प्रसन्न होने के कारण मानो दुःख से मुक्त हो गए॥ ७४॥

दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः॥ ७५॥

दशाननेति। तत्क्षणं तस्मिन् क्षणे रामोत्पत्तिसमये राक्षसश्रियोऽश्रुबिन्दवो दशाननकिरीटेभ्यो मणीनां व्याजेन मिषेण पृथिव्यां पर्यन्ताः पतिताः। रामोदये सति तद्वध्यस्य रावणस्य किरीटमणिभ्रंशलक्षणं दुर्निमित्तमभूदित्यर्थः॥ ७५॥

अन्वयः—तत्क्षणं राक्षसश्रियः अश्रुबिन्दवः दशाननकिरीटेभ्यः मणिव्याजेन पृथिव्यां पर्यस्ताः।

उस क्षण (राम के जन्म के समय में) राक्षसों की श्री की अश्रुबूंदें दशमुख रावण के मुकुटों से मणि के व्याज से पृथ्वी पर गिरीं॥ ७५॥

पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुत्रिणः।
आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि॥ ७६॥

पुत्रजन्मेति । पुत्रिणो जातपुत्रस्य तस्य दशरथस्य पुत्रजन्मनि प्रवेश्यानां प्रवेशयितव्यानां, वादनीयानामित्यर्थः । तूर्याणां वाद्यानामारम्भमुपक्रमं प्रथमं दिवि देवदुन्दुभयश्चक्रुः । साक्षात्पितुर्दशरथादपि देवा अधिकं प्रहृष्टा इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—पुत्रिणः तस्य पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां आरम्भं प्रथमं दिवि देवदुन्दुभयः चक्रुः ।

पुत्रवान् उस राजा दशरथ के पुत्र जन्म में बजवाने योग्य बाजाओं का शुभारम्भ प्रथम स्वर्ग में देव दुन्दुभियों ने किया ॥ ७६ ॥

सन्तानकमयी वृष्टिर्भवने चास्य पेतुषी ।
सन्मङ्गलोपचाराणां सैवादिरचनाऽभवत् ॥ ७७ ॥

सन्तानेति । अस्य राज्ञो भवने सन्तानकानां कल्पवृक्षकुसुमानां विकारः सन्तानकमयी वृष्टिश्च पेतुषी पपात । 'क्वसुश्च' इति क्वसुप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । सा वृष्टिरेव सन्तः पुत्रजन्मन्यावश्यका ये मङ्गलोपचारास्तेषामादिरचना प्रथमक्रियाऽभवत् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—अस्य भवने सन्तानकमयी वृष्टिश्च पेतुषी । सा एव सन्मङ्गलोपचाराणां आदि रचनाऽभवत् ।

इस महाराज दशरथ के राजभवन में कल्पवृक्ष के पुष्पों की वर्षा हुई । वही पुष्पवृष्टि आवश्यक मङ्गलमय उपचारों की प्रथम क्रिया हुयी ॥ ७७ ॥

कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः ।
आनन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः ॥ ७८ ॥

कुमारा इति । कृताः संस्कारा जातकर्मादयो येषां ते । धात्रीणामुपमातॄणां स्तन्यानि पयांसि पिबन्तीति तथोक्ताः । ते कुमारा अग्रे जातेनाग्रजेन ज्येष्ठेनेव स्थितेन पितुरानन्देन समं ववृधिरे । कुमारवृद्ध्या पिता महान्तमानन्दमवापेत्यर्थः । कुमारजन्मनः प्रागेव जातत्वादग्रजत्वोक्तिरानन्दस्य ॥ ७८ ॥

अन्वयः—कृतसंस्काराः धात्रीस्तन्यपायिनः कुमाराः अग्रजेन इव पितुः आनन्देन समं ववृधिरे ।

जातकर्म आदि संस्कारों से युक्त धायियों का दुग्धपान करने वाले वे बालक मानो पहले जन्म लेने वाले बड़े भाई के समान पिता के आनन्द के साथ बढ़ने लगे ॥ ७८ ॥

स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा ।
मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम् ।। ७९ ।।

स्वाभाविकमिति । तेषां कुमाराणां सम्बन्धि स्वाभाविकं सहजं विनीतत्वं विनयकर्मणा शिक्षया । हविर्भुजामग्नीनां सहजं तेजो हविषाऽऽज्यादिकेनेव मुमूर्च्छ ववृधे । निसर्गसंस्काराभ्यां विनीता इत्यर्थः ।। ७९ ।।

अन्वयः—तेषाम् स्वाभाविकं विनीतत्वं विनयकर्मणा हविर्भुजाम् सहजं तेजः हविषा इव मुमूर्च्छ ।

उन कुमारों की स्वाभाविक विनम्रता शिक्षाकर्म से उसी प्रकार और अधिक बढ़ गयी जैसे हविः भोग करने वाली अग्नि का सहज तेज घृत (आज्य आदि हविष्य पदार्थ की आहुति) से बढ़ जाता है ।। ७९ ।।

परस्पराविरुद्धास्ते तद्रघोरनघं कुलम् ।
अलमुद्योतयामासुर्देवारण्यमिवर्तवः ।। ८० ।।

परस्परेति । परस्परमविरुद्धा अविद्विष्टाः । सौभ्रात्रगुणवन्त इत्यर्थः । ते कुमारास्तत्प्रसिद्धमनघं निष्पापं रघोः कुलम् । ऋतवो वसन्तादयो देवारण्यं नन्दनमिव । सहजविरोधानामप्यृतूनां सहावस्थानसम्भावनार्थं देवविशेषणम् । अलमत्यन्तमुद्योतयामासुः प्रकाशयामासुः । सौभ्रात्रवन्तः कुलभूषणायन्त इति भावः ।।८०।।

अन्वयः—परस्पराविरुद्धाः ते तत् अनघं रघोः कुलम् ऋतवः देवारण्यं इव अलं उद्योतयामासुः ।

एक दूसरे से विरोध न करने वाले उन बालकों ने रघु के उस परम पवित्र प्रसिद्ध कुल को उसी प्रकार अत्यधिक जगमगा दिया जिस प्रकार वसन्त आदि ऋतुएँ देवताओं के नन्दनवन को अत्यन्त प्रकाशित कर देती हैं ।। ८० ।।

समानेऽपि हि सौभ्रात्रे यथोभौ रामलक्ष्मणौ ।
तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः ।। ८१ ।।

समान इति । शोभनाः स्निग्धा भ्रातरो येषां ते सुभ्रातरः । 'नद्यृतश्च' इति कप् न भवति, 'वन्दिते भ्रातुः' इति निषेधात् । तेषां भावः सौभ्रात्रं यवादित्वादण् । तस्मिन्समाने चतुर्णां तुल्येऽपि यथोभौ रामलक्ष्मणौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः, तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं द्वौ द्वौ साहचर्येणाभिव्यक्तौ बभूवतुः । 'द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु' इत्यभिव्यक्तार्थे निपातः । क्वचित्कस्य चित्स्नेहो नातिरिच्यत इति भावः ।। ८१ ।।

अन्वयः—सौभ्रात्रे समानेऽपि यथा उभौ रामलक्ष्मणौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः।

(उन चारों भाइयों में) समान रूप से सौहार्द्र स्नेह (भ्रातृत्व) होने पर भी जैसे राम और लक्ष्मण का प्रेम से एक जोड़ा बना उसी प्रकार भरत और शत्रुघ्न का प्रेम से एक जोड़ा बना ॥ ८१ ॥

तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं बिभिदे न कदाचन।
यथा वायुविभावस्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः ॥ ८२ ॥

तेषामिति। तेषां चतुर्णां मध्ये द्वयोर्द्वयोः रामलक्ष्मणयोर्भरतशत्रुघ्नयोश्चेत्यर्थः। यथा वायुविभावस्वोर्वातवह्न्योरिव चन्द्रसमुद्रयोरिव च ऐक्यमैकमत्यं कदाचन न बिभिदे एककार्यत्वं समानसुखदुःखत्वं च क्रमादुपमाद्वयाल्लभ्यते। सहजः सहकारी हि वह्नेर्वायुः चन्द्रवृद्धौ हि वर्धते सिन्धुस्तत्क्षये च क्षीयत इति ॥ ८२ ॥

अन्वयः—तेषां द्वयोर्द्वयोः यथा वायुविभावस्वोः यथा चन्द्रसमुद्रयोः ऐक्यम् कदाचन न विभिदे।

उन चारों भाइयों में रामलक्ष्मण और भरत शत्रुघ्न इन दो दो की एकता उसी प्रकार कभी भिन्न नहीं हुयी जिस प्रकार वायु और अग्नि की तथा चन्द्रमा और समुद्र की एकता कभी भंग नहीं होती ॥ ८२ ॥

ते प्रजानां प्रजानाथास्तेजसा प्रश्रयेण च।
मनो जह्रुर्निदाघान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव ॥ ८३ ॥

त इति। प्रजानाथास्ते कुमारास्तेजसा प्रभावेण प्रश्रयेण विनयेन च निदाघान्ते ग्रीष्मान्ते श्यामान्यभ्राणि मेघा यषां ते श्यामाभ्राः, नातिशीतोष्णा इत्यर्थः। दिवसा इव प्रजानां लोकानां मनश्चित्तं जह्रुः हरन्ति स्म ॥ ८३ ॥

अन्वयः— प्रजानाथाः ते तेजसा प्रश्रयेण च निदाघान्ते श्यामाभ्राः दिवसाः प्रजानाम् मनः जह्रुः।

प्रजापालक उन बालकों ने तेजस्विता और विनम्रता से ग्रीष्मान्त होने पर श्याम मेघों वाले दिनों की भाँति प्रजाओं का मन हर लिया ॥ ८३ ॥

स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गवान् ॥ ८४ ॥

स इति। स चतुर्धा। 'संख्याया विधार्थे धा' इत्यनेन धाप्रत्ययः। व्यस्तो विभक्तः पृथिवीपतेर्दशरथस्य प्रसवः सन्तानम्। चतुर्धाऽङ्गवान्मूर्तिमान्धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इव बभौ ॥ ८४ ॥

अन्वयः—सः चतुर्धा व्यस्तः पृथिवीपतेः प्रसवः चतुर्धा अङ्गवान् धर्मार्थकाममोक्षाणाम् अवतारः इव बभौ।

वे चार प्रकार से विभक्त, पृथ्वीपति दशरथ की सन्ततियाँ चार प्रकार से शरीरधारी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के अवतार के समान सुशोभित हुयीं ॥ ८४ ॥

गुणैराराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः।
तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः ॥ ८५ ॥

गुणैरिति। गुरुवत्सलाः पितृभक्तास्ते कुमारा गुणैर्विनयादिभिर्गुरुं पितरं चतुर्णामन्तानां दिगन्तानामीशं चतुरन्तेशम्। 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेनोत्तरपदसमासः। तं दशरथमेव महार्णवाश्चत्वार आराधयामासुरानन्दयामासुः ॥८५॥

अन्वयः—गुरुवत्सलाः ते गुणैः गुरुं चतुरन्तेशं तमेव महार्णवाः रत्नैः इव आराधयामासुः।

जिस प्रकार महासागर रत्नों के द्वारा चारो दिगन्तों के स्वामी की आराधना करता है उसी प्रकार पितृभक्त उन कुमारों ने अपने विनयादि गुणों से चारों दिगन्त के एकच्छत्र स्वामी पिता दशरथ को ही प्रसन्न किया ॥ ८५ ॥

सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः।
हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥

सुरगज इति। भग्ना दैत्यानामसिधारा यैस्तैश्चतुर्भिर्दन्तैः सुरगज ऐरावत इव। पणबन्धेन फलसिद्ध्या व्यक्तयोगैरनुमितप्रयोगैरुपायैश्चतुर्भिः सामादिभिर्नयो नीतिरिव। युगवद्दीर्घैश्चतुर्भिर्दोर्भिर्भुजैर्हरिर्विष्णुरिव। 'यानाद्यङ्गे युगः पुंसि' इत्यमरः। तदीयैर्हरिसम्बन्धिभिरंशभूतैश्चतुर्भिस्तैः पुत्रैरवनिपतीनां पतिः राजराजो दशरथ आकाशे विदिद्युते ॥ ८६ ॥

अन्वयः—भग्नदैत्यासिधारैः दन्तैः सुरगजः इव पणबन्धव्यक्तयोगैः उपायैः नयः इव युगदीर्घैः दोर्भिः हरिः इव तदीयैः अंशैः चतुर्भिः तैः अवनिपतीनां पतिः चकाशे।

पृथ्वीपतियों के पति (राजाधिराज) दशरथ भगवान् विष्णु के अंशों से अवतरित उन चारो पुत्रों से उसी प्रकार सुशोभित हुए जैसे दैत्यों की तलवार की धार तोड़ने वाले दाँतों से ऐरावत, फलसिद्धि से सुस्पष्ट प्रयोगों वाले (साम-दाम दण्ड और भेद) उपायों से राजनीति और युग (बैलगाड़ी आदि में बैलों के कन्धों पर रखे जाने वाले जुए) के समान विशाल चतुर्भुजाओं से भगवान् विष्णु सुशोभित होते हैं ॥ ८६ ॥

दशमः सर्गः समाप्त ।

एकादशः सर्गः

कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये ।
काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ॥ १ ॥

रामचन्द्रचरणारविन्दयोरतरङ्गचरभृङ्गलीलया ।
तत्र सन्ति हि रसाश्चतुर्विधास्तान्यथारुचि सदैव निर्विश ॥

कौशिकेनेति । कौशिकेन कुशिकापत्येन विश्वामित्रेणैत्याभ्यागत्य स क्षितीश्वरो दशरथः । अध्वरविघातशान्तये यज्ञविघ्नविध्वंसाय । काकपक्षधरं बालकोचितशिखाधरम् । 'बालानां तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः' इति हलायुधः । रामं याचितः किल प्रार्थितः खलुः । याचेर्द्विकर्मकादप्रधाने कर्मणि क्तः 'अप्रधाने दुहादीनाम्' इति वचनात् । नायं बालाधिकार इत्याशङ्क्याह—तेजसां तेजस्विनां वयो बाल्यादि न समीक्ष्यते हि, अप्रयोजकमित्यर्थः । अत्र सर्गे रथोद्धता वृत्तम् । उक्तं च—रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति ॥ १ ॥

रामचन्द्रचरणारबिन्द में चित्त ! भृङ्ग-सम तू सदा रमो ।
चार हैं रस वहाँ निजेच्छया पानकर बहुस्वतन्त्र हो भ्रमो ॥

अन्वयः—कौशिकेन एत्य सः क्षितीश्वरः अध्वरविघातशान्तये काकपक्षधरं रामं याचितः किल तेजसां वयः न समीक्ष्यते हि ।

कुशिकनन्दन विश्वामित्र ने आकर उस राजादशरथ से यज्ञ में विघ्नों की शान्ति के लिये काकपक्ष—(शिखा) धारण करने वाले राम को माँगा क्योंकि तेजस्वियों की अवस्था की समीक्षा नहीं की जाती ॥ १ ॥

कृच्छ्रलब्धमपि लब्धवर्णभाक् तं दिदेश मुनये सलक्ष्मणम् ।
अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता ॥ २ ॥

कृच्छ्रेति । लब्धा वर्णाः प्रसिद्धयो यैस्ते लब्धवर्णा विचक्षणाः । 'लब्धवर्णो विचक्षणः' इत्यमरः । तान्भजत इति लब्धवर्णभाक्, विद्वत्सेवीत्यर्थः । स राजा कृच्छ्रलब्धमपि सलक्ष्मणं तं रामं मुनये दिदेशातिसृष्टवान् । तथा हि असुप्रणयिनां प्राणार्थिनामप्यर्थितां याच्ञा रघोः कुले कदाचिदपि न व्यहन्यत न विहता, न विफलीकृतेत्यर्थः । यैरर्थिभ्यः प्राणा अपि समर्प्यन्ते तेषां पुत्रादित्यागो न विस्मयावह इति भावः ॥ २ ॥

अन्वयः—लब्धवर्णभाक् कृच्छ्रलब्धमपि सलक्ष्मणं तं मुनये दिदेश असुप्रणयिनाम् अपि अर्थिता रघोः कुले कदाचिदपि न व्यहन्यत ।

लब्धप्रतिष्ठ विद्वत्सेवी राजा दशरथ ने बड़े कष्ट से प्राप्त उस राम को लक्ष्मण सहित मुनि विश्वामित्र को दे दिया क्योंकि प्राणों की प्रार्थना करने वालों की भी (प्राण मांगने वालों की भी) याच्ञा रघु के कुल में कभी भी व्यर्थ नहीं हुयी । [रघुकुल रीति सद चलि आई । प्राण जाहिं पर वचन न जाई ।।]" ॥ २ ॥ भाव यह है कि, जो याचकों को प्राण दान कर सकते हैं उनके लिए पुत्र देना कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

यावदादिशति पार्थिवस्तयोर्निर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियाम् ।
तावदाशु विदधे मरुत्सखैः सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनैः ॥ ३ ॥

यावदिति । पार्थिवः पृथिवीश्वरस्तयो रामलक्ष्मणयोर्निर्गमाय निष्क्रमणाय पुरमार्गसंस्क्रियां धूलिसम्मार्जनगन्धोदकसेचनपुष्पोपहाररूपसंस्कारं यावदादिशत्याज्ञापयति तावन्मरुत्सखैर्वायुसखैः । अनेन धूलिसम्मार्जनं गम्यते । सपुष्पजलवर्षिभिः पुष्पसहितजलवर्षिभिर्घनैः सा मार्गसंस्क्रियाशु विदधे विहिता । एतेन देवकार्यप्रवृत्तयोर्देवानुकूल्यं सूचितम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—पार्थिवः तयोः निर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियाम् यावदादिशति तावत् मरुत्सखैः सपुष्पजलवर्षिभिः घनैः सा आशु विदधे ।

राजा दशरथ ने उन दोनों राम और लक्ष्मण के निष्क्रमण के लिए नगर के मार्ग की सफाई सजावट आदि संस्कार करने का जब तक आदेश दिया तब तक वायु के मित्र पुष्प सहित जल वर्षा करने वाले बादलों ने उसे शीघ्र ही कर दिया ॥ ३ ॥

तौ निदेशकरणोद्यतौ पितुर्धन्विनौ चरणयोर्निपेततुः ।
भूपतेरपि तयोः प्रवत्स्यतोर्नम्रयोरुपरि बाष्पबिन्दवः ॥ ४ ॥

ताविति । निदेशकरणोद्यतौ पित्राज्ञाकरणोद्युक्तौ धन्विनौ धनुष्मन्तौ तौ कुमारौ पितुश्चरणयोर्निपेततुः प्रणतावित्यर्थः । भूपतेरपि बाष्पबिन्दवः प्रवत्स्यतोः प्रवासं करिष्यतोः । अत एव नम्रयोः प्रणतयोः । 'नमिकम्पि' इति रप्रत्ययः । तयोरुपरि निपेतुः पतिताः ॥ ४ ॥

अन्वयः—निदेशकरणोद्यतौ धन्विनौ तौ पितुः चरणयोः निपेततुः । भूपतेः अपि बाष्पबिन्दवः प्रवत्स्यतोः नम्रयोः तयोः उपरि निपेतुः ।

पिता का आदेश पालन करने के लिए उद्यत धनुषधारी वे दोनों राजकुमार पिता के चरणों पर गिर पड़े । राजा के भी स्नेहाश्रु के जल-बिन्दु परदेश जाने के कारण प्रणाम करते हुए उन दोनों बालकों के ऊपर बरस पड़े ॥ ४ ॥

तौ पितुर्नयनजेन वारिणा किञ्चिदुक्षितशिखण्डकावुभौ ।
धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ ॥ ५ ॥

ताविति । पितुर्नयनजेन वारिणा किञ्चिदुक्षितशिखण्डकावीषत्सिक्तचूडौ । 'शिखा चूडा शिखण्डः स्यात्' इत्यमरः । 'शेषाद्विभाषा' इति कप्प्रत्ययः । धन्विनौ तावुभौ । पौरदृष्टिभिः कृतानि मार्गतोरणानि सम्पाद्यानि कुवलयानि ययोस्तौ तथोक्तौ, सङ्घशो निरीक्ष्यमाणावित्यर्थः । तमृषिमन्वगच्छताम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—पितुः नयनजेन वारिणा किञ्चित् उक्षितशिखण्डकौ धन्विनौ तौ पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ तम् ऋषिम् अन्वगच्छताम् ।

पिता के नेत्रों से उत्पन्न अश्रुजल से कुछ-कुछ सिञ्चित (प्रोक्षित) केशशिखा वाले धनुष धारण करने वाले उन दोनों राजकुमारों ने, जिनके लिए मानो दर्शनार्थी नागरिकों ने अपने नेत्ररूपी नीलकमलों से मार्ग में तोरण सजाये थे, उस ऋषि विश्वामित्र का अनुसरण किया ॥ ५ ॥

लक्ष्मणानुचरमेव राघवं नेतुमैच्छदृषिरित्यसौ नृपः ।
आशिषं प्रयुयुजे न वाहिनीं सा हि रक्षणविधौ तयोः क्षमा ॥ ६ ॥

लक्ष्मणेति । ऋषिर्लक्ष्मणानुचरमेव लक्ष्मणमात्रानुचरं तं राघवं नेतुमैच्छदिति हेतोरसौ नृप आशिषं प्रयुयुजे प्रयुक्तवान् । वाहिनीं सेनां न प्रयुयुजे न प्रेषितवान् । हि यस्मात्साऽऽशीरेव तयोः कुमारयो रक्षणविधौ क्षमा शक्ता ॥६॥

अन्वयः—ऋषिः लक्ष्मणानुचरमेव राघवं नेतुम् ऐच्छत् इति असौ नृपः आशिषं प्रयुयुजे। वाहिनीम् न प्रयुयुजे हि सा तयोः रक्षणविधौ क्षमा।

ऋषि विश्वामित्र जी ने लक्ष्मण के ही साथ राम को ले जाने की इच्छा की, इस लिए उस राजा दशरथ ने उन्हें आशीर्वाद दिया। उनके साथ सेना नहीं भेजी, क्योंकि वह आशीर्वाद ही उन दोनों की रक्षा करने में सक्षम था॥६॥

मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पदवीं महौजसः।
रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव॥७॥

मातृवर्गेति। मातृवर्गस्य चरणान्स्पृशत इति मातृवर्गचरणस्पृशौ, कृतमातृवर्गनमस्काराविन्यर्थः। 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इति क्विन्प्रत्ययः। तौ महौजसो मुनेः पदवीं प्रपद्य। महौजसो भास्करस्य गतिवशान्मेषादिराशिसंक्रान्त्यनुसारात्प्रवर्तिनौ मधुमाधवाविव चैत्रवैशाखाविव रेजतुः। 'फणां च सप्तानाम्' इति वैकल्पिकावेत्वाभ्यासलोपौ। 'स्याच्चैत्रे चैत्रिको मधुः' इति। 'वैशाखे माधवो राधः' इति चामरः॥७॥

अन्वयः—मातृवर्ग चरणस्पृशौ तौ महौजसः मुनेः पदवीं प्रपद्य महौजसः भास्करस्य गतिवशात् प्रवर्तिनौ मधुमाधवौ इव रेजतुः।

माताओं के चरणों का स्पर्श करने वाले वे दोनों राम और लक्ष्मण महा तेजस्वी मुनि के मार्ग पर चल कर उसी प्रकार सुशोभित हुए जिस प्रकार महा प्रतापी सूर्य की गति के कारण प्रवर्तन करने वाले मधु (चैत्र) और माधव (वैशाख) सुशोभित होते हैं॥७॥

वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गतं शैशवाच्चपलमप्यशोभत।
तोयदागम इवोद्ध्यभिद्ययोर्नामधेयसदृशं विचेष्टितम्॥८॥

वीचीति। वीचिलोलभुजयोस्तरङ्गचञ्चलबाह्वोः। इदं विशेषणं नदोपमानसिद्ध्यर्थं वेदितव्यम्। तयोश्चपलं चञ्चलमपि गतं गतिः शैशवाद्धेतोरशोभत। किमिव, तोयदागमे वर्षासमये उज्झत्युदकमित्युद्ध्यः। भिनत्ति कूलमिति भिद्यः 'भिद्योद्ध्यौ नदे' इति क्यवन्तौ निपातितौ। उद्ध्यभिद्योर्नदविशेषयोर्नामधेयसदृशं नामानुरूपं विचेष्टितमिव। उदकोज्झनकूलभेदनरूपव्यापार इव। समयोत्पन्नं चापलमपि शोभत इति भावः॥८॥

अन्वयः—वीचिलोलभुजयोः तयोः चपलमपि गतं शैशवात् अशोभत, तोयदागमे उद्ध्यभिद्ययोः नामधेयसदृशं विचेष्टितम् इव।

तरङ्गों के समान चञ्चल भुजाओं वाले उन दोनों बालकों की चञ्चल गति भी उसी प्रकार बाल्यावस्था के कारण अच्छी लगती थी जैसे वर्षा समय में उद्ध्य और भिद्य नामक नद विशेषों का नाम के समान आचरण अच्छा लगता है ।। ८ ।।

तौ बलातिबलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः ।
मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ मातृपार्श्वपरिवर्तिनाविव ।। ९ ।।

ताविति । मणिकुट्टिमोचितौ मणिबद्धभूमिसञ्चारोचितौ तौ मुनिप्रदिष्टयोः कौशिकेनोपदिष्टयोर्बलातिबलयोर्विद्ययोर्बलातिबलाख्ययोर्मन्त्रयोः प्रभावतः सामर्थ्यान्मातृपार्श्वपरिवर्तिनौ मातृसमीपवर्तिनाविव पथि न मम्लतुः, न म्लानावित्यर्थः । अत्र रामायणश्लोकः—'क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम । बलामतिबलां चैव पठतः पथि राघव ।।' ।। ९ ।।

अन्वयः—मणिकुट्टिमोचितौ तौ मुनिप्रदिष्टयोः बलातिबलयोः प्रभावतः मातृपार्श्वपरिवर्तिनौ इव पथि न मम्लतुः ।

मणिमय फर्श पर चलने योग्य वे दोनों राजकुमार विश्वामित्र मुनि द्वारा उपदिष्ट "बला" और "अतिबला" विद्या के प्रभाव से माता के समीपवर्ती के समान मार्ग में म्लान (दुःखी) नहीं हुए ।। ९ ।।

पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः ।
उह्यमान इव वाहनोचितः पादचारमपि न व्यभावयत् ।। १० ।।

पूर्ववृत्तेति । वाहनोचितः सानुजो राघवः । पुराविदः पूर्ववृत्ताभिज्ञस्य पितृसखस्य मुनेः पूर्ववृत्तकथितैः पुरावृत्तकथाभिरुह्यमान इव वाहनेन प्राप्यमाण इव । वहेर्धातोः कर्मणि शानच् । 'उह्यमानः' इत्यत्र दीर्घादिरपपाठः । दीर्घप्राप्त्यभावात् पादचारमपि न व्यभावयन्न ज्ञातवान् ।। १० ।।

अन्वयः—वाहनोचितः सानुजः राघवः पुराविदः पितृसखस्य पूर्ववृत्तकथितैः उह्यमान इव पादचारमपि न व्यभावयत् ।

(हाथी-घोड़ा रथ आदि) सवारियों के द्वारा चलने योग्य अनुज-लक्ष्मण के साथ रघुनन्दन राम पुराण मर्मज्ञ पिता के मित्र विश्वामित्र के प्राचीन इतिहास कथाओं के कथनों से ले जाये जाते हुए मानो पैदल चलने का आभास भी नहीं पा सके ।। १० ।।

तौ सरांसि रसवद्भिरम्बुभिः कूजितैः श्रुतिसुखैः पतत्त्रिणः ।
वायवः सुरभिपुष्परेणुभिश्छायया च जलदाः सिषेविरे ॥ ११ ॥

ताविति । तौ राघवौ कर्मभूतौ सरांसि कर्तृणि रसवद्भिर्मधुरैरम्बुभिः सिषेविरे । पतत्त्रिणः पक्षिणः सुखयन्तीति सुखानि । पचाद्यच् । श्रुतीनां सुखानि । तैः कूजितैः । वायवः सुरभिपुष्परेणुभिः सुगन्धिपरागैः । जलदाश्छायया च सिषेविरे इति सर्वत्र सम्बध्यते ॥ ११ ॥

अन्वयः—तौ सरांसि रसवद्भिः अम्बुभिः, पतत्त्रिणः श्रुतिसुखैः कूजितैः, वायवः सुरभिपुष्परेणुभिः जलदाः छायया च सिषेविरे ।

तालाबों ने स्वादिष्ट मधुर जलों से, पक्षियों ने श्रवण-सुखद कलरवों से, वायुओं ने सुगन्धित पुष्प के परागों से और मेघों ने (धूप निवारण करने वाली) छाया से उन दोनों राजकुमारों (राम और लक्ष्मण) की सेवा की ॥ ११ ॥

नाम्भसां कमलशोभिनां तथा शाखिनां च न परिश्रमच्छिदाम् ।
दर्शनेन लघुना यथा तयोः प्रीतिमापुरुभयोस्तपस्विनः ॥ १२ ॥

नाम्भसामिति । तप एषामस्तीति तपस्विनः । 'तपःसहस्राभ्यां विनीनी' इति विनिप्रत्ययः । लघुनेष्टेन 'त्रिष्विष्टेऽल्पे लघुः' इत्यमरः । तयोरुभयोः कर्मभूतयोः । दर्शनेन यथा प्रीतिमापुः तथा कमलशोभिनामम्भसां दर्शनेन नापुः । परिश्रमच्छिदां शाखिनां दर्शनेन च नापुः ॥ १२ ॥

अन्वयः—तपस्विनः लघुना तयोः 'उभयोः' दर्शनेन यथा प्रीतिमापुः तथा कमलशोभिनां अम्भसाम् परिश्रमच्छिदाम् शाखिनां च दर्शनेन नापुः ।

तपस्वियों ने स्वल्पमात्र या अभीष्ट उन दोनों के दर्शन से जैसा आनन्द प्राप्त किया वैसा कमलों से सुशोभित जल और परिश्रम दूर करने वाले छायेदार वृक्षों के दर्शन से नहीं पाया ॥ १२ ॥

स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकार्मुकः ।
विग्रहेण मदनस्य चारुणा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा ॥ १३ ॥

स्थाणुदग्धेति । स आत्तकार्मुकः । दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथी रामः । 'अत इञ्' इतीञ्प्रत्ययः । स्थाणुर्हरः । 'स्थाणुः कीले हरे स्थिरे' इति विश्वः । तेन दग्धवपुषो मदनस्य तपोवनं प्राप्य चारुणा विग्रहेण कायेन । 'विग्रहः समरे काये'

इति विश्वः । प्रतिनिधिः प्रतिकृतिः सदृशोऽभवत्कर्मणा न पुनः देहेन मदनसुन्दर इति भावः ॥ १३ ॥

अन्वयः—सः आत्तकार्मुकः दाशरथिः स्थाणुदग्धवपुषः तपोवनं प्राप्य चारुणा विग्रहेण 'मदनस्य' प्रतिनिधिः अभवत् कर्मणा न ।

वह धनुषधारी दशरथ—नन्दन तपोवन में पहुँचकर सुन्दर शरीर से शिव द्वारा जलाये गये शरीरवाले कामदेव के प्रतिनिधि हो गए, किन्तु कर्म से नहीं हुए ॥ १३ ॥

तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते कौशिकाद्विदितशापया पथि ।
निन्यतुः स्थलनिवेशिताटनी लीलयेव धनुषी अधिज्यताम् ॥ १४ ॥

ताविति । अत्र रामायणवचनम्—'अगस्त्यः परमक्रुद्धस्ताडकामभिशप्तवान् । पुरुषादी महायक्षी विकृता विकृतानना । इदं रूपमपहाय दारुणं रूपमस्तु ते । इति । तदेतदाह—विदितशापयेति । कौशिकादाख्यातुः । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानात्पञ्चमी । विदितशापया सुकेतुसुतया ताडकया खिलीकृते पथि । 'खिलमप्रहतं स्थानम्' इति हलायुधः । रामलक्ष्मणौ । स्थले निवेशिते अटनी धनुष्कोटी याभ्यां तौ तथोक्तौ । 'कोटिरस्याटनी' इत्यमरः । लीलयेव धनुषी । अधिकृते ज्ये मौर्व्यौ ययोस्ते अधिज्ये । 'ज्या मौर्वीमातृभूमिषु' इति विश्वः । तयोर्भावस्तत्तामधिज्यतां निन्यतुर्नीतवन्तौ नयतिर्द्विकर्मकः ॥ १४ ॥

अन्वयः—विदितशापया कौशिकात् सुकेतुसुतया खिलीकृते पथि तौ स्थलनिवेशिताटनी लीलयेव धनुषी अधिज्यतां निन्यतुः ।

विश्वामित्र से जिसका शाप विदित हो गया है उस सुकेतु-पुत्री ताडका के द्वारा मार्ग अवरुद्ध कर दिये जाने पर उन दोनों राजकुमारों ने पृथ्वी पर धनुष की कोटि (किनारा) रखकर लीलापूर्वक धनुषों को प्रत्यञ्चा से युक्त किया ॥ १४ ॥

ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाछविः ।
ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निबिडा वलाकिनी ॥ १५ ॥

ज्यानिनादमिति । अथ तयोर्ज्यानिनादं गृह्णती जानती, शृण्वतीत्यर्थः । बहुलक्षपाछविः कृष्णपक्षरात्रिवर्णा । 'बहुलः कृष्णपक्षे च' इति विश्वः । चले कपाले एव कुण्डले यस्याः सा तथोक्ता ताडका । निबिडा सान्द्रा वलाकिनी

वलाकावती । 'व्रीह्यादिभ्य' इतीनिः । कालिकेव घनालीव । 'कालिका योगिनीभेदे कार्ष्ण्ये गौर्यां घनावलौ' इति विश्वः । प्रादुरास प्रादुर्बभूव ॥ १५ ॥

अन्वयः—अथ तयोः ज्यानिनादं गृह्णती बहुलक्षपाछविः चलकपालकुण्डला ताडका निबिडा वलाकिनी कालिका इव प्रादुरास ।

इसके पश्चात् उन दोनों राजकुमारों की प्रत्यञ्चा के शब्द को सुनती हुयी कृष्णपक्ष की अन्धेरी रात्रि के समान काली छवि वाली, चलते हुए कपालरूपी कुण्डलों वाली ताडका, सघन वलाकावाली युक्त मेघमाला के समान प्रकट हुयी ।१५।

तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया ।
अभ्यभावि भरताग्रजस्तया वात्ययेव पितृकाननोत्थया ॥ १६ ॥

तीव्रवेगेति । तीव्रवेगेन धुताः कम्पिता मार्गवृक्षा यया तथोक्तया । प्रेतचीवराणि वस्त इति प्रेतचीवरवाः । तया प्रेतचीवरवसा । वसतेराच्छादनार्थात्क्विप् । स्वनेन सिंहनादेनोग्रया तया ताडकया । पितृकानने श्मशान उत्थोत्पन्ना । 'आतश्चोपसर्गे' इत्युत्पूर्वात्तिष्ठतेः कर्तरि क्तप्रत्ययः । तया वात्ययेव वातसमूहेनेव । 'पाशादिभ्यो यः' इति यः । भरताग्रजो रामोऽभ्यभाव्यभिभूतः । कर्मणि लुङ् । तीव्रवेगेत्यादिविशेषणानि वात्यायामपि योज्यानि ॥ १६ ॥

अन्वयः—तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया तया पितृकाननोत्थया वात्यया इव भरताग्रजः अभ्यभावि ।

प्रचण्ड वेग से मार्ग के वृक्षों को प्रकम्पित कर देने वाली शववस्त्र (कफन) से आच्छादित, सिंहनाद से उग्र उस ताड़का के द्वारा श्मशान से उठी हुयी वात्या (बवण्डर) के समान भरत के अग्रज राम अभिभूत हो गए ॥ १६ ॥

उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम् ।
तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्रिणा सह मुमोच राघवः ॥ १७ ॥

उद्यतैकेति । उद्यतोन्नमितैको भुज एव यष्टिर्यस्यास्ताम् । आयतीमायान्तीम् । इणो धातोः शतरि 'उगितश्च' इति ङीप् । श्रोणिलम्बिनी पुरुषाणामन्त्राण्येव मेखला यस्यास्ताम् । इति विशेषणद्वयेनाप्याततायित्वं सूचितम् । अत एव तां विलोक्य राघवो वनितावधे स्त्रीवधनिमित्तो घृणां जुगुप्सां करुणां वा । 'जुगुप्साकरुणे घृणे' इत्यमरः । पत्रिणेषुणा सह । 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः । मुमोच मुक्तवान् । आततायिवधे मनुः—'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् । जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् । नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' इति ॥ १७ ॥

अन्वयः—उद्यतैकभुजयष्टिम् आयतीम् श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम् ताम् विलोक्य राघवः वनितावधे घृणां पत्रिणा सह मुमोच ।

ऊपर की ओर उठी हुई एक भुजारूपी छड़ी वाली पुरुष की अतड़ियों की करधनी कमर में लटकाए हुई, उस ताड़का को आती हुई देखकर रघुवंशी राम ने स्त्री बध के विषय में बाण के साथ घृणा छोड़ दी। [और बाण भी छोड़ा–मारा] ॥ १७ ॥

यच्चकार विवरं शिलाघने ताडकोरसि स रामसायकः ।
अप्रविष्टविषयस्य रक्षसां द्वारतामगमदन्तकस्य तत् ॥ १८ ॥

यदिति । स रामसायकः शिलावद्घने सान्द्रे ताडकोरसि यद्विवरं रन्ध्रं चकार तद्विवरं रक्षसामप्रविष्टविषयस्य, अप्रविष्टरक्षोदेशस्येत्यर्थः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः ! 'विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च' इति विश्वः। अन्तकस्य यमस्य द्वारतामगमत् । इयं प्रथमा रक्षोमृतिरिति भावः ॥ १८

अन्वयः—सः रामसायकः शिलाघने ताडकोरसि यद् विवरं चकार तत् रक्षसाम् अप्रविष्टविषयस्य अन्तकस्य द्वारतामगमत् ।

उस राम के बाण ने प्रस्तर के समान ठोस ताडका की कड़ी छाती में जो छेद किया, उस छिद्र ने ही राक्षसों के देश में प्रवेश न करने वाले यमराज का द्वार खोल दिया ॥ १८ ॥

बाणभिन्नहृदया निपेतुषी सा स्वकाननभुवं न केवलाम् ।
विष्टपत्रयपराजयस्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् ॥ १९ ॥

बाणभिन्नेति । बाणभिन्नहृदया निपेतुषी निपतिता सती । 'क्वसुश्च' इति क्वसुप्रत्ययः। 'उगितश्च' इति ङीप् । सा केवलामेकाम् । 'निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गंत्वेककृत्स्नयोः' इत्यमरः। स्वकाननभुवं न व्यकम्पयत् । किन्तु विष्टपत्रयस्य लोकत्रयस्य पराजयेन स्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् । ताडकावधश्रवणेन रावणस्यापि भयमुत्पन्नमिति भावः ॥ १९ ॥

अन्वयः—बाणभिन्नहृदया निपेतुषी सा केवलाम् स्वकाननभुवं न व्यकम्पयत् (किन्तु) विष्टपत्रयपराजयस्थिराम् रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् ।

बाण से विदीर्ण हृदयवाली गिरी हुई उस ताड़का ने केवल अपने वन की भूमि को ही नहीं हिला दिया बल्कि तीनों भुवनों की पराजय से सुस्थिर रावण की राज्य श्री को भी प्रकम्पित (भयभीत) कर दिया ॥ १९ ॥

अत्र ताडकाया अभिसारिकायाः समाधिरभिधीयते—

रामन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा॥ २०॥

राममन्मथेति। सा निशासु चरतीति। निशाचरी राक्षसी, अभिसारिका च। दुःसहेन सोढुमशक्येन राम एव मन्मथः, अन्यात्राभिरामो मन्मथः। तस्य शरेण हृदय उरसि मनसि च। 'हृदयं मन उरसोः' इति विश्वः। ताडिता विद्धाङ्गी गन्धवद् दुर्गन्धि यद्रुधिरमसृक् तदेव चन्दनं तेनोक्षितालिप्ता। अन्यत्र गन्धवती सुगन्धिनी ये रुधिरचन्दने कुङ्कुमचन्दने ताभ्यामुक्षिता, यद्वा गन्धवत् रुधिरमिव चन्दनं हरिचन्दनमित्यर्थः। 'रुधिरं कुङ्कुमासृजोः' इत्युभयत्रापि विश्वः। जीवितेशस्यान्तकस्य प्राणेश्वरस्य च वसतिं जगाम॥ २०॥

अन्वयः—सा निशाचरी दुःसहेन राममन्मथशरेण ताडिता गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम।

वह रात्रि में अभिसार करने वाली असह्य काम बाण से आहत गन्धयुक्त लाल चन्दन का लेप की हुयी अभिसारिका प्राणेश्वर के निवास स्थान पर चली गयी॥ २०॥

नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात्।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्सूर्यकान्त इव ताडकान्तकः॥ २१॥

नैर्ऋतघ्नमिति। अथानन्तरं ताडकान्तको रामः। अवदानं पराक्रमः। 'पराक्रमोऽवदानं स्यात्' इति भागुरिः। तेन तोषितान्मुनेः नैर्ऋतान् राक्षसान्हन्तीति नैर्ऋतघ्नम्। 'अमनुष्यकर्तृके च' इति ठक्। मन्त्रवन्मन्त्रयुक्तमस्त्रम्। सूर्यकान्तो मणिविशेषो भास्करादिन्धनानि निपातयतीतीन्धननिपाति काष्ठदाहकं ज्योतिरिव। प्रापत्प्राप्तवान्॥ २१॥

अन्वयः—अथ ताडकान्तकः अवदानतोषितात् मुनेः नैर्ऋतघ्नम् मन्त्रवत् अस्त्रम् सूर्यकान्तः भास्करात् इन्धननिपाति ज्योतिः इव प्रापत्।

इसके अनन्तर ताडका का अन्त करने वाले राम ने अपने पराक्रम से सन्तुष्ट मुनि विश्वामित्र से राक्षसों को मारने वाला, मन्त्र से युक्त अस्त्र उसी प्रकार प्राप्त किया जैसे सूर्यकान्त मणि सूर्य से लकड़ी जलानेवाली ज्योति पाता है॥२१॥

वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरुपेयिवान्।
उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः॥ २२॥

वामनेति । ततः परं राघवः ऋषेः कौशिकादाख्यातुः श्रुतं पावनं शोधनं वामनस्य स्वपूर्वावतारविशेषस्याश्रमपदमुपेयिवानुपगतः सन् । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति निपातः । प्रथमजन्मचेष्टितानि रामवामनयोरैक्यात्स्मृतियोग्यान्यपि रामस्याज्ञातावतारत्वेन संस्कारदौर्बल्यादस्मरन्नपि उन्मना उत्सुको बभूव ॥२२॥

अन्वयः—ततः परं ऋषेः श्रुतं पावनं वामनाश्रमपदं उपेयिवान् प्रथमजन्मचेष्टितानि अस्मरन्नपि उन्मना बभूव ।

तत्पश्चात् ऋषि विश्वामित्र से श्रवण किए गए, पवित्र वामनाश्रम के स्थल पर पहुँचे हुए श्रीराम (वामनावतार के) पूर्व जन्म की चेष्टाओं का स्मरण न करते हुए भी (वहाँ जाने के लिए) उत्सुक हो गए ॥ २२ ॥

आससाद मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणम् ।
बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनम् ॥ २३ ॥

आससादेति । ततो मुनिः । शिष्यवर्गेण परिकल्पिता सज्जितार्हणा पूजासामग्री यस्मिस्तत्तथोक्तम् । 'सपर्याचार्हणाः समाः' इत्यमरः । बद्धाः पल्लवपुटा एवाञ्जलयो यैस्ते तथाभूता द्रुमा यस्मिस्तत्तथोक्तम् । दर्शनेन मुनिदर्शनेनोन्मुखा मृगा यस्मिस्तत् । आत्मनस्तपोवनमाससाद । एतेन विशेषणत्रयेणातिथिसत्कारताच्छील्यविनयशान्तयः सूचिताः ॥ २३ ॥

अन्वयः—ततः मुनिः शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणम् बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृगं आत्मनः तपोवनम् आससाद ।

तत्पश्चात् मुनि विश्वामित्र अपने उस तपोवन में पहुँचे, जहाँ शिष्य-समुदाय द्वारा पूजा-सामग्री सज्जित की गयी थी, वृक्ष पल्लव-पुट रूपी अञ्जलि बाँधे थे, और दर्शन के लिए मृग अपना मुँह ऊपर उठाये हुए थे । २३ ॥

तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः ।
लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभिः शशिदिवाकराविव ॥ २४ ॥

तत्रेति । तत्र तपोवने आश्रमे दशरथात्मजौ दीक्षितं दीक्षासंस्कृतमृषिं शरैर्विघ्नतो विघ्नेभ्यः । क्रमेण पर्यायेण रात्रिदिवसयोरुदितौ शशिदिवाकरौ रश्मिभिः किरणैरन्धतमसाद् गाढध्वान्तात् । 'ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम्' इत्यमरः । अघसमन्धेभ्यस्तमसः' इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः । लोकमिव ररक्षतुः । रक्षणप्रवृत्तावभतामित्यर्थः ॥ २४ ॥

शीघ्र ही (तत्काल) लक्ष्मण के अग्रज राम ने तरकस के मुख से बाण निकालते हुए ऊपर की ओर मुख किए, गीधपक्षियों के पंखों की हवा से हिलती हुई पताका वाली राक्षसों की सेना देखी ॥ २६ ॥

तत्र यावधिपती मखद्विषां तौ शरव्यमकरोत्स नेतरान् ।
किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुड: प्रवर्तते ॥ २७ ॥

तत्रेति । स रामस्तत्र रक्षसां बले यो मखद्विषां मखं यज्ञं द्विषन्तीति तेषाम् । अधिपती तौ सुबाहुमारीचौ शरव्यं लक्ष्यमकरोत् । 'वेध्यं लक्ष्यं शरव्यं च' इति हलायुधः । इतरान्नाकरोत् । तथा हि—महोरगविसर्पिविक्रमो गरुणो गरुत्मान् राजिलेषु जलव्यालेषु प्रववंते किम्, न प्रवर्तते इत्यर्थः । 'अलगर्दो जलव्यालः समौ राजिलडुण्डुभौ' इत्यमरः ॥ २७ ॥

अन्वय:—सः तत्र यौ मखद्विषाम् अधिपती तौ शरव्यम् अकरोत् इतरान् नाकरोत् महोरगविसर्पिविक्रमः गरुडः राजिलेषु प्रवर्तते किम् ।

उस राम ने वहाँ राक्षसों की सेना में जो यज्ञविध्वंसकों के दो अधिपति—(मुखिया सुबाहु और मारीच) थे, उन्हें ही लक्ष्य बनाया अन्यों को नहीं । बड़े-बड़े विषधर सर्पों के ऊपर सफल पराक्रम वाले गरुड़ क्या पानी के निर्विष साँपों पर प्रवृत्त होते हैं ? अर्थात् नहीं प्रवृत्त होते हैं ॥ २७ ॥

सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविदः सन्दधे धनुषि वायुदैवतम् ।
तेन शैलगुरुमप्यपातयत्पाण्डुपत्रमिव ताडकासुतम् ॥ २८ ॥

स इति । अस्त्रकोविदोऽस्त्रज्ञः स राम उग्रजवमुत्कटजवं वायुदैवतं वायुर्देवता अस्य तद्वायव्यमस्त्रं धनुषि सन्दधे संहितवान् । कर्तरि लिट् । तेनास्त्रेण शैलवद्-गुरुमपि ताडकासुतं मारीचं पाण्डुपत्रमिव, परिणतपर्णमिवेत्यर्थः । अपातयत्पातितवान् ॥ २८ ॥

अन्वय:—अस्त्रकोविदः सः उग्रजवम् वायुदैवतम् अस्त्रम् धनुषि सन्दधे । तेन शैलगुरुम् अपि ताडकासुतम् पाण्डुपत्रमिव अपातयत् ।

अस्त्र विद्या में पारंगत राम ने भयंकर तीव्र वेग वाले तथा वायुदेवता वाले वायव्य अस्त्र को धनुष पर रखकर सन्धान किया । उस अस्त्र से पर्वत के समान भारी भी ताडका के पुत्र मारीच को पके हुए पीले पत्ते के समान गिरा दिया ॥ २८ ॥

य: सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया ।
तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्त्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः ॥ २९ ॥

य इति । सुबाहुरिति । योऽपरो राक्षसस्तत्र तत्र मायया शम्बरविद्यया विससर्प सञ्चचार । क्षुरप्रैः शरविशेषैः शकलीकृतं खण्डीकृतं तं सुबाहुं कृती कुशलो रामः । 'इष्टादिभ्यश्च' इति इनिः । 'कृती कुशल इत्यपि' इत्यमरः । आश्रमाद्बहिः पत्त्रिणां पक्षिणाम् । 'पत्त्रिणौ शरपक्षिणौ' इत्यमरः । व्यभजत्, विभज्य दत्तवानित्यर्थः ॥ २९ ॥

अन्वय:—सुबाहुः इति यः अपरः राक्षसः तत्र 'तत्र' मायया विससर्प, क्षुरप्रशकलीकृतं तं कृती आश्रमाद् बहिः पत्त्रिणाम् व्यभजत् ।

सुबाहु नामक जो दूसरा राक्षस वहाँ माया से (शम्बर विद्या से) सञ्चार कर रहा था, क्षुरप्र नामक वाण से खण्ड-खण्ड कर काटे गए उस राक्षस को कुशल राम ने आश्रम से बाहर पक्षियों को (खाने के लिए) बाँट दिया ॥२९॥

इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम् ।
ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रियाः ॥ ३० ॥

इतीति । इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयो राघवयोः । संयुगे रणे साधुः सांयुगीनस्तम् । 'प्रतिजनादिभ्यः खञ्' इति खञ्प्रत्ययः । 'सांयुगीनो रणे साधुः' इत्यमरः । विक्रमं पौरुषमभिनन्द्य सत्कृत्य ऋत्विजो याज्ञिकाः । वाचि यतो वाग्यतो मौनी तस्य कुलपतेर्मुनिकुलेश्वरस्य क्रियाः क्रतुक्रिया यथाक्रमं निरवर्तयन्निष्पादितवन्तः ॥ ३० ॥

अन्वय:—इति अपास्तमखविघ्नयोः तयोः सांयुगीनं विक्रमं अभिनन्द्य ऋत्विजः वाग्यतस्य कुलपतेः क्रियाः यथाक्रमं निरवर्तयन् ।

इस प्रकार यज्ञ के विघ्नों को दूर करने वाले उन दोनों राजकुमारों के रण-कौशल-पराक्रम का अभिनन्दन कर याज्ञिकों ने वाणी का संयम करने वाले मौनी कुलपति विश्वामित्र की यज्ञक्रियायें धीरे-धीरे सम्पन्न कीं ॥ ३० ॥

तौ प्रणामचलकाकपक्षकौ भ्रातराववभृथाप्लुतो मुनिः ।
आशिषामनुपदं समस्पृशद्दर्भपाटिततलेन पाणिना ॥ ३१ ॥

ताविति । अवभृते दीक्षान्त आप्लुतः स्नातो मुनिः । 'दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञे' इत्यमरः । प्रणामेन चलकाकपक्षकौ चञ्चलचूडौ तौ भ्रातरावाशिषामनुपदमन्वद-

र्भपाटिततलेन कुशक्षतान्तःप्रदेशेन, पवित्रोणेत्यर्थः । पाणिना समस्पृशत्संस्पृष्टवान्, सन्तोषादिति भावः ।। ३१ ।।

अन्वयः—अवभृथाप्लुतो मुनिः प्रणामचलकाकपक्षकौ तौ भ्रातरौ आशिषामनुपदम् दर्भपाटिततलेन पाणिना समस्पृशत् ।

यज्ञ के अन्त में होने वाले अवभृत स्नान किए हुए मुनि विश्वामित्र ने प्रणाम करने से चञ्चल शिखा वाले दोनों भाइयों (रामलक्ष्मण) को आशीर्वादों के समनन्तर ही कुश से कटे करतल वाले हाथ से सुस्पर्श किया ।। ३१ ।।

तं न्यमन्त्रयत सम्भृतक्रतुर्मैथिलः स मिथिलां व्रजन्वशी ।
राघवावपि निनाय बिभ्रतौ तद्धनुःश्रवणजं कुतूहलम् ।। ३२ ।।

तमिति । सम्भृतक्रतुः संकल्पितसम्भारो मिथिलायां भवो मैथिलो जनकस्तं विश्वामित्रं न्यमन्त्रयताहूतवान् । वशी स मुनिर्मिथिलां जनकनगरीं व्रजंस्तस्य जनकस्य यद्धनुस्तच्छ्रवणजं कूतूहलं बिभ्रतौ राघवावपि निनाय नीतवान् ।। ३२ ।।

अन्वयः—सम्भृतक्रतुः मैथिलः तं न्यमन्त्रायत वशी सः मिथिलां व्रजन् तद्धनुःश्रवणजं कुतूहलम् बिभ्रतौ राघवौ अपि निनाय ।

(सीता के विवाहार्थ धनुष) यज्ञ का संकल्प करने वाले मिथिलाधिपति जनक ने विश्वामित्र को निमन्त्रित किया । इन्द्रियों को संयत रखने वाले उस ऋषि ने मिथिला जाते हुए उस जनक के धनुष के श्रवण से उत्पन्न कुतूहल धारण करने वाले उन दोनों रघुवंशी कुमारों को भी अपने साथ ले लिया ।। ३२ ।।

तैः शिवेषु वसतिर्गताध्वभिः सायमाश्रमतरुष्वगृह्यत ।
येषु दीर्घतपसः परिग्रहो वासवक्षणकलत्रतां ययौ ।। ३३ ।।

तैरिति । गताध्वभिस्तैस्त्रिभिः सायं शिवेषु रम्येष्वाश्रमतरुषु वसतिः स्थानमगृह्यत । येष्वाश्रमतरुषु दीर्घतपसो गौतमस्य परिग्रहः पत्नी । 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः । अहल्येति यावत् । वासवस्येन्द्रस्य क्षणकलत्रतां ययौ ।। ३३ ।।

अन्वयः—गताध्वभिः तैः सायं शिवेषु आश्रमतरुषु वसतिः अगृह्यत, येषु दीर्घतपसः परिग्रहः वासवक्षणकलत्रतां ययौ ।

मार्ग अतिक्रमण किये हुये (रास्ता पार कर लेने वाले) उन तीनों (विश्वामित्र और रामलक्ष्मण) ने मंगलमय आश्रम के वृक्षों के नीचे निवास ग्रहण

किया । जिन आश्रम वृक्षों के नीचे महा तपस्वी गौतम ऋषि की पाणिगृहीता पत्नी अहल्या क्षण भर के लिये इन्द्र की रमणी बन गयी थी ॥ ३३ ॥

प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी ।
स्वं वपुः स किल किल्विषच्छिदां रामपादरजसामनुग्रहः ॥ ३४ ॥

प्रत्यपद्यत इति । शिलामयी भर्तृशापाच्छिलात्वं प्राप्ता गौतमवधूरहल्या चारुत्व दपुश्चिराय पुनः प्रत्यपद्यत प्राप्तवती यत् । स किल्विषच्छिदां पापहारिणाम् । 'पापं किल्विषकल्मषम्' इत्यमरः । रामपादरजसामनुग्रहः किल प्रसादः किलेति श्रूयते ॥ ३४ ॥

अन्वयः—शिलामयी गौतमवधूः चारु स्वं वपुः चिराय पुनः प्रत्यपद्यत यत् स किल्विषच्छिदाम् रामपादरजसाम् अनुग्रहः किल ।

(पति शाप से) पाषाण प्रतिमा बनी हुयी गौतम की पत्नी अहल्या ने जो पुनः अपना सुन्दर शरीर चिरकाल के लिये पा लिया वह केवल पापापहारी राम के चरण-रजों का अनुग्रह था ॥ ३४ ॥

राघवान्वितमुपस्थितं मुनिं तं निशम्य जनको जनेश्वरः ।
अर्थकामसहितं सपर्यया देहबद्धमिव धर्ममभ्यगात् ॥ ३५ ॥

राघवेति । राघवाभ्यामन्वितं युक्तमुपस्थितमागतं तं मुनिं जनको जनेश्वरो निशम्य आकर्ण्य । अर्थकामाभ्यां सहितं देहबद्धं बद्धदेहं, मूर्तिमन्तमित्यर्थः । आहिताग्न्यादित्वात्साधुः । धर्ममिव । सपर्ययाऽभ्यगात्प्रत्युद्गतवान् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—राघवान्वितं उपस्थितं तं मुनिम् जनकः जनेश्वरः निशम्य अर्थकामसहितं देहबद्धं धर्ममिव सपर्यया अभ्यगात् ।

राम और लक्ष्मण के साथ उस मुनि विश्वामित्र को आया हुआ सुनकर राजर्षि जनक ने अर्थ और काम के सहित देहधारी धर्म की भाँति पूजा की सामग्री से उनका अभ्युत्थान किया ॥ ३५ ॥

तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविव दिवः पुनर्वसू ।
मन्यते स्म पिबतां विलोचनैः पक्ष्मपातमपि वञ्चनां मनः ॥ ३६ ॥

ताविति । दिवः सुरवर्त्मन आकाशात् । 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः । गां भुवं गतौ । 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' इत्यमरः । पुनर्वसू इव तन्नामकनक्षत्राधिदेवते इव स्थितौ । तौ राघवौ विलोचनैः

पिबताम्, अत्यास्थया पश्यतामित्यर्थः। विदेहनगरी मिथिला तन्निवासिनां मनः कर्तृ पक्ष्मपातं निमेषमपि तद्दर्शनप्रतिबन्धकत्वाद्वञ्चनां विडम्बनां मन्यते स्म मेने। 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—दिवः गां गतौ पुनर्वसू इव तौ विलोचनैः पिबतां विदेहनगरीनिवासिनां मनः पक्ष्मपातमपि वञ्चनां मन्यते स्म।

स्वर्ग से पृथ्वी पर समागत मानो दो पुनर्वसुओं के समान उन दोनों बालकों को नेत्रों से पान करने वाले (अत्यन्त आस्थापूर्वक देखने वाले) जनकपुर वासियों का मन निमेषपात (पलक गिरने) को भी वञ्चना मानता था ॥ ३६ ॥

यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ कालवित्कुशिकवंशवर्धनः।
राममिष्वसनदर्शनोत्सुकं मैथिलाय कथयांम्बभूव सः ॥ ३७ ॥

यूपवतीति। यूपवति क्रियाविधौ कर्मानुष्ठाने, क्रतावित्यर्थः। अवसिते समाप्ते सति कालविदवसरज्ञः कुशिकवंशवर्धनः स मुनी रामम्। अस्यतेऽनेनेत्यसनम्। इषूणामसनमिष्वसनं चापम्। तस्य दर्शन उत्सुकं मैथिलाय जनकाय कथयाम्बभूव कथितवान् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—यूपवति क्रियाविधौ अवसिते कालवित् कुशिकवंशवर्धनः सः रामम् इष्वसनदर्शनोत्सुकम् मैथिलाय कथयाम्बभूव।

यूप (यज्ञस्तम्भ) वाली क्रिया विधि अर्थात् यज्ञ के समाप्त हो जाने पर अवसर को जानने वाले कुशिक वंश के उन्नायक उस ऋषि विश्वामित्र ने जनक जी से कहा कि 'श्री राम धनुष देखने के लिए उत्सुक हैं।' ॥ ३७ ॥

तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः।
स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया ॥ ३८ ॥

तस्येति। पार्थिवो जनकः प्रथितवंशे जन्म यस्य तथोक्तस्य। एतेन वरसंपत्तिरुक्ता। शिशोस्तस्य रामस्य ललितं कोमलं वपुर्वीक्ष्य। स्वं स्वकीयं दुरानममानमयितुमशक्यम्। नमेर्ण्यन्तात्खल्। धनुर्विचिन्त्य च दुहितृशुल्कं कन्यामूल्यं जामातृदेयम्। 'शुल्कं घट्टादिदेये स्याज्जामातुर्बन्धकेऽपि च' इति विश्वः। तस्य धनुर्भङ्गरूपस्य संस्थया स्थित्या। 'संस्था स्थितौ शरे नाशे' इति विश्वः। पीडितो बाधितः। शिशुना रामेण दुष्करमिति दुःखित इति भावः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः शिशोः तस्य ललितं वपुः वीक्ष्य स्वं दुरानमं धनुः विचिन्त्य च दुहितृशुल्कसंस्थया पीडितः।

राजर्षि जनक प्रसिद्ध वंश में जन्म लेने वाले उस बालक राम का सुन्दर शरीर देखकर और अपने बड़ी कठिनाई से झुकाने योग्य धनुष का विचार कर कन्या के मूल्य की स्थिति से दुःखी हुए ॥ ३८ ॥

अब्रवीच्च भगवन्मतङ्गजैर्यद्बृहद्भिरपि कर्म दुष्करम् ।
तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोघवृत्ति कलभस्य चेष्टितम् ॥ ३९ ॥

अब्रवीदिति । अब्रवीच्च । मुनिमिति शेषः । किमिति । हे भगवन्मुने ! बृहद्भिर्मतङ्गजैर्महागजैरपि दुष्करं यत्कर्म तत्र कर्मणि कलभस्य बालगजस्य । 'कलभः करिशावकः' इत्यमरः । मोघवृत्ति व्यर्थव्यापारं चेष्टितं साहसमनुमन्तुमहं नोत्सहे ॥ ३९ ॥

अन्वयः—अब्रवीच्च (मुनिमिति शेषः) हे भगवन् बृहद्भिः मतङ्गजैः अपि दुष्करं यत्कर्म तत्र कलभस्य मोघवृत्ति चेष्टितम् अनुमन्तुम् अहं नोत्सहे ।

और मुनि विश्वामित्र से कहा कि हे भगवन् ! बड़े विशाल हाथियों से भी जो कर्म होना कठिन है उसमें गज शिशु के निष्फल प्रयास के लिए मैं अनुमोदन नहीं कर सकता ॥ ३९ ॥

ह्रेपिता हि बहवो नरेश्वरास्तेन तात ! धनुषा धनुर्भृतः ।
ज्यानिघातकठिनत्वचो भुजान्स्वान्विधूय धिगिति प्रतस्थिरे ॥ ४० ॥

ह्रेपिता इति । हे तात ! धनुषा बहवो धनुर्भृतो नरेश्वरा ह्रेपिता ह्रियं प्रापिता हि । जिह्रतेर्धातोर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । 'अतिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ' इत्यनेन पुगागमः । ते नरेश्वरा ज्यानिघातैः कठिनत्वचः स्वान्भुजान्धिगिति विधूयावमत्य प्रतस्थिरे प्रस्थिताः ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे तात ! 'तेन' धनुषा बहवः धनुर्भृतः नरेश्वराः ह्रेपिता हि, ते ज्यानिघातकठिनत्वचः स्वान् भुजान् धिक् इति विधूय प्रतस्थिरे ।

चूँकि हे तात ! उस धनुष के द्वारा बहुत से धनुषधारी राजा लज्जित किये गए हैं इसलिए वे प्रत्यञ्चा के आघात से कठोर त्वचा (घट्टा) वाली अपनी भुजाओं को धिक्कार है इस प्रकार अपमानित कर चले गए ॥ ४० ॥

प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यतां सारतोऽयमथवा गिरा कृतम् ।
चाप एव भवतो भविष्यति व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव ॥ ४१ ॥

प्रत्युवाचेति । ऋषिस्तं नृपं प्रत्युवाच । किमिति । अयं रामः सारतो बलेन

निशम्यतां श्रूयताम् । अथवा गिरा सारवर्णनया कृतमलम् । गीर्न, वक्तव्येत्यर्थः । 'युगपर्याप्तयोः कृतम्' इत्यमरः । कृ अव्ययं चैतत् । 'तं निवारणनिषेधयोः' इति गणव्याख्याने । गिरेति करणे तृतीया । निषेधक्रियां प्रति करणत्वात् । किन्त्वशनिर्वज्रो गिराविव । चापे धनुष्येव भवतस्तव व्यक्तशक्तिर्दृष्टसारो भविष्यति ॥४१॥

अन्वयः—ऋषिः तम् प्रत्युवाच अयम् सारतः निशम्यताम् अथवा गिरा कृतम् । अशनिः गिरौ इव चापे एव भवतः व्यक्तशक्तिः भविष्यति ।

ऋषि विश्वामित्र जी ने राजा जनक से कहा कि इस बालक को सार से सुनिये (इसका पराक्रम सुनिये) अथवा अधिक बात कहने से क्या लाभ ? जैसे पर्वत पर वज्र की शक्ति व्यक्त हो जाती है उसी प्रकार आपके धनुष पर ही इसकी शक्ति प्रकट हो जायगी ॥ ४१ ॥

एवमाप्तवचनात्स पौरुषं काकपक्षकधरेऽपि राघवे ।
श्रद्दधे त्रिदशगोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि ॥ ४२ ॥

एवमिति । एवमाप्तस्य यथार्थवक्तुर्मुनेर्वचनात्स जनकः काकपक्षकधरे बालेऽपि राघवे पुरुषस्य कर्म पौरुषं पराक्रमम् । 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' इति युवादित्वादण् । 'पौरुषं पुरुषस्योक्तं भावे कर्मणि तेजसि' इति विश्वः । त्रिदशगोप इन्द्रगोपकीटः प्रमाणमस्य त्रिदशगोपमात्रः । 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इत्यनेन मात्रच्प्रत्ययः । ततः स्वार्थे कप्रत्ययः । तस्मिन्कृष्णवर्त्मनि वह्नौ दाहशक्तिमिव श्रद्दधे विश्वस्तवान् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—एवमाप्तवचनात् सः काकपक्षकधरेऽपि राघवे पौरुषं त्रिदशगोपमात्रके कृष्णवर्त्मनि दाहशक्तिम् इव श्रद्दधे ।

इस प्रकार यथार्थवादी विश्वामित्र के कहने से उस जनक जी ने शिखण्डक धारी भी बालक राम के पुरुषार्थ का इन्द्रवधूटी नामक बरसाती लाल कीड़े की मात्रा वाली अग्नि में भी जलाने की शक्ति के समान विश्वास कर लिया ॥४२॥

व्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्कार्मुकाभिहरणाय मैथिलः ।
तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये तोयदानिव सहस्रलोचनः ॥ ४३ ॥

व्यादिदेशेति । अथ मैथिलः पार्श्वगान्पुरुषान्कार्मुकाभिहरणाय कार्मुकमानेतुम् । 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी । सहस्रलोचन इन्द्रस्तैजसस्य तेजोमयस्य धनुषः प्रवृत्तये आविर्भावाय तोयदान्मेघानिव । गणान्गणशः 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' इति शस्प्रत्ययः । व्यादिदेश प्रजिघाय ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अथ मैथिलः पार्श्वगान् कार्मुकाभिहरणाय सहस्रलोचनः तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये तोयदान् इव गणशः व्यादिदेश।

इसके पश्चात् मिथिलाधिपति जनक ने निकटवर्ती लोगों को धनुष लाने के लिए उसी प्रकार आदेश दिया जैसे इन्द्र तेजोमय धनुष के आविर्भाव के लिए झुण्ड के झुण्ड मेघों को आदेश देता है॥ ४३॥

तत्प्रसुप्तभुजगेन्द्रभीषणं वीक्ष्य दाशरथिराददे धनुः।
विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं येन बाणमसृजद् वृषध्वजः॥ ४४॥

तदिति। दाशरथी रामः प्रसुप्तभुजगेन्द्र इव भीषणं भयङ्करं तद्धनुर्वीक्ष्याददे जग्राह। वृषो ध्वजश्चिह्नं यस्य स शिवो येन धनुषा। क्रतुरेव मृगः। विद्रुतं पलायितं क्रतुमृगमनुसरति। ताच्छील्ये णिनिः। तं विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं बाणमसृजन्मुमोच॥ ४४॥

अन्वयः—दाशरथिः प्रसुप्तभुजगेन्द्रभीषणं तत् धनुः वीक्ष्य आददे। वृषध्वजः येन विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं बाणमसृजत्।

दशरथ के पुत्र राम ने सोये हुए भुजगराज के समान भीषण उस धनुष को देखकर ग्रहण कर लिया जिसके द्वारा भगवान् शंकर ने भागे हुए यज्ञरूपी मृग का पीछा करने वाले बाण को छोड़ा था॥ ४४॥

आततज्यमकरोत्स संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः।
शैलसारमपि नातियत्नतः पुष्पचापमिव पेशलं स्मरः॥ ४५॥

आततज्यमिति। स रामः संसदा सभया विस्मयेन स्तिमिते नेत्रे यस्मिन्कर्मणि तद्यथा स्यात्तथेक्षितः सन्। शैलस्येव सारो यस्य तच्छैलसारमपि धनुः। स्मरः पेशलं कोमलं पुष्पचापमिव नातियत्नतो नातियत्नात् नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः। आततज्यमधिज्यमकरोत्॥ ४५॥

अन्वयः—सः संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः शैलसारमपि (धनुः) स्मरः पेशलम् पुष्पचापमिव नातियत्नतः आततज्यम् अकरोत्।

उस राम ने सभा द्वारा आश्चर्यचकित नेत्रों से अवलोकित होते हुए पर्वत के समान सारवान् (भारी) भी उस धनुष को उसी प्रकार से प्रत्यंचा से युक्त कर दिया जैसे कामदेव पुष्प धनुष को अनायास ही मौर्वीयुक्त कर देता है॥ ४५॥

भज्यमानमतिमात्रकर्षणात्तेन वज्रपरुषस्वनं धनुः।
भार्गवाय दृढमन्यवे पुनः क्षत्रमुद्यतमिव न्यवेदयत्॥ ४६॥

भज्यमानमिति । तेन रामेणातिमात्रकर्षणाद्भज्यमानमत एव वज्रपरुषस्वनम् वज्रमिव परुषः स्वनो यस्य तत् । धनुः कर्तृ । दृढमन्यवे दृढक्रोधाय । 'मन्युः क्रोध क्रतौ दैन्ये' इति विश्वः भार्गवाय क्षत्त्रं क्षत्त्रंकुलं पुनरुद्यतं न्यवेदयदिव ज्ञापयामासेव ॥ ४६ ॥

अन्वयः—तेन अतिमात्रकर्षणात् भज्यमानम् वज्रपरुषस्वनम् धनुः दृढमन्यवे भार्गवाय क्षत्रं पुनः उद्यतम् न्यवेदयदिव ।

उसी श्रीराम के द्वारा अत्यधिक खींचने से टूटते हुए वज्र के समान कठोर घोष करने वाले धनुष ने महाक्रोधी परशुराम को मानो इस बात की सूचना दे दी कि क्षत्रिय जाति पुनः (युद्धार्थ) उद्यत हो गयी है ।

दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः ।
राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥ ४७ ॥

दृष्टसारमिति । अथ मैथिलो जनको रुद्रकार्मुके शङ्करधनुषि दृष्टः सारः स्थिरांशो यस्य तद् दृष्टसारं विलोकितविक्रमम् । 'सारो बले स्थिरांशे च' इति विश्वः । वीर्यमेव शुल्कं, धनुर्भङ्गरूपमित्यर्थः । अभिनन्द्य राघवाय रामायायोनिजां देवयजनसम्भवां तनयां सीतां रूपिणीं श्रियमिव साक्षाल्लक्ष्मीमिव न्यवेदयदर्पितवान् । वाचेति शेषः ॥ ४७ ॥

उक्तमेवार्थं सोपस्कारमाह—

अन्वयः—अथ मैथिलः रुद्रकार्मुके दृष्टसारं वीर्यशुल्कं अभिनन्द्य राघवाय अयोनिजां तनयां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ।

इसके बाद मिथिलाधिपति जनक ने शङ्कर के धनुष पर परीक्षित पराक्रम वाले धनुष तोड़ने रूपी विक्रम के मूल्य का अभिनन्दन कर श्रीराम को अपनी अयोनिजा—यज्ञवेदि से उत्पन्न कन्या, मूर्तिमती लक्ष्मी के समान (वचन से) समर्पित कर दी ॥ ४७ ॥

मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम् ।
सन्निधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान् ॥ ४८ ॥

मैथिल इति । सत्यसङ्गरः सत्यप्रतिज्ञः । 'अथ प्रतिज्ञाजिसंविदापत्सु सङ्गरः' इत्यमरः । मैथिलो राघवायायोनिजां तनयां द्युतिमतस्तेजस्विनस्तपोनिधेः कौशिकस्य सन्निधौ । अग्निः साक्षी यस्य सोऽग्निसाक्षिकः । 'शेषाद्विभाषा' इति कप्प्रत्ययः । स एव । सपद्यतिसृष्टवान्दत्तवान् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—सत्यसङ्गरः मैथिलः राघवाय अयोनिजां तनयाम् द्युतिमतः तपोनिधेः सन्निधौ अग्निसाक्षिकः इव सपदि अतिसृष्टवान्।

सत्यसन्ध मिथिलेश्वर जनक जी ने रघुवंशी राम के लिए तेजस्वी तपोनिधि विश्वामित्र की सन्निधि में मानो अग्नि की साक्षी देकर अयोनिजा कन्या सीता को तत्क्षण दे दिया। (कन्या दान अग्नि की साक्षी देकर किया जाता है। विश्वामित्र जी अग्नितुल्य तेजस्वी हैं। अतः उनकी सन्निधि में जनक ने मानो अग्नि को ही साक्षी बनाकर अपनी अयोनिजा कन्या सीता को श्रीराम के लिए वचन दान कर दिया) ॥ ४८ ॥

प्राहिणोच्च महितं महाद्युतिः कोसलाधिपतये पुरोधसम्।
भृत्यभावि दुहितुः परिग्रहाद्दिश्यतां कुलमिदं निमेरिति ॥ ४९ ॥

प्राहिणोदिति। महाद्युतिर्जनको महितं पूजितं पुरोधसं पुरोहितं कोसलाधिपतये दशरथाय प्राहिणोत्प्रहितवांश्च। किमिति। निमिर्नाम जनकानां पूर्वजः कश्चित्। इदं निमेः कुलं दुहितुः सीतायाः परिग्रहात्स्नुषात्वेन स्वीकाराद्धेतोः। भृत्यस्य भावो भृत्यत्वं सोऽस्यास्तीति भृत्यभावि दिश्यतामनुमन्यतामिति। त्वयेति शेषः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—महाद्युतिः महितं पुरोधसम् कोसलाधिपतये प्राहिणोत् इदं निमेः कुलं दुहितुः परिग्रहात् भृत्यभावि दिश्यताम्।

महातेजस्वी राजर्षि जनक ने पूजित पुरोहित को कोसलपति दशरथ जी के पास भेजा (और यह कहलवाया) कि आप इस निमि के कुल की कन्या को वधू रूप में स्वीकार करने के कारण मुझे सेवक होने का आदेश दीजिए ॥ ४९ ॥

अन्वियेष सदृशीं स च स्नुषां प्राप चैनमनुकूलवाग्द्विजः।
सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् ॥ ५० ॥

अन्वियेषेति। स दशरथश्चसदृशीमनुरूपां स्नुषामिन्वयेष, रामविवाहमाचकाङ्क्षेत्यर्थः। अनुकूलवाक्स्नुषासिद्धिरूपानुकूलार्थवादी द्विजो जनकपुरोधाः शतानन्दश्चैनं दशरथं प्राप। तथाहि। कल्पवृक्षफलस्य यो धर्मः सद्यः पाकरूपः सोऽस्यास्तीति कल्पवृक्षफलधर्मि। अतः सुकृतां पुण्यकारिणां काङ्क्षितं मनोरथः सद्य एव पच्यते हि। कर्मकर्तरि लट्। स्वयमेव पक्वं भवतीत्यर्थः। 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' इति कर्मवद्भावात् 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—स च सदृशीं स्नुषामन्वियेष, अनुकूलवाक् द्विजः च एनं प्राप, सुकृताम् कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् सद्यः एव पच्यते हि।

वे महाराज दशरथ अनुरूप वधू चाह ही रहे थे कि अनुकूल बचन कहने वाले ब्राह्मण (जनक के पुरोहित शतानन्द जी) उनके पास पहुँच गए, (यह ठीक ही है कि) पुण्यात्माओं का अभीष्ट कल्प वृक्ष के फल के समान धर्म वाला तत्काल ही फलीभूत होता है ॥ ५० ॥

तस्य कल्पितपुरस्क्रियाविधेः शुश्रुवान्वचनमग्रजन्मनः ।
उच्चचाल बलभित्सखो वशी सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः ॥ ५१ ॥

तस्येति । बलभित्सख इन्द्रसहचरो वशी स्वाधीनतावान् । 'वश आयत्ततायां च' इति विश्वः । कल्पितं पुरस्क्रियाविधेः कृतपूजाविधेस्तस्याग्रजन्मनो द्विजस्य वचनं जनकेन सन्दिष्टं शुश्रुवाञ्छ्रुतवान् । शृणोतेः क्वसुः । सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः सन्नुच्चचाल प्रतस्थे ॥ ५१ ॥

अन्वयः—बलभित्सखः वशी कल्पितपुरस्क्रियाविधेः तस्य अग्रजन्मनः वचनम् शुश्रुवान् सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः सन् उच्चचाल ।

बलभेत्ता इन्द्र के मित्र स्वाधीन चेता दशरथ जी ने सम्मानित उस अग्रजन्मा ब्राह्मण का (जनक द्वारा सन्दिष्ट) वचन सुना और सेना द्वारा उड़ायी गयी धूलि से सूर्य की प्रभा को आच्छादित करते हुए (मिथिला की ओर) चल पड़े॥५१॥

आससाद मिथिलां स वेष्टयन्पीडितोपवनपादपां बलैः ।
प्रीतिरोधमसहिष्ट सा पुरी स्त्रीव कान्तपरिभोगमायतम् ॥ ५२ ॥

आससादेति । स दशरथो बलैः सैन्यैः पीडितोपवनपादपां मिथिलां वेष्टयन्परिधीकुर्वन् आससाद । सा पुरी स्त्री युवतिरायतमतिप्रसक्तं कान्तपरिभोगं प्रियसम्भोगमिव । प्रीत्या रोधं प्रतिरोधमसहिष्ट सोढवती । द्वेषरोधं तु न सहत इति भावः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—सः बलैः पीडितोपवनपादपां मिथिलाम् वेष्टयन् आससाद सा पुरी स्त्री आयतम् कान्तपरिभोगं इव प्रीतिरोधमसहिष्ट ।

वे महाराज दशरथ सैनिकों द्वारा मर्दित उपवन के वृक्षों वाली मिथिला को आवेष्टित करते हुए पहुँचे । उस नगरी ने जिस प्रकार स्त्री अत्यासक्त पति के परिभोग को सहन करती है, उसी प्रकार प्रेम से सैनिकों के अवरोध को सह लिया ॥ ५२ ॥

तौ समेत्य समये स्थितावुभौ भूपती वरुणवासवोपमौ ।
कन्यकातनयकौतुकक्रियां स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः ॥ ५३ ॥

ताविति । समये शिष्टाचारे स्थितावाचारनिष्ठौ ।'समयाः' शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । वरुणवासवावुपमोमानं ययोस्तौ तथोक्तौ । तावुभौ भूपती-जनकदशरथौ समेत्य स्वप्रभावसदृशीमात्ममहिमानुरूपां कन्यकानां सीतादीनां तनयानां रामादीनां च कौतुकक्रियां विवाहोत्सवं वितेनतुर्विस्तृतवन्तौ तनोतेर्लिट्।५३॥

अन्वयः—समये स्थितौ वरुणवासवोपमौ तौ भूपती समेत्य स्वप्रभावसदृशीं कन्यकातनयकौतुकक्रियां वितेनतुः ।

शिष्टाचार में स्थित (मर्यादित) वरुण और इन्द्र के समान उन दोनों राजाओं ने मिलकर अपने प्रभाव के सदृश कन्याओं और पुत्रों के कौतुक—विवाहोत्सव की क्रिया विस्तृत की ॥ ५३ ॥

पार्थिवीमुदवहद्रघूद्वहो लक्ष्मणस्तदनुजामथोर्मिलाम् ।
यौ तयोरवरजौ वरौजसौ तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे ॥ ५४ ॥

पार्थिवीमिति । उद्वहतीत्युद्वहः पचाद्यच् । रघूणामुद्वहो रघूद्वहो रामः । पृथिव्या अपत्यं स्त्री पार्थिवी । 'तस्यापत्यम्' इत्यणि । टिड्ढाणञ् इति ङीप् । तां सीता-मुदवहत्परिणीतवान् । अथ लक्ष्मणस्तस्याः सीताया अनुजां जनकस्यौरसीमूर्मिला-मुदवहत् । यौ वरौजसौ तयो रामलक्ष्मणयोरवरजावनुजातौ भरतशत्रुघ्नौ तौ सुमध्यमे कुशध्वजस्य जनकानुजस्य सुते कन्यके माण्डवीं श्रुतकीर्तिं चोदवहताम् । नात्र व्युत्क्रमविवाहदोषो भिन्नोदरत्वात् । तदुक्तम्—'पितृव्यपुत्रे सापत्न्ये परनारी-सुतेषु च । विवाहाधानयज्ञादौ परिवेत्ताद्यदूषणम्' ॥ इति ॥ ५४ ॥

अन्वयः—रघूद्वहः पार्थिवीम् उद्वहत् । अथ लक्ष्मणः तदनुजां उर्मिलाम् उदवहत् । यौ वरौजसौ तयोः अवरजौ तौ सुमध्यमे कुशध्वजसुते ।

रघुकुल के धुरंधर राम ने पृथ्वी—पुत्री सीता से विवाह किया । इसके बाद लक्ष्मण ने सीता की छोटी बहन उर्मिला से विवाह किया । जो उन दोनों राम लक्ष्मण के पश्चात् उत्पन्न हुए थे उन दोनों महापराक्रमियों—भरत-शत्रुघ्न ने जनक के अनुज कुशध्वज की सुन्दर मध्यभाग (कटि प्रदेश) वाली (माण्डवी और श्रुतिकीर्ति) कन्याओं से विवाह किए ॥ ५४ ॥

ते चतुर्थसहितास्त्रयो बभुः सूनवो नववधूपरिग्रहाः ।
सामदानविधिभेदनिग्रहाः सिद्धिमन्त इव तस्य भूपतेः ॥ ५५ ॥

त इति । ते चतुर्थसहितास्त्रयः, चत्वार इत्यर्थः । वृत्तानुसारादेवमुक्तम् । सूनवो नववधूपरिग्रहाः । सिद्धिमन्तः फलसिद्धियुक्तास्तस्य भूपतेर्दशरथस्य सामदानविधि-

भेदनिग्रहाश्चत्वार उपाया इव बभुः। विधीयत इति विधिः दानमेव विधिः। निग्रहो दण्डः सूनूनामुपायैर्वधूनां सिद्धिभिश्चौपम्यमिह्यानुसन्धेयम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—ते चतुर्थसहिताः त्रयः सूनवः नववधूपरिग्रहाः सिद्धिमन्तः तस्य भूपतेः सामदानविधिभेदनिग्रहाः इव बभुः।

नववधुओं के साथ विवाहित चतुर्थ सहित तीनों अर्थात् दशरथ के चारों पुत्र उसी प्रकार सुशोभित हुए जैसे कि उस भूपति दशरथ के साम-दान-दण्ड और भेद (चार वधुओं रूपी) सिद्धियों से युक्त हों ॥ ५५ ॥

ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम्।
सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः॥ ५६॥

ता इति। ता नराधिपसुता जनककन्यका नृपात्मजैर्दशरथपुत्रैः कृतार्थतां कुलशीलवयोरूपादिसाफल्यमगमन्। ते राघवाद्याश्च ताभिः सीताद्याभिस्तथा। किञ्च, स वराणां वधूनां च समागमः। प्रत्ययानां प्रकृतीनां च योग इव सन्निभातीति सन्निभः अभवत्। पचाद्यच्। प्रत्ययाः सनादयो येभ्यो विधीयन्ते ताः प्रकृतयः। यथा प्रकृतिप्रत्यययोः सहैकार्थसाधनत्वं तद्वदत्रापीति भावः॥ ५६ ॥

अन्वयः—ता नराधिपसुता नृपात्मजैः, ते च ताभिः कृतार्थताम् अगमन्। सः वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः अभवत्।

राजा जनक की वे पुत्रियाँ राजा दशरथ के पुत्रों से तथा वे चारों दशरथ पुत्र उन चारों जनक पुत्रियों से कृतार्थ हो गए। वह वर और बधू का समागम प्रत्यय और प्रकृति के योग के समान हुआ ॥ ५६ ॥

एवमात्तरतिरात्मसम्भवांस्तान्निवेश्य चतुरोऽपि तत्र सः।
अध्वसु त्रिषु विसृष्टमैथिलः स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्तत॥ ५७॥

एवमिति। एवमात्तरतिरनुरागवान्स दशरथस्तांश्चतुरोऽप्यात्मसम्भवान्पुत्रांस्तत्र मिथिलायां निवेश्य विवाह्य। 'निवेशः शिबिरोद्वाहविन्यासेषु प्रकीर्तितः' इति विश्वः। त्रिष्वध्वसु प्रयाणेषु सत्सु विसृष्टमैथिलः सन्। स्वां पुरीं न्यवर्तत। उद्देशक्रियापेक्षया कर्मत्वं पुर्याः॥ ५७ ॥

अन्वयः—एवमात्तरतिः सः दशरथः तान् चतुरः अपि आत्मसम्भवान् तत्र निवेश्य त्रिषु अध्वसु विसृष्टमैथिलः स्वां पुरीं न्यवर्तत।

इस प्रकार अनुरागवान् वे महाराज दशरथ उन चारों पुत्रों का मिथिला में

विवाह कर तीन मार्गों (तीन दिन के विश्रामान्तर) के बाद जनक जी को लौटाते हुए अपनी अयोध्यापुरी लौट आए ॥ ५७ ॥

तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः ।
चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम् ॥५८॥

तस्येति । जातु कदाचिद्वर्त्मसु ध्वजा एव तरवस्तान्प्रमथ्नन्ति ये ते ध्वजतरुप्रमाथिनः प्रतीपगाः प्रतिकूलगामिनो मरुतः । उत्तटा नदीरयाः स्थलीमकृत्रिमभूमिमिव । 'जानपदकुण्ड—'इत्यादिना ङीष् । तस्य वरूथिनीं सेनां भृशतया भृशं चिक्लिशुः क्लिश्यन्ति स्म ॥ ५८ ॥

अन्वयः—जातु वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः प्रतीपगाः मरुतः उत्तटा नदीरयाः स्थलीम् इव तस्य वरूथिनीम् भृशतया चिक्लिशुः ।

कदाचित् मार्ग में ध्वजारूपी वृक्षों को झकझोर देने वाली विपरीत वायु ने उनकी सेना को उसी प्रकार अत्यधिक क्लेश दिया जिस प्रकार तट के ऊपर प्रवाहित होने वाले नदी वेग प्राकृतिक भूमि को अत्यन्त आप्लावित कर देते हैं ॥ ५८ ॥

लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेषमण्डलः ।
वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः ॥ ५९ ॥

लक्ष्यत इति । तदनन्तरं प्रतीपपवनानन्तरं बद्धं भीमं बिभेत्यस्मादिति भीमं भयङ्करं परिवेषस्य परिधेर्मण्डलं यस्य सः । 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः । रविः वैनतेयशमितस्य गरुडहतस्य भोगिनः सर्पस्य भोगेन कायेन । 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः । वेष्टितश्च्युतः शिरोभ्रष्टो मणिरिव । लक्ष्यते स्म ॥ ५९ ॥

अन्वयः—तदनन्तरं बद्धभीमपरिवेषमण्डलः रविः वैनतेयशमितस्य भोगिनः भोगवेष्टितः च्युतः मणिः इव लक्ष्यते स्म ।

उसी विपरीत वायु के बाद भयानक परिधि के मण्डल वाला सूर्य, गरुड़ द्वारा मारे गए सर्प के शरीर से परिवेष्टित शिर से गिरे हुए मणि के समान दीखने लगा ॥ ५९ ॥

श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सान्ध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः ।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः ॥ ६० ॥

श्येनेति । श्येनपक्षा एव परिधूसरा अलका यासां तास्तथोक्ताः सान्ध्यमेघा

एव रुधिरार्द्राणि वासांसि यासां तास्तथोक्ताः। रजो धूलिरासामस्तीति रजस्वलाः। 'रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच्' इति वलच्प्रत्ययः। दिशः रजस्वला ऋतुमत्योऽङ्गना इव। 'स्याद्रजः पुष्पमार्तवम्' इत्यमरः। अवलोकनक्षमा दर्शनार्हा नो बभूवुः एकत्रादृष्टदोषादपरत्र शास्त्रदोषादिति विज्ञेयम्। अत्र रजोवृष्टिरुत्पात उक्तः ॥६०॥

अन्वय:—श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सान्ध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः रजस्वलाः दिशः रजस्वलाः अङ्गना इव अवलोकनक्षमाः न बभूवुः।

बाज पक्षी के पंखे के समान धूसर केशों वाली, सन्ध्याकालीन मेघ के समान रक्त से गीले वस्त्रों वाली रजस्वला—ऋतुमती स्त्रियों के समान, बाजपक्षी के पंख रूपी अलकों वाली, सन्ध्याकालीन मेघ रूपी रुधिर से आर्द्र वस्त्रवाली धूलि से युक्त दिशाएँ देखने के योग्य (अदृष्टदोष और शास्त्रदोष के कारण) नहीं रह गयीं ॥ ६० ॥

भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे।
क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ॥ ६१ ॥

भास्कर इति। भास्करो यां दिशमध्युवास च यस्यां दिश्युषितः। 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम्। तां दिशं श्रिताः शिवा गोमायवः। 'स्त्रियां शिवा भूरिमायुगोमायुमृगधूर्तकाः' इत्यमरः। क्षत्रशोणितेन या पितृक्रिया पितृतर्पणं तत्रोचितं परिचितं भार्गवं चोदयन्त्य इव प्रतिभयं भयङ्करं ववासिरे रुरुवुः, 'वासृ शब्दे' इति धातोर्लिट्। 'तिरश्चां वासितं रुतम्' इत्यमरः ॥ ६१ ॥

अन्वय:—भास्करः यां दिशम् अध्युवास च ताम् श्रिताः शिवाः क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं भार्गवं चोदयन्त्यः इव प्रतिभयं ववासिरे।

सूर्य जिस दिशा की ओर जा बसे थे, उस दिशा में आश्रय लेने वाली शृगालियों ने, क्षत्रियों के रक्त से पितरों का तर्पण कार्य करने में पटु भृगु-नन्दन परशुराम को मानो प्रेरित करती हुयी भयङ्कर रुदन किया ॥ ६१ ॥

तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित्।
अन्वयुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेः स्वन्तमित्यलघयत्स तद्व्यथाम् ॥ ६२ ॥

तदिति। तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं दुर्निमित्तं प्रेक्ष्य कृत्यवित्कार्यज्ञः क्षितेरीश्वरः शान्तिमनर्थनिवृत्तिमधिकृत्योद्दिश्य गुरुं वसिष्ठमन्वयुङ्क्तापृच्छत्। 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः। स गुरुः स्वन्तं शुभोदर्कं भावीति तस्य राज्ञो व्यथामलघयल्लघूकृतवान् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य कृत्यवित् क्षितेः ईश्वरः शान्तिमधिकृत्य गुरुम् अन्वयुङ्क्त, स स्वन्तं तद् व्यथाम् अलघयत् ।

उस विपरीत वायु आदि विकार को देखकर कार्य कुशल पृथ्वी के स्वामी दशरथ ने शान्ति को लक्ष्य बनाकर गुरु वशिष्ठ से पूछा। उस गुरु ने 'सुन्दर अन्त वाला' (सुपरिणाम वाला) होगा यह कहकर उस राजा की व्यथा हलकी कर दी ॥ ६२ ॥

तेजसः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास किल वाहिनीमुखे ।
यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिश्चिरात् ॥ ६३ ॥

तेजस इति। सपद्युत्थितस्तेजसो राशिर्वाहिनीमुखे सेनाग्रे प्रादुरास किल खलु। यः सैनिकैर्नयनानि प्रमृज्य चिराल्लक्षणीया भावनीया पुरुषाकृतिर्यस्य स तथोक्तः अभूदिति शेषः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—सपदि उत्थितः तेजसः राशिः वाहिनीमुखे प्रादुरास किल यः सैनिकैः नयनानि प्रमृज्य चिरात् लक्षणीयपुरुषाकृतिः (अभूदिति शेषः) ।

तत्क्षण समुत्थित तेजोराशि सेना के सम्मुख प्रादुर्भूत हुयी जो सैनिकों द्वारा आँखें मीज कर बहुत देर बाद पुरुष के रूप में लक्षित की गयी ॥ ६३ ॥

पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत् ।
यः ससोम इव घर्मदीधितिः सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥ ६४ ॥

पित्र्यमिति। उपवीतं लक्षणं चिह्नं यस्य तम्। पितुरयं पित्र्यः। 'वाय्वृतुपित्रुषसो यत्' 'पितुर्यच्च' इति यत्प्रत्ययः। तमंशम्। धनुषोर्जिततं धनुरूर्जितम्। मातुरयं मातृकः। 'ऋतष्ठञ्' इति ठञ्प्रत्ययः। तमंशं च दधद्यो भार्गवः। ससोमश्चन्द्रयुक्तो घर्मदीधितिः सूर्य इव। सद्विजिह्वः ससर्पश्चन्दनद्रुम इव स्थितः ॥६४॥

अन्वयः—उपवीतलक्षणं पित्र्यंशम् धनुरूर्जितं मातृकं च दधद् यः ससोमः धर्मदीधितिः इव स द्विजिह्वः चन्दनद्रुमः इव (स्थितः इति शेषः)

यज्ञोपवीत के लक्षण से पिता के अंश को और धनुष से ऊर्जित माता के अंश को धारण करते हुए जो चन्द्रमा सहित उष्णरश्मि-सूर्य के समान तथा विषधर सर्प से युक्त चन्दन वृक्ष के समान स्थित थे।

येन रोषपरुषात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा ।
वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही ॥ ६५ ॥

येनेति। रोषपरुषा रोषेण क्रोधेन परुषः निष्ठुरः आत्मा बुद्धिर्यस्य सः।

'आत्मा जीवो धृतिर्बुद्धिः' इत्यमरः। तस्य रोषपरुषात्मनः स्थितिभिदोऽपि मर्यादालङ्घिनोऽपि पितुः शासने। तस्थुषा स्थितेन वेपमानजननीशिरश्छिदा येन प्राग्घृणाऽजीयत। ततोऽनन्तरं मह्यजीयत। मातृहन्तुः क्षत्रवधात्कुतो जुगुप्सेति भावः॥ ६५॥

अन्वयः—रोषपरुषात्मनः स्थितिभिदोऽपि पितुः शासने तस्थुषा वेपमान-जननीशिरश्छिदा येन प्राग्घृणा अजीयत ततः मही अजीयत।

क्रोध से निष्ठुर स्वभाव वाले मर्यादा का उल्लङ्घन करने वाले भी पिता के शासन में स्थित रहने वाले (पिता की आज्ञा मानने वाले) कम्पमाना माता के मस्तक को काट देने वाले जिस परशुराम ने पहले दया जीती पुनः पृथ्वी विजय की॥ ६५॥

अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः।
क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन्॥ ६६॥

अक्षबीजेति। यो भार्गवो दक्षिणश्रवणे अपसव्यकर्णे संस्थितेन निक्षिप्तेनाक्ष-बीजवलयेनाक्षमालया। क्षत्रियान्तकरणानां क्षत्रियवधानामेकविंशतेरेकविंशतिसं-ख्याया व्याजोऽक्षमालारूपः पूर्वो यस्यास्तां गणनामुद्वहन्निव निर्बभौ॥ ६६॥

अन्वयः—यः दक्षिणश्रवणसंस्थितेन अक्षबीजवलयेन क्षत्रियान्तकरणैक-विंशतेः व्याजपूर्वगणनाम् उद्वहन् इव निर्बभौ।

जो भृगुनन्दन दाहिने कान पर स्थित अक्षबीज के वलय से इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो क्षत्रियों को इक्कीस बार अन्त करने की गिनती को धारण कर रहे हों॥ ६६॥

तं पितुर्वधभयेन मन्युना राजवंशनिधनाय दीक्षितम्।
बालसूनुरवलोक्य भार्गवं स्वां दशां च विषसाद पार्थिवः॥ ६७॥

तमिति। पितुर्जमदग्नेर्वधभवेन क्षत्रियकर्तृकवधोद्भवेन मन्युना कोपेन राज-वंशानां क्षत्रियवंशानां निधनाय नाशार्थम्। 'निधनं स्यात्कुले नाशे' इति विश्वः। दीक्षितं, प्रवृत्तमित्यर्थः। तं भार्गवं स्वां दशां चावलोक्य बालाः सूनवो यस्य स पार्थिवो विषसाद। स्वस्यातिदौर्बल्याच्छत्रोश्चातिक्रोधात्कान्दिशीको भयद्रुतोऽभव-दित्यर्थः॥ ६७॥

अन्वयः—पितुः वधभवेन मन्युना राजवंशनिधनाय दीक्षितं तं भार्गवं स्वां दशां च अवलोक्य बालसूनुः पार्थिवः विषसाद।

पिता जमदग्नि के क्षत्रिय द्वारा वध से उत्पन्न क्रोध के कारण क्षत्रियों के विनाश के लिए प्रवृत्त उस भृगुपुत्र परशुराम को और अपनी स्थिति को देखकर बाल- (छोटे-छोटे) पुत्रों वाले राजा दशरथ विषादग्रस्त हो गए ॥ ६७ ॥

नाम राम इति तुल्यमात्मजे वर्तमानमहिते च दारुणे ।
हृद्यमस्य भयदायि चाभवद्रत्नजातमिव हारसर्पयोः ॥ ६८ ॥

नामेति । आत्मजे पुत्रे दारुणे घोरेऽहिते शत्रौ च तुल्यमविशेषेण वर्तमानं राम इति नाम । हारसर्पयोर्वर्तमानं रत्नजातिरिव । 'जातिर्जातं च सामान्यं व्यक्तिस्तु पृथगात्मता' इत्यमरः । अस्य दशरथस्य हृद्यं हृदयङ्गमं भयदायि भयङ्करं चाभवत् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—आत्मजे दारुणे अहिते च तुल्यं वर्तमानं राम इति नाम हार-सर्पयोः वर्तमानं रत्नजातमिव अस्य हृद्यं भयदायि च अभवत् ।

आत्मज और भयानक शत्रु में समान रूप से वर्तमान 'राम' यह नाम हार और सर्प में वर्तमान रत्नराशि के समान इस राजा दशरथ को मनोरम और भयदायक हुआ ॥ ६८ ॥

अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।
क्षत्त्रकोपदहनार्चिषं ततः सन्दधे दृशमुदग्रतारकाम् ॥ ६९ ॥

अर्घ्यमिति । स भार्गवः । अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपमनवेक्ष्य । यतो यत्र भरताग्रजस्ततस्तत्र । 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति सार्वविभक्तिकस्तसिः ः क्षत्त्रे क्षत्रकुले विषये यः कोपदहनो रोषाग्निस्तस्यार्चिषं ज्वालामिव स्थिताम् । 'ज्वाला-भासोर्नपुंस्यर्चिः' इत्यमरः । उदग्रा तारका कनीनिका यस्यास्ताम् । 'तारकाक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः । दृशं सन्दधे ॥ ६९ ॥

अन्वयः—सः अर्घ्यम्-अर्घ्यम् इति वादिनं नृपम् अनवेक्ष्य यतः भरताग्रजः ततः क्षत्त्रकोपदहनार्चिषं उग्रतारकाम् दृशं सन्दधे ।

परशुराम जी ने 'अर्घ्य-अर्घ्य' कहने वाले राजा दशरथ को न देखकर जिस ओर भरत के अग्रज राम थे उसी ओर क्षत्त्रजाति के विषय में क्रोधाग्नि की लपटवाली भयानक पुतलियों वाली दृष्टि डाली ॥ ६९ ॥

तेन कार्मुकनिषक्तमुष्टिना राघवो विगतभीः पुरोगतः ।
अङ्गुलीविवरचारिणं शरं कुर्वता निजगदे युयुत्सुना ॥ ७० ॥

तेनेति । कार्मुकनिषक्तमुष्टिना । शरमङ्गुलीविवरचारिणं कुर्वता युयुत्सुना-

योद्धुमिच्छता। तेन भार्गवेण कर्त्रा। विगतभीर्निर्भीकः सन्। पुरोगतोऽग्रतो राघवो निजगदे उक्तः। कर्मणि लिट् ॥ ७० ॥

अन्वयः—कार्मुकनिषक्तमुष्टिना शरं अङ्गुलीविवरचारिणं कुर्वता युयुत्सुना तेन विगतभीः पुरोगतः राघवः निजगदे।

धनुष को मुट्ठी से बाँधे हुए एवं बाण को अंगुलियों के छिद्र के बीच किए हुए युद्धाकाङ्क्षी उस परशुराम ने निर्भय सम्मुख उपस्थित राम से कहा ॥७०॥

क्षत्रजातमपकारवैरि मे तन्निहत्य बहुशः शमं गतः।
सुप्तसर्प इव दण्डघट्टनाद्रोषितोऽस्मि तव विक्रमश्रवात् ॥ ७१ ॥

क्षत्रजातमिति। क्षत्रजातं क्षत्रजातिर्मेऽपकारेण पितृवधरूपेण वैरि द्वेषि। तत्क्षत्रजातं बहुश एकविंशतिवारान्निहत्य शमं गतोऽस्मि। तथापि सुप्तसर्पो दण्डघट्टनात् यष्टिप्रहरणादिव तव विक्रमस्य श्रवादाकर्णनाद्रोषितो रोषं प्रापितोऽस्मि ॥ ७१ ॥

अन्वयः—क्षत्रजातं मे अपकारवैरि तत् बहुशः निहत्य शमं गतः अस्मि सुप्तसर्पः दण्डघट्टनात् इव तव विक्रमश्रवात् रोषितः अस्मि।

क्षत्रिय जाति मेरे पिता के वधरूप अपराध करने के कारण मेरा शत्रु है उसे अनेक बार मार कर मैंने शान्ति प्राप्त की है किन्तु जिस प्रकार सोया हुआ सर्प दण्डे से प्रहार करने पर रुष्ट हो जाता है उसी प्रकार मैं तुम्हारे धनुर्भंग रूप पराक्रम के सुनने से रोष को प्राप्त हुआ हूँ ॥ ७१ ॥

मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवैस्त्वं किलानमितपूर्वमक्षणोः।
तन्निशम्य भवता समर्थये वीर्यशृङ्गमिव भग्नमात्मनः ॥ ७२ ॥

मैथिलस्येति। अन्यैः पार्थिवैः। अनमितपूर्वं पूर्वमनमितम्। सुप्सुपेति समासः अस्य मैथिलस्य धनुस्त्वमक्षणोः क्षतवान्। किलेति वार्तायाम्। 'वार्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः। तद्धनुर्भग्नं निशम्याकर्ण्य भवता आत्मनो मम वीर्यमेव शृङ्गं भग्नमिव समर्थये मन्ये ॥ ७२ ॥

अन्वयः—अन्यपार्थिवैः अनमितपूर्वम् मैथिलस्य धनुः त्वं अक्षणोः किल तत् निशम्य भवता आत्मनः वीर्यशृङ्गं भग्नमिव समर्थये।

दूसरे राजाओं के द्वारा पहले न तोड़े गए जनक के धनुष को तुमने तोड़ डाला, उसे सुनकर मैं यह मान रहा हूँ कि तुमने मानों मेरे पराक्रम की सींग ही तोड़ दी ॥ ७२ ॥

अन्यदा जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामगात् ।
व्रीडमावहति मे स सम्प्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि ॥ ७३ ॥

अन्यदेति । अन्यदाऽन्यस्मिन्काले । जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरितः सन् मामेवागात् अगमत् । सम्प्रति त्वय्युदयोन्मुखे सति व्यस्तवृत्तिर्विपरीतवृत्तिः । अन्यगामीति यावत् । स शब्दो मे व्रीडमावहति लज्जां करोति ॥ ७३ ॥

अन्वयः—अन्यदा जगति राम इत्ययं शब्द- उच्चरितः मामेवागात् सम्प्रति त्वयि उदयोन्मुखे व्यस्तवृत्तिः सः मे व्रीडमावहति ।

अन्य समय में (इसके पूर्व) जगत् में 'राम' यह शब्द उच्चरित होते हुए मुझे प्राप्त होता था (इसके पूर्व 'राम' यह शब्द मुझे लक्षित करने के लिए कहा जाता था) अब तुम्हारे अभ्युदय की ओर सम्मुख होने पर विपरीत वृत्तिवाला हो गया है । (मुझे छोड़कर तुम्हें लोग 'राम' कहने लगे हैं) यह मेरे लिए लज्जा की बात है ॥ ७३ ॥

बिभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ ।
धेनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्वं च कीर्तिमपहर्तुमुद्यतः ॥ ७४ ॥

बिभ्रत इति । अचले क्रौञ्चाद्रावप्यकुण्ठितमस्त्रं बिभ्रतो मम द्वौ समागसौ तुल्यापराधौ रिपू मतौ । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । धेनोः पितृहोमधेनो-र्वत्सस्य हरणाद्धेतोर्हैहयः कार्तवीर्यश्च । कीर्तिमपहर्तुमुद्यत उद्युक्तस्त्वं च । वत्सहरणे भारतश्लोकः—'प्रमत्तश्चाश्रमात्तस्य होमधेन्वास्ततो बलात् । जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान्' ॥ इति ॥ ७४ ॥

अन्वयः—अचलेऽपि अकुण्ठितं अस्त्रं बिभ्रतः मम द्वौ समागसौ रिपू मतौ । धेनुवत्सहरणात् हैहयः च कीर्तिमपहर्तुमुद्यतः त्वञ्च ।

क्रौञ्च पर्वत पर भी कुण्ठित न होने वाले परशु अस्त्र को धारण करने वाले मेरे दो समान अपराध करने वाले शत्रु हैं । गाय-बछड़े का अपहरण करने के कारण सहस्रार्जुन और यश का अपहरण करने के लिए उद्यत तुम ॥ ७४ ॥

क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नार्जिते त्वयि ।
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥ ७५ ॥

क्षत्रियान्तेति । तेन कारणेन क्रियते येनासौ करणः । क्षत्रियान्तस्य करणोऽपि विक्रमः । त्वय्यजिते । मां नावति न प्रीणाति । तथा हि—पावकस्या-

ग्नेर्महिमा स गण्यते । यः कक्षवत्कक्ष इव । 'तत्र तस्येव' इति सप्तम्यर्थे वतिः । सागरेऽपि ज्वलति ॥ ७५ ॥

अन्वयः—तेन क्षत्रियान्तकरणः अपि विक्रमः त्वयि अजिते मां न अवति, पावकस्य महिमा स गण्यते यः कक्षवत् सागरेऽपि ज्वलति ।

इसलिए क्षत्रियों का विनाश करने वाला भी पराक्रम तुम्हें बिना जीते मुझे प्रसन्न नहीं करता है ॥ ७५ ॥

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया ।
खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥ ७६ ॥

विद्धीति । किञ्च ऐश्वरं धनुर्हरेर्विष्णोरोजसा बलेनात्तबलं हृतसारं च विद्धि । यद्धनुस्त्वयाऽभाज्यभञ्जि । 'भञ्जश्च चिणि' इति विभाषया नलोपः । तथा हि नदीरयः खातमूलमवदारितपादं तटद्रुमं मृदुरप्यनिलः पातयति । ततः शिशुरपि रौद्रं धनुरभाङ्क्षमिति मा गर्वीरिति भावः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—ऐश्वरं धनुः हरेः ओजसा आत्तबलं च विद्धि यत् त्वया अभाजि । नदीरयैः खातमूलम् तटद्रुमं मृदुः अपि अनिलः पातयति ।

भगवान् शङ्कर के उस धनुष को विष्णु के ओज से क्षीण शक्ति वाला समझो, जो तुम्हारे द्वारा तोड़ा गया । क्योंकि नदी के वेग से जिसकी जड़ें खोद दी गयी हैं उस तट के वृक्ष को कोमल वायु भी गिरा देती है । (इसलिए बालक होते हुए भी भयानक रुद्र के धनुष को मैंने तोड़ दिया इस प्रकार का अभिमान मत करना ।) ॥ ७६ ॥

तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम् ।
तिष्ठतु प्रधनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥ ७७ ॥

तदिति । तत्तस्मान्मदीयमिदमायुधं कार्मुकं ज्यया सङ्गमय्य संयोज्य । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इति णेरयादेशः । सशरं यथा तथा त्वया विकृष्यताम् । प्रधनं रणस्तिष्ठतु प्रधनं तावदास्तामित्यर्थः । 'प्रधनं मारणे रणे' इति विश्वः । एवमपि मद्धनुष्कर्षणेऽप्यहं तुल्यबाहुतरसा समबाहुबलेन । 'रंहस्तरसी तु रयः स्यदः' इत्यमरः । त्वया जितः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—तत् मदीयं इदं आयुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम् । प्रधनं तिष्ठतु । एवमपि अहं तुल्यबाहुतरसा त्वया जितः ।

इसलिए मेरे इस धनुष को प्रत्यन्चा से युक्त कर बाण सहित खींचो। युद्ध को रहने दो। इस प्रकार धनुष खींचने पर भी समान भुज बल वाले तुम्हारे द्वारा मैं जीता गया ॥ ७७ ॥

कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम ।
ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥ ७८ ॥

कातर इति । यदि वोद्गतार्चिषोद्गतत्विषा मम परशुधारया तर्जितः कातरोऽसि भीतोऽसि । वृथा ज्यानिघातेन मौर्वीसङ्घट्टनेन कठिना अङ्गुलयो यस्य स तथोक्तोऽभययाचनाञ्जलिरभयप्रार्थनाञ्जलिर्बध्यताम् । 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

अन्वय:—यदि वा उद्गतार्चिषा मम परशुधारया तर्जितः कातरोऽसि वृथा ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिः अभययाचनाञ्जलिः बध्यताम् ।

अथवा यदि ज्वाला उगलने वाली मेरे फरसे की धार से भयभीत होते हुए कातर-(कायर) हो गए हो तो व्यर्थ ही प्रत्यन्चा के आघात से पड़े घट्ठों के कारण कठोर अङ्गुलियों से अभय दान की प्रार्थना करने वाली अञ्जलि बाँधो। (हाथ जोड़कर प्रार्थना करो कि अभयदान दिया जाय) ॥ ७८ ॥

एवमुक्तवति भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताधरः ।
तद्धनुर्ग्रहणमेव राघवः प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम् ॥ ७९ ॥

एवमिति । भीमदर्शने भार्गवे एवमुक्तवति सति । राघवः स्मितेन हासेन विकम्पिताधरः सन् । तद्धनुर्ग्रहणमेव समर्थमुचितमुत्तरं प्रत्यपद्यताङ्गीचकार ॥ ७९ ॥

अन्वय:—भीमदर्शने भार्गवे एवमुक्तवति राघवः स्मितविकम्पिताधरः तद् धनुर्ग्रहणमेव समर्थमुत्तरं प्रत्यपद्यत ।

देखने में भयानक भृगुनन्दन के इस प्रकार कहने पर श्रीराम ने मुस्कान से हिलते हुए अधरों वाले होते हुए उस धनुष के ग्रहण को ही समुचित उत्तर समझा ॥ ७९ ॥

पूर्वजन्मधनुषा समागतः सोऽतिमात्रलघुदर्शनोऽभवत् ।
केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः ॥ ८० ॥

पूर्वजन्मेति । पूर्वजन्मनि नारायणावतारे यद्धनुस्तेन समागतः सङ्गतः स रामोऽतिमात्रमत्यन्तं लघुदर्शनः प्रियदर्शनोऽभवत् । तथा हि । नवाम्बुदः केवलो

रिक्तोऽपि सुभगः शोभावान् । त्रिदशचापेनेन्द्रधनुषा लाञ्छितश्चिह्नितः किं पुनः । सुभग एवेति भावः ॥ ८० ॥

अन्वयः—पूर्वजन्मधनुषा समागतः सः अतिमात्रलघुदर्शनः अभवत् । नवाम्बुदः केवलः अपि सुभगः त्रिदशचापलाञ्छितः किं पुनः ।

पूर्वजन्म में नारायणावतार में जो धनुष था उससे संगत वे राम अत्यन्त प्रियदर्शन हो गए । नवीन मेघ अकेला होने पर भी सुन्दर लगता है; इन्द्रधनुष से चिह्नित होने पर तो फिर बात ही क्या ? (श्रीराम यों ही सुन्दर थे । हाथ में धनुष लेने पर तो उनकी सुन्दरता और भी बढ़ गयी) ॥ ८० ॥

तेन भूमिनिहितैककोटि तत्कार्मुकं च बलिनाऽधिरोपितम् ।
निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां धूमशेष इव धूमकेतनः ॥ ८१ ॥

तेनेति । बलिना तेन रामेण भूमिनिहितैका कोटिर्यस्य तत् । कर्मणे प्रभवतीति कार्मुकं धनुश्च । 'कर्मण उकञ्' इत्युकञ्प्रत्ययः । अधिरोपितम् । भूभृतां रिपुर्भार्गवश्च । धूमशेषो धूमकेतनोऽग्निरिव । निष्प्रभो निस्तेजस्क आस बभूव । निर्वापितो वह्निरिव हततेजा अभूदित्यर्थः । आसेति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययं दीप्त्यर्थकस्यास्ते रूपं वा ॥ ८१ ॥

अन्वयः—बलिना तेन भूमिनिहितैककोटि तत् कार्मुकं अधिरोपितम् । भूभृतां रिपुः च धूमशेष धूमकेतनः इव निष्प्रभः आस ।

बलशाली उस श्रीराम ने उस धनुष को पृथ्वी पर एक किनारा रखकर चढ़ा दिया और राजाओं के शत्रु परशुराम जी धूम बची हुयी अग्नि के समान कान्तिहीन हो गए ॥ ८१ ॥

तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव ॥ ८२ ॥

ताविति । परस्परस्थितावन्योन्याभियुक्तौ । वर्धमानं च परिहीनं चेति द्वन्द्वः । वर्धमानपरिहीने तेजसी ययोस्तावुभौ राघवभार्गवावपि । दिनात्यये सायङ्काले पर्वणि भवौ पार्वणौ शशिदिवाकराविव जनता जनसमूहः । 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्' इति तल्प्रत्ययः । पश्यति स्मापश्यत् । अत्र राघवस्य शशिना भार्गवस्य भानुनौपम्यं द्रष्टव्यम् ॥ ८२ ॥

अन्वयः—परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ तौ उभौ अपि दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकरौ इव जनता पश्यति स्म ।

एक दूसरे के सम्मुख खड़े एक बढ़ते हुए तेजवाले (श्री राम) दूसरे क्षीण कान्ति वाले (परशुराम) उन दोनों को भी दिन का अवसान हो जाने पर पूर्णिमा तिथि के चन्द्रमा और सूर्य के समान जनता ने देखा ॥ ८२ ॥

तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि ।
स्वं च संहितमोघमाशुगं तं व्याजहार हरसूनुसन्निभः ॥ ८३ ॥

तमिति । हरसूनुन्निभः स्कन्दसमः । कृपामृदु राघवः । आत्मनि विषये स्खलितवीर्यं कुण्ठितशक्तिं तं भार्गवं स्वं स्वकीयं संहितममोघमाशुगं बाणं चावेक्ष्य व्याजहार बभाषे ॥ ८३ ॥

अन्वयः—हरसूनुसन्निभः कृपामृदुः राघवः आत्मनि स्खलितवीर्यं तं संहितं अमोधं आशुगं च अवेक्ष्य व्याजहार ।

शिव पुत्र कार्तिकेय के समान कृपा से कोमल श्री राम ने अपने विषय में भ्रष्ट पराक्रम वाले उस परशुराम को और अपने चढ़ाए गए अमोघ शीघ्रगामी बाण को देखकर कहा ॥ ८३ ॥

न प्रहर्तुमलमस्मि निर्दयं विप्र इत्यभिभवत्यपि त्वयि ।
शंस किं गतिमनेन पत्रिणा हन्मि लोकमुत ते मखार्जितम् ॥ ८४ ॥

नेति । अभिभवत्यपि त्वयि । विप्र इति हेतोः । निर्दयं प्रहर्तुमलं शक्तो नास्मि किंत्वनेन पत्रिणा शरेण ते गतिं गमनं हन्मि । उत मखार्जितं लोकं स्वर्गं हन्मि शंस ब्रूहि ॥ ८४ ॥

अन्वयः—अभिभवति अपि त्वयि विप्र निर्दयं प्रहर्तुम् अलं न अस्मि । अनेन पत्रिणा ते गतिम् हन्मि उत मखार्जितम् लोकम् हन्मि किम् शंस ।

तुम्हारे पराजित हो जाने पर भी ब्राह्मण होने के कारण निर्दयता पूर्वक प्रहार करने के लिए मैं समर्थ नहीं हूँ । इस बाण से तुम्हारी गति नष्ट कर दूँ अथवा यज्ञ से अर्जित दिव्य लोक को विध्वंश कर डालूँ । बोलो ॥ ८४ ॥

प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेद्मि पुरुषं पुरातनम् ।
गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा ॥ ८५ ॥

प्रत्युवाचेति । ऋषिर्भार्गवस्तं रामं प्रत्युवाच । किमति । तत्त्वतः स्वरूपतस्त्वां पुरातनं पुरुषं न वेद्मीति न, किन्तु वेद्म्येवेत्यर्थः । किन्तु गां गतस्य भुवमवतीर्णस्य तव वैष्णवं धाम तेजो दिदृक्षुणा द्रष्टुमिच्छुना मया कोपित ह्यसि ॥८५॥

अन्वयः— ऋषिः तं प्रत्युवाच तत्त्वतः त्वां पुरातनम् पुरुषं न वेद्मि इति न, गां गतस्य तव वैष्णवं धाम दिदृक्षुणा मया कोपितो ह्यसि ।

ऋषि परशुराम ने उस श्री राम से कहा कि मैं यथार्थरूप से तुम्हें पुराण पुरुष नहीं जानता हूँ ऐसी बात नहीं (अर्थात् मैं यह स्वरूपतः जानता हूँ कि तुम पुराण पुरुष हो) किन्तु पृथ्वी पर अवतरित तुम्हारे वैष्णव तेज को देखने की इच्छा से मैंने तुम्हें कुपित किया ॥ ८५ ॥

भस्मसात्कृतवतः पितृद्विषः पात्रसाच्च वसुधां ससागराम् ।
आहितो जयविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया ॥ ८६ ॥

भस्मसादिति । पितृद्विषः पितृवैरिणो भस्मसात्कृतवतः कोपेन भस्मीकुर्वतः । 'विभाषा साति कार्त्स्न्ये' इति सातिप्रत्ययः । ससागरां वसुधां च पात्रसात्पात्राधीनं देयं कृतवतः । 'देये त्रा च' इति चकारात्सातिः । कृतकृत्यस्य मे परमेष्ठिना परमे लोके तिष्ठतीति तेन परमपुरुषेण त्वयाऽऽहितः कृतो जयविपर्ययः पराजयोऽपि श्लाघ्य आशास्य एव ॥ ८६ ॥

अन्वयः—पितृद्विषः भस्मसात्कृतवतः ससागरां वसुधाम् च पात्रसात् कृतवतः मे परमेष्ठिना त्वया आहितः जयविपर्ययः अपि श्लाघ्य एव ।

पिता के द्वेषी क्षत्रियों को भस्मकर देनेवाले और समुद्र सहित पृथ्वी को सुपात्र ब्राह्मणों के अधीन कर देने वाले मेरी परम पुरुष तुम्हारे द्वारा की गयी पराजय भी प्रशंसा करने के ही योग्य है ॥ ८६ ॥

तद्गतिं मतिमतां वरेप्सितां पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे ।
पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपम् ॥ ८७ ॥

तदिति । तत्तस्मात्कारणात् हे मतिमतां वर ! पुण्यतीर्थगमनायाप्तुमिच्छामीप्सितां मे गतिं रक्ष पालय । किन्तु खिलीकृता दुर्गमीकृतापि स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपं भोगनिःस्पृहं मां न पीडयिष्यति । अतस्तामेव जहीत्यर्थः ॥ ८७ ॥

अन्वयः—तत् हे मतिमतां वर ! पुण्यतीर्थगमनाय ईप्सिताम् मे गतिम् रक्ष । खिलीकृता स्वर्गपद्धतिः अभोगलोलुपं मां न पीडयिष्यति ।

इसलिए हे बुद्धिमानों में शिरोमणि ! पुण्यतीर्थों में जाने के लिए अभिलषित मेरी गति की रक्षा कीजिए । दुःख से प्राप्त की गयी स्वर्ग पद्धति भोगों की स्पृहा से रहित मुझे पीड़ा नहीं करेगी । (अतः मेरी गति नष्ट न कर स्वर्ग को ही नष्ट कीजिए) ॥ ८७ ॥

प्रत्यपद्यत तथेति राघवः प्राङ्मुखश्च विससर्ज सायकम् ।
भार्गवस्य सुकृतोऽपि सोऽभवत्स्वर्गमार्गपरिघो दुरत्ययः ॥ ८८ ॥

प्रतीति । राघवस्तथेति प्रत्यपद्यताङ्गीकृतवान् । प्राङ्मुख इन्द्रदिङ्मुखः सायकं विससर्ज च । स सायकः सुकृतोऽपि साधुकारिणोऽपि । करोतेः क्विप् । भार्गवस्य दुरत्ययो दुःखेन अत्ययो नाशो यस्य स दुरत्ययो दुरतिक्रमः स्वर्गमार्गस्य परिघः प्रतिबन्धोऽभवत् ॥ ८८ ॥

अन्वयः—राघवः तथेति प्रत्यपद्यत । प्राङ्मुखः सायकं विससर्ज च । सः सुकृतः अपि भार्गवस्य दुरत्ययः स्वर्गमार्गपरिघः अभवत् ।

श्री रामचन्द्र जी ने तथास्तु (ऐसा ही हो) यह कहकर उसे मान लिया और पूर्वाभिमुख होकर बाण को छोड़ा । वह बाण पुण्यात्मा परशुराम के भी दुर्लङ्घ्य स्वर्गमार्ग का प्रतिबन्धक अर्गला हो गया ॥ ८८ ॥

राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत् ।
निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्त्तये ॥ ८९ ॥

राघव इति । राघवोऽपि क्षम्यतामिति वदंस्तपोनिधेर्भार्गवस्य चरणौ समस्पृशत्प्रणनाम । तथा हि, तरस्विनां बलवतां तरसा बलेन निर्जितेषु शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये । भवतीति शेषः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—राघवः अपि क्षम्यतामिति वदन् तपोनिधेः चरणौ समस्पृशत् । तरस्विनां तरसा निर्जितेषु शत्रुषु प्रणतिः एव कीर्तये [भवतीति शेषः] ।

श्रीराम जी ने भी 'क्षमा कीजिए' यह कहते हुए तपोनिधि परशुराम के चरणों का स्पर्श किया । शक्ति से शत्रुओं को जीत लेने पर शक्तिशालियों की विनम्रता ही कीर्तिकरी होती है ॥ ८९ ॥

राजसत्वमवधूय मातृकं पित्र्यमस्मि गमितः शमं यदा ।
नन्वनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृतः ॥ ९० ॥

राजसत्वेति । मातुरागतं मातृकं राजसत्वं रजोगुणप्रधानत्वमवधूय तिरस्कृत्य पितुरागतं पित्र्यं शमं यदा गमितोस्मि तदा त्वया ममापेक्षितत्वादनिन्दितमगर्हितं फलं स्वर्गहानिलक्षणं यस्य सोऽयं निग्रहोऽपकारोऽप्यनुग्रहीकृतो ननूपकारीकृतः खलु ॥ ९० ॥

अन्वयः—मातृकं राजसत्वं अवधूय पित्र्यं शमं यदा गमितः अस्मि तदा त्वया मम अनिन्दितफलः अयं निग्रहः अपि अनुग्रहीकृतः ननु ।

जब माता से आयी हुयी रजोगुणी प्रधानता की अवहेलना कर पिता से आयी हुयी शान्ति को मैं पा चुका हूँ तो तुम्हारे द्वारा मेरा प्रशंसित परिणाम वाला (यह स्वर्ग की हानि रूप) अपकार भी निश्चित रूप से उपकार ही किया गया है ।। ९० ।।

साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते देवकार्यमुपपादयिष्यतः ।
ऊचिवानिति वचः सलक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजमृषिस्तिरोदधे ।। ९१ ।।

साधयामिति । अहं साधयामि गच्छामि । धातूनामनेकार्थत्वात् इति । देवकार्यमुपपादयिष्यतः सम्पादयिष्यतस्तेऽविघ्नमस्तु विघ्नाभावोऽस्तु । 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिवृद्धचर्थाभावा–' इत्यादिनाऽर्थाभावेऽव्ययीभावः । सह लक्ष्मणेन सलक्ष्मणस्तम् । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । लक्ष्मणाग्रजं राममिति वच ऊचिवानुक्तवान् । ब्रूञः क्वसुः । ऋषिस्तिरोदधेऽन्तर्दधे ।। ९१ ।।

अन्वयः—अहं साधयामि । देवकार्यमुपपादयिष्यतः ते अविघ्नमस्तु । सलक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजम् इति वचः ऊचिवान् ऋषिः तिरोदधे ।।

मैं जा रहा हूँ । देवताओं का कार्य सम्पन्न करने वाले आपका मंगल हो (विघ्न न हो) लक्ष्मण सहित उनके बड़े भाई श्रीराम जी से (परशुराम ने) यह वचन कहा । ऋषि परशुराम जी अन्तर्धान हो गए ।। ९१ ।।

तस्मिन् गते विजयिनं परिरभ्य रामं
स्नेहादमन्यत पिता पुनरेव जातम् ।
तस्याभवत्क्षणशुचः परितोषलाभः
कक्षाग्निलङ्घिततरोरिव वृष्टिपातः ।। ९२ ।।

तस्मिन्निति । तस्मिन्भार्गवे गते सति । विजयिनं रामं पिता स्नेहात्परिरभ्यालिङ्ग्य पुनर्जातमेवामन्यत । क्षणं शुग्यस्येति विग्रहः । क्षणशुचस्तस्य दशरथस्य परितोषलाभः सन्तोषप्राप्तिः कक्षाग्निना दावानलेन । 'कक्षः शुष्ककाननवीरुधोः' इति विश्वः । लङ्घितस्याभिहतस्य तरोर्वृष्टिपातः वर्षापात इव अभवत् ।। ९२ ।।

अन्वयः—तस्मिन् गते विजयिनं रामं पिता स्नेहात् परिरभ्य पुनः जातं एव अमन्यत । क्षणशुचः तस्य परितोषलाभः कक्षाग्निलङ्घिततरोः वृष्टिपातः इव अभवत् ।

उनके (परशुराम जी के) चले जाने पर विजयी राम को पिता दशरथ ने

स्नेहवश आलिङ्गन कर पुनः जन्म लिया हुआ ही माना। क्षण भर के शोक करने वाले उस दशरथ का सन्तोष लाभ उसी प्रकार रहा जैसे दावानल से आक्रान्त वृक्ष का वृष्टिपात (पानी गिरने) में होता है ॥ ९२ ॥

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनीनां
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥ ९३ ॥

अथेति। अथ ईषदसमाप्तः शर्वः शर्वकल्पः। 'ईषदसमाप्तौ कल्पप्देश्यदेशीयरः' इति कल्पप्प्रत्ययः अवनिपालः दशरथः क्लृप्ता रम्या नवा उपकार्या यस्मिन्स तस्मिन्पथि कतिचिच्छर्वरी रात्रीर्गमयित्वा मैथिलीदर्शनीनामङ्गनानां लोचनैः कुवलयानि येषां सञ्जातानि कुवलयिताः। 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इतीतच्प्रत्ययः कुवलयिता गवाक्षा यस्यास्तां पुरमयोध्यामविशत्प्रविष्टवान् ॥ ९३ ॥

इति महोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्यं सीताविवाहवर्णनो नामैकादशः सर्गः ॥११॥

अन्वयः—अथ शर्वकल्पः अवनिपालः क्लृप्तरम्योपकार्ये पथि कतिचित् शर्वरीः गमयित्वा मैथिलीदर्शनीनाम् अङ्गनानाम् लोचनैः कुवलयितगवाक्षाम् पुरमयोध्याम् अविशित्।

इसके अनन्तर भगवान् शङ्कर के समान भूपाल दशरथ जी सुन्दर नवीन तम्बू बनाये गए मार्ग में कुछ रातें बिताकर मैथिली को देखने वाली सुन्दरियों के नेत्रों के द्वारा नीलकमलों के समान बनाये गए गवाक्षों (झरोखों) वाली अयोध्या नगरी में प्रवेश किया ॥ ९३ ॥

इस प्रकार महाकवि कालिदास विरचित रघुवंश महाकाव्य के एकादश सर्ग की हरिप्रिया हिन्दी व्याख्या समाप्त हुयी।

द्वादशः सर्गः

निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान्।
आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥ १ ॥

वन्दामहे महोद्दण्डदोर्दण्डौ रघुनन्दनौ ।
तेजोनिर्जितमार्तण्ड मण्डलौ लोकनन्दनौ ॥

निर्विष्टेति । स्नेहयन्ति प्रीणयन्ति पुरुषमिति स्नेहः । पचाद्यच् । स्निह्यन्ति पुरुषा येष्विति वा स्नेहाः । अधिकरणार्थे घञ् । विषयाः शब्दादयस्त एव स्नेहाः निर्विष्टा भुक्ता विषयस्नेहा येन स तथोक्तः । 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इति विश्वः । दशा जीवनावस्था तस्य अन्तं वार्धकमुपेयिवान् स दशरथः । उषसि प्रदीपार्चिरिव दीपज्वालेव । आसन्नं निर्वाणं मोक्षो यस्य स तथोक्त आसीत् । अर्चिः पक्षे तु—विषयो देश आश्रयः । भाजनमिति यावत् । 'विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च' इति विश्वः । स्नेहस्तैलादिः । 'स्नेहस्तैलादिकरसे द्रवे स्यात्सौहृदेऽपि च' इति विश्वः । दशा वर्तिका । 'दशा वर्ताववस्थायाम्' इति विश्वः । निर्वाणं विनाशः । 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे विनाशे गजमज्जने' इति यादवः ॥ १ ॥

अन्वयः—निर्विष्टविषयस्नेहः दशान्तमुपेयिवान् स उषसि प्रदीपार्चिरिव आसन्ननिर्वाणः आसीत् ।

(रूपरसगन्धस्पर्श और शब्द रूप) विषयों के स्नेह रस का उपभोग करने वाले जीवनावस्था के अन्त वार्धक्य को प्राप्त वे महाराज दशरथ प्रातःकाल में दीपक की शिखा (लौ) के समान बुझने के निकट थे । (मरणासन्न थे) ॥ १ ॥

तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति ।
कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥ २ ॥

तमिति । जरा कैकेयीशङ्कयेव पलितस्य केशादिशौक्ल्यस्य छद्मना मिषेण । 'पलितं जरसा शौक्ल्यं केशादौ विस्रसा जरा' इत्यमरः । कर्णमूलं कर्णोपकण्ठमागत्य रामे श्री राज्यलक्ष्मीर्न्यस्यतां निधीयतामिति तमाह । दशरथो वृद्धोऽहमिति विचार्य रामस्य यौवराज्याभिषेकं चकाङ्क्षेत्यर्थः ॥ २ ॥

अन्वयः—जरा कैकेयीशङ्कया इव पलितच्छद्मना कर्णमूलमागत्य रामे श्रीः न्यस्यताम् इति तम् आह ।

वृद्धावस्था ने मानो कैकेयी की आशंका से सफेद बालों के बहाने कानों के निकट आकर "श्री रामचन्द्र के ऊपर राज्यलक्ष्मी को सौंप दीजिए" यह उस (महाराज दशरथ) से कहा ॥ २ ॥

सा पौरान्पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिः ।
प्रत्येकं ह्लादयाञ्चक्रे कुल्येवोद्यानपादपान् ॥ ३ ॥

सेति । सा पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिरभिषेकवार्ता । कुल्या कृत्रिमा सरित् । 'कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः । उद्यानपादानिव पौरान् प्रत्येकं ह्लादयाञ्चक्रे ॥ ३ ॥

अन्वयः—सा पौरकान्तस्य रामस्य अभ्युदयश्रुतिः कुल्या उद्यानपादपान् इव पौरान् प्रत्येकं ह्लादयाञ्चक्रे ।

जिस प्रकार कृत्रिम नदी (नहर) उद्यान के प्रत्येक वृक्ष को सींचकर हरा-भरा कर देती है उसी प्रकार नागरिकों के प्रिय श्रीराम के अभ्युदय की (राज्याभिषेक की) उस कथा ने प्रत्येक पुरवासी को आह्लादित कर दिया ॥ ३ ॥

तस्याभिषेकसम्भारं कल्पितं क्रूरनिश्चया ।
दूषयामास कैकेयी शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः ॥ ४ ॥

तस्येति । क्रूरनिश्चया कैकेयी तस्य रामस्य कल्पितं सम्भृतमभिषेकस्य सम्भारमुपकरणं शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिर्दूषयामास । स्वदुःखमूले राजशोकेन प्रतिबन्धेत्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वयः—क्रूरनिश्चया कैकेयी तस्य कल्पितं अभिषेकसम्भारं शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः दूषयामास ।

कठोर निश्चय वाली कैकेयी ने उस राम के राज्याभिषेक की सारी तैयारी को शोकसन्तप्त राजा के आँसुओं से दूषित कर दिया ॥ ४ ॥

सा किलाश्वासिता चण्डी भर्त्रा तत्संश्रुतौ वरौ ।
उद्ववामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमग्नाविवोरगौ ॥ ५ ॥

सेति । चण्ड्यतिकोपना 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः । सा किल भर्त्राऽऽश्वासिताऽनुनीता सती तेन भर्त्रा संश्रुतौ प्रतिज्ञातौ वरौ । इन्द्रेण मेघेन सिक्ताभिवृष्टा । 'इन्द्रः फणिज्जके सान्द्रे घनकामनयोर्मदौ' इति विश्वः । भूर्बिले वल्मीकादौ मग्नावुरगाविव । उद्ववामोज्जगार ॥ ५ ॥

अन्वयः—चण्डी सा किल भर्त्रा आश्वासिता तत्संश्रुतौ वरौ इन्द्रसिक्ता भूः विलमग्नौ उरगौ इव उद्ववाम ।

जिस प्रकार मेघसिञ्चित भूमि बिल में आसक्त दो सर्पों को बाहर निकाल देती है उसी प्रकार प्रचण्ड कोप वाली उस कैकेयी ने पति द्वारा आश्वासन दिये जाने पर उनके द्वारा प्रतिज्ञा किये गए दो वरदानों को (मुखरूपी बिल से बाहर) उगला दिया ॥ ५ ॥

तयोश्चतुर्दशैकेन रामं प्राव्राजयत्समाः ।
द्वितीयेन सुतस्यैच्छद्वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥ ६ ॥

तयारिति । सा तयोर्वरयोर्मध्ये एकेन वरेण रामं चतुर्दश समाः संवत्सरान् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । प्राव्राजयत्प्रावासयत् । द्वितीयेन वरेण सुतस्य भरतस्य वैधव्यैकफलां स्ववैधव्यमात्रफलाम् । न तूपभोगफलामिति भावः । श्रियमैच्छदियेष ॥ ६ ॥

अन्वयः—(सा) तयोः एकेन रामं चतुर्दश समाः प्राव्राजयत्, द्वितीयेन सुतस्य वैधव्यैकफलाम् श्रियमैच्छत् ।

उस कैकेयी ने उन दोनों वरदानों में से प्रथम वरदान में राम को चौदह वर्षों तक का वनवास दिया और द्वितीय से पुत्र भरत की राज्यलक्ष्मी की इच्छा की जो एकमात्र वैधव्य फल देने वाली हुयी ॥ ६ ॥

पित्रा दत्तां रुदन् रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत ।
पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥ ७ ॥

पित्रेति । रामः प्राक् पित्रा दत्तां महीं रुदन् प्रत्यपद्यताङ्गीचकार। स्वत्यागदुःखादिति भावः । पश्चाद्वनाय गच्छेत्येवंरूपां तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् । पित्राज्ञाकरणलाभादिति भावः ॥ ७ ॥

अन्वयः—रामः प्राक् पित्रा दत्तां महीं रुदन् प्रत्यपद्यत पश्चाद् 'वनाय गच्छ' इति तदाज्ञां मुदितः अग्रहीत् ।

श्रीराम ने पहले पिता द्वारा प्रदत्त पृथ्वी को (अपने त्याग के कारण) रोते हुए अङ्गीकार कर लिया फिर 'वन जाओ' उनकी इस आज्ञा को प्रमुदित हो स्वीकार किया ॥ ७ ॥

दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले ।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥ ८ ॥

दधत इति । मङ्गलक्षौमे-मङ्गले च ते क्षौमे दुकूले च दधतो वल्कले वसानस्याच्छादयतश्च तस्य रामस्य सममेकविधं मुखरागं मुखवर्णं जना विस्मिता ददृशुः सुखदुःखयोरविकृत इति भावः ॥ ८ ॥

अन्वयः—मङ्गलक्षौमे दधतः वल्कले वसानस्य तस्य समं मुखरागं जनाः विस्मिताः ददृशुः ।

(राज्याभिषेक के) मांगलिक वस्त्रों को धारण करते हुए तथा (वनवास काल में) वल्कल वस्त्र ओढ़े हुए उस राम के समान मुखराग को लोगों ने आश्चर्यचकित हो देखा ॥ ८ ॥

स सीतालक्ष्मणसखः सत्याद् गुरुमलोपयन् ।
विवेश दण्डकारण्यं प्रत्येकं च सतां मनः ॥ ९ ॥

स इति । स रामो गुरुं पितरं सत्याद्वरदानरूपादलोपयन्नभ्रंशयन् । सीतालक्ष्मणयोः सखेति विग्रहः । ताभ्यां सहितः सन् दण्डकारण्यं दण्डकानामभार्गवकन्यया युतं वनं विवेश । सतां मनश्च प्रत्येकं विवेश । पितृभक्त्या सर्वे सन्तः सन्तुष्टा इति भावः ॥ ९ ॥

अन्वयः—सः गुरुम् सत्याद् अलोपयन् सीतालक्ष्मणसखः दण्डकारण्यं विवेश सतां मनश्च प्रत्येकं विवेश ।

उस राम ने पिता दशरथ को सत्य से च्युत न करते हुए सीता और लक्ष्मण को साथी बनाते हुए दण्डक वन में और सज्जनों के मन में एक साथ प्रवेश किया ॥ ९ ॥

(पितृ-भक्ति के कारण राम ने सभी सज्जनों के हृदय में भी स्थान पा लिया ।)

राजाऽपि तद्वियोगार्तः स्मृत्वा शापं स्वकर्मजम् ।
शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभममन्यत ॥ १० ॥

राजेति । तद्वियोगार्तः पुत्रवियोगदुःखितः राजाऽपि स्वकर्मणा मुनिपुत्रवधरूपेण जातः स्वकर्मजस्तं शापं पुत्रशोकजं मरणात्मकं स्मृत्वा शरीरत्यागमात्रेण देहत्यागेनैव शुद्धिलाभं प्रायश्चित्तममन्यत । मृत इत्यर्थः ॥ १० ॥

अन्वयः—तद्वियोगार्तः राजा अपि स्वकर्मजं शापं स्मृत्वा शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभम् अमन्यत ।

उस राम के वियोग से पीड़ित राजा दशरथ ने भी अपने (मुनि बालक के बध रूप) कर्म से उत्पन्न (पुत्र शोक से होने वाली मृत्युरूप) शाप का स्मरण कर शरीर त्याग से ही शुद्धिलाभ (प्रायश्चित) माना ॥ १० ॥

विप्रोषितकुमारं तद्राज्यमस्तमितेश्वरम् ।
रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ ॥ ११ ॥

विप्रोषितेति । विप्रोषिता गताः कुमारा यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । अस्तमितो

मृत ईश्वरो राजा यस्य तत्तथोक्तं तद्राज्यं रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषां शत्रूणामामिषतां भोग्यवस्तुतां ययौ । 'आमिषं भोग्यवस्तुनि' इति केशवः ॥ ११ ॥

अन्वयः—विप्रोषितकुमारं अस्तमितेश्वरं तद्राज्यम् रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषां आमिषतां ययौ ।

निर्वासित कुमारों वाला (राम लक्ष्मण के वनवासी हो जाने और भरत शत्रुघ्न के ननिहाल में ही रहने के कारण) दिवंगत स्वामी वाला (दशरथ मरण से) अनाथ वह राज्य छिद्रान्वेषण करने में (दोष ढूढ़ने में) कुशल शत्रुओं का भोग्यपदार्थ हो गया ॥ ११ ॥

अथानाथाः प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम् ।
मौलैरानाययामासुर्भरतं स्तम्भिताश्रुभिः ॥ १२ ॥

अथेति । अथानाथाः प्रकृतयोऽमात्याः । 'प्रकृतिः सहजे योनावमात्ये परमात्मनि' इति विश्वः । मातृबन्धुषु निवासिनं भरतं स्तम्भिताश्रुभिः : पितृमरणगुप्त्यर्थमिति भावः । मौलैराप्तैः सचिवैरानाययामासुरागमयाञ्चक्रुः ॥ १२ ॥

अन्वयः—अथ अनाथाः प्रकृतयः मातृबन्धुनिवासिनम् भरतं स्तम्भिताश्रुभिः मौलैः अनाययामासुः ।

इसके अनन्तर अनाथ अमात्ओं ने माता के बन्धुओं—मामा के यहाँ निवास करने वाले भरत को (पिता की मृत्यु को छिपाने के लिए) अवरुद्ध अश्रुओं वाले विश्वस्त मन्त्रियों के द्वारा बुलवाया ॥ १२ ॥

श्रुत्वा तथाविधं मृत्युं कैकेयीतनयः पितुः ।
मातुर्न केवलं स्वस्याः श्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः ॥ १३ ॥

श्रुत्वेति । कैकेयीतनयो भरतः पितुस्तथाविधं, रामवियोगादित्यर्थः । स्वमातृमूलं मृत्युं मरणं श्रुत्वा स्वस्याः मातुः केवलं मातुरेव पराङ्मुखो न किन्तु श्रियोऽपि पराङ्मुख आसीत् ॥ १३ ॥

अन्वयः—कैकेयीतनयः पितुः तथाविधं मृत्युं श्रुत्वा स्वस्याः मातुः केवलं पराङ्मुखः न (किन्तु) श्रियः अपि पराङ्मुखः आसीत् ।

कैकेयी के पुत्र भरत पिता की उस प्रकार राम के वियोग से मृत्यु सुनकर केवल अपनी माता से ही विमुख नहीं हुए अपितु राज्य लक्ष्मी से भी विमुख हो गए ॥ १३ ॥

ससैन्यश्चान्वगाद्रामं दर्शितानाश्रमालयैः ।
तस्य पश्यन्ससौमित्रेरुदश्रुर्वसतिद्रुमान् ॥ १४ ॥

ससैन्य इति । ससैन्यो भरतो राममन्वगाच्च । किं कुर्वन् । आश्रमालयैर्वनवासिभिर्मुनिभिर्दर्शितानेते रामनिवासा इति कथितान् ससौमित्रेर्लक्ष्मणसहितस्य तस्य रामस्य वसतिद्रुमान्निवासवृक्षान् पश्यन्नुदश्रुरुद्गतबाष्पो रुदन् ॥ १४ ॥

अन्वयः—ससैन्यः आश्रमालयैः दर्शितान् ससौमित्रेः तस्य वसतिद्रुमान् पश्यन् उदश्रुः राममन्वगात् ।

सेना के साथ भरत ने आश्रम में निवास करने वाले मुनियों के द्वारा (ये राम के निवास स्थल हैं इस प्रकार) दिखलाए गए लक्ष्मण सहित उस राम के निवास स्थान के वृक्षों को देखते हुए अश्रुपात करते हुए राम का अनुसरण किया ॥ १४ ॥

चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः ।
लक्ष्म्या निमन्त्रयाञ्चक्रे तमनुच्छिष्टसम्पदा ॥ १५ ॥

चित्रकूटेति । चित्रकूटवनस्थं तं रामं च गुरोः पितुः कथितस्वर्गतिः, कथितपितृमरणः सन्नित्यर्थः । अनुच्छिष्टाननुभूतशिष्टा सम्पत् गुणोत्कर्षो यस्याः सा । 'सम्पद्भूतौ गुणोत्कर्षे' इति केशवः । तया लक्ष्म्या करणेन निमन्त्रयाञ्चक्रे आहूतवान्, राज्यमनुभवेत्याजुहावेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अन्वयः—चित्रकूटवनस्थं तं च गुरोः कथितस्वर्गतिः अनुच्छिष्टसम्पदा लक्ष्म्या निमन्त्रयाञ्चक्रे ।

चित्रकूट वन में उस राम को पिता के दिवंगत होने का समाचार कहते हुए भरत ने उपभोग न की गयी सम्पत्ति वाली राज्यलक्ष्मी के द्वारा आमन्त्रित किया ॥ १५ ॥

(चित्रकूट में भरत ने राम से कहा कि पिता जी दिवंगत हो गए । मैं राज्यभोग नहीं करूँगा आप चलकर उसका उपभोग करें ।)

स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे ।
परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद् भुवः ॥ १६ ॥

स इति । स हि भरतः प्रथमजेऽग्रजे तस्मिन् रामेऽकृतश्रीपरिग्रहे सति स्वयं भुवः स्वीकरणादात्मानं परिवेत्तारं मेने । 'परिवेत्ताऽनुजोऽनूढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात्' इत्यमरः । भूपरिग्रहोऽपि दारपरिगहसम इति भावः ॥ १६ ॥

अन्वयः—स हि प्रथमजे तस्मिन् अकृतश्रीपरिग्रहे भुवः स्वीकरणात् आत्मानं परिवेत्तारं मेने ।

उस भरत ने प्रथम जन्म लेने वाले अग्रज श्री राम के राज्यलक्ष्मी को अस्वीकृत कर देने पर पृथ्वी को स्वीकार कर लेने के कारण अपने को परिवेत्ता माना ॥ १६ ॥

(अग्रज के अविवाहित रहने पर यदि अनुज विवाह कर लेता है तो उसे परिवेत्ता कहा जाता है । राम ने जिस पृथ्वी का पति होना नहीं स्वीकार किया भरत ने उसे स्वीकार कर अपने को परिवेत्ता समझा ।)

तमशक्यमपाक्रष्टुं निर्देशात्स्वर्गिणः पितुः ।
ययाचे पादुके पश्चात्कर्तुं राज्याधिदेवते ॥ १७ ॥

तमिति । स्वर्गिणः स्वर्गतस्य पितुर्निर्देशाच्छासनादपाक्रष्टुं निवर्तयितुमशक्यं तं रामं पश्चाद्राज्याधिदेवते स्वामिन्यौ कर्तुं पादुके ययाचे ॥ १७ ॥

अन्वयः—स्वर्गिणः पितुः निर्देशात् अपाक्रष्टुम् अशक्यम् तं पश्चात् राज्याधिदेवते कर्तुम् पादुके ययाचे ।

दिवंगत पिता के आदेश से दूर हटने के लिए असमर्थ राम से बाद में राज्य की अधिष्ठात्री देवी के रूप में चरणपादुकाओं की याचना की ॥ १७ ॥

स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्रात्रा नैवाविशत्पुरीम् ।
नन्दिग्रामगतस्तस्य राज्यं न्यासमिवाभुनक् ॥ १८ ॥

स इति । स भरतो भ्रात्रा रामेण तथेत्युक्त्वा विसृष्टः सन् पुरीमयोध्यां नाविशदेव । किन्तु नन्दिग्रामगतः संस्तस्य रामस्य राज्यं न्यासमिव निक्षेपमिवाभुनगपालयत्, न तूपभुक्तवानित्यर्थः । अन्यथा 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदप्रसङ्गात् । भुजेर्लङ् ॥ १८ ॥

अन्वयः—सः भ्रात्रा तथेत्युक्त्वा विसृष्टः सन् पुरीम् न अविशत् एव, नन्दिग्रामगतः तस्य राज्यं न्यासमिव अभुनक् ।

उस भरत ने भाई राम के द्वारा "वैसा ही हो" यह कहकर वापस भेजे जाने पर अयोध्या नगरी में प्रवेश नहीं किया और नन्दिग्राम में रहते हुए उनके राज्य की धरोहर के रूप में रक्षा (देखभाल) की ॥ १८ ॥

दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुखः ।
मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत् ॥ १९ ॥

दृढेति । ज्येष्ठे दृढभक्ती राज्यतृष्णापराङ्मुखो भरत इति पूर्वोक्तानुष्ठानेन मातुः पापस्य प्रायश्चित्तं तदपनोदकं कर्म किरोदिव इत्युत्प्रेक्षा । दृढभक्तिरित्यत्र दृढशब्दस्य 'स्त्रियाः पुंवत्–' इत्यादिना पुंवद्भावो दुर्घटः । 'अप्रियादिषु' इति निषेधात् । भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठात् । अतो दृढं भक्तिरस्येति नपुंसकपूर्वपदो बहुव्रीहिरिति गणव्याख्याने दृढभक्तिरित्येवमादिषु पूर्वपदस्य नपुंसकस्य विवक्षितत्वात्सिद्धमिति समाधेयम् । वृत्तिकारश्च—दीर्घनिवृत्तिमात्रपरो दृढभक्तिशब्दो लिङ्गविशेषस्यानुपकारत्वात् स्त्रीत्वमविवक्षितमेव, तस्मादस्त्रीलिङ्गत्वाद्दृढभक्तिशब्दस्यायं प्रयोग इत्यभिप्रायः । न्यासकारोऽप्येवम् । भोजराजस्तु—कर्मसाधनस्यैव भक्तिशब्दस्य प्रियादिपाठाद्भवानीभक्तिरित्यादौ कर्मसाधनत्वात् पुंवद्भावप्रतिषेधः । दृढभक्तिरित्यादौ भावसाधनत्वात् पुंवद्भावसिद्धिः पूर्वपदस्येत्याह ॥१९॥

अन्वयः—ज्येष्ठे दृढभक्तिः राज्यतृष्णा पराङ्मुखः भरतः इति मातुः पापस्य प्रायश्चित्तमकरोदिव ।

अग्रज में दृढ़ भक्ति रखने वाले राज्य के लोभ से विमुख भरत ने इस प्रकार (पूर्वोक्त अनुष्ठान द्वारा) माता के पाप का मानो प्रायश्चित्त (पापनिवारण कर्म) किया ॥ १९ ॥

रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्तयन् ।
चचार सानुजः शान्तो वृद्धेक्ष्वाकुव्रतं युवा ॥ २० ॥

राम इति । सानुजः सलक्ष्मणः शान्तो रामोऽपि वैदेह्या सह वने वन्येन वनभवेन कन्दमूलादिना वर्तयन् वृत्तिं कुर्वञ्जीवन्वृद्धेक्ष्वाकूणां व्रतं वनवासात्मकं युवा यौवनस्थ एव चचार ॥ २० ॥

अन्वयः—सानुजः शान्तः रामोऽपि वैदेह्या सह वने वन्येन वर्तयन् वृद्धेक्ष्वाकुव्रतं युवा चचार ।

अनुज लक्ष्मण सहित शान्त राम ने भी सीता के साथ वन में जंगली कन्द-मूल फल से जीवन बिताते हुए वृद्ध होने पर इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं द्वारा करने योग्य व्रत का युवावस्था में ही आचरण किया ॥ २० ॥

प्रभावस्तम्भितच्छायमाश्रितः स वनस्पतिम् ।
कदाचिदङ्के सीतायाः शिश्ये किञ्चिदिव श्रमात् ॥ २१ ॥

प्रभाव इति । स रामः कदाचित्प्रभावेण स्वमहिम्ना स्तम्भिता स्थिरीकृता छाया यस्य तं वनस्पतिमाश्रितः सन् । किञ्चिदीषच्छ्रमादिव सीताया अङ्के उत्संगे शिश्ये सुष्वाप ।। २१ ।।

अन्वयः—सः कदाचित् प्रभावस्तम्भितच्छायम् वनस्पतिम् आश्रितः किञ्चित् श्रमादिव सीतायाः अङ्के शिश्ये ।

वे श्रीराम किसी समय अपनी महिमा से स्थिर की गयी छाया वाले वृक्ष का आश्रय लेते हुए कुछ थके हुए की तरह सीता की गोद में सो गए ।। २१ ।।

ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः ।
प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन् ।। २२ ।।

ऐन्द्रिरिति । ऐन्द्रिरिन्द्रस्य पुत्रो द्विजः पक्षी काकः । 'ऐन्द्रि काकजयन्तयोः' इति विश्वः । तस्याः सीतायाः स्तनौ प्रियस्य रामस्योपभोगचिह्नेषु, तत्कृतनखक्षतेष्वित्यर्थः । पुरोभागिनो दोषैकदर्शिनः कर्म पौरोभाग्यम् । 'दोषैकदृक्पुरोभागी' इत्यमरः । दुःश्लिष्टदोषघातमाचरन्कुर्वन्निव नखैर्विददार विलिलेख । किलेत्यैतिह्ये ।। २२ ।।

अन्वयः—ऐन्द्रिः द्विजः तस्याः स्तनौ प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिव आचरन् नखैः विददार ।

इन्द्र के पुत्र काकपक्षी (जयन्त) ने उस सीता के स्तनों को जिस पर राम के उपभोग (नखक्षत) का चिह्न था, उसे दोषदृष्टि से देखने का आचरण करते हुए नाखूनों से विदीर्ण कर दिया ।। २२ ।।

तस्मिन्नास्थदिषीकास्त्रं रामो रामावबोधितः ।
आत्मानं मुमुचे तस्मादेकनेत्रव्ययेन सः ।। २३ ।।

तस्मिन्निति । रामया सीतयाऽवबोधितो रामस्तस्मिन्काक इषीकास्त्रं काशास्त्रम् । 'इषीका काशमुच्यते' इति हलायुधः । आस्थदस्यति स्म । 'असु क्षेपणे' इति धातोर्लुङ् । 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः । 'अस्यतेस्थुक्' इति थुगागमः । स काक एकनेत्रस्य व्ययेन दानेन तस्मादस्त्रादात्मानं मुमुचे मुक्तवान् । मुचेः कर्तरि लिट् । धेनुं मुमोच' इतिवत्प्रयोगः ।। २३ ।।

अन्वयः—रामावबोधितः रामः तस्मिन् इषीकास्त्रं आस्थत् । सः एकनेत्रव्ययेन तस्मात् आत्मानं मुमुचे ।

प्रियतमा सीता से यह ज्ञात करने पर श्रीराम ने उस (काकरूपधारी इन्द्र पुत्र जयन्त) पर इषीक अस्त्र (काश पुष्प के सींक का बाण) छोड़ा। उसने एक नेत्र के व्यय करने से उससे अपने को छुड़ाया ॥ २३ ॥

रामस्त्वासन्नदेशत्वाद् भरतागमनं पुनः।
अशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥ २४ ॥

राम इति। रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्धेतोः पुनर्भरतागमनमाशङ्क्योत्सुकसारङ्गा-मुत्कण्ठितहरिणां चित्रकूटस्थलीं जहौ तत्याज। आसन्नश्चासौ देशश्चेति विग्रहः ॥२४॥

अन्वयः—रामः तु आसन्नदेशत्वात् पुनः भरतागमनं आशङ्क्य उत्सुक-सारङ्गाम् चित्रकूटस्थलीम् जहौ।

श्रीराम ने तो निकटवर्ती देश होने के कारण पुनः भरत के आगमन की आशंका कर (उनके आगामी वियोग से) उत्कण्ठित मृगों वाली चित्रकूट की वनस्थली का परित्याग कर दिया ॥ २४ ॥

प्रययावातिथेयेषु वसन् ऋषिकुलेषु सः।
दक्षिणां दिशमृक्षेषु वार्षिकेष्विव भास्करः ॥ २५ ॥

प्रययाविति। स रामः अतिथिषु साधून्यातिथेयानि। 'पथ्यतिथिवसतिस्व-पतेर्ढञ्' इति ढञ्प्रत्ययः। तेष्वृषिकुलेष्वृष्याश्रमेषु। कुलं कुल्ये गणे देहे गेहे जन-पदेऽन्वये' इति हैमः। वर्षासु भवानि वार्षिकाणि। 'वर्षाभ्यष्ठक्' इति ठक्प्रत्ययः। तेष्वृक्षेषु नक्षत्रेषु राशिषु वा भास्कर इव वसन् दक्षिणां दिशं प्रययौ ॥ २५ ॥

अन्वयः—सः आतिथेयेषु ऋषिकुलेषु वार्षिकेषु ऋक्षेषु भास्करः इव दक्षिणां दिशं प्रययौ।

जिस प्रकार वर्षाकालीन नक्षत्रों या राशियों में निवास करता हुआ सूर्य दक्षिण दिशा की ओर चला जाता है (दक्षिणायन हो जाता है) उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने अतिथि सेवा में पारंगत ऋषियों के आश्रमों में रहते हुए भी दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया ॥ २५ ॥

बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता।
प्रतिषिद्धापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥ २६ ॥

बभाविति। तं राममनुगच्छन्ती अनुयान्ती विदेहाधिपतेः सुता सीता कैकेय्या प्रतिषिद्धा निवारिताऽपि गुणोन्मुखी गुणोत्सुका लक्ष्मी राजलक्ष्मीरिव बभौ ॥ २६ ॥

अन्वयः—तम् अनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता कैकेय्या प्रतिषिद्धाऽपि गुणोन्मुखी लक्ष्मीः इव बभौ ।

उस राम का अनुसरण करती हुयी विदेहराज जनक की पुत्री सीता कैकेयी के द्वारा जाने से मना की जाने पर भी गुणों से आकृष्ट होकर सम्मुख आनेवाली राजलक्ष्मी के समान सुशोभित हो रही थी ।। २६ ।।

अनुसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम् ।
सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितषट्पदम् ।। २७ ।।

अनुसूयेति । सा सीताऽनुसूययाऽत्रिभार्ययाऽतिसृष्टेन दत्तेन पुण्यगन्धेनाङ्गरागेण काननं वनं पुष्पेभ्य उच्चलिता निर्गताः षट्पदाः भ्रमरा यस्मिंस्तत्तथा भूतं चकार ।। २७ ।।

अन्वयः—सा अनुसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन अङ्गरागेण काननं पुष्पोच्चलितषट्पदम् चकार ।

उस वैदेही ने अत्रि ऋषि की धर्मपत्नी अनुसूया द्वारा प्रदत्त पुण्य गन्ध से युक्त अंगराग से जंगल के पुष्पों से उड़े हुए भ्रमरों वाला बना दिया ।

सन्ध्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षसः ।
अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रहः ।। २८ ।।

सन्ध्याभ्रेति । सन्ध्याभ्रकपिशो सन्ध्याभ्रवत्कपिशः पिङ्गो विराधो नाम राक्षसः । ग्रहो राहुरिन्दोरिव । तस्य रामस्य मार्गमध्वानमावृत्यावरुध्यातिष्ठत् ।। २८ ।।

अन्वयः—सन्ध्याभ्रकपिशः विराधो नाम राक्षसः ग्रहः इन्दोः इव तस्यमार्गमावृत्य अतिष्ठत् ।

सायंकालीन मेघ के समान लाल-पीले वर्णवाला विराध नाम का राक्षस उस राम के मार्ग को घेरकर उसी प्रकार खड़ा हो गया जैसे राहुग्रह चन्द्रमा का मार्ग अवरुद्ध कर देता है ।। २८ ।।

स जहार तयोर्मध्ये मैथिलीं लोकशोषणः ।
नभोनभस्ययोर्वृष्टिमवग्रह इवान्तरे ।। २९ ।।

स इति । लोकस्य शोषणः शोषकः, जनसन्तापकारीत्यर्थः । स राक्षसस्तयो रामलक्ष्मणयोर्मध्ये मैथिलीम् । नभोनभस्ययोः श्रावणभाद्रपदयोरन्तरे मध्ये

वृष्टिमवग्रहो वर्षप्रतिबन्ध इव जहार । 'वृष्टिर्वर्षं तद्विघातेऽवग्राहावग्रहौ समौ' इत्यमरः ॥ २९ ॥

अन्वयः—लोकशोषणः सः तयोः मध्ये मैथिलीं नभः नभस्ययोः अन्तरे वृष्टिम् अवग्रहः इव जहार ।

जिस प्रकार श्रावण भाद्रपद मासों के मध्य वर्षा को वृष्टिविघातक-अवग्रह हर लेता है उसी प्रकार संसार का शोषण करने वाले उस राक्षस ने उन दोनों राम-लक्ष्मण के बीच में स्थित सीता को हर लिया ॥ २९ ॥

तं विनिष्पिष्य काकुत्स्थौ पुरा दूषयति स्थलीम् ।
गन्धेनाशुचिना चेति वसुधायां निचख्नतुः ॥ ३० ॥

तमिति । ककुत्स्थस्य गोत्रापत्ये पुमांसौ काकुत्स्थौ रामलक्ष्मणौ तं विराधं विनिष्पिष्य हत्वा । अशुचिनाऽपवित्रेण गन्धेन स्थलीमाश्रमभुवं पुरा दूषयति दूषयिष्यतीति हेतोः । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट् । वसुधायां निचख्नतुर्भूमौ खनित्वा निक्षिप्तवन्तौ च ॥ ३० ॥

अन्वयः—काकुत्स्थौ तं विनिष्पिष्य अशुचिना गन्धेन स्थलीम् पुरा दूषयति इति वसुधायां निचख्नतुः च ।

ककुत्स्थ गोत्र में उत्पन्न उन दोनों (राम-लक्ष्मण) ने उस विराध राक्षस को अच्छी तरह पीसकर (मारकर) "वह अपवित्र दुर्गन्ध से आश्रम की भूमि को दूषित कर देगा" इस विचार से उसे पृथ्वी के अन्दर भली-भाँति गाड़ दिया ॥ ३० ॥

पञ्चवट्यां ततो रामः शासनात्कुम्भजन्मनः ।
अनपोढस्थितिस्तस्थौ विन्ध्याद्रिः प्रकृताविव ॥ ३१ ॥

पञ्चवट्यामिति । ततो रामः कुम्भजन्मनोऽगस्त्यस्य शासनात् । पञ्चानां वटानां समाहारः पञ्चवटी 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति तत्पुरुषः । 'संख्यापूर्वो द्विगुः' इति द्विगुसंज्ञायाम् । 'द्विगोः' इति ङीप् । 'द्विगुरेकवचनम्' इत्येकवचनम् । तस्यां पञ्चवट्याम् । विन्ध्याद्रिः प्रकृतौ वृद्धेः पूर्वावस्थायामिव । अनपोढस्थितिरनतिक्रान्तमर्यादस्तस्थौ ॥ ३१ ॥

अन्वयः—ततः रामः कुम्भजन्मनः शासनात् पञ्चवट्याम् विन्ध्याद्रिः प्रकृतौ इव अनपोढस्थितिः तस्थौ ।

तत्पश्चात् जिस प्रकार विन्ध्याचल कुम्भ से उत्पन्न होने वाले अगस्त्य ऋषि के आदेश से अपनी प्रकृति (पहले जैसी स्थिति) में पड़ा हुआ रहता है उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र कुम्भज ऋषि के कहने से पञ्चवटी में मर्यादित रूप से रहने लगे ॥ ३१ ॥

रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा ।
अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥ ३२ ॥

रावणेति । तत्र पञ्चवट्यां मदनातुरा रावणावरजा रावणानुजा शूर्पणखा। 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति णत्वम् । राघवम्, निदाघार्ता धर्मतप्ता व्याकुला व्याली भुजङ्गी मलयद्रुमं चन्दनद्रुममिव । अभिपेदे प्राप ॥ ३२ ॥

अन्वयः—तत्र मदनातुरा रावणावरजा राघवं निदाघार्ता व्याली मलयद्रुमम् इव अभिपेदे ।

वहाँ (पञ्चवटी में) जिस प्रकार धूप से पीड़ित सर्पिणी चन्दनवृक्ष के पास पहुँच जाती है, उसी प्रकार काम से पीड़ित रावण की अनुजा—सूर्पणखा श्रीराम के पास पहुँच गयी ॥ ३२ ॥

सा सीतासन्निधावेव तं वव्रे कथितान्वया ।
अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः ॥ ३३ ॥

सेति । सा सूर्पणखा सीतासन्निधावेव कथितान्वया कथितस्ववंशा सती तं रामं वव्रे वृतवती । तथा हि अत्यारूढोऽतिप्रवृद्धो नारीणां मनोभवः कामः कालज्ञोऽवसरज्ञो न भवतीत्यकालज्ञः अनवसरज्ञो हि ॥ ३३ ॥

अन्वयः—सा सीतासन्निधौ एव कथितान्वया तं वव्रे अत्यारूढः नारीणां मनोभवः अकालज्ञः हि ।

वह सूर्पणखा सीता के सन्निधि में ही अपना कुल (वंश-खानदान) बता कर राम का वरण करने लगी क्योंकि अत्यधिक बढ़ा हुआ कामिनियों का काम अवसर का विचार नहीं करता ॥ ३३ ॥

कलत्रवानहं बाले ! कनीयांसं भजस्व मे ।
इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥ ३४ ॥

कलत्रेति । वृषः पुमान् । 'वृषः स्याद्वासवे धर्मे सौरभेषे च शुक्रले । पुंराशिभेदयोः शृङ्ग्यां मूषकश्रेष्ठयोरपि' ॥ इति विश्वः । वृषं पुरुषमात्मार्थमिच्छतीति वृषस्यन्ती कामुकी । 'वृषस्यन्ती तु कामुकी' इत्यमरः । 'सुप आत्मनः क्यच्' इति

क्यच्प्रत्ययः। 'अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि' इत्यसुगागमः। ततो लटः शत्रादेशः। 'उगितश्च' इति ङीप्। श्लोकार्थस्तु—वृषस्कन्धो रामो वृषस्यन्तीं तां राक्षसीम्। हे बाले! अहं कलत्रवान्, मे कनीयांसं कनिष्ठं भजस्व इति शशासाज्ञापितवान्॥ ३४॥

अन्वयः—वृषस्कन्धः रामः वृषस्यन्तीम् ताम् हे बाले! अहं कलत्रवान्, मे कनीयांसम् भजस्व इति शशास।

साँड़ के समान पुष्ट स्कन्ध वाले श्री राम ने अपने लिए पुरुष की इच्छा करने वाली उस कामुकी शूर्पणखा से कहा कि हे सुन्दरी मैं सपत्नीक हूँ, मेरे अनुज लक्ष्मण को भजो॥ ३४॥

ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनभिनन्दिता।
साऽभूद्रामाश्रया भूयो नदीवोभयकूलभाक्॥ ३५॥

ज्येष्ठेति। पूर्वं ज्येष्ठाभिगमनात्तेन लक्ष्मणेनाप्यनभिनन्दिता नाङ्गीकृता भूयो रामाश्रया रामसमीपं पुनरागच्छन्ती सा राक्षसी। उभे कूले भजतीत्युभयकूलभाक् नदीवाभूत्। सा हि यातायाताभ्यां पर्यायेण कूलद्वयगामिनी नदीसदृश्यभूदित्यर्थः।

अन्वयः—पूर्वं ज्येष्ठाभिगमनात् तेनापि अनभिनन्दिता भूयः रामाश्रया सा उभयकूलभाक् नदीवाभूत्।

सर्वप्रथम अग्रज राम के समीप जाने के कारण उस लक्ष्मण के द्वारा भी अस्वीकार कर दी गयी हुई वह पुनः राम के आश्रय में जाती हुयी उसी प्रकार लगरही थी जैसे दोनों किनारों का आश्रय लेने वाली नदी हो॥ ३५॥

संरम्भं मैथिलीहासः क्षणसौम्यां निनाय ताम्।
निवातस्तिमितां वेलां चन्द्रोदय इवोदधेः॥ ३६॥

संरम्भमिति। मैथिलीहासः क्षणं सौम्यां सौम्याकारां तां राक्षसीम्। निवातेन स्तिमितां निश्चलामुदधेर्वेलामम्बुविकृतिम्, अम्बुपूरमित्यर्थः। 'अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला' इत्यमरः। चन्द्रोदय इव। संरम्भं संक्षोभं निनाय॥ ३६॥

अन्वयः—मैथिलीहासः क्षणसौम्यां तां निवातस्तिमिताम् उदधेः वेलाम् चन्द्रोदयः इव संरम्भं निनाय।

जिस प्रकार चन्द्रोदय वायु के न होने के कारण शान्त स्थिर समुद्र के जल-प्रवाह को संक्षुब्ध कर देता है, उसी प्रकार जनकनन्दिनी के हास ने क्षणभर के लिये सौम्य रूप धारण करने वाली उस राक्षसी शूर्पणखा को विक्षुब्ध कर दिया॥३६॥

फलमस्योपहासस्य सद्यः प्राप्स्यसि पश्य माम् ।
मृग्याः परिभवो व्याघ्र्यामित्यवेहि त्वया कृतम् ॥ ३७ ॥

फलमिति । श्लोकद्वयेनान्वयः । अस्योपहासस्य फलं सद्यः सम्प्रत्येव प्राप्स्यसि । मां पश्य । त्वया कर्त्र्या कृतमुपहासरूपं करणं व्याघ्र्यां विषये मृग्याः कर्त्र्याः परिभव इत्यवेहि ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अस्य उपहासस्य फलं सद्यः प्राप्स्यसि । मां पश्य । त्वया कृतं व्याघ्र्यां मृग्याः परिभवः इत्यवेहि ।

इस हँसी मजाक का फल अभी पावोगी । मुझे देखो । तुम्हारे द्वारा यह उपहास किया जाना हरिणी द्वारा बाघिनी (व्याघ्री) का अपमान है ऐसा समझो ॥ ३७ ॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्के निविशतीं भयात् ।
रूपं शूर्पणखा नाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यत ॥ ३८ ॥

इतीति । भयाद्भर्तुरङ्के निविशतीमालिङ्गन्तीं मैथिलीमित्युक्त्वा शूर्पणखा नाम्नः सदृशम्, शूर्पाकारनखयुक्तमित्यर्थः । रूपमाकारं प्रत्यपद्यत स्वीचकार, अदर्शयदित्यर्थः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—भयात् भर्तुः अङ्के निविशतीं मैथिलीम् इति उक्त्वा शूर्पणखा नाम्नः सदृशं रूपं प्रत्यपद्यत ।

भय से स्वामी श्री राम की गोद में प्रविष्ट होती हुयी सीता से इस प्रकार बोलकर शूर्पणखा ने अपने नाम के अनुरूप (सूप के समान नख से युक्त) रूप धारण किया ॥ ३८ ॥

लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा कोकिलामञ्जुवादिनीम् ।
शिवाघोरस्वनां पश्चाद् बुबुधे विकृतेति ताम् ॥ ३९ ॥

लक्ष्मण इति । लक्ष्मणः प्रथमं कोकिलावन्मञ्जुवादिनीं पश्चाच्छिवावद्घोरस्वनां जम्बुकीभीषणरवां तां शूर्पणखां श्रुत्वा, तस्याः स्वनं श्रुत्वेत्यर्थः । सुस्वनः खङ्गः श्रूयते इतिवत्प्रयोगः । विकृता मायाविनीति बुबुधे बुद्धवान् । कर्तरि लिट् ॥३९॥

अन्वयः—लक्ष्मणः प्रथमं कोकिलामञ्जुवादिनीम् पश्चात् शिवाघोरस्वनां तां श्रुत्वा विकृता इति बुबुधे ।

लक्ष्मण ने पहले कोयल के समान सुमधुर-भाषिणी और बाद में शृगाली

के समान घोर भयानक शब्द करने वाली सुनकर उस राक्षसी को मायाविनी समझा ॥ ३९ ॥

पर्णशालामथ क्षिप्रं विकृष्टासिः प्रविश्य सः ।
वैरूप्यपौनरुक्त्येन भीषणां तामयोजयत् ॥ ४० ॥

पर्णशालामिति । अथ स लक्ष्मणो विकृष्टासिः कोशोद्धृतखड्गः सन् क्षिप्रं पर्णशालां प्रविश्य । भीषयतीति भीषणाम् । नन्द्यादित्वाल्ल्युट् कर्तरि । तां राक्षसीं कर्णनासादिच्छेदाद्वैरूप्यं तस्य वैरूप्यस्य पौनरुक्त्यं द्वैगुण्ये लक्षणया । तेनायोजयद्योजितवान् । स्वभावत एव विकृतां कर्णादिच्छेदेन पुनरतिविकृतामकरोदित्यर्थः ॥ ४० ॥

अन्वयः—अथ सः विकृष्टासिः सन् क्षिप्रं पर्णशालाम् प्रविश्य भीषणां तां वैरूप्यपौनरुक्त्येन अयोजयत् ।

इसके बाद उस लक्ष्मण ने तलवार खींचते हुए तत्क्षण पर्णकुटी में प्रविष्ट होकर भयंकर उस राक्षसी को विरूपता की पुनरुक्ति से युक्त कर दिया ॥ ४० ॥

सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वया ।
अङ्कुशाकारयाऽङ्गुल्या तावतर्जयदम्बरे ॥ ४१ ॥

सेति । सा वक्रनखं धारयतीति वक्रनखधारिणी । तया वेणुवत्कर्कशपर्वया । अत एवाङ्कुशस्याकार इवाकारो यस्याः सा तया, अङ्गुल्या । तौ राघवावम्बरे व्योम्नि स्थिता । 'अम्बरं व्योम्नि वाससि' इत्यमरः । अतर्जयदभर्त्सयत् । 'तर्ज भर्त्सने' इति धातोश्चौरादिकादनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदेन भाव्यम् । तथापि चक्षिङो ङित्करणाज्ज्ञापकादनुदात्तेत्त्वनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्वात्परस्मैपदमूह्यमित्युक्तमाख्यातचन्द्रिकायाम् 'तर्जयते भर्त्सयते तर्जयतीत्यपि च दृश्यते कविषु इति ॥४१॥

अन्वयः—सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वया अङ्कुशाकारया अङ्गुल्या तौ अम्बरे अतर्जयत् ।

वह राक्षसी वक्र नख धारण करने वाली बाँस के पोर के समान कठोर पर्व वाली अंकुश की-सी आकृति वाली अंगुली से आकाश में चढ़कर उन दोनों को डराने-धमकाने लगी ॥ ४१ ॥

प्राप्य चाशु जनस्थानं खरादिभ्यस्तथाविधम् ।
रामोपक्रममाचख्यौ रक्षःपरिभवं नवम् ॥ ४२ ॥

प्राप्येति । साऽशु जनस्थानं प्राप्य खरादिभ्यो राक्षसेभ्यस्तथाविधं स्वाङ्गच्छेदात्मकं नासिकाच्छेदरूपम् । उपक्रम्यत इत्युपक्रमः । कर्मणि घञ्प्रत्ययः । रामस्य कर्तुरुपक्रमः । रामोपक्रमम, रामेणादावुपक्रान्तमित्यर्थः । 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' इति क्लीबत्वम् । तन्नवं रक्षसां कर्मभूतानां परिभवमाचख्यौ च ॥४२ ॥

अन्वय:—(सा) आशु जनस्थानं प्राप्य खरादिभ्यः तथाविधं रामोपक्रमम् नवं रक्षः परिभवम् आचख्यौ च ।

उसने शीघ्र ही जनस्थान जाकर खर आदिकों से उस प्रकार के (अपने अङ्गों-नासिका और कानों के छेदन रूप) राम के द्वारा किए गए उपक्रम को जो राक्षसों का नवीन अपमान था कहा ॥ ४२ ॥

मुखावयवलूनां तां नैर्ऋता यत्पुरो दधुः ।
रामाभियायिनां तेषां तदेवाभूदमङ्गलम् ॥ ४३ ॥

मुखेति । नैर्ऋता राक्षसाः । 'नैर्ऋतो यातुरक्षसी' इत्यमरः । मुखावयवेषु कर्णादिषु लूनां छिन्नां तां पुरो दधुरग्रे चक्रुरिति यत्तदेव रामाभियायिनां राममभिद्रवतां तेषाममङ्गलमभूत् ॥ ४३ ॥

अन्वय:—नैर्ऋता मुखावयवलूनां तां पुरः दधुः यत् तदेव रामाभियायिनां तेषां अमङ्गलमभूत् ।

राक्षसों ने प्रमुख भाग से (नाक और कान) काटी गयी अङ्गहीन उस राक्षसी को जो अपने आगे किया वही राम के ऊपर आक्रमण करने वाले उन राक्षसों का अशुभ सूचक हुआ ॥ ४३ ॥

उदायुधानापततस्तान्दृप्तान्प्रेक्ष्य राघवः ।
निदधे विजयाशंसां चापे सीतां च लक्ष्मणे ॥ ४४ ॥

उदायुधेति । उदायुधानुद्यतायुधानापतत आगच्छतो दृप्तान् सगर्वांस्तान्खरादीन्प्रेक्ष्य राघवश्चापे धनुषि विजयस्यशंसामाशां लक्ष्मणे सीतां च निदधे । सीतारक्षणे लक्ष्मणं नियुज्य स्वयं युद्धाय सन्नद्ध इति भावः ॥ ४४ ॥

अन्वय:—उदायुधान् आपततः दृप्तान् तान् प्रेक्ष्य राघवः चापे विजयाशंसां लक्ष्मणे सीतां च निदधे ।

अस्त्रों को ऊपर की ओर उठाये हुए, आते हुए, अभिमानी उन राक्षसों को देखकर राम ने धनुष के ऊपर विजय की आशा और लक्ष्मण के ऊपर सीता की सुरक्षा सौंप दी ॥ ४४ ॥

(रामचन्द्र जी ने सीता की रखवाली के लिए लक्ष्मण को छोड़ दिया और स्वयं धनुष के ऊपर विजय की आशा रखकर राक्षसों से जूझने लगे ।)

एको दाशरथिः कामं यातुधानाः सहस्रशः ।
ते तु यावन्त एवाजौ तावांश्च ददृशे स तैः ॥ ४५ ॥

एक इति । दाशरथी राम एकोऽद्वितीयः । यातुधानः कामं सहस्रशः सन्तीति शेषः । तैर्यातुधानैस्तु स राम आजौ युद्धे ते यातुधाना यावन्तो यावत्संख्याका एव तावांस्तावत्संख्याकश्च ददृशे ॥ ४५ ॥

अन्वयः—दाशरथिः एकः यातुधानाः कामं सहस्रशः (सन्तीति शेषः) तैः तु सः आजौ ते यावन्तः एव तावान् च ददृशे ।

दशरथ सुत राम एकाकी (अद्वितीय) और राक्षस पर्याप्त संख्या में हजारों हैं किन्तु उन राक्षसों ने युद्ध में जितने वे स्वयं थे उतने ही राम को देखा ॥४५॥

असज्जनेन काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम् ।
न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः ॥ ४६ ॥

असज्जनेनेति । अथ शुभाचारो रणे साधुचारी सद्वृत्तश्च स काकुत्स्थोऽसज्जनेन दुर्जनेन रक्षोजनेन च प्रयुक्तं प्रेषितमुच्चारितं च दूषणं दूषयतीति दूषणस्तं दूषणाख्यं राक्षसमात्मनो दूषणं दोषमिव न चक्षमे न सेहे । प्रतिकर्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अथ शुभाचारः सः असज्जनेन प्रयुक्तम् दूषणम् आत्मनः दूषणमिव न चक्षमे ।

इसके बाद सदाचारी उस राम ने दुर्जन-राक्षस के द्वारा प्रेषित 'दूषण' नामक राक्षस को उसी प्रकार क्षमा नहीं किया जैसे सज्जन से दुष्ट द्वारा उच्चारित अपना दूषण—दोष सहते नहीं बनता ॥ ४६ ॥

तं शरैः प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसो च सः ।
क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात्सममिवोद्ययुः ॥ ४७ ॥

तमिति । स रामस्तं दूषणं खरत्रिशिरसौ च शरैः प्रतिजग्राह, प्रतिजहारेत्यर्थः । क्रमशो यथाक्रमम् । प्रयुक्ता अपीति शेषः । तस्य ते शराः पुनश्चापात्समं युगपदिवोद्ययुः । अतिलघुहस्त इति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—सः तं खरत्रिशिरसौ च शरैः प्रतिजग्राह क्रमशः तस्य ते पुनः चापात् समं इवोद्ययुः ।

उस राम ने दूषण और खर तथा त्रिशिरा से बाणों से युद्ध किया। क्रम से प्रयुक्त भी उनके वे वाण धनुष से मानो एक साथ छोड़े गये के समान चल रहे थे ॥ ४७ ॥

तैस्त्रयाणां शितैर्बाणैर्यथापूर्वविशुद्धिभिः।
आयुर्देहातिगैः पीतं रुधिरं तु पतत्रिभिः ॥ ४८ ॥

तैरिति। देहमतीत्य भित्वा गच्छन्तीति देहातिगाः। तैर्यथास्थिता पूर्वविशुद्धिर्येषां तैः। अतिवेगत्वेन देहभेदात्प्रागिव रुधिरलेपरहितैरित्यर्थः। शितैस्तीक्ष्णैस्तैर्बाणैस्त्रयाणां खरादीनामायुर्जीवितं पीतम्। रुधिरं तु पतत्रिभिः पक्षिभिः पीतम्।

अन्वयः—देहातिगैः यथापूर्वविशुद्धिभिः शितैः तैः बाणैः त्रयाणां आयुः पीतम्, रुधिरं तु पतत्रिभिः पीतम्।

शरीर को छेद कर निकल जाने वाले पूर्ववत् विशुद्ध (शरीर छेदकर निकलने पर भी शरीर में प्रवेश करने के पूर्व के समान रक्त रहित स्वच्छ) तीक्ष्ण उन वाणों ने दूषण-खर और त्रिशिरा तीनों के जीवन पान का कर लिया (मार डाला) किन्तु रक्तपान पक्षियों ने किया ॥ ४८ ॥

तस्मिन् रामशरोत्कृत्ते बले महति रक्षसाम्।
उत्थितं ददृशेऽन्यच्च कबन्धेभ्यो न किञ्चन ॥ ४९ ॥

तस्मिन्निति। तस्मिन् रामशररुत्कृत्ते छिन्ने महति रक्षसां बले उत्थितमुत्थानक्रियाविशिष्टं प्राणिनां कबन्धेभ्यः शिरोहीनशरीरेभ्यः 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्' इत्यमरः। अन्यच्चान्यत्किञ्चन न ददृशे। कबन्धेभ्य इत्यत्र 'अन्याराद्' इति पञ्चमी। निःशेषं हतमित्यर्थः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—तस्मिन् रामशरोत्कृत्ते महति रक्षसां बले उत्थितं कबन्धेभ्यः अन्यत् किञ्चन न ददृशे।

राम के वाणों के द्वारा राक्षसों की उस महती सेना के शिर काट देने पर मुण्ड विहीन रुण्डों (धड़ों) के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखा गया ॥४९॥

सा बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा सुरद्विषाम्।
अप्रबोधाय सुष्वाप गृध्रच्छाये वरूथिनी ॥ ५० ॥

सेति। सा सुरद्विषां रक्षसां वरूथिनी सेना बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा युद्धं कारयित्वा। गृध्राणां छाया गृध्रच्छायम्। 'छाया बाहुल्ये' इति क्लीबत्वम्।

तस्मिन्नप्रबोधायापुनर्बोधाय सुष्वाप, ममारेत्यर्थः। अत्र सुरतश्रान्तकान्तासमाधि-र्ध्वन्यते ॥ ५० ॥

अन्वयः—सा सुरद्विषां वरूथिनी बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा गृध्रच्छाये अप्रबोधाय सुष्वाप।

वह देव द्रोहियों की सेना बाणों की वर्षा करने वाले राम को लड़ा कर गृध्रों के पंखों की छाया में पुनः न जागने के लिए (सदा के लिए) सो गयी ॥५०॥

राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम्।
तेषां शूर्पणखैवैका दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत् ॥ ५१ ॥

राघवेति। एका शूर्पवन्नखानि यस्याः सा शूर्पणखा। 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति णत्वम्। नखमुखात्संज्ञायाम्' इति ङीप्प्रतिषेधः। सैव रावणं प्रति राघवास्त्रै र्विदीर्णानां हतानां तेषां रक्षसां खरादीनां दुष्प्रवृत्तिं वार्तां हरति प्रापयतीति दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत्। 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः। 'हरतेरनुद्यमनेऽच्' इत्यच् प्रत्ययः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—एका शूर्पणखा एव रावणं प्रति राघवास्त्रविदीर्णानां तेषां रक्षसाम् दुष्प्रवृतिहरा अभवत्।

एक शूर्पणखा ही रावण तक राम के बाणों से विदीर्ण उन राक्षसों की दुष्प्र-वृत्ति (दुःखद-समाचार) को पहुँचाने वाली रह गयी ॥ ५१ ॥

निग्रहात्स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः।
रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु ॥ ५२ ॥

निग्रहादिति। स्वसुः शूर्पणखाया निग्रहादङ्गच्छेदादाप्तानां बन्धूनां खरादीनां वधाच्च कारणाद्धनदानुजो रावणो रामेण दशसु मूर्धसु पदं पादं निहितं मेने ।५२।

अन्वयः—स्वसुः निग्रहात् आप्तानां वधात् च धनदानुजः रामेण दशसु मूर्धसु पदं निहितं मेने।

बहन शूर्पणखा के अंग-भंग रूप निग्रह-(दण्ड) के कारण तथा आत्मीय बन्धु बान्धवों के वध के कारण धनद के अनुज रावण ने राम के द्वारा अपने दशों मस्तकों पर पैर रखा हुआ मान लिया ॥ ५२ ॥

रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ।
जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः ॥ ५३ ॥

रक्षसेति। स रावणो मृगरूपेण रक्षसा मारीचेन राघवौ वञ्चयित्वा प्रतार्य

पक्षीन्द्रस्य जटायुषः प्रयासेन युद्धरूपेण क्षणं विघ्नितः सञ्जातविघ्नः सन् सीतां जहार ॥

अन्वयः—सः मृगरूपेण रक्षसा राघवौ वञ्चयित्वा पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः सन् सीतां जहार ।

उस रावण ने मृगरूप धारी राक्षस मारीच के द्वारा दोनों रघुवंशी राम-लक्ष्मण को वञ्चित कर विहगराज जटायु के युद्ध-प्रयास से क्षण भर के लिए विघ्न युक्त होता हुआ सीता को हर लिया ॥ ५३ ॥

तौ सीतान्वेषिणौ गृध्रं लूनपक्षमपश्यताम् ।
प्राणैर्दशरथप्रीतेरनृणं कण्ठवर्तिभिः ॥ ५४ ॥

ताविति । सीतान्वेषिणौ तौ राघवौ लूनपक्षं रावणेन छिन्नपक्षं कण्ठवर्तिभिः प्राणैर्दशप्रीतेर्दशरथसख्यस्यानृणमृणैर्विमुक्तं गृध्रं जटायुषमपश्यतां दृष्टवन्तौ । दृशेर्लङि रूपम् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—सीतान्वेषिणौ तौ लूनपक्षं कण्ठवर्तिभिः प्राणैः दशरथप्रीतेः अनृणम् गृध्रं अपश्यताम् ।

सीता का अन्वेषण करने वाले उन दोनों रघुवंशियों ने काटे हुए पंख वाले कण्ठगत प्राणों के द्वारा दशरथ की मैत्री से उऋण गृध्र जटायु को देखा ॥ ५४ ॥

स रावणहृतां ताभ्यां वचसाऽऽचष्ट मैथिलीम् ।
आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य संस्थितः ॥ ५५ ॥

स इति । स जटायू रावणहृतां मैथिलीं ताभ्यां रामलक्ष्मणाभ्याम् । 'क्रिया-ग्रहणमपि कर्तव्यम्' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी वचसा वाग्वृत्त्याऽऽचष्ट । आत्मनः सुमहत्कर्म युद्धरूपं व्रणैरावेद्य संस्थितो मृतः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—सः रावणहृतां मैथिलीम् ताभ्यां वचसा आचष्ट । आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैः आवेद्य संस्थितः ।

उस जटायु ने रावण द्वारा अपहृत मिथिलेश कुमारी सीता की वार्ता उन दोनों—रामलक्ष्मण से वाणी द्वारा कही और अपने उस पवित्र कर्म (शत्रु से सीता की रक्षा के लिए युद्ध रूप महाकर्म) को घावों द्वारा निवेदित कर मर गया ॥ ५५ ॥

तयोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः ।
पितरीवाग्निसंस्कारात्परा ववृतिरे क्रियाः ॥ ५६ ॥

तयोरिति । व्यापत्तिर्मरणम् । नवीभूतः पितृव्यापत्तिशोकः पितुः दशरथस्य व्यापत्तेर्मरणस्य शोकः ययोस्तौ तयो राघवयोस्तस्मिन्गृध्रे पितरीवाग्निसंस्कारादग्निसंस्कारमारभ्य परा उत्तराः क्रिया ववृतिरेऽवर्तन्त । तस्य पितृवदौर्ध्वदेहिकं चक्रतुरित्यर्थः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः तयोः तस्मिन् पितरि इव अग्निसंस्कारात् परा क्रियाः ववृतिरे ।

पिता दशरथ की मृत्यु के नवीन शोक वाले उन दोनों (राम-लक्ष्मण) ने उस जटायु के विषय में पिता के ही समान अग्नि-संस्कार से लेकर अन्तिम क्रियाएँ (दाह संस्कार ने लेकर श्राद्ध औध्वं देहिक पर्यन्त) कीं ॥ ५६ ॥

जटायु की उस प्रकार मृत्यु से राम लक्ष्मण का पितृ-मरण-शोक नवीन हो गया, क्योंकि वह दशरथ का प्रिय मित्र था, और ये उसे पिता के ही समान सम्मान देते थे । अतः उसके मरने पर दाहसंस्कार से श्राद्ध तर्पण आदि समस्त औध्वं दैहिक क्रियाएँ भी पिता के ही समान उन दोनों ने सम्पन्न कीं ।

वधनिधूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः ।
मुमूर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ ॥ ५७ ॥

वधेति । वधेन रामकृतेन निधूतशापस्य देवभुवं गतस्य कबन्धस्य रक्षोविशेषस्योपदेशतो रामस्य समानव्यसने समानापदि, कलत्रवियोगदुःखिते सख्यार्थिनीत्यर्थः हरौ कपौ सुग्रीवे । 'शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः । सख्यं मुमूर्च्छ ववृधे ॥ ५७ ॥

अन्वयः—वधनिर्धूतशापस्य कबन्धस्य उपदेशतः रामस्य समानव्यसने हरौ सख्यं मुमूर्च्छ ।

राम के द्वारा वध करने से शाप मुक्त (देवलोक को प्राप्त) कबन्ध नामक राक्षस विशेष के उपदेश से राम की मित्रता समान विपत्ति (स्त्रीहरण) वाले कपि सुग्रीव में बढ़ने लगी ॥ ५७ ॥

स हत्वा बालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥ ५८ ॥

स इति । वीरः स रामो बालिनं सुग्रीवाग्रजं हत्वा चिरकाङ्क्षिते तत्पदे वालिस्थाने, धातोः स्थान आदेशमिव, आदेशभूतं धात्वन्तरमिवेत्यर्थः । सुग्रीवं सन्य-

वेशयत्स्थापितवान् । यथा 'अस्तेर्भूः' इत्यस्तिधातोः स्थान आदेशो भूधातुरस्तिकार्यमशेषं समभिधत्ते तद्वदिति भावः आदेशो नाम शब्दान्तरस्य स्थाने विधीयमानं शब्दान्तरमभिधीयते ॥ ५८ ॥

अन्वयः—वीरः सः बालिनं हत्वा चिरकाङ्क्षिते तत्पदे धातोः स्थाने आदेशमिव सुग्रीवं संन्यवेशयत् ।

जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र में 'पा' आदि धातुओं के स्थाने पर 'पिब' आदि आदेश सन्निवेशित किया जाता है उसी प्रकार उस वीर राम ने बालि को मारकर बहुत दिनों से अभिलाषित उस बालि के स्थान पर सुग्रीव को स्थापित किया ॥ ५८ ॥

इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टुं भर्तृचोदिताः ।
कपयश्चेरुरार्तस्य रामस्येव मनोरथाः ॥ ५९॥

इत इति । वैदेहीमन्वेष्टुं मार्गितुं भर्त्रा सुग्रीवेण चोदिताः प्रयुक्ताः कपयो हनुमत्प्रमुखाः आर्तस्य विरहातुरस्य रामस्य मनोरथाः कामा इव इतस्ततश्चेरुर्नानादेशेषु बभ्रमुश्च ॥ ५९ ॥

अन्वयः—वैदेहीमन्वेष्टुम् भर्तृचोदिताः कपयः आर्तस्य रामस्य मनोरथाः इव इतस्ततः चेरुश्च ।

सीता का अन्वेषण करने के लिए कपिपति सुग्रीव द्वारा प्रेषित वानर, विरहातुर राम के मनोरथ के समान इधर-उधर नाना देशों में भ्रमण करने लगे ॥५९॥

प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः सम्पातिदर्शनात् ।
मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः ॥ ६० ॥

प्रवृत्ताविति । सम्पातिर्नाम जटायुषो ज्यायान्भ्राता । तस्य दर्शनात् । तन्मुखादिति भावः । तस्याः सीतायाः प्रवृत्तौ वार्तायाम् । 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः । उपलब्धायां ज्ञातायां सत्याम् । मारुतस्यापत्यं पुमान्मारुतिः हनूमान्सागरम् । ममेत्येतदव्ययं ममतावाचि । तद्रहितो निर्ममो निःस्पृहः संसारमविद्याबन्धनमिव तीर्णस्ततार । तरतेः कर्तरि क्तः ॥ ६० ॥

अन्वयः—सम्पातिदर्शनात् तस्याः प्रवृत्तौ उपलब्धायाम् मारुतिः निर्ममः संसारमिव सागरं तीर्णः ।

(जटायु के बड़े भाई) सम्पाति के दर्शन से (उसके मुख से) उस सीता

का समाचार मिलने पर वायुनन्दन हनुमान ने, जैसे ममतारहित ज्ञानी अविद्या बन्धन स्वरूप संसार को पार कर लेता है उसी प्रकार सागर को पार किया ॥ ६० ॥

दृष्टा विचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृता।
जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ॥ ६१ ॥

दृष्टेति। लङ्कायां रावणराजधान्यां विचिन्वता मृगयमाणेन तेन मारुतिना राक्षसीभिर्वृता जानकी विषवल्लीभिः परीता परिवृता महौषधिः सञ्जीविनी-लतेव दृष्टा ॥ ६१ ॥

अन्वयः—लङ्कायां विचिन्वता तेन राक्षसीवृता जानकी विषवल्लीभिः परीता महौषधिः इव दृष्टा।

लङ्का में पता लगाते हुए उस हनुमान के द्वारा राक्षसियों से घिरी हुयी सीता, विष की लताओं से आवृत महौषधि सञ्जीवनी लता के समान देखी गयी ॥ ६१ ॥

तस्यै भर्तुरभिज्ञानमङ्गुलीयं ददौ कपिः।
प्रत्युद्गतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुबिन्दुभिः ॥ ६२ ॥

तस्या इति। कपिर्हनूमान्भर्तू रामस्य सम्बन्ध्यभिज्ञानम् अभिज्ञायत इत्यभि-ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानसाधकमंगुलीयमूर्मिकाम्। 'अंगुलीयकमूर्मिका' इत्यमरः। 'जिह्वा-मूलांगुलेश्छः' इति छप्रत्ययः, तस्यै जानक्यै ददौ। किंविधमंगुलीयम्। अनुष्णैः शीतलैस्तस्या आनन्दाश्रुबिन्दुभिः प्रत्युद्गतमिव स्थितम्। भर्त्रभिज्ञानदर्शनादा-नन्दबाष्पो जात इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—कपिः भर्तुः अभिज्ञानं अङ्गुलीयं अनुष्णैः तदानन्दाश्रुबिन्दुभिः प्रत्युद्गतमिव तस्यै ददौ।

कपि हनुमान ने स्वामी राम की परिचयस्वरूप अंगूठी उस सीता को दी तो उस (सीता) के शीतल आनन्द अश्रुकणों द्वारा मानो (नेत्रों से बाहर निकल कर) उसका अभ्युत्थान किया गया ॥ ६२ ॥

निर्वाप्य प्रियसन्देशैः सीतामक्षवधोद्धतः।
स ददाह पुरीं लङ्कां क्षणसोढारिनिग्रहः ॥ ६३ ॥

निर्वाप्येति। स कपिः। प्रियस्य रामस्य सन्देशैर्वाचिकैः सीतां निर्वाप्य सुख-

यित्वा । अक्षस्य रावणकुमारस्य वधेनोद्धतो दृप्तः सन् । क्षणं सोढोऽरेरिन्द्रजितः कर्तुः निग्रहो बन्धो ब्रह्मास्त्रबन्धरूपो येन स तथोक्तः सन् । लङ्कां पुरीं ददाह भस्मीचकार ॥ ६३ ॥

अन्वयः—सः प्रियसन्देशैः सीतां निर्वाप्य अक्षवधोद्धतः (सन्) क्षणसोढारिविग्रहः (सन्) लंकां पुरीम् ददाह ।

उस (हनुमान) ने प्रियतम राम के प्रिय सन्देश वचनों से सीता को सान्त्वना देकर रावणकुमार अक्ष के वध से उद्धत होते हुए क्षण मात्र के लिए शत्रु (मेघनाद) के बन्धन (ब्रह्मपाश) को सहन करते हुए लंका नगरी जला दी ॥ ६३ ॥

प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती ।
हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्तिमत् ॥ ६४ ॥

प्रतीति । कृती कृतकृत्यः कपिः स्वयमायातं मूर्तिमद्वैदेह्या हृदयमिव स्थितं तस्या एव प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—कृती स्वयमायातं मूर्तिमत् वैदेह्या हृदयमिव (स्थितं) प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामाय अदर्शयत् ।

कार्य-कुशल कपि ने स्वयं आए हुए साक्षात् सीता के हृदय के समान स्थित परिचय चिह्न स्वरूप चूडामणि रामचन्द्र जी को दिखाया ॥ ६४ ॥

स प्राप हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः ।
अपयोधरसंसर्गां प्रियालिङ्गननिर्वृतिम् ॥ ६५ ॥

स इति । हृदये वक्षसि न्यस्तस्य धृतस्य मणेरभिज्ञानरत्नस्य स्पर्शेन निमीलितो मोहितः स रामोऽविद्यमानः पयोधरसंसर्गः स्तनस्पर्शो यस्यास्तां तथाभूतां प्रियाया आलिङ्गनेन या निर्वृतिरानन्दस्तां प्राप ॥ ६५ ॥

अन्वयः—हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः सः अपयोधरसंसर्गाम् प्रियालिङ्गननिर्वृतिम् प्राप ।

हृदय पर रक्खे हुए मणि के स्पर्श से नयननिमीलन किए (आनन्दातिरेक से आँखें मूँदे हुए) राम ने स्तनों के सम्पर्क से शून्य प्रिया के आलिंगन के समान सुख प्राप्त किया ॥ ६५ ॥

श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्सङ्गमोत्सुकः ।
महार्णवपरिक्षेपं लङ्कायाः परिखालघुम् ॥ ६६ ॥

श्रुत्वेति । प्रियाया उदन्तं वार्ताम् । 'उदन्तः साधुवार्तयोः' इति विश्वः । श्रुत्वा तस्याः सीतायाः सङ्गम उत्सुको रामो लङ्कायाः सम्बन्धी यो महार्णव एव परिक्षेपः परिवेषस्तं परिखालघुं दुर्गवेष्टनवत्सुतरं मेने ॥ ६६ ॥

अन्वयः—प्रियोदन्तं श्रुत्वा तत्सङ्गमोत्सुकः रामः लङ्कायाः महार्णवपरिक्षेपं परिखालघुम् मेने ।

प्रिया के कुशल समाचार को सुनकर उसके समागम के लिए उत्कण्ठित राम ने लंका के महासागर रूपी घेरे को परिखा (दुर्ग के घेरे) के समान छुद्र समझा ॥ ६६ ॥

स प्रतस्थेऽरिनाशाय हरिसैन्यैरनुद्रुतः ।
न केवलं भुवः पृष्ठे व्योम्नि सम्बाधवर्तिभिः ॥ ६७ ॥

स इति । केवलमेकं भुवः पृष्ठे भूतले न किन्तु व्योम्नि च सम्बाधवर्तिभिः सङ्कटगामिभिर्हरिसैन्यैः कपिबलैरनुद्रुतोऽन्वितः सन् स रामोऽरिनाशाय प्रतस्थे चचाल ॥ ६७ ॥

अन्वयः—केवलं भुवः पृष्ठे न व्योम्नि च सम्बाधवर्तिभिः हरिसैन्यैः अनुद्रुतः सन् सः अरिनाशाय प्रतस्थे ।

केवल भूमि के पीठ पर ही नहीं अपितु आकाश में भी सङ्कट के साथ चलने वाली वानरी सेनाओं द्वारा अनुसृत होते हुए उस राम ने शत्रु रावण के विनाश के लिए अभियान किया ॥ ६७ ॥

निविष्टमुदधेः कूले तं प्रपेदे विभीषणः ।
स्नेहाद्राक्षसलक्ष्म्येव बुद्धिमाविश्य चोदितः ॥ ६८ ॥

निविष्टमिति । उदधेः कूले निविष्टं तं रामम् विशेषेण भीषयते शत्रूनिति विभीषणो रावणानुजः । राक्षसलक्ष्म्या स्नेहाद् बुद्धिं कर्तव्यताज्ञानमाविश्य चोदितः प्रणोदित इव । प्रपेदे प्राप्तः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—उदधेः कूले निविष्टं तं विभीषणः राक्षसलक्ष्म्या स्नेहात् बुद्धिम् आविश्य चोदितः इव प्रपेदे ।

समुद्र तट पर उपस्थित उस राम के पास शत्रुओं को विशेष रूप से भयभीत करने वाले विभीषण राक्षसों की लक्ष्मी द्वारा स्नेहवश बुद्धि में प्रवेश कर प्रेरित हुए के समान पहुँचे ॥ ६८ ॥

तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव राघवः ।
काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः ॥ ६९ ॥

तस्मा इति । राघवस्तस्मै विभीषणाय । 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । निशाचरैश्वर्यं राक्षसाधिपत्यं प्रतिशुश्राव प्रतिज्ञातवान् । तथा हि । कालेऽवसरे समारब्धाः प्रक्रान्ता नीतयः फलं बध्नन्ति गृह्णन्ति खलु । जनयन्तीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—राघवः तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव । काले समारब्धाः नीतयः फलं बध्नन्ति खलु ।

श्री रामचन्द्र जी ने उस विभीषण को राक्षसों का ऐश्वर्य (आधिपत्य) देने का वचन दिया, क्योंकि समुचित अवसर पर प्रारम्भ की गयी नीतियाँ ही फलवती होती हैं ॥ ६९ ॥

स सेतुं बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि ।
रसातलादिवोन्मग्नं शेषं स्वप्नाय शार्ङ्गिणः ॥ ७० ॥

स इति । स रामो लवणं क्षारमम्भो यस्यासौ लवणाम्भस्तस्मिल्लवणाब्धौ प्लवगैः प्रयोज्यैः । शार्ङ्गिणो विष्णोः स्वप्नाय शयनाय रसातलात्पातालादुन्मग्नमुत्थितं शेषमिव स्थितम् । सेतुं बन्धयामास ॥ ७० ॥

अन्वयः—स लवणाम्भसि प्लवगैः शार्ङ्गिणः स्वप्नाय रसातलात् उन्मग्नं शेषमिव सेतुं बन्धयामास ।

उस राम ने लवण सागर पर वानरों द्वारा भगवान् विष्णु के सोने के लिए पाताल से ऊपर उठे हुए शेषनाग के समान सेतु (बाँध-पुल) बँधवाया ॥७०॥

तेनोत्तीर्य पथा लङ्कां रोधयामास पिङ्गलैः ।
द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्वद्भिरिव वानरैः ॥ ७१ ॥

तेनेति । रामस्तेन पथा सेतुमार्गेणोत्तीर्य । सागरमिति शेषः पिङ्गलैः सुवर्णवर्णैरत एव द्वितीयं हेमप्रकारं कुर्वद्भिरिव स्थितैर्वानरैर्लङ्कां रोधयामास ॥ ७१ ॥

अन्वयः—तेन पथा (सागरं) उत्तीर्य पिङ्गलैः द्वितीयं हेम-प्राकारं कुर्वद्भिरिव (स्थितैः) वानरैः लङ्कां रोधयामास ।

श्री राम ने उस सेतु के मार्ग से सागर पार कर पीले वर्ण के कारण मानों

दूसरा ही सोने का प्राकार (चहार दिवारी) बना देने वाले वानरों द्वारा लंका को घेरवा दिया ॥ ७१ ॥

रणः प्रववृते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् ।
दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः ॥ ७२ ॥

रण इति । तत्र लङ्कायां प्लवगानां रक्षसां च भीमो भयङ्करो दिग्विजृम्भितं-काकुत्स्थपौलस्तयो रामरावणयोर्जयघोषणं जयशब्दो यस्मिन् स तथोक्तो रणः प्रववृत्ते प्रवृत्तः । 'अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ' इत्यमरः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—तत्र प्लवगरक्षसाम् भीमः द्विग्विजृम्भित-काकुत्स्थ-पौलस्त्य-जय घोषणः रणः प्रववृते ।

वहाँ लंका में वानरों और राक्षसों में ऐसा भीषण युद्ध हुआ कि राम और रावण के जयघोष से दिशाए भर गयीं । (गूँज उठीं) ॥ ७२ ॥

पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पष्टमुद्गरः ।
अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतङ्गजः ॥ ७३ ॥

पादपेति । किंविधो रणः पादपैर्वृक्षैराविद्धा भग्नाः परिघा लोहबद्धकाष्ठानि यस्मिन् स तथोक्तः । 'परिघः परिघातः' इत्यमरः शिलाभिर्निष्पिष्टाश्चूर्णिता मुद्गरा अयोघना यस्मिन् स तथोक्तः । 'द्रुघणो मुद्गरघनौ' इत्यमरः । अतिशस्त्राः शस्त्राण्यतिक्रान्ता नखन्यासा यस्मिन्स तथोक्तः । शैलै रुग्णा भग्ना मतङ्गजा यस्मिन् स तथोक्तः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः अतिशस्त्रनखन्यासः शैल-रुग्णमतङ्गजः रणः प्रववृते" इति पूर्वश्लोकेनान्वयः ।

इस युद्ध में वृक्षों से लौह बद्धकाष्ठवाली परिधा तोड़ दी गयी, पत्थर के चट्टानों से मुद्गर (लोहे का घन) चूर-चूर कर दिया गया । नख क्षतों से शस्त्र मात कर दिए गए । (वानरों भालुओं ने अपने बड़े-बड़े नखों से ही शस्त्रधारी राक्षसों को परास्त कर दिया ।) पहाड़ों से उन्मत्त हाथी भग्न कर दिए गये ।७३।

अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् ।
सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ॥ ७४ ॥

अथेति । अथानन्तरम् । छिद्यते इति छेदः खण्डः । शिर एव छेद इति विग्रहः । रामशिरश्छेदस्य विद्युज्जिह्वाख्यराक्षसमायानिर्मितस्य दर्शनेनोद्भ्रान्त-

चेतनां गतसंज्ञां सीतां त्रिजटा नाम काचित्सीतापक्षपातिनी राक्षसी मायाकल्पितं नत्वेतत्सत्यमिति शंसन्ती ब्रुवाणा। 'शप्स्यनोर्नित्यम्' इति नित्यं नुमागमः समजीवयत् ।। ७४ ।।

अन्वयः—अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् सीतां त्रिजटा 'माया' इति शंसन्ती समजीवयत् ।

इसके बाद (विद्युज्जिह्व नामक राक्षस के द्वारा माया निर्मित) राम के शिरश्छेद को देखने से चेतना शून्य सीता को त्रिजटा नाम की राक्षसी ने यह कहते हुए कि "यह 'माया' है वास्तविक नही है" समुज्जीवित किया ।। ७४ ।।

कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम् ।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीविताऽस्मीति लज्जिता ।। ७५ ।।

काममिति । सा सीता मे नाथो जीवतीति हेतोः शुचं शोकं कामं विजहौ तत्याज। किन्तु प्राक्पूर्वमस्य नाथस्यान्तं नाशं सत्यं यथार्थं मत्वा जीविता जीवितवत्यस्मीति हेतोर्लज्जिता लज्जावती । कर्तरि क्तः । दुःखादपि दुःसहो लज्जाभर इति भावः ।। ७५ ।।

अन्वयः—सा मे नाथः जीवति इति शुचं कामं विजहौ, प्राक् अस्य सत्यं मत्वा जीविता अस्मि इति लज्जिता ।

यह सच है कि उस सीता ने "मेरे नाथ राम जीवित हैं" इसलिए शोक को छोड़ दिया किन्तु पहले इस (राम) का अन्त सही मानकर "मैं जीवित हूँ" इसलिए लज्जित हुयी ।। ७५ ।।

गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः ।
दाशरथ्योः क्षणक्लेशः स्वप्नवृत्त इवाभवत् ।। ७६ ।।

गरुडेति । गरुडस्तार्क्ष्यः तस्यापातेनागमेन विश्लिष्टं मेघनादस्येन्द्रजितोऽस्त्रेण नागपाशेन बन्धनं यस्मिन्स तथोक्तः। क्षणक्लेशो दाशरथ्यो रामलक्ष्मणयोः। स्वप्नवृत्तः स्वप्नावस्थायां भूत इवाभवत् ।। ७६ ।।

अन्वयः—गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः क्षणक्लेशः दाशरथ्योः स्वप्नवृत्तः इवाभवत् ।

गरुड के आगमन से छुड़ाया गया मेघनाद के नागपाश के बन्धन वाला क्षणिक कष्ट दशरथ के दोनों कुमारों (राम-लक्ष्मण) के लिए स्वप्न में हुए कष्ट के समान हो गया ।। ७६ ।।

ततो बिभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् ।
रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥ ७७ ॥

तत इति । ततः पौलस्त्यो रावणः शक्त्या कासूनामकेनायुधेन । 'कासूसामर्थ्ययोः शक्तिः' इत्यमरः । लक्ष्मणं वक्षसि बिभेद विदारयामास । रामस्त्वनाहतोऽप्यहतोऽपि शुचा शोकेन विदीर्णहृदय आसीत् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—ततः पौलस्त्यः शक्त्या लक्ष्मणं वक्षसि विभेद, रामस्तु अनाहतोऽपि शुचा विदीर्णहृदयः आसीत् ।

तत्पश्चात् पुलस्त्यपुत्र रावण ने शक्तिबाण से लक्ष्मण को वक्षस्थल में मारा । (यद्यपि चोट लगी लक्ष्मण को) परन्तु श्रीराम आहत न होने पर भी शोक से विदीर्ण-हृदय हो गए ॥ ७७ ॥

स मारुतिसमानीतमहौषधिहतव्यथः ।
लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥ ७८ ॥

स इति । स लक्ष्मणो मारुतिना मरुत्सुतेन हनुमता समानीतया महौषध्या सञ्जीविन्या हतव्यथः सन्पुनः शरैर्लङ्कास्त्रीणां विलापे परिदेवने । 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः । आचार्यकमाचार्यकर्मं । 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इति वुञ् । चक्रे । पुनरपि राक्षसाञ्जघानेति व्यज्यते ॥ ७८ ॥

अन्वयः—सः मारुतिसमानीतमहौषधिहतव्यथः सन् पुनः शरैः लङ्कास्त्रीणां विलापाचार्यकं चक्रे ।

उस लक्ष्मण ने वायुनन्दन हनुमान द्वारा लायी गयी सञ्जीवनी महौषधि से स्वस्थ (व्यथाहीन) होते हुए पुनः बाणों से लङ्का की स्त्रियों के विलाप करने में आचार्य कर्म किया ॥ ७८ ॥

स नादं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् ।
मेघस्येव शरत्कालो न किञ्चित्पर्यशेषयत् ॥ ७९ ॥

स इति । स लक्ष्मणः । शरत्कालो मेघस्येव । मेघनादस्येन्द्रजितो नादं सिंहनादम् । अन्यत्र गर्जितं च इन्द्रायुधप्रभं शक्रधनुःप्रभं धनुश्च किञ्चिदल्पमपि न पर्यशेषयन्नावशेषितवान् । तमवधीदित्यर्थः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—सः शरत्कालः मेघस्य इव मेघनादस्य नादम् इन्द्रायुधप्रभम् धनुश्च किञ्चित् न पर्यशेषयत् ।

जिस प्रकार शरत्काल मेघ गर्जन और इन्द्रधनुष को कुछ भी शेष नहीं रहने देता, उसी प्रकार उस लक्ष्मण ने मेघनाद नामक रावण पुत्र की न तो मेघ के समान सिंह गर्जना शेष रहने दी और न इन्द्रधनुष की प्रभा के समान तेजस्वी धनुष ही शेष रहने दिया ॥ ७९ ॥

कुम्भकर्णः कपीन्द्रेण तुल्यावस्थः स्वसुः कृतः ।
रुरोध रामं शृङ्गीव टाङ्कच्छिन्नमनःशिलः ॥ ८० ॥

कुम्भकर्ण इति । कपीन्द्रेण सुग्रीवेण स्वसुः शूर्पणखायास्तुल्यावस्थो नासाकर्णच्छेदेन सदृशः कृतः कुम्भकर्णष्टङ्केन शिलाभेदकशस्त्रेण छिन्ना मनःशिला रक्तवर्णधातुविशेषो यस्य स तथोक्तः । 'टङ्कः पाषाणदारणः' इति । 'धातुर्मनःशिलाद्यद्रेः' इति चामरः । शृङ्गी शिखरीव । रामं रुरोध ॥ ८० ॥

अन्वयः—कपीन्द्रेण स्वसुः तुल्यावस्थः कृतः कुम्भकर्णः टङ्कच्छिन्नमनःशिलः शृङ्गी इव रामं रुरोध ।

कपिपति सुग्रीव के द्वारा बहन शूर्पणखा की-सी समान स्थिति किये गये (नाक-कान विहीन बनाया गया) कुम्भकर्ण ने जो पत्थर छेदने वाली टाँकी (छेनी) से छिद्र बनाये गए मनःशिला नामक लाल रंग के धातुविशेष के पर्वत के समान (रक्तरंजित) था, श्रीराम को घेर लिया ॥ ८० ॥

अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान् ।
रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ ८१ ॥

अकाल इति । प्रियस्वप्न इष्टनिद्रोऽनुजो भवान्वृथा भ्रात्रा रावणेनाकाले बोधित इतीवासौ कुम्भकर्णो रामेषुभी रामबाणैर्दीर्घनिद्रां मरणं प्रवेशितो गमितः यथा लोकेष्विष्टवस्तुविनाशदुःखितस्य ततोऽपि भूयिष्ठमुपपाद्यते तद्वदिति भावः ॥

अन्वयः—प्रियस्वप्नः भवान् वृथा भ्रात्रा अकाले बोधितः इति इव असौ रामेषुभिः दीर्घनिद्राम् प्रवेशितः ।

"शयन करना ही जिसे अभीष्ट है ऐसे आप (आपका जीवन) व्यर्थ हैं" इस प्रकार भाई रावण के द्वारा असमय में जगाया गया वह कुम्भकर्ण राम के बाणों के द्वारा महानिद्रा (मृत्यु) में प्रवेशित हो गया । [कुम्भकर्ण को निद्रा प्यारी थी अतः मानो इसीलिए (राम के बाणों ने उसे सदैव के लिए सुला दिया) ॥ ८१ ॥

इतराण्यपि रक्षांसि पेतुर्वानरकोटिषु ।
रजांसि समरोत्थानि तच्छोणितनदीष्विव ॥ ८२ ॥

इतराणीति । इतराणि रक्षांस्यपि वानरकोटिषु । समरोत्थानि रजांसि तेषां रक्षसां शोणितनदीषु रक्तप्रवाहेष्विवा पेतुः । निपत्य मृतानीत्यर्थः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—इतराणि रक्षांसि अपि वानरकोटिषु समरोत्थानि रजांसि तच्छोणितनदीषु इव पेतुः ।

अन्य राक्षस भी करोड़ों वानरों की सेनाओं में उसी प्रकार जा गिरे, जैसे युद्ध में उड़ी हुयी धूलिराशि राक्षसों के रक्त की नदियों में जा गिरी ॥ ८२॥

निर्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात् ।
अरावणमरामं वा जगदद्येति निश्चितः ॥ ८३ ॥

निर्ययाविति । अथ पौलस्त्यो रावणः । अद्य जगदरावणं रावणशून्यमरामं रामशून्यं वा भवेदिति निश्चितो निश्चितवान् । कर्तरि क्तः । विजयमरणयोरन्यतरनिश्चयवान् पुनर्युद्धाय मन्दिरान्निर्ययौ निर्जगाम ॥ ८३ ॥

अन्वयः—अथ पौलस्त्यः अद्य जगत् अरावणं अरामं वा (भवेत्) इति निश्चितः पुनर्युद्धाय मन्दिरात् निर्ययौ ।

इसके अनन्तर रावण "आज संसार या तो रावणरहित हो जायगा अथवा रामरहित हो जायगा" इस प्रकार दृढ निश्चय करता हुआ पुनः युद्ध के लिए राजमहल से निकल पड़ा ॥ ८३ ॥

रामं पदातिमालोक्य लङ्केशं च वरूथिनम् ।
हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरन्दरः ॥ ८४ ॥

राममिति । पदाभ्यामततीति पदातिः तं पादचारिणं रामम् । वरूथो रथगुप्तिः । 'रथगुप्तिर्वरूथो ना' इत्यमरः । अत्र वरूथेन रथो लक्ष्यते । वरूथिनं लङ्केशं चालोक्य पुरन्दरः इन्द्रः । युगं वहन्तीति युग्या रथाश्वाः । 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' इति यत्प्रत्ययः । हरियुग्यं कपिलवर्णाश्वम् । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः । रथं तस्मै रामाय प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—पदातिम् रामम् वरूथिनम् लंकेशञ्च आलोक्य पुरन्दरः हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय ।

श्री राम को पैदल और रावण को रथ पर आरूढ़ देखर इन्द्र ने कपिल वर्ण के घोड़ों से युक्त रथ उस राम के लिए भेजा ॥ ८४ ॥

तमाधूतध्वजपटं व्योमगङ्गोर्मिवायुभिः ।
देवसूतभुजालम्बी जैत्रमध्यास्त राघवः ॥ ८५ ॥

तमिति । राघवो व्योमगङ्गोर्मिवायुभिराधूतध्वजपटम् । मार्गवशादिति भावः । जेतैव जैत्रो जयनशीलः तं जैत्रम् जैतृशब्दात् तृन्नन्तात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः तं रथं देवसूतभुजालम्बी मातलिहस्तावलम्बः सन्नध्यास्ताधिष्ठितवान् । आसेर्लङ् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—राघवः व्योमगङ्गोर्मिवायुभिः आधूत-ध्वजपटम् जैत्रं तं देवसूत-भुजालम्बी सन् अध्यास्त ।

श्री रामचन्द्र जी आकाश गंगा की लहरियों की वायु द्वारा फहराते हुए ध्वज वस्त्र वाले विजयशील उस रथ पर देव सारथी मातलि के हाथों का अव-लम्ब लेते हुए आरूढ़ हो गए ॥ ८५ ॥

मातलिस्तस्य माहेन्द्रमामुमोच तनुच्छदम् ।
यत्रोत्पलदलक्लैब्यमस्त्राण्यापुः सुरद्विषाम् ॥ ८६ ॥

मातलिरिति । मातलिरिन्द्रसारथिर्माहेन्द्रम् । तनुश्छाद्यतेऽनेनेति तनुच्छदो वर्म । 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इति घः । तं तस्य रामस्यामुमोचासञ्जयामास । यत्र तनुच्छदे सुरद्विषामस्त्राण्युत्पलदलानां यत्क्लैब्यं नपुंसकत्वं निरर्थकत्वं तदापुः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—मातलिः माहेन्द्रं तनुच्छदं तस्य आमुमोच, यत्र सुरद्विषां अस्त्राणि उत्पलदलक्लैब्यं आपुः ।

इन्द्र के सारथी मातलि ने उस राम को महेन्द्र का शरीर आच्छादित करने वाला कवच पहना दिया, जिस कवच पर देव-द्रोहियों के अस्त्र कमल पत्रों की नपुंसकता को प्राप्त हुए ॥ ८६ ॥

अन्योन्यदर्शनप्राप्तविक्रमावसरं चिरात् ।
रामरावणयोर्युद्धं चरितार्थमिवाभवत् ॥ ८७ ॥

अन्योन्येति । चिरादन्योन्यदर्शनेन प्राप्तविक्रमावसरं रामरावणयोर्युद्धमायोधनं चरितार्थं सफलमभवदिव । प्राक्पराक्रमावसरदौर्बल्याद्विफलस्याद्य तल्लाभात्साफल्यमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ८७ ॥

अन्वयः—चिरात् अन्योन्यदर्शनप्राप्तविक्रमावसरं रामरावणयोर्युद्धं चरितार्थं मभवदिव ।

बहुत दिनों के बाद एक दूसरे को देखने से पराक्रम प्रदर्शन का अवसर पाने वाला राम और रावण का युद्ध मानो चरितार्थ (कृतकृत्य) हो गया ॥८७॥

भुजमूर्धोरुबाहुल्यादेकोऽपि धनदानुजः ।
ददृशे ह्ययथापूर्वो मातृवंश इव स्थितः ॥ ८८ ॥

भुजेति । यथाभूतः पूर्वं यथापूर्वः । सुप्सुपेति समासः । यथापूर्वो न भवतीत्ययथापूर्वः । निहतबन्धुत्वाद्रक्षःपरिचारशून्य इत्यर्थः । अत एवैकोऽपि सन् धनदानुजो रावणः भुजाश्च मूर्धानश्चोरवः पादाश्च भुजमूर्धोरु । 'प्राण्यांगत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः तस्य बाहुल्याद् बहुत्वाद्धेतोः । तद्बहुत्वे यादवः—'दशास्यो विंशतिभुजश्चतुष्पान्मातृमन्दिरे' इति । मातृवंशे मातृसम्बन्धिनि वर्गे स्थित इव ददृशे दृष्टो हि । 'वंशो वेणौ कुले वर्गे' इति विश्वः । अत्र रावणमातृ रक्षोजातित्वाद्वर्गो रक्षोवर्ग इति लभ्यते । अतश्चैकोऽप्यनेकरक्षःपरिवृत इवालक्ष्यतेत्यर्थः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—अयथापूर्वः एकोऽपि सन् धनदानुजः भुजमूर्धोरुबाहुल्यात् मातृवंशे स्थितः इव ददृशे ।

(बन्धुजनों के मारे जाने के कारण राक्षस परिवार से रहित होने पर) पूर्व की भाँति न रह जाने वाला अकेले होते हुए भी धनद का अनुज रावण भुजाओं, मस्तकों और जंधाओं की बहुलता (२० भुजाएँ १० मस्तक और ४ उरुओं) के कारण माता के कुल में स्थित के समान देखा गया ॥ ८८ ॥

जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्चितेश्वरम् ।
रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत ॥ ८९ ॥

जेतारमिति । लोकपालानामिन्द्रादीनां जेतारम् । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी । स्वमुखैः स्वशिरोभिरर्चितेश्वरं तुलितकैलासमुत्क्षिप्तरुद्राद्रिं तमेवं शौर्यवीर्यसत्त्वसम्पन्नं महावीर्यमरातिं शत्रुं रामो गुणग्राहित्वाज्जेतव्योत्कर्षस्य जेतुः स्वोत्कर्षहेतुत्वाच्च बह्वमन्यत । साधु मद्विक्रमस्यार्थं पर्याप्तो विषय इति बहुमानमकरोदित्यर्थः । बह्विति क्रियाविशेषणम् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—लोकपालानां जेतारं स्वमुखैः अर्चितेश्वरम् अतुलितकैलासम् अरातिम् रामः बहु अमन्यत ।

इन्द्र आदि लोकपालों को विजित करने वाले अपने मुखों—मस्तकों से भगवान शंकर की अर्चना करने वाले तथा कैलास पर्वत को (अपनी भुजाओं से) तौलने वाले (इस प्रकार के शौर्य वीर्य सत्त्व सम्पन्न) शत्रु रावण को (गुण ग्राहकता वश) राम ने बहुत सम्मान दिया ॥ ८९ ॥

तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासंगमशंसिनि ।
निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे ॥ ९० ॥

तस्येति । अधिकक्रोधः पौलस्त्यः स्फुरति स्पन्दमानेऽत एव सीतासंगमशंसिनि तस्य रामस्य सव्य इतरो यस्मात्सव्येतरे दक्षिणे । 'न बहुव्रीहौ' इति 'इतरशब्दस्य सर्वनामसंज्ञाप्रतिषेधः । भुजे शरं निचखान निखातवान् ॥ ९० ॥

अन्वयः—अधिकक्रोधः पौलस्त्यः स्फुरति सीतासङ्गमशंसिनि तस्य सव्येतरे भुजे शरं निचखान ।

अतिक्रोधी रावण ने राम की फड़कती हुयी, सीता के समागम की सूचना देने वाली वाम से भिन्न—(दक्षिण) भुजा में वाण चुभो दिए ॥ ९० ॥

रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः ।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥ ९१ ॥

रावणस्येति । रामेणास्तः क्षिप्त आशुगो बाणः विश्रवसोऽपत्यं पुमान् रावणः । 'विश्रवः' शब्दादपत्येऽर्थेऽण्प्रत्यये सति 'विश्रवसो विश्रवणरवणौ' इति रावणादेशः । तस्य रावणस्यापि हृदयं वक्षो भित्त्वा विदीर्य । उरगेभ्यः पातालवासिभ्यः प्रियमाख्यातुमिव । भुवं विवेश ॥ ९१ ॥

अन्वयः—रामास्तः आशुगः रावणस्यापि हृदयम् भित्वा उरगेभ्यः प्रियं आख्यातुमिव भुवं विवेश ।

राम के द्वारा फेंके गए बाण ने भी रावण के हृदय को विदीर्ण कर पाताल-वासी सर्पों से मानो प्रिय समाचार कहने के लिए भूमि में प्रवेश किया ॥ ९१ ॥

[रावण ने नागलोक पर भी विजय प्राप्त कर ली थी जिससे वे सब भी त्रस्त थे । राम के वाण ने रावण का हृदय विदीर्ण कर उन नागों को मानों यह प्रिय सन्देश दिया कि "नागरिपु रावण का हृदय-विदारण हो गया है" कहने के लिए भूमि में प्रवेश किया ।]

वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः ।
अन्योन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव ॥ ९२ ॥

वचसेति । वाक्यं वचसैवास्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः प्रतिकुर्वतोस्तयो रामरावणयोः । वादिनोः कथकयोरिव । अन्योन्यविषये जयसंरम्भो ववृधे ॥ ९२ ॥

अन्वयः—वाक्यं वचसा एव अस्त्रं अस्त्रेण निघ्नतोः तयोः वादिनोः इव अन्योन्यजयसंरम्भो ववृधे ।

वाक्य को वचन से और अस्त्र को अस्त्र से काटते हुए उन दोनों (राम-रावण) का परस्पर विजय करने वाला क्रोध वादो-प्रतिवादी की भाँति बहुत बढ़ गया ॥ ९२ ॥

विक्रमव्यतिहारेण सामान्याऽभूद् द्वयोरपि ।
जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव ॥ ९३ ॥

विक्रमेति । जयश्रीर्विक्रमस्य व्यतिहारेण पर्यायक्रमेण तयोर्द्वयोरपि अन्तरा मध्ये । अव्ययमेतत् । वेदिर्वेद्याकारा भित्तिर्मत्तवारणयोरिव सामान्या साधारणाऽभूत् । न त्वन्यतरनियतेत्यर्थः । अत्र 'मत्तवारणयोः' इत्यत्र 'द्वयोः' इत्यत्र च 'अन्तरान्तरेण युक्ते' इति द्वितीया न भवति 'अन्तरा' शब्दस्योक्तरीत्याऽन्यत्रान्वयात् । मध्ये कामपि भित्तिं कृत्वा गजौ योधयन्तीति प्रसिद्धिः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—जयश्रीः विक्रमव्यतिहारेण द्वयोरपि अन्तरा वेदिः मत्तवारणयोः इव सामान्या अभूत् ।

जिस प्रकार दो प्रमत्त गजराजों के मध्य वेदी के आकार की भित्ति सामान्य होती है उसी प्रकार उन दोनों राम-रावण के बीच विजय लक्ष्मी पराक्रम के क्रम से सामान्य हो गयी ॥ ९३ ॥

[राम और रावण दोनों समान योद्धा थे । कभी राम के पराक्रम के उत्कर्ष से विजयश्री राम को मिलती थी तो कभी रावण के पराक्रमोत्कर्ष से विजयश्री रावण की ओर चली जाती थी । इस प्रकार जब जिसका पराक्रम अधिक होता था विजयलक्ष्मी उसकी ओर चली जाती थी ।]

कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयोर्मुक्तां सुरासुरैः ।
परस्परशरव्राताः पुष्पवृष्टिं न सेहिरे ॥ ९४ ॥

कृतेति । स्वयमस्त्रप्रयोगः कृतं प्रतिकृतं परकृतप्रतीकारस्ताभ्यां प्रीतैः सुरासुरैर्यथासंख्यं तयो राम-रावणयोर्मुक्तां पुष्पवृष्टिम् । द्वयीमिति शेषः । परस्परं शरव्राता न सेहिरे । अहमेवालं, किं त्वयेति चान्तराल एवेतरेतरबाणवृष्टिरितरेतरपुष्पवृष्टिमवारयदित्यर्थः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—कृतप्रतिकृतप्रीतैः सुरासुरैः तयोः मुक्ताम् पुष्पवृष्टिम् परस्परशरव्राताः न सेहिरे ।

स्वयं किये गये अस्त्रप्रयोग और आत्मरक्षार्थ प्रतीकार स्वरूप दूसरों के

द्वारा किये गए अस्त्रप्रयोगों से प्रसन्न देव-दानवों के द्वारा राम और रावण के ऊपर की गयी पुष्प वृष्टि को एक दूसरे के शर-समूहों ने सहन नहीं किया ॥९४॥

अयःशंकुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे ।
हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥ ९५ ॥

अय इति । अथ रक्षो रावणोऽयसः शंकुभिः कीलैश्चितां कीर्णां शतघ्नीं लोहकण्टककीलितयष्टिविशेषम् । 'शतघ्नी तु चतुस्ताला लोहकण्टकसंचिता । यष्टि' इति केशवः हृतां विजयलब्धाम् । वैवस्वतस्यान्तकस्य कूटशाल्मलिमिव । शत्रवे राघवायाक्षिपत् क्षिप्तवान् । कूटशाल्मलिरिव कूटशाल्मलिरिति व्युत्पत्त्या वैवस्वतगदाया गौणी संज्ञा । कूटशाल्मलिर्नामैकमूलप्रकृतिः कण्टकी वृक्षविशेषः । 'रोचनः कूटशाल्मलिः' इत्यमरः । तत्साहश्यं च गदाया अयःसंकुचितत्वादनु संधेयम् ॥ ९५ ॥

अन्वयः—अथ रक्षः अयःशंकुचितां शतघ्नीम् हृतां वैवस्वतस्य कूटशाल्मलिमिव शत्रवे अक्षिपत् ।

इसके पश्चात् राक्षस रावण ने शत्रु (राम को मारने) के लिए यमराज की गदा के समान शतघ्नी गदा चलायी जो लोहे की कीलों से खचित थी और उसे विजय में मिली हुयी थी ॥ ९५ ॥

राघवो रथमप्राप्तां तामाशां च सुरद्विषाम् ।
अर्धचन्द्रमुखैर्बाणैश्चिच्छेद कदलीसुखम् ॥ ९६ ॥

राघव इति । राघवो रथमप्राप्तां तां शतघ्नीं सुरद्विषां रक्षसामाशां विजयतृष्णां च । 'आशा तृष्णादिशोः प्रोक्ता' इति विश्वः । अर्धचन्द्र इव मुखं येषां तैर्बाणैः कदलीवत्सुखं यथा तथा चिच्छेद । अथवा कदल्यामिव सुखमक्लेशो यस्मिन्कर्मणि तदिति विग्रहः ॥ ९६ ॥

अन्वयः—राघवः रथं अप्राप्तां तां सुरद्विषां आशां च अर्धचन्द्रमुखैः बाणैः कदलीसुखम् चिच्छेद ।

श्री रामचन्द्र जी ने उस गदा को—जो कि रथ तक पहुँच भी न पाई थी, और देवद्रोहियों की विजय की आशा को—आधे चन्द्रमा के समान आकार तथा फलकदार मुख वाले बाणों से केले के समान सुखपूर्वक काट डाला ॥ ९६ ॥

अमोघं संदधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः ।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥ ९७ ॥

अमोघमिति । एकोऽद्वितीयो धनुर्धरो रामः प्रियायाः शोक एव शल्यं तस्य

निष्कर्षणमुद्धारकं यदौषधं तदमोघं ब्रह्मदेवताकमस्त्रमभिमन्त्रितं बाणमस्मै रावणाय च । तद्वधार्थमित्यर्थः । धनुषि संदधे ॥ ९७ ॥

अन्वयः—एकधनुर्धरः प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् अमोघं ब्राह्मं अस्त्रं अस्मै च धनुषि सन्दधे ।

अद्वितीय धनुषधारी श्री राम ने प्रिया सीता के वियोग-शोक रूपी काँटे को निकालने के औषध रूप सफल ब्रह्मास्त्र का इस रावण के लिए धनुष पर सन्धान किया ॥ ९७ ॥

तद्व्योम्नि शतधा भिन्नं ददृशे दीप्तिमन्मुखम् ।
वपुर्महोरगस्येव करालफणमण्डलम् ॥ ९८ ॥

तदिति । व्योम्नि शतधा भिन्नं प्रसृतं दीप्तिमन्ति मुखानि यस्य तद्ब्रह्मास्त्रम् । करालं भीषणं तुङ्गं वा फणमण्डलं यस्य तत्तथोक्तम् । 'करालो दन्तुरे तुङ्गे करालो भीषणेऽपि च' इति विश्वः । महोरगस्य शेषस्य वपुरिव । ददृशे दृशम् ॥९८॥

अन्वयः—व्योम्नि शतधाभिन्नं दीप्तिमन्मुखम् तद् करालफणमण्डलं महोरगस्य वपुः इव ददृशे ।

आकाश में शतशः छिटका हुआ दीप्तिमान मुखवाला वह ब्रह्मास्त्र विकराल फणों के समूह वाले शेषनाग के शरीर के समान देखा गया ॥ ९८ ॥

तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धादपातयत् ।
स रावणशिरःपङ्क्तिमज्ञातव्रणवेदनाम् ॥ ९९ ॥

तेनेति । स रामो मन्त्रप्रयुक्तेन तेनास्त्रेणाज्ञातव्रणवेदनामतिशैघ्यादननुभूताव्रणदुःखां रावणशिरःपङ्क्तिं निमेषार्धादपातयत् पातयामास ॥ ९९ ॥

अन्वयः—सः मन्त्रप्रयुक्तेन तेन अज्ञातव्रणवेदनाम् रावणशिरःपङ्क्तिम् निमेषार्धात् अपातयत् ।

उस श्रीराम ने मन्त्र द्वारा प्रयुक्त उस ब्रह्मास्त्र से शीघ्रतावश व्रण की वेदना की अनुभूति न करने वाली रावण के मस्तकों की पंक्ति आधे पल में गिरा दी ॥ ९९ ॥

बालार्कप्रतिमेवाप्सु वीचिभिन्ना पतिष्यतः ।
रराज रक्षःकायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा ॥ १०० ॥

बालेति । पतिष्यत आसन्नपातस्य रक्षःकायस्य रावणकलेवरस्य छिद्यन्त इति छेदाः खण्डाः । कण्ठानां ये छेदास्तेषां परम्परा पंक्तिः । वीचिभिर्भिन्ना नानाकृ-

ताप्सु बालार्कस्य प्रतिमा प्रतिबिम्बमिव । रराज । अर्कस्य बाल विशेषणमारुण्य-सिद्धर्थमिति भावः ।। १०० ।।

अन्वयः—पतिष्यतः रक्षः कायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा वीचिभिन्ना अप्सु बालार्कप्रतिमा इव रराज ।

निकट भविष्य में गिरने वाले राक्षस रावण के शरीर के कण्ठच्छेद की परम्परा, तरंगों से अनेकधा की गयी जल में पड़ने वाली प्रातःकालीन अरुण वर्ण सूर्य की प्रतिभा के समान सुशोभित हुयी ।। १०० ।।

मरुतां पश्यतां तस्य शिरांसि पतितान्यपि ।
मनो नातिविशश्वास पुनःसंधानशङ्किनाम् ।। १०१ ।।

मरुतामिति । पतितानि तस्य रावणस्य शिरांसि पश्यतामपि पुनः संधान-शंकनाम् । पूर्वं तथादर्शनादिति भावः । मरुताममराणाम् । 'मरुतौ परनामरौ' इत्यमरः । मनो नातिविशश्वासाऽतिविश्वासं न प्राप ।। १०१ ।।

अन्वयः—पतितानि तस्य शिरांसि पश्यतामपि पुनः सन्धान शंकिनाम् मरुतां मनःनाति विशश्वास ।

गिरे हुए उस रावण के मस्तकों को देखने पर पुनः जुट जाने की आशंका करने वाले देवताओं के मन में पूर्ण विश्वास नहीं हुआ ।। १०१ ।।

अथ मदगुरुपक्षैर्लोकपालद्विपाना-
मनुगतमलिवृन्दैर्गण्डभित्तीर्विहाय ।
उपनतमणिबन्धे मूर्ध्नि पौलस्त्यशत्रोः
सुरभि सुरविमुक्तं पुष्पवर्षं पपात ।। १०२ ।।

अथेति । अथ मदेन गजगण्डसंचारसंक्रान्तेन गुरुपक्षैर्भारायमाणपक्षैरलि-वृन्दैर्लोकपालद्विपानामैरावतादीनां गगनवर्तिनां गण्डभित्तीर्विहायानुगतमनुद्रुतं सुरभि सुगन्धि । 'सुरभिश्चम्पके स्वर्णे जातीफलवसन्तयोः गन्धोपले सौरभेय्यां सल्लकीमातृभेदयोः । सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत्सुरभि स्मृतम् ।' इति विश्वः । सुरविमुक्तं पुष्पवर्षमुपनत आसन्नो मणिबन्धो राज्याभिषेकसमये भावी यस्य तस्मिन् । पौलस्त्यशत्रो रामस्य मूर्ध्नि पपात । इदमेव राज्याभिषेकसूचक-मिति भावः ।। १०२ ।।

अन्वयः—अथ मदगुरुपक्षैः अलिवृन्दैः लोकपालद्विपानाम् गण्डभित्तीः विहाय अनुगतं सुरभि सुरविमुक्तम् पुष्पवर्णं उपनतमणिबन्धे पौलस्त्यशत्रोः मूर्ध्नि पपात ।

इसके अनन्तर (हाथी के कपोल पर सञ्चार करने से लगे हुए) मदजल

से भारी पंखों वाले भ्रमर-झुण्डों के द्वारा (इन्द्र आदि) लोकपालों के (ऐरावत आदि आकाशवर्ती) हाथियों के कपोलस्थलों को जोड़कर अनुसृत (भ्रमरों द्वारा पीछा की गयी) सुगन्धियुक्त देवताओं द्वारा की गयी पुष्पवर्षा, (राज्याभिषेक काल में) निकटवर्ती मणिबन्ध वाले, रावण के शत्रु श्रीराम के मस्तक के ऊपर हुयी ।। १०२ ।।

[जब राम ने रावण को मार डाला तो प्रसन्न होकर देवताओं ने राम के मस्तक पर दिव्य सुगन्धि से युक्त पुष्पों की वर्षा की । उस समय आकाश गंगा में इन्द्रादि लोक पालों के ऐरावत आदि दिग्गजों के कपोलों पर मंडराते हुए भ्रमर-वृन्द मदपान में मस्त थे । उनके परों में मद चिपक जाने के कारण वे भारी पंख वाले हो गये थे । जब देवताओं ने राम के ऊपर दिव्य पुष्पवृष्टि की तो उन पुष्पों की दिव्य सुगन्धि से आकृष्ट होकर उन भ्रमरों ने दिग्गजों के कपोलों को छोड़कर पुष्पों का ही अनुसरण किया । ये ही दिव्य पुष्प आसन्न राज्याभिषेक के समय राम के मुकुट मणि में बाँधे जाने वाले हैं, इसीलिये राम के मस्तक पर दिव्य पुष्पों की वर्षा हुयी ।]

यन्ता हरेः सपदि संहृतकार्मुकज्य-
मापृच्छ्य राघवमनुष्ठितदेवकार्यम् ।
नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टि-
मूर्ध्वं रथं हरिसहस्रयुजं निनाय ।। १०३ ।।

यन्तेति । हरिन्द्रस्य यन्ता मातलिः सपदि संहृतकार्मुकज्यमनुष्ठितं देवकार्यं रावणवधरूपं येन तं राघवमापृच्छ्य 'साधु यामि' इत्यामन्त्र्य । नामाङ्कैर्नामाक्षरचिह्नैः रावणशरैरङ्किता चिह्निता केतुयष्टिर्ध्वजदण्डो यस्य तम् । हरीणां वाजिनां सहस्रेण युज्यत इति हरिसहस्रयुक् । तम् । 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । हरिः' इत्युभयत्राप्यमरः । रथमूर्ध्वं निनाय नीतवान् ।। १०३ ।।

अन्वयः—हरेः यन्ता सपदि संहृतकार्मुकज्यम् अनुष्ठितदेवकार्यं राघवम् आपृच्छ्य नामाङ्करावणशरांकितकेतुयष्टिम् हरिसहस्रयुजम् रथम् ऊर्ध्वं निनाय ।

इन्द्र के रथ का सञ्चालक मातलि शीघ्र ही धनुष और उसकी डोरी समेट लेने वाले (रावण बध रूप) देवताओं के कार्यों को सम्पन्न कर लेने वाले रघुनन्दन श्रीराम से "अच्छा तो मैं चलूँ" यह पूछ कर, नाम के अक्षरों से लिखित रावण के वाणों द्वारा चिह्नित पताका के दण्ड वाले, हजार घोड़ों से सन्नद्ध रथ को ऊपर की ओर (स्वर्ग) ले चला ।। १०३ ।।

रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धां प्रगृह्य प्रियां
प्रियसुहृदि विभीषणे संगमय्य श्रियं वैरिणः ।
रविसुतसहितेन तेनानुयातः ससौमित्रिणा
भुजविजितविमानरत्नाधिरूढः प्रतस्थे पुरीम् ॥ १०४ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये रावणवधो नाम द्वादशः सर्गः ।

रघुपतिरिति । रघुपतिरपि जातवेदस्यग्नौ विशुद्धां जातशुद्धिं प्रियां सीतां प्रगृह्य स्वीकृत्य । प्रियसुहृदि विभीषणे वैरिणो रावणस्य श्रियं राजलक्ष्मीं संगमय्य संगतां कृत्वा । गमेर्ण्यन्ताल्ल्यप्प्रत्ययः । 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इति णेरयादेशः । रविसुतसहितेन सुग्रीवयुक्तेन ससौमित्रिणा सलक्ष्मणेन तेन विभीषणेनानुयातोऽनुगतः सन् विमानं रत्नमिव विमानरत्नमित्युपमितसमासः । भुजविजितं यद्विमानरत्नं पुष्पकं तदारूढः सन् । पुरीमयोध्यां प्रतस्थे । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । अस्ति प्रस्थानक्रियाया अकर्मकत्वेऽपि तदङ्गभूतोद्देशक्रियापेक्षया सकर्मकत्वम् । अस्ति च धातूनां क्रियान्तरोपसर्जनकस्वार्थाभिधायकत्वम् । यथा 'कुसूलान्पचति' इत्यादावादानक्रियागर्भः पाको विधीयत इति ॥ १०४ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां रघुवंशव्याख्यायां संजीविनीसमाख्यायां द्वादशः सर्गः ।

अन्वयः—रघुपतिः अपि जातवेदोविशुद्धां प्रियाम् प्रगृह्य, प्रियसुहृदि विभीषणे वैरिणः श्रियं सङ्गमय्य, रविसुतसहितेन ससौमित्रिणा तेन अनुयातः (सन्) भुजविजितविमानरत्नाधिरूढः (सन्) पुरीम् प्रतस्थे ।

रघुवर श्रीराम ने भी अग्नि में पवित्र की गयी प्रिया सीता को स्वीकार कर, प्रिय मित्र विभीषण के ऊपर शत्रु रावण की राजलक्ष्मी को सङ्गत कर, सूर्यपुत्र सुग्रीव-सहित, लक्ष्मण के साथ उस विभीषण के द्वारा अनुसृत होते हुए अपने बाहुबल से जीते तए पुष्पक नामक श्रेष्ठ विमान पर आरूढ हो । ओर प्रस्थान किया ॥ १०४ ॥

'हरिप्रिया' हिन्दी व्याख्या में बारहवां सर्ग समाप्त ।

त्रयोदशः सर्गः

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥ १ ॥

त्रैलोक्यशल्योद्धरणाय सिन्धोश्चकार बन्धं मरणं रिपूणाम्।
पुण्यप्रणामं भुवनाभिरामं रामं विरामं विपदामुपासे ॥

अथेति। अथ प्रस्थानानन्तरम्। जानातीति ज्ञः। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इत्यनेन कप्रत्ययः। गुणानां ज्ञो गुणज्ञः। रत्नाकरादिवर्ण्यैश्वर्यगुणाभिज्ञ इत्यर्थः। स रामाभिधानो हरिर्विष्णुः शब्दो गुणो यस्य तच्छब्दगुणमात्मनः स्वस्य पद विष्णुपदम्, आकाशमित्यर्थः। 'वियद्विष्णुपदम्' इत्यमरः। 'शब्दगुणकमाकाशम्' इति तार्किकाः। विमानेन पुष्पकेण विगाहमानः सन्। रत्नाकरं समुद्रं वीक्ष्य मिथो रहसि। 'मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि' इत्यमरः। जायां पत्नीं सीतामिति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच। रामस्य हरिरित्यभिधानं निरंकुशमहिमद्योतनार्थम्। मिथो-ग्रहणं गोष्ठीविश्रम्भसूचनार्थम् ॥ १ ॥

अन्वय :—अथ गुणज्ञः सः रामाभिधानः हरिः शब्दगुणं आत्मनः पदं विमानेन विगाहमानः (सन्) रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः जायां इति उवाच ॥ १ ॥

(लंका विजयोपरान्त अयोध्या की ओर प्रस्थान करने के अनन्तर) गुणज्ञ रामनामधारी भगवान् विष्णु ने शब्दगुणवाले स्वपद (विष्णुपद) आकाश को पुष्पकविमान से अवगाहन करते हुए सागर को देखकर धर्मपत्नी सीता से इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥ २ ॥

वैदेहीति। हे वैदेहि सीते। आ मलयान्मलयपर्यन्तम्। 'पञ्चम्याङ्परिभिः' इति पञ्चमी। पदद्वयं चैतत्। मत्सेतुना विभक्तं द्विधाकृतम्, अत्यायतसेतुनेत्यर्थः। हर्षाधिक्याच्च मदग्रहणम्। फेनिलं फेनवन्तम्। 'फेनादिलच्च' इतीलच्प्रत्ययः।

क्षिप्रकारी चायमिति भावः। अम्बुराशिम्। छायापथेन विभक्तं शरत्प्रसन्नमाविष्कृत-चारुतारमाकाशमिव पश्य मम महानयं प्रयासस्त्वदर्थं इति हृदयम्। छायापथो नाम ज्योतिश्चक्रमध्यवर्ती कश्चित्तिरश्चीनोऽवकाशः ॥ २ ॥

अन्वय :—वैदेहि ! आमलयात् मत्सेतुना विभक्तं फेनिलं अम्बुराशिं छायापथेन विभक्तं शरत्प्रसन्नं आविष्कृतचारुतारकं आकाशं इव पश्य ॥ २ ॥

हे जानकी ! मेरे (द्वारा निर्मित) सेतु से मलय पर्यन्त विभक्त फेन से भरे जलराशि को देखो। यह उसी प्रकार लग रहा है; जिस प्रकार छायापथ से विभक्त शरत्कालीन सुन्दर तारागणों से सुशोभित आकाश हो ॥ २ ॥

गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं सङ्क्रमिते तुरङ्गे ।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः ॥ ३ ॥

गुरोरिति। यियक्षोर्यष्टुमिच्छोः। यजेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। गुरोः सगरस्य मेध्येऽश्वमेधार्हे तुरंगे हये कपिलेन मुनिना रसातलं पातालं सङ्क्रमिते सति। तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः खनद्भिर्नोऽस्माकं पूर्वैर्वृद्धैः सगरसुतैरयं समुद्रः परिवर्धितः किल। किलेत्यैतिह्ये। अतो नः पूज्य इति भावः। यद्यपि तुरङ्गहारी शतक्रतुस्तथापि तस्य कपिलसमीपे दर्शनात्स एवेति तेषां भ्रान्तिः तन्मत्वैव कविना कपिलेनेति निर्दिष्टम् ॥ ३ ॥

अन्वय :—यियक्षोः गुरोः मेध्ये तुरङ्गे कपिलेन रसातलं संक्रमिते (सति) तदर्थं ऊर्वीं अवदारयद्भिः नः पूर्वैः अयं परिवर्धितः किल ॥ ३ ॥

यज्ञ करने की इच्छावाले गुरु सगर के अश्वमेधीय घोड़े के कपिलमुनि द्वारा रसातल में बाँध लिये जाने पर उसे पाने के लिए पृथ्वी को खोदने वाले हमारे पूर्वजों ने इसे परिवर्धित किया है ॥ ३ ॥

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि ।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥ ४ ॥

गर्भमिति। अर्कमरीचयोऽस्मादब्धेः। अपादानात्। गर्भमम्मयं दधति, वृष्ट्यर्थमित्यर्थः। अयमर्थो दशमसर्गे—'ताभिर्गर्भः' इत्यत्र स्पष्टीकृतः। अयं लोकोपकारीति भावः। अत्राब्धौ वसूनि। धनानि। 'धने रत्ने वसु स्मृतम्' इति विश्वः। विवृद्धिमश्नुवते प्राप्नुवन्ति, सम्पद्यानित्यर्थः। असावाप इन्धनं दाह्यं यस्य तद्दाहकं वह्निं

बिभर्ति । अपकारेऽप्याश्रितं न त्यजतीति भावः । अनेन प्रह्लादनमाह्लादकं ज्योतिश्चन्द्रोऽजनि जनितम् । जनेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । सौम्य इति भावः ॥ ४ ॥

अन्वयः—अर्कमरीचयः अस्मात् गर्भं दधति, अत्र वसूनि वृद्धिं अश्नुवते, असौ अबिन्धनं वह्निं बिभर्ति, अनेन प्रह्लादनं ज्योतिः अजनि ॥ ४ ॥

सूर्य की किरणें इस सागर से जलमय गर्भधारण करती हैं, इसमें धन की (रत्नों की) वृद्धि होती है, यह बड़वाग्नि को धारण करता है जिसका इन्धन जल है, और इसने आह्लादकारी ज्योति चन्द्रमा को जन्म दिया है ॥४॥

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना ।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥ ५ ॥

तामिति । तां तामनेकाम् । 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्सायां द्विरुक्तिः । अवस्थामक्षोभाद्यवस्थाम् । विष्णुपक्षे—सत्त्वाद्यवस्थाम् । प्रतिपद्यमानं भजमानं महिम्ना दश दिशो व्याप्य स्थितं विष्णोरिवास्य रत्नाकरस्य रूपं स्वरूपमुक्तरीत्या बहुप्रकारत्वाद्व्यापकत्वाच्चेदृक्तयेयत्तया वा प्रकारतः परिमाणतश्चानवधारणीयं दुर्निरूपम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—तां तां अवस्थां प्रतिपद्यमानं महिम्ना दश दिशः व्याप्य स्थितं विष्णोः इव अस्य रूपं ईदृक्तया इयत्तया वा अनवधारणीयम् ॥ ५ ॥

अपनी महिमा से दशोदिशाओं को व्याप्त कर विभिन्न अवस्था को पाकर स्थित विष्णु की भाँति इसके विषय में भी "यह इस प्रकार है" या यह इतना बड़ा है यह निश्चय नहीं किया जा सकता ॥ ५ ॥

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥ ६ ॥

नाभीति । युगान्ते कल्पान्त उचिता परिचिता योगा स्वात्मनिष्ठैव निद्रेव निद्रा यस्य स पुरुषो विष्णुर्लोकान् भूर्भुवादीन् संहृत्य । नाभ्यां प्ररूढं यदम्बुरुहं पद्मं तदासनेन तन्नाभिकमलाश्रयेण प्रथमेन धात्रा दक्षादीनामपि स्रष्ट्रा पितामहेन संस्तूयमानः सन् । अमुमधिशेते, अमुष्मिञ्छेत इत्यर्थः । कल्पान्तेऽप्यस्तीति भावः ॥ ६ ॥

अन्वयः—युगान्तोचितयोगनिद्रः पुरुषः लोकान् संहृत्य नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन प्रथमेन धात्रा संस्तूयमानः (सन्) अमुं अधिशेते ॥ ६ ॥

युगान्त हो जाने पर योग निद्रा में अवस्थित आदि पुरुष विष्णु लोकों का संहार कर इसी सागर में शयन करते हैं, और उनकी नाभि से समुद्भूत कमल पर आसन लगाने वाले आदि स्रष्टा ब्रह्मा उनकी स्तुति करते हैं ॥ ६ ॥

पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः ।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥७॥

पक्षच्छिदेति । पक्षच्छिदा गोत्रभिदेन्द्रेण । उभयत्र 'सत्सूद्विष'—इत्यादिना क्विप् । आत्तगन्धा हृतगर्वाः, अभिभूता इत्यर्थः । 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति विश्वः । 'आत्तगन्धोऽभिभूतः स्यात्' इत्यमरः । महीं धारयन्तीति महीध्राः पर्वताः । मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः । शतं शतं शतशः शरण्यं रक्षणसमर्थमेनं समुद्रम् । परेभ्यः शत्रुभ्य उपप्लविनो भयवन्तो नृपा धर्मोत्तरं धर्मप्रधानं मध्यमं मध्यमभूपालमिव । आश्रयन्ते । 'अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः' इति कामन्दकः । आर्तबन्धुरिति भावः ॥ ७ ॥

अन्वयः—पक्षच्छिदा गोत्रभिदा आत्तगन्धाः महीध्राः शतशः शरण्यं एनं परेभ्यः उपप्लविनः धर्मोत्तरं मध्यमं इव आश्रयन्ते ॥ ७ ॥

जिस प्रकार शत्रुओं द्वारा आतंकित होने पर भयभीत राजा शरणागत की रक्षा में समर्थ, मध्यम, (तटस्थ) धर्मात्मा राजा की शरण में जाते हैं; उसी प्रकार इन्द्र द्वारा पक्ष काट दिए जाने से अभिमान शून्य सैकड़ों पर्वत इस सागर की शरण लेते हैं ॥ ७ ॥

रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः ।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव ॥ ८ ॥

रसातलादिति । आदिभवेन पुंसाऽऽदिवराहेण रसातलात्प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः कृतोद्धरणक्रियायाः । विवाहक्रिया च व्यज्यते । भुवो भूवदेवतायाः प्रलये प्रवृद्धमस्याब्धेरच्छमम्भो मुहूर्तं वक्त्राभरणं लज्जारक्षणार्थं मुखावगुण्ठनं बभूव । तदुक्तम्—'उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना ।' इति ॥ ८ ॥

अन्वयः—आदिभवेन पुंसा रसातलात् प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः भुवः प्रलयप्रवृद्धं अस्य अच्छं अम्भः मुहूर्तं वक्त्राभरणं बभूव ॥ ८ ॥

जब आदि पुरुष विष्णु ने वाराह रूप में पाताल से पृथ्वी का उद्धार किया

था तो प्रलय से बढ़ा हुआ इस सागर का स्वच्छ जल क्षण भर के लिए पृथ्वी के मुख का आभूषण— घूँघट बन गया था ॥ ८ ॥

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥ ९ ॥

मुखेति । अन्येषां पुंसां सामान्या साधारणा न भवतीत्यनन्यसामान्या कलत्रेषु वृत्तिर्भोगरूपा यस्य स तथोक्तः । इममेवार्थं प्रतिपादयति—तरङ्ग एवाधरस्तस्य दाने समर्पणे दक्षश्चतुरोऽसौ समुद्रो मुखार्पणेषु प्रकृत्या सख्यादिप्रेरणं विना प्रगल्भा धृष्टाः सिन्धूर्नदीः । 'सिन्धुः समुद्रे नद्यां च' इति विश्वः । स्वयं पिबति पाययते च तरङ्गाधरमिति शेषः । 'न पादम्याङ्यमा०' इत्यादिना पिबतेर्ण्यन्तान्नित्यं परस्मैपदनिषेधः 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०' इत्यादिना सिन्धूनां कर्मत्वम् । दम्पत्योर्युगपत्परस्परमधरपानमनन्यसाधारणमिति भावः ॥ ९ ॥

अन्वयः—अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः तरङ्गाधरदानदक्षः असौ मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः सिन्धूः स्वयं पिबति पाययते च ॥ ९ ॥

यह सागर नदीरूपी स्त्रियों से असाधारण प्रेम व्यवहार प्रकट करता है; क्योंकि यह चुम्बन हेतु मुख अर्पण करने में स्वभावतः धृष्ट नदियों को तरङ्ग रूपी अधर दान करने में कुशल है । यह नदियों का अधरपान स्वयं करता भी और उन्हें भी अपना अधरपान कराता भी है ॥ ९ ॥

ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥ १० ॥

ससत्त्वमिति । अमी तिमयो मत्स्यविशेषाः । तदुक्तम्—'अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनमायतः ।' इति । विवृताननत्वाद्व्यात्तमुखत्वाद्धेतोः, आननविवृत्येत्यर्थः । ससत्त्वं मत्स्यादिप्राणिसहितं नदीमुखाम्भ आदाय सम्मीलयन्तश्चञ्चुपुटानि संघट्टयन्तः सन्तः सरन्ध्रः शिरोभिर्जलप्रवाहानूर्ध्वं वितन्वन्ति । जलयन्त्रक्रीडासमाधिर्व्यज्यते ॥ १० ॥

अन्वयः—अमी तिमयः विवृताननत्वात् ससत्व नदीमुखाम्भः आदाय सरन्ध्रै शिरोभिः जलप्रवाहान् ऊर्ध्वं वितन्वन्ति ॥ १० ॥

ये विशाल मगरमच्छ नदियों के मुहाने के जल को जीवजन्तु समेत पी जाते

हैं, और पुन: मुख बन्द कर छिद्रयुक्त मस्तकों से जलप्रवाह को ऊपर की ओर उछालते हैं ॥ १० ॥

मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥ ११ ॥

मातङ्गेति । सहसोत्पतद्भिर्मातङ्गानक्रैर्मातङ्गकारैर्ग्राहैर्द्विधा भिन्नान्समुद्रफेनान् पश्य । ये फेना एषां जलमातङ्गनक्राणां कपोलेषु संसर्पितया संसर्पणेन हेतुना कर्णेषु क्षणं चामरत्वं व्रजन्ति ॥ ११ ॥

अन्वयः—सहसोत्पतद्भिः मातङ्गनक्रैः द्विधा भिन्नान् समुद्रफेनान् पश्य ये कपोलसंसर्पितया कर्णक्षणचामरत्वं व्रजन्ति ॥ ११ ॥

अचानक उछलने वाले हाथी के समान विशाल ग्राहों से दो भागों में विभक्त समुद्र के फेनों को देखो; जो (फेन) इन ग्राहों के कपोलों के निकट बहते हुए क्षण भर के लिए कानों में चामर के समान लग रहे हैं ॥ ११ ॥

वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः ।
सूर्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ॥ १२ ॥

वेलेति । वेलानिलाय । वेलानिलं पातुमित्यर्थः । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इत्यनेन चतुर्थी । प्रसृता निर्गता महोर्मीणां विस्फूर्जथुरुद्रेकः । 'ट्वितोऽथुच्' इत्यथुच्प्रत्ययः । तस्मान्निर्विशेषा दुर्ग्रहभेदा एते भुजङ्गाः सूर्यांशुसम्पर्केण समृद्धरागैः प्रवृद्धकान्तिभिः फणस्थैर्मणिभिर्व्यज्यन्त उन्नीयन्ते ॥ १२ ॥

अन्वयः—वेलानिलाय प्रसृता महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः एते भुजङ्गाः सूर्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागैः फणस्थैः मणिभिः व्यज्यन्ते ॥ १२ ॥

बड़े-बड़े तरङ्गों के समान लगने वाले ये सर्प तट की हवा पीने के लिए बढ़ आए हैं। सूर्य की किरणों के सम्पर्क से जब इनके फणियों के मणि अधिक चमकने लगते हैं तब ये पहचान लिये जाते हैं ॥ १२ ॥

तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात् ।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथञ्चित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥ १३ ॥

तवेति । तवाधरस्पर्धिषु, अधरसदृशेष्वित्यर्थः । विद्रुमेषु प्रवालेषु सहसोर्मिवेगात्पर्यस्तं प्रोत्क्षिप्तमूर्ध्वाङ्कुरैर्विद्रुमप्ररोहैः । प्रोतमुखं स्यूतवदनमेतच्छङ्खानां यूथं वृन्दं कथञ्चित्क्लेशादपक्रामति विलम्ब्यापसरतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

अन्वयः—तव अधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु सहसोर्मिवेगात् पर्यस्तं ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं एतत् शङ्खमूथं कथंचित् अपक्रामति ॥ १३ ॥

तुम्हारे अधर से स्पर्धा करने वाले लाल-लाल मूँगे की चट्टानों में सहसा लहरों के झकोरों से टकरा जाने से मुँह छिदे शंखों के समूह किसी किसी तरह बड़ी कठिनाई से निकल पा रहे हैं ॥ १३ ॥

प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद् भ्रमता घनेन ।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥ १४ ॥

प्रवृत्तेति । पयांसि पातुं प्रवृत्त एव प्रवृत्तमात्रो न पीतवांस्तेनावर्तवेगात् । 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः । भ्रमता घनेन मेघेनायं समुद्रो भूयः पुनरपि गिरिणा मन्दरेण प्रमथ्यमान इव भूयिष्ठमत्यन्तमाभाति ॥ १४ ॥

अन्वयः—पयांसि पातुं प्रवृत्तमात्रेण आवर्तवेगाद् भ्रमता घनेन अयं समुद्रः भूयः गिरिणा प्रमथ्यमानः इव भूयिष्ठं आभाति ॥ १४ ॥

जलपान करने के लिए प्रवृत्त होते ही भँवरों के वेग से घूमते हुए बादलों से ऐसा लगता है मानो पुनः मन्दराचल से समुद्र मन्थन होने लगा है ॥ १४ ॥

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला ।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥ १५ ॥

दूरादिति । अयश्चक्रनिभस्य लोहचक्रसदृशस्य । लवणाम्बुराशेर्दूरात्तन्व्यणुत्वेनावभासमाना तमालतालीवनराजिभिर्नीला वेला तीरभूमिर्धारानिबद्धा चक्राश्रिता कलङ्करेखा मालिन्यरेखेव । आभाति । 'मालिन्यरेखां तु कलङ्कमाहुः' इति दण्डी ॥

अन्वयः—अयश्चक्रनिभस्य लवणाम्बुराशेः दूरात् तन्वी तमालतालीवनराजिनीला वेला धारानिबद्धा कलङ्करेखा इव आभाति ॥ १५ ॥

दूर होने के कारण लोहे के चक्र के समान अत्यन्त पतला तथा ताड़ और तमालवृक्षों की पंक्ति के समान नीला दीखने वाला लवण सागर का तट इस प्रकार लग रहा है जैसे चक्र की धार में लगा हुआ जंग (मुर्चा) हो ॥ १५ ॥

वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते सम्भावयत्याननमायताक्षि ।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥ १६ ॥

वेलेति । हे आयताक्षि ! 'वेला स्यात्तीरनीरयोः' इति विश्वः । वेलानिलः समुद्रतीरवायुः केतकरेणुभिस्त आननं सम्भावयति । किमर्थमित्यपेक्षायामुत्प्रेक्षते—

बिम्बाधरे बद्धतृष्णं मां मण्डनेनाभरणक्रियया कालहानिर्विलम्बस्तस्या अक्षममसहमानम् । कर्मणि षष्ठी । कालहानिमसहमानं वेत्तीव वेत्ति किम् । नो चेत्कथं सम्भावयेदित्यर्थः ।। १६ ।।

अन्वयः—हे आयताक्षि ! वेलानिलः केतकरेणुभिः ते आननं सम्भावयति विम्बाधरवद्धतृष्णं मां मण्डनकालहीनः अक्षमं वेत्ति इव ।। १६ ।।

हे विशालाक्षि सीते ! समुद्रतट की हवा केतकी के परागों से तुम्हारे मुख में पाउडर लगाकर अलंकृत कर रहा है । जैसे लग रहा है कि वह इस बात को जान रहा हो कि मैं तुम्हारे बिम्बफल के समान अरुण अधरपान का प्यासा हूँ और शृंगार आदि करने के समय की हानि सहन करने में अक्षम हो गया हूँ ।

एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ।। १७ ।।

एत इति । एते वयं सैकतेषु भिन्नाभिः स्फुटिताभिः शुक्तिभिः पर्यस्तानि परितः क्षिप्तानि मुक्तानां पटलानि यस्मिंस्तथोक्तम् । फलैरावर्जिताः आनमिताः पूगमाला यस्मिंस्तत्पयोधेः सागरस्य कूलं तीरं विमानवेगात्पुष्पकविमानवेगान्मुहूर्तेन प्राप्ता ।

अन्वयः—एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं फलावर्जितपूगमालं पयोधेः कूलं विमानवेगात् मुहूर्तेन प्राप्ताः ।। १७ ।।

ये हम लोग विमान के वेग से मुहूर्तभर में समुद्र के उस तट पर आ पहुँचे जहाँ बालू पर शुक्तियों के मुह खुले हैं और उनसे मोतियों की राशि बिखरी पड़ी है तथा फलभार से झुकी सुपाड़ियों की पंक्ति विराज रही है ।। १७ ।।

कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।
एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ।। १८ ।।

कुरुष्वेति । 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः ।' इत्यमरः । करभ इवोरू यस्याः सा करभोरूः 'उरूत्तरपदादौपम्ये' इत्यङ् । तस्याः सम्बुद्धौ हे करभोरु ! मृगवत्प्रेक्षत इति विग्रहः । हे मृगवत्प्रेक्षिणि ! तावत्पश्चान्मार्गे लङ्घिताध्वनि, दृष्टिपातं कुरुष्व एषा सकानना भूमिर्विदूरीभवतः समुद्रान्निष्पतति निष्कामतीव । विदूरशब्दाद्विशेष्यनिघ्नाच्च्विः ।। १८ ।।

अन्वयः—हे करभोरु ! हे मृगप्रेक्षिणि ! तावत् पश्चात् मार्गे दृष्टिपातं कुरुष्व एषा सकानना भूमिः विदूरीभवतः समुद्रात् निष्पतति इव ।। १८ ।।

हे करभ के समान जंघेवाली ! हे मृगाक्षी सीते ! पीछे की ओर दृष्टिपात करो। वन युक्त ये पृथ्वी ज्यों-ज्यों हम लोग दूर होते जा रहे हैं त्यों-त्यों ऐसी लग रही है मानो अभी समुद्र से निकली आ रही है ॥ १८ ॥

क्वचित्पथा सञ्चरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च ।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥ १९ ॥

क्वचिदिति । हे देवि ! विमानं पुष्पकं मे मनसोऽभिलाषो यथाविधस्तथा प्रवर्तते पश्य, क्वचित्सुराणां पथा मार्गेण सञ्चरते । क्वचिद् घनानां क्वचित्पततां पक्षिणां च यथा सञ्चरते । 'समस्तृतीयायुक्तात्' इति सम्पूर्वाच्चरतेरात्मनेपदम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) विमानं मे मनसः अभिलाषः यथाविधः प्रवर्तते तथा पश्य क्वचित् सुराणां क्वचित् घनानां क्वचित् पततां च यथा सञ्चरते ॥१९॥

हे देवि ! देखो यह पुष्पक विमान जिस प्रकार मेरे मन की अभिलाषा प्रवृत्त होती है उसी प्रकार चलता है। यह कहीं देवमार्ग से कहीं मेघों के मार्ग से और कहीं पक्षियों के मार्ग से सञ्चार करता है ॥ १९ ॥

असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः ।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते ॥ २० ॥

असाविति । महेन्द्रद्विपदानगन्धिरैरावतमदगन्धिः त्रिभिर्मार्गैर्गच्छतीति त्रिमार्गगा गङ्गा 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तस्या वियद्गङ्गाया वीचीनां विमर्देन सम्पर्केण शीतोऽसावाकाशवायुर्दिनयौवनोत्थान्मध्याह्नसम्भवास्ते मुखे स्वेदलवानाचामति हरति अनेन सुरपथसञ्चारो दर्शितः ॥२०॥

अन्वयः—महेन्द्रद्विपदानगन्धिः त्रिमार्गगावीचिविदर्भशीतः असौ आकाशवायुः दिनयौवनोत्थान् ते मुखे स्वेदलवान् आचामति ॥ ३० ॥

यह आकाशवायु जो इन्द्र के ऐरावत हाथी के मदजल के गन्ध से सुगन्धित हो गयी है और तीन मार्ग से गमन करने वाली आकाशगंगा के तरंगों के शीत स्पर्श से ठण्ढी हो जाने के कारण निकल आने वाले तुम्हारे मुख के प्रस्वेद कणों को पोंछ रही है ॥ २० ॥

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या ।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥ २१ ॥

करेणेति । हे चण्डि कोपने ! 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः । कुतूहलिन्या

विनोदार्थिन्या त्वया कर्त्र्या वातायने गवाक्षे लम्बितेनावस्रंसितेन करेण स्पृष्ट उद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते द्वितीयमाभरणं वलयमामुञ्चतीव अर्पयतीव । चण्डीत्यनेन कोधनशीलत्वाद्भीतः क्षिप्रं त्वां मुञ्चति मेघ इति व्यज्यते ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे चण्डि ! कुतूहलिन्या त्वता वातायनलम्बितेन करेण स्पृष्टः उद्भिन्नविद्युद्वलयः घनः ते द्वितीयं आभरणं आमुञ्चति इव ॥ २१ ॥

हे प्रचण्डकोप करने वाली सीते ! कुतूहल वश जब तुमने विमान के झरोखे से हाथ लटका कर बादलों का स्पर्श किया तो ऐसा लगा मानो वह देदीप्यमान विद्युत् रूपी दूसरा कंगन तुम्हें समर्पित कर रहा हो ॥ २१ ॥

अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि ।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥ २२ ॥

अमीति । अमी चीरभृतस्तापसा जनस्थानमपोढविघ्नमपास्तविघ्नं मत्वा ज्ञात्वा समारब्धा नवा उटजाः पर्णशाला येषु तानि । 'पर्णशालीटजोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । चिरोज्झितानि, राक्षसभयादित्यर्थः । आश्रममण्डलान्याश्रमविभागान्यथास्वं स्वमनतिक्रम्याध्यासतेऽधितिष्ठन्ति ॥ २२ ॥

अन्वयः—अमी चीरभृतः जनस्थानं अपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि चिरोज्झितानि आश्रममण्डलानि यथास्वं अध्यासते ॥ २२ ॥

ये बल्कलवस्त्रधारी तपस्वी बहुत दिनों तक छोड़े हुए आश्रम विभागों में स्वेच्छया बसने लगे हैं और उन्होंने जनस्थान को निर्विघ्न मानकर नयी-नयी पर्णशालाओं से सजाना प्रारम्भ कर दिया है ॥ २२ ॥

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥ २३ ॥

सैषेति । सा पूर्वानुभूता स्थल्येषा, दृश्यत इत्यर्थः । अत्र स्थल्यां त्वां विचिन्वताऽन्विष्यता मया । त्वच्चरणारविन्देन यो विश्लेषो वियोगस्तेन यद् दुःखं तस्मादिव बद्धमौनं निःशब्दम् उर्व्यां भ्रष्टमेकं नूपुरं मञ्जीरः 'मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । अदृश्यत दृष्टम् । हेतुत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

अन्वयः—एषा सा स्थली यत्र त्वां विचिन्वता मया त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखात् इव बद्धमौनं उर्व्यां भ्रष्टं एकं नूपुरं अदृश्यत ॥ २३ ॥

हे प्रिये ! यह वही वनस्थली है जहाँ तुम्हें ढूढ़ते हुए मैंने पृथ्वी पर गिरकर

पड़ा हुआ एक नूपुर पाया जो इस प्रकार दीख रहा था मानो तुम्हारे चरणकमल के वियोग के दुःख से मौन व्रत धारण किये हुए हो ॥ २३ ॥

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥ २४ ॥

त्वमिति । हे भीरु भयशीले ! 'ऊङुतः' इत्यूङ् ततो नदीत्वात्सम्बुद्धौ ह्रस्वः । त्वं रक्षसा रावणेन यतो येन मार्गेण । सार्वविभक्तिकस्तसिः । अपनीताऽपहृता तं मार्गं वागिन्द्रियाभावाद्वक्तुमशक्नुवत्य एता लता वीरुध आवर्जिता नमिताः पल्लवाः पाणिस्थानीया याभिस्ताभिः शाखाभिः स्वावयवभूताभिः कृपया मेऽदर्शयन् । हस्तचेष्टया सूचयनित्यर्थः । 'शाखा वृक्षान्तरे भुजे' इति विश्वः । लताऽऽदीनामपि ज्ञानमस्त्येव, तदुक्तं मनुना–'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता ।' ॥२४॥

अन्वयः—हे भीरु ! त्वं रक्षसा यतः अपनीता तं मार्गं वक्तुं अशक्नुवत्यः एताः लताः आवर्जितपल्लवाभिः शाखाभिः अदर्शयन् ॥ २४ ॥

हे भयभीत स्वभाव वाली सीते ! राक्षसराज रावण द्वारा जहाँ से तुम अपहृत हो गयी थी उस मार्ग को वाणी द्वारा बताने में असमर्थ इन लताओं ने पत्तों का झुकी डालियों (रूपी उंगलियों) के संकेत से मुझे कृपापूर्वक दिखाया था ॥ २४ ॥

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥२५॥

मृग्य इति । दर्भाङ्कुरेषु भक्ष्येषु निर्व्यपेक्षा निःस्पृहा मृग्यो मृगाङ्गनाश्चोत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि दक्षिणस्यां दिशि व्यापारयन्त्यः प्रवर्तयन्त्यः सत्यस्तवागतिज्ञं गत्यनभिज्ञं मा सम्बोधयन्, दृष्टिचेष्टया त्वद्गतिमबोधयनित्यर्थः ॥ २५ ॥

अन्वयः—दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षाः मृग्यश्च उत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि दक्षिणस्यां दिशि व्यापारयन्त्यः तव अगतिज्ञं मां समबोधयन् ॥ २५ ॥

जब मैं तुम्हारी परिस्थिति से अनभिज्ञ था तब इन हरिणियों ने कुश के अंकुर की भी इच्छा त्याग कर ऊपर की ओर किए हुए पलकों वाले नेत्रों के द्वारा दक्षिण दिशा की ओर संकेत करती हुई मुझे मार्गदर्शन कराया था ॥२५॥

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥ २६ ॥

एतदिति । माल्यवतो नाम गिरेरम्बरलेख्यभ्रङ्कषं शृङ्गं शिखरमेतत्पुरस्तादग्रे आविर्भवति यत्र शृङ्गे घनैर्मेघैर्नवं पयो यथा त्वद्विप्रयोगेन यदश्रु तच्च समं युगपद्विसृष्टं मुक्तम् । मेघदर्शनाद्वर्षतुल्यमश्रु विमुक्तमिति भावः ॥ २६ ॥

अन्वयः—माल्यवतः गिरेः अम्बरलेखि शृङ्गं एतत् पुरस्तात् आविर्भवति यत्र धनैः नवं पयः मया त्वद्वियोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥ २६ ॥

आगे माल्यवान पर्वत की गगन चुम्बी चोटी दीख रही है। जहाँ बादलों ने नव जल की वर्षा को और साथ ही (उन्हें बरसते हुए देखकर) मैंने तुम्हारे वियोग में आँसू बहाया था ॥ १६ ॥

गन्धश्च धाराहतपल्लवानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च ।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ॥२७॥

गन्धश्च इति । यस्मिञ्छृङ्गे धाराभिर्वर्षधाराभिराहतानां पल्लवानां गन्धश्च अर्धोद्गतकेसरं कादम्बं नीपकुसुमं च स्निग्धाः मधुराः शिखिनां बर्हिणाम् 'शिखिनौ वह्निर्वर्हिणौ' इत्यमरः । केकाश्च त्वया विना मेऽसह्यानि बभुवुः । 'नपुंसकेन— इति नपुंसकैकशेषः ॥ २७ ॥

अन्वयः—यस्मिन् धाराहतपल्लवानां गन्धः अर्धोद्गतकेसरं कादम्बं च स्निग्धाः शिखिनां केकाः त्वया विना मे असह्यानि बभूवुः ॥ २७ ॥

जिस माल्यवान पर्वत की चोटी पर तुम्हारे बिना मेरे लिए वर्षा की धारा से आहत पल्लवों का गन्ध, अर्धस्फुटित केशर वाले कदम्ब पुष्प और मयूरों की मनोहर केका वाणी असह्य हो गयी थी ॥ २७ ॥

पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु ! तवोपगूढम् ।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथञ्चिद्घनगर्जितानि ॥ २८ ॥

पूर्वेति । किञ्च हे भीरु ! यत्र शृङ्गे पूर्वानुभूतं कम्पोत्तरं कम्पप्रधानं तवोपगूढमुपगूहनं मेघस्तनितश्रवणेन भीरुस्वभावत्वात्त्वया, कृतमालिङ्गनमित्यर्थः । स्मरता मया गुहाविसारीणि घनगर्जितानि कथञ्चिदतिवाहितानि स्मारकत्वेनोद्दीपकत्वात्, क्लेशेन गमितानीत्यर्थः ॥ २८ ॥

अन्वयः—हे भीरु ! यत्र पूर्वानुभूतं कम्पोत्तरं तवोपगूढं स्मरता मया गुहाविसारीणि घनगर्जितानि कथंचित् अति वाहितानि ॥ २८ ॥

जहाँ बादलों की गड़गड़ाहट से डरकर कांपती हुई तुमने मेरा गाढालिंगन

कर लिया था उस पूर्वानुभूत तुम्हारे कम्पप्रधान आलिंगन का स्मरण करते हुए मैंने किसी-किसी प्रकार बड़े कष्ट से गुहा में गूँजनेवाली घनघोर घनगर्जनाओं को सहन किया था। २८ ॥

आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामाक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥ २९ ॥

आसारेति। यत्र शृङ्गे विभिन्नकोशैर्विकसितकुड्मलैर्नवकन्दलैः कन्दलीपुष्पैर-रुणवर्णैरासारेण धारासम्पातेन। 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः। सिक्तायाः क्षितेर्बाष्पस्य धूमवर्णस्य योगाद्धेतोर्विडम्ब्यमानाऽनुक्रियमाणा ते विवाहधूमेनारुणा लोचनश्रीः सादृशात्स्मर्यमाणेति शेषः। मामक्षिणोदपीडयत् ॥ २९ ॥

अन्वयः—यत्र विभिन्नकोशैः नवकन्दलैः आसारसिक्तक्षितिवाष्पयोगात् विडम्ब्यमाना ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः मां अक्षिणोत् ॥ २९ ॥

जहाँ जलधाराओं के गिरने से सिंचित भूमि के वाष्प के संयोग से विकसित कलियों से युक्त नव कन्दलों ने विवाह के समय धुएँ से लाल तुम्हारे नेत्रों की शोभा का अनुकरण करते हुए मुझे (सादृश्य के कारण स्मरण हो आने से) पीड़ित किया था ॥ २९ ॥

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥ ३० ॥

उपान्तेति। उपान्तवानीरवनोपगूढानि पार्श्ववञ्जुलवनच्छन्नान्यालक्ष्या ईषद-दृश्याः पारिप्लवाश्चञ्चलाः सारसा येषु तान्यमूनि पम्पासलिलानि पम्पासरोजलानि दूरादवतीर्णा मे दृष्टिरत एव खेदात्पिबतीव, न विहातुमुत्सहत इत्यर्थः ॥ ३० ॥

अन्वयः—उपान्तवानीरवनोपगूढानि आलक्ष्यपारिप्लवसारसानि अमूनि पम्पासलिलानि दूरावतीर्णा मे दृष्टिः खेदात् पिवति इव ॥ ३० ॥

दूर से उतरने वाली दृष्टि बड़े कष्ट से पम्पा सरोवर के उस जल को जो तट पर स्थित वेंत के वनों से आच्छान्न है तथा जिनमें तैरते हुए सारस स्पष्ट दीख नहीं रहे हैं, मानों पी जाना चाहती है ॥ ३० ॥

अत्राावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये सस्पृहमीक्षितानि ॥ ३१ ॥

अत्रेति। अत्र पम्पासरस्यन्योन्यस्मै दत्तोत्पलकेसराण्यवियुक्तानि रथाङ्गनाम्नां

द्वन्द्वानि चक्रवाकमिथुनानि ते तव दूरान्तरवर्तिना दूरदेशवर्तिना मया हे प्रिये ! सस्पृहं साभिलाषमीक्षितानि । तदानीं त्वामस्मार्षमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—हे प्रिये ! अत्र अन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि अवियुक्तानि रथाङ्गनाम्नां द्वन्द्वानि ते दूरान्तरवर्तिना मया सस्पृहं ईक्षितानि ॥ ३१ ॥

हे प्रिये ! इस पम्पासरोवर में तुमसे दूर रहते हुए मैंने चकवा और चकवी पक्षियों के संयुक्त जोड़ों को सस्नेह निहारा था, जो एक दूसरे को कमल-केसर दे रहे थे ॥ ३१ ॥

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तवकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्धया परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥३२॥

इमामिति । किञ्च स्तनवदभिरामाभ्यां स्तवकाभ्यामभिनम्रां तन्वीमिमां तटाशोकस्य लतां शाखामतस्त्वत्प्राप्तिबुद्धया त्वमेव प्राप्तेति भ्रान्त्या परिरब्धुमालिङ्गितुं कामो यस्य सोऽहं सौमित्रिणा लक्ष्मणेन साश्रुः निषिद्धः नेयं सीतेति निवारितः । परिरब्धुकाम इत्यत्र 'तु काममनसोरपि' इति वचनान्मकारलोपः ॥

अन्वयः—स्तनाभिरामस्तवकाभिनम्रां तन्वीं इमां तटाशोकलतां त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः अहं सौमित्रिणा साश्रुः निषिद्धः ॥ ३२ ॥

इस तटवर्तिनी अशोकलता का जो तुम्हारे ही समान पतली और स्तनों के समान सुन्दर पुष्प गुच्छों से झुकी हुई है, अश्रुपूरित हो मैंने जब तुम्हारी प्राप्ति की बुद्धि से आलिंगन करना चाहा तो सुमित्रानन्दन (लक्ष्मण) ने "यह सीता नहीं है" कहकर रोक दिया था ॥ ३२ ॥

अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥ ३३ ॥

अमूरिति । विमानस्यान्तरेष्ववकाशेषु लम्बन्ते यास्तासां काञ्चनकिङ्किणीनां स्वनं श्रुत्वा स्वयूथशब्दभ्रमात्खमाकाशमुत्पतन्त्योऽमूर्गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वां प्रत्युद्व्रजन्तीव ॥ ३३ ॥

अन्वयः—विमानान्तरलम्बिनीनां काञ्चनकिङ्किणीनां स्वनं श्रुत्वा खं उत्पतन्त्यः अमूः गोदावरीसारसपङ्क्तयः त्वां प्रत्युद्व्रजन्तीव ॥ ३३ ॥

विमान के अन्तराल में लटकने वाली सुवर्ण किंकिणियों के शब्द को सुनकर

आकाश में उड़नेवाली गोदावरी की सारस पंक्तियाँ मानो तुम्हारी अगवानी कर रही हैं ॥ ३३ ॥

एषा त्वया पेशलमध्ययाऽपि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता ।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥ ३४ ॥

एषेति । पेशलमध्ययाऽपि, भाराक्षमयाऽपीत्यर्थः । त्वया घटाम्बुभिः संवर्धिता बालचूता यस्याः सा, उन्मुखा अस्मदभिमुखास्त्वत्संवर्धिता एव कृष्णसारा यस्याः सा चिराद् दृष्टैवा पञ्चवटी मे मम आनन्दवत्याह्लादयति । पञ्चवटीशब्दः पूर्वमेव व्याख्यातः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—पेशलमध्ययाऽपि त्वया घटाम्बुसंवर्धितबालचूता उन्मुखकृष्णसारा चिरात् दृष्टा एषा पञ्चवटी मे मनः आनन्दयति ॥ ३४ ॥

यह पञ्चवटी जो बहुत दिनों के बाद दिखाई पड़ी है और जिसके आम के पौधे कोमल कटिवाली होने पर भी तुम्हारे द्वारा घड़े के जल से सींच कर बढ़ाये गए हैं एवं जहाँ कृष्णसार मृग मुँह ऊपर किए हुए हैं, मेरे मन को आनन्दित कर रही है ॥ ३४ ॥

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ ३५ ॥

अत्रेति । अत्र पञ्चवट्यां गोदा गोदावरी तस्याः समीपेऽनुगोदम् 'अनुर्यत्समया' इत्यव्ययीभावः । मृगयाया निवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदो रहो रहसि अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा सन्नहं वानीरगृहेषु सुप्तः स्मरामि । वाक्यार्थः कर्म सुप्त इति यत्तत्स्मरामीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अत्र अनुगोदं मृगयानिवृत्तः तरङ्गवातेन विनीतखेदः रहः त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा सन् अहं वानीरगृहेषु सुप्तः स्मरामि ॥ ३५ ॥

मुझे स्मरण आ रहा है कि मैं यहाँ गोदावरी के समीप आखेट से निवृत्त होकर (गोदावरी के) तरंगों की हवा से अपनी थकावट दूर करता था और एकान्त में तुम्हारी गोद में सिर रखकर सो जाया करता था ॥ ३५ ॥

भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।
तस्माविलाम्भः परिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥ ३६ ॥

भ्रूभेदेति । यो मुनिर्भ्रूभेदमात्रेणैव नहुषं राजानं मघोनः पदादिन्द्र-

त्वात्प्रभ्रंशयाञ्चकार प्रभ्रशयति स्म । आविलाम्भः परिशुद्धिहेतोः कलुषजलप्रसादहेतोस्तस्य मुनेरगस्त्यस्य । अगस्त्योदये शरदि जलं प्रसीदतीत्युक्तं प्राक् । भूमौ भवो भौमः स्थानपरिग्रह आश्रमोऽयं दृश्यते इति शेषः । भौम इत्यनेन दिव्योऽप्यस्तीत्युक्तम् । परिगृह्यते इति परिग्रहः । स्थानमेव परिग्रह इति विग्रहः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—यः भ्रूभेदमात्रेण नहुषं मघोनः पदात् प्रभ्रंशयाञ्चकार आविलाम्भः परिशुद्धिहेतोः तस्य मुनेः भौमः स्थानपरिग्रहः अयं (दृश्यते) ॥ ३६ ॥

यह उस अगस्त्य मुनि का भूमिगत आश्रमस्थान है जिन्होंने भ्रूभंग मात्र से राजा नहुष को इन्द्रपद से गिरा दिया था और जिनके उगने से शरत्काल में जल निर्मल हो जाता है ॥ ३६ ॥

त्रेताऽग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा ॥ ३७ ॥

त्रेताऽग्नीति । अनिन्द्यकीर्तेस्तस्यागस्त्यस्याक्रान्तविमानमार्गं हविर्गन्धोऽस्यास्तीति हविर्गन्धि त्रेताऽग्निरग्नित्रयम् । 'अग्नित्रयमिदं त्रेता' इत्यमरः । पृषोदरादित्वादेत्वम् । त्रेताऽग्नेर्धूमाग्रमिदं घ्रात्वाऽऽघ्राय रजसो गुणाद्विमुक्तो मे ममात्माऽन्तःकरण लघिमानं लघुत्वगुणं समश्नुते प्राप्नोति ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अनिन्द्यकीर्तेः तस्य आक्रान्तविमानमार्गं हविर्गन्धि त्रेताग्निधूमाग्रं घ्रात्वा रजोविमुक्तः मे आत्मा लघिमानं समश्नुते ॥ ३७ ॥

प्रशंसनीय कीर्तिवाले उस अगस्त्य मुनि की तीनों अग्नियों—प्राजापत्य, आहवनीय और गार्हपत्य के जिस धुएं के अग्रभाग से विमान का मार्ग आक्रान्त हो गया है उसकी इस हवि की सुगन्धि सूंघकर मेरी आत्मा रजोगुण से मुक्त होकर लघुता-हल्केपन का अनुभव कर रही है ॥ ३७ ॥

एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि ।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥ ३८ ॥

एतदिति । हे मानिनि ! शातकर्णेर्मुनेः सम्बन्धि पञ्चाप्सरो नाम पञ्चाप्सर इति प्रसिद्धम् । पञ्चाप्सरसो यस्मिन्निति विग्रहः । पर्यन्तेषु वनानि यस्य तत्पर्यन्तं वनमेतद्विहारवारि क्रीडासरो विदूरात् । मेघानामन्तरे मध्य आलक्ष्यमीषद्दृश्यम् । 'आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ' इत्यमरः । इन्दुबिम्बमिव आभाति ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे मानिनि ! शातकर्णेः मुनेः पञ्चाप्सरो नाम पर्यन्तवनं एतत् विहारवारि विदूरात् मेघान्तरालक्ष्यं इन्दुबिम्बं इव आभाति ॥ ३८ ॥

हे मान करनेवाली सीते ? यह शातकर्णि मुनि का "पञ्चाप्सर" नामक क्रीड़ा सरोवर है जिसके समीप के वन दूर से इस प्रकार लग रहे हैं मानों मेघों के अन्तराल में चन्द्रमा का बिम्ब कुछ-कुछ दीख रहा हो ॥ ३८ ॥

पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥३९॥

पुरेति । पुरा पूर्वस्मिन्कालेदर्भाङ्कु रमात्रवृत्तिस्तन्मात्राहारो मृगैः सार्धं सहचरन्स ऋषिः समाधेस्तपसो भीतेन मघोनेन्द्रेण पञ्चानामप्सरसां यौवनम् । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तदेव कूटबन्धं कपटयन्त्र-मुपनीतः । 'उन्माथः कूटयन्त्रं स्यात्' इत्यमरः । किलेत्यैतिह्ये । मृगसाहचर्या-न्मृगवदेव बद्ध इति भावः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—पुरा दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिः मृगैः सार्द्धं चरन् स ऋषिः समाधि-भीतेन मघोना पञ्चाप्सरो यौवनकूटबन्धं उपनीतः किल ॥ ३९ ॥

प्राचीनकाल में मृगों के साथ केवल कुश के अंकुरों से जीवन निर्वाह करने वाले इस मुनि के तपोवल से भयभीत इन्द्र ने पाँच अप्सराओं के यौवनरूपी कपटजाल में फँसा लिया था ॥ ३९ ॥

तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गघोषः ।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥४०॥

तस्येति । अन्तर्हितसौधभाजो जलान्तर्गतप्रासादगतस्य यस्य शातकर्णेरयं प्रसक्तः सन्ततः सङ्गीतमृदङ्गघोषो वियद्गतः सन्पुष्पकस्य चन्द्रशालाः शिरोगृहाणि । 'चन्द्रशाला शिरोगृहम्' इत्यमरः । क्षणं प्रतिश्रुद्भिः प्रतिध्वानैर्मुखरा ध्वनन्तीः करोति । 'स्त्री प्रतिश्रुत्प्रतिध्वाने' इत्यमरः ॥ ४० ॥

अन्वयः—अन्तर्हितसौधभाजः तस्य अयं प्रसक्तसंगीतमृदङ्गघोषः वियद्गतः सन् पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥ ४० ॥

जल के भीतर महलों में रहने वाले उस शातकर्णि मुनि का निरन्तर होने वाला संगीत मृदंग का घोष आकाशगामी होकर क्षणभर के लिए पुष्पक विमान के चन्द्रमहलों को गुञ्जायमान कर रहा है ॥ ४० ॥

हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः ।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥ ४१ ॥

हविरिति । नाम्ना सुतीक्ष्णः सुतीक्ष्णनामा चरितेन दान्तः सौम्योऽसावपरस्तपस्वी एधवतामिन्धनवताम् । 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधः' इत्यमरः । चतुर्णां हविर्भुजामग्नीनां मध्ये ललाटं तपतीति ललाटन्तपः सूर्यः । 'असूर्यललाटयोर्दृशितपोः' इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यनेन मुमागमः । ललाटन्तपः सप्तसप्तिः सप्ताश्वः सूर्यो यस्य स तथोक्तः सन् तपस्यति तपश्चरति । 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' इति क्यङ् । 'तपसः परस्मैपदं च' इति वक्तव्यम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—नाम्ना सुतीक्ष्णः चरितेन दान्तः असौ अपरः तपस्वी एधवतां चतुर्णां हविर्भुजां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः तपस्यति ॥ ४१

यह सुतीक्ष्ण नामक दूसरे तपस्वी जो चरित्र से बड़े उदात्त हैं, इन्धनधारी चार अग्नियों के मध्य में ललाट को तपाने वाले सूर्य से संयुक्त हो पञ्चाग्नि तप कर रहे हैं ॥ ४१ ॥

अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसन्दर्शितमेखलानि ।
नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥ ४२ ॥

अमुमिति । जनितेन्द्रशङ्कं जनिता इन्द्रस्य शङ्का भयं येन तं तपसेति शेषः । अमुं सुतीक्ष्णं सहासं प्रहितानीक्षणानि दृष्टयो येषु तानि व्याजेन केनचिन्निमेषेण । 'पुंस्यर्धोऽर्धं समेंऽशके' इति विश्व । अर्धमीषत्सन्दर्शिता मेखला काञ्ची येषु तानि-सुराङ्गनानामिन्द्रप्रेषितानां विभ्रमा विलासा एव चेष्टितानि विकर्तुं स्खलयितुमलं, समर्थानि न बभूवुरिति शेषः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—जनितेन्द्रशङ्कं अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसंदर्शितमेखलानि सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि विकर्तुं न अलम् अस्ति ॥ ४२ ॥

अपने तपोबल से इन्द्र को सशंकित कर देने वाले इस जितेन्द्रिय मुनि को देवाङ्गनायें हासयुक्त कटाक्षों के प्रहार से तथा किसी व्याज से आधी करधनी दिखाकर विलास चेष्टाओं के द्वारा भी तपो-भ्रष्ट नहीं कर सकीं ॥ ४२ ॥

एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम् ।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

एष एति । ऊर्ध्वबाहुरेष सुतीक्ष्णोऽक्षमालैव वलयं यस्य तं मृगाणां कण्डूयितारं कुशा एव सूचयस्ता लुनातीति कुशसूचिलावस्तम् । 'कर्मण्यण्' इत्यण् । एभिर्विशेषणैर्जपशीलत्वं भूतदया कर्मक्षमत्वं च द्योत्यते । सव्यादितरं दक्षिणं भुजं मे मम सभाजने सम्माननिमित्ते 'निमित्तात्कर्मयोगे' इति सप्तमी । इतः प्राध्वं प्रकृतानुकूलबन्धं प्रयुङ्क्ते प्रेरयति । 'आनुकूल्यार्थकं प्राध्वम्' इत्यमरः । अव्ययं चैतत् ।४३।

अन्वयः—ऊर्ध्वबाहुः एषः अक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावं सव्येतरं भुजं मे सभाजने इतः प्राध्वं प्रयुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

अपनी वामभुजा को ऊपर रखने वाले ये सुतीक्ष्ण मुनि रुद्राक्ष की जपमालारूपी कंगन से युक्त मृगों को खुजलाने वाली कुशों के सुई की नोक के समान तीक्ष्ण अंकुरों को काटने वाली वामेतर-दाहिनी भुजा मेरे सत्कारार्थ प्रेरित कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किञ्चित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः ।
दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि सन्निधत्ते ॥ ४४ ॥

वाचंयमत्वादिति । एषः सुतीक्ष्णः वाचं यच्छति नियमयतीति वाचंयमो मौनव्रती । 'वाचि यमो व्रते' इति खच्प्रत्ययः । 'वाचंयमपुरन्दरौ च' इति मुम् । तस्य भावस्तत्त्वान्मम प्रणतिं किञ्चिन्मूर्ध्नः कम्पेन प्रतिगृह्य विमानेन व्यवधानं तिरोधानं तस्मान्मुक्ताम् । 'अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः' इत्यनेन पञ्चमीसमासः । दृष्टिं पुनः सहस्रार्चिषि सूर्ये सन्निधत्ते, सम्यङ्निधत्त इत्यर्थः । अन्यथाऽकर्मकत्वप्रसङ्गात् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—एषः वाचंयमत्वात् मम प्रणतिं किञ्चित् मूर्ध्नः कम्पेन प्रतिगृह्य विमानव्यवधानमुक्तां दृष्टिं पुनः सहस्रार्चिषि सन्निधत्ते ॥ ४४ ॥

मौनव्रती होने के कारण इस मुनि ने सिर हिलाकर मेरे प्रणाम को स्वीकार किया और पुनः ये अपनी पुष्पक विमान के व्यवधान से मुक्त दृष्टि सहस्रकिरण सूर्य में लगा रहे हैं । ॥ ४४ ॥

अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।
चिराय सन्तर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ॥ ४५ ॥

अद इति । शरणे रक्षणे साधु शरण्यं पावयतीति पावनम् । अदो दृश्यमानं तपोवनमाहिताग्नेः शरभङ्गनाम्नो मुनेः सम्बन्धि, यः शरभङ्गश्चिराय चिरमग्निं

समिद्भिः सन्तर्प्य तर्पयित्वा ततो मन्त्रैः पूतां शुद्धां तनुमप्यहौषीद्धुतवान्, जुहोतेर्लुङ् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—शरण्यं पावनं अदः तपोवनं आहिताग्नेः शरभङ्गनाम्नः, यः चिराय अग्निं समिद्भिः सन्तर्प्य मन्त्रपूतां तनुमपि अहौषीत् ॥ ४५ ॥

यह जो सामने परम पवित्र तपोवन दीख रहा है यह अग्नि में आहुति डालने वाले शरभङ्ग नामक ऋषि का है जिन्होंने चिरकाल तक समिधा से अग्नि को तृप्त कर मन्त्रों से पवित्र शरीर की भी आहुति दे दी ॥ ४५ ॥

छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसम्भाव्यफलेष्वमीषु ।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥ ४६ ॥

छायेति । अधुनाऽस्मिन्काले तस्य शरभङ्गस्य सम्बन्धिन्यतिथीनां सपर्याऽतिथिपूजा । 'पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चार्हणा समाः' इत्यमरः । छायभिर्विनीतोऽपनीतोऽध्वपरिश्रमो यैस्तेषु भूयिष्ठानि बहुतमानि सम्भाव्यानि श्लाघ्यानि फलानि येषां, तेष्वमीषु पादपेष्वाश्रमवृक्षेषु सुपुत्रेष्विव स्थिता तत्पुत्रैरिव पादपैरनुष्ठीयत इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अधुना तस्य अतिथीनां सपर्या छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसम्भाव्यफलेषु अमीषु पादपेषु सुपुत्रेषु इव स्थिता ॥ ४६ ॥

अब इस समय उस ऋषि के अतिथियों की पूजा का भार सुपुत्रों के समान इन वृक्षों पर स्थित है जो अपनी छाया से मार्ग की थकावट दूर करते हैं एवं प्रचुर मात्रा में मधुर फल देते हैं ॥ ४६ ॥

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृंङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः ।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः ॥४७॥

धारेति । धारा निर्झरधाराः, यद्वा धारया सातत्येन स्वनोद्गारिदर्येव मुखं यस्य सः शृङ्गं, शिखरं विषाणं च तस्याग्रे लग्नोऽम्बुद एव वप्रपङ्को वप्रक्रीडासक्तपङ्को यस्य सः असौ चित्रकूटो हे बन्धुरगात्रि ! उन्नतानताङ्गि ! 'बन्धुरं तून्नतानतम्' इत्यमरः । दृप्तः ककुद्मान्वृषभ इव मे चक्षुर्बध्नात्यनन्यासक्तं करोति ॥ ४७ ॥

अन्वयः—धारास्वनोद्गारिदरीमुखः शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः असौ चित्रकूटः हे बन्धुरगात्रि ! दृप्तः ककुद्मान् इव मे चक्षुः बध्नाति ॥ ४७ ॥

हे सुन्दरी सीते ? मस्त साँड़ की भाँति यह चित्रकूट पर्वत मेरी दृष्टिको बाँध ले रहा है। यह जल की धारा का कल-कल निनाद रूपी डकारने की ध्वनि करने वाला है; कन्दरा ही इसका मुख है; तथा इसकी चोटी के अग्रभाग पर लगा हुआ श्याम मेघ ही सींग में लगा हुआ वप्रक्रीड़ा का कीचड़ है। (यहाँ श्री राम को चित्रकूट पर्वत दृप्त साँड़ की भाँति आकर्षक लग रहा है। साँड़ डकारता है, इस पर्वत के झरने की धारा निरन्तर ध्वनि करती रहती है। कन्दरा ही इसका मुखभाग है और चोटियों पर लगे काले बादल ही सींग में लगे कीचड़ हैं।)

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः॥४८॥

एषेति। प्रसन्नो निर्मलः स्तिमितो निःस्पन्दः प्रवाहो यस्याः सा विदूरस्यान्तरस्य मध्यवर्त्यवकाशस्य भावात्तन्वी दूरदेशवर्तित्वात्तनुत्वेनावभासमाना मन्दाकिनी नाम काचिच्चित्रकूटनिकटगैषा सरिन्नगोपकण्ठे भूमेः कण्ठगता मुक्तावलीव भाति। अत्र नगस्य शिरस्त्वं तदुपकण्ठस्य कण्ठत्वं च गम्यते॥ ४८॥

अन्वयः—प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा विदूरान्तरभावतन्वी एषा मन्दाकिनी सरित् नगोपकण्ठे भूमेः कण्ठगता मुक्तावली इव भाति॥ ४८॥

इस चित्रकूट पर्वत के निकट से होकर बहने वाली स्वच्छ शान्त प्रवाह वाली दूर से देखने पर पतली धारा वाली मन्दाकिनी पृथ्वी के गले में लगी मुक्तावली के समान सुशोभित हो रही है॥ ४८॥

अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयाऽवतंसः परिकल्पितस्ते॥४९॥

अयमिति। गिरः समीपेऽनुगिरम्। 'गिरेश्च सेनकस्य' इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः। सुजातः स तमालोऽयं दृश्यते यस्य तमालस्य शोभनो गन्धो यस्य तत्सुगन्धि। 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' इत्येनेनेकारः समासान्तः। प्रवालं पल्लवमादाय मया ते यवाङ्कुरवदापाण्डौ कपोले शोभी शोभते यः सोऽवतंसः कर्णालङ्कारः परिकल्पितः॥ ४९॥

अन्वयः—अनुगिरं सुजातः अयं, (सः) तमालः यस्य सुगन्धि प्रवालं आदाय मया ते यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी अवतंसः परिकल्पितः॥ ४९॥

इस चित्रकूट के समीप यह वही सुन्दर तमाल का वृक्ष है जिसका सुगन्धित

पत्र लेकर मैंने तुम्हारे यवाङ्कुर के समान उज्ज्वल कपोलों की शोभा बढ़ाने वाला कर्णभूषण बना दिया था ॥ ४९ ॥

अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षम् ।
वनं तपः साधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ॥ ५० ॥

अनिग्रहेति । अनिग्रहत्रासा दण्डभयरहिता अपि विनीताः सत्त्वा जन्तवो यस्मिस्तत् । अपुष्पलिङ्गात्पुष्परूपनिमित्तं विनैव फलबन्धिनः फलग्राहिणो वृक्षा यस्मिंस्तत् । अत एवाविष्कृतोदग्रतरप्रभावमत्रेर्मुनेस्तपसः साधनं वनमेतत् ॥५०॥

अन्वयः- अनिग्रहत्रासविनीतसत्वं अपुष्पलिङ्गात् फलबन्धि वृक्षं-आविष्कृतोदग्रतरप्रभावं अत्रेः तपः साधनं एतत् वनम् ॥ ५० ॥

यह अत्रिमुनि का साधना-स्थल तपोवन है। इसने उनकी तपश्चर्या के उदग्र प्रभाव को प्रकट कर दिया है; जिससे यहाँ के प्राणी दण्ड के भय से रहित होकर भी विनम्र हैं और वृक्ष पुष्पों के बिना भी फल देते हैं ॥ ५० ॥

अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम् ।
प्रवर्तयामास किलानुसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥५१॥

अत्रेति । अत्र वनेऽनुसूयात्रिपत्नी सप्त च ऋषयश्च सप्तर्षयः । 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इति तत्पुरुषसमासः । तेषां हस्तैरुद्धृतानि हेमपद्मानि यस्यास्तां त्र्यम्बकमौलिमालां हरशिरःस्रजं त्रिस्रोतसं भागीरथीं तपोधनानामृषीणामभिषेकाय स्नानाय प्रवर्तयामास प्रवाहयामास । किलेत्यैतिह्ये ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अत्र अनुसूया सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्मां त्र्यम्बकमौलिमालां त्रिस्रोतसं तपोधनानां अभिषेकाय प्रववर्तयामास ॥ ५१ ॥

यहाँ अत्रि मुनि की धर्मपत्नी अनुसूया ने तपस्वियों के स्नान के लि भगवान शंकर के मस्तक की माला बनी त्रिधारा गंगा का प्रवर्तन किया जिसमें खिले सुवर्ण कमलों को सप्तर्षिगण अपने हाथों से तोड़ा करते थे ॥ ५१ ॥

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः ।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥५२॥

वीरासनैरिति । वीरासनैर्जयसाधनैः ध्यानं जुषन्ते सेवन्त इति ध्यानजुषः, समाधिसेविन इत्यर्थः । तेषां तैरुपविश्य ध्यायतामृषीणां सम्बन्धिनः समध्यासितवेदिमध्याः इदं वीरासनस्थानीयम् । अमी शाखिनोऽपि निवाते निष्कम्पतया

योगाधिरूढा इव ध्यानभाज इव विभान्ति ध्यायन्तोऽपि निश्चलाङ्गा भवन्ति। वीरासने वसिष्ठः—'एकपादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितम्। इतरस्मिंस्तथा चान्यं वीरासनमुदाहृतम्' इति ॥ ५२ ॥

अन्वयः—वीरासनैः ध्यानजुषां ऋषीणां समध्यासितवेदिमध्याः अमी शाखिनः अपि निवातनिष्कम्पतया योगाधिरूढा इव विभान्ति ॥ ५२ ॥

वीरासन लगाकर ध्यानमग्न ऋषियों के वेदिमध्य में विराजमान ये वृक्ष भी वायु के न चलने से निष्कम्प होने के कारण मानो योगस्थित से लग रहे हैं।

त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ॥ ५३ ॥

त्वयेति। त्वया पुरस्तात्पूर्वं य उपयाचितः प्रार्थितः। तथा च रामायणे—'न्यग्रोधं तमुपस्थाय वैदेही वाक्यमब्रवीत्। नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पालयेन्मे व्रतं पतिः ॥' इति। श्याम इति प्रतीतः स वटोऽयं फलितः सन्। सपद्मरागो गारुडानां मणीनां मरकतानां राशिरिव विभाति ॥ ५३ ॥

अन्वयः—त्वया पुरस्तात् यः उपयाचितः श्याम इति प्रतीतः सः अयं वटः फलितः सन् सपद्मरागः गारुडानां मणीनां राशिः इव विभाति ॥ ५३ ॥

यह वही श्याम वटवृक्ष प्रतीत हो रहा है जिससे तुमने पहले (व्रतपूर्ण होने की) प्रार्थना की थी। यह फल के गुच्छों से मानों पद्मराग मणियों से युक्त मरकत मणि की राशि के समान सुशोभित हो रहा है ॥ ५३ ॥

'क्वचित्—' इत्यादिभिश्चतुर्भिः श्लोकैः प्रयागे गङ्गायमुनासङ्गमं वर्णयति—

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥ ५४ ॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥ ५५ ॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशा ॥ ५६ ॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥ ५७ ॥

क्वचिदित्यादि। हे अनवद्याङ्गि! यमुनातरङ्गैर्भिन्नप्रवाहा व्यामिश्रौघा

गङ्गा जाह्नवी विभाति । त्वं पश्य । केव, क्वचित्प्रदेशे प्रभया लिम्पन्ति सन्निहितमिति प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैरनुविद्धा सह गुम्फिता मुक्तामयी यष्टिरिव हारावलिरिव विभाति । अन्यत्र प्रदेशे इन्दीवरैर्नीलोत्पलैरुत्खचिन्तान्तरा सह ग्रथिता सितपङ्कजानां पुण्डरीकाणां मालेव विभातीति सर्वत्र सम्बन्धः । क्वचित्कादम्बसंसर्गवती नीलहंससंसृष्टा प्रियं मानसं नाम सरो येषां तेषां खगानां राजहंसानां पंक्तिरिव । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः' इत्यमरः । अन्यत्र कालागुरुणा दत्तपत्रा रचितमकरिकापत्रा भुवश्चन्दनकल्पिता भक्तिरिव क्वचिच्छायासु विलीनैः स्थितैस्तमोभिः शवलीकृता कर्बुरीकृता चान्द्रमसी प्रभा चन्द्रिकेव । अन्यत्र रन्ध्रेष्वालक्ष्यनभप्रदेशा शुभ्रा शरदभ्रलेखा शरन्मेघपंक्तिरिव । क्वचित्कृष्णोरगभूषणा भस्माङ्गरागेश्वरस्य तनुरिव विभाति । शेषो व्याख्यातः । कलापकम् ॥ ५४–५७ ॥

अन्वयः—हे अनवद्याङ्गि ! पश्य क्वचित् प्रभालेपिभिः इन्द्रनीलैः अनुबिद्धा मुक्तामयी यष्टिः इव अन्यत्र इन्दीवरैः उत्खचितान्तरा सितपङ्कजानां माला इव, यमुनातरङ्गैः भिन्नप्रवाहा गङ्गा विभाति । क्वचित् कादम्बसंसर्गवती प्रियमानसानां खगानां पंक्तिः इव अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भुवः चन्दनकल्पिता भक्तिः इव विभाति । क्वचित् छायाविलीनैः तमोभिः शबलीकृता चान्द्रमसी प्रभा इव विभाति । अन्यत्र रन्ध्रेषु आलक्ष्यनभःप्रदेशा शुभ्रा शरदभ्रलेखा इव विभाति । क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणा भस्माङ्गरागा ईश्वरस्य तनुः इव विभाति कलापकम्-(चतुर्भिस्तु)

हे अनिर्वचनीय शोभाशाली शरीर वाली सीते यमुना की श्यामल तरंगों से भिन्न उज्ज्वल प्रवाह वाली गंगाछवि का दर्शन करो । यह कहीं तो ऐसी लग रही है मानो अपनी प्रभा से (समीपवर्ती पदार्थों को) लीपते हुए इन्द्रनील मणियों से जटित मुक्तामयी छड़ी हो, अन्यत्र यह बीच-बीच में नीलकमलों की पंक्ति से खचित श्वेत कमलों की माला के समान सुशोभित हो रही है । कहीं तो यह जिन्हें मानसरोवर अतिप्रिय है उन राजहंसों की मण्डली से मिलती श्यामहंसों की पंक्ति की भाँति लग रही है । कहीं यह कालागुरु चन्दन से चर्चित पृथ्वी की पत्र-रचना विशेष के समान लग रही है । कहीं यह छाया में विलीन अन्धकार से चितकबरी-सी चन्द्रज्योत्स्ना के समान लग रही है । कहीं यह शरत्कालीन

शुभ्रमेघों की उस पंक्ति के समान लग रही है जिसके छिद्रों में से आकाश का शून्य प्रदेश लक्षित होता है। और कहीं यह मानों काले नाग का आभूषण धारण किये हुए भस्म का अंगराग लगाये भगवान् सदाशिव के शरीर के समान सुशोभित हो रही है ॥ ५४–५७ ॥

समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ।
तत्त्वावबोधेन बिनाऽपि पूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥ ५८ ॥

समुद्रेति । अत्र समुद्रपत्न्योर्गङ्गायमुनयोर्जलसन्निपाते सङ्गमेऽभिषेकात्स्नानात् पूतात्मनां शुद्धात्मनां पुंसां तत्वावबोधेन तत्वज्ञानेन बिनाऽपि तनुत्यजां प्रारब्धशरीरत्यागानन्तरं भूयः पुनः शरीरबन्धः शरीरयोगो नास्ति किल । अन्यत्र ज्ञानादेव मुक्तिः । अत्र तु स्नानादेव मुक्तिरित्यर्थः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अत्र समुद्रपत्न्योः जलसन्निपाते अभिषेकात् पूतात्मनां तत्त्वावबोधेन बिना अपि तनुत्यजां भूयः शरीरबन्धः नास्ति ॥ ५८ ॥

समुद्र की इन दोनों पत्नियों—गंगा और यमुना के संगम में स्नान करने से पवित्र आत्मा वाले प्राणियों का तत्वज्ञान के अभाव में भी शरीरान्त के बाद पुनः देह धारण का बन्धन नहीं रह जाता है ॥ ५८ ॥

पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय ।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति ॥ ५९ ॥

पुरमिति । निषादाधिपतेर्गुहस्य तत्पुरमिदम् यस्मिनपुरे मया मौलिमणिं विहाय जटासु बद्धासु रचितासु सतीषु सुमन्त्रः । 'हे कैकेयि ! तवकामा मनोरथाः फलिताः सफला जाताः' इत्यरुदत् । 'रुदिर् अश्रुविमोचने' इति धातोर्लुङ् ॥५९॥

अन्वयः—इदं निषादाधिपतेः तत्पुरम् यस्मिन् मया मौलिमणिं विहाय जटासु बद्धासु सुमन्त्रः हे कैकेयि ! तव कामाः फलिताः इति अरुदत् ॥ ५९ ॥

यह निषादराज का प्रसिद्ध शृंगवेरपुर है, जहाँ मेरे द्वारा मस्तक मणि छोड़कर जटाओं का मुकुट बाँधने पर सुमन्त्र जी यह कहते हु रो पड़े कि हे कैकेयि ! तुम्हारी कामना सफल हो गयी ॥ ५९ ॥

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः ।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो वृद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ॥ ६० ॥

पयोधरैरिति । पुण्यजनाङ्गनानां यक्षस्त्रीणां पयोधरैः स्तनैर्निर्विष्ट उपभुक्तो

हेमाम्बुजरेणुर्यस्य तत् । यत्र ताः क्रीडन्तीहि व्यज्यते । ब्रह्मण इदं ब्राह्मणम् । 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । ब्राह्मं सरो मानसाख्यं यस्याः शरय्वाः बुद्धेर्महत्तत्त्वस्याव्यक्तं प्रधानमिव कारणम् । आप्तस्य वाच आप्तवाचो वेदाः । यद्वा बहुव्रीहिणा मुनयः उदाहरन्ति प्रचक्षते ॥ ६० ॥

अन्वयः—पुण्यजनाङ्गनानां पयोधरैः निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु ब्राह्मं सरः यस्याः बुद्धेः अव्यक्तम् कारणं आप्तवाचः उदाहरन्ति ॥ ६० ॥

जिस प्रकार सांख्यदर्शन के वृद्धपुरुष कपिलादि मुनि अव्यक्त मूल प्रकृति को बुद्धितत्त्व का कारण बतलाते हैं उसी प्रकार आप्तवक्ता उस मानसरोवर को जिस (सरयू नदी) का उद्गमस्थल मानते हैं एवं जिसके सुवर्णकमलों के परागों से यक्षों की सुन्दरियाँ अपने स्तनों में लेप करती हैं । यह वही सरयू नदी है ॥ ६० ॥

जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम् ।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥ ६१ ॥

जलानीति । यूपः संस्कृतः पशुबन्धनार्हो दारुविशेषः । तीरनिखातयूपा या सरयूस्तुरङ्गमेधा अश्वमेधास्तेष्ववभृथार्थमेवावतीर्णैरवरूढैरिक्ष्वाकुभिरिक्ष्वाकुगोत्रापत्यैर्नः पूर्वैः । तद्राजत्वादणो लुक् । पुण्यतरीकृतान्यतिशयेन पुण्यानि कृतानि जलान्ययोध्यां राजधानीं नगरीमनुसमीपे तया लक्षितयेत्यर्थः अनुशब्दस्य 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः' इत्यनेन कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । वहति प्रापयति ॥ ६१ ॥

अन्वयः—तीरनिखातयूपा या तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैः इक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि जलानि अयोध्यां राजधानीं अनुवहति ॥ ६१ ॥

यह सरयू नदी राजधानी अयोध्या के निकट जिसके निकट तट पर (यज्ञीय पशु बाँधने के लिए) मन्त्रों से संस्कार किये गए लकड़ियों के स्तम्भ गड़े हैं; अश्वमेध के अवभृथ स्नान विशेष के लिए अवतीर्ण हुए इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के द्वारा और भी अधिक पवित्रतर किए गए जल को धारण करती है ॥ ६१ ॥

यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे सम्भावयत्युत्तरकोसलानाम् ॥ ६२ ॥

यामिति । यां सरयूं मे मानसं कर्तृ सैकतं पुलिनं तदेवोत्सङ्गः तत्र यत्सुखं तत्रोचितानां प्राज्यैः प्रभूतैः पयोभिरम्बुभिः क्षीरैश्च । 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च'

इत्यमरः। परिवर्धितानां पुष्टानामुत्तरकोसलानामुत्तरकोसलेश्वराणां सामान्यधात्रीं साधारणमातरमिव सम्भावयति। 'धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृषु' इति विश्वः

अन्वयः—यां मे मानसं सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानां उत्तरकोसलानां सामान्यधात्रीं इव सम्भावयति ॥ ६२ ॥

जिसे मेरा मन बालूमय तट रूपी गोद के सुख के उपयुक्त एवं पर्याप्त जल रूप दुग्ध से परिपालित उत्तर कोसलवासी राजाओं की सामान्य माता के समान मानता है ॥ ६२ ॥

सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव ॥ ६३ ॥

सेयमिति। मदीया जननी कौसल्येव मान्येन पूज्येन राज्ञा दशरथेन वियुक्ता सेयं सरयूर्दूरे वसन्तम्, प्रोष्यागच्छन्तमित्यर्थः। मां पुत्रभूतं शिशिरानिलैस्तरङ्गैरेव हस्तैरुपगूहतीवालिङ्गतीव ॥ ६३ ॥

अन्वयः—मान्येन तेन राज्ञा वियुक्ता मदीया जननी इव सा इयं सरयूः दूरे वसन्तं मां शिशिरानिलैः तरङ्गहस्तैः उपगूहति इव ॥ ६३ ॥

वही यह सरयू पूज्य राजा दशरथ से वियुक्त मेरी माता कौसल्या के समान दूर प्रवास से आते हुए मेरा शीतल वायु संपृक्त तरंग रूपी हाथों से मानों आलिंगन कर रही है ॥ ६३ ॥

विरक्तसन्ध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥ ६४ ॥

विरक्तेति। विरक्ताऽतिरक्ता या सन्ध्या तद्वत्कपिशं ताम्रवर्णम्। पृथिव्या इदं पार्थिवम्। रजो धूलिः पुरस्तादग्रे यतो यस्मात्कारणादुज्जिहीत उद्गच्छति। तस्मात् हनुरस्यास्तीति हनूमान्। 'शरादीनां च' इति दीर्घः। तेन कथिता प्रवृत्तिरस्मदागमनवार्ता यस्मै स भरतः ससैन्यः सन्मां प्रत्युद्गत इति शङ्के तर्कयामि। 'शङ्का भयवितर्कयोः' इति शब्दार्णवे। अत्र यत्तदोनित्यसम्बन्धात्तच्छब्दलाभः

अन्वयः—विरक्तसन्ध्याकपिशं पार्थिवं रजः पुरस्तात् यतः उज्जिहीते ततः हनूमत्कथितप्रवृत्तिः भरतः ससैन्यः मां प्रत्युद्गतः इति शङ्के ॥ ६४ ॥

चूंकि विशेषरूप से अरुण वर्ण सन्ध्या के समान तामे के रंग की पृथ्वी की धूलि उड़ रही है; इसलिए मैं ऐसा तर्क कर रहा हूँ कि हनूमान जी से मेरे

आगमन की बात सुनकर सेना सहित भरत मेरी अगवानी करने के लिए आकर खड़े हो गये हैं ।। ६४ ।।

अद्धा श्रियं पालितसङ्गराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन्संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ।। ६५ ।।

अद्धेति । किञ्च साधुः सज्जनः स भरतः । 'साधुर्वार्धुषिके चारौ सज्जने चापि वाच्यवत्' इति विश्वः । पालितसङ्गराय पालितपितृप्रतिज्ञाय मे मह्यमनघामदोषां भोगाभावादनुच्छिष्टां किन्तु संरक्षितां श्रियम् । मृधे युद्धे खरादीन्हत्वा निवृत्ताय मे लक्ष्मणः संरक्षितामनघां त्वामिव प्रत्यर्पयिष्यत्यद्धा सत्यम् । 'तत्त्वे त्वद्धाऽञ्जसा द्वयम्' इत्यमरः ।। ६५ ।।

अन्वयः---साधुः सः पालितसंगराय मे अनघां संरक्षितां श्रियं मृधे खरादीन् हत्वा निवृत्ताय लक्ष्मणः त्वां इव प्रत्यर्पयिष्यति अद्धा ।। ६५ ।।

सचमुच वह महात्मा भरत पिता की आज्ञापालन रूप व्रत को पूर्ण करने वाले मुझ राम को पवित्र राज्यलक्ष्मी उसी प्रकार प्रत्यर्पित कर देगा, जिस प्रकार लक्ष्मण ने युद्ध में खर-दूषण आदि राक्षसों को मारकर लौटने पर संरक्षित एवं पवित्र तुम्हें मुझे सौंप दिया था ।। ६५ ।।

असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः ।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति ।। ६६ ।।

असाविति । असौ पदातिः पादाभ्यामततीति पदातिः पादचारी चीरवासा वल्कलवसनो भरतः पश्चात्पृष्ठभागेऽवस्थापिता वाहिनी सेना येन स तथोक्तः सन् । 'नद्यृतश्च' इति कप् । गुरुं वसिष्ठं पुरस्कृत्य वृद्धैरमात्यैः सहार्घ्यपाणिः सन्मामभ्युपैति ।। ६६ ।।

अन्वयः---असौ पदातिः चीरवासा भरतः पश्चाद् अवस्थापितवाहिनीकः सन् गुरुं पुरस्कृत्य वृद्धैः अमात्यैः सह अर्घ्यपाणिः सन् मां अभ्युपैति ।। ६६ ।।

गुरु वसिष्ठ को आगे कर और सेना को पीछे कर वल्कल वस्त्र धारण किए पैदल ही भरत जी वृद्ध मन्त्रियों के साथ हाथ में अर्घ्य लिए मेरे पास आ रहे हैं ।। ६६ ।।

पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाऽप्यङ्कगतामभोक्ता ।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ।। ६७ ।।

पित्रेति। यो भरतः पित्रा विसृष्टां दत्तामङ्कमुत्सङ्गम् च गतामपि यां श्रियं युवाऽपि मदपेक्षया मद्भक्त्याऽभोक्ता सन्। तृन्नन्तत्वात् 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थ-तृनाम्' इति षष्ठीनिषेधः। इयन्ति वर्षाण्येतावतो वत्सरान्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। तया श्रिया सह स्त्रियेति च गम्यते। उग्रंदुश्चरमासिधारं नाम व्रत-मभ्यस्यतीव वर्तयतीव। 'युवा युवत्या सार्धं यन्मुग्धभर्तृवदाचरेत्। अन्तर्निवृत्तसङ्गः स्यादासिधारव्रतं हि तत्॥' इति यादवः। इदं चासिधाराचङ्क्रमणतुल्यत्वादा-सिधारव्रतमित्युक्तम्॥ ६७॥

अन्वयः—यः पित्रा विसृष्टां अङ्कगतां श्रियं युवापि मदपेक्षया अभोक्ता सन् इयन्तिवर्षाणि तया सह उग्रं असिधारव्रतं अभ्यस्यति इव॥६७॥

पिता द्वारा प्रदत्त अङ्क में आयी हुयी राज्यलक्ष्मी का मेरी अपेक्षा अधिक युवा होते हुए भी उपभोग न करने वाले भरत इतने वर्षों तक उस राज्यश्री के साथ रहते हुए मानो तलवार की धार पर चलने के समान कठिन व्रत का अभ्यास कर रहे हैं॥ ६७॥

एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभिरुद्वीक्षितप्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः॥

एतावदिति। दाशरथौ राम एतावदुक्तवति सति विमानं पुष्पकं कर्तृ, तदीयां रामसम्बन्धिनीमिच्छामधिदेवतया मिषेण विदित्वा, तत्प्रेरितं सदित्यर्थः। सविस्मयाभिर्भरतानुगाभिः प्रकृतिभिः प्रजाभिरुद्वीक्षितम्। ऊर्ध्वंदृष्टं सज्ज्योति-ष्पथादाकाशादवततार॥ ६८॥

अन्वयः—दाशरथौ एतावत् उक्तवति विमानं तदीयां इच्छां अधिदेवतया विदित्वा सविस्मयाभिः भरतानुगाभिः प्रकृतिभिः उद्वीक्षितं सत् ज्योतिष्पथाद् अवतार॥ ६८॥

दशरथ-नन्दन राम के यह कह लेने पर उनकी इच्छा को ही सञ्चालिका मानकर पुष्पक विमान आकाशमार्ग से उतरा और भरत के पीछे आनेवाली प्रजाओं ने विस्मय के साथ आँखें ऊपर कर उसे देखना प्रारम्भ किया॥ ६८॥

तस्मात्पुरःसरविभीषणदर्शितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः।
यानादवातरददूरमहीतलेन मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः॥ ६९॥

तस्मादिति। रामः सेवायां विचक्षणः कुशली हरीश्वरः सुग्रीवस्तेन दत्तो हस्तो हस्तावलम्बो यस्य तादृशः सन्। स्थलज्ञत्वात्पुरःसरो विभीषणस्तेन दर्शितेनादूरमासन्नं महीतलं यस्य भङ्गिभिर्विच्छित्तिभी रचितस्फटिकेन बद्धस्फटिकेन सोपानपर्वणा मार्गेण तस्माद्यानात्पुष्पकादवातरदवतीर्णवान्। तरतेर्लङ्॥ ६९॥

अन्वयः—रामः सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः पुरःसर विभीषणदर्शितेन अदूरमहीतलेन भङ्गिरचितस्फटिकेन मार्गेण तस्मात् यानात् अवातरत्॥ ६९॥

आगे-आगे विभीषण के द्वारा दिखाये गए, सेवा में कुशल वानराधिराज सुग्रीव के हाथ का सहारा लिए हुए भूतल से सटे हुए स्फटिक रचित सीढ़ियों के मार्ग से उस विमान से श्रीराम उतरे॥ ६९॥

इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य स भ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्धनि चोपजघ्रौ तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके॥७०॥

इक्ष्वाकिवति। प्रयतः स राम इक्ष्वाकुवंशगुरवे वसिष्ठाय प्रणम्य नमस्कृत्या-र्घ्यस्य परिग्रहः स्वीकारस्तस्यान्ते पर्यश्रुः परिगतानन्दवाष्पः सन्ः भ्रातरं भरत-मस्वजतालिङ्गत्। तस्मिन्रामे भक्त्यापोढः परिहृतः पितृराज्यमहाभिषेको येन तस्मिन्मूर्धन्युपजघ्रौ च। 'घ्रा गन्धोपादाने' लिटि रूपम्॥ ७०॥

अन्वयः—प्रयतः सः इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रणम्य अर्घ्यपरिग्रहान्ते पर्यश्रुः सन् भ्रातरं भरतं अस्वजत तदभक्त्यपोढ पितृराज्यमहाभिषेके मूर्धनि उपजघ्रौ च॥७०॥

संयतात्मा श्रीराम ने इक्ष्वाकुकुल के गुरु वसिष्ठ को प्रणाम कर अर्घ्य स्वीकार करने के अनंतर भ्रातृ-भाव से अश्रुपूरित हो भाई भरत के उस माथे को सूँघा जिसने उस (राम) की भक्ति के कारण पितृ-प्रदत्त राज्याभिषेक का भी परित्याग कर दिया था॥ ७०॥

श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान्।
अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातैर्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा॥ ७१॥

श्मश्रु इति। श्मश्रूणां मुखरोम्णां प्रवृद्धया संस्काराभावादभिवृद्धया जनिता-ननेषु विक्रिया विकृतिर्येषां तानत एव प्ररोहैः शाखाऽवलम्बिभिरधोमुखैर्मूलैर्जटि-लाञ्जटावतः प्लक्षान्न्यग्रोधानिव स्थितान्। प्रणमतो मन्त्रिवृद्धांश्च शुभैः कृपार्द्रै-र्दृष्टिपातैरवलोकनैर्वार्तस्यानुयोगेन कुशलप्रश्नेन मधुराक्षरया वाचा चान्वग्रहीदनु-गृहीतवान्॥ ७१॥

अन्वयः—श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियान् प्ररोहजटिलान् प्लक्षान् इव प्रणतः मन्त्रिवृद्धान् च शुभदृष्टिपातैः वार्तानुयोगमधुराक्षरया वाचा च अन्वग्रहीत् ।

पुनः श्रीराम ने कृपादृष्टि से कुशल समाचार के अक्षरों से युक्त वाणी द्वारा प्रणाम करने वाले उन बूढ़े मन्त्रियों को अनुगृहीत किया जो दाढ़ी-मूँछ बढ़ जाने के कारण डालियों से लटकती बरोहों से युक्त वटवृक्ष की भाँति विकृत मुख हो गए थे ॥ ७१ ॥

दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष समरेषु पुरः प्रहर्ता ।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे ॥

दुर्जातेति । अयं मे दुर्जातबन्धुरापद्बन्धुः । 'दुर्जातं व्यसनं प्रोक्तम्' इति विश्वः । ऋक्षहरीश्वरः सुग्रीवः । एष समरेषु पुरः प्रहर्ता पौलस्त्यो विभीषणः । इत्यादृतेनादरवता । कर्तरि क्तः । रघूणां नन्दनेन रामेण कथितावुभौ विभीषणसुग्रीवौ लक्ष्मणमनुजमपि व्युत्क्रम्यालिङ्गनादिभिरसम्भाव्य भरतो ववन्दे ॥ ७२ ॥

अन्वयः—अयं मे दुर्जातबन्धुः ऋक्षहरीश्वरः एष समरेषु पुरः प्रहर्ता इत्याह तेन रघुनन्दनेन कथितौ उभौ लक्ष्मणं व्युत्क्रम्य भरतः ववन्दे ॥ ७२ ॥

"ये मेरे विपत्ति के साथी कपिपति सुग्रीव हैं, ये युद्ध में सदा आगे प्रहार करने वाले पुलस्त्य-नन्दन विभीषण हैं" इस प्रकार आदर पूर्वक श्रीराम के कहने पर भरत ने भाई लक्ष्मण को भी छोड़कर उन दोनों (सुग्रीव-विभीषण) की वन्दना की ॥ ७२ ॥

सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन ॥

सौमित्रिणेति । तदनु सुग्रीवादिवन्दनानन्तरं स भरतः सौमित्रिणा संससृजे सङ्गतः । 'सृज विसर्गे' देवादिकात्कर्तरि लिट् । नम्रशिरसं प्रणतमेनं सौमित्रिमुत्थाप्य भृशं गाढमालिलिङ्ग च । किं कुर्वन् । रूढेन्द्रजित्प्रहरणाव्रणैः कर्कशेनास्य सौमित्रेरुरःस्थलेन भुजमध्यं स्वकीयं क्लिश्यन्निव पीडयन्निव क्लिश्नातिरयं सकर्मकः । 'क्लिश्नाति भुवनत्रयम्' इति दर्शनात् । ननु रामायणे—'ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं च परन्तपः । अभिवाद्य ततः प्रीतो भरतो नाम चाब्रवीत् ॥' इति भरतस्य कानिष्ठ्यं प्रतीयते, किमर्थं ज्यैष्ठ्यमवलम्ब्यानार्जवेन श्लोको व्याख्यातः ? सत्यम् । किन्तु रामायणश्लोकार्थंष्टीकाकृतोक्तः श्रूयताम् । 'ततो लक्ष्मणमासाद्य—' इत्यादि-

श्लोक आसादनं लक्ष्मणवैदेह्यः अभिवादनं तु वैदेह्या एव अन्यथा पूर्वोक्तं भरतस्य ज्यैष्ठ्यं विरुध्येतेति ॥ ७३ ॥

अन्वय---तदनु सः सौमित्रिणा संससृजे नम्र शिरसं एवं उत्थाप्य भृशं आलिलिङ्ग रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन अस्य उरःस्थलेन भुजमध्यं क्लिश्यन् इव ॥ ७३ ॥

तत्पश्चात् भरत ने नतमस्तक लक्ष्मण को उठाकर इस प्रकार गाढ़ालिंगन किया मानो अति कठोर इन्द्र को भी जीतनेवाले मेघनाद के शक्ति-प्रहार के कारण घाव के कर्कश घट्ठे से युक्त वक्षस्थल क्लेश का अनुभव कर रहा हो ॥ ७३ ॥

रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान् ।
तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते ॥

रामेति । तदानीं हरिचमूपतयो रामाज्ञया मनुष्यवपुः कृत्वा गजेन्द्रानारुरुहुः । बहुधा मदवारिधाराः क्षरत्सु तेषु गजेन्द्रेषु ते कपियूथनाथाः शैलाधिरोहण-सुखान्युपलेभिरेऽनुबभूवः ॥ ७४ ॥

तदानीं हरिचमूपतयः रामाज्ञया मनुष्यवपुः कृत्वा गजेन्द्रान् आरुरुहुः बहुधा मदवारि धाराः क्षरत्सु तेषु ते शैलाधिरोहणसुखानि उपलेभिरे ॥ ७४ ॥

उस समय राम की आज्ञा से वानरों के सेनापति मानव शरीर धारण कर उन गजेन्द्रों पर चढ़ गए जिनके मस्तक से प्रचुर मदजलकी धारा गिरने से उन्हें उन पर्वतों पर चढ़ने का आनन्द मिला जिनसे झरने झरते रहते हैं ॥ ७४ ॥

सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्टः ।
मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयैर्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः ॥

सानुप्लव इति । सानुप्लवः सानुगः 'अभिसारस्त्वनुसरः सहायोऽनुप्लवो-ऽनुगः' इति यादवः । क्षणदाचराणां रक्षसां प्रभुर्विभीषणोऽपि प्रभवत्यस्मादिति प्रभवो जनको दशरथः प्रभवो यस्य स दशरथप्रभवो रामः तेनानुशिष्ट आज्ञप्तः सन् रथान् भेजे । तानेव विशिनष्टि---ये रथा मायाविकल्परचितैः सङ्कल्पविशेष-निर्मिततैरपि तदीयैर्विभीषणीयैः स्यन्दनैः रथैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभास्तुलिता समी-कृता कृत्रिमा क्रियया निर्वृत्ता भक्तीनां शोभा येषां ते तथोक्ता न भवन्ति । तेऽपि तत्साम्यं न लभन्त इत्यर्थः । कृत्रिमेत्यत्र 'ड्वितः क्त्रिः' इति क्त्रिप्रत्ययः । 'क्त्रेर्म-म्नित्यम्' इति मुमागमः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—सानुप्लवः क्षणदाचराणां प्रभुः अपि दशरथप्रभवानुशिष्टः सन् रथान् भेजे, ये मायाविकल्परचितैः अपि तदीयैः स्यन्दनैः तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः न भवन्तीति शेषः ॥ ७५ ॥

दाशरथी राम के आदेशानुसार राक्षसराज विभीषण भी अनुचरों के साथ उन रथों पर आरूढ़ हुए जिनकी उनके माया विरचित कृत्रिम शोभाशाली रथों से तुलना नहीं की जा सकती ॥ ७५ ॥

भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताक-
मध्यास्त कामगति सावरजो विमानम् ।
दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्य-
स्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम् ॥ ७६ ॥

भूय इति । ततो रघुपतिः सावरजो भरतलक्ष्मणसहितः सन् विलसत्पताकं कामेनेच्छाऽनुसारेण गतिः यस्य तद्विमानं भूयः पुनरपि । बुधबृहस्पतिभ्यां योगेन दृश्यो दर्शनीयस्तारापतिश्चन्द्रो दोषाभवं दोषातनम् । 'सायञ्चिरम्प्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' इत्यनेन दोषाशब्दादव्ययाट्ट्युप्रत्ययः । तरलविद्युच्चलत्तडिदभ्रवृन्दमिव अध्यास्ताधिष्ठितवान् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—ततः रघुपतिः सावरजः विलसत्पताकं कामगतिविमानं भूयः बुधबृहस्पतियोगदृश्यः तारापतिः दोषातनं तरलविद्युत् अभ्रवृन्दं इव-अध्यास्त ॥ ७६ ॥

पुनः अपने भाइयों—(भरत-लक्ष्मण) के साथ श्रीराम पताकाओं से सुसज्जित इच्छानुसार चलने वाले पुष्पक विमान पर आरूढ़ हो इस प्रकार सुशोभित हुए जैसे बुध एवं बृहस्पति के संयोग से दर्शनीय तारापति चन्द्रमा-रात्रि के समय चपल विद्युत् से युक्त बादलों के समूह पर आरूढ़ होकर शोभा पाता है ॥ ७६ ॥

तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः ।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे ॥

तत्रेति । तत्र विमाने । जगतामीश्वरेणादिवराहेण प्रलयादुर्वीमिव वर्षाऽत्ययेन शरदागमेनाभ्रघनान्मेघसङ्घातादिन्दो रुचं चन्द्रिकामिव । रामेण दशकण्ठ

एव कृच्छ्रं सङ्कटं तस्मात्प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं सन्तोषवतीं मैथिलसुतां सीतां भरतो ववन्दे ॥ ७७ ॥

अन्वयः—तत्र जगतां ईश्वरेण प्रलयात् उर्वीमिव वर्षात्ययेन अभ्रघनात् इन्दोः रुचमिव रामेण दशकण्ठकृच्छ्रात् प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं मैथिलसुतां भरतः ववन्दे ॥ ७७ ॥

वहाँ भरत ने धैर्यवती जनकनन्दिनी की वन्दना की; जो राम के द्वारा दशमस्तकधारी रावणरूप संकट से उसी प्रकार उबार ली गयी थीं जिस प्रकार प्रलयकाल में जगदीश्वर आदिवाराह के द्वारा पृथ्वी का उद्धार होता है और वर्षा की समाप्ति में शरद् द्वारा मेघों के समूह से चन्द्रज्योत्स्ना बचायी जाती है ॥ ७७ ॥

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः ।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ॥

लङ्केश्वरेति । लङ्केश्वरस्य रावणस्य प्रणतीनां भङ्गेन निरासेन दृढव्रतमखण्डितपातिव्रत्यमत एव वन्द्यं तज्जनकात्मजायाश्चरणयोर्युगं ज्येष्ठानुवृत्त्या जटिलं जटायुक्तं साधोः सज्जनस्यास्य भरतस्य शिरश्चेत्युभयं समेत्य मिलित्वाऽन्योन्यस्य पावनं शोधकमभूत् ॥ ७८ ॥

अन्वयः—लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं वन्द्यं तत् जनकात्मजायाः चरणयोः युगं ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं साधोः अस्य शिरः च उभयं समेत्य अन्योन्यपावनं अभूत् ॥ ७८ ॥

लङ्काधिपति रावण के प्रणयनिवेदन को ठुकराने से दृढ़व्रती जनकपुत्री के दोनों वन्दनीय चरण अग्रज राम के अनुसरण से जटायुक्त इस साधु भरत के मस्तक से मिलकर दोनों एक दूसरे को पवित्र करने वाले हुए ॥ ७८ ॥

क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण ।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥७९॥

क्रोशार्द्धमिति । आर्यः पूज्यः काकुत्स्थो रामः प्रकृतयः प्रजाः पुरःसर्यो यस्य तेन स्तिमितजवेन मन्दवेगेन पुष्पकेण । क्रोशोऽध्वपरिमाणविशेषः । क्रोशार्धं क्रोशैकदेशं गत्वा शत्रुघ्नेन प्रतिविहिताः सज्जिता उपकार्याः पटभवनानि यस्मि-

स्तदुदारं महत्साकेतस्यायोध्याया उपवनमध्युवासाधितष्ठौ । 'साकेतः स्यादयोध्यायां कोसलानन्दिनी तथा' इति यादवः ॥ ७९ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये दण्डकप्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

अन्वयः—आर्यः काकुत्स्थः प्रकृतिपुरःसरेण स्तिमितजवेन पुष्पकेण क्रोशार्धं गत्वा शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यं उदारं साकेतोपवनं अध्युवास ॥७९॥

पूज्य ककुत्स्थकुल में उत्पन्न श्रीराम ने जिसके आगे-आगे प्रजाएँ चल रही थीं; उस मन्द-मन्द गति से चलने वाले पुष्पक विमान से आधा कोश तक चलकर अयोध्या के उस महोपवन में निवास किया जिसमें शत्रुघ्न ने पट-भवन (तम्बू) सजाये थे ॥ ७९ ॥

यह "श्रीहरिप्रिया" हिन्दी व्याख्या में 'रघुवंश महाकाव्य' का 'दण्डक-प्रत्यागमन' नामक तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३ ॥



चतुर्दशः सर्गः

भर्तुः प्रणाशादथ शोचनीयं दशाऽन्तरं तत्र समं प्रपन्ने ।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ ॥ १ ॥

सञ्जीवनं मैथिलकन्यकायाः सौन्दर्यसर्वस्वमहानिधानम् ।
शशाङ्कपङ्केरुहयोः समानं रामस्य वन्दे रमणीयमास्यम् ॥

भर्तुरिति । अथोपवनाधिष्ठानान्तरं दाशरथी रामलक्ष्मणौ । उपघ्नतरोराश्रयवृक्षस्य । 'उपघ्न आश्रये' इति निपातः तस्य छेदाद् व्रतत्यौ लते इव । 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः । भर्तुर्दशरथस्य प्रणाशाच्छोचनीयं दशाऽन्तरमवस्थाऽन्तरम् । 'अवस्थायां वस्त्रान्ते स्याद्दशाऽपि' इति विश्वः । प्रपन्ने प्राप्ते जनन्यौ कौसल्यासुमित्रे तत्र साकेतोपवने समं युगपदपश्यताम् । दृशेः कर्तरि लङ् ॥१॥

अन्वयः—अथ दाशरथी उपघ्नतरोः छेदात् व्रतत्यौ इव भर्तुः प्रणाशात् शोचनीयं दशान्तरं प्रपन्ने जनन्यौ तत्र समं अपश्यताम् ॥ १ ॥

वहाँ उस उपवन में अधिष्ठान के अनन्तर दाशरथी राम लक्ष्मण ने पति-देव दशरथ के दिवंगत हो जाने से शोचनीय स्थिति में पड़ी दोनों माताओं—कौशिल्या-सुमित्रा को एक साथ इस प्रकार देखा जैसे आश्रयदाता वृक्ष के कट जाने से उच्छिन्न दो लतायें दुर्दशाग्रस्त हो जाती हैं ॥ १ ॥

उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ।
विस्पष्टमस्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ॥ २ ॥

उभाविति। यथाक्रमं स्वस्वमातृपूर्वकं प्रणतौ नमस्कृतवन्तौ हतारी हतशत्रुकौ विक्रमशोभिनौ तावुभौ रामलक्ष्मणावुभाभ्यामस्रैरश्रुभिरन्धतया हेतुना। 'अस्रमश्रु च शोणितम्' इति यादवः। विस्पष्टं न दृष्टौ किन्तु सुतस्पर्शेन यत्सुखं तस्योपलम्भादनुभावाज्ज्ञातौ ॥ २ ॥

अन्वयः—यथाक्रमं प्रणतौ हतारी विक्रमशोभिनौ तौ उभौ उभाभ्यां अस्रान्धतया विस्पष्टं न दृष्टौ किं तु सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ज्ञातौ ॥ २ ॥

दोनों शत्रुहन्ताओं पराक्रम से सुशोभित होने वाले प्रणत पुत्रों को क्रमशः दोनों माताओं ने स्नेहाश्रुओं से अन्धी-सी हो जाने के कारण नेत्रों से स्पष्टतया देखा तो नहीं किन्तु पुत्रों के स्पर्श सुख के अनुभव से पहचान लिया ॥ २ ॥

आनन्दजः शोकजमश्रु बाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद।
गङ्गासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः ॥ ३ ॥

आनन्दज इति। तयोर्मात्रोरानन्दजः शिशिरः शीतलः बाष्पः शोकजमशीतमुष्णमश्रु। उष्णतप्तं ग्रीष्मतप्तं गङ्गासरय्वोर्जलं कर्म अवतीर्णो हिमाद्रेर्निस्यन्दो निर्झर इव बिभेद, आनन्देन शोकस्तिरस्कृत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अन्वयः—तयोः आनन्दजः शिशिरः बाष्पः शोकजं अशीतं अश्रु उष्णतप्तं गङ्गासरय्वोः जलं अवतीर्णः हिमाद्रिनिस्पन्दः इव बिभेद ॥ ३ ॥

उन दोनों माताओं के आनन्द से उत्पन्न शीतल आँसुओं ने शोक से उत्पन्न उष्ण आँसुओं को इस प्रकार प्रशान्त कर दिया जैसे हिमालय के झरने से प्रवाहित हिम-शीतल जल गङ्गा और सरयू के गर्मी से संतप्त जल को शीतल कर देता है ॥ ३ ॥

ते पुत्रयोर्नैर्ऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम्॥ ४॥

त इति। ते मातरौ पुत्रयोरङ्गे शरीरे नैर्ऋतशस्त्राणां राक्षसशस्त्राणां मार्गान् व्रणान् शस्त्रघातकिणानार्द्रान्सरसानिव सदयं स्पृशन्त्यौ क्षत्रकुलाङ्गनानामीप्सितमिष्टमपि वीरसूर्वीरमातेति शब्दं नाकामयेताम्। वीरप्रसवो दुःखहेतुरिति भावः॥ ४॥

अन्वयः—ते पुत्रयोः अङ्गे नैर्ऋतशस्त्रमार्गान् आर्द्रान् सदयं स्पृशन्त्यौ क्षत्रकुलाङ्गनानां ईप्सितं अपि वीरसूशब्दं न अकामयेताम्॥ ४॥

उन दोनों माताओं ने सस्नेह दोनों पुत्रों के शरीर के ऊपर राक्षसों के शस्त्रों से हुए घावों को ताजे घाव के समान स्पर्श करती हुयीं क्षत्राणियों के लिए अभीष्ट होते हुए भी वीरमाता (वीर पुत्रों को जन्म देने वाली) शब्द की कामना नहीं की॥ ४॥

क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाऽहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे॥ ५॥

क्लेशावहेति। आवहतीत्यावहा भर्तुः क्लेशावहा क्लेशकारिणी अत एवालक्षणाऽहं सीतेति स्वं नामोदीरयन्ती स्वर्गः प्रतिष्ठाऽऽस्पदं यस्य तस्य स्वर्गस्थितस्य गुरोः श्वशुरस्य महिष्यौ श्वश्र्वौ। 'वधूः स्नुषा वधूर्जायास्नुषा' इत्यमरः। अभक्तिभेदेन ववन्दे। स्वर्गप्रतिष्ठस्येत्यनेन श्वश्रूवैधव्यदर्शनदुःखं सूचितम्॥ ५॥

अन्वयः—भर्तुः क्लेशावहा अतएव अलक्षणा अहं सीता इति स्वं नाम उदीरयन्ती स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोः महिष्यौः वधूः अभक्तिभेदेन ववन्दे॥ ५॥

अपने को पति को कष्ट देने वाली कुलक्षणी कहती हुई सीता ने दिवंगत श्वशुर दशरथ की दोनों पटरानियों की बिना भेदभाव के एक समान वन्दना की॥ ५॥

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या॥ ६॥

उत्तिष्ठेति। 'ननु वत्से! उत्तिष्ठ। असौ सानुजो भर्ता तवैव शुचिना वृत्तेन महत्कृच्छ्रं दुःखं तीर्णस्तीर्णवान्' इति प्रियार्हां तां वधूम् प्रियमप्यमिथ्या सत्यं ते श्वश्र्वावूचतुः। उभयं दुर्वचमिति भावः॥ ६॥

अन्वयः—ननु वत्से ! उत्तिष्ठ असौ सानुजः भर्ता तवैव शुचिना वृत्तेन महत्कृच्छ्रं तीर्णः इति प्रियार्हां तां प्रियमपि अमिथ्या ते ऊचतुः ।। ६ ।।

उन दोनों माताओं ने स्नेह करने योग्य सीता से "उठो बेटी ! तुम्हारे ही पवित्र आचरण से अनुज सहित तुम्हारे पतिदेव राम इतने बड़े सङ्कट को पार कर सके" इस प्रकार प्रिय होते हुए भी सत्य बात कही ।। ६ ।।

अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः ।
निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः ।। ७ ।।

अथेति । अथ जनन्योरानन्दजलैरानन्दवाष्पैः प्रारब्धं प्रक्रान्तं रघुवंशकेतो रामस्याभिषेकममात्यवृद्धास्तीर्थेभ्यो गङ्गाप्रमुखेभ्य आहृतैरानीतैः काञ्चनकुम्भतोयैर्निर्वर्तयामासुर्निष्पादयामासुः ।। ७ ।।

अन्वयः—अथ जनन्योः आनन्दजलैः प्रारब्धं रघुवंशकेतोः अभिषेकं अमात्यवृद्धाः तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः निर्वर्तयामासुः ।। ७ ।।

इसके बाद माताओं के आनन्द जन्य आँसुओं द्वारा रघुकुल के पताका स्वरूप श्रीराम का प्रारम्भ किया गया अभिषेक वृद्ध मन्त्रियों द्वारा तीर्थों से लाये गए सोने के कलशों के जल से परिपूर्ण कर दिया गया ।। ७ ।।

सरित्समुद्रान्सरसीश्च गत्वा रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि ।
तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः ।। ८ ।।

सरिदिति । रक्षःकपीन्द्रैः सरितो गङ्गाद्याः समुद्रान्पूर्वादीन्सरसीर्मानसादींश्च गत्वा उपपादितान्युपनीतानि जलानि जिष्णोर्जयशीलस्य । 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' इति ग्स्नुप्रत्ययः । तस्य रामस्य मूर्ध्नि विन्ध्यस्य विन्ध्याद्रेर्मूर्ध्नि मेघप्रभवा आप उदकानीव अपतन् ।। ८ ।।

अन्वयः—रक्षःकपीन्द्रैः सरित् समुद्रान् सरसीः च गत्वा उपपादितानि जलानि जिष्णोः तस्य मूर्ध्नि विन्ध्यस्यमूर्ध्नि मेघप्रभवा आप इव अपतन् ।। ८ ।।

नदी सागर और सरोवरों से जाकर लाए गए जल को राक्षसराज विभीषण और कपिपति सुग्रीव ने विजयी श्रीराम के मस्तक पर इस प्रकार गिराया जिस प्रकार मेघ का जल विन्ध्याचल पर पड़ता है ।। ८ ।।

तपस्विवेषक्रिययाऽपि तावद्यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव ।
राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा तस्योदिताऽऽसीत्पुनरुक्तदोषा ।। ९ ।।

तपस्विति । यो रामस्तपस्विवेषक्रिययाऽपि तपस्विवेषरचनयाऽपि सुतरामत्यन्तं प्रेक्षणीयस्तावद्दर्शनीय एव बभूव । तस्य राजेन्द्रनेपथ्यविधानेन राजवेषरचनयोदिता या शोभा सा पुनरुक्तं नाम दोषो यस्याः सा पुनरुक्तदोषा द्विगुणाऽऽसीत् ।। ९ ।।

अन्वयः—यः तपस्विवेषक्रियया अपि सुतरां प्रेक्षणीयः बभूव तस्य उदिता राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा पुनरुक्तदोषा आसीत् ।। ९ ।।

जो श्रीराम तपस्वियों का वेश करने से भी अधिक दर्शनीय हो गये थे उनकी राजकीय परिधान धारण करने से उत्पन्न शोभा पुनरुक्त दोष वाली अर्थात् दुगुनी हो गयी ।। ९ ।।

स मौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः ।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम् ।। १० ।।

स इति । स रामः ससैन्यस्तूर्यस्वनैरानन्दितपौरवर्गः सन्, मूले भवा मौला मन्त्रिवृद्धास्तै रक्षोभिर्हरिभिश्च सह सौधेभ्यः उद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीमयोध्यां विवेश प्रविष्टवान् ।। १० ।।

अन्वयः—सः ससैन्यः तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः सन् मौलरक्षोहरिभिः सौधोद्गतलाजवर्षां उत्तोरणां अन्वयराजधानीं विवेश ।। १० ।।

वृद्ध मन्त्रियों राक्षसराज विभीषण और वानरों के साथ सेना सहित राम ने अपनी कुलपरम्परागत उस राजधानी में प्रवेश किया जहाँ के नागरिक तुरही आदि वाजों की ध्वनि से आनन्दित हो रहे थे, और महलों के ऊपर से धान के लावों की वर्षा हो रही थी तथा वन्दनवार से तोरण (प्रवेशद्वार) सजाये गए थे ।। १० ।।

सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः ।
धृतातपत्रो भरतेन साक्षादुपायसङ्घात इव प्रवृद्धः ।। ११ ।।

सौमित्रिणेति । सावरजेन शत्रुघ्नयुक्तेन सौमित्रिणा लक्ष्मणेन मन्दमाधूते बालव्यजने चामरे यस्य स रथस्थो भरतेन धृतातपत्र एव चतुर्व्यूहो रामः प्रवृद्धः साक्षादुपायानां समादीनां सङ्घातः समष्टिरिव । विवेशेति पूर्वेण सम्बन्धः ।।११।।

अन्वयः—सावरजेन सौमित्रिणा मन्दं आधूतबालव्यजनः रथस्थः भरतेन धृतातपत्रः प्रवृद्धः साक्षात् उपायसंघात इव पुरं प्रविवेश ।। ११ ।।

श्रीराम के रथ पर विराज रहे अनुज शत्रुघ्न के साथ लक्ष्मण उन्हें मन्द-मन्द चँवर डुला रहे थे और भरत जी राजछत्र धारण किए हुए थे। उस समय वे साक्षात् उपाय समूह साम-दाम-दण्ड-भेद के साथ नगर में प्रविष्ट हुए से लग रहे थे ॥ ११ ॥

प्रासादकालागुरुधूमराजिस्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना ।
वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवावभासे ॥ १२ ॥

प्रासादेति । वायुवशेन भिन्ना प्रासादे यः कालागुरुधूमस्तस्य राजी रेखा । वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन रामेण स्वयं मुक्ता तस्याः पुरः पुर्या वेणिरिव आबभासे । पुरोऽपि पतिव्रतासमाधिरुक्तः । 'न प्रोषिते तु संस्कुर्यान्न वेणीं च प्रमोचयेत्' इति हारीतः ॥ १२ ॥

अन्वयः—वायुवशेन भिन्ना प्रसादकालागुरुधूमराजिः वनात् निवृत्तन रघूत्तमेन स्वयं मुक्ता तस्याः पुरः वेणिः इव आबभासे ॥ १२ ॥

उस पुरी के महलों में कालागुरु की धूमराशि वायु द्वारा इस प्रकार फैला दी गयी थी मानों वन से लौटने पर रघुपति श्रीराम ने स्वयं उस नगरी रूपी नागरी का वेणी बन्धन मुक्त किया हो ॥ १२ ॥

श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेशां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम् ।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः ॥ १३ ॥

श्वश्रूजनेति । श्वश्रूजनैरनुष्ठितचारुवेषां कृतसौम्यनेपथ्याम् । 'आकल्पवेषौ नेपथ्यम्' इत्यमरः । कर्णीरथः स्त्रीयोग्योऽल्परथः । 'कर्णीरथः प्रवहणं डयनं रथगर्भके' इति यादवः । तत्रस्थां रघुवीरपत्नीं सीतां साकेतनार्यः प्रासादवातायनेषु दृश्यबन्धैर्लक्ष्यपुटैरञ्जलिभिः प्रणेमुः ॥ १३ ॥

अन्वयः—श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीं साकेतनार्यः प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः अञ्जलिभिः प्रणेमुः ॥ १३ ॥

सासुओं के द्वारा सुन्दर वेष-भूषा बनायी गयीं रघुवीर की पत्नी सीता को जो स्त्रियोचित कर्णीरथ (पालकी) के मध्य में बैठी थीं, अयोध्या की सुन्दरियों ने महलों की खिड़कियों से हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ १३ ॥

स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयं सा बिभ्रती शाश्वतमङ्गरागम् ।
रराज शुद्धेति पुनः स्वपुर्यै सन्दर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा ॥ १४ ॥

स्फुरदिति । स्फुरत्प्रभामण्डलमानसूयमनुसूयया दत्तं शाश्वतं सदातनमङ्ग-रागं विलेपनद्रव्यं बिभ्रती सा सीता भर्त्रा स्वपुर्यै शुद्धेति सन्दर्शिता पुनर्वह्निगतेव रराज ॥ १४ ॥

अन्वय—स्फुटत्प्रभामण्डलं आनुसूयं शाश्वतं अङ्गरागं बिभ्रती सा भर्त्रा स्वपुर्यै शुद्धा इति संदर्शिता पुनः वह्निगता इव रराज ॥ १४ ॥

वह सीता अनुसूया द्वारा प्रदत्त देदीप्यमान प्रभापुञ्ज वाले शाश्वत अङ्ग-राग—विलेपनद्रव्य को धारण करती हुयी इस प्रकार सुशोभित हो रही थीं मानो राजा राम ने अपनी नगरी को पुनः अग्निपरीक्षा द्वारा सीता की शुद्धता दिखा दी हो ॥ १४ ॥

वेश्मानि रामः परिबर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः ।
वाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ॥ १५ ॥

वेश्मानीति । सुहृदो भावः सौहार्दं सौजन्यम् । 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः सौहार्दनिधी रामः सुहृद्भ्यः परिबर्हवन्त्युपकरणवन्ति वेश्मानि विश्राण्य दत्वा । आलेख्यशेषस्य चित्रमात्रशेषस्य पितुर्बलिमत्पूजायुक्तं निकेतं गृहं बाष्पायमाणो बाष्पमुद्वमन्विवेश । 'बाष्पोष्मस्यामुद्वमने' इति क्यङ् प्रत्ययः ॥ १५ ॥

अन्वयः—सौहार्दनिधिः रामः सुहृद्भ्यः परिबर्हवन्ति वेश्मानि विश्राण्य आलेख्यशेषस्य पितुः बलिमत् निकेतनं वाष्पायमाणः सद् विवेश ॥ १५ ॥

सज्जनता की निधि श्री राम ने सुहृदों को सर्वसाधन सम्पन्न आवास स्थान देकर अश्रुपूरित नेत्रों से रोते हुए पूजोपहार से युक्त चित्रमात्र में अव-शिष्ट पिता के कक्ष में प्रवेश किया ॥ १५ ॥

कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद् गुरुर्नः ।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः ॥ १६ ॥

कृताञ्जलिरिति । तत्र निकेतने कृताञ्जलिः सन् रामः । हे अम्ब ! नो गुरुः पिता स्वर्गः फलं यस्य तस्मात्सत्यान्नाभ्रश्यत न भ्रष्टवानिति यदभ्रंशनं तच्चि-न्त्यमानं विचार्यमाणं तव सुकृतम् । इत्येवं प्रकारेण भरतस्य मातुः कैकेय्या लज्जां जहारापानयत्, राज्ञां प्रतिज्ञापरिपालनं स्वर्गसाधनमित्यर्थः । भरतग्रहणं तदपेक्षयाऽपि कैकेय्यनुसरणद्योतनार्थम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—तत्र कृताञ्जलिःसन् रामः अम्ब ! नः गुरुः स्वर्गफलात् सत्यात् न अभ्रश्यत इति यत् तत् चिन्त्यमानं तव सुकृतं इति भरतस्य मातुः लज्जां जहार ॥ १६ ॥

वहाँ उस घर में हाथ जोड़े हुए श्रीराम ने भरत की माता कैकेयी की लज्जा यह कहते हुए दूर कर दी कि हे माता ! स्वर्गरूप फल को देने वाले जिस सत्य से मेरे पिता च्युत नहीं हुए वह विचार करने पर आपही का पुण्य-प्रताप है ॥ १६ ॥

तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः ।
सङ्कल्पमात्रोदितसिद्धयस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन ॥ १७ ॥

तथैवेति । सुग्रीवविभीषणादीन् । संविधीयन्त इति संविधा भोग्यवस्तूनि । कृत्रिमसंविधाभिस्तथा तेन प्रकारेणैवोपाचरत् । यथा सङ्कल्पमात्रेणेच्छामात्रेणोदितसिद्धयस्ते सुग्रीवादयश्चेतसि विस्मयेन क्रान्ता आक्रान्ताः ॥ १७ ॥

अन्वयः—सुग्रीवविभीषणादीन् कृत्रिमसंविधाभिः तथैव उपाचरत् यथा सङ्कल्पमात्रोदितसिद्धयः ते चेतसि विस्मयेन क्रान्ताः ॥ १७ ॥

श्री राम ने बनायी गयी योग्य-वस्तुओं से सुग्रीव-विभीषण आदि का इस प्रकार सेवा-सत्कार किया कि इच्छा करते ही सिद्धि की भाँति उपलब्ध पदार्थों से वे सब अपने मन में आश्चर्यचकित से रह गए ॥ १७ ॥

सभाजनायोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः ।
शुश्राव तेभ्यः प्रभवादि वृत्तं स्वविक्रमे गौरवमादधानम् ॥ १८ ॥

सभाजनेति । स रामः सभाजनायाभिनन्दनायोपगतान्दिवि भवान्मुनीनगस्त्यादीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रो रावणस्य प्रभवादि जन्मादिकं स्वविक्रमे गौरवमुत्कर्षमादधानं वृत्तं तेभ्यो मुनिभ्यः शुश्राव श्रुतवान्, विजितोत्कर्षाज्जेतुरुत्कर्ष इत्यर्थः ॥ १८ ॥

अन्वयः—सः सभाजनाय उपागतान् दिव्यान् मुनीन् पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः प्रभवादि स्वविक्रमे गौरवं आदधानं वृत्तं तेभ्यः शुश्राव ॥ १८ ॥

श्रीराम ने अभिनन्दन करने के लिए आए हुए अगस्त्यादि दिव्य मुनियों को सम्मानित कर उनसे मरे हुए शत्रु रावण का अपने पराक्रम में गौरव की प्रतिष्ठा करने वाले जन्म आदि का वृत्तान्त सुना ॥ १८ ॥

प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु सुखादविज्ञातगतार्धमासान् ।
सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान्रक्षःकपीन्द्रान् विससर्ज रामः ॥ १९ ॥

प्रतीति । तपोधनेषु मुनिषु प्रतिप्रयातेषु प्रतिनिवृत्य गतेषु सत्सु सुखादविज्ञात एव गतोऽर्धमासो येषांताननन्तरं सीतायाः स्वहस्तेनोपहृता दत्ताग्र्यपूजोत्तमसम्भावना येभ्यस्तान् । एतेन सौहार्दातिशय उक्तः । रक्षःकपीन्द्रान्रामो विससर्ज विसृष्टवान् ॥ १९ ॥

अन्वयः—तपोधनेषु प्रतिप्रयातेषु सुखात् अविज्ञातगतार्धमासान् सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान् रक्षःकपीन्द्रान् रामः विससर्ज ॥ १९ ॥

तपस्वियों के लौटकर चले जाने पर श्रीराम ने राक्षसराज विभीषण और कपिपति सुग्रीव को भी विदा किया। इन लोगों का सुख के कारण आधा मास इस प्रकार बीता कि पता भी नहीं चला। सीताजी ने स्वयं अपने हाथ से इन्हें उत्तमोत्तम उपहार दिया था ॥ १९ ॥

तच्चात्मचिन्तासुलभं विमानं हृतं सुरारेः सह जीवितेन ।
कैलासनाथोद्वहनाय भूयः पुष्पं दिवः पुष्पकमन्वमंस्त ॥ २० ॥

तदिति । तच्चात्मचिन्तासुलभं स्वेच्छामात्रलभ्यं सुरारे रावणस्य जीवितेन सह हृतं दिवः पुष्पं पुष्पवदाभरणभूतं पुष्पकं विमानं भूयः पुनरपि कैलासनाथस्य कुबेरस्योद्वहनायान्वमंस्तानुज्ञातवान् । मन्यतेर्लुङ् । भूयोग्रहणेन पूर्वमप्येतत्कौबेरमेवेति सूच्यते ॥ २० ॥

अन्वयः—तत् च आत्मचिन्तासुलभं सुरारेः जीवितेन सह हृतं दिवः पुष्पं पुष्पकं भूयः कैलाशनाथोद्वहनाय अमंस्त ॥ २० ॥

मनमें इच्छा करते ही सुलभ होने वाले, देवद्रोही रावण के प्राणों के साथ छीने हुए, आकाश के पुष्प के समान आभूषण स्वरूप उस पुष्पक विमान को कैलासनाथ कुबेर के वाहन के लिए पुनः जाने का उन्होंने आदेश दिया ॥ २० ॥

पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः ।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ॥ २१ ॥

पितुरिति । राम एवं पितुर्नियोगाच्छासनाद्वनवासं निस्तीर्यानन्तरं प्रतिपन्न-

राज्यः प्राप्तराज्यः सन् । धर्मार्थकामेषु यथा तथैवावरजेषु समां वृत्तिं प्रपेदे; अवैषम्येण व्यवहृतवानित्यर्थः ॥ २१ ॥

अन्वयः—रामः एवं पितुः नियोगात् वनवासं निस्तीर्य प्रतिपन्नराज्यः धर्मार्थकामेषु यथा तथैव अवरजेषु समां वृत्तिं प्रपेदे ॥ २१ ॥

इस प्रकार पिता के आदेश से बनवास की समाप्ति कर राम ने राज्य-प्राप्ति की । वे जिस प्रकार धर्म-अर्थ और काम के विषय में सम व्यवहार करते थे उसी प्रकार समान रूप से अपने भाइयों के साथ भी व्यवहार करते थे ॥ २१ ॥

सर्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत् ।
षडाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ॥ २२ ॥

सर्वास्विति । स रामो वत्सलत्वात्स्निग्धत्वात्, न तु लोकप्रतीत्यर्थम् । "स्निग्धस्तु वत्सलः" इत्यमरः । सर्वासु मातृष्वपि निर्विशेषप्रतिपत्तिस्तुल्यसत्कार आसीत् । कथमिव चमूनां नेता षण्मुखः षड्भिराननैरापीता पयोधराः स्तना यासां तासु कृत्तिकास्विव ॥ २२ ॥

अन्वयः—सः वत्सलत्वात् सर्वासु मातृषु अपि निर्विशेषप्रतिपत्तिः आसीत् चमूनां नेता षडाननापीतपयोधरासु कृत्तिकासु इव ॥ २२ ॥

जिस प्रकार सेनापति षडानन का कृत्तिकाओं के स्तनपान में समान भाव था उसी प्रकार श्रीराम भी अतिशय स्नेह के कारण सभी माताओं का समान सम्मान करते थे ॥ २२ ॥

(ज्योतिष शास्त्रानुसार कृत्तिकाएँ तीन हैं और षडानन उनके छः स्तनों का समान भाव से पान करते हैं । इसी प्रकार कौशल्या-सुमित्रा और कैकेयी तीनों माताओं का समान वात्सल्य प्राप्त होने से राम भी उन्हें एक समान भाव से सम्मानित करते हैं ।)

तेनार्थवाँल्लोभपराङ्मुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान् ।
तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री ॥ २३ ॥

तेनेति । लोको लोभपराङ्मुखेन वदान्येन तेन रामेणार्थवान् धनिक आस बभूव । तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययमेतत् । विघ्नेभ्यो भयं घ्नता नुदता तेन क्रिया-

वाननुष्ठानवानास । विनेत्रा नियामकेन तेन पितृमानास, पितृवन्नियच्छतीत्यर्थः। शोकमपनुदतीति शोकापनुदो दुःखस्य हर्ता तेन। 'तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः' इति कप्रत्ययः। तेन पुत्री पुत्रवानास, पुत्रवदानन्दयतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

अन्वयः—लोकः लोभपराङ्मुखेन तेन अर्थवान् आस विघ्नभयं घ्नता तेन क्रियावान् विनेत्रा तेन पितृमान् शोकापनुदेन तेन एव पुत्री आस ॥ २३ ॥

श्री श्रीराम के लोभरहित होने के कारण प्रजा धनी थी, उनके द्वारा विघ्नभय के दूर कर देने से लोग अपने कार्यों में लगे रहते थे। विनय की शिक्षा देने से लोग उन्हें अपना पिता मानते और शोक दूर करते रहने से उन्हें पुत्रवत् समझते थे। (अकेले राम ने अपने सुशासन से प्रजा के धनाभाव के साथ ही पिता-पुत्र का अभाव दूर कर सबको निर्भय कर दिया।) ॥ २३ ॥

स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥ २४ ॥

स इति। स रामः कालेऽवसरे पौराणां कार्याणि प्रयोजनानि समीक्ष्य विदेहाधिपतेर्दुहित्रा सीतया उपभोगोत्सुकयाऽत एव तदीयं सीतासम्बन्धि चारु वपुः कृत्वा स्थितया लक्ष्म्येव। उपस्थितः सङ्गतः सन् रेमे। 'उपस्थानं तु सङ्गतिः' इति यादवः ॥ २४ ॥

अन्वयः—सः काले पौरकार्याणि समीक्ष्य विदेहाधिपतेः दुहित्रा उपभोगोत्सुकया अतएव तदीयं चारु वपुः कृत्वा स्थितया लक्ष्म्या इव उपस्थितः सन् रेमे ॥ २४ ॥

वे श्रीराम पुरवासियों के सभी कार्यों को देखने के बाद समय पर विदेह पुत्री सीता के साथ रमण करते थे तो ऐसा लगता था कि मानो उपभोग के लिए उत्सुक राज्यलक्ष्मी ही सीता का सुन्दर शरीर बनाकर उपस्थित हो गयी हो ॥ २४ ॥

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु सञ्चिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥ २५ ॥

तयोरिति। चित्रवत्सु वनवासवृत्तान्तालेख्यवत्सु सद्मसु यथाप्रार्थितं यथेष्टमिन्द्रियार्थानिन्द्रियविषयाञ्शब्दादीनासेदुषोः प्राप्तवतोस्तयोः सीतारामयोर्दण्ड-

केषु दण्डकारण्येषु प्राप्तानि दुःखान्यपि विरहविलापान्वेषणादीनि सञ्चिन्त्यमानानि स्मर्यमाणानि सुखान्यभूवन् । स्मारकं तु चित्रदर्शनमिति द्रष्टव्यम् ॥२५॥

अन्वयः—चित्रवत्सु सद्मसु यथा प्रार्थितं इन्द्रियार्थान् आसेदुषोः तयोः दण्डकेषु प्राप्तानि दुःखानि अपि संचिन्त्यमानानि सुखानि अभूवन् ॥ २५ ॥

बनवास के वृतान्त के चित्रों से युक्त राजमहलों में इच्छानुरूप इन्द्रियों के विषयों–रूप–रस–गन्ध–स्पर्श–शब्द–को प्राप्त करते हुए उन दोनों (सीता–राम) ने दण्डक वन में प्राप्त दुःखों का भी स्मरण करके सुख का ही अनुभव किया ॥ २५ ॥

अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण ।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन ॥ २६ ॥

अथेति । अथ सीताऽधिकस्निग्धविलोचनेनात्यन्तमसृणलोचनेन शरवत्तृणविशेषवत्पाण्डुरेणात एवानक्षरमवाग्व्यापारं यथा भवति तथा व्यञ्जितं प्रकटितं दोहदं गर्भो येन तेन मुखेन परिणेतुः पत्युः । कर्मणि षष्ठी । आनन्दयित्र्यासीत् ॥ २६ ॥

अन्वयः—अथ सीता अधिकस्निग्धविलोचनेन शरपाण्डुरेण अनक्षरव्यञ्जितदोहदेन मुखेन परिणेतुः आनन्दयित्री आसीत् ॥ २६ ॥

इसके बाद अधिक स्निग्ध दृष्टि तथा शरपत के सामान पीले मुख से बिना कुछ कहे ही गर्भलक्षण व्यक्त करने वाली सीता परिणयकर्ता स्वामी श्रीराम को आनन्ददायिनी हुईं ॥ २६ ॥

तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम् ।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः प्रपच्छ रामां रमणोऽभिलाषम् ॥ २७ ॥

तामिति । प्रतीतो गर्भज्ञानवान् । रमयतीति रमणः प्रियां कृषाङ्गयष्टि वर्णान्तरेण नीलिम्नाऽऽक्रान्तपयोधराग्रां विलज्जमानां तां रामां रहस्यङ्कमारोप्याभिलाषं मनोरथं पप्रच्छ । एतच्च—'दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्' इति शास्त्रात्, न तु लौल्यादित्यनुसन्धेयम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—प्रतीतः रमणः प्रियां कृशांगयष्टि वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्रां विलज्जमानां तां रामां रहसि अङ्कं आरोप्य अभिलाषं पप्रच्छ ॥ २७ ॥

गर्भ-लक्षण को जानने वाले श्री राम ने छड़ी जैसी कृश अङ्ग वाली तथा अन्य ही प्रकार के श्याम रङ्ग से युक्त स्तनों के अग्रभाग वाली लजाती हुई सीता को एकान्त में गोद में बिठाकर उनसे मनोरथ पूछा "तुम्हें इस समय किस वस्तु की इच्छा हो रही है" यह जानना चाहा ॥ २७ ॥

सा दष्टनीवारबलीनि हिंस्रैः सम्बद्धवैखानसकन्यकानि ।
इयेष भूयः कुशवन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि ॥ २८ ॥

सेति । सा सीता हिंस्रैर्दष्टा नीवारा एव बलयो येषु तानि । तिर्यग्भिक्षुकादिदानं बलिः । सम्बद्धा कृतसम्बन्धाः कृतसख्या वैखानसानां कन्यका येषु तानि कुशवन्ति भागीरथीतीरतपोवनानि भूयः पुनरपि गन्तुमियेषाभिललाष ॥ २८ ॥

अन्वयः—सा हिंस्रैः दष्टनीवारबलीनि सम्बद्धवैखानसकन्यकानि कुशवन्ति भागीरथीतीरतपोवनानि भूयः गन्तुं इयेष ॥ २८ ॥

उस सीता ने गङ्गा तटवर्ती उन तपोवनों में पुनः जाने की कामना की जहाँ मुनियों द्वारा प्रदत्त नीवार की बलि हिंसक जीव खा जाया करते थे और तपस्वी-कुमारियों से स्नेह सम्बन्ध हो गया था तथा जो कुशों से युक्त थे ॥ २८ ॥

तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्रवीरस्तदीप्सितं पार्श्वचरानुयातः ।
आलोकयिष्यन्मुदितामयोध्यां प्रासादमभ्रंलिहमारुरोह ॥ २९ ॥

तस्या इति । रघुप्रवीरो रामस्तस्यै सीतायै तत्पूर्वोक्तमीप्सितं मनोरथं प्रतिश्रुत्य पार्श्वचरैस्तत्कालोचितैरनुयातः सन् मुदितां तामयोध्यामालोकयिष्यन् अभ्रं लेढीत्यभ्रंलिहमभ्रङ्कषं प्रासादमारुरोह 'वहाभ्रे लिहः' इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः ॥ २९ ॥

अन्वयः—रघुप्रवीरः तस्यै तत् ईप्सितं प्रतिश्रुत्य पार्श्वचरानुयातः सन् मुदितां अयोध्याम् आलोकयिष्यन् अभ्रलिहं प्रासादम् आरुरोह ॥ २९ ॥

रघुवीर श्रीराम सीता को उनके मनोरथ को पूर्ण करने का वचन दे कर निकटवर्ती सेवकों के साथ प्रसन्न अयोध्या नगरी की शोभा देखते हुए गगन-चुम्बी राजमहल के ऊपर चढ़ गये ॥ २९ ॥

ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः ।
विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे ॥ ३० ॥

ऋद्धेति । स रामः ऋद्धाः समृद्धा आपणाः पण्यभूमयो यस्मिंस्तं राजपथं नौभिः समुद्रवाहिनीभिर्विगाह्यमानां सरयूं च । पौरैर्विलासिभिरध्युषितानि पुरोपकण्ठोपवनानि च पश्यन् रेमे । विलासिन्यश्च विलासिनश्च विलासिनः । 'पुमान्स्त्रिया' इत्येकशेषः ॥ ३० ॥

अन्वयः—सः ऋद्धापणं राजपथं नौभिः विगाह्यमानां सरयूञ्च पश्यन् विलासिभिः पौरैः अध्युषितानि पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे ॥ ३० ॥

उन्होंने यह देखते हुए प्रसन्नता व्यक्त की कि राजमार्ग समृद्धि पूर्ण दूकानों से सुशोभित है; नगरवासी लोग नौकाओं से सरयू का अवगाहन कर रहे हैं; और विलासी नागरिक विलासिनियों के साथ नगर के उपवनों में विहार कर रहे हैं ॥ ३० ॥

स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः ।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥ ३१ ॥

स इति । वदतां वाग्मिनां पुरोगः श्रेष्ठो विशुद्धवृत्तः सर्पाधिराजः शेषस्तद्वदुरू भुजौ यस्य स विजितारिभद्रो विजितारिश्रेष्ठः स रामः स्ववृत्तमुद्दिश्य भद्रं भद्रनामकमपसर्पं चरं किंवदन्तीं जनवादं पप्रच्छ । 'अपसर्पश्चरः स्पर्शः' इति, 'किंवदन्ती जनश्रुतिः' इति चामरः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—वदतां पुरोगः विशुद्धवृत्तः सर्पाधिराजोरुभुजः विजितारिभद्रः सः स्ववृत्तं उद्दिश्य भद्रं अपसर्पं किंवदन्तीं पप्रच्छ ॥ ३१ ॥

बोलने वालों में अग्रेसर, विशुद्ध आचरणवान् सर्पाधिराज शेषनाग के समान विशाल भुजाओं वाले, बड़े-बड़े शत्रुओं को जीतने वाले श्रीरामभद्र ने भद्र नामक गुप्तचर से अपने विषय में की जाने वाली लोकवार्ता पूछी ॥ ३१ ॥

निर्बन्धपृष्टः स जगाद सर्वं स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीयम् ।
अन्यत्र रक्षोभवनोषितायाः परिग्रहान्मानवदेव देव्याः ॥ ३२ ॥

निर्बन्धेति । निर्बन्धेनाग्रहेण पृष्टः सोऽपसर्पो जगाद । किमिति हे मानवदेव ! रक्षोभवन उषिताया देव्याः सीतायाः परिग्रहात्स्वीकारादन्यत्रेतरांशे, तं वर्जयित्वेत्यर्थः । त्वदीयं सर्वं चरितं पौराः स्तुवन्ति ॥ ३२ ॥

अन्वयः—निर्बन्धपृष्टः स जगाद हे मानवदेव ! रक्षोभवनोषितायाः देव्याः परिग्रहात् अन्यत्र त्वदीयं सर्वं चरितं पौराः स्तुवन्ति ॥ ३२ ॥

आग्रह के साथ अनेक बार पूछने पर उस गुप्तचर ने कहा कि हे मानवदेव ! राक्षस के घर में निवास करने वाली सीता को पत्नी रूप में स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त आपके अन्य समस्त चरित्र की पुरवासी प्रशंसा करते हैं ॥ ३२ ॥

कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण ।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे ॥ ३३ ॥

कलत्रेति । एवं किल कलत्रनिन्दया गुरुणा दुर्वहेण कीर्तिविपर्ययेणापकीर्त्याऽभ्याहतं वैदेहिबन्धोर्वैदेहिवल्लभस्य । 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' इति ह्रस्वः, कालिदास इतिवत् । हृदयम् अयोघनेनाभितप्तं सन्तप्तमय इव विदद्रे विदीर्णम् । कर्तरि लिट् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—एवं किल कलत्रनिन्दागुरुणा कीर्तिविपर्येण अभ्याहतं वैदेहिबन्धोः हृदयं अयोघनेन अभितप्तं अयः इव विदद्रे ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार लोहे के घन के आघात से तपाया हुआ लोहा फट जाता है उसी प्रकार स्त्रीनिन्दा विषयक गम्भीर अपयश की बात के आघात से आहत वैदेही वल्लभ श्रीराम का हृदय विदीर्ण हो गया ॥ ३३ ॥

किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत सन्त्यजामि ।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः ॥ ३४ ॥

किमिति । आत्मनो निर्वादोऽपवाद एव कथा ताम् किमुपेक्षे । उत अदोषां साध्वीं जायां सन्त्यजामि । उभयत्रापि प्रश्ने लट् । इत्येकपक्षाश्रयेऽन्यतरपक्षपरिग्रहे विक्लवत्वादपरिच्छेत्तृत्वात्स रामो दोलेव चला चित्तवृत्तिर्यस्य स आसीत् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—आत्मनिर्वादकथां किं उपेक्षे उत अदोषां जायां सन्त्यजामि इति एकपक्षाश्रयविक्लवत्वात् सः दोलाचलचित्तवृत्तिः आसीत् ॥ ३४ ॥

"क्या मैं अपने अपवाद की कथा की उपेक्षा कर दूँ अथवा निर्दोष पत्नी का परित्याग करूँ" इस प्रकार किसी एक पक्ष का आश्रय लेने में विकलता

के कारण वे झूले के समान उभयतः आन्दोलित चित्रवृत्ति वाले हो गए ॥ ३४ ॥

निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत् ।
अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥३५॥

निश्चित्येति । किञ्च । वाच्यमपवादं, नास्त्यन्येन त्यागातिरिक्तोपायेन निवृत्तिर्यस्य तदनन्यनिवृत्ति निश्चित्य पत्न्यास्त्यागेन परिमार्ष्टुं परिहर्तुमैच्छत् । तथा हि, यशोधनानां पुंसां स्वदेहादपि यशोगरीयो गुरुतरम् । इन्द्रियार्थात्स्रक्चन्दनवनिताऽऽदेरिन्द्रियविषयाद्गरीय इति किमुत वक्तव्यम् । 'पञ्चमी विभक्ते' इत्युभयत्रापि पञ्चमी । सीता चेन्द्रियार्थ एव ॥ ३५ ॥

अन्वयः—वाच्यं अनन्यनिवृत्ति निश्चित्य पत्न्याः त्यागेन परिमार्ष्टुम् ऐच्छत् हि यशोधनानां पुंसां स्वदेहाद् अपि यशः गरीयः इन्द्रियार्थात् किमुत ? ॥ ३५ ॥

किसी अन्य उपाय से इस अपवाद की निवृत्ति नहीं हो सकती है इस प्रकार निश्चय कर पत्नी के परित्याग द्वारा ही इस अपवाद का रामने परिमार्जन करना चाहा क्योंकि यशार्थियों के लिए अपने शरीर से भी यश महान् होता है तो इन्द्रियों के विषयों की तो बात ही क्या है ॥ ३५ ॥

स सन्निपात्यावरजान् हतौजास्तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् ।
कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे तेभ्यः पुनश्चेदमुवाच वाक्यम् ॥ ३६ ॥

स इति । हतौजा निस्तेजस्कः स रामस्तस्य रामस्य विक्रियादर्शनेन लुप्तहर्षानवरजान्सन्निपात्य सङ्गमय्यात्माश्रयं स्वविषयकं कौलीनं निन्दां तेभ्य आचचक्षे । पुनरिदं वाक्यमुवाच च ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हतौजाः सः तस्य विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् अवरजान् सन्निपात्य आत्माश्रयं कौलीनं तेभ्यः आचचक्षे पुनश्च इदं वाक्यमुवाच ॥ ३६ ॥

(इस अपयश से) हतप्रभ राम ने अपने उदासीन मुख के विकार को देखने से हर्ष-विहीन अनुजों को बुलाकर उनसे इस अपवाद का आश्रय अपने को ही बतलाया और पुनः यह वाक्य कहा— ॥ ३६ ॥

राजर्षिवंशस्य रविप्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम् ।
मत्तः सदाचारशुचेः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य ॥ ३७ ॥

राजर्षीति । रवेः प्रसूतिर्जन्म यस्य तस्य राजर्षिवंशस्य सदाचारशुचेः सद्वृत्ताच्छुद्धान्मत्तो मत्सकाशात् । दर्पणस्य पयोदवातादिव, साम्भःकणादित्यर्थः। कीदृशोऽयं कलङ्क उपस्थितः प्राप्तः पश्यत ॥ ३७ ॥

अन्वयः—रविप्रसूतेः राजर्षिवंशस्य सदाचार शुचेः मत्तः दर्पणस्य पयोद-वातात् इव कीदृशः अयं कलङ्कः उपस्थितः पश्यत् ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार वाष्प-मारुत से दर्पण धूमिल हो जाता है उसी प्रकार सदा-चार से पवित्र होते हुए भी मेरे कारण सूर्यवंशी राजर्षियों के कुल में यह कैसा कलंक लग गया—देखो ॥ ३७ ॥

पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तमपां तरङ्गेष्विव तैलबिन्दुम् ।
सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः ॥ ३८ ॥

पौरेष्विति । सोऽहम् । अपां तरङ्गेषु तैलबिन्दुमिव पौरेषु बहुलीभवन्तं प्रसरन्तम् । स एव पूर्वो यस्य स तम् । तत्पूर्वमवर्णमपवादम् । 'अवर्णाक्षेपनि-र्वादपरीवादापवादवत्' इत्यमरः । द्विपेन्द्रः आलानमेवालानिकम् । विनयादि-त्वात्स्वार्थे ठक् । अथवाऽऽलानं बन्धनं प्रयोजनमस्येत्यालानिकम् । 'प्रयोजनम्' इति ठक् । स्थाणुं स्तम्भमिव । चूतवृक्ष इतिवत्सामान्यविशेषभावादपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम् । सोढुं नेशे न शक्नोमि ॥ ३८ ॥

अन्वयः—सः अहं अपां तरङ्गेषु तैलबिन्दुमिव पौरेषु बहुलीभवन्तं तत्पूर्वमवर्णं द्विपेन्द्रः आलानिकं स्थाणुं इव सोढुं न ईशे ॥ ३८ ॥

जल के तरंगों पर फैलते हुए तेल की बूँदों की भाँति नागरिकों में तेजी से बढ़ते हुए इस प्रथम अपवाद को मैं उसी प्रकार नहीं सह सकता जैसे गजराज प्रथम बार अपने बाँधने के खूँटे को नहीं सहन करता ॥ ३८ ॥

तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः ।
त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव ॥ ३९ ॥

तस्येति । तस्यावर्णस्यापनोदाय दूरीकरणाय फलप्रवृत्तावपत्योत्पत्तावुपस्थि-तायां सत्यामपि निर्व्यपेक्षो निःस्पृहः सन् । वैदेहसुताम् । पुरस्तात्पूर्वं पितु-

राज्ञया समुद्रनेमिं समुद्रो नेमिरिव नेमिर्यस्याः सा भूमिः। तामिव त्यक्ष्यामि ॥ ३९ ॥

अन्वयः—तस्य अपनोदाय फलप्रवृत्तौ उपस्थितायां अपि निर्व्यपेक्षः सन् वैदेहसुतां पुरस्तात् पितुः आज्ञया समुद्रनेमिम् इव त्यक्ष्यामि ॥ ३९ ॥

इस कलंक को धोने के लिए फलप्रवृत्ति की उपस्थिति—सन्तानरूप फल लाभ होने पर भी उसकी अपेक्षा न करते हुए मैं विदेहपुत्री को उसी प्रकार त्याग दूँगा जैसे पहले पिता की आज्ञा से समुद्रनेमि पृथ्वी के राज्य का परित्याग कर दिया था ॥ ३९ ॥

ननु सर्वथा साध्वी न त्याज्येत्याह—

अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥ ४० ॥

अवैमीति। एनां सीतामनघा साध्वीति चावैमि। किन्तु मे मम लोकापवादो बलवान्मतः। कुतः। हि यस्मात्प्रजाभिर्भूमेश्छाया प्रतिबिम्बं शुद्धिमतो निर्मलस्य शशिनो मलत्वेन कलङ्कत्वेनारोपिता। अतो लोकापवाद एव बलवानित्यर्थः ॥ ४० ॥

अन्वयः—एनां अनघा इति अवैमि किन्तु मे लोकापवादः बलवान् मतः हि प्रजाभिः भूमेः छाया शुद्धिमतः शशिनः मलत्वेन आरोपिता ॥ ४० ॥

मैं यह जानता हूँ कि वह सीता निष्पाप है किन्तु मेरे लिए लोकापवाद बलवान् तथा मान्य है; क्योंकि लोग विशुद्ध चन्द्रमा में पड़ने वाली पृथ्वी की छाया को भी कलङ्क के रूप में आरोपित करते हैं ॥ ४० ॥

रक्षोवधान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः स वैरप्रतिमोचनाय।
अमर्षणः शोणितकाङ्क्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ॥ ४१ ॥

रक्ष इति। किञ्च मे रक्षोवधान्तः प्रयासो, व्यर्थो न, किन्तु स वैरप्रतिमोचनाय वैरशोधनाय। तथा हि, अमर्षणोऽसहनो द्विजिह्वः सर्पः पदा पादेन स्पृशन्तं पुरुषं शोणितकाङ्क्षया दशति किम्? किन्तु वैरनिर्यातनायेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—मे रक्षोवधान्तः प्रयासः व्यर्थः न च, किन्तु सः वैरप्रतिमोचनाय हि अमर्षणः द्विजिह्वः पदा स्पृशन्तं शोणितकांक्षया दशति किम् ॥ ४१ ॥

इससे राक्षसों के वध द्वारा अनन्त करने का मेरा प्रयास व्यर्थ नहीं हुआ क्योंकि वह तो मैंने सीताहरण के वैर का बदला लेने के लिए किया था। पैर से स्पर्श करने वाले व्यक्ति को आमर्षी सर्प क्या रक्तपान की इच्छा से डंसता है? ॥ ४१ ॥

तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः।
यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः ॥ ४२ ॥

तदिति। तत्तस्मादेष मे सर्गो निश्चयः। 'सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु' इत्यमरः। करुणार्द्रचित्तैर्भवद्भिर्न प्रतिषेधनीयः। निर्हृतं वाच्यमेव शल्यं येषां तान्प्राणान्मया चिरं धारयितु धारणं कारयितुं वो युष्माकमर्थितार्थित्वमिच्छा यदि। अस्तीति शेषः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—तत् एष मे सर्गः करुणार्द्रचित्तैः भवद्भिः न प्रतिषेधनीयः निर्हृतवाच्यशल्यात् प्राणान् मया चिरं धारयितुं वः अर्थिता यदि अस्तीति शेषः ॥ ४२ ॥

यदि निःसृत निन्दारूपी बाण से मेरे प्राणों को चिरकाल तक बचाना चाहते हों तो मेरे इस निश्चय का कृपालु चित्तवाले तुम लोग प्रतिषेध मत करो ॥ ४२ ॥

इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशमीशम्।
न कश्चन भ्रातृषु तेषु शक्तो निषेद्धुमासीदनुमोदितुं वा ॥ ४३ ॥

इतीति। इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां विषये नितान्तरूक्षाभिनिवेशमतिक्रूराग्रहमीशं स्वामिनं तेषु भ्रातृषु मध्ये कश्चनापि निषेद्धुं निवारयितुमनुमोदितुं प्रवर्तयितुं वा शक्तो नासीत्, पक्षद्वयस्यापि प्रबलत्वादित्यर्थः ॥ ४३ ॥

अन्वय—इति उक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशं ईशं तेषु कश्चन अपि निषेद्धुं अनुमोदितुं वा शक्तः न आसीत् ॥ ४३ ॥

जानकी के विषय में इस प्रकार नितान्त कठोर आग्रह पूर्वक बोलने वाले प्रभु राम का उन भाइयों में से न तो कोई विरोध ही कर सका और न कोई अनुमोदन ही ॥ ४३ ॥

स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्तिः ।
सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश ॥ ४४ ॥

स इति । लोकत्रयगीतकीर्तिस्त्रैलोक्ये प्रथितयशा यथार्थभाषी लक्ष्मणपूर्वजन्मा लक्ष्मणाग्रजः स रामो निदेशे स्थितमाज्ञाकारिणं लक्ष्मणं विलोक्य 'हे सौम्य, सुभग' इत्यभाष्य च पृथग्भरतशत्रुघ्नाभ्यां विनाकृत्यादिदेशाज्ञापयामास ॥ ४४ ॥

अन्वयः—लोकत्रयगीतकीर्तिः यथार्थभाषी लक्ष्मणपूर्वजन्मा सः निदेशे स्थितं लक्ष्मणं विलोक्य हे सौम्य ! इति आभाष्य च पृथक् आदिदेश ॥ ४४ ॥

त्रैलोक्य में विख्यात यशस्वी, सत्यवादी, लक्ष्मण से पूर्व जन्म लेने वाले उस राम ने लक्ष्मण को आज्ञा पालन में स्थित देखकर और उसे हे सौम्य ! इस प्रकार कहकर अलग से आदेश दिया ॥ ४४ ॥

प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव ।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम् ॥ ४५ ॥

प्रजेति । दोहदो गर्भिणीमनोरथः, तच्छंसिनी ते प्रजावती भ्रातृजाया । 'प्रजावती भ्रातृजाया' इत्यमरः । तपोवनेषु स्पृहयालुरेव सस्पृहैव । 'स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्' इत्यनेनालुच्प्रत्ययः । स त्वं रथी सन् । तद्व्यपदेशेन दोहदमिषेण नेयां नेतव्यामेनां सीतां वाल्मीकेः पदं स्थानं प्रापय्य गमयित्वा 'विभाषापः' इत्ययादेशः । त्यज ॥ ४५ ॥

अन्वयः—दोहदशंसिनी ते प्रजावती तपोवनेषु स्पृहयालुः एव सः त्वं रथी सन् तद् व्यपदेशनेयां एनां वाल्मीकिपदं प्रापय्य त्यज ॥ ४५ ॥

तुम्हारी भाभी सीता तपोवनों में जाने की गर्भकालीन इच्छा कर ही रही हैं तो तुम इसी बहाने रथारूढ़ होकर उसे वाल्मीकि आश्रम में पहुँचाकर छोड़ आओ ॥ ४५ ॥

स शुश्रुवान्मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत् ।
प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तदाज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥ ४६ ॥

स इति । पितुर्जमदग्नेर्नियोगाच्छासनाद्भार्गवेण जामदग्न्येन कर्त्रा । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इत्यनेन षष्ठीप्रतिषेधः । मातरि द्विषतीव द्विषद्वत् ।

'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः । प्रहृतं प्रहारं शुश्रुवाञ्श्रुतवान् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः । स लक्ष्मणस्तदग्रजशासनं प्रत्यग्रहीत् । हि यस्माद् गुरूणामाज्ञाऽविचारणीया ॥ ४६ ॥

अन्वयः—पितुः नियोगात् भार्गवेण मातरि द्विषद्वत्प्रहृतं शुश्रुवान् सः तत् अग्रजशासनं प्रत्यग्रहीत् हि गुरूणां आज्ञा अविचारणीया ॥ ४६ ॥

पिता की आज्ञा से परशुराम ने अपनी माता के ऊपर शत्रुवत् प्रहार किया था यह उसने सुना था इसलिए उसने बड़े भाई का आदेश मान लिया क्योंकि गुरुजनों की आज्ञा विचारणीय नहीं होती ॥ ४६ ॥

अथानुकूलश्रवणप्रतीतामत्रस्नुभिर्युक्तधुरं तुरङ्गैः ।
रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥ ४७ ॥

अथेति । अथासौ लक्ष्मणः । अनुकूलश्रवणेन प्रतीतामिष्टाकर्णनेन तुष्टां वैदेहसुतामत्रस्नुभिरभीरुभिर्गर्भिणीवहनयोग्यैः । 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' इति क्नुप्रत्ययः । तुरङ्गैर्युक्तधुरं सुमन्त्रेण प्रतिपन्नरश्मिं गृहीतप्रग्रहं रथमारोप्य प्रतस्थे ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अथ अनुकूलश्रवणप्रतीतां वैदेहसुतां अत्रस्नुभिः तुरङ्गैः युक्तधुरं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिं रथं आरोप्य प्रतस्थे ॥ ४७ ॥

इसके बाद तपोवन में जाने की अनुकूल बात सुनने से प्रसन्नचित्त वाली सीता को उस रथ पर बैठाकर जिसके जुए में निर्भय घोड़े जुते थे और सुमन्त्र जी जिसकी बागडोर अपने हाथ में लिये थे; लक्ष्मण ने प्रस्थान किया ॥ ४७ ॥

सा नीयमाना रुचिरान्प्रदेशान्प्रियङ्करो मे प्रिय इत्यनन्दत् ।
नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम् ॥ ४८ ॥

सेति । सा सीता रुचिरान्मनोज्ञान्प्रदेशान्नीयमाना प्राप्यमाणा सती मे मम प्रियः प्रियं करोतीति प्रियङ्करः प्रियकारीत्यनन्दत् । 'क्षेमप्रियमद्रेऽण्च' इति चकारात्खच्प्रत्ययः । तं प्रियमात्मनि विषये कल्पद्रुमतां सुरवृक्षतां विहायासिपत्रवृक्षं जातं नाबुद्ध नाज्ञासीत् । बुध्यतेर्लुङ् । असिपत्रः खड्गाकारदलः

कोऽप्यपूर्वो वृक्षविशेषः । 'असिपत्रो भवेत्कोषाकारे च नरकान्तरे' इति विश्वः । आसन्नघातुक इति भावः ।। ४८ ।।

अन्वयः—सा रुचिरान् प्रदेशान् नीयमाना मे प्रियः प्रियङ्करः इति अनन्दत् आत्मनिविषये कल्पद्रुमतां विहाय असिपत्रवृक्षं जातं न अबुद्ध ।। ४८ ।।

रुचिकर स्थानों को ले जायी जाती हुई सीता मेरे प्रियतम प्रिय करने वाले हैं इस प्रकार आनन्दित हुईं । किन्तु अपने विषय में वह यह नहीं समझ सकीं कि कल्पवृक्ष को छोड़कर वह खड्ग लता हो गया है । ४८ ।।

जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्सव्येतरेण स्फुरता तदक्ष्णा ।
आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन ।। ४९ ।।

जुगूहेति । पथि लक्ष्मणो यद् दुःखं तस्याः सीताया जुगूह प्रतिसंहृतवांस्तद्गुरु भावि भविष्यद्दुःखमत्यन्तलुप्तं प्रियदर्शनं यस्य तेन स्फुरता सव्येतरेण दक्षिणेनाक्ष्णाऽस्यै सीतायै आख्यातम् । स्त्रीणां दक्षिणाक्षिस्फुरणं दुर्निमित्तमाहुः ।। ४९ ।।

अन्वयः—पथि लक्ष्मणः यत् तस्याः जुगूह तत् गुरुभावि दुःखं अत्यन्त लुप्तप्रिदर्शनेन स्फुरता सव्येतरेण अक्ष्णा अस्यै आख्यातम् ।। ४९ ।।

मार्ग में लक्ष्मण ने जिस दुःख की बात सीता से गुप्त रखी उस भावी महान् दुःख को प्रियतम के दर्शन से अत्यन्त दूर हो जाने वाली तथा फड़कने वाली सीता की दाहिनी आँख ने उससे सब कह दिया ।। ४९ ।।

सा दुर्निमित्तोपगताद्विषादात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा ।
राज्ञः शिवं सावरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरबाह्यैः ।। ५० ।।

सेति । सा सीता दुर्निमित्तेन दक्षिणाक्षिस्फुरणरूपेणोपगतात् प्राप्ताद्विषादादुःखात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा क्लान्तमुखकमला सती सावरजस्य सानुजस्य राज्ञो रामस्य शिवं भूयादित्यबाह्यैः करणैरन्तःकरणैराशशंसे । शंसतेरपेक्षायामात्मनेपदमिष्यते । करणैरिति बहुवचनं क्रियावृत्त्यभिप्रायम् । पुनः पुनराशशंसेत्यर्थः ।। ५० ।।

अन्वयः—सा दुर्निमित्तोपगतात् विषादात् सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा सती सावरजस्य राज्ञः शिवं भूयात् इति अबाह्यैः करणैः आशशंसे ।। ५० ।।

वह सीता दक्षिण नेत्र स्फुरण रूप उस अपशकुन के विषाद से संकुचित मुख-कमल वाली हो गयी। अर्थात् संकुचित कमल के समान उसका मुख उदास हो गया। वह अन्तःकरण से मनाने लगी कि अनुजों के साथ राजा राम का कल्याण हो ॥ ५० ॥

गुरोर्नियोगाद्वनितां वनान्ते साध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन्।
अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात् ॥ ५१ ॥

गुरोरिति। गुरोर्ज्येष्ठस्य नियोगात्साध्वीं वनिताम्, अत्याज्यामित्यर्थः। वनान्ते विहास्यंस्त्यक्ष्यन्सुमित्रातनयो लक्ष्मणः पुरस्तादग्रे स्थितया जह्नोर्दुहित्रा जाह्नव्योत्थितैर्वीचिहस्तैरवार्यतेव। अकार्यं मा कुर्वित्यवार्यतेव। इत्युत्प्रेक्षा ॥ ५१ ॥

अन्वयः—गुरोः नियोगात् साध्वीं वनितां वनान्ते विहास्यन् सुमित्रातनयः पुरस्तात् स्थितया जह्नोः दुहित्र्याः उत्थितवीचिहस्तैः अवार्यत इव ॥ ५१ ॥

बड़े भाई के आदेश से साध्वी पत्नी को वनान्त में छोड़ते हुए लक्ष्मण को सामने स्थित जाह्नवी ने मानो तरङ्गरूपी हाथ उठाकर ऐसा करने से मना किया ॥ ५१ ॥

रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहात्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य।
गङ्गां निषादाहृतनौविशेषस्ततार सन्धामिव सत्यसन्धः ॥ ५२ ॥

रथादिति। सत्यसन्धः सत्यप्रतिज्ञः स लक्ष्मणो यन्त्रा सारथिना निगृहीतवाहाद्रुद्धाश्वाद्रथाद् भ्रातृजायां पुलनेऽवतार्यारोप्य निषादेन किरातेनाहृतनौविशेष आनीतदृढनौकः सन्। गङ्गां भागीरथीं सन्धां प्रतिज्ञामिव ततार। 'सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा' इत्यमरः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—सत्यसन्धः सः यन्त्रा निगृहीतवाहात् रथात् भ्रातृजायां पुलिने अवतार्य निषादाहृतनौविशेषः सन् गङ्गां सन्धामिव ततार ॥ ५२ ॥

सत्यप्रतिज्ञा करने वाले उस लक्ष्मण ने सारथी द्वारा घोड़ों के रोक लेने से भाभी को रथ से तटपर उतार कर निषाद द्वारा लायी गयी

नाव से इस प्रकार गङ्गा पार कर लिया मानो अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली हो ॥ ५२ ॥

अथ व्यवस्थापितवाक्कथञ्चित्सौमित्रिरन्तर्गतबाष्पकण्ठः।
औत्पातिकं मेघ इवाश्मवर्षं महीपतेः शासनमुज्जगार ॥ ५३ ॥

अथेति । अथ कथञ्चिद्व्यवस्थापिता प्रकृतिमापादिता वाग्येन सः अन्तर्गतबाष्पः कण्ठो यस्य सः । कण्ठस्तम्भिताश्रुरित्यर्थः । सौमित्रिर्महीपतेः शासनम् । मेघ उत्पाते भवमौत्पातिकमश्मवर्षं शिलावर्षमिव उज्जगारोद्गीर्णवान् । दारुणत्वेनावाच्यत्वादुज्जगारेत्युक्तम् ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अथ कथञ्चित् व्यवस्थापितवाग् अन्तर्गतबाष्पकण्ठः सौमित्रिः महीपतेः शासनं मेघः औत्पातिकं अश्मवर्षं इव उज्जगार ॥ ५३ ॥

इसके बाद किसी प्रकार अपनी वाणी व्यवस्थित कर आँसुओं को कण्ठ में ही अवरुद्ध कर लक्ष्मण ने राजा का वह कठोर शासन सुनाया जो विनाशकारी मेघ के वज्रपात के समान था। राजा राम का वह आदेश उत्पात के समय के मेघ के ओले की वर्षा के समान था जिसे लक्ष्मण ने सीता को सुनाया ॥ ५३ ॥

ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना ।
स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम ॥ ५४ ॥

तत इति । ततः अभिषङ्गः भर्तृपरित्यागरूपः पराभवः । 'अभिषङ्गः पराभवे' इत्यमरः । स एवानिलस्तेन विप्रविद्धा अभिहता । प्रभ्रंश्यमानानि पतन्त्याभरणान्येव प्रसूनानि यस्याः सा सीता लतेव । सहसा स्वमूर्तिलाभस्य स्वशरीरलाभस्य स्वोत्पत्तेः प्रकृतिं कारणं धरित्रीं जगाम, भूमौ पपातेत्यर्थः । स्त्रीणामापदि मातैव शरणमिति भावः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—ततः अभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना सीता लता इव सहसा स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं जगाम ॥ ५४ ॥

जैसे प्रचण्ड आँधी के झोंके से आहत लता अपने पुष्पों को गिराती हुयी अपनी जन्मस्थली पृथ्वी पर लोट जाती है उसी प्रकार पति द्वारा परित्याग

रूप पराभव से आहत सीता अपने आभूषण रूपी पुष्पों को गिराती हुयी अपनी मूर्ति लाभ की जननी भूमि पर सहसा गिर पड़ी ॥ ५४ ॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात्पतिरार्यवृत्तः ।
इति क्षितिः संशयितेव तस्यै ददौ प्रवेशं जननी न तावत् ॥ ५५ ॥

इक्ष्वाक्विति । इक्ष्वाकुवंशप्रभवः, महाकुलप्रसूतिरित्यर्थः । आर्यवृत्तः साधुचरितः पतिर्भर्ता त्वामकस्मादकारणात्कथं त्यजेत्, असम्भावितमित्यर्थः । इति संशयितेव सन्दिहानेव तावत्, त्यागहेतुज्ञानावधेः प्रागित्यर्थः । जननी क्षितिस्तस्यै सीतायै प्रवेशम्, आत्मनीति शेषः । न ददौ ॥ ५५ ॥

अन्वयः—इक्ष्वाकुवंशप्रभवः आर्यवृत्तः पतिः त्वां अकस्मात् कथं त्यजेत् इति संशयिता इव तावत् जननी क्षितिः तस्यै प्रवेशं न ददौ ॥ ५५ ॥

"इक्ष्वाकु कुल में जन्म लेने वाले उत्तम चरित्रवान् पति तुम्हें अकस्मात् कैसे त्याग सकते हैं" इस प्रकार मानो संशय करती हुयी पृथ्वी ने (त्याग करने का जबतक कारण नहीं जान लिया) तब तक अपने में प्रवेश नहीं करने दिया ॥ ५५ ॥

सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःखं प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः ।
तस्याः सुमित्राऽऽत्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः ॥ ५६ ॥

सेति । लुप्तसंज्ञा नष्टचेतना मूर्च्छिता सा दुःखं न विवेद । प्रत्यागतासुर्लब्धसंज्ञा सत्यन्तः समतप्यत, दुःखेनादह्यतेत्यर्थः । तपेः कर्मणि लङ् । कर्मकर्तरीति केचित् । तन्न । 'तपस्तपः कर्मकस्यैव' इति यङ्नियमात् । तस्याः सीतायाः सुमित्राऽऽत्मजयत्नलब्धः प्रबोधो मोहात्कष्टतरोऽतिदुःखदोऽभूत् । दुःखवेदनासम्भवादिति भावः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—लुप्तसंज्ञा सा दुःखं न विवेद प्रत्यागतासुः सती अन्तः समतप्यत तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धः प्रबोधः मोहात् कष्टतरः अभूत् ॥ ५६ ॥

मूर्च्छित हुयी सीता ने दुःख नहीं जाना, संज्ञालाभ हो जाने (चेतना आने) पर वह अन्तःकरण से संतप्त हुयी । सुमित्रानन्दन लक्ष्मण के प्रयत्न से प्राप्त प्रबोध उसके लिए मूर्च्छा से अधिक कष्टकर हुआ ॥ ५६ ॥

न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि ।
आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं पुनः पुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द ॥ ५७ ॥

नेति । आर्या साध्वी सा सीता वृजिनादृत एनसो विनाऽपि । 'कलुषं वृजिनैनोऽघम्' इत्यमरः । 'अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' इत्यनेन पञ्चमी । निराकरिष्णोर्निरासकस्य । 'अलंकृञ्निराकृञ' इत्यनेनेष्णुच्प्रत्ययः । भर्तुरवर्णमपवादं न चावदन्नैवावादीत् । किन्तु स्थिरदुःखभाजमत एव दुष्कृतिनमात्मानं पुनः पुनर्निनिन्द ॥ ५७ ॥

अन्वयः—आर्या वृजिनात् ऋते अपि निराकरिष्णोः भर्तुः अवर्णं न चावदत् किन्तु स्थिर दुःखभाजम् अतएव दुष्कृतिनं आत्मानं एव पुनः पुनः निनिन्द ॥ ५७ ॥

बिना अपराध के भी निकाल देने वाले पति की निन्दा साध्वी सीता ने नहीं की बल्कि स्थिर दुःख की पात्री अपनी पापी आत्मा को ही बार-बार कोसा ॥ ५७ ॥

आश्वास्य रामावरजः सतीं तामाख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः ।
निघ्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं देवि क्षमस्वेति बभूव नम्रः ॥ ५८ ॥

आश्वास्येति । रामावरजो लक्ष्मणः सतीं साध्वीं तामाश्वास्य आख्यात उपदिष्टो वाल्मीकेर्निकेतस्याश्रमस्य मार्गो येन स तथोक्तः सन् । निघ्नस्य पराधीनस्य । 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः । मे भर्तृनिदेशेन स्वाम्यनुज्ञया हेतुना यद्रौक्ष्यं पारुष्यं तद्धे देवि ! क्षमस्व इति नम्रः प्रणतो बभूव ॥ ५८ ॥

अन्वयः—रामावरजः सतीं तां आश्वास्य आख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः निघ्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं हे देवि ! क्षमस्व इति नम्रः बभूव ॥ ५८ ॥

रामानुज—लक्ष्मण जी सती सीता को आश्वासन देकर वाल्मीकि आश्रम में जाने वाले मार्ग को दिखाते हुए 'हे देवि ! स्वामी की आज्ञा के पराधीन मुझसे जो कठोरता हुयी उसे क्षमा करना'' यह कह कर विनम्र हो गए ॥ ५८ ॥

सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीताऽस्मि ते सौम्य चिराय जीव ।
बिडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्रात्रा यदित्थं परवानसि त्वम् ॥ ५९ ॥

सीतेति। सीता तं लक्ष्मणमुत्थाप्य वाक्यं जगाद। किमिति। हे सौम्य साधो ! ते प्रीताऽस्मि चिराय चिरंजीव। यद्यस्मात् विडौजसेन्द्रेण विष्णुरुपेन्द्र इव अग्रजेन ज्येष्ठेन भ्रात्रा त्वमित्थं परवान्परतन्त्रोऽसि ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सीता तं उत्थाप्य वाक्यं जगाद हे सौम्य ! ते प्रीता अस्मि चिराय जीव, यत् विडौजसा विष्णुः इव अग्रजेन भ्रात्रा त्वं इत्थ परवान् असि ॥ ५९ ॥

सीता ने उसे उठाकर कहा कि सौम्य ! मैं तुमसे प्रसन्न हूँ, तुम चिरञ्जीवी होवो क्योंकि तुम तो अपने अग्रज के उसी प्रकार पराधीन हो जिस प्रकार विष्णु अपने अग्रज इन्द्र के वशवर्ती हैं ॥ ५९ ॥

श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामः।
प्रजानिषेकं मयि वर्तमानं सूनोरनुध्यायत चेतसेति ॥ ६० ॥

श्वश्रूजनमिति। सर्वं श्वश्रूजनमनुक्रमेण प्रापितमत्प्रणामः सन्, मत्प्रणाममुक्त्वेत्यर्थः। विज्ञापय। किमिति। निषिच्यत इति निषेकः। मयि वर्तमानं सूनोस्त्वत्पुत्रस्य प्रजानिषेकं गर्भं चेतसाऽनुध्यायत शिवमस्त्विति चिन्तयतेति ॥ ६० ॥

अन्वयः— सर्वं श्वश्रूजनं अनुक्रमेण प्रापितमत्प्रणामः सन् विज्ञापय मयि वर्तमानं सूनोः प्रजानिषेकं चेतसा अनुध्यायत इति ॥ ६० ॥

सीता ने सभी सासुओं को यथायोग्य अपना प्रणाम कहने के बाद लक्ष्मण से यह कहने के लिए कहा कि मेरे उदर में आपके पुत्र राम का सन्तानबीज वर्तमान है, आप लोग हृदय से उसकी मङ्गलकामना करें ॥ ६० ॥

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥६१॥

वाच्य इति। स राजा त्वया मद्वचनान्मद्वचनमिति कृत्वा। ल्यब्लोपे पञ्चमी। वाच्यो वक्तव्यः। किमित्यत आह—'वह्नौ' इत्यादिभिः सप्तभिः श्लोकैः। अक्ष्णो समीपे समक्षम्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः सामीप्यार्थे वा। 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः। समक्षमग्रे वह्नौ विशुद्धामपि मां लोकवादस्य मिथ्याऽपवादस्य श्रवणाद्धेतोरहासीरत्याक्षीरिति

यत्तच्छ्रुतस्य प्रख्यातस्य कुलस्य सदृशं किम्! किन्त्वसदृशमित्यर्थः यद्वा श्रुतस्य श्रवणस्य चेति योजना। कामचार्यसीति भावः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—स राजा त्वया मद् वचनात् वाच्यः समक्षं वह्नौ विशुद्धां अपि मां लोकवादश्रवणात् अहासीः इति यत् तत् श्रुतस्य कुलस्य सदृशं किम् ॥ ६१ ॥

मेरे कहने से तुम उस राजा से पूछना कि अपने समक्ष अग्नि में विशुद्ध की गयी भी मुझे जो लोकापवाद सुनने से उन्होंने छोड़ दिया वह क्या लोक प्रसिद्ध रघुकुल के स्वरूपानुरूप है? अथवा शास्त्रसम्मत है? ॥ ६१ ॥

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः ॥ ६२ ॥

कल्याणेति। अथवा कल्याणबुद्धेः सुधियस्तव कर्तुः मयि विषयेऽयं त्यागो न कामचार इच्छया करणं न शङ्कनीयः, कामचारशङ्काऽपि न क्रियत इत्यर्थः। किन्तु ममैव जन्मान्तरपातकानामप्रसह्यो विपच्यत इति विपाकः फलं स एव विस्फूर्जथुरशनिनिर्घोषः। 'स्फुर्जथुर्वज्रनिर्घोषः' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—अथवा कल्याणबुद्धेः तव मयि अयं न कामचारः किन्तु मम एव जन्मान्तरपातकानां अप्रसह्यः विपाकविस्फूर्जथुः ॥ ६२ ॥

अथवा मेरे विषय में कल्याण बुद्धि वाले तुम्हारा यह स्वेच्छाचार शङ्का करने योग्य नहीं है किन्तु यह तो मेरे ही अन्य जन्म के पापों के परिणाम स्वरूप असह्य वज्रघोष है ॥ ६२ ॥

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः।
तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात्सोढाऽस्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥ ६३ ॥

उपस्थितामिति। पूर्वमुपस्थितां प्राप्तां लक्ष्मीमपास्य मया सार्धं वनं प्रपन्नोऽसि। प्राप्तोऽसि। तत्तस्मात्तया लक्ष्म्याऽतिरोषात्त्वद्भवनम् आस्पदं प्रतिष्ठाम्। 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः। प्राप्य वसन्त्यहं सोढा नास्मि ॥ ६३ ॥

अन्वयः—पूर्वं उपस्थितां लक्ष्मीं अपास्य मया सार्द्धं वनं प्रपन्नः असि तत् तया अतिरोषात् त्वद्भवने आस्पदं प्राप्य वसन्ती अहं सोढा न अस्मि ॥ ६३ ॥

इसके पहले उपस्थित राज्यलक्ष्मी को छोड़कर तुम मेरे साथ वन गए थे, इसी रोष के कारण उससे प्रतिष्ठा पाकर तुम्हारे घर में मेरा निवास करना सहा नहीं गया ॥ ६३ ॥

निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात्।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥ ६४ ॥

निशाचरेति। निशाचरैरुपप्लुताः पीडिता भर्तारो यासां ता निशाचरोपप्लुतभर्तृकाः। 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रत्ययः। तासां तपस्विनीनां भवतः प्रसादादनुग्रहाच्छरण्या शरणसमर्था भूत्वा। अद्य त्वयि दीप्यमाने प्रकाशमाने सत्येव शरणार्थमन्यं तपस्विनं कथं प्रपत्स्यामि ॥ ६४ ॥

अन्वयः—निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् शरण्या भूत्वा अद्य त्वयि दीप्यमाने अन्यं कथं प्रपत्स्ये ॥ ६४ ॥

आपके अनुग्रह से जिनके पति राक्षसों के द्वारा पीड़ित थे उन तपस्विनियों को शरण देने वाली होकर मैं आपके रहते हुए किस प्रकार किसी तपस्वी की शरण में जाऊँगी ? ॥ ६४ ॥

किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन्।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥ ६५ ॥

किं वेति। किं वाऽथवा तव सम्बन्धिनाऽत्यन्तेन पुनःप्राप्तिरहितेन वियोगेन मोघे निष्फलेऽस्मिन्हतजीविते तुच्छजीविते उपेक्षां कुर्यां कुर्यामेव। रक्षणीयं रक्षणार्हमन्तर्गतं कुक्षिस्थं त्वदीयं तेजः शुक्रं गर्भरूपम्। 'शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च' इत्यमरः। मे ममान्तरायो विघ्नो न स्याद्यदि ॥ ६५ ॥

अन्वयः—किं वा तव अत्यन्तवियोगमोघे अस्मिन् हतजीविते उपेक्षां कुर्यां रक्षणीयं अन्तर्गतं त्वदीयं तेजः अन्तरायः न स्यात् यदि ॥ ६५ ॥

अथवा यदि मेरे उदर में तुम्हारा रक्षा करने योग्य वीर्य विघ्नरूप में न होता तो मैं तुम्हारे अत्यन्त वियोग से (जिसमें पुनर्मिलन की सम्भावना नहीं है) निष्फल इस तुच्छ जीवन की उपेक्षा कर देती ॥ ६५ ॥

साऽहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥ ६६ ॥

सेति । साऽहं प्रसूतेरूर्ध्वं सूर्यनिविष्टदृष्टिः सती तथाविधं तपश्चरितु यतिष्ये, यथा भूयस्तेन तपसा मे मम जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता: स्याः विप्रयोगश्च न स्यात् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—सा अहं प्रसूतेः ऊर्ध्वं सूर्यनिविष्टदृष्टिः सती तपः चरितुं यतिष्ये यथा भूयः मम जन्मान्तरे अपि त्वमेव भर्ता स्याः विप्रयोगश्च न स्यात् ॥६६॥

वह मैं सीता प्रसूति के पश्चात् सूर्य की ओर दृष्टि लगाती हुयी तपश्चरण का प्रयास करूँगी जिससे पुनः जन्मान्तर होने पर भी तुम ही मेरे प्राणेश्वर होओ और इस प्रकार वियोग न हो ॥ ६६ ॥

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।
निर्वासिताऽप्येवमतस्त्वयाऽहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥ ६७ ॥

नृपस्येति । वर्णानां ब्राह्मणादीनामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां च पालनं यत्स एव नृपस्य धर्मो मनुना प्रणीत उक्तः । अतः कारणादेवं त्वया निर्वासिता निष्कासिताऽप्यहं तपस्विभिः सामान्यं साधारणं यथा भवति तथाऽवेक्षणीया । कलत्रदृष्ट्यभावेऽपि वर्णाश्रमदृष्टिः सीतायां कर्तव्येत्यर्थः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—वर्णाश्रमपालनं यत् स एव नृपस्य धर्मः मनुना प्रणीतः अतएव त्वया निर्वासिता अपि अहं तपस्विसामान्यं अवेक्षणीया ॥ ६७ ॥

मनु ने जो ब्राह्मणादि चारों वर्णों और ब्रह्मचर्यादि चारो आश्रमों का पालन करना राजा का धर्म बतलाया है, अतएव इस प्रकार निकाली गयी भी मैं सामान्य तपस्विनी के रूप में तुम्हारे द्वारा रक्षा करने योग्य हूँ ॥ ६७ ॥

तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते ।
सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः ॥ ६८ ॥

तथेतीति । तथेति तस्याः सीताया वाचं प्रतिगृह्याङ्गीकृत्य रामानुजे लक्ष्मणे दृष्टिपथं व्यतीतेऽतिक्रान्ते सति सा सीता व्यसनातिभाराद् दुःखातिरेकान्मुक्तकण्ठं यथा स्यात्तथा वाग्वृत्त्येत्यर्थः । विग्ना भीता कुररीवोत्क्रोशीव । 'उत्क्रोशकुररौ समौ' इत्यमरः । भूयो भूयिष्ठं चक्रन्द चुक्रोश ॥ ६८ ॥

अन्वयः—तथा इति तस्याः वाचं प्रतिगृह्य रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते सति सा व्यसनातिभारात् मुक्तकण्ठं विग्ना कुररी इव भूयः चक्रन्द ॥ ६८ ॥

उसके वचन को स्वीकार कर 'अच्छा ठीक है वैसा ही होगा अर्थात् मैं आपकी बात राजा राम से कह दूँगा। इस प्रकार कहकर लक्ष्मण के आँखों से ओझल होते ही वह सीता अत्यन्त दुःख के बोझ से भयभीत कुररी के समान उन्मुक्त कण्ठ से करुण-क्रन्दन करने लगी ॥ ६८ ॥

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि ॥ ६९ ॥

नृत्यमिति। मयूरा नृत्यं विजहुस्त्यक्तवन्तः। वृक्षाः कुसुमानि। हरिण्य उपात्तान्दर्भान् इत्थं तस्याः सीतायाः समदुःखभावं प्रपन्ने तुल्यदुःखत्वं प्राप्ते वनेऽप्यत्यन्तं रुदितमासीत्। यथा रामगेहेऽपीत्यपिशब्दार्थः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—मयूराः नृत्यं विजहुः वृक्षाः कुसुमानि हरिण्यः उपात्तान् दर्भान् इत्थं तस्याः सम दुःखभागं प्रपन्ने वने अपि अत्यन्तं रुदितं आसीत् ॥ ६९ ॥

उस सीता के समान वेदना प्राप्त वन में भी (घर की ही भाँति) बड़ी रुलाई हो रही थी। मयूरों ने नाचना छोड़ दिया, वृक्षों ने पुष्पाश्रुओं की वर्षा की, और मृगों ने तो मुँह में लिए कुश के कौर को भी उगल दिया ॥ ६९ ॥

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ ७० ॥

तामिति। कुशेध्माहरणाय यातः कविर्वाल्मीकी रुदितानुसारी संस्तां सीतामभ्यगच्छत्। अभिगमनं च दयालुतयेत्याह—निषादेति। निषादेन व्याधेन विद्धस्याण्डजस्य क्रौञ्चस्य दर्शनोत्थ उत्पन्नो यस्य शोकः श्लोकत्वमापद्यत; श्लोकरूपेणावोचदित्यर्थः। स च श्लोकः पठ्यते—'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥' इति। तिरश्चा-मपि दुःखं न सेहे किमुतान्येषामिति भावः ॥ ७० ॥

अन्वयः—कुशेध्माहरणाय यातः कविः रुदितानुसारी तां अभ्यगच्छत् यस्य निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः शोकः श्लोकत्वं आपद्यत ॥ ७० ॥

व्याध से आहत पक्षी को देखने से उत्पन्न जिसका शोक श्लोक के रूप में प्रकट हो गया था वह आदि कवि वाल्मीकि कुश और समिधा लाने के लिए गए हुए थे; वे उस रुदन का अनुसरण करते हुए सीता के पास पहुँचे।

[जो सामान्य पक्षी के दुःख से इतने करुणार्द्र हो सकते हैं कि हृदय का शोक श्लोक बनकर बहिर्भूत हो तो साध्वी मानवी का करुण-क्रन्दन सुनकर वे कैसे करुणापूरित नहीं होते।] ॥ ७० ॥

तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता ववन्दे।
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच ॥ ७१ ॥

तमिति। सीता विलापाद्विरता सती नेत्रावरणं दृष्टिप्रतिबन्धकमश्रु प्रमृज्य तं मुनिं ववन्दे। दोहदलिङ्गदर्शी गर्भचिह्नदर्शी मुनिस्तस्यै सीतायै सुपुत्राशिषं तत्प्राप्तिहेतुभूतां दाश्वान्दत्तवानिति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच। 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' इति क्वस्वन्तो निपातः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—सीता विलापात् विरता सती नेत्रावरणं अश्रु प्रमृज्य तं ववन्दे दोहदलिङ्गदर्शी मुनिः तस्यै सुपुत्राशिषं दाश्वान् इति उवाच ॥ ७१ ॥

विलाप से विरत सीता ने आँखों को आच्छन्न किए हुए आँसुओं को पोंछ कर उस मुनि की वन्दना की। गर्भ के लक्षण को देखने वाले मुनि ने सीता को सुपुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया और यह कहा—॥ ७१ ॥

जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्याऽपवादक्षुभितेन भर्त्रा।
तन्मा व्यथिष्ठा विषयान्तरस्थं प्राप्ताऽसि वैदेहि पितुर्निकेतम् ॥ ७२ ॥

जान इति। त्वां मिथ्याऽपवादेन क्षुभितेन भर्त्रा विसृष्टां त्यक्तां प्रणिधानतः समाधिदृष्ट्या जाने। हे वैदेहि! विषयान्तरस्थं देशान्तरस्थं पितुर्जनकस्यैव निकेतं गृहं प्राप्ताऽसि। तत्तस्मान्मा व्यथिष्टा मा शोचीः। व्यथेर्लुङ्। 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः। भर्त्रोपेक्षितानां पितृगृहे वास एवोचित इति भावः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—त्वां मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा विसृष्टां प्रणिधानतः जाने। हे वैदेहि! विषयान्तरस्थं पितुः निकेतं प्राप्ता असि तत् मा व्यथिष्ठाः ॥ ७२ ॥

मैं ध्यान-बल से यह जान गया हूँ कि तुम मिथ्या अपवाद से क्षुब्ध पति के द्वारा त्याग दी गयी हो। हे विदेहराज जनक की पुत्री! अन्य देश में स्थित पिता के ही घर में पहुँची हो इसलिए शोक मत करो ॥ ७२ ॥

उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि ।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे ॥ ७३ ॥

उत्खातेति। उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि। रावणादिकण्टकोद्धरणेन सर्वलोकोपकारिण्यपीत्यर्थः। सत्यप्रतिज्ञे सत्यसन्धेऽपि अविकत्थनेऽनात्मश्लाघिन्यपि इत्थं स्नेहपात्रेऽपि त्वां प्रत्यकस्मादकारणात्कलुषप्रवृत्तौ गर्हितव्यापारे भरताग्रजे मे मन्युः कोपोऽस्त्येव। सर्वगुणाच्छादकोऽयं दोष इत्यर्थः। सीताऽनुनयार्थोऽयं रामोपालम्भः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—उत्खातलोकत्रयकण्टके अपि सत्यप्रतिज्ञे अपि अविकत्थने अपि त्वां प्रति अकस्मात् कलुषप्रवृत्तौ भरताग्रजे मे मन्युः ॥ ७३ ॥

त्रैलोक्य का काँटा उखाड़ देने पर भी, सत्यप्रतिज्ञा करने पर भी, तुम्हारे प्रति अकस्मात् गर्हित व्यवहार करने पर मुझे भरत के बड़े भाई राम पर क्रोध तो आता ही है। (मुनि ने सीता के अनुनय के लिए इस प्रकार राम को उपालम्भ दिया) ॥ ७३ ॥

तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।
धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या ॥ ७४ ॥

तवेति। उरुकीर्तिस्तव श्वसुरो दशरथो मे सखा। ते पिता जनकः सतां विदुषां भवोच्छेदकरो ज्ञानोपदेशादिना संसारदुःखध्वंसकारी। त्वं पतिदेवतानां पतिव्रतानां धुर्यग्रे स्थिता। येन निमित्तेन ममानुकम्पाऽनुग्राह्या नासि तत्किम्। न किञ्चिदित्यर्थः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—उरुकीर्तिः तव श्वसुरः मे जनकः सतां भयोच्छेदकरः त्वं पतिदेवतायां धुरि स्थिता येन मम अनुकम्प्या न असि तत् किम् ॥ ७४ ॥

महान् यशस्वी तुम्हारे श्वसुर दशरथ मेरे सखा थे, तुम्हारे पिता जनक ज्ञान-दान द्वारा सज्जनों का भव-बन्धन काटने वाले हैं, तुम स्वयं पति को

देवता मानने वाली पतिव्रता स्त्रियों में अग्रगण्या हो। तो ऐसा कौन-सा कारण है जिससे तुम मेरी कृपा की पात्र बनने योग्य नहीं हो ?

अर्थात् ये सभी कारण एक साथ उपस्थित हैं जिनसे मैं तुम्हारे ऊपर अनुकम्पा करने के लिए बाध्य हूँ तो फिर तुम क्यों चिन्ता करती हो? ॥७४॥

तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन्।
इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते ॥ ७५ ॥

तपस्वीति। तपस्विसंसर्गेण विनीतसत्त्वे शान्तजन्तुकेऽस्मिंस्तपोवने वीतभया निर्भीका वस। इतोऽस्मिन्वनेऽनघप्रसूतेः सुखप्रसूतेऽपत्यसंस्कारमयो जातकर्मादिरूपो विधिरनुष्ठानं भविष्यति ॥ ७५ ॥

अन्वयः—तपस्विसंसर्गविनीतसत्वे अस्मिन् तपोवने वीतभया वस इतः अनघप्रसूतेः ते अपत्यसंस्कारमयः विधिः भविष्यति ॥ ७५ ॥

तुम तपस्वियों के सम्पर्क से विनम्र प्राणियों वाले इस तपोवन में निर्भय होकर निवास करो। यहीं निर्विघ्न होकर सुखपूर्वक पुत्र को जन्म देने वाली तुम्हारी सन्तान की मेरी ओर से जातकर्म संस्कार की विधि सम्पन्न होगी ॥ ७५ ॥

अशून्यतीरां मुनिसन्निवेशैस्तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य।
तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः सम्पत्स्यते ते मनसः प्रसादः ॥ ७६ ॥

अशून्येति। सन्निविशन्ते येष्विति सन्निवेशा उटजाः। अधिकरणार्थे घञ्प्रत्ययः। मुनीनां सन्निवेशैरुटजैरशून्यतीरां पूर्णतीरां तमसः शोकस्य पापस्य वा हन्त्रीम्। 'तमस्तु क्लीबे पापे नरकशोकयोः' इत्यमरः। तमसां नदीं वगाह्य तत्र स्नात्वा। बलिक्रियाऽपेक्षया पूर्वकालता। तस्याः सैकतोत्सङ्गेषु बलिक्रियाभिरिष्टदेवतापूजाविधिभिस्ते मनसः प्रसादः सम्पत्स्यते भविष्यति ॥७६॥

अन्वयः—मुनिसन्निवेशैः अशून्यतीरां तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य तत्सैकतोत्संगबलिक्रियाभिः ते मनसः प्रसादः सम्पत्स्यते ॥ ७६ ॥

मुनियों के सन्निवेश से परिपूर्ण तटवाली शोक या पाप का विनाश करनेवाली तमसा में स्नान कर उसके सिकतामय तटों पर अभीष्ट देवताओं की पूजाविधि द्वारा तुम्हारे मन की प्रसन्नता सम्पन्न होगी ॥ ७६ ॥

पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि।
विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम् ॥ ७७ ॥

पुष्पमिति। ऋतुरस्य प्राप्त आर्तवम्, स्वकालप्राप्तमित्यर्थः। पुष्पं फलं च अकृष्टरोह्यकृष्टक्षेत्रोत्थम्, अकृष्टपच्यमित्यर्थः। बलये हितं बालेयं पूजायोग्यम्। 'छदिरुपधिबलेर्ढञ्' इति ढञ्प्रत्ययः। बीजं नीवारादि धान्यं चाहरन्त्य उदारवाचः प्रगल्भगिरो मुनिकन्यका नवाभिषङ्गां नूतनदुःखां त्वां विनोदयिष्यन्ति ॥ ७७ ॥

अन्वयः—आर्तवं पुष्पं फलं च अकृष्टरोहि बालेयं बीजं च आहरन्त्यः उदारवाचः मुनिकन्यकाः नवाभिषङ्गां त्वां विनोदयिष्यन्ति ॥ ७७ ॥

ऋतु-सलभ पुष्प-फल और बिना जोती भूमि में उत्पन्न पूजोपयोगी बीज—नीवार आदि धान्य लाकर देनेवाली मृदु-भाषिणी मुनि-कुमारियाँ इस अभिनव पीड़ा से युक्त तुम्हारे साथ मनो-विनोद करेंगी ॥ ७७ ॥

पयोघटैराश्रमबालवृक्षान् संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः।
असंशयं प्राक तनयोपपत्तेः स्तनन्धयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥ ७८ ॥

पय इति। स्वबलानुरूपैः स्वशक्त्यनुसारिभिः पयसामम्भसां घटैः स्तन्यैरिति च ध्वन्यते। आश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती त्वं तनयोपपत्तेः प्राक्पूर्वमसंशयं यथा तथा। स्तनं धयति पिबतीति स्तनन्धयः शिशुः। 'नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः' इति खश्प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषजन्तस्य मुम्' इत्यनेन मुमागमः। तस्मिन्या प्रीतिस्तामवाप्स्यसि। ततः परं सुलभ एव विनोद इति भावः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—स्वबलानुरूपैः पयोघटैः आश्रमबालवृक्षान् सम्बर्धयन्ती त्वं तनयोपपत्तेः प्राक् असंशयं स्तनन्धयप्रीतिं अवाप्स्यसि ॥ ७८ ॥

अपने बल के अनुरूप जल भरे घड़ों के द्वारा आश्रम के छोटे-छोटे पौधों को संवर्धित करती हुई निःसन्देह तुम पुत्रोत्पत्ति के पूर्व ही स्तनपायी शिशु का स्नेह प्राप्त कर लोगी ॥ ७८ ॥

अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां वाल्मीकिरादाय दयाऽऽर्द्रचेताः।
सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय ॥ ७९ ॥

अनुग्रहेति । दयाऽऽर्द्रचेता वाल्मीकिः अनुग्रहं प्रत्यभिनन्दतीति तथोक्तां तां सीतामादाय सायं मृगैरध्यासितवेदिपार्श्वमधिष्ठितवेदिप्रान्तं शान्तमृगं स्वमाश्रमं निनाय ॥ ७९ ॥

अन्वयः—दयाऽऽर्द्रचेताः वाल्मीकिः अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां आदाय-सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं शान्तमृगं स्वं आश्रमं निनाय ॥ ७९ ॥

इस अनुग्रह का अभिनन्दन करने वाली उस सीता को दया से आर्द्र चित्त वाले वाल्मीकि मुनि अपने उस परम शान्त आश्रम में लाये जहाँ सन्ध्या काल में मृग वेदियों के निकट बैठे थे और मृगादि पशु शान्त थे ॥ ७९ ॥

तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु ।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु ॥ ८० ॥

तामिति । शोकदीनां तां सीतां तस्याः सीताया आगमेन प्रीतिर्यासां तासु तापसीषु । पितृभिरग्निष्वात्तादिभिर्निर्विष्टसारां भुक्तसारां हिमांशोरन्त्यामवशिष्टां कलां दर्शोऽमावास्याकाल ओषधीष्विव । अर्पयामास च । अत्र पराशरः—'पिबन्ति विमलं सोमं विशिष्टा तस्य या कला । सुधामृतमयीं पुण्यां तामिन्दोः पितरो मुने' ॥ इति । व्यासश्च—अमायां तु सदा सोम ओषधी प्रतिपद्यते' इति ॥ ८० ॥

अन्वयः—शोकदीनां तां तदागमप्रीतिषु तापसीषु पितृभिः निर्विष्टसारां हिमांशोः अन्त्यां कलां दर्शः औषधीषु इव अर्पयामास ॥ ८० ॥

जिस प्रकार अग्निष्वात्त आदि पितरों के द्वारा उपयुक्त सारवाली चन्द्रमा की अन्तिम कला को अमावस्या औषधियों के ऊपर सौंप देती है; उसी प्रकार शोक से दीन उस सीता को वाल्मीकि ने उसके आगमन पर प्रसन्न तापसियों के ऊपर सौंप दिया ॥ ८० ॥

ता इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
तस्यै सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः ॥ ८१ ॥

ता इति । तास्तापस्यस्तस्यै सीतायै सपर्याऽनुपदं पूजाऽनन्तरं दिनान्ते सायङ्काले निवास एव हेतुस्तस्य निवासहेतोः, निवासार्थमित्यर्थः । 'षष्ठी हेतु-

प्रयोगे' इति षष्ठी। 'इङ्गुदी तापसतरुः इत्यमरः। इङ्गुदीस्नेहेन कृतप्रदीपम्, अन्तरास्तीर्णं मेध्यं शुद्धमजिनमेव तल्पं शय्या यस्मिस्तमुटजं पर्णशालां वितेरुर्ददुः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—ताः तस्यैः सपर्यानुपदं दिनान्ते निवासहेतोः इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपं अन्तः आस्तीर्णमेध्याजिनतल्पं उटजं वितेरुः ॥ ८१ ॥

उन तपस्विनियों ने दिन की समाप्ति हो जाने पर पूजा करने के बाद सीता को रहने के लिए ऐसी पर्णशाला दी जिसमें इंगुदी के तेल के दीपक जल रहे थे और अन्दर पवित्र मृगचर्म की शय्या बिछायी हुयी थी ॥ ८१ ॥

तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनाऽतिथिभ्यः।
वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासन्ततये बभार ॥ ८२ ॥

तत्रेति। तत्राश्रमेऽभिषेकेण स्नानेन प्रयता नियता वसन्ती विधिना शास्त्रेणातिथिभ्यः प्रयुक्तपूजा कृतसत्कारा वल्कलिनी सा सीता पत्युः प्रजासन्ततये सन्तानाविच्छेदाय हेतोः। वन्येन कन्दमूलादिना शरीरं बभार पुपोष ॥ ८२ ॥

अन्वयः—तत्र अभिषेकप्रयता वसन्ती विधिना अतिथिभ्यः प्रयुक्तपूजा वल्कलिनी सा पत्युः प्रजासन्ततये वन्येन शरीरं बभार ॥ ८२ ॥

वहाँ उस आश्रम में स्नान के द्वारा नियमित निवास करती हुयी विधिपूर्वक अतिथियों का सत्कार करने वाली वल्कलधारिणी सीता ने पति की सन्तति-परम्परा को अविच्छिन्न बनाये रखने के लिए वन में उत्पन्न कन्द-मूल फलादि से शरीर-पोषण किया ॥ ८२ ॥

अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता।
शशंस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥ ८३ ॥

अपीति। प्रभू राजाऽधुनाऽपि सानुशयः सानुतापः स्यात्किम्। इति काकुः। उत्सुकः शक्रजित इन्द्रजितो हन्ता लक्ष्मणोऽपि सीतापरिदेवनान्तं सीताविलापान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय शशंस कथयामास ॥ ८३ ॥

अन्वयः—प्रभुः अधुना अपि सानुशयः स्यात् किं उत्सुकः शक्रजितः हन्ता लक्ष्मणः अपि सीतापरिदेवनान्तं अनुष्ठितं शासनं अग्रजाय शशंस ॥ ८३ ॥

अब भी स्वामी राम (सीता का विलापपूर्ण सन्देश सुनकर) संताप युक्त होंगे क्या ? इस उत्सुकता से युक्त इन्द्र को भी जीतने वाले मेघनाद के हननकर्ता लक्ष्मण ने सीता के विलाप तक अनुष्ठित सन्देश का बड़े भाई श्री-राम से निवेदन किया ॥ ८३ ॥

बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ ८४ ॥

बभूवेति । सहसा सपदि सबाष्पो रामः । तुषारवर्षी सहस्यचन्द्रः पौषेन्दुरिव बभूव । अत्यश्रुतया तुषारवर्षिणा पौषचन्द्रेण तुल्योऽभूत् । 'पौषे तैषसहस्यौ द्वौ' इत्यमरः । युक्तं चैतदित्याह—कौलीनाल्लोकापवादात् । 'स्यात्कौलीनं लोकवादे' इत्यमरः । भीतेन तेन रामेण वैदेहसुता सीता गृहान्निरस्ता । मनस्तो मनसश्चित्तान्न निरस्ता । पञ्चम्यास्तसिल् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—सहसा सबाष्पः रामः तुषारवर्षी सहस्य चन्द्रः इव बभूव, कौलीनभीतेन तेन वैदेह सुता गृहात् निरस्ता मनस्तः न ॥ ८४ ॥

सहसा राम पौष मास के तुषारवर्षी चन्दमा के समान अश्रुपात करने करने लगे क्योंकि उन्होंने लोकनिन्दा के भय से सीता का निष्कासन घर से किया था न कि मन से । मन से तो सीता की पवित्रता जानते ही थे ॥ ८४ ॥

निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः ।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥ ८५ ॥

निगृह्येति । धीमान्वर्णानामाश्रमाणां चावेक्षणेऽनुसन्धाने जागरूकोऽप्रमत्तः । 'जागरूकः' इत्यूकप्रत्ययः । रजोरिक्तमना रजोगुणशून्यचेतः स रामः स्वयमेव शोकं निगृह्य निरुध्य भ्रातृभिः साधारणभोगम्, शरीरस्थितिमात्रोपयुक्त-मित्यर्थः । ऋद्धं समृद्धं राज्यं शशास ॥ ८५ ॥

अन्वयः—धीमान् वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः रजोरिक्तमनाः स स्वयमेव शोकं निगृह्य भ्रातृसाधारणभोगं ऋद्धं राज्यं शशास ॥ ८५ ॥

बुद्धिमान् और वर्णाश्रम धर्म के पालन में जागरूक श्रीराम ने स्वयं ही शोक को नियन्त्रित कर भाइयों के समान साधारण भोग से सम्पन्न साम्राज्य का रजोगुणरहित हो सात्विक मन से प्रशासन चलाया ॥ ८५ ॥

तामेकभार्यां परिवादभीरोः साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य ।
वक्षस्यसङ्घट्टसुखं वसन्ती रेजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मीः ॥ ८६ ॥

तामिति । परिवादभीरोर्निन्दाभीरोरत एवैकभार्यामपि साध्वीमपि तां सीतां त्यक्तवतो नृपस्य रामचन्द्रस्य वक्षस्यसङ्घट्टसुखमसम्भाव्यसुखं वसन्ती लक्ष्मीः सपत्नीरहितेव रेजे दिदीपे । तस्य स्त्र्यन्तरपरिग्रहो नाभूदिति भावः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—परिवादभीरोः एकभार्यां साध्वीं अपि तां त्यक्तवतः नृपस्य वक्षसि असंघट्टसुखं वसन्ती लक्ष्मीः सपत्नीरहिता इव रेजे ॥ ८६ ॥

लोकनिन्दा से डरने वाले होने के कारण उस एकमात्र पतिव्रता पत्नी का भी परित्याग कर देने वाले राजा राम के हृदय में अवर्णनीय सुख का अनुभव करती हुई निवास करने वाली राज्यलक्ष्मी सपत्नीरहित की तरह सुशोभित हुयी ॥ ८६ ॥

सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार ।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुः
सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे ॥ ८७ ॥

सीतामिति । दशमुखरिपू रामः सीतां हित्वा त्यक्त्वाऽन्यां स्त्रियं नोपयेमे न परिणीतवानिति यावत् । 'उपाद्यमः स्वकरणे' इत्यात्मनेपदम् । किञ्च । तस्याः सीताया एव प्रतिकृतेः प्रतिमाया हिरण्मय्याः सखा प्रतिकृतिसखः सन् क्रतूनाजहाराहृतवानिति । 'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्' इति धर्मशास्त्रात् । यत्तेन श्रवणविषयप्रापिणा श्रोत्रदेशगामिना भर्तुर्वृत्तान्तेन वार्तया हेतुना सा सीता दुर्वारं दुर्निरोधं परित्यागेन यद् दुःखं तत्कथमपि विषेहे विसोढवती ॥ ८७ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये सीतापरित्यागो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

अन्वयः—दशमुखरिपुः सीतां हित्वा अन्यां न उपयेमे यत् तस्या एव प्रतिकृतिसखः क्रतून् आजहार इति तत् तेन श्रवणविषयप्रापिणा भर्तुः वृत्तान्तेन सा दुर्वारं परित्यागदुःखं कथमपि विषेहे ॥ ८७ ॥

चूँकि दशानन-रावण को मारने वाले राम ने सीता परित्याग कर अन्य किसी स्त्री के साथ विवाह नहीं किया और उसी की प्रतिकृति के समान सुवर्ण प्रतिमा वाली सीता को अर्धाङ्गिनी बनाकर यज्ञ किए इसीलिए भर्ता के इस वृतान्त के कर्णगोचर होने के कारण सीता ने परित्याग जन्य दुःसह्य दुःख को भी किसी प्रकार सह लिया ।। ८७ ।।

इस प्रकार महाकवि कालिदासकृत रघुवंश महाकाव्य के चतुर्दश सर्ग की 'श्रीहरि प्रिया' टीका समाप्त हुई ।।



पञ्चदशः सर्गः

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम् ।
बुभुजे पृथवीपालः पृथिवीमेव केवलाम् ।। १ ।।

आरण्यक-गृहस्थानां श्वशुरो यद्रजःकणाः ।
स्वयमौद्वाहिकं गेहं तस्मै रामाय ते नमः ।।

कृतेति । कृतसीतापरित्यागः स पृथिवीपालो रामो रत्नाकर एव मेखला यस्यास्ताम्, सार्णवामित्यर्थः । केवलाम् एकामित्यर्थः । पृथिवीमेव बुभुजे भुक्तवान्, न तु पार्थिवीमित्यर्थः । साऽपि रत्नखचितमेखला । पृथिव्याः कान्तासमाधिर्व्यज्यते । रामस्य स्त्र्यन्तरपरिग्रहो नास्तीति श्लोकाभिप्रायः ।। १ ।।

अन्वयः—कृतसीतापरित्यागः सः पृथ्वीपालः रत्नाकरमेखलां केवलां पृथिवीमेव बुभुजे ।। १ ।।

सीता का परित्याग करने वाले उस भूपाल राम ने समुद्ररूपी मेखला वाली केवल पृथ्वी का ही उपभोग किया ।। १ ।।

लवणेन विलुप्तेज्यास्तामिस्रेण तमभ्ययुः ।
मुनयो यमुनाभाजः शरण्यं शरणार्थिनः ॥ २ ॥

लवणेनेति । लवणेन लवणाख्येन तामिस्रेण तमिस्राचारिणा, रक्षसेत्यर्थः । विलुप्तेज्या लुप्तयागक्रिया अत एव शरणार्थिनो यमुनाभाजो यमुनातीरवासिनो मुनयः शरण्यं शरणार्हं रक्षणसमर्थं तं रामं रक्षितारमभ्ययुः प्राप्ताः । यातेर्लङ् ॥ २ ॥

अन्वयः—लवणेन तामिस्रेण विलुप्तेज्याः शरणार्थिनः यमुनाभाजः मुनयः शरण्यं तं अभ्ययुः ॥ २ ॥

लवणासुर के द्वारा विलुप्त यज्ञ क्रिया वाले यमुनातटवासी शरणार्थी मुनि शरणागत रक्षक उस राम के पास पहुँचे ॥ २ ॥

अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन्न प्रजह्रुः स्वतेजसा ।
त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ॥ ३ ॥

अवेक्ष्येति । ते मुनयो राममवेक्ष्य । रक्षितारमिति शेषः । तस्मिल्लवणे स्वतेजसा शापरूपेण न प्रजह्रुः । तथा हि, त्रायते इति त्राणं रक्षकम् । कर्तरि ल्युट् । तदभावे शाप एवास्त्रं येषां ते शापास्त्राः सन्तस्तपसो व्ययं कुर्वन्ति । शापदानात्तपसो व्यय इति प्रसिद्धेः ॥ ३ ॥

अन्वयः—ते रामं अवेक्ष्य तस्मिन् स्वतेजसा न प्रजह्रुः हि त्राणाभावे शापास्त्राः सन्तः तपसः व्ययं कुर्वन्ति ॥ ३ ॥

उन्होंने राम को रक्षक देखकर अपने तपोबल के तेज से उस राक्षस लवण पर प्रहार नहीं किया; क्योंकि रक्षक के अभाव में ही शापरूपी अस्त्र धारण करने वाले तपस्वी अपना तपोबल नष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

प्रतिशुश्राव काकुत्स्थस्तेभ्यो विघ्नप्रतिक्रियाम् ।
धर्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः ॥ ४ ॥

प्रतीति । काकुत्स्थो रामस्तेभ्यो मुनिभ्यो विघ्नप्रतिक्रियां लवणवधरूपां प्रतिशुश्राव प्रतिजज्ञे । 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता' इत्यनेन चतुर्थी । तथा हि भुवि शार्ङ्गिणः विष्णोः प्रवृत्ती रामरूपेणावतरणं धर्मसंरक्षणमेवार्थः प्रयोजनं यस्याः सा तथैव ॥ ४ ॥

अन्वयः—काकुत्स्थः तेभ्यः विघ्नप्रतिक्रियां प्रतिशुश्राव भुवि शार्ङ्गिणः प्रवृत्तिः धर्मसंरक्षणार्था एव ॥ ४ ॥

काकुत्स्थ राम ने उन मुनियों से विघ्न के प्रतिकार करने की प्रतिज्ञा की; क्योंकि शार्ङ्गधन्वा विष्णु का भूमि पर अवतरण धर्म की सुरक्षा के लिए ही होता है ॥ ४ ॥

ते रामाय वधोपायमाचख्युर्विबुधद्विषः ।
दुर्जयो लवणः शूली विशूलः प्रार्थ्यतामिति ॥ ५ ॥

त इति । ते मुनयो रामाय बिवुधद्विषः सुरारेर्लवणस्य वधोपायमाचख्युः । लुनातीति लवणः । नन्द्यादित्वाल्ल्युः । तत्रैव निपातनाण्णत्वम् । लवणः शूली शूलवान्दुर्जयोऽजेयः । किन्तु विशूलः शूलरहितः प्रार्थ्यतामभिगम्यताम् । 'याच्ञायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः' इति केशवः ॥ ५ ॥

अन्वयः—ते रामाय विवुधद्विषः बधोपायं आचख्युः लवणः शूली दुर्जयः किन्तु विशूलः प्रार्थ्यताम् ॥ ५ ॥

उन्होंने ने देवद्रोही उस राक्षस के वध का उपाय रामको बताया और कहा कि जब तक वह शूलधारी है तबतक उसे जीतना कठिन है अतः जब वह शूल रहित हो तब उसके ऊपर आक्रमण किया जाय ॥ ५ ॥

आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघवः ।
करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात् ॥ ६ ॥

आदिदेशेति । अथ तेषां मुनीनां क्षेमाय क्षेमकरणाय राघवो रामः शत्रुघ्नमादिदेश । अत्रोत्प्रेक्षते—अस्य शत्रुघ्नस्य नामारिनिग्रहाच्छत्रुहननाद्धेतोः । यथाभूतोऽर्थो यस्य तद्यथार्थं करिष्यन्निव । शत्रून्हन्तीति शत्रुघ्नः । 'अमनुष्यकर्तृके च'इति चकारात्कृतघ्नशत्रुघ्नादयः सिद्धा इति दुर्गसिंहः । पाणिनीयेऽपि बहुलग्रहणाद्यथेष्टसिद्धिः । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इति ॥ ६ ॥

अन्वयः—अथ तेषां क्षेमाय राघवः शत्रुघ्नं आदिदेश अस्य नाम अरिनिग्रहात् यथार्थं करिष्यन् इव ॥ ६ ॥

इसके बाद उन मुनियों का कल्याण करने के लिए राघव ने शत्रुघ्न को आदेश दिया । मानो उन्होंने शत्रुओं के निग्रह-दण्ड द्वारा उसका 'शत्रुघ्न' यह नाम सार्थक करनेके समान ही उसे आदेश दिया ॥ ६ ॥

रामस्य स्वयमप्रयाणे हेतुमाह—

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥ ७ ॥

य इति। हि यस्मात् पराञ्छत्रूंस्तापयतीति परन्तपः। 'द्विषत्परयोस्तापेः' इति खच्प्रत्ययः। 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वः। रघूणां मध्ये यः कश्चनैकः अपवादो विशेषशास्त्रमुत्सर्गं सामान्यशास्त्रमिव परं शत्रु व्यावर्तयितुं बाधितुमीश्वरः समर्थः। अतः शत्रुघ्नमेवादिदेशेति पूर्वेणान्वयः ॥ ७ ॥

अन्वयः—हि परन्तपः रघूणां यः कश्चन एक अपवादः उत्सर्गं इव परं व्यावर्तयितुं ईश्वरः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार विशेषशास्त्र सामान्यशास्त्र को बाधित करने में सक्षम होता है उसी प्रकार रघुकुल में कोई भी अकेले ही शत्रु को पराजित करने के लिए पर्याप्त है ॥ ८ ॥

अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्ततो दाशरथी रथी।
ययौ वनस्थलीः पश्यन्पुष्पिताः सुरभीरभीः ॥ ८ ॥

अग्रजेनेति। ततोऽग्रजेन रामेण प्रयुक्ताशीः कृताशीर्वादो रथी रथिकोऽभीर्निर्भीको दाशरथिः पुष्पाणि सञ्जातानि यासां ताः पुष्पिताः सुरभीरामोदमानाः वनस्थलीः पश्यन् ययौ ॥ ८ ॥

अन्वयः—ततः अग्रजेन प्रयुक्ताशीः रथी अभीः दाशरथिः पुष्पिताः सुरभीः वनस्थलीः पश्यन् ययौ ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् अग्रज से आशीर्वाद प्राप्त कर दशरथ पुत्र शत्रुघ्न रथारूढ़ होकर निर्भय हो पुष्पों से परिपूर्ण सुगन्धित वनस्थली को देखते हुए चल पड़े ॥ ८ ॥

रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत् ॥ ९ ॥

रामेति। रामादेशादनुगता सेना तस्य शत्रुघ्नस्य। अध्ययनमर्थोऽभिधेयो यस्य तस्य। धातोः 'इङ् अध्ययने' इत्यस्य धातोः पश्चादधिरध्युपसर्ग इव।

अर्थसिद्धये प्रयोजनसाधनायेत्येकत्र । अन्यत्राभिधेयसाधनाय अभवत् । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । यथा 'इङिकावध्युपसर्गं न व्यभिचरतः' इति न्यायेनाध्युपसर्गः स्वयमेवार्थसाधकस्य धातोः सन्निधिमात्रेणोपकरोति सेनाऽपि तस्य तद्वदिति भावः ॥ ९ ॥

अन्वयः—रामादेशात् अनुगता सेना तस्य अध्ययनार्थस्य धातोः पश्चात् अधिः इव अर्थ सिद्धये अभवत् ॥ ९ ॥

राम के आदेश से उसके पीछे चलने वाली सेना उसकी अर्थसिद्धि के लिए उसी प्रकार हुयी जैसे अध्ययन अर्थ के "इङ्" धातु के पश्चात् 'अधि' उपसर्ग । तात्पर्य यह है कि इङ् धातु का स्वतः अध्ययन अर्थ होता है फिर भी प्रयोजन सिद्धि के लिए उसके साथ 'अधि' उपसर्ग लगा दिया जाता है । उससे किसी विशेष अर्थ की सिद्धि नहीं होती । इसी प्रकार शत्रुघ्न स्वयं शत्रु को पराजित करने रूप अर्थ की सिद्धि के लिए यथार्थनामाधरी हैं; उनके पीछे चलने वाली सेना से किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि नहीं हुयी ।

अथवा जैसे अध्ययनार्थक 'इङ्' धातु का 'अधि' उपसर्ग पीछा नहीं छोड़ता उसी प्रकार सेना ने 'शत्रुघ्न' का स्वतः शत्रुहनन में समर्थ होने पर भी पीछा नहीं छोड़ा ॥ ९ ॥

आदिष्टवर्त्मा मुनिभिः स गच्छंस्तपतां वरः ।
विरराज रथप्रष्ठैर्बालखिल्यैरिवांशुमान् ॥ १० ॥

आदिष्टेति । रथप्रष्ठै रथाग्रगामिभिः । 'प्रष्ठोऽग्रगामिनि' इति निपातः । मुनिभिः पूर्वोक्तैरादिष्टवर्त्मा निर्दिष्टमार्गो गच्छंस्तपतां देदीप्यमानानां मध्ये वरः श्रेष्ठः स शत्रुघ्नः । बालखिल्यैर्मुनिभिरंशुमान्सूर्य इव विरराज । तेऽपि रथप्रष्ठा इत्यनुसन्धेयम् ॥ १० ॥

अन्वयः—रथप्रष्ठैः मुनिभिः आदिष्टवर्त्मा गच्छन् तपतां वरः सः बालखिल्यैः अंशुमान् इव विरराज ॥ १० ॥

जैसे रथ के आगे-आगे जानेवाले बालखिल्य मुनियों से सूर्य विराजमान होता है उसी प्रकार रथाग्रगामी मुनियों से मार्ग निर्देशन प्राप्त तेजस्वियों में श्रेष्ठ शत्रुघ्न जाते हुए सुशोभित हुए ॥ १० ॥

तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः।
रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने ॥ ११ ॥

तस्येति । यतो गच्छतः । इण्धातोः शतृप्रत्ययः । तस्य शत्रुघ्नस्य मार्गवशाद्रथस्वन उत्कण्ठा उद्ग्रीवा मृगा यस्मिंस्तस्मिन्वाल्मीकीये वाल्मीकिसम्बन्धिनि । 'वृद्धाच्छः' इति छप्रत्ययः । तपोवन एका वसती रात्रिर्बभूव । तत्रैकां रात्रिमुषित इत्यर्थः । 'वसती रात्रिवेश्मनोः' इत्यमरः ॥ ११ ॥

अन्वयः—यतः तस्य मार्गवशात् रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने एका वसतिः बभूव ॥ ११ ॥

उस शत्रुघ्न का जाते हुए मार्ग में पड़ने के कारण रथ की ध्वनि से उत्कण्ठित मृगों से युक्त वाल्मीकि आश्रम में एक रात्रि का निवास हुआ। शत्रुघ्न एक रात बाल्मीकि आश्रम में रुके ॥ ११ ॥

तमृषिः पूजयामास कुमारं क्लान्तवाहनम् ।
तपःप्रभावसिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिः ॥ १२ ॥

तमिति । क्लान्तवाहनं श्रान्तयुग्यं तं कुमारं शत्रुघ्नमृषिर्वाल्मीकिस्तपःप्रभावसिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिरुत्कृष्टसम्भावनाभिः आसनशयनपानादिभिः पूजयामास ॥ १२ ॥

अन्वयः—क्लान्तवाहनं तं कुमारं ऋषिः तपः प्रभावसिद्धाभिः विशेषप्रतिपत्तिभिः पूजयामास ॥ १२ ॥

थके हुए घोड़ों वाले उस कुमार शत्रुघ्न की वाल्मीकि मुनि ने तपस्या के प्रभाव से सिद्ध विशेष उत्कृष्ट आसन-शयन-पान की सामग्री द्वारा अतिथि पूजा की ॥ १२ ॥

तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजावती ।
सुतावसूत सम्पन्नौ कोशदण्डाविव क्षितिः ॥ १३ ॥

तस्यामिति । तस्यामेव यामिन्यां रात्रावस्य शत्रुघ्नस्य । अन्तरस्या अस्तीत्यन्तर्वत्नी गर्भिणी । 'अन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः । 'अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्' इति ङीप् नुगागमश्च । प्रजावती भ्रातृजाया सीता । क्षितिः सम्पन्नौ समग्रौ कोशदण्डाविव सुतावसूत ॥ १३ ॥

अन्वयः—तस्यां एव यामिन्यां अस्य अन्तर्वत्नी प्रजावती क्षितिः सम्पन्नौ कोशदण्डौ इव सुतौ असूत ॥ १३ ॥

उसी रात में शत्रुघ्न की गर्भवती भाभी सीता ने पृथ्वी के समान कोष और दण्ड से सम्पन्न दो पुत्रों को जन्म दिया ॥ १३ ॥

सन्तानश्रवणाद्भ्रातुः सौमित्रिः सौमनस्यवान् ।
प्राञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्य प्रातर्युक्तरथो ययौ ॥ १४ ॥

सन्तानेति। भ्रातुर्ज्येष्ठस्य सन्तानश्रवणाद्धेतोः सौमनस्यवान्प्रीतिमान्सौमित्रिः शत्रुघ्नः प्रातर्युक्तरथः सज्जरथः सन् । प्राञ्जलिः कृताञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्यापृच्छ्य ययौ ॥ १४ ॥

अन्वयः—भ्रातुः सन्तानश्रवणात् सौमनस्यवान् सौमित्रिः प्रातः युक्तरथः सन् प्राञ्जलिः मुनिं आमन्त्र्य ययौ ॥ १४ ॥

अग्रज श्री राम को पुत्र उत्पन्न हुआ—यह सुनकर सुमित्रानन्दन शत्रुघ्न प्रसन्न हुए और प्रातःकाल हाथ जोड़कर मुनि से पूँछकर सुसज्जित रथ जोत कर प्रस्थान किये ॥ १४ ॥

स च प्राप मधूपघ्नं कुम्भीनस्याश्च कुक्षिजः ।
वनात्करमिवादाय सत्त्वराशिमुपस्थितः ॥ १५ ॥

स इति । स शत्रुघ्नश्च मधूपघ्नं नाम लवणपुरं प्राप । कुम्भीनसी नाम रावणस्वसा तस्याः कुक्षिजः पुत्रो लवणश्च वनात्करं बलिमिव सत्त्वानां प्राणिनां राशिमादायोपस्थितः प्राप्तः ॥ १५ ॥

अन्वयः—स च मधूपघ्नं प्राप कुम्भीनस्याः कुक्षिजः च वनात् करं इव सत्त्वराशिं आदाय उपस्थितः ॥ १५ ॥

वे रावण की बहन कुम्भीनसी के औरस पुत्र लवणासुर के 'मधूपघ्न' नगर में पहुँचे; जहाँ वह राक्षस वन से उपहारस्वरूप जीवों की राशि लेकर उपस्थित हुआ ॥ १५ ॥

धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालाबभ्रुशिरोरुहः ।
क्रव्याद्गणपरीवारश्चिताग्निरिव जङ्गमः ॥ १६ ॥

धूमेति । किम्भूतो लवणः । धूम इव धूम्रः कृष्णलोहितवर्णः । 'धूम्रधूमलौ कृष्णः लोहिते' इत्यमरः । वसागन्धी हृन्मेदोगन्धः, सोऽस्यास्तीति वसागन्धी । 'हृन्मेदस्तु वपा वसा' इत्यमरः । ज्वाला इव बभ्रवः पिशङ्गाः शिरोरुहाः केशा यस्य स तथोक्तः । 'विपुले नकुले विष्णौ बभ्रुः स्यात्पिङ्गले त्रिषु' इत्यमरः । क्रव्यं मांसमदन्तीति क्रव्यादो राक्षसाः, तेषां गण एव परीवारो यस्य स तथोक्तः । अत एव जङ्गमश्चरिष्णुश्चिताऽग्निरिव स्थितः । कृशानुपक्षे—धूमैर्धूम्रवर्णः । ज्वाला एव शिरोरुहाः । क्रव्यादो गृध्रादयः इत्यनुसन्धेयम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—धूमधूम्रः वसागन्धी ज्वालाबभ्रुशिरोरुहः क्रव्याद्गणपरीवारः अतएव जंगमः चिताग्निः इव स्थितः ॥ १६ ॥

वह राक्षस चलती-फिरती चिताग्नि के ही समान था। धुएँ के समान काला-लाल उसका वर्ण था। वह चर्बी के समान गन्धा रहा था। अग्नि की लपट के समान उसके मस्तक के बाल भूरे-भूरे से थे। वह कच्चा मांस खाने-वाले राक्षस-गणों से घिरा हुआ था ॥ १६ ॥

अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः।
रुरोध सम्मुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम् ॥ १७ ॥

अपशूलमिति । लक्ष्मणानुजः शत्रुघ्नोऽपशूलं शूलरहितं लवणमासाद्य रुरोध । तथा हि, रन्ध्रप्रहारिणां रन्ध्रप्रहरणशीलानाम् । अपशूलतैवात्र रन्ध्रम्। जयः सम्मुखीनो हि सम्मुखस्य दर्शनो हि । 'यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः' इति खप्रत्ययः । अधिकारलक्षणार्थस्तु दुर्लभ एव ॥ १७ ॥

अन्वयः—लक्ष्मणानुजः अपशूलं तं लवणं आसाद्य रुरोध हि रन्ध्रप्रहारिणां जयः सम्मुखीनः ॥ १७ ॥

लक्ष्मण के अनुज शत्रुघ्न ने उस लवणासुर को शूल रहित पाकर घेर लिया क्योंकि शस्त्रादि अभावमय छिद्रों से दुर्बल दशा में प्रहार करने वालों की विजय श्री सम्मुख रहती है ॥ १७ ॥

नातिपर्याप्तमालक्ष्य मत्कुक्षेरद्य भोजनम्।
दिष्ट्या त्वमसि मे धात्रा भीतेनेवोपपादितः ॥ १८ ॥

इति सन्तर्ज्य शत्रुघ्नं राक्षसस्तज्जिघांसया।
प्रांशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्बमिव द्रुमम् ॥ १९ ॥

नातीत्यादि। युग्मम्। राक्षसो लवणः। अद्य मत्कुक्षेः। भुज्यत इति भोजनम्। भोज्यं मृगादिकं नातिपर्याप्तमनतिसमग्रमालक्ष्य दृष्ट्वा भीतेनेव धात्रा दिष्ट्या भाग्येन मे त्वमुपपादितः कल्पितोऽसि। इति शत्रुघ्नं सन्तर्ज्य तस्य शत्रुघ्नस्य जिघांसया हन्तुमिच्छया प्रांशुमुन्नतं द्रुमम्। मुस्तास्तम्बमिव अक्लेशेनोत्पाटयामास ॥ १८–१९ ॥

अन्वयः—अद्य मत्कुक्षेः भोजनं नातिपर्याप्तं आलक्ष्य भीतेन इव धात्रा दिष्ट्या मे त्वं उपपादितः असि ॥ १८ ॥

अन्वयः—इति शत्रुघ्नं सन्तर्ज्य तज्जिघांसया प्रांशुं द्रुमं मुस्तास्तम्बं इव राक्षसः उत्पाटयामास ॥ १९ ॥

आज मेरे पेट के लिए अपर्याप्त भोजन देखकर मानो भयभीत ब्रह्मा ने सौभाग्यवश तुम्हें मेरे पास पहुँचा दिया है। इस प्रकार शत्रुघ्न को धमका कर उसे मारने की इच्छा से उस राक्षस ने एक विशाल वृक्ष मोथे की डंटी के समान अत्यन्त सरलतापूर्वक उखाड़ लिया ॥ १८–१९ ॥

सौमित्रेर्निशितैर्बाणैरन्तरा शकलीकृतः।
गात्रं पुष्परजः प्राप न शाखी नैर्ऋतेरितः ॥ २० ॥

सौमित्रेरिति। नैर्ऋतेरितो रक्षःप्रेरितः शाख्यन्तरा मध्ये निशितैर्बाणैः शकलीकृतसन्सौमित्रेः शत्रुघ्नस्य गात्रं न प्राप। किन्तु पुष्परजः प्राप ॥ २० ॥

अन्वयः—नैर्ऋतेरितः शाखी अन्तरा निशितैः बाणैः शकलीकृतः सौमित्रेः गात्रं न प्राप किन्तु पुष्परजः प्राप ॥ २० ॥

उस लवणासुर के द्वारा फेंका गया महावृक्ष शत्रुघ्न के तीक्ष्ण बाणों से बीच में ही खण्ड-खण्ड हो गया अतः वृक्ष तो शत्रुघ्न तक नहीं पहुँच सका हाँ उसका पुष्परज अवश्य उसके शरीर में जाकर लग गया ॥ २० ॥

विनाशात्तस्य वृक्षस्य रक्षस्तस्मै महोपलम्।
प्रजिघाय कृतान्तस्य मुष्टिं पृथगिव स्थितम् ॥ २१ ॥

विनाशादिति। रक्षो लवणस्तस्य वृक्षस्य विनाशाद्धेतोः। महोपलं महान्तं पाषाणम् पृथक् स्थितं कृतान्तस्य यमस्य मुष्टिमिव। मुष्टिशब्दो द्विलिङ्गः। तस्मै शत्रुघ्नाय प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ २१ ॥

अन्वयः—रक्षः तस्य विनाशात् महोपलं पृथक् स्थितं कृतान्तस्य मुष्टिं इव तस्मै प्रजिघाय ॥ २१ ॥

'लवणासुर ने उस वृक्ष के विनष्ट हो जाने के कारण यमराज की मुट्ठी के समान अलग स्थित विशाल पत्थर से शत्रुघ्न पर प्रहार किया ॥ २१ ॥

ऐन्द्रमस्त्रमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताडितः।
सिकतात्वादपि परां प्रपेदे परमाणुताम् ॥ २२ ॥

ऐन्द्रमिति। स महोपलः शत्रुघ्नेनैन्द्रमिन्द्रदेवताकमस्त्रमुपादाय ताडितोऽपि हताः सन्। सिकतात्वात्सिकताभावादपि परां परमाणुतां प्रपेदे। यतोऽणुर्नास्ति स परमाणुरित्याहुः ॥ २२ ॥

अन्वयः—सः शत्रुघ्नेन ऐन्द्रं अस्त्रं उपादाय ताडितः सन् सिकतात्वात् अपि परां परमाणुतां प्रपेदे ॥ २२ ॥

शत्रुघ्न ने ऐन्द्र अस्त्र लेकर उस पाषाण को बालू के कण से भी परम परमाणु बना दिया ॥ २२ ॥

तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दोर्निशाचरः।
एकताल इवोत्पातपवनप्रेरितो गिरिः ॥ २३ ॥

तमिति। निशाचरो राक्षसो दक्षिणं दोः 'ककुद्दोषणी' इति भगवतो भाष्यकारस्य प्रयोगाद्दोषशब्दस्य नपुंसकत्वं द्रष्टव्यम्। 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इति पुंलिङ्गसाहचर्यात्पुंस्त्वं च। तथा च प्रयोगः—'दोषं तस्य तथाविधस्य भजतः' इति। सव्येतरं बाहुमुद्यम्य एकस्तालस्तदाख्यवृक्षो यस्मिन्स एकतालः। उत्पातपवनेन प्रेरितो गिरिरिव। तं शत्रुघ्नमुपाद्रवदभिद्रुतः ॥ २३ ॥

अन्वयः—निशाचरः दक्षिणं दोः उद्यम्य एकतालः उत्पातप्रेरितः गिरिः इव तं उपाद्रवत् ॥ २३ ॥

तब वह राक्षस दाहिना हाथ ऊपर उठाकर शत्रुघ्न पर इस प्रकार टूट

पड़ा मानो प्रलयकालीन प्रभञ्जन से प्रेरित एक ताड़वृक्षधारी पर्वत हो ।। २३ ।।

कार्ष्णेन पत्त्रिणा शत्रुः स भिन्नहृदयः पतन् ।
आनिनाय भुवः कम्पं जहाराश्रमवासिनाम् ।। २४ ।।

कार्ष्णेनेति । सः शत्रुर्लवणः । कार्ष्णेन वैष्णवेन पत्त्रिणा बाणेन । उक्तं च रामायणे—'एवमेष प्रजनितो विष्णोस्तेजोमयः शरः' इति । 'विष्णुर्नारायणः कृष्ण' इत्यमरः । भिन्नहृदयः पतन्भुवः कम्पमानिनायानीतवान्, देहभारादित्यर्थः आश्रमवासिनां कम्पं जहार । तन्नाशादकुतोभया बभूवुरित्यर्थः ।। २४ ।।

अन्वयः—सः शत्रुः कार्ष्णेन पत्त्रिणा भिन्नहृदयः पतन् भुवः कम्पं आनिनाय, आश्रमवासिनां कम्पं जहार ।। २४ ।।

विष्णु के बाण से विदीर्ण हृदय वाले उस शत्रु राक्षस ने गिरते हुए भूकम्प ला दिया (उसके गिरने से पृथ्वी धमाके के साथ काँपने लगी) किन्तु आश्रमवासियों के कम्पन को उसने दूर कर दिया ।। २४ ।।

वयसां पङ्क्तयः पेतुर्हतस्योपरि विद्विषः ।
तत्प्रतिद्वन्द्विनो मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमवृष्टयः ।। २५ ।।

वयसामिति । हतस्य विद्वेष्टीति विद्विट् तस्य विद्विषो राक्षसस्योपरि वयसां पक्षिणां पङ्क्तयः पेतुः । तत्प्रतिद्वन्द्विनः शत्रुघ्नस्य मूर्ध्नि तु दिव्याः कुसुमवृष्टयः पेतुः ।। २५ ।।

अन्वयः—हतस्य विद्विषः उपरि वयसां पङ्क्तयः पेतुः तत्प्रतिद्वन्द्विनः मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमवृष्टयः पेतुः ।। २५ ।।

उस मृत शत्रु लवणासुर पर पक्षियों के झुण्ड टूट पड़े और उसके प्रतिद्वन्द्वी शत्रुघ्न के मस्तक पर दिव्य पुष्पों की वर्षा हुयी ।। २५ ।।

स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसः ।
भ्रातुः सोदर्यमात्मानमिन्द्रजिद्वधशोभिनः ।। २६ ।।

स इति । स वीरः शत्रुघ्नो लवणं हत्वा तदाऽऽत्मानं महौजसो महाबलस्येन्द्रजिद्वधेन शोभिनो भ्रातुर्लक्ष्मणस्य समानोदरे शयितं सोदर्यमेकोदरं मेने । 'सोदराद्यः' इति यप्रत्ययः ।। २६ ।।

अन्वयः—सः वीरः लवणं हत्वा तदा आत्मानं महौजसः इन्द्रजिद् बध-शोभिनः भ्रातुः सोदर्यं मेने ॥ २६ ॥

उस समय उस वीर शत्रुघ्न ने लवणासुर को मारकर अपने को इन्द्र-विजयी मेघनाद को भी मार कर शोभा पाने वाले महा पराक्रमी भाई लक्ष्मण का सहोदर समझा ॥ २६ ॥

तस्य संस्तूयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः ।
शुशुभे विक्रमोदग्रं व्रीडयाऽवनतं शिरः ॥ २७ ॥

तस्येति । चरितार्थैः कृतार्थैः कृतकार्यैस्तपस्विभिः संस्तूयमानस्य तस्य शत्रुघ्नस्य विक्रमेणोदग्रमुन्नतं व्रीडया लज्जयाऽवनतं नम्रं शिरः शुशुभे । विक्रान्तस्य लज्जैव भूषणमिति भावः ॥ २७ ॥

अन्वयः—चरितार्थैः तपस्विभिः संस्तूयमानस्य तस्य विक्रमोदग्रं व्रीडया अवनतं शिरः शुशुभे ॥ २७ ॥

कृतार्थ हुए तपस्वियों द्वारा प्रशंसित शत्रुघ्न का पराक्रम से उन्नत मस्तक (आत्म-प्रशंसा सुनने से) लज्जा के कारण अवनत हो सुशोभित हुआ ॥ २७ ।

उपकूलं स कालिन्द्याः पुरीं पौरुषभूषणः ।
निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मधुरां मधुराकृतिः ॥ २८ ॥

उपकूलमिति । पौरुषभूषणः । अर्थेषु विषयेषु निर्ममो निःस्पृहः । मधुराकृतिः सौम्यरूपः स शत्रुघ्नः कालिन्द्या यमुनाया उपकूलं कूले । विभक्त्यर्थेऽव्ययी भावः । मधुरां नाम पुरीं निर्ममे निर्मितवान् ॥ २८ ॥

अन्वयः—पौरुषभूषणः अर्थेषु निर्ममः मधुराकृतिः कालिन्द्याः उपकूलं मधुरां पुरीं निर्ममे ॥ २८ ॥

विषयों में स्पृहारहित, पुरुषार्थ को ही आभूषण बनाने-वाले तथा मधुर आकृति वाले उस शत्रुघ्न ने यमुना के तट पर मधुरा (मथुरा) नाम की पुरी बसायी ॥ २८ ॥

या सौराज्यप्रकाशाभिर्बभौ पौरविभूतिभिः ।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशिता ॥ २९ ॥

येति । या पूः । शत्रुघ्नः शोभनो राजा यस्याः पुरः सा सुराज्ञी, सुराज्ञ्या भावः सौराज्यम् । तेन प्रकाशाभिः प्रकाशमानाभिः पौराणां विभूतिभिरैश्वर्यैः । स्वर्गस्याभिष्यन्दोऽतिरिक्तजनः तस्य वमनमाहरणं कृत्वोपनिवेशितोपस्थापितेव बभौ । अत्र कौटिल्यः—'भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशप्रवाहेण स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्' इति ।। २९ ।।

अन्वयः—या सौराज्य-प्रकाशाभिः पौरविभूतिभिः स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वा उपनिवेशिता इव बभौ ।। २९ ।।

सुन्दर राजा मिल जाने के कारण प्रकाशमान नागरिकों की विभूति से वह नगरी इस प्रकार सुशोभित हुयी मानो स्वर्ग के अतिरिक्त लोगों को लाकर वहाँ बसा दिया गया हो ।। २९ ।।

तत्र सौधगतः पश्यन्यमुनां चक्रवाकिनीम् ।
हेमभक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमिव पिप्रिये ।। ३० ।।

तत्रेति । तत्र मधुरायां सौधगतो हर्म्यारूढः स चक्रवाकिनीं चक्रवाकवतीं यमुनाम् । हेमभक्तिमतीं सुवर्णरचनावतीं भूमेः प्रवेणीं वेणीमिव । 'वेणिः प्रवेणी' इत्यमरः पश्यन्पिप्रिये प्रीतः । 'प्रीङ् प्रीणने' इति धातोर्दैवादिकाल्लिट् ।। ३० ।।

अन्वयः—तत्र सौधगतः सः चक्रवाकिनीं यमुनां हेमभक्तिमतीं भूमेः त्रिवेणीं इव पश्यन् पिप्रिये ।। ३० ।।

वहाँ एक महल पर चढ़कर वे चक्रवाकी पक्षी से युक्त यमुना को सुवर्णमयी फुन्दों वाली पृथ्वी का वेणी के समान देखते हुए बड़े प्रसन्न हुए ।। ३० ।।

सम्प्रति रामसन्तानवृत्तान्तमाह—

सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत् ।
सञ्चस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि ।। ३१ ।।

सखेति । दशरथस्य जनकस्य च सखा मन्त्रकृन्मन्त्रद्रष्टा स वाल्मीकिरपि । 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' इति क्विप् । उभयोर्दशरथजनकयोः प्रीत्या स्नेहेन मैथिलेयौ मैथीलीपुत्रौ यथाविधि यथाशास्त्रं सञ्चस्कार संस्कृतवान् । जातकर्मादिभिरिति शेषः ।। ३१ ।।

अन्वयः—दशरथस्य जनकस्य च सखा मंत्रकृत् सः अपि उभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि सञ्चस्कार ॥ ३१ ॥

मन्त्रद्रष्टा ऋषि बाल्मीकि ने दशरथ और जनक के भी मित्र होने के कारण दोनों के प्रेमभाव से विधिपूर्वक मैथिली-सीता के पुत्रों का जातकर्म आदि संस्कार सम्पन्न किये ॥ ३१ ॥

स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया।
कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥ ३२ ॥

स इति। स कविर्वाल्मीकिः कुशैर्दर्भैर्लवैर्गोपुच्छलोमभिः। 'लवो लवण-किञ्जल्कपक्ष्मगोपुच्छलोमसु' इति वैजयन्ती। उन्मृष्टो गर्भक्लेदो गर्भोपद्रवो ययोस्तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ मैथिलेयौ तेषां कुशानां च लवानां चाख्यया नामतो नाम्ना यथासंख्यं कुशलवावेव चकार किल। कुशोन्मृष्टः कुशः। लवोन्मृष्टो लवः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—सः कविः कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तौ तदाख्यया नामतः कुशलवौ एव चकार किल ॥ ३२ ॥

वाल्मीकि ऋषि ने सीता के दोनों पुत्रों का नाम क्रमशः कुश और लव रक्खा क्योंकि उन्होंने उनके जन्म-काल में सीता की प्रसव पीड़ा आश्रम सुलभ कुश और लव (गाय की पूँछ के बाल) से दूर की थी ॥ ३२ ॥

साङ्गं च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ।
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥ ३३ ॥

साङ्गमिति। किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवावतिक्रान्तबाल्यौ तौ साङ्गं च वेदमध्याप्य कवीनां प्रथमपद्धतिम्, कविताबीजमित्यर्थः। स्वकृतिं काव्यं रामायणाख्यं गापयामास। गापयतेर्लिट्, शब्दकर्मकत्वात् 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ-शब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' इत्यनेन द्विकर्मकत्वम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—किञ्चित् उत्क्रान्तशैशवौ तौ साङ्गं च वेदं अध्याप्य कविप्रथमपद्धतिं स्वकृतिं गापयामास ॥ ३३ ॥

(जातकर्म एवं नामकरण संस्कार के बाद) जब उन दोनों बालकों का शैशव कुछ-कुछ समाप्त होने लगा अर्थात् जब वे कुछ बड़े हो गए तो वेदों

और उनके ६ अङ्गों (शिक्षा–कल्प–व्याकरण–निरुक्त–ज्योतिष और छन्द) की शिक्षा देकर उनसे कवियों की प्रथम पद्धति (कविता के बीजस्वरूप) अपनी रचना आदि काव्य वाल्मीकीय रायायण का गान करवाया ॥ ३३ ॥

रामस्य मधुरं वृत्तं गायन्तौ मातुरग्रतः ।
तद्वियोगव्यथां किञ्चिच्छिथिलीचक्रतुः सुतौ ॥ ३४ ॥

रामस्येति । तौ सुतौ रामस्य वृत्तं मातुरग्रतो मधुरं गायन्तौ तद्वियोगव्यथां रामविरहवेदनां किञ्चिच्छिथिलीचक्रतुः लघूकृतवन्तौ ॥ ३४ ॥

अन्वयः—सुतौ रामस्य वृत्तं मातुः अग्रतः मधुरं गायन्तौ तद्वियोगव्यथां किञ्चित् शिथिलीचक्रतुः ॥ ३४ ॥

उन दोनों बालकों ने माता के आगे राम के मधुर चरित्र को गाते हुए उन (राम) के वियोग की व्यथा कुछ-कुछ दूर कर दी । अपने पुत्रोंके मुख से रामचरित सुनकर सीता का वियोग–दुःख कुछ कम हो गया ॥ ३४ ॥

इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्रयस्त्रेताऽग्नितेजसः ।
तद्योगात्पतिवत्नीषु पत्नीष्वासन् द्विसूनवः ॥ ३५ ॥

इतरेऽपीति । रघोर्वंश्या वंशे भवाः । त्रेतेत्यग्नयस्त्रेताऽग्नयः । तेषां तेज इव तेजो येषां ते त्रेताऽग्नितेजसः । इतरे रामादन्ये त्रयो भरतादयोऽपि तद्योगात्तेषां योगाद्भरतादिसम्बन्धात्पतिवत्नीषु भर्तृमतीषु जीवत्पतिकासु, ख्यातिमतीष्वित्यर्थः । 'पतिवत्नी सभर्तृका' इत्यमरः । 'अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्' इति ङीप्प्रत्ययो नुगागमश्च । पत्नीषु द्विसूनव आसन् । द्वौ द्वौ सूनू येषां ते द्विसूनव इति विग्रहः । क्वचित्संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवत् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—रघोः वंश्याः त्रेताग्नितेजसः इतरे त्रयः तद्योगात् पतिवत्नीषु द्विसूनवः आसन् ॥ ३५ ॥

त्रेताग्नियों के तेज के समान तेजस्वी अन्य रघुवंशी भरत-लक्ष्मण और शत्रुघ्न ने भी अपनी पत्नियों के संयोग से उनमें दो-दो पुत्र उत्पन्न किए ॥३५॥

शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते ।
मधुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुकः ॥ ३६ ॥

शत्रिवति । पूर्वजोत्सुको ज्येष्ठप्रियः शत्रुघ्नो बहुश्रुते शत्रुघातिनि सुबाहौ च तन्नामकयोः सून्वोर्मधुरा च विदिशा च ते नगर्यौ निदधे । निधाय गत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—पूर्वजोत्सुकः शत्रुघ्नः बहुश्रुते शत्रुघातिनि सुबाहौ च सून्वोः मधुराविदिशे च निदधे ॥ ३६ ॥

अपने अग्रजों से मिलने के लिए उत्सुक शत्रुघ्न ने अपने विद्वान् पुत्र-शत्रुघाती पर मधुरा का और सुबाहु पर विदिशा का राज्यभार सौंप दिया ॥ ३६ ॥

भूयस्तपोव्ययो मा भूद्वाल्मीकेरिति सोऽत्यगात् ।
मैथिलीतनयोद्गीतनिःस्पन्दमृगमाश्रमम् ॥ ३७ ॥

भूय इति । स शत्रुघ्नो मैथिलीतनययोः कुशलवयोरुद्गीतेन निःस्पन्दमृगं गीतप्रियतया निश्चलहरिणं वाल्मीकेराश्रमम् । भूयः पुनरपि तपोव्ययः संवि-धानकरणार्थं तपोहानिर्मा भूदिति हेतोः अत्यगात् । अतिक्रम्य गत इत्यर्थः ॥३७॥

अन्वयः—सः मैथिलीतनयोद्गीतनिःस्पंदमृगं वाल्मीकेः आश्रमम् भूयः तपोव्ययः माभूत इति अत्यगात् ॥ ३७ ॥

वे (शत्रुघ्न) सीता के दोनों पुत्रों कुश और लव के सुन्दर गीत से मुग्ध शान्त मृगों वाले महर्षि बाल्मीकि के आश्रम में पुनः लौटते समय उनकी तपस्या में हानि न हो इसलिए नहीं गए ॥ ३७ ॥

वशी विवेश चायोध्यां रथ्यासंस्कारशोभिनीम् ।
लवणस्य वधात्पौरैरीक्षितोऽत्यन्तगौरवम् ॥ ३८ ॥

वशीति । वशी स लवणस्य वधाद्धेतोः पौरैः पौरजनैरत्यन्तं गौरवं यस्मि-न्कर्मणि तत्तथेक्षितः सन् । रथ्यासंस्कारैस्तोरणादिभिः शोभते या तामयोध्यां विवेश च ॥ ३८ ॥

अन्वयः—वशी लवणस्य वधात् पौरैः अत्यन्तगौरवं ईक्षितः सन् रथ्या-संस्कारशोभिनीं अयोध्यां विवेश च ॥ ३८ ॥

जितेन्द्रिय शत्रुघ्न ने उस अयोध्या में प्रवेश किया जहाँ की सड़कें वन्दन-

वार आदि से सजाई गई थीं तथा नगर निवासी उन्हें लवणासुर का वध करने के कारण अत्यन्त गौरव के साथ देख रहे थे ।। ३८ ।।

स ददर्श सभामध्ये सभासद्भिरुपस्थितम् ।
रामं सीतापरित्यागादसामान्यपतिं भुवः ।। ३९ ।।

स इति । स शत्रुघ्नः सभामध्ये सभासद्भिः सभायां सीदन्ति ते तैः सभ्यै-रुपस्थितं सेवितं सीतापरित्यागाद्भुवोऽसामान्यपतिमसाधारणपतिं रामं ददर्श ।। ३९ ।।

अन्वयः—सः सभामध्ये सभासद्भिः उपस्थितं सीतापरित्यागात् भुवः असामान्यपतिं रामं ददर्श ।। ३९ ।।

उन्होंने राजसभा में सभासदों के साथ विराजमान राम को सीता का परित्याग कर देने से पृथ्वी के ही साधारण पति के रूप में देखा ।। ३९ ।।

तमभ्यनन्दत्प्रणतं लवणान्तकमग्रजः ।
कालनेमिवधात्प्रीतस्तुराषाडिव शार्ङ्गिणम् ।। ४० ।।

तमिति । अग्रजो रामो लवणस्यान्तकं हन्तारं प्रणतं तं शत्रुघ्नम् । काल-नेमिर्नाम राक्षसः तस्य वधात्प्रीतः । तुरां वेगं सहत इति तुराषाडिन्द्रः । 'छन्दसि सहः' इति ण्विः । यद्वा सहतेर्णिचि कृते साहयतेः क्विप् । 'अन्येषामपि दृश्यते' इति पूर्वपदस्य दीर्घः । 'सहेः साडः स' इति षत्वम् । शार्ङ्गिणमुपेन्द्रमिव अभ्यनन्दत् ।। ४० ।।

अन्वयः—अग्रजः लवणान्तकं प्रणतं तं कालनेमिवधात् प्रीतः तुराषाड् शार्ङ्गिणं इव अभ्यनन्दत् ।। ४० ।।

अग्रज राम ने लवणासुर का अन्त करने वाले प्रणाम करने के लिए विनम्र हुए भाई शत्रुघ्न का उसी प्रकार अभिनन्दन किया जैसे कालनेमि के वध से प्रसन्न इन्द्र ने विष्णु का अभिनन्दन किया था ।। ४० ।।

स पृष्टः सर्वतोवार्तमाख्यद्राज्ञे न सन्ततिम् ।
प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात् ।। ४१ ।।

स इति । स शत्रुघ्नः पृष्टः सन् । सर्वतो वार्तं कुशलं राज्ञे रामायाख्यदाख्यातवान् । चक्षिङो लुङ् । 'चक्षिङः ख्याञ्' इति ख्याञादेशः । 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इत्यङ् । 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपः । ख्यातेर्वा लुङ् । सन्तर्ति कुशलवोत्पत्ति नाख्यत् । कुतः कालेऽवसरे प्रत्यर्पयिष्यत आद्यस्य कवेर्वाल्मीकेः शासनात् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—सः पृष्टः सन् सर्वतः वार्तं राज्ञे आख्यत्, काले प्रत्यर्पयिष्यतः आद्यस्य कवेः शासनात् सन्तर्ति न आख्यत् ॥ ४१ ॥

कुशल-समाचार पूछने पर उन्होंने राजा राम को सब कुछ तो बता दिया किन्तु आदि कवि वाल्मीकि के इस आदेश से कि "समय आने पर मैं स्वयं इन्हें अर्पित करूँगा आप इसके विषय में कुछ चर्चा न करना" कुश और लव के जन्म के विषय में कुछ नहीं कहा ॥ ४१ ॥

अथ जानपदो विप्रः शिशुमप्राप्तयौवनम् ।
अवतार्याङ्कशय्यास्थं द्वारि चक्रन्द भूपतेः ॥ ४२ ॥

अथेति । अथ जनपदे भवो जानपदो विप्रः । कश्चिदिति शेषः । अप्राप्तयौवनशिशुम् । मृतमिति शेषः । भूपते रामस्य द्वार्यङ्कशय्यास्थं यथा तथाऽवतार्याङ्कस्थत्वेनैवावरोप्य चक्रन्द चुक्रोश ॥ ४२ ॥

अन्वयः—अथ जानपदः विप्रः अप्राप्तयौवनं शिशुं भूपतेः द्वारि अङ्कशय्यास्थं अवतार्य चक्रन्द ॥ ४२ ॥

इसके बाद जनपद में रहने वाला कोई ब्राह्मण युवावस्था को बिना प्राप्त किए ही मृत शिशु को राजाराम के राजद्वार पर उतार कर उसे अपनी गोद में रखकर उच्च स्वर से रोने लगा ॥ ४२ ॥

शोचनीयाऽसि वसुधे या त्वं दशरथाच्च्युता ।
रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात् कष्टतरं गता ॥ ४३ ॥

शोचनीयेति । हे वसुधे ! दशरथाच्च्युता भ्रष्टा या त्वं रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतरं गता सती शोचनीयाऽसि ॥ ४३ ॥

अन्वयः—वसुधे ! दशरथात् च्युता या त्वं रामहस्तं अनुप्राप्य कष्टात् कष्टतरं गता सती शोचनीया असि ॥ ४३ ॥

हे वसुन्धरे ! तुम शोचनीय हो गयी हो जो दशरथ से भ्रष्ट होकर राम के हाथों में पहुँचकर कष्ट से कष्टतर स्थित को प्राप्त करती जा रही हो ॥ ४३ ॥

श्रुत्वा तस्य शुचो हेतुं गोप्ता जिह्राय राघवः ।
न ह्यकालभवो मृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत् ॥ ४४ ॥

श्रुत्वेति । गोप्ता रक्षको राघवस्तस्य विप्रस्य शुचः शोकस्य हेतुं पुत्रमरणरूपं श्रुत्वा जिह्राय लज्जितः । कुतः । हि यस्मादकालभवः अप्राप्तकालोत्पन्नः मृत्युरिक्ष्वाकूणां पदं राष्ट्रं नास्पृशत् । वृद्धे जीवति यवीयान्न म्रियत इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—गोप्ता राघवः तस्य शुचः हेतुं श्रुत्वा जिह्राय हि अकालभवः मृत्युः इक्ष्वाकुपदं न अस्पृशत् ॥ ४४ ॥

उसके शोक कारण सुनकर प्रजापालक राम लज्जित हुए; क्योंकि इक्ष्वाकुओं के राज्य को अकाल में होने वाली मृत्यु स्पर्श नहीं करती ॥४४॥

स मुहूर्तं क्षमस्वेति द्विजमाश्वास्य दुःखितम् ।
यानं सस्मार कौबेरं वैवस्वतजिगीषया ॥ ४५ ॥

स इति । स रामो दुःखितं द्विजं मुहूर्तं क्षमस्वेत्याश्वास्य वैवस्वतस्यान्तकस्यापि जिगीषया जेतुमिच्छया कौबेरं यानं पुष्पकं सस्मार ॥ ४५ ॥

अन्वयः—सः दुःखितं द्विजं मुहूर्तं क्षमस्व इति आश्वास्य वैवस्वतजिगीषया कौबेरं यानं सस्मार ॥ ४५ ॥

उन्होंने दुःखी ब्राह्मण को कुछ देर तक क्षमा करो इस प्रकार का आश्वासन देकर मृत्यु को जीतने की इच्छा से कुबेर के वाहन पुष्पक का स्मरण किया ॥ ४५ ॥

आत्तशस्त्रस्तदध्यास्य प्रस्थितः स रघूद्वहः ।
उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती ॥ ४६ ॥

आत्तेति । रघूद्वहो राम आत्तशस्त्रः सन् तत्पुष्पकमध्यास्य प्रस्थितः । अथ तस्य पुरो गूढरूपा सरस्वत्यशरीरा वागुच्चचारोद्बभूव ॥ ४६ ॥

अन्वयः—सः रघूद्वहः आत्तशस्त्रं सन् तत् अध्यास्य प्रस्थितः तस्य पुरः गूढरूपा सरस्वती उच्चचार ॥ ४६ ॥

उस रघुवंशी राम ने शस्त्रों से सुसज्जित हो उस विमान पर बैठकर प्रस्थान किया। उनके सामने यह रहस्यमयी वाणी (आकाशवाणी) उच्चरित हुयी ॥ ४६ ॥

राजन्प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते।
तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि ततः कृती ॥ ४७ ॥

राजन्निति। हे राजन्। ते प्रजासु कश्चिदपचारो वर्णधर्मव्यतिकरः प्रवर्तते। तमपचारमन्विष्य प्रशमयेः। ततः कृती कृतकृत्यो भवितासि भविष्यसि ॥४७॥

अन्वयः—राजन्! ते प्रजासु कश्चित् अपचारः प्रवर्तते तं अन्विष्य प्रशमयेः ततः कृती भवितासि ॥ ४७ ॥

हे राजन्! तुम्हारी प्रजाओं में कोई भ्रष्टाचार हो रहा है, उसका पता लगाकर उसे दूर करो तब तुम कृतकृत्य होवोगे ॥ ४७ ॥

इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम्।
दिशः पपात पत्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ॥ ४८ ॥

इतीति। इत्याप्तवचनाद्रामो वर्णविक्रियां वर्णापचारं विनेष्यन्नपनेष्यन् वेगेन निष्कम्पकेतुना पत्रेण वाहनेन पुष्पकेण। 'पत्रं वाहनपक्षयोः' इत्यमरः। दिशः पपात धावति स्म ॥ ४८ ॥

अन्वयः—इति आप्तवचनात् रामः वर्णविक्रियां विनेष्यन् वेगनिष्कम्प-केतुना पत्रेण दिशः पपात ॥ ४८ ॥

इस प्रामाणिक वाणी से राम वर्णधर्म के विकार को दूर करते हुए वेग से चलने के कारण निश्चल पताका वाले पुष्पक विमान से चतुर्दिक् पता करने के लिए चल पड़े ॥ ४८ ॥

अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखाऽवलम्बिनम्।
ददर्श कश्चिदैक्ष्वाकुस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥ ४९ ॥

अथेति। अथेक्ष्वाकुवंशप्रभव ऐक्ष्वाको रामः। 'कोपधादण्' इत्यणि कृते

'दाण्डिनायन—' इत्यादिनोकारलोपनिपातः। धूमेन पीयमानेनाभिताम्राक्षं वृक्षशाखाऽवलम्बिनमधोमुखं तपस्यन्तं तपश्चरन्तं कञ्चित्पुरुषं ददर्श ॥ ४९ ॥

अन्वयः—अथ ऐक्ष्वाकः धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम् अधोमुखं तपस्यन्तं कञ्चित् ददर्श ॥ ४९ ॥

इसके पश्चात् पता लगाते हुए इक्ष्वाकुवंशी राम ने धुवाँ पीने से लाल-लाल आँख वाले वृक्ष की डाली से लटकते हुए नीचे की ओर मुँह करके तपस्या करते हुए किसी व्यक्ति को देखा ॥ ४९ ॥

पृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपः।
आत्मानं शम्बुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम् ॥ ५० ॥

पृष्टेति। राज्ञा नाम चान्वयश्च नामान्वयौ तौ पृष्टौ यस्य स तथोक्तः। धूमं पिबतीति धूमपः। 'सुपि' इति योगविभागात्कप्रत्ययः। स पुरुष आत्मानं सुरपदार्थिनं स्वर्गार्थिनम्। अनेन प्रयोजनमपि पृष्टमिति ज्ञेयम्। शम्बुकं नाम शूद्रमाचष्ट बभाषे किल ॥ ५० ॥

अन्वयः—राज्ञा पृष्टनामान्वयः धूमपः सः आत्मानं सुरपदार्थिनं शम्बुकं नाम शूद्रं आचष्ट किल ॥ ५० ॥

राजा द्वारा नाम और कुल पूछने पर उस धूमपान करने वाले ने अपना नाम शम्बुक, कुल शूद्र और तपस्या करने का उद्देश्य स्वर्ग की प्राप्ति बताया ॥ ५० ॥

तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम्।
शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे ॥ ५१ ॥

तपस्येति। तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानामघावहं दुःखावहं तं शूद्रं शीर्षच्छेद्यम्। 'शीर्षच्छेदाद्यच्च' इति यत्प्रत्ययः। परिच्छिद्य निश्चित्य नियन्ता रक्षको रामः शस्त्रमाददे जग्राह ॥ ५१ ॥

अन्वयः—तपसि अनधिकारित्वात् प्रजानां अघावहं तं शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रं आददे ॥ ५१ ॥

तपस्या करने में अधिकारी नहीं होने के कारण प्रजाओं में पाप धारण

करने वाले इस व्यक्ति का शीर्ष काट लेने योग्य है, यह सोचकर प्रशासक राम ने शस्त्र ले लिया ॥ ५१ ॥

स तद्वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कमिव पङ्कजम् ।
ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत् ॥ ५२ ॥

स इति । स रामो ज्योतिष्कणैः स्फुलिङ्गैराहतानि दग्धानि श्मश्रूणि यस्य तत्तस्य वक्त्रम् । हिमक्लिष्टकिञ्जल्कं पङ्कजमिव । कण्ठ एव नालं तस्मादपातयत् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—सः ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु तद् वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कं पङ्कजमिव कण्ठनालात् अपातयत् ॥ ५२ ॥

राम ने हिम से पीड़ित केसर वाले कमल के समान धूमपान के समय अग्नि की चिनगारियों से जली हुई दाढ़ी मूँछ वाले उस शूद्र तापस का मुख कण्ठरूपी नाल से काटकर गिरा दिया ॥ ५२ ॥

कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम् ।
तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना ॥ ५३ ॥

कृतदण्ड । इति । शूद्रः शम्बुको राज्ञा स्वयं कृतदण्डः कृतशिक्षः सन् । सतां गतिं लेभे । दुश्चरेणापि स्वमार्गविलङ्घिना, अनधिकारदुष्टेनेत्यर्थः । तपसा न लेभे । अत्र मनुः—'राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः । निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥' इति ॥ ५३ ॥

अन्वयः—शूद्रः राज्ञा स्वयं कृतदण्डः सन् सतां गतिं लेभे । दुश्चरेण अपि स्वमार्गविलङ्घिना तपसा न लेभे ॥ ५३ ॥

स्वयं राजा के द्वारा दण्ड पाकर उस शूद्र ने सज्जनों की गति प्राप्त की । किन्तु अपने अधिकार का सीमा-मार्ग उलङ्घन करने वाले दुरूह तप से भी वह सद्गति नहीं पायी ॥ ५३ ॥

रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसन्दर्शितात्मना ।
महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना ॥ ५४ ॥

रघुनाथ इति । रघुनाथोऽपि मार्गसन्दर्शितात्मना महौजसाऽगस्त्येन ।

इन्दुना शरत्काल इव संयुयुजे सङ्गतः। इन्दावपि विशेषणं योज्यम्। रघुनाथेत्यत्र क्षुभ्नादित्वाण्णत्वाभावः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—रघुनाथः अपि मार्गसन्दर्शितात्मना महौजसा अगस्त्येन इन्दुना शरत्काल इव संयुयुजे ॥ ५४ ॥

मार्ग में अपना दर्शन देने वाले महान् तेजस्वी अगस्त्य के साथ राम भी उसी प्रकार सुशोभित हुए जैसे चन्द्रमा से शरद्काल सुशोभित होता है ॥ ५४ ॥

कुम्भयोनिरलङ्कारं तस्मै दिव्यपरिग्रहम्।
ददौ दत्तं समुद्रेण पीतेनेवात्मनिष्क्रयम् ॥ ५५ ॥

कुम्भेति। कुम्भयोनिरगस्त्यः पीतेन समुद्रेणात्मनिष्क्रयमिवात्ममोचनमूल्यमिव दत्तम्। अत एव परिगृह्यते इति व्युत्पत्त्या दिव्यपरिग्रहः, दिव्यानां परिग्राह्य इत्यर्थः। तमलङ्कारं तस्मै रामाय ददौ ॥ ५५ ॥

अन्वयः—कुम्भयोनिः पीतेन समुद्रेण आत्मनिष्क्रयं इव दत्तं अतएव दिव्यपरिग्रहं अलङ्कारं तस्मै ददौ ॥ ५५ ॥

कुम्भ जन्मा अगस्त्य ने पान कर लिए गए समुद्र के द्वारा मानो आत्म-मुक्ति के मूल्य के समान प्रदत्त देवताओं के धारण करने योग्य दिव्य अलङ्कार श्रीरामचन्द्रजी को दिए ॥ ५५ ॥

तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना।
पश्चान्निववृते रामः प्राक्परासुर्द्विजात्मजः ॥ ५६ ॥

तमिति। मैथिली कण्ठनिर्व्यापारेण आलिङ्गनरहितेन बाहुना तमलङ्कारं दधद्रामः पश्चान्निववृते निवृत्तः। परासुर्मृतो द्विजात्मजः प्राग्रामात्पूर्वं निववृते ॥ ५६ ॥

अन्वयः—मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना तं दधत् पश्चात् निववृते परासुः द्विजात्मजः प्राक्निववृते ॥ ५६ ॥

सीता त्याग के कारण उसके कण्ठाश्लेष के व्यापार से रहित बाहु द्वारा श्रीराम उस दिव्य आभूषण को धारण करते हुए बाद में अयोध्या लौटे; उनके वहाँ लौटने से पूर्व ही मृत ब्राह्मण का पुत्र जीवित होकर यमलोक से लौट आया था ॥ ५६ ॥

तस्य पूर्वोदितां निन्दां द्विजः पुत्रसमागतः ।
स्तुत्या निवर्तयामास त्रातुर्वैवस्वतादपि ॥ ५७ ॥

तस्येति । पुत्रसमागतः पुत्रेण सङ्गतो द्विजो वैवस्वतादन्तकादपि त्रातू रक्षकस्य । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानात्पञ्चमी । तस्य रामस्य पूर्वोदितां पूर्वोक्तां निन्दां स्तुत्या निवर्तयामास ॥ ५७ ॥

अन्वयः—पुत्रसमागतः द्विजः वैवस्वतात् अपि त्रातुः तस्य पूर्वोदितां निन्दां स्तुत्या निवर्तयामास ॥ ५७ ॥

पुत्र से सम्मिलित ब्राह्मण ने यमराज से भी बचा लेने वाले राम की स्तुति द्वारा र्वोक्त निन्दा को जो 'शोचनीयाऽसि' श्लोक में की थी, दूर कर दिया ॥ ५७ ॥

तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षःकपिनरेश्वराः ।
मेघाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः ॥ ५८ ॥

तमिति । अध्वरायाश्वमेधाय मुक्ताश्वं तं रामं रक्षःकपिनरेश्वराः सुग्रीवः विभीषणादयो राजानश्च मेघा अम्भोभिः सस्यमिव उपायनैरभ्यवर्षन् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अध्वराय मुक्ताश्वं तं रक्षः कपिनरेश्वराः मेघाः अम्भोभिः सस्यं इव उपायनैः अभ्यवर्षन् ॥ ५८ ॥

जैसे बादल पानी की वर्षा से धान को लाभ पहुँचाता है उसी प्रकार अश्वमेध यज्ञ के लिए घोड़े छोड़ने वाले उस राम के लिए राक्षस विभीषण और वानरपति सुग्रीव तथा अन्य नरेशों ने उपहारों की वर्षा की ॥ ५८ ॥

दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनमभिजग्मुर्महर्षयः ।
न भौमान्येव धिष्ण्यानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि ॥ ५९ ॥

दिग्भ्य इति । निमन्त्रिता आहूता महर्षयश्च भूम्याः सम्बन्धीनि भौमानि धिष्ण्यानि स्थानान्येव न । 'धिष्ण्यं स्थाने गृहे भेऽग्नौ' इत्यमरः । किन्तु ज्योतिर्मयानि नक्षत्ररूपाणि धिष्ण्यान्यपि हित्वा दिग्भ्य एनं राममभिजग्मुः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—निमन्त्रिताः महर्षयः च भौमानि धिष्ण्यानि एव न किन्तु ज्योतिर्मयानि अपि हित्वा दिग्भ्यः एनं अभिजग्मुः ॥ ५९ ॥

आमन्त्रित ऋषिगण न केवल पृथ्वी पर के ही निवास स्थानों को बल्कि ज्योतिर्मय दिव्य स्थानों को भी छोड़कर सभी दिशाओं से उस राम के पास आए ॥ ५९ ॥

उपशल्यनिविष्टैस्तैश्चतुर्द्वारमुखी बभौ ।
अयोध्या सृष्टलोकेव सद्यः पैतामही तनुः ॥ ६० ॥

उपशल्येति । चत्वारि द्वाराण्येव मुखानि यस्याः सा चतुर्द्वारमुख्ययोध्या । उपशल्येषु ग्रामान्तेषु निविष्टैः । 'ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्' इत्यमरः । तैर्महर्षिभिः । सद्यः सृष्टलोका पितामहस्येयं पैतामही तनूर्मूर्तिरिव बभौ ॥ ६० ॥

अन्वयः—चतुर्द्वारमुखी अयोध्या उपशल्यनिविष्टैः तैः सद्यः सृष्टिलोका पैतामही तनुः इव बभौ ॥ ६० ॥

गाँवों की सीमा में प्रविष्ट उन महर्षियों के द्वारा चारों ओर से प्रवेशद्वार रूपी चारमुखों वाली अयोध्या तत्काल लोक-रचना करने वाली चतुर्मुखी ब्रह्मा की साक्षात् मूर्ति के समान सुशोभित हुयी ॥ ६० ॥

श्लाघ्यस्त्यागोऽपि वैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः ।
अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जाया हिरण्मयी ॥ ६१ ॥

श्लाघ्य इति । वैदेह्यास्त्यागोऽपि श्लाघ्यो वर्ण्य एव । कुतः । यस्मात् । प्राग्वंशः प्राचीनस्थूणो यज्ञशालाविशेषः तद्वासिनः । नास्त्यन्या जाया यस्य तस्यानन्यजानेः । 'जायाया निङ्' इति समासान्तो निङादेशः । पत्यू रामस्य हिरण्मयी सौवर्णी । 'दाण्डिनायन०' इत्यादिसूत्रेण निपातः । सा निजैव जाया पत्न्यासीत् । कविवाक्यमेतत् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—वैदेह्याः त्यागः अपि श्लाघ्यः प्राग्वंशवासिनः पत्युः अनन्यजानेः हिरण्मयी सा एव जाया आसीत् ॥ ६१ ॥

वैदेही का त्याग भी स्तुत्य रहा; क्योंकि यज्ञशाला में रहने वाले अनन्य पत्नीव्रती राम की सुवर्णमयी वही सीता अर्धाङ्गिनी थी ॥ ६१ ॥

विधेरधिकसम्भारस्ततः प्रववृते मखः ।
आसन्यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥ ६२ ॥

विधेरिति । ततो विधेः शास्त्रादधिकसम्भारोऽतिरिच्यमानपरिकरो मखः प्रववृते प्रवृत्तः । यत्र मखे विहन्यन्त एभिरिति विघ्नाः प्रत्यूहाः । 'घञर्थे कविधानम्' इति कः । क्रियाविघ्ना अनुष्ठानविघातका राक्षसा एव रक्षिणो रक्षका आसन् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—ततो विधेः अधिकसंभारः मखः प्रववृते यत्र क्रियाविघ्नाः राक्षसाः एव रक्षका आसन् ॥ ६२ ॥

तब शास्त्रविधि से भी अधिक साधन-सम्पन्न यज्ञ प्रारम्भ हुआ जिसमें क्रियाबाधक राक्षसही रक्षक थे ॥ ६२ ॥

अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः ।
मैथिलेयौ कुशलवौ जगतुर्गुरुचोदितौ ॥ ६३ ॥

अथेति । अथ मैथिलेयौ मैथिलीतनयौ । 'स्त्रीभ्यो ढक्' । कुशलवौ गुरुणा वाल्मीकिया चोदितौ प्रेरितौ सन्तौ । प्राचेतसो वाल्मीकिः । उपज्ञायत इत्युपज्ञा । 'आतश्चोपसर्गे' इति कर्मण्यङ्प्रत्ययः । प्राचेतसस्योपज्ञा प्राचेतसोपज्ञम् । प्राचेतसेनादौ ज्ञातमित्यर्थः । 'उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्' इत्यमरः । 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' इति नपुंसकत्वम् । अय्यते ज्ञायतेऽनेनेत्ययनं, रामस्यायनं चरितं रामायणं रामायणाख्यं काव्यम् । 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति णत्वम् । उत्तरायणमितिवत् । इतस्ततो जगतुः । गायतेर्लिट् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—अथ मैथिलेयौ कुशलवौ गुरुचोदितौ प्राचेतसोपज्ञं रामायणं इतस्ततः जगतुः ॥ ६३ ॥

इसके अनन्तर सीता-पुत्र कुश और लव गुरु वाल्मीकि से प्रेरित होकर प्राचेतस ऋषि के आदिज्ञानस्वरूप वाल्मीकीय रामायण का यत्र-तत्र गान करने लगे ॥ ६३ ॥

वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ ।
किं तद्येन मनो हर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम् ॥ ६४ ॥

वृत्तमिति । रामस्य वृत्तं वर्ण्यम् । कस्त्विति शेषः । वाल्मीकेः कृतिः काव्यम्, गेयमिति शेषः । तौ कुशलवौ किन्नरस्वनौ किन्नरकण्ठौ गायकौ, पुनः

रिति शेषः । अत एव तत्कि येन निमित्तेन तौ शृण्वतां मनो हर्तुमलं शक्तौ न स्याताम् ? सर्वं सरसमित्यर्थः ।। ६४ ।।

अन्वयः—रामस्य वृत्तं वाल्मीकेः कृतिः तौ किन्नरस्वनौ अतएव तत् किं येन शृण्वतां मनः हर्तुं अलं न स्याताम् ।। ६४ ।।

एक तो राम का चरित्र; दूसरे आदि कवि वाल्मीकि की रचना उसके भी गायक किन्नर के समान मधुर स्वरों वाले सीता पुत्र लव और कुश तब और फिर क्या चाहिए जो श्रोताओं के मन को हरने के लिए पर्याप्त न होता ।। ६४ ।।

रूपे गीते च माधुर्यं तयोस्तज्ज्ञैर्निवेदितम् ।
ददर्श सानुजो रामः शुश्राव च कुतूहली ।। ६५ ।।

रूप इति । ते जानन्तीति तज्ज्ञाः । तैस्तज्ज्ञैरभिज्ञैर्निवेदितं तयोः कुशलवयोः रूपे आकारे गीते च माधुर्यं रामणीयकं सानुजो रामः कुतूहली सानन्दः सन् यथासंख्यं ददर्श शुश्राव च ।। ६५ ।।

अन्वयः—तज्ज्ञैः निवेदितं तयोः रूपे गीते च माधुर्यं सानुजः रामः कुतूहली सन् ददर्श सुश्राव च ।। ६५ ।।

अनुभवी तत्त्वज्ञानियों के द्वारा उपदिष्ट उन दोनों बालकों के रूप और गीत में माधुर्य को अनुज समेत श्रीराम ने कुतूहल पूर्वक देखा और सुना ।। ६५ ।।

तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ ।
हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली ।। ६६ ।।

तदिति । तयोर्गीतश्रवणे एकाग्रसक्ताश्रुमुखी । आनन्दादिति भावः । संसत्सभा प्रातर्हिमनिष्यन्दिनी निर्वाता वातरहिता वनस्थलीव । बभौ शुशुभे । आनन्दपारवश्यान्निष्पन्दमास्त इत्यर्थः ।। ६६ ।।

अन्वयः—तद्गीतश्रवणैकाग्रा अश्रुमुखी संसद् प्रातः हिमनिष्पन्दिनी निर्वाता वनस्थली व बभौ ।। ६६ ।।

उन दोनों बालकों के गीत सुनने में एकाग्र सभा आनन्द से आँसू गिराती

हुयी प्रातःकालीन वायुरहित तथा ओस कण टपकाने वाली वनस्थली के समान सुशोभित हुयी ।। ६६ ।।

वयोवेषविसंवादि रामस्य च तयोस्तदा ।
जनता प्रेक्ष्य सादृश्यं नाक्षिकम्पं व्यतिष्ठत ।। ६७ ।।

वय इति । जनता जनानां समूहः । 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्' इति तल् प्रत्ययः । वयोवेषाभ्यामेव विसंवादि विलक्षणं तदा तयोः कुशलवयो रामस्य च सादृश्यं प्रेक्ष्य । नास्त्यक्षिकम्पः यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । नञर्थस्य न शब्दस्य बहुव्रीहिः । व्यतिष्ठतातिष्ठत् । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । विस्मयाद् दनिमेषमद्राक्षीदित्यर्थः ।। ६७ ।।

अन्वयः—जनता वयोवेषविसंवादि तदा तयोः रामस्य च सादृश्यं प्रेक्ष्य नाक्षिकम्पं व्यतिष्ठत ।। ६७ ।।

उस समय जनता राम और उन दोनों बालकों की वय और वेष से विलक्षण समानता देखकर नयनस्पन्द से रहित हो गयी । विस्मय से निर्निमेष एकटक से दोनों की समानता देखती रही ।। ६७ ।।

उभयोर्न तथा लोकः प्रावीण्येन विसिष्मिये ।
नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया यथा ।। ६८ ।।

उभयोरिति । लोको जन उभयोः कुमारयोः प्रावीण्येन नैपुण्येन तथा न विसिष्मिये न विस्मितवान्, यथा नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया नैःस्पृह्येण विसिष्मिये ।। ६८ ।।

अन्वयः—लोकः उभयोः प्राविण्येन तथा न विसिष्मिये यथा नृपतेः प्रतिदानेषु वीतस्पृहतया विसिष्मिये ।। ६८ ।।

लोग उन दोनों बालकों की कुशलता से उतना विस्मित नहीं हुए जितना राजा (राम) के प्रेम दान में उनकी निस्पृह भावना से हुए । (लोगों को उन दोनों की कुशलता पर उतना आश्चर्य नहीं हुआ जितना उनकी इस बात पर कि राजा ने जो कुछ पुरस्कार दिया उसे भी बालक होते हुए भी निःस्पृह भाव से उन्होंने लौटा दिया ।) ।। ६८ ।।

गेये को नु विनेता वां कस्य चेयं कृतिः कवेः ।
इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम् ॥ ६९ ॥

गेय इति । गेये गीते को नु वां युवयोर्विनेता शिक्षकः । नु शब्दः प्रश्ने । 'नु पृच्छायां वितर्के च' इत्यमरः । इयं च कस्य कवेः कृतिरिति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ कुशलवौ वाल्मीकिमशंसतामुक्तवन्तौ, विनेतारं कविं चेत्यर्थः । गेये केन विनीतौ वाम्' इति पाठे वामिति युष्मदर्थप्रतिपादकमव्ययं द्रष्टव्यम् । तथा चायमर्थः—केन पुंसा वां युवां गेये गीतविषये विनीतौ शिक्षितौ । कर्मणि निष्ठाप्रत्ययः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—गेये कः नु वां विनेता इयं च कस्यकवेः कृतिः इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिम् अशंसताम् ॥ ६९ ॥

इस गीत में तुम दोनों के शिक्षक कौन हैं ? और यह कविता किस कवि की है ? इस प्रकार राजा के द्वारा स्वयं पूछने पर दोनों ने (दोनों प्रश्नों के उत्तर रूप में) वाल्मीकि का नाम बताया ॥ ६९ ॥

अथ सावरजो रामः प्राचेतसमुपेयिवान् ।
ऊरीकृत्यात्मनो देहं राज्यमस्मै न्यवेदयत् ॥ ७० ॥

अथेति । अथ सावरजो रामः प्राचेतसं वाल्मीकिमुपेयिवान्प्राप्तः सन् । देहमात्मानम् ऊरीकृत्य, आत्मानं स्थापयित्वेत्यर्थः । राज्यमस्मै प्राचेतसाय न्यवेदयत्समर्पितवान् ॥ ७० ॥

अन्वयः—अथ सावरजः रामः प्राचेतसं उपेयिवान् सन् देहं ऊरीकृत्य आत्मनः राज्यं अस्मै न्यवेदयत् ॥ ७० ॥

इसके पश्चात् अनुज समेत श्रीराम वाल्मीकि मुनि के समीप पहुँचे और अपने देह की प्रतिष्ठा कर राज्य उन्हें समर्पित कर दिया ॥ ७० ॥

स तावाख्याय रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ ।
कविः कारुणिको वव्रे सीतायाः सम्परिग्रहम् ॥ ७१ ॥

स इति । करुणा प्रयोजनमस्य कारुणिको दयालुः । 'प्रयोजनम्' इति ठञ् । स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । स कवी रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ रामसुतावाख्याय सीतायाः सम्परिग्रहं स्वीकारं वव्रे ययाचे ॥ ७१ ॥

अन्वयः—कारुणिकः सः कविः रामाय तौ मैथिलेयौ तदात्मजौ आख्याय सीतायाः सम्परिग्रहं वव्रे ॥ ७१ ॥

कृपालु कवि ने राम से कहा कि ये दोनों जानकी के पुत्र आपके आत्मज हैं। आप सीता को स्वीकार करने का अनुग्रह करें ॥ ७१ ॥

तात ! शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि ।
दौरात्म्याद्रक्षसस्तां तु नात्रत्याः श्रद्दधुः प्रजाः ॥ ७२ ॥

तातेति । हे तात ! ते स्नुषा सीता नोऽस्माकमक्ष्णोः समीपं समक्षम् । 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इति समासान्तष्टच् । जातवेदसि वह्नौ शुद्धा, नास्माकमविश्वास इत्यर्थः । किन्तु रक्षसो रावणस्य दौरात्म्यादत्रत्याः प्रजास्तां न श्रद्दधुर्न विशश्वसुः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—तात ! ते स्नुषा नः समक्षं जातवेदसि शुद्धा किन्तु रक्षसः दौरात्म्यात् अत्रत्याः प्रजाः तां न श्रद्दधुः ॥ ७२ ॥

हे तात ! आपकी स्नुषा सीता हमारे समक्ष अग्नि में पवित्र हुयी है किन्तु राक्षस की दुराचारिता के कारण यहाँ की प्रजा ने उसका विश्वास नहीं किया है ॥ ७२ ॥

ताः स्वचारित्रमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली ।
ततः पुत्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया ॥ ७३ ॥

ता इति । मैथिली स्वचारित्रमुद्दिश्य ताः प्रजाः प्रत्याययतु विश्वासयतु । विश्वासस्य बुद्धिरूपत्वात् 'णौ गमिरबोधने' इति इणो गम्यादेशो नास्ति । ततोऽनन्तरं पुत्रवतीमेनां सीतां त्वदाज्ञया प्रतिपत्स्ये स्वीकरिष्ये ॥ ७३ ॥

अन्वयः—मैथिली स्वचारित्रं उद्दिश्य ताः प्रत्याययतु ततः पुत्रवतीं एनां त्वदाज्ञया प्रतिपत्स्ये ॥ ७३ ॥

मैथिली सीता उन प्रजाओं को अपने सच्चरित्र के विषय में विश्वस्त करे तो आपकी आज्ञा से मैं पुत्रवती सीता को स्वीकार कर लूँगा ॥ ७३ ॥

इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनिः ।
शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिव ॥ ७४ ॥

इतीति। राज्ञेति प्रतिश्रुते प्रतिज्ञाते सति मुनिराश्रमाज्जानकीं शिष्यैः प्रयोज्यैः स्वसिद्धिं स्वार्थसिद्धिं नियमैस्तपोभिरिव आनाययामास ॥ ७४ ॥

अन्वयः—राज्ञा इति प्रतिश्रुते मुनिः आश्रमात् जानकीं शिष्यैः स्वसिद्धिं नियमैः इव आनाययामास ॥ ७४ ॥

राजा राम के द्वारा इस प्रकार प्रतिज्ञा करने पर वाल्मीकि मुनि ने नियमों द्वारा अपनी सिद्धि की भाँति आश्रम से शिष्यों द्वारा सीता को बुलवाया ॥ ७४ ॥

अन्येद्युरथ काकुत्स्थः सन्निपात्य पुरौकसः।
कविमाह्वाययामास प्रस्तुतप्रतिपत्तये ॥ ७५ ॥

अन्येद्युरिति। अथ काकुत्स्थो रामः। अन्येद्युरन्यस्मिन्नहनि प्रस्तुतप्रतिपत्तये प्रकृतकार्यानुसन्धानाय पुरौकसः पौरान् सन्निपात्य मेलयित्वा, कविं वाल्मीकिमाह्वाययामासाकारयामास ॥ ७५ ॥

अन्वयः—अथ काकुत्स्थः अन्येद्युः प्रस्तुतप्रतिपत्तये पुरौकसः सन्निपात्य कविं आह्वाययामास ॥ ७५ ॥

इसके अनन्तर श्रीराम ने दूसरे ही दिन प्रस्तुत कार्य के अनुसन्धान के लिए नगर निवासियों का सम्मेलन कर वाल्मीकि जी को बुलवाया ॥७५॥

स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः ॥ ७६ ॥

स्वरेति। अथ स्वर उदात्तादिः। संस्कारः शब्दशुद्धिः तद्वत्या ऋचा सावित्र्योदर्चिषं सूर्यमिव पुत्राभ्यामुपलक्षितया सीतया करणेनोदर्चिषं राममसौ मुनिरुपस्थित उपतस्थे ॥ ७६ ॥

अन्वयः—अथ स्वरसंस्कारवत्या ऋचा उदर्चिषं सूर्यं इव पुत्राभ्यां सीतया उदर्चिषं रामं असौ मुनिः उपस्थितः ॥ ७६ ॥

जिस प्रकार उदात्त आदि स्वर और शब्दशुद्धि रूप के संस्कार से युक्त ऋचा-सावित्री तेजस्वी सूर्य के पास पहुँचती है उसी प्रकार वाल्मीकि ऋषि स्वरसंस्कार सम्पन्न दोनों पुत्रों को साथ लिए सीता के साथ राम के पास पहुँचे ॥ ७६ ॥

काषायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा ।
अन्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा ॥ ७७ ॥

काषायेति । कषायेण रक्तं काषायम् । 'तेन रक्तं रागात्' इत्यण् । तेन परिवीतेन संवृतेन स्वपदार्पितचक्षुषा शान्तेन प्रसन्नेन वपुषैव सा सीता शुद्धा साध्वीत्यन्वमीयतानुमिता ॥ ७७ ॥

अन्वयः—काषायपरिवीतेन स्वपदार्पित चक्षुषा शान्तेन वपुषा एव सा शुद्धा इति अन्वमीयत ॥ ७७ ॥

गेरुवा वस्त्र धारण की हुई आँखें अपने पैरों पर गड़ायी हुयी शान्त शरीर से ही वह पवित्र है ऐसा लोगों ने अनुमान किया । उसकी वेशभूषा सलज्ज दृष्टि और शान्त शरीर से ही लोगों ने उसे शुद्ध मान लिया ॥७७॥

जनास्तदालोकपथात्प्रतिसंहृतचक्षुषः ।
तस्थुस्तेऽवाङ्मुखाः सर्वे फलिता इव शालयः ॥ ७८ ॥

जना इति । तस्याः सीतायाः कर्मण आलोकपथाद्दर्शनमार्गात्प्रतिसंहृतचक्षुषो निवर्तितदृष्टयः सर्वे जनाः फलिताः शालय इव अवाङ्मुखा अवनतमुखास्तस्थुः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—तस्याः आलोकपथात् प्रतिसंहृतचक्षुषः सर्वेजनाः फलिताः शालय इव अवाङ्मुखाः तस्थुः ॥ ७८ ॥

जैसे फल लगने पर धान की बाली झुक जाती है उसी प्रकार उन लोगों ने सीता के दृष्टि-पथ से अपनी आँखें हटाकर (अकारण दोषारोपण करने की लज्जा से) मुँह नीचा कर लिया ॥ ७८ ॥

तां दृष्टिविषये भर्तुर्मुनिरास्थितविष्टरः ।
कुरु निःसंशयं वत्से स्ववृत्ते लोकमित्यशात् ॥ ७९ ॥

तामिति । आस्थितविष्टरोऽधिष्ठितासनो मुनिः हे वत्से ! भर्तुर्दृष्टिविषये समक्षं स्ववृत्ते स्वचरिते विषये लोकं निःसंशयं कुरु । इति तां सीतामशाच्छास्ति स्म ॥ ७९ ॥

अन्वयः—आस्थितविष्टरः मुनिः वत्से ! भर्तुः दृष्टिविषये स्ववृत्ते लोकं निःसंशयं कुरु इति तां अशात् ॥ ७९ ॥

आसन पर विराजमान मुनि ने उस सीता को यह आदेश दिया कि हे बेटी ! अपने स्वामी के समक्ष अपने आचरण के विषय में लोगों का सन्देह दूर करो ॥ ७९ ॥

अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्जितं पयः ।
आचम्योदीरयामास सीता सत्यां सरस्वतीम् ॥ ८० ॥

अथेति । अथ वाल्मीकिशिष्येणावर्जितं दत्तं पुण्यं पूतं पयो जलमाचम्य सीता सत्यां सरस्वतीं वाचमुदीरयामासोच्चारयामास ॥ ८० ॥

अन्वयः—अथ वाल्मीकिशिष्येण आवर्जितं पुण्यं पयः आचम्य सीता सत्यां सरस्वतीं उदीरयामास ॥ ८० ॥

तत्पश्चात् सीता ने वाल्मीकि मुनि के शिष्य द्वारा प्रदत्त पावन जल का आचमन कर सत्यवाणी का उच्चारण किया ॥ ८० ॥

वाङ्मनः कर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे ।
तथा विश्वम्भरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि ॥ ८१ ॥

वागिति । वाङ्मनः कर्मभिः पत्यौ विषये मे व्यभिचारः स्खालित्यं न यथा नास्ति यदि तथा तर्हि । विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरा भूमिः । 'संज्ञायां भृत्–' इत्यादिना खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषत्–' इत्यादिना मुमागमः । हे विश्वम्भरे देवि ! मामन्तर्धातुं गर्भे वासयितुमर्हसि ॥ ८१ ॥

अन्वयः—वाङ्मनः कर्मभिः पत्यौ मे व्यभिचारः न यथा तथा विश्वम्भरे देवि ! मां अन्तर्धातुमर्हसि ॥ ८१ ॥

"हे विश्व का भरण करने वाली भगवती वसुन्धरे ! यदि वचन-मन और कर्म के द्वारा पति के विषय में मेरा व्यभिचार न हो तो मुझे अपने भीतर अन्तर्धान कर लो ॥ ८१ ॥

एवमुक्ते तया साध्व्या रन्ध्रात्सद्योभवाद् भुवः ।
शातह्रदमिव ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ ८२ ॥

एवमिति । साध्व्या पतिव्रतया तया सीतयैवमुक्ते सति सद्योभवाद् भुवो रन्ध्राच्छातह्रदं वैद्युतं ज्योतिरिव प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ ८२ ॥

अन्वयः—साध्व्या तया एवं उक्ते सति सद्यो भवात् भुवः रन्ध्रात् शातह्रदं ज्योतिः इव प्रभामण्डलं उद्ययौ ॥ ८२ ॥

उस साध्वी सीता के इस प्रकार कहते ही तत्क्षण उत्पन्न पृथ्वी के दरार से बिजली की चमक के समान प्रभा पुञ्ज ऊपर की ओर उठी ॥ ८२ ॥

तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी ।
समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्वसुन्धरा ॥ ८३ ॥

तत्रेति । तत्र प्रभामण्डले नागफणोत्क्षिप्ते सिंहासने निषेदुष्यासीना समुद्ररशना समुद्रमेखला साक्षात् । वसूनि धारयतीति वसुन्धरा भूमिः । 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । प्रादुरासीत् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी समुद्ररशना साक्षात् वसुन्धरा प्रादुरासीत् ॥ ८३ ॥

उस प्रभापुञ्ज पर शेषनाग के फणों द्वारा उठाये गये सिंहासन के ऊपर विराजमान समुद्र की करधनी पहनी हुयी साक्षात् भूदेवी प्रकट हुयी ॥ ८३ ॥

सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम् ।
मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्पातालमभ्यगात् ॥ ८४ ॥

सेति । सा वसुन्धरा भर्तरि प्रणिहितेक्षणां दत्तदृष्टिं सीतामङ्कमारोप्य तस्मिन् भर्तरि रामे मा मेति मा हरेति व्याहरति वदत्येव, व्याहरन्तमनादृत्येत्यर्थः । 'षष्ठी चानादरे' इति सप्तमी । पातालमभ्यगात् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—सा भर्तरि प्रणिहितेक्षणां सीतां अङ्कं आरोप्य तस्मिन् मा मा इति व्याहरति एव पातालं अभ्यगात् ॥ ८४ ॥

अपने प्राणवल्लभ राम के ऊपर दृष्टि लगायी हुयी सीता को गोद में लेकर पृथ्वी उनके "ऐसा मत करो ऐसा मत करो" यह कहते रहने पर भी पाताल चली गयी ॥ ८४ ॥

धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः ।
गुरुर्विधिबलापेक्षी शमयामास धन्विनः ॥ ८५ ॥

धरायामिति । सीताप्रत्यर्पणमिच्छतीति तथोक्तस्य धन्विन आत्तधनुषस्तस्य

रामस्य धरायां विषये संरम्भं विधिबलापेक्षी दैवशक्तिदर्शी गुरुर्ब्रह्मा शमयामास । अवश्यम्भावी विधिरिति भावः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—सीताप्रत्यर्पणैषिणः धन्विनः तस्य धरायां संरम्भं विधिबलापेक्षी गुरुः शमयामास ॥ ८५ ॥

सीता के प्रत्यर्पण की (पुनः स्वीकार कर लेने) इच्छा करने वाले धनुषधारी राम को पृथ्वी के ऊपर क्रोध आया; जिसे भाग्य बल या दैव बल की अपेक्षा करने वाले गुरु ने समझा-बुझाकर शान्त किया ॥ ८५ ॥

ऋषीन्विसृज्य यज्ञान्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान् ।
रामः सीतागतं स्नेहं निदधे तदपत्ययोः ॥ ८६ ॥

ऋषीनिति । रामो यज्ञान्ते पुरस्कृतान्पूजितानृषीन्वाल्मीक्यादीन्सुहृदश्च विभीषणादीन् विसृज्य सीतागतं स्नेहं तदपत्ययोः कुशलवयोर्निदधे ॥ ८६ ॥

अन्वयः—रामः यज्ञान्ते पुरस्कृतान् ऋषीन् सुहृदः च विसृज्य सीतागतं स्नेहं तदपत्ययोः निदधे ॥ ८६ ॥

यज्ञ की समाप्ति हो जाने पर पुरस्कृत ऋषियों और मित्रों को विदा कर राम ने सीता का प्रेम उसके दोनों पुत्रों कुश और लव पर धारण किया। राम सीता का प्रेम उसके पुत्रों से करने लगे ॥ ८६ ॥

युधाजितश्च सन्देशात्स देशं सिन्धुनामकम् ।
ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः ॥ ८७ ॥

युधेति । किञ्च । भृतप्रजः स रामो युधाजितो भरतमातुलस्य सन्देशात्सिन्धुनामकं देशं दत्तप्रभावाय दत्तैश्वर्याय, रामेणेति शेषः । भरताय ददौ ॥ ८७ ॥

अन्वयः—किं च भृतप्रजः सः युधाजितः सन्देशात् सिन्धुनामकं देशं दत्तप्रभावाय भरताय ददौ ॥ ८७ ॥

प्रजा-पालक राम ने युधाजित् (भरत के मामा) के सन्देश से सिन्धु नामक देश को प्रभावशाली भरत को दे दिया ॥ ८७ ॥

भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम् ।
आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥ ८८ ॥

भरत इति । तत्र सिन्धुदेशे भरतोऽपि युधि गन्धर्वान्निर्जित्य केवलमेकमातोद्यं वीणाम् । 'ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम् । वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम् ॥ चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम् ॥' इत्यमरः । ग्राहयामास । अ युधं समत्याजयत्त्याजितवान् । ग्रहित्यज्योर्ण्यन्तयोर्द्विकर्मकत्वं नित्यमित्यनुसन्धेयम् ॥ ८८ ॥

अन्वयः—तत्र भरतः युधि गन्धर्वान् निर्जित्य केवलं आतोद्यं ग्राहयामास आयुधं समत्याजयत् ॥ ८८ ॥

उस सिन्धु देश में भरत ने युद्ध में गन्धर्वों को जीतकर उन्हें केवल वीणा पकड़ा दी और शस्त्र रखवा लिये ।

(भरत द्वारा जीत लिये जाने पर गन्धर्वों ने हथियार सदैव के लिए डाल दिए और वीणा लेकर गाने-बजाने लगे) ॥ ८८ ॥

स तक्षपुष्कलौ पुत्रौ राजधान्योस्तदाख्ययोः ।
अभिषिच्याभिषेकार्हौ रामान्तिकमगात्पुनः ॥ ८९ ॥

स इति । स भरतः । अभिषेकार्हौ तक्षपुष्कलौ नाम पुत्रौ तदाख्ययोः, तक्षपुष्कलाख्ययोरित्यर्थः । पुष्कलं पुष्कलावत्यां तक्षं तक्षशिलायामिति राजधान्योर्नगर्योरभिषिच्य पुना रामान्तिकमगात् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—सः अभिषेकार्हौ तक्षपुष्कलौ पुत्रौ तदाख्ययोः राजधान्योः अभिषिच्य पुनः रामान्तिकं अगात् ॥ ८९ ॥

राज्याभिषेक के योग्य अपने तक्ष और पुष्कल नामक पुत्रों को उन्हीं के नाम से विख्यात तक्षशिला और पुष्कलावती राजधानी में अभिषिक्त कर भरत पुनः राम के पास चले आए ॥ ८९ ॥

अङ्गदं चन्द्रकेतुं च लक्ष्मणोऽप्यात्मसम्भवौ ।
शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ ॥ ९० ॥

अङ्गदमिति । लक्ष्मणोऽपि रघुनाथस्य रामस्य शासनादङ्गदं चन्द्रकेतुं च तदाख्यावात्मसम्भवौ पुत्रौ । कारापथो नाम देशः । तस्येश्वरौ चक्रे ॥ ९० ॥

अन्वयः—लक्ष्मणः अपि रघुनाथस्य शासनात् अंगदं चित्रकेतुं च आत्मसम्भवौ कारापथेश्वरौ चक्रे ॥ ९० ॥

रघुनाथ के आदेश से लक्ष्मण ने भी अपने आत्मज अंगद और चन्द्रकेतु को कारापथ का स्वामी बना दिया ॥ ९० ॥

इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः ।
भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ॥ ९१ ॥

इतीति । इत्यारोपितपुत्रास्ते जनेश्वरा रामादयो भर्तृलोकप्रपन्नानां स्वर्यातानां जननीनां क्रमान्निवापाञ्छ्राद्धादीन्विदधुश्चक्रुः । 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—इति आरोपितपुत्राः ते जनेश्वराः भर्तृलोकप्रपन्नानां जननीनां क्रमात् निवापान् विदधुः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार उन (राम-भरत-लक्ष्मण और शत्रुघ्न) जन नायकों ने अपने अपने पुत्रों पर राज्यभार सौंप कर पतिलोक को प्राप्त दिवंगत माताओं का क्रमशः श्राद्ध तर्पण किया ॥ ९१ ॥

उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः प्रोवाच राघवम् ।
रहःसंवादिनौ पश्येदावां यस्तं त्यजेरिति ॥ ९२ ॥

उपेत्येति । अथ कालोऽन्तको मुनिवेषः सन्नुपेत्य राघवं प्रोवाच । किमित्याह—रहस्येकान्ते संवादिनौ सम्भाषिणावावां यः पश्येत्। रहस्यभङ्गं कुर्यादित्यर्थः । तं त्यजेरिति ॥ ९२ ॥

अन्वयः—अथ कालः मुनिवेशः सन् उपेत्य राघवं प्रोवाच रहः संवादिनौ आवां यः पश्येत् तं त्यजेः इति ॥ ९२ ॥

तत्पश्चात् मुनि वेषधारी यमराज ने राम के निकट जाकर उनसे कहा कि एकान्त में बातें करते हुए हम दोनों को जो देखे उसे आप त्याग दें ॥ ९२ ॥

तथेति प्रतिपन्नाय विवृतात्मा नृपाय सः ।
आचख्यौ दिवमध्यास्व शासनात्परमेष्ठिनः ॥ ९३ ॥

तथेतीति । स कालस्तथेति प्रतिपन्नाय नृपाय रामाय विवृतात्मा प्रकाशितनिजस्वरूपः सन् । परमेष्ठिनो ब्रह्मणः शासनाद्दिवमध्यास्वेत्याचख्यौ ॥ ९३ ॥

अन्वयः—सः तथेति प्रतिपन्नाय नृपाय विवृतात्मा सन् परमेष्ठिनः शासनात् दिवं अध्यास्व इति आचख्यौ ॥ ९३ ॥

उस मुनिरूपधारी काल ने "वैसा ही होगा" यह कहने वाले राम के समक्ष अपना वास्तविक स्वरूप उद्घाटित कर दिया और कहा कि ब्रह्मा के आदेश से अब आप स्वर्ग पधारें ॥ ९३ ॥

विद्वानपि तयोर्द्वाःस्थः समयं लक्ष्मणोऽभिनत् ।
भीतो दुर्वाससः शापाद्रामसन्दर्शनार्थिनः ॥ ९४ ॥

विद्वानिति । द्वाःस्थो द्वारि नियुक्तो लक्ष्मणो विद्वानपि पूर्वश्लोकोक्तं जानन्नपि रामसन्दर्शनार्थिनो दुर्वाससो मुनेः शापाद्भीतः सन् । तयोः कालरामयोः समयं संवादमभिनद् विभेद ॥ ९४ ॥

अन्वयः—द्वाः स्थः लक्ष्मणः विद्वान् अपि रामसन्दर्शनार्थिनः दुर्वाससः शापात् भीतःसन् तयोः समयं अभिनत् ॥ ९४ ॥

द्वार पर नियुक्त लक्ष्मण ने उन दोनों की उक्त बातें जानते हुए भी राम के दर्शन के लिए आए हुए दुर्वासा के शाप से भयभीत हो उन दोनों के संवाद को भंग कर दिया ॥ ९४ ॥

स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित् ।
चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ॥ ९५ ॥

स इति । योगविद्योगमार्गवेदी स लक्ष्मणः सरयूतीरं गत्वा देहत्यागेन पूर्वजन्मनो भ्रातुः प्रतिज्ञामवितथां सत्यां चकार ॥ ९५ ॥

अन्वयः—योगवित् सः सरयूतीरं गत्वा देहत्यागेन पूर्वजन्मनः भ्रातुः प्रतिज्ञां अवितथां चकार ॥ ९५ ॥

योगमार्ग के ज्ञानी उस लक्ष्मण ने सरयू तट पर जाकर शरीर त्याग द्वारा अग्रज राम की प्रतिज्ञा चरितार्थ की ॥ ९५ ॥

तस्मिन्नात्मचतुर्भागे प्राङ्नाकमधितस्थुषि ।
राघवः शिथिलं तस्थौ भुवि धर्मस्त्रिपादिव ॥ ९६ ॥

तस्मिन्निति । चतुर्थो भागश्चतुर्भागः । संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वं शतांशवत् । आत्मचतुर्भागे तस्मिल्लक्ष्मणे प्राङ्नाकमधितस्थुषि पूर्वं स्वर्गं जग्मुषि सति राघवो रामः । भुवि त्रिपाद्धर्म इव शिथिलं तस्थौ । पादविकलो हि

शिथिलं तिष्ठतीति भावः। त्रेतायां धर्मस्त्रिपादित्याहुः। पादश्चतुर्थांशः अङ्घ्रिश्च कथ्यते। 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः। त्रयः पादा यस्यासौ त्रिपात्। 'संख्यासुपूर्वस्य' इत्यकारलोपः समासान्तः॥ ९६॥

अन्वयः—आत्मचतुर्भागे तस्मिन् प्राङ् नाकमधितस्थुषि राघवः भुवि त्रिपाद् धर्म इव शिथिलं तस्थौ॥ ९६॥

अपने चतुर्थ भाग लक्ष्मण के पूर्व ही चले जाने पर राम उसी प्रकार (एक पैर से रहित व्यक्ति की भांति विकल) शिथिल रहने लगे जैसे पृथ्वी पर तीन पैर वाला धर्म॥ ९६॥

स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम्।
शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम्॥ ९७॥
उदक्प्रतस्थे स्थिरधीः सानुजोऽग्निपुरःसरः।
अन्वितः पतिवात्सल्यात् गृहवर्जमयोध्यया॥ ९८॥

स इत्यादीति। युग्मम्। स्थिरधीः स रामः। रिपव एव नागा गजास्तेषामङ्कुशं निवारकं कुशं कुशावत्यां पुर्यां निवेश्य स्थापयित्वा। सूक्तैः समीचीनवचनैः सतां जनिता अश्रुलवा अश्रुलेशा येन तं लवं लवाख्यं पुत्रम्। 'लवो लेशे विलासे च छेदने रामनन्दने' इति विश्वः। शरावत्यां पुर्याम्। 'शरादीनां च' इति शरकुशशब्दयोर्दीर्घः। निवेश्य सानुजोऽग्निपुरः सरः सन्। पत्यौ भर्तरि वात्सल्यादनुरागात्। गृहान्वर्जयित्वा गृहवर्जम् 'द्वितीयायां च' इति णमुल्। अयं क्वचिदपरीप्सायामपीष्यते। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इत्येकाचः शेषतया व्याख्यातत्वात्। परीप्सा त्वरा। अयोध्ययाऽन्वितोऽनुगत उदक्प्रतस्थे॥ ९७–९८॥

अन्वयः—स्थिरधीः सः रिपुनागांकुशं कुशं कुशावत्यां निवेश्य सूक्तैः सतां जनिताश्रुलवं लवं शरावत्यां निवेश्य सानुजः अग्निपुरःसरः सन् पतिवात्सल्यात् गृहवर्जम् अयोध्यया अन्वितः उदक् प्रतस्थे॥ ९७–९८॥

स्थिरप्रज्ञ राम ने शत्रु रूपी गजराजों के लिए अंकुश के समान भयंकर कुश को कुशावती का और अपने सुभाषितों से सज्जनों को अश्रुपूरित करने वाले लव को शरावती का राजा बनाकर पुनः अग्निहोत्र की अग्नि आगे करके अनुजों के साथ उत्तराभिमुख प्रस्थान किया। स्वामी के स्नेह से घरों को छोड़कर सारी अयोध्या उनके पीछे चल पड़ी॥ ९७–९८॥

जगृहुस्तस्य चित्तज्ञाः पदवीं हरिराक्षसाः ।
कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टां प्रजाऽश्रुभिः ॥ ९९ ॥

जगृहुरिति । चित्तज्ञा हरिराक्षसाः कदम्बमुकुलस्थूलैः प्रजाऽश्रुभिरभिवृष्टां तस्य रामस्य पदवीं मार्गं जगृहुः, तेऽप्यनुजग्मुरित्यर्थः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—चित्तज्ञाः हरिराक्षसाः कदम्बमुकुलस्थूलैः प्रजाश्रुभिः अभिवृष्टां तस्य पदवीं जगृहुः ॥ ९९ ॥

राम के मन को जानने वाले वानरों और राक्षसों ने भी कदम्ब की कली के समान प्रजा के बड़े-बड़े आँसुओं से सिक्त राम-मार्ग का अनुसरण किया ॥ ९९ ॥

उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना ।
चक्रे त्रिदिवनिश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम् ॥ १०० ॥

उपस्थितेति । उपस्थितं प्राप्तं विमानं यस्य तेन । भक्ताननुकम्पत इति भक्तानुकम्पिना । तेन रामेणानुयायिनां सरयूस्त्रिदिवनिश्रेणिः स्वर्गाधिरोहणी चक्रे । 'निश्रेणिस्त्वधिरोहणी' इत्यमरः ॥ १०० ॥

अन्वयः—उपस्थितविमानेन भक्तानुकम्पिना तेन अनुयायिनां सरयूः त्रिदिवनिश्रेणि चक्रे ॥ १०० ॥

उपस्थित पुष्पक विमान पर आरूढ़ भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने वाले उस भक्तवत्सल भगवान श्रीराम ने अपने अनुयायियों के लिए सरयू को स्वर्ग की सीढ़ी बना दी । जो राम-भक्त सरयू में स्नान करता है वह स्वर्ग पहुँच जाता है ॥ १०० ॥

यद्गोप्रतरकल्पोऽभूत्सम्मर्दस्तत्र मज्जताम् ।
अतस्तदाख्यया तीर्थं पावनं भुवि पप्रथे ॥ १०१ ॥

यदिति । यद्यस्मात्तत्र सरय्वां मज्जतां सम्मर्दः गोप्रतरो गोप्रतरणम् । तत्कल्पोऽभूत् । अतस्तदाख्यया गोप्रतराख्यया पावनं शोधकं तीर्थं भुवि पप्रथे ॥ १०१ ॥

अन्वयः—यत् तत्र मज्जतां सम्मर्दः गोप्रतरकः अभूत अतः तदाख्यया पावनं तीर्थं भुवि पप्रथे ॥ १०१ ॥

चूँकि उस सरयू में स्नान करने वालों की भीड़ (मेला) उसी प्रकार हुयी जिस प्रकार गायों को पार कराते समय होती है, अतएव उसी नाम से भूलोक में उस पावन तीर्थ का नाम 'गोप्रतर' विख्यात हो गया ॥ १०१ ॥

स विभुर्विबुधांशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु ।
त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

स इति । विभुः प्रभुः स रामो विबुधानामंशेषु सुग्रीवादिषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु सत्सु त्रिदशीभूता देवभुवनं गता ये पौरास्तेषां नूतनसुराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

अन्वयः—विभुः सः विबुधांशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरम् अकल्पयत् ॥ १०२ ॥

सामर्थ्य शाली राम ने देव अंश धारी वानर-भालुओं के अपने-अपने देव स्वरूप प्राप्त कर लेने पर देवत्व प्राप्त अयोध्या वासियों के लिए दूसरा स्वर्ग बनाया ॥ १०२ ॥

निर्वर्त्यैवं दशमुखशिरश्छेदकार्यं सुराणां
विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठाम् ।
लङ्कानाथं पवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा
कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च ॥ १०३ ॥

निर्वर्त्यति । विष्वक्सेनो विष्णुरेवं सुराणां दशमुखशिरश्छेदकार्यं निर्वर्त्य निष्पाद्य । लङ्कानाथं विभीषणं पवनतनयं हनूमन्तं चोभयं कीर्तिस्तम्भद्वयमिव । दक्षिणे गिरौ चित्रकूटे चोत्तरे गिरौ हिमवति च स्थापयित्वा । सर्वलोकप्रतिष्ठां सर्वलोकाश्रयभूतां स्वतनुं स्वमूर्तिमविशत् ॥ १०३ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां श्रीरामस्वर्गारोहणो नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

अन्वयः—विष्वक्सेनः एवं सुराणां दशमुखशिरश्छेदकार्यं निर्वर्त्य लङ्कानाथं पवनतनयं च उभयं कीर्तिस्तम्भद्वयम् इव दक्षिणे उत्तरे च गिरौ स्थापयित्वा सर्वलोकप्रतिष्ठां स्वतनुं अविशत् ॥ १०३ ॥

इस प्रकार भगवान् विष्णु देवताओं के दशमुख-रावण के शिरश्छेदनरूप कार्य सम्पन्न कर लंकेश्वर विभीषण को दक्षिण पर्वत (त्रिकूटाचल) पर और

पवन पुत्र हनुमान को उत्तर गिरि (हिमालय) पर दोनों को दो कीर्ति-स्तम्भों के समान स्थापित कर समस्त लोकों के आश्रय स्वरूप अपने शरीर में प्रविष्ट हो गए ॥ १०३ ॥

इस प्रकार "श्री हरिप्रिया" व्याख्या में रघुवंश महाकाव्य का
श्रीरामस्वर्गारोहण नामक पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥



षोडशः सर्गः

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च ।
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि ॥ १ ॥

वृन्दारका यस्य भवन्ति भृङ्गा मन्दाकिनी यन्मकरन्दबिन्दुः ।
तवारविन्दाक्ष पदारविन्दं वन्दे चतुर्वर्गचतुष्पदं तत् ॥

अथेति । अथ रामनिर्वाणानन्तरमितरे लवादयः सप्त रघुप्रवीराः पुनः पूर्वं जन्म यस्य तस्य भावस्तत्ता तया । गुणैश्च ज्येष्ठं कुशं रत्नविशेषभाजं तत्तच्छ्रेष्ठ वस्तुभागिनं चक्रुः । तदुक्तम्—'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते' इति । तथा हि, सुभ्रातृणां भावः सौभ्रात्रम् । 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' इत्यनेन युवादित्वादण्प्रत्ययः । एषां कुशलवादीनां कुलानुसरि वंशानुगतं हि ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ इतरे सप्त रघुप्रवीराः पुरो जन्मतया गुणैः च ज्येष्ठं कुशं रत्नविशेषभाजं चक्रुः, हि सौभ्रात्रं एषां कुलानुसारि ॥ १ ॥

श्रीराम के स्वर्गारोहण के बाद अन्य लव, तक्ष-पुष्कल अंगद, चन्द्र, केतु सुबाहु और बहुश्रुत सातों रघुवंशियों ने अग्रज होने के कारण एवं गुणों से श्रेष्ठ कुश को उत्तम रत्नों का भागी बनाया क्योंकि इनका सुन्दर भ्रातृत्व वंशानुगत (गुण) है ॥ १ ॥

**ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः ।
अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः ॥ २ ॥**

त इति । सेतुर्जलबन्धः । वार्ता कृषिगोरक्षणादिः 'वार्ता कृष्याद्युदन्तयोः' इति विश्वः । गजबन्ध आकरेभ्यो गजग्रहणं ते मुख्यं प्रधानं येषां तैरवन्ध्यैः सफलैः कर्मभिरभ्युच्छ्रिताः, अतिसमर्था अपीत्यर्थः । ते कुशादयः । प्रविभज्यन्त इति प्रविभागाः अन्योन्यदेशप्रविभागानां या सीमा ताम् । वेलां समुद्रा इव । न व्यतीयुर्नातिचक्रमुः । अत्र कामन्दकः—'कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् । खन्याकरधनादानं शून्यानां च निवेशनम् ॥ अष्टवर्गमिमं साधुः स्वयं वृद्धोऽपि वर्धयेत् ॥' इति ॥ २ ॥

अन्वयः—सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैः अवन्ध्यैः कर्मभिः अभ्युच्छ्रिताः ते अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः ॥ २ ॥

पानी बहने के लिए बाँध या पुल बनवाना, कृषि एवं गोपालन करना और आकरों से हाथियों को पकड़ना आदि सफल कार्यों के द्वारा अत्यन्त समर्थ होते हुए भी वे सब एक दूसरे के देश की विभक्त सीमा का उल्लंघन उसी प्रकार नहीं करते थे जैसे समुद्र तटवर्ती सीमाओं का उल्लंघन नहीं करते हैं ॥ २ ॥

**चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम् ।
सुरद्विपानामिव सामयोनिर्भिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंशः ॥ ३ ॥**

चतुर्भुजांशप्रभव इति । चतुर्भुजो विष्णुः तस्यांशा रामादयः । ते प्रभवाः कारणानि यस्य स तथोक्तः । दानं त्यागो मदश्च । 'दानं गजमदे त्यागे' इति विश्वः । प्रवृत्तिर्व्यापारः प्रवाहश्च । दानप्रवृत्तेरनुपारतानां तेषां कुशलवादीनां स वंशः । सामयोनिः सामवेदप्रभवो दानप्रवृत्तेरनुपारतानां सुरद्विपानां दिग्गजानां वंश इव अष्टधा भिन्नः सन् । विप्रससार विस्तृतोऽभूत् । सामयोनिरित्यत्र पालकाप्यः—'सूर्यस्याण्डकपाले द्वे समानीय प्रजापतिः । हस्ताभ्यां परिगृह्याथ सप्त सामान्यगायत । गायतो ब्रह्मणस्तस्मात्समुत्पेतुर्मतङ्गजाः ॥' इति ॥ ३ ॥

अन्वयः—चतुर्भुजांशप्रभवः दानप्रवृत्तेः अनुपारतानां तेषां स सामयोनिः सुरद्विपानां वंश इव अष्टधाभिन्नः विप्रससार ॥ ३ ॥

दानशील उन कुश लवादि आठों भाइयों का चारभुजाधारी विष्णु के अंश राम से उत्पन्न होने वाला वंश मदजल प्रवाहित करने वाले दिग्गजों के सामवेदसे उत्पन्न वंश के समान आठ प्रकार से विस्तृत हुआ ॥ ३ ॥

अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः।
कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषामदृष्टपूर्वां वनितामपश्यत् ॥ ४ ॥

अथेति। अथ अर्धं रात्रेरर्धरात्रः। 'अर्धं नपुंसकम्' इत्येकदेशसमासः। 'अहः सर्वैकदेशसङ्ख्यातपुण्याच्च रात्रेः' इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति नियमात्पुंस्त्वम्। अर्धरात्रे निशीथे स्तिमितप्रदीपे सुप्तजने शय्यागृहे प्रबुद्धः, न तु सुप्तः। कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषां प्रोषितभर्तृकावेषाम्। अदृष्टा पूर्वमित्यदृष्टपूर्वा ताम्। सुप्सुपेति समासः। वनितामपश्यत् ॥ ४ ॥

अन्वयः—अथ अर्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे सुप्तजने शय्यागृहे प्रबुद्धः कुशः प्रवासस्थकलत्रवेशां अदृष्टपूर्वां वनितां अपश्यत् ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् आधीरात के समय प्रशान्त दीपकों वाले शयनघर में लोगों के सो जाने पर जगे हुए कुश ने प्रवास में स्थित पतिवाली, वियोगिनी की वेश-भूषा वाली तथा इसके पहले कभी न देखी गयी एक स्त्री को देखा ॥ ४ ॥

सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहूतभासः।
जेतुः परेषां जयशब्दपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध ॥ ५ ॥

सेति। सा वनिता साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः सज्जनसाधारणराज्यश्रियः पुरुहूतभास इन्द्रतेजसः परेषां शत्रूणां जेतुर्बन्धुमतस्तस्य कुशस्य पुरस्तात्स्थित्वा जयशब्दः पूर्वं यथा तथाऽञ्जलिं बबन्ध ॥ ५ ॥

अन्वयः—सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः पुरुहूतभासः परेषां जेतुः बन्धुमतः तस्य पुरस्तात् स्थित्वा जयशब्दपूर्वं अञ्जलिं बबन्ध ॥ ५ ॥

उस वनिता ने सभी सज्जनों के लिए सामान्य राज्य लक्ष्मी वाले, इन्द्र के समान तेजस्वी शत्रुओं को जीतने वाले तथा बन्धुओं वाले उस कुश को पहले जय जय कार किया फिर हाथ जोड़ा ॥ ५ ॥

अथानपोढार्गलमप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम्।
सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः ॥ ६ ॥

अथेति । अथ सविस्मयः पूर्वार्धेन शरीरपूर्वभागेन विसृष्टतल्पस्त्यक्तशय्यो दाशरथेस्तनूजः कुशः । अनपोढार्गलमनुद्घाटितविष्कम्भमपि । तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना । इत्यमरः । अगारम् । आदर्शतलं छायामिव प्रविष्टां तां वनितां प्रोवाच‍ावदत् ॥ ६ ॥

अन्वयः—अथ सविस्मयः पूर्वार्धविसृष्टतल्यः दाशरथेः तनूजः अनपोढार्गलं आदर्शतलं छायां इव प्रविष्टां तां प्रोवाच ॥ ६ ॥

इसके बाद बिना अर्गला (बेंडा) खुले भी घर में दर्पण में पड़ी छाया के समान प्रविष्ट हुयी उस स्त्री से विस्मययुक्त रामपुत्र कुश ने शरीर के पूर्वार्ध से शय्या छोड़ते हुए कहा ॥ ६ ॥

लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते ।
बिभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम् ॥ ७ ॥
का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किंवा मदभ्यागमकारणं ते ।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥ ८ ॥

लब्धान्तरेति । युग्मम् । सावरणेऽपि गेहे लब्धान्तरा लब्धावकाशा । त्वमिति शेषः । योगप्रभावश्च ते न लक्ष्यते । मृणालिनी हैमं हिमकृतमुपरागमुपद्रवमिव । अनिर्वृतानां दुःखितानामाकारं बिभर्षि च । न हि योगिनां दुःखमस्तीति भावः । किं च हे शुभे ! त्वं का । कस्य वा परिग्रहः पत्नी । ते तव मदभ्यागमे कारणं वा किम् । वशिनां जितेन्द्रियाणां रघूणां मनः परस्त्रीषु विषये विमुखा प्रवृत्तिर्यस्य तत्तथाभूतं मत्वाऽऽचक्ष्व ॥ ७–८ ॥

अन्वयः—सावरणे अपि लब्धान्तरा (त्वमिति शेषः) योगप्रभावः च ते न लक्ष्यते मृणालिनीं हैमं उपरागं इव अनिर्वृतानां आकारं बिभर्षि। शुभे ! त्वं का ? कस्य वा परिग्रहः ? ते मदभ्यागमकारणं वा किम् ? वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति मत्वा आचक्ष्व ॥ ७–८ ॥

तुमने आवरण युक्त होने पर भी घर में प्रवेश किया और तुम्हारा योग का प्रभाव लक्षित नहीं होता । हिमपात से उपद्रवग्रस्त कुम्हलायी कमलिनी की भाँति दुःखियों का-सा तुम आकार धारण कर रही हो । हे कल्याणि ! तुम कौन हो ? किसकी पत्नी हो ? अथवा मेरे पास तुम्हारे आने का कारण

क्या है ? जितेन्द्रिय रघुवंशियों का मन परायी स्त्री से विमुख स्वभाव वाला (जेहि सपनेहुँ परनारि न हेरी) मान कर बोलो ॥ ७–८ ॥

तमब्रवीत्सा गुरुणाऽनवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन ।
तस्याः पुरः सम्प्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नधिदेवतां माम् ॥ ९ ॥

तमिति । सा वनिता तं कुशमब्रवीत् । अनवद्याऽदोषा या पूः स्वपदोन्मुखेन विष्णुपदोन्मुखेन गुरुणा त्वत्पित्रा नीतपौरा हे राजन् ! मां सम्प्रति वीतनाथामनाथां तस्याः पुरो नगर्या अयोध्याया अधिदेवतां जानीहि ॥ ९ ॥

अन्वयः—सा तं अब्रवीत् अनवद्या या स्वपदोन्मुखेन गुरुणा नीतपौराः हे राजन् ! मां सम्प्रति वीतनाथां तस्याः पुरः अधिदेवतां जानीहि ॥ ९ ॥

उस वनिता ने कुश से कहा कि हे राजन् अपने वैकुण्ठ पद के लिए उन्मुख तुम्हारे पिता राम के द्वारा जिसके नागरिक अपने साथ ले जाए गएं, इस समय मुझे उसी अयोध्या नगरी की अनाथिनी अधिष्ठातृ देवी समझो । [मैं उसी अयोध्या की अनाथ अधिदेवी हूँ जिसके नगरवासियों को अपने धाम जाते हुए तुम्हारे पिता राम लेते गए ।] ॥ ९ ॥

वस्वौकसारामभिभूय साऽहं सौराज्यबद्धोत्सवया विभूत्या ।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम् ॥ १० ॥

वस्वौकसारामिति । साऽहं सौराज्येन राजन्वत्तया हेतुना बद्धोत्सवया विभूत्या । वस्वौकसाराऽलकापुरी । 'अलकापुरी वस्वौकसारा स्यात्' इति कोशः । अथवा मानसोत्तरशैलशिखरवर्तिनी शक्रनगरी । 'वस्वौकसारा शक्रस्य' इति विष्णुपुराणात् । तामभिभूय तिरस्कृत्य समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति करुणामवस्थां दीनां दशां प्रपन्ना प्राप्ता ॥ १० ॥

अन्वयः—सा अहं सौराज्यबद्धोत्सवया विभूत्या वस्वौकसारां अभिभूय समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति करुणां अवस्थां प्रपन्ना ॥ १० ॥

जो मैं राम जैसे सुन्दर राजा के राज्य में आनन्द-उत्सव वाली विभूति से कुबेर की राजधानी अलकापुरी को भी तिरस्कृत कर विराज रही थी : अब वही मैं तुम्हारे जैसे समस्त शक्तिसम्पन्न सूर्यवंशी राजा के रहते हुए भी इस प्रकार करुण-अवस्था (शोचनीय स्थिति) को प्राप्त हो गई हूँ ॥ १० ॥

विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे ।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्यं दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम् ॥ ११ ॥

विशीर्णेति । तल्पान्यट्टालिकाः । 'तल्पं शय्याऽट्टदारेषु' इत्यमरः । अट्टानि गृहभेदाः । 'अट्टं भवने च शुष्के च क्षौमेऽत्यर्थे गृहान्तरे' इति विश्वः । विशीर्णानि तल्पानामट्टानां च शतानि यस्य स तथोक्तः । 'विशीर्णकल्पाट्टशतो निवेशः' इति वा पाठः । अट्टाः क्षौमाः । 'स्यादट्टः क्षौममस्त्रियाम्' इत्यमरः । ईषदसमाप्तं विशीर्णानि विशीर्णकल्पान्यट्टशतानि यस्य स तथोक्तः । पर्यस्तशालः स्रस्तप्राकारः । 'प्राकारो वरणः शालः' इत्यमरः । प्रभुणा स्वामिना विनैवम्भूतो मे निवेशो निवेशनम् । अस्तनिमग्नसूर्यमस्ताद्रिलीनार्कमुग्रानिलेन भिन्नमेघं दिनान्तं विडम्बयत्यनुकरोति ॥ ११ ॥

अन्वयः—विशीर्णतल्पाट्टशतः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे निवेशः अस्तनिमग्नसूर्यं उग्रानिलभिन्नमेघं दिनान्तं विडम्बयति ॥ ११ ॥

स्वामीविहीन मेरा वह घर जिसमें सैकड़ों शैय्यायें तितर-बितर हो गयी हैं तथा जिसकी चहारदिवारी ध्वस्त हो गयी है, इस प्रकार लग रहा है मानो जैसे अस्ताचल पर निमग्न सूर्य वाले भयंकर प्रभञ्जन से छिन्न-भिन्न मेघों वाले सायंकाल का अनुकरण कर रहा हो ॥ ११ ॥

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्काविचिताभिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥ १२ ॥

निशास्विति । निशासु भास्वन्ति दीप्तिमन्ति कलान्यव्यक्तमधुराणि नूपुराणि यासां तासामभिसारिकाणाम् । 'कान्तार्थिनी तु या याति सङ्केतं साऽभिसारिका' इत्यमरः । यो राजपथः । सञ्चरत्यनेनेति सञ्चरः । सञ्चारसाधनमभूत् । 'गोचरसञ्चरवहव्रजव्यजापणनिगमाश्च' इत्यनेन घप्रत्ययान्तो निपातः । नदत्सु मुखेषु या उल्कास्ताभिर्विचितामिषाभिरन्विष्टमांसाभिः शिवाभिः क्रोष्ट्रीभिः स राजपथो वाह्यते गम्यते । वहेरन्यो वहिधातुरस्तीत्युपदेशः ॥ १२ ॥

अन्वयः—निशासु भास्वत्कलनूपुराणां अभिसारिकाणां यः सञ्चरः अभूत् नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः शिवाभिः सः राजपथः वाह्यते ॥ १२ ॥

रात्रि में जिस राजमार्ग पर देदीप्यमान सुन्दर नूपुरों को धारण करने

वाली अभिसारिकाएँ संचार किया करती थीं उसी पर अब चीत्कार करते हुए मुख से निकलने वाली उल्का से मांस अन्वेषण करने वाली सृगालियाँ चल रही हैं ॥ १२ ॥

आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥ १३ ॥

आस्फालितमिति । यदम्भः प्रमदाकराग्रैरास्फालितं ताडितं सत् । जल-क्रीडास्विति शेषः । मृदङ्गानां यो धीरध्वनिस्तमन्वगच्छदन्वकरोत् । तद्दीर्घि-काणामम्भ इदानीं वन्यैर्महिषैः कर्तृभिः शृङ्गैर्विषाणैराहतं सत्क्रोशति, न तु मृदङ्गध्वनिमनुकरोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

अन्वयः—यत् अम्भः प्रमदाकराग्रैः आस्फालितं मृदङ्गधीरध्वनिं अन्व-गच्छत् तत् दीर्घिकाणां अम्भः इदानीं वन्यैः महिषैः शृङ्गाहतं सत् क्रोशति ॥ १३ ॥

बावलियों का जो जल प्रमत्त सुन्दरियों के हाथ के अग्रभाग से ताड़ित होने पर मृदङ्गध्वनि के समान सुमधुर लगता था; वही अब जंगली भैंसों के सींग से आहत होने पर मानो रो रहा है ॥ १३ ॥

वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम् ॥ १४ ॥

वृक्षेशया इति । यष्टिरेव निवासः स्थानं तस्य भङ्गात् । वृक्षे शेरत इति वृक्षेशयाः । 'अधिकरणे शेते' इत्यच्प्रत्ययः । 'शयवासवासिष्वकालात्' इत्यलु-क्सप्तम्याः । मृदङ्गशब्दानामपगमादभावादलास्या नृत्यशून्याः । दवोऽरण्य-वह्निः । 'दवदावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः । तस्योल्काभिः स्फुलिङ्गैर्हतेभ्यः शेषाणि बर्हाणि येषां ते क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वं वनमयूरत्वं प्राप्ताः ॥ १४ ॥

अन्वयः—यष्टिनिवासभङ्गात् वृक्षेशया मृदंगशब्दापगमात् अलास्याः दवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वं प्राप्ताः ॥ १४ ॥

लकड़ियों के निवास स्थान के भंग हो जाने से वृक्षों पर सोने वाले, मृदंग का शब्द न होने से मधुर नृत्य छोड़ देने वाले व दावाग्नि के स्फुलिंगों से जलने से बचे हुए पखों वाले क्रीड़ामयर, बनैले मयूर हो गये हैं ॥ १४ ॥

विमुक्ता निर्मोकाः कञ्चुका एव पट्टाः । 'समौ कञ्चुकनिर्मोकौ' इत्यमरः । सङ्गात्सक्तत्वात्स्तनोत्तरीयाणि स्तनाच्छादनवस्त्राणि भवन्ति ॥ १७ ॥

अन्वयः—उत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणां स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानां फणिभिः वियुक्ताः निर्मोकपट्टाः सङ्गात् स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति ॥ १७ ॥

लकड़ियों के खम्भों पर सुन्दरियों के चित्रों के रंग उड़ गए हैं जिससे वे धूमिल लगते हैं (चन्दन वृक्ष के भ्रम से) उन पर सर्पों ने केचुल छोड़ दिए हैं जो चिपक जाने से (लकड़ी पर बने चित्र लिखित स्त्रियों के) स्तनों को आच्छादित करने वाली ओढ़नी हो गये हैं ॥ १७ ॥

कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु ।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥ १८ ॥

कालान्तरेति । कालान्तरेण कालभेदवशेन श्यामसुधेषु मलिनचूर्णेष्वितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु हर्म्येषु गृहेषु नक्तं रात्रौ मुक्तागुणानां शुद्धिरिव शुद्धिः स्वाच्छ्यं येषां तादृशा अपि ततः पूर्वं ये मूर्च्छन्ति स्म त एव चन्द्रपादाश्चन्द्ररश्मयः । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । न मूर्च्छन्ति, न फलन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

अन्वयः—कालान्तरश्यामसुधेषु इतस्ततः रूढतृणाङ्कुरेषु हर्म्येषु नक्तं मुक्तागुणशुद्धयः अपि त एव चन्द्रपादाः न मूर्च्छन्ति ॥ १८ ॥

(बहुत दिनों से पुताई न होने के कारण) जिनके चूने की पुरानी पुताई काली पड़ गयी है और जिनमें इधर-उधर तृणों के अंकुर निकल आए हैं जिन पर पहले रात मे चन्द्रमा की किरणें मोतियों की स्वच्छ कान्ति के समान लगती थी अब उन घरों पर वही चन्द्रकिरणें उस प्रकार प्रतिबिम्बित भी नहीं होती हैं ॥ १८ ॥

आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ॥ १९ ॥

आवर्ज्येति । किञ्च विलासिनीभिः सदयं शाखा लतावयवानावर्ज्यानमय्य यासां लतानां पुष्पाण्युपात्तानि गृहीतानि ता मदीया उद्यानलताः वन्यैः पुलिन्दैर्म्लेच्छविशेषैरिव वानरैः उभयैरपीत्यर्थः । क्लिश्यन्ते पीड्यन्ते ।

सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान् ।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥ १५ ॥

सोपानेति । किञ्च येषु सोपानमार्गेषु रामा रमण्यः सरागैर्लाक्षारसार्द्रैश्चरणा निक्षिप्तवत्यः । तेषु मे मम मार्गेषु सद्यो हतन्यङ्कुभिर्मारितमृगैर्व्याघ्रैरस्रदिग्धं रुधिरलिप्तं पदं निधीयते ॥ १५ ॥

अन्वयः—येषु सोपानमार्गेषु रामाः सरागान् चरणान् निक्षिप्तवत्यः तेषु सद्यः हतन्यङ्कुभिः व्याघ्रैः अस्रदिग्धं पदं निधीयते ॥ १५ ॥

मेरे जिन सोपानमार्गों पर सुन्दरियाँ महावर लगे चरणों को रखा करती थीं उन पर अब बाघ तत्काल मारे हुए मृगों के रक्त से रञ्जित पञ्जे रखते हैं ॥ १५ ॥

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥ १६ ॥

चित्रेति । पद्मवनमवतीर्णाः प्रविष्टाः, तथा लिखिता इत्यर्थः । करेणुभिः करिणीभिः । चित्रगताभिरेव । 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमरः । दत्तमृणालभङ्गाश्चित्रद्विपा आलेख्यमातङ्गाः । नखा एवाङ्कुशाः तेषामाघातैर्विभिन्नकुम्भाः सन्तः सरब्धसिंहप्रहृतं कुपितसिंहप्रहारं वहन्ति ॥ १६ ॥

अन्वयः—पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिः दत्तमृणालभङ्गाः चित्रद्विपाः नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः सन्तः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥ १६ ॥

कमल वन में अवतीर्ण हथिनियों द्वारा प्रदत्त मृणालखण्ड ग्रहण करने वाले चित्रित हाथी (वास्तविक हाथी समझने के कारण) क्रुद्ध सिंहों के प्रहार से नखरूपी अंकुश के आघात से विदीर्ण मस्तक वाले हो गए हैं ॥ १६ ॥

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥ १७ ॥

स्तम्भेष्विति । उत्क्रान्तवर्णक्रमा विशीर्णवर्णविन्यासास्ताश्च धूसराश्च यास्तासां स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानां स्त्रीप्रतिकृतीनां दारुमयीणां फणिभि-

क्लिश्नातेः कर्मणि लट्। 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः ॥ १९ ॥

अन्वयः—विलासिनीभिः सदयं शाखाः आवर्ज्य यासां पुष्पाणि उपात्तानि ता एव मदीयाः उद्यानलताः वन्यैः पुलिन्दैः इव वानरैः क्लिश्यन्ते ॥ १९ ॥

विलासिनी स्त्रियाँ दयापूर्वक (कि कहीं डाली टूट न जाय) जिन लताओं की डालियाँ झुका कर पुष्प तोड़ लिया करती थीं अब वे ही मेरी उद्यानलतायें जंगली जातियों--कोल, भील, किरातों—के समान वानरों द्वारा छिन्न-भिन्न कर दी जाती हैं ॥ १९ ॥

रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवाऽपि ।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥ २० ॥

रात्राविति। रात्रावनाविष्कृतदीपभासः अप्रकटीकृतदीपदीप्तयः, दीपप्रभाशून्या इत्यर्थः। दिवाऽपि दिवसेऽपि कान्तामुखानां श्रिया कान्त्या वियुता रहिता विच्छिन्नो नष्टो धूमप्रसरो येषां ते गवाक्षाः कृमितन्तुजालैर्लूतातन्तुवितानैस्तिरस्क्रियन्ते छाद्यन्ते ॥ २० ॥

अन्वयः—रात्रौ अनाविष्कृतदीपभासः दिवा अपि कान्तामुखश्रीवियुता विच्छिन्नधूमप्रसराः गवाक्षाः कृमितन्तुजालैः तिरस्क्रियन्ते ॥ २० ॥

जिन झरोखों से पहले रात में दीपक का प्रकाश बाहर आया करता था और दिन में सुन्दरी स्त्रियों की मुख श्री विलसित होती थी अब उन गवाक्षों की मकड़ियों के जाल से आच्छादित (तिरस्कृत) हो जाने के कारण यह हालत है कि रात्रि में उनसे दीपज्योति बाहर नहीं आ पाती है और दिन में भी वे सुन्दरियों के मुख की शोभा से वंचित रह जाते हैं यहाँ तक कि धुआँ निकलने का भी मार्ग नष्ट हो गया है ॥ २० ॥

बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥ २१ ॥

बलीति। 'बलिः पूजोपहारः स्यात्' इति शाश्वतः। बलिक्रियावर्जितानि सैकतानि येषां तानि। स्नानीयानि स्नानसाधनानि चूर्णादीनि। 'कृत्यल्युटो

बहुलम्' इति करणेऽनीयर् प्रत्ययः, स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति सरयूजलानि शून्यानि रिक्तान्युपान्तेषु वानीरगृहाणि येषां तानि च दृष्ट्वा दूये परितप्ये ॥ २१ ॥

अन्वयः—बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गम् अनाप्नुवन्ति सरयूजलानि शून्यानि उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा दूये ॥ २१ ॥

मैं पूजान विधान से वंचित तटवाले, स्नान करने के योग्य साधनों से रहित, तटवर्ती वेंत की लताओं के शून्य कुञ्ज-भवनों वाले सरयू जल को देखकर संतप्त हो रही हूँ ॥ २१ ॥

तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपेतुं कुलराजधानीम् ।
हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिम् ॥ २२ ॥

तदिति । तत्तस्मादिमां वसतिं कुशावतीं विसृज्य कुलराजधानीं राज्ञा धीयतेऽस्यामिति राजधानी तामयोध्यां मामभ्युपैतुमर्हसि । कथमिव । ते गुरुः पिता रामस्तां प्रसिद्धां कारणवशान्मानुषीं तनुं मानुषमूर्तिं हित्वा परमात्ममूर्तिम् यथा विष्णुमूर्तिमिव ॥ २२ ॥

अन्वयः—तत् इमां वसतिं विसृज्य कुलराजधानीं तां मां अभ्युपेतुं अर्हसि ते गुरुः तां कारणमानुषीं तनुं हित्वा परमात्ममूर्तिं यथा ॥ २२ ॥

इसलिए इस कुशावती नगरी को छोड़कर अपने कुल की राजधानी मुझ अयोध्या में उसी प्रकार आ जाओ जैसे तुम्हारे पिता राम कार्यवश धृत मानव शरीर को छोड़कर परमात्मा की मूर्ति में अवस्थित हो गए ॥ २२ ॥

तथेति तस्याः प्रणयं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्प्राग्रहरो रघूणाम् ।
पूरप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा शरीरबन्धेन तिरोबभूव ॥ २३ ॥

तथेतीति । रघूणां प्राग्रहरः श्रेष्ठः कुशस्तस्याः पुरः प्रणयं याच्ञां प्रतीतो हृष्टः संस्तथेति प्रत्यग्रहीत्स्वीकृतवान् । पूः पुराधिदेवताऽप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा सती । इष्टलाभादिति भावः, शरीरबन्धेन शरीरयोगेन करणेन तिरोबभूवान्तर्दधे, मानवं रूपं विहाय दैवं रूपमग्रहीदित्यर्थः ॥ २३ ॥

अन्वयः—रघूणां प्राग्रहरः तस्याः प्रणयं प्रतीतः तथेति प्रत्यग्रहीत् पूः अपि अभिव्यक्तमुखप्रसादा सती शरीरबन्धेन तिरो बभूव ॥ २३ ॥

रघुकुल में श्रेष्ठ कुश ने उस नगराधिदेवता के प्रणय-निवेदन को प्रसन्न होते हुए "वैसा ही होगा" यह कहकर स्वीकार कर लिया ॥ नगर की अधिदेवी भी मुख की प्रसन्नता व्यक्त करती हुयी शरीर के बन्धन से अन्तर्हित हो गयी । मानवरूप छोड़कर देवरूप धारण कर लिया ॥ २३ ॥

तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस ।
श्रुत्वा त एनं कुलराजधान्याः साक्षात्पतित्वे वृतमभ्यनन्दन् ॥ २४ ॥

तदिति । नृपतिः कुशस्तदद्भुतं रात्रिवृत्तं रात्रिवृत्तान्तं प्रातः संसदि समायां द्विजेभ्यः शशंस । ते द्विजाः श्रुत्वैनं कुशं कुलराजधान्याः साक्षात्स्वयमेव पतित्वे विषये वृत्तमभ्यनन्दन् । पतित्वेन वृतोऽसीत्यपूजयन् । आशीर्भिरिति शेषः । अत्र गार्ग्यः—'दृष्ट्वा स्वप्नं शोभनं नैव सुप्यात्पश्चाद् दृष्टो यः स पाकं विधत्ते । शंसेदिष्टं तत्र साधुर्द्विजेभ्यस्ते चाशीर्भिः प्रीण्येयुर्नरेन्द्रम् ॥' इदमपि स्वप्नतुल्यमिति भावः ॥ २४। ॥

अन्वयः—नृपतिः तत् अद्भुतं रात्रिवृत्तं प्रातः संसदि द्विजेभ्यः शशंस ते श्रुत्वा एवं कुलराजधान्याः साक्षात् पतित्वे वृत्तं अभ्यनन्दन् ॥ २४ ॥

राजा कुश ने उस रात्रि के अद्भुत वृत्तान्त को प्रातः सभा में ब्राह्मणों से कहा । उन ब्राह्मणोंने यह सब सुनकर कुश को राजधानी के स्वामी के रूप में वरण कर लेने पर आशीर्वचनों द्वारा अभिनन्दित किया ॥ २४ ॥

कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा यात्राऽनुकूलेऽहनि सावरोधः ।
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः सैन्यैरयोध्याऽभिमुखः प्रतस्थे ॥ २५ ॥

कुशावतीमिति । स कुशः कुशावतीं श्रोत्रियेषु छान्दसेष्वधीनां श्रोत्रियसात् । 'तदधीनवचने' इति सातिप्रत्ययः । 'श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते' इति निपातः । 'श्रोत्रियश्छान्दसौ समौ' इत्यमरः । कृत्वा यात्राऽनुकूलेऽहनि सावरोधः सान्तःपुरः सन् । वायुरभ्रवृन्दैरिव । सैन्यैरनुद्रुतोऽनुगतः सन्नयोध्याऽभिमुखः प्रतस्थे ॥ २५ ॥

अन्वयः—सः कुशावतीं श्रोत्रियसात् कृत्वा यात्रानुकूले अहनि सावरोधः सन् वायुः अभ्रवृन्दैः इव सैन्यैः अनुद्रुतः अयोध्याभिमुखः प्रतस्थे ॥ २५ ॥

तस्येति। नेतुस्तस्य कुशस्य द्विपानां मदवारिभिः सेकात्तुरङ्गमाणां खुराभिघाताच्च यथासङ्ख्यं पथि रेणू रजः पङ्कभावं पङ्कतां प्रपेदे, पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय, तस्य तावदस्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

अन्वयः—नेतुः तस्य द्विपानां मदवारिसेकात् तुरङ्गमाणां खुराभिघातात् च पथि रेणुः पङ्कभावं प्रपेदे पङ्कोऽपि रेणुत्वं इयाय ॥ ३० ॥

उस सेनानायक कुश के हाथियों के मदजल के द्वारा सिंचाई से मार्ग में धूलि कीचड़ हो गयी; और घोड़ों के खुरों के आघात से कीचड़ भी धूलि हो गयी ॥ ३० ॥

मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना।
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि ॥ ३१ ॥

मार्गैषिणीति। वैन्ध्येषु विन्ध्यसम्बन्धिषु कटकान्तरेषु नितम्बावकाशेषु। 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः' इत्यमरः। मार्गैषिणी मार्गावलोकिनी। अत एव बहुधा विभिन्ना। महाविरावा दीर्घशब्दा सा सेना। रेवेव नर्मदेव। 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमरः। गुहामुखानि बद्धप्रतिश्रुन्ति प्रतिध्वानवन्ति चकाराकरोत् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—वैन्ध्येषु कटकान्तरेषु मार्गैषिणी बहुधाभिन्ना महाविराव सा सेना रेवा इव गुहामुखानि बद्धप्रतिश्रुन्ति चकार ॥ ३१ ॥

विन्ध्याचल के मध्यवर्ती भागों में मार्ग का पता लगाने वाली वह सेना अनेक भागों में बँट गयी और रेवा नदी के समान महा शब्द करने वाली उस सेना के उद्घोष ने गुहा के मुखों को प्रतिध्वनि से गुञ्जायमान कर दिया ॥ ३१ ॥

स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः।
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादितानि ॥ ३२ ॥

स इति। धातूनां गैरिकादिनां भेदेनारुणा आरक्ता याननेमी रथचक्रधारा यस्य प्रयाणे ये ध्वनयः क्ष्वेडहेषादया तन्मिश्राणि तूर्याणि यस्यैवंविधः स प्रभुः कुशः। पुलिन्दैः किरातैरुपपादितानि समर्पितान्युपायनानि पश्यन्। विन्ध्यं व्यलङ्घयत् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—धातुभेदारुणयाननेमिः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः स प्रभुः पुलिन्दैः उपपादितानि उपायनानि पश्यन् विन्ध्यं व्यलंघयत् ॥ ३२ ॥

गेरु आदि धातुओं के पीस देने से आरक्त रथ के चक्र की धारा वाले, यात्रा में रथ-हाथी-घोड़ों के शब्दों में नगाड़ों तुरही आदि बाजों के मिश्रित शब्द वाले प्रभु कुश ने किरातों के द्वारा समर्पित उपहार की सामग्रियों को देखते हुए विन्ध्याचल को पार किया ॥ ३२ ॥

तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
अयत्नबालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ॥ ३३ ॥

तीर्थ इति । तदीये वैन्ध्ये तीर्थेऽवतारे गजा एव सेतुस्तस्य बन्धाद्धेतोः प्रतीपगां पश्चिमवाहिनीं गङ्गामुत्तरोऽस्य कुशस्य नभोलङ्घनेन लोलपक्षा हंसा अयत्नेन बालव्यजनीबभूवुश्चामराण्यभूवन् । अभूततद्भावे च्विः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—तदीये तीर्थे गजसेतुबन्धात् प्रतीपगां गङ्गां उत्तरतः अस्य नभोलंघनलोलपक्षाः हंसाः अयत्नबालव्यजनी बभूवुः ॥ ३३ ॥

विन्ध्य तीर्थ में अवतरित होते समय हाथियों के सेतु-बाँध हो जाने के कारण विपरीत दिशा में पश्चिम की ओर बहने वाली गङ्गा को पार करते हुए कुश के आकाश में उड़ जाने के कारण चंचल पंखों वाले हंस बिना प्रयत्न के ही बालों के पंखे (चामर) हो गए ॥ ३३ ॥

स पूर्वजानां कपिलेन रोषाद्भस्मावशेषीकृतविग्रहाम् ।
सुरालयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्रोतसं नौलुलितं ववन्दे ॥ ३४ ॥

स इति । स कुशः कपिलेन मुनिना रोषाद्भस्मावशेषीकृता विग्रहा देहा येषां तेषां पूर्वजानां वृद्धानां सगराणां सुरालयस्य स्वर्गस्य प्राप्तौ निमित्तं नौभिर्लुलितं क्षुभितम् । त्रिस्रोतस इदं त्रैस्रोतसं गाङ्गमम्भो ववन्दे ॥ ३४ ॥

अन्वयः—सः कपिलेन रोषात् भस्मावशेषीकृतविग्रहाणां पूर्वजानां सुरालयप्राप्तिनिमित्तं नौ लुलितं त्रैस्रोतसं अम्भः ववन्दे ॥ ३४ ॥

कपिल मुनि के द्वारा क्रोध से भस्मावशेष शरीर वाले पूर्वजों के देवलोक प्राप्ति के कारणभूत गङ्गा जल को जो नौकाओं से क्षुभित हो गया था, कुश ने प्रणाम किया ॥ ३४ ॥

उस कुश ने कुशावती नगरी को वेदपाठी ब्राह्मणों के अधीन कर यात्रा के अनुकूल दिन में अन्तःपुर के साथ अयोध्या की ओर प्रस्थान किया। उनके पीछे आने वाली सेना मेघसमूहों के पीछे चलने वाली वायु के समान लग रही थी ॥ २५ ॥

सा केतुमालोपवना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतेव नागैः।
सेना रथोदारगृहा प्रयाणे तस्याभवज्जङ्गमराजधानी ॥ २६ ॥

सेति। केतुमाला एवोपवनानि यस्याः सा बृहद्भिर्नागैर्गजैर्विहारशैलैः क्रीडाशैलैरनुगतेव स्थिता। रथा एवोदारगृहा यस्याः सा सेना तस्य कुशस्य प्रयाणे जङ्गमराजधानी सञ्चारिणी नगरीवाभवद्बभूव ॥ २६ ॥

अन्वयः—केतुमालोपवना बृहद्भिः नागैः विहारशैलानुगता इव रथोदारगृहा सा सेना तस्य प्रयाणे जङ्गमराजधानी इव अभवत् ॥ २६ ॥

प्रयाणकाल में वह सेना ही कुश की चलती-फिरती राजधानी हो गयी। पताकाओं की पंक्ति ही उस राजधानी के उपवन लग रहे थे। उसके बड़े-बड़े गजराज विहार-पर्वत के समान लगते थे और रथ ही उसके मनोहर भवन थे ॥ २६ ॥

तेनातपत्रामलमण्डलेन प्रस्थापितः पूर्वनिवासभूमिम्।
बभौ बलौघः शशिनोदितेन वेलामुदन्वानिव नीयमानः ॥ २७ ॥

तेनेति। आतपत्रमेवामलं मण्डलं बिम्बं यस्य तेन। तेन कुशेन पूर्वनिवासभूमिमयोध्यां प्रति प्रस्थापितो बलौघः। आतपत्रवदमलमण्डलेनोदितेन शशिना वेलां नीयमानः प्राप्यमाणः। उदकमस्यास्तीत्युदन्वान् उदधिरिव बभौ। 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातनात्साधुः ॥ २७ ॥

अन्वयः—आतपत्रामलमण्डलेन तेन पूर्वनिवासभूमिम् प्रस्थापितः बलौघः उदितेन शशिना वेलां नीयमानः उदन्वान् इव बभौ ॥ २७ ॥

जैसे निर्मल मण्डल से उदित चन्द्रमा के द्वारा आकर्षित समुद्र तट की ओर ले जाते हुए सुशोभित होता है उसी प्रकार निर्मल छत्रधारी उस कुश के द्वारा पूर्व निवास भूमि अयोध्या की ओर प्रस्थापित सैन्य समूह सुशोभित हुआ ॥ २७ ॥

तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम् ।
वसुन्धरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन ॥ २८ ॥

तस्येति । प्रयातस्य प्रस्थितस्य तस्य कुशस्य वरूथिनीनां सेनानां कर्त्रीणाम् । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्तरि षष्ठी । पीडां सोढुमपर्याप्तवतीवाशक्तेव वसुन्धरा रजश्छलेन द्वितीयं विष्णुपदमाकाशमध्यारुरोहेव । इत्युत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

अन्वयः—प्रयातस्य तस्य विरूथिनीनां पीडां सोढुं अपर्याप्तवती इव वसुन्धरा रजश्छलेन द्वितीयं विष्णुपदं अध्यारुरोह इव ॥ २८ ॥

प्रस्थित उस कुश की सेनाओं की पीड़ा को मानों सहन करने में असमर्थ होती हुयी पृथ्वी धूलि के बहाने से विष्णु के द्वितीय पद आकाश में चली गयी ॥ २८ ॥

उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात्पुरो निवेशे पथि च व्रजन्ती ।
सा यत्र सेना ददृशे नृपस्य तत्रैव सामग्र्यमतिं चकार ॥ २९ ॥

उद्यच्छमानेति । पश्चात्कुशावत्याः सकाशाद्गमनाय प्रयाणाय तथा पुरोऽग्रे निवेशे निमित्ते, निवेष्टुं चेत्यर्थः । उद्यच्छमानोद्योगं कुर्वती । समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे' इत्यस्य सकर्मकाधिकारत्वादात्मनेपदम् । पथि च व्रजन्ती नृपस्य कुशस्य सा सेना यत्र पश्चात्पुरो मध्ये वा ददृशे तत्रैव सामग्र्यमतिं कृत्स्नताबुद्धिं चकार अपरिमिता तस्य सेनेत्यर्थः ॥ २९ ॥

अन्वयः—पश्चात् गमनाय पुरः निवेशे उद्यच्छमाना पथि च व्रजन्ती नृपस्य सा सेना यत्र ददृशे तत्रैव सामग्र्यमतिं चकार ॥ २९ ॥

पीछे कुशावती से प्रयाण करने के लिए तथा आगे निवेश-पड़ाव-डालने के लिए उद्योग करती हुयी और मार्ग में चलती हुयी राजा कुश की वह सेना पीछे आगे बीच में जहाँ कहीं भी देखी गयी वहीं समग्रता की बुद्धि कर दी । उसकी विशाल सेना अपरिमित जान पड़ती थी ॥ २९ ॥

तस्य द्विपानां मदवारिसेकात्खुराभिघाताच्च तुरङ्गमाणाम् ।
रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय नेतुः ॥ ३० ॥

इसके बाद रघुवीर कुश ने प्रशस्त देव मन्दिरों वाली उस अयोध्या नगरी की उपवास करने वाले व्रती वास्तु विधान के विशेषज्ञ पण्डितों द्वारा पशुबलि सहित पूजा करवायी ॥ ३९ ॥

तस्याः स राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य ।
यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं सम्भावयामास यथाप्रधानम् ॥ ४० ॥

तस्याः इति । स कुशस्तस्याः पुरः सम्बन्धि राजोपपदं राजशब्दपूर्वं निशान्तं, राजभवनमित्यर्थः । 'निशान्तं भवनोषसोः' इति विश्वः । कामी कान्ताहृदयमिव प्रविश्य । अन्यैर्निशान्तैरनुजीविलोकममात्यादिकं यथाप्रधानं मान्यानुसारेण । यथार्हं यथोचितं, तत्तदुचितगृहैरित्यर्थः सम्भावयामास सम्भावितवान् ॥ ४० ॥

अन्वयः—सः तस्याः राजोपपदं निशान्तं कामी कान्ताहृदयं इव प्रविश्य अन्यैः अनुजीविलोकं यथा प्रधानं यथार्हं सम्भावयामास ॥ ४० ॥

जिस प्रकार कामी पुरुष कान्ता के हृदय में प्रविष्ट हो जाता है उसी प्रकार कुश ने भी उस अयोध्यापुरी के राजभवन में प्रवेश कर यथायोग्य अन्य भवनों द्वारा मान्यतानुसार अनुजीवि लोगों (मन्त्रियों) को भी संभावित किया ॥ ४० ॥

सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरङ्गैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः ।
पूराबभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी ॥ ४१ ॥

सेति । विपणिस्थानि पण्यानि क्रयविक्रयार्हवस्तूनि यस्याः सा । 'विपणिः' पण्यवीथिका' इत्यमरः । सा पूरयोध्या मन्दुरासंश्रयिभिरश्वशालासंश्रयणशीलैः । 'वाजिशाला तु मन्दुरा' इत्यमरः । 'जिदृक्षि—'इत्यादिणेनिप्रत्ययः । तुरङ्गैरश्वैः । शालासु गेहेषु ये विधिना स्थापिताः स्तम्भास्तान्गतैः प्राप्तैर्नागैश्च । सर्वाङ्गेषु नद्धान्याभरणानि यस्याः सा नारीव । आबभासे ॥ ४१ ॥

अन्वयः—विपणिस्थपण्या सा पूः मन्दुरासंश्रयिभिः तुरङ्गैः शालाविधिस्तम्भगतैः नागैः च सर्वाङ्गनद्धाभरणा नारी इव आबभाषे ॥ ४१ ॥

अश्वशालाओं में आश्रय लेने वाले घोड़ों, गजशालाओं में विधिवत् स्थापित खम्भों में बँधे हाथियों से क्रय-विक्रय योग्य वस्तुओं से परिपूर्ण

बाजारों वाली वह अयोध्या नगरी सर्वाङ्ग में आभूषण से सुसज्जित नारी के समान सुशोभित हो रही थी ॥ ४१ ॥

वसन्स तस्यां वसतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम् ।
न मैथिलेयः स्पृहयाम्बभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय ॥ ४२ ॥

वसन्निति । स मैथिलेय। कुशः पुराणशोभां पूर्वशोभामधिरोपितायां तस्यां रघूणां वसतावयोध्यायां वसन् । दिवो भर्त्रे देवेन्द्राय तथाऽलकेश्वराय कुबेरायापि न स्पृहयाम्बभूव, तावपि न गणयामासेत्यर्थः । 'स्पृहेरीप्सितः' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । एतेनायोध्याया अन्यनगरातिशायित्वं गम्यते ॥ ४२ ॥

अन्वयः—स। मैथिलेयः पुराणशोभां अधिरोपितायां तस्यां वसतौ वसन् दिवः भर्त्रे अलकेश्वराय अपि न स्पृह्याम्बभूव ॥ ४२ ॥

उस मैथिली सीता के पुत्र कुश ने पुनः प्राचीन शोभा प्राप्त कर लेने वाली रघुवंशियों की राजधानी अयोध्या नगरी में निवास करते हुए न तो स्वर्ग के स्वामी इन्द्र होने की कामना की और न अलका के ईश्वर कुबेर की ही इच्छा की। (अयोध्या में रहते हुए कुश को स्वर्ग का इन्द्र और अलका का कुवेर भी स्पृहणीय नहीं लगा) ॥ ४२ ॥

अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम् ।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम धर्मः प्रियावेषमिवोपदेष्टुम् ॥ ४३ ॥

अथास्येति । अथास्य कुशस्य । रत्नैर्मुक्तामणिभिर्ग्रथितान्युत्तरीयाणि यस्मिस्तम् । एकान्तमत्यन्तं पाण्ड्वोः स्तनयोर्लम्बिनो हारा यस्मिस्तम् । निःश्वासहार्याण्यतिसूक्ष्माण्यशुकानि यत्र तम् । एवं शीतलप्रायं प्रियाया वेषं नेपथ्यमुपदेष्टुमिव घर्मो ग्रीष्मआजगाम ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अथ अस्य रत्नग्रथितोत्तरीयं एकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारं निःश्वासहार्यांशुकं प्रियावेशं उपदेष्टुं इव धर्मः आजगाम ॥ ४३ ॥

इसके बाद उस कुश की रत्नजटित दुपट्टों वाली अत्यन्त गौर वर्ण स्तनों पर लटकते हुए हार वाली निःश्वास वायु से प्रकम्पित सूक्ष्म वस्त्रों वाली प्रिया के वेश का मानों उपदेश देने के लिए ग्रीष्म ऋतु आ गयी ॥ ४३ ॥

इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः ।
वेदिप्रतिष्ठान्विततध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ॥ ३५ ॥

इतीति । इति कैश्चिदहोभिरध्वनोऽन्तेऽवसाने कुशः सरय्वाः कूलं समासाद्य विततध्वराणां विस्तृतमखानां रघूणाम् । वेदिः प्रतिष्ठास्पदं येषां तान् । यूपाञ्छतशोऽपश्यत् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—इति कैश्चित् अहोभिः अध्वनः अन्ते कुशः सरय्वाः कूलं समासाद्य विततध्वराणां रघूणां वेदिप्रतिष्ठान् शतशः यूपान् अपश्यत् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार कुछ दिनों में मार्ग के समाप्त हो जाने पर कुश ने सरयू के तट पर पहुँच कर विस्तृत यज्ञ करने वाले रघुवंशी राजाओं की यज्ञवेदी पर संस्थापित सैकड़ों यज्ञस्तम्भों को देखा ॥ ३५ ॥

आधूय शाखाः कुसुमद्रुमाणां स्पृष्ट्वा च शीतान्सरयूतरङ्गान् ।
तं क्लान्तसैन्यं कुलराजधान्याः प्रत्युज्जगामोपवनान्तवायुः ॥३६॥

आधूयेति । कुलराजधान्या उपवनान्तवायुः कुसुमद्रुमाणां शाखा आधूयेषद्धूत्वा, सुरभिर्मन्दश्चेत्यर्थः । शीतान्सरयूतरङ्गांश्च स्पृष्ट्वा । अनेन शैत्योक्तिः । क्लान्तसैन्यं तं कुशं प्रत्युज्जगाम ॥ ३६ ॥

अन्वयः—कुलराजधान्याः उपवनान्तवायुः कुसुमद्रुमाणां शाखाः आधूय शीतान् सरयूतरङ्गांश्च स्पृष्ट्वा क्लान्तसैन्यं तं प्रत्युज्जगाम ॥ ३६ ॥

कुल की राजधानी अयोध्या के उपवनों में हवा ने पुष्प के वृक्षों की डालियाँ हिलाकर और सरयू के शीतल तरंगों का स्पर्श कर (शीतल-मन्द-सुगन्ध त्रिविध पवन ने) थकी हुई सेना वाले उस कुश की अगवानी की ॥ ३६ ॥

अथोपशल्ये रिपुमग्नशल्यस्तस्याः पुरः पौरसखः स राजा ।
कुलध्वजस्तानि चलध्वजानि निवेशयामास बली बलानि ॥ ३७ ॥

अथेति । अथ रिपुषु मग्नं शल्यं शङ्कुः शरो वा यस्य सः । 'शल्यं शङ्कौ शरे वंशे' इति विश्वः । पौराणां सखा पौरसखः । 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' इत्यनेन टच्प्रत्ययः । कुलस्य ध्वजश्चिह्नभूतो बली स राजा चलाश्चलन्तो वा ध्वजा येषां तानि तानि बलानि सैन्यानि तस्याः पुरः पुर्या उपशल्ये ग्रामान्ते । 'ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्' इत्यमरः । निवेशयामास ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अथ रिपुमग्नशल्यः पौरसखः कुलध्वजः बली स राजा चलः ध्वजानि तानि बलानि तस्याः पुरः उपशल्ये निवेशयामास ।। ३७ ।।

इसके बाद शत्रुओं में बाण चुभो देने वाले, नगर निवासियों के मित्र, कुल पताका स्वरूप शक्तिशाली उस राजा कुश ने चंचल ध्वजों वाली सेनाओं को उस अयोध्या नगरी के गाँवों के समीप ठहरा दिया ।। ३७ ।।

तां शिल्पिसङ्घाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृतसाधनत्वात् ।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ।।३८।।

तामिति । प्रभुणा नियुक्ताः शिल्पिनां तक्षादीनां सङ्घाः सम्भृतसाधनत्वान्मिलितोपकरणत्वात्तां तथागतां, शून्यामित्यर्थः । पुरमयोध्याम् । मेघा अपां विसर्गाज्जलसेकान्निदाघग्लपितां ग्रीष्मतप्तामुर्वीमिव । नवीचक्रुः परिपूरयाञ्चक्रुः ।। ३८ ।।

अन्वयः—प्रभुणा नियुक्ताः शिल्पिसङ्घाः सम्भृतसाधनत्वात् तां तथागतां पुरं मेघाः अपां विसर्गात् निदाघग्लपितां उर्वीमिव नवी चक्रुः ।। ३८ ।।

जिस प्रकार बादल ग्रीष्म से संतप्त पृथ्वी को जलवृष्टि द्वारा नवजीवन प्रदान करता है, उसी प्रकार स्वामी कुश के आदेश से नियुक्त कारीगरों ने परिपूर्ण साधन होने के कारण उस प्रकार उजड़ी हुयी अयोध्या नगरी को नवीन बना दिया ।

ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः ।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः ।। ३९ ।।

तत इति । ततो रघुप्रवीरः कुशः प्रतिमा देवताप्रतिकृतयः, अर्च्या इत्यर्थः । परार्ध्यप्रतिमागृहायाः प्रशस्तदेवतायतनायाः पुरः उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिः प्रयोज्यैः पशूपहारैः सहितां सपशूपहारां सपर्यां पूजां निर्वर्तयामास कारयामास । अत्र ण्यन्ताण्णिच्पुनरित्यनुसन्धेयम् । अन्यथा वृतेरकर्मकस्याकरोत्यर्थत्वे कारयत्यर्थाभावप्रसङ्गात् । भवितव्यं वृतेरण्यन्तकर्त्रा प्रयोज्यत्वेन तन्निर्देशात्प्रयोगान्तरस्यापेक्षितत्वात् ।। ३९ ।।

अन्वयः—ततः रघुप्रवीरः परार्ध्यप्रतिमागृहायाः पुरः उपोषितैः वास्तुविधानविद्भिः सपशूपहारां सपर्यां निर्वर्तयामास ।। ३९ ।।

स्वेदानुविद्धेति। स्वेदानुविद्धमार्द्रं नूतनं नखक्षतमङ्को यस्य तस्मिन्कामिनीनां कपोले भूयिष्ठमत्यर्थं सन्दष्टशिखं विश्लिष्टकेसरम्। अत एव, कर्णाच्च्युतमपि शिरीषपुष्पं सहसा न पपात ॥ ४८ ॥

अन्वयः—स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के कामिनीनां कपोले भूयिष्ठसंदष्टशिख अतएव कर्णात् च्युतं अपि शिरीषपुष्पं सहसा न पपात ॥ ४८ ॥

कामिनियों के कान से गिरा हुआ भी शिरीष का पुष्प सहसा गिर नहीं जाता था क्योंकि उसका पराग पसीने से सने आर्द्र नखक्षतों वाले कपोलों पर अत्यधिक चिपक जाता था। अतः कान से गिरकर भी कपोल पर कुछ देर तक चिपक कर तब गिरता था ॥ ४८ ॥

यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान्रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥ ४९ ॥

यन्त्रप्रवाहैरिति। ऋद्धिमन्तो धनिका धारागृहेषु यन्त्रधारागृहेषु शिशिरैर्यन्त्रप्रवाहैर्यन्त्रसञ्चारितसलिलपूरैः परीतान्व्याप्तान्मलयोद्भवस्य रसेन चन्दनोदकेन धौतान्क्षालिताञ्छिलाविक्षेपान्मणिमयासनान्यधिशय्य तेषु शयित्वाऽऽतपं निन्युरातपपरिहारं चक्रुः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—ऋद्धिमन्तः धारागृहेषु शिशिरैः यन्त्रप्रवाहैः परीतान् मलयोद्भवस्य रसेन धौतान् शिलाविशेषान् अधिशय्य आतपं निन्युः ॥ ४९ ॥

समृद्धिशाली धनी-मानी लोगों ने मलय पर्वत पर उत्पन्न चन्दन के जल से चारों ओर शीतल यन्त्र धारा-गृहों में फौव्वारों से धुली हुई विशेष प्रकार की शिलाओं पर सो कर गर्मी बितायी ॥ ४९ ॥

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥ ५० ॥

स्नानार्द्रेति। वसन्तस्यात्मसहकारिणोऽत्ययेनातिक्रमेण मन्दवीर्योऽतिदुर्बलः कामः स्नानार्द्राश्च ते मुक्ताश्च, धूपसञ्चारणार्थमित्यर्थः। तेषु अनुधूपवासं धूपवासानन्तरं विन्यस्ताः सायन्तनमल्लिका येषु तेषु। अङ्गनानां केशेषु बलं लेभे, तैरुद्दीपित इत्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्वयः—वसन्तात्ययमन्दवीर्यः कामः स्नानार्द्रमुक्तेषु अनुधूपवासं विन्यस्तसायंतनमल्लिकेषु अङ्गनानां केशेषु बलं लेभे ॥ ५० ॥

जो काम अपने सहायक मित्र वसन्त के व्यतीत हो जाने से मन्द वीर्य वाला—दुर्बल हो गया था वही अब स्नान करने से आर्द्र खुले हुए धूप से सुगन्धित किए गए और सायंकाल होने पर मल्लिका पुष्पों से गुम्फित कर देने से सुरभित कामिनियों के केशों पर बल पाने लगा। (अर्थात् गर्मी के कारण कामभाव मन्द हो गया था किन्तु कामिनियों के स्नानार्थ उन्मुक्त सरस सुगन्धित केशों में मल्लिका पुष्प गुँथा हुआ देखकर पुनः उद्दीप्त होने लगा) ॥ ५० ॥

आपिञ्जरा बद्धरजःकणत्वान्मञ्जर्युदारा शुशुभेऽर्जुनस्य ।
दग्ध्वाऽपि देहं गिरिशेन रोषात्खण्डीकृता ज्येव मनोभवस्य ॥ ५१ ॥

आपिञ्जरेति । बद्धरजःकणत्वाद् व्याप्तरजःकणत्वादापिञ्जरोदारा द्राघीयस्यर्जुनस्य ककुभवृक्षस्य । 'इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्ज्जुनः' इत्यमरः । मञ्जरी देहं दग्ध्वाऽपि रोषाद्गिरिशेन गिरिरस्त्यस्य निवासत्वेन गिरिशस्तेन । लोमादित्वाच्छप्रत्ययः । गिरौ शेत इति विग्रहे तु 'गिरौ शेतेर्डः' इत्यस्य छन्दसि विधानाल्लोके प्रयोगानुपपत्तिः स्यात् । तस्मात्पूर्वोक्तमेव विग्रहवाक्यं न्याय्यम् । खण्डीकृता मनोभवस्य ज्या मौर्वीव शुशुभे ॥ ५१ ॥

अन्वयः—बद्धरजःकणत्वात् आपिञ्जरा उदारा अर्जुनस्य मञ्जरी देहं दग्ध्वा अपि रोषात् गिरिशेन खण्डीकृता मनोभवस्य ज्या इव शुशुभे ॥ ५१ ॥

अर्जुन पुष्प की प्रचुर पराग कणों से परिपूर्ण पीली-पीली मञ्जरी इस प्रकार सुशोभित हो रही थी मानो भगवान् शंकर ने रोष से कामदेव के शरीर को जलाकर भी उसके धनुष की प्रत्यञ्चा खण्डित कर दी हो ॥ ५१ ॥

मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणशीधुं नवपाटलं च ।
सम्बध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः ॥ ५२ ॥

मनोज्ञेति । मनोज्ञगन्धमिति सर्वत्र सम्बध्यते । सहकारभङ्गं चूतपल्लवखण्डम् । पुराणं वासितं शेरतेऽनेनेति शीधुः पक्वेक्षुरसप्रकृतिकः सुराविशेषस्तम् । 'शीङो धुक्' इत्युणादिसूत्रेण 'शीङ् स्वप्ने' इत्यस्माद्धातोर्धुक्प्रत्ययः ।

अगस्त्यचिह्नादयनात्समीपं दिगुत्तरा भास्वति सन्निवृत्ते।
आनन्दशीतामिव बाष्पवृष्टिं हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज ॥ ४४ ॥

अगस्त्येति। अगस्त्य चिह्नं यस्य तस्मादयनान्मार्गाद्दक्षिणायनाद्भास्वति समीपं सन्निवृत्ते सति। उत्तरा दिक्। आनन्दशीतां बाष्पवृष्टिमिव। हैमवतीं हिमवत्सम्बन्धिनीं हिमस्रुतिं हिमनिष्यन्दं ससर्ज। अत्र प्रोषितप्रियासमागम-समाधिर्गम्यते ॥ ४४ ॥

अन्वयः—अगस्त्यचिह्नात् अयनात् भास्वति सन्निवृत्ते उत्तरादिक् आन-न्दशीतां वाष्पवृष्टि इव हैमवतीं हिमस्रुतिं ससर्ज ॥ ४४ ॥

अगस्त्य जिसका चिह्न हों उस दक्षिण मार्ग से (दक्षिणायन से) सूर्य के निवृत्त हो जाने पर समीप में उत्तर दिशा ने आनन्द से शीतल अश्रुवर्षा के समान हिमालय की हिम शीतल जलधारा प्रवाहित की ॥ ४४ ॥

(ग्रीष्म ऋतु के आने पर हिमालय का हिम गलकर शीतल जलधारा के रूप में बहने लगता है। कवि उत्प्रेक्षा करता है कि दक्षिणायन से निवृत्त होकर सूर्य के उत्तरायण होने पर उत्तर दिशा आनन्द के अति शीतल अश्रुओं की धारा हिमालय के गले हुए वर्फ जल की धारा के रूप में प्रवाहित करती है।)

प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥४५॥

प्रवृद्ध इति। अतिमात्रं प्रवृद्धतापो दिवसः। अत्यर्थमेवानल्पं तन्वी कृशा क्षणदा च इत्येतावुभौ। विरोधक्रियया प्रणयकलहादिना विरोधाचरणेन विभिन्नौ सानुशयौ सानुतापौ जायापती दम्पती इव आस्ताम्, तयोरपि ताप-कार्श्यसम्भवात्तत्सदृशावभूतामित्यर्थः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—अति मात्रं प्रवृद्धतापः दिवसः अत्यर्थमेव तन्वी क्षणदा च इति उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ सानुशयौ जायापती इव आस्ताम् ॥ ४५ ॥

ग्रीष्म ऋतु में अत्यन्त सन्तप्त दिन और अत्यधिक कृशाङ्गी छोटी रात ये दोनों एक दूसरे के विरोधी व्यवहार के कारण प्रणय कोपके कारण विपरीत

आचरण करने वाले अलग-अलग होकर पश्चाताप करने वाले पति-पत्नी के समान हो गए थे ॥ ४५ ॥

दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्सोपानपर्वाणि विमुञ्चदम्भः ।
उद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणां नारीनितम्बद्वयसंबभूव ॥ ४६ ॥

दिने दिने इति । दिने दिने प्रतिदिनं शैवलवन्त्यधस्ताद्यानि सोपानानां पर्वाणि भङ्गयस्तानि विमुञ्चत् । अत एवोद्दण्डपद्मं गृहदीधिकाणामम्भः । नारीनितम्बः प्रमाणमस्य नारीनितम्बद्वयसंबभूव, विहारयोग्यमभूदित्यर्थः । 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इति द्वयसच्प्रत्ययः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—दिने दिने शैवलवन्ति अधस्तात् सोपानपर्वाणि विमुञ्चत् अतएव उद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणां अम्भः नारीनितम्बद्वयसंबभूव ॥ ४६ ॥

दिनों-दिन (प्रतिदिन) शेवालों से युक्त सीढ़ियों के पर्व को नीचे छोड़ता हुआ ऊपर की ओर उठे हुए डण्ठलों से युक्त कमलों वाला घर की बावलियों का जल स्त्रियों के कमर के बराबर हो गया है ॥ ४६ ॥

वनेषु सायन्तनमल्लिकानां विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु ।
प्रत्येकनिक्षिप्तपदः सशब्दं संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार ॥ ४७ ॥

वनेष्विति । वनेषु विजृम्भणेन विकासेनोद्गन्धिषूत्कटसौरभेषु । 'गन्धस्य—' इत्यादिना समासान्त इकारादेशः । सायन्तनमल्लिकानां कुड्मलेषु सशब्दं यथा तथा प्रत्येकमेकैकस्मिन्निक्षिप्तपदः, मकरन्दलोभादित्यर्थः । भ्रमर एषां कुड्मलानां संख्यां गणनां चकारेव ॥ ४७ ॥

अन्वयः—वनेषु विजृम्मणोद्गन्धिषु सायंतनमल्लिकानां कुड्मलेषु सशब्दं प्रत्येकनिक्षिप्तपदः भ्रमरः एषां संख्यां चकार इव ॥ ४७ ॥

वनों में विकसित होने के कारण तीव्र गन्ध वाले सन्ध्याकाल में मल्लिका पुष्पों की कलियों पर गुञ्जार करता हुआ कली-कली पर मकरन्द लोभ से चरण रखता हुआ भ्रमर मानों उन कलियों की गणना कर रहा था ॥४७॥

स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के भूयिष्ठसंदष्टशिखं कपोले ।
च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात ॥ ४८ ॥

उस सरयू के तट पर विहार करने वाले हंस तट की सीढ़ियों के मार्ग से उतरने के कारण परस्पर केयूरों के संघर्षण वाली एवं चरणों में मधुर ध्वनि करने वाले नूपुर धारण करने वाली कामिनियों के कारण उद्विग्न हो गए ॥ ५६ ॥

परस्पराभ्युक्षणतत्पराणां तासां नृपो मज्जनरागदर्शी ।
नौसंश्रयः पार्श्वगतां किरातीमुपात्तबालव्यजनां बभाषे ॥ ५७ ॥

परस्परेति । नौसंश्रयः परस्परमभ्युक्षणे सेचने तत्पराणामासक्तानां तासां स्त्रीणां मज्जने रागोऽभिलाषस्तद्दर्शी नृपः पार्श्वगतामुपात्तबालव्यजनां गृहीतचामरां किरातीं चामरग्राहिणीं बभाषे । 'किरातस्तु द्रुमान्तरे । स्त्रियां 'चामरवाहिन्यां मत्स्यजात्यन्तरे द्वयोः ॥' इति केशवः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—नौ संश्रयः परस्पराभ्युक्षणतत्पराणां तासां मज्जनरागदर्शी नृपः पार्श्वगतां उपात्तबालव्यजनां किरातीं बभाषे ॥ ५७ ॥

नौकारूढ़ राजा कुश ने परस्पर जल का छींटा देने में आसक्त उन सुन्दरियों का स्नान में अनुराग भाव देखते हुए निकटवर्तिनी चामरवाहिनी किराती से कहा—॥ ५७ ॥

पश्यावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः ।
सन्ध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥ ५८ ॥

पश्येति । गलिताङ्गरागैर्मदीयैः शतशोऽवरोधैर्विगाह्यमानो विलोड्यमान एष सरयूप्रवाहः । साभ्रः समेघः सन्ध्योदयः सन्ध्याऽऽविर्भाव इव । अनेकं नानाविधं वर्णं रक्तपीतादिकं पुष्यति पश्य । वाक्यार्थः कर्म ॥ ५८ ॥

अन्वयः—गलिताङ्गरागैः मदीयैः शतशः अवरोधैः विगाह्यमानः एष सरयूप्रवाहः साभ्रः सन्ध्योदयः इव अनेकं वर्णं पुष्यति पश्य ॥ ५८ ॥

देखो अङ्गराग घुली हुयी मेरी सैकड़ों रानियों के द्वारा आलोड़ित यह सरयू का प्रवाह मेघयुक्त सन्ध्या के आविर्भाव के समान अनेक रंग धारण कर रहा है ॥ ५८ ॥

विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं नौलुलिताभिरद्भिः ।
तद्बध्नतीभिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम् ॥ ५९ ॥

विलुप्तमिति। नौलुलिताभिर्नौक्षुभिताभिरद्भिरन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं कज्जलं विलुप्तं हृतं तदञ्जनं विलोचनेषु नयनेषु मदेन या रागशोभा तां बध्नतीभिर्घटयन्तीभिरद्भिरासां प्रतियुक्तं प्रत्यर्पितम्। प्रतिनिधिदानमपि तत्कार्यकारित्वात्प्रत्यर्पणमेवेति भावः॥ ५९॥

अन्वयः—नौलुलिताभिः अद्भिः अन्तःपुरसुन्दरीणां यत् अञ्जनं विलुप्तं तत् विलोचनेषु मदरागशोभां बध्नतीभिः आसां प्रतिमुक्तम्॥ ५९॥

नौका चलने से विक्षुब्ध पानी से अन्तःपुर की सुन्दरियों का जो अञ्जन धुल गया था उसके स्थान पर (उसके बदले में) इन सुन्दरियों के नेत्रों में मदिरा की-सी लालिमा समर्पित कर दी गयी। सरयू जल में स्नान करने से सुन्दरियों के नेत्रों के काजल धुल गए और उन नेत्रों में मदिरा की सी लालिमा छा गयी॥ ५९॥

एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते॥ ६०॥

एता इति। गुरु दुर्वहं श्रोणिपयोधरं यस्यात्मन इति विग्रहः। गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानं शरीरमुद्वोढुमशक्नुवत्य एता बालाः गाढाङ्गदैः श्लिष्टाङ्गदैर्बाहुभिः क्लेशोत्तरं दुःखप्रायं यथा तथा रागवशात्क्रीडाभिनिवेशपारतन्त्र्यात्प्लवन्ते तरन्ति॥ ६०॥

अन्वयः—गुरु श्रोणिपयोधरत्वात् आत्मानं उद् बोढुं अशक्नुवत्यः एताः बालाः गाढाङ्गदैः बाहुभिः क्लेशोत्तरं रागवशात् प्लवन्ते॥ ६०॥

ये सुन्दरियाँ भारी और बड़े-बड़े नितम्बों और स्तनों के कारण अपने शरीर को भी सँभालने में अशक्त होती हुयी अत्यन्त अनुराग (जल-विहार की प्रबल इच्छा) के कारण मोटे-मोटे भुजबन्धों से युक्त भुजाओं के द्वारा जल में कष्ट से तैर रही हैं॥ ६०॥

अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम्।
पारिप्लवाः स्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलांश्छलयन्ति मीनान्॥ ६१॥

अमी इति। वारिविहारिणीनामासां प्रभ्रंशिनो भ्रष्टा निम्नगायाः स्रोतसि पारिप्लवाश्चञ्चलाः 'चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे' इत्यमरः। अमी

'पक्वैरिक्षुरसैरस्त्री शीधुः पक्वरसः शिवः' इति यादवः। नवं पाटलायाः पुष्पं पाटलं च सम्बध्नता सङ्घट्टयता निदाघावधिना ग्रीष्मकालेन। अवधि-स्त्ववधाने स्यात्सीम्नि काले बिलेऽपि च' इति विश्वः। कामिजनेषु विषये सर्वे दोषास्तापादयः प्रमृष्टाः परिहृताः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—मनोज्ञगन्धं सहकारभृङ्गं पुराणशीधुं नवपाटलं च सम्बध्नता निदाघावधिना कामिजनेषु सर्वे दोषाः प्रमृष्टाः ॥ ५२ ॥

मनोहर सुगन्धित आम्रपल्लव, ईख के रस की पुरानी मदिरा और पाटला के पुष्पों को कामी जनों पर सम्बद्ध करते हुए ग्रीष्म-काल ने संताप आदि अपने समस्त दोषों को परिमार्जित कर दिया ॥ ५२ ॥

जनस्य तस्मिन्समये विगाढे बभूवतुर्द्वौ सविशेषकान्तौ।
तापापनोदक्षमपादसेवौ स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च ॥ ५३ ॥

जनस्येति। तस्मिन्समये ग्रीष्मे विगाढे कठिने सति जनस्य द्वौ सविशेषं सातिशयं यथा तथा कान्तौ बभूवतुः। कौ द्वौ? तापापनोदे क्षमा योग्या पादयोरङ्घ्र्योः पादानां रश्मीनां च सेवा ययोस्तावुदयस्थावभ्युदयस्थौ स च नृपतिः शशी च ॥ ५३ ॥

अन्वयः—तस्मिन् समये विगाढे सति जनस्य द्वौ सविशेषकान्तौ बभूवतुः तापापनोदक्षमपादसेवौ उदयस्थौ स च नृपतिः शशी च ॥ ५३ ॥

इस दुःखदायी कठिन ग्रीष्म ऋतु में लोगों को दो ही प्रिय लगे। एक तो चरण सेवा द्वारा प्रसन्न होकर दुःख दूर करने में समर्थ अभ्युदयशील राजा कुश और दूसरा अपनी शीतल किरणों से सन्ताप शान्त करने में सक्षम चन्द्रमा ॥ ५३ ॥

अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥ ५४ ॥

अथेति। अथोर्मिषु लोलाः सतृष्णा उन्मदा राजहंसा यस्मिंस्तस्मिन्। 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः। रोधोलतापुष्पाणां वहे प्रापके। पचाद्यच्। ग्रीष्मेषु सुखे सुखकरे सरय्वा अम्भसि पयसि तस्य कुशस्य वनितासखस्य, सहेत्यर्थः। विहर्तुमिच्छा बभूव ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अथ उर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलता पुष्पवहे ग्रीष्मसखे सरय्वाः अम्भसि तस्य वनितासखस्य विहर्तुं इच्छा बभूव ॥ ५४ ॥

इसके बाद राजा की रानियों के साथ ग्रीष्म ऋतु में सुखदायी सरयू के उस जल में चञ्चल मदोन्मत्त राजहंस तैर रहे थे, एवं तट पर लतापुष्पों का पुञ्ज बह रहा था ॥ ५४ ॥

स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम् ।
विगाहितुं श्रीमहिमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रधरप्रभावः ॥ ५५ ॥

स इति । चक्रधरप्रभावो विष्णुतेजाः स कुशस्तीरभूमौ विहितोपकार्या यस्यास्ताम् । आनायो जालमेषामस्तीत्यानायिनो जालिकाः । 'जालमानायः' इति निपातः । 'आनायः पुंसि जालं स्यात्' इत्यमरः । तैरपकृष्टनक्रामपनीतग्राहां तां सरयूं श्रीमहिम्नोः सम्पत्प्रभावयोरनुरूपं योग्यं यथा तथा विगाहितुं प्रचक्रमे । अत्र कामन्दकः—'परितापिषु वासरेषु पश्यंस्तटलेखास्थितमाप्तसैन्यचक्रम् । सुविशोधितनक्रमीनजालं व्यवगाहेत जलं सुहृत्समेतः ॥' इति ॥ ५५ ॥

अन्वयः—चक्रधरप्रभावः स तीरभूमौ विहितोपकार्यां आनायिभिः अपकृष्ट नक्रां तां श्रीमहिमानुरूपां विगाहितुं प्रचक्रमे ॥ ५५ ॥

चक्रधारी विष्णु के समान प्रभावशाली कुश ने जिसकी तटभूमि पर तम्बू लगाये गए थे, एवं जिसे जाल के द्वारा ग्राह आदि से रहित कर दिया गया था उस सरयू नदी में सम्पत्ति और प्रभाव के अनुरूप अवगाहन करना प्रारम्भ किया ॥ ५५ ॥

सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः ।
सनूपुरक्षोभपदाभिरासीदुद्विग्नहंसा सरिदङ्गनाभिः ॥ ५६ ॥

सेति । सा सरित्सरयूस्तीरसोपानपथेनावतारादवतरणादन्योन्यं केयूरविघट्टिनीभिः संनद्धाङ्गसङ्घर्षिणीभिः सनूपुरक्षोभाणि सनूपुरस्खलनानि पदानि यासां ताभिरङ्गनाभिर्हेतुभिरुद्विग्नहंसा भीतहंसाऽऽसीत् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—सा सरित् तीरसोपानपथावतारात् अन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः सनूपुरक्षोभपदाभिः अङ्गनाभिः उद्विग्नहंसा आसीत् ॥ ५६ ॥

शिरीषप्रसवा एवावतंसाः कर्णभूषाः शैवाललोलाञ्जलनीलीप्रियान्। 'जलनीली तु शैवालम्' इत्यमरः। मीनांश्छलयन्ति प्रादुर्भावयन्ति। शैवालप्रियत्वाच्छिरीषेषु शैवालभ्रमात्प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः॥ ६१॥

अन्वयः—वारिविहारिणीनां प्रभ्रंशिनः निम्नगायाः स्रोतसि पारिप्लवाः अमी शिरीषप्रसवावतंसाः शैवाललोलान् मीनान् छलयन्ति॥ ६१॥

जल-विहार करने वाली इन सुन्दरियों के गिरे हुए ये शिरीष पुष्प के कर्णभूषण नदी की धारा में चञ्चल होकर शैवाल लोभी मछलियों को छल रहे हैं। जब स्नान करते समय सुन्दरियों के कानों में लगे शिरीष के पुष्प जल में गिर जाते हैं तो उन्हें शैवाल समझकर मछलियाँ उनसे रगड़ा लेने के लिए ऊपर आविर्भूत होती हैं पर उनके शैवाल न होने से छली जाती हैं उनसे धोखा खा जाती हैं॥ ६१॥

आसां जलास्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु।
पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाणः संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हारः॥ ६२॥

आसामिति। जलस्यास्फालने तत्पराणामासक्तानामासां स्त्रीणां मुक्ताफलस्पर्धिषु मौक्तिकानुकारिषु पयोधरेषु स्तनेषूत्सर्पन्त्युत्पतन्ति ये तेषु शीकरेषु शीकराणां मध्ये शीर्यमाणो गलन्हारोऽत एव छिदुरः स्वयं छिन्नोऽपि न संलक्ष्यते। 'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्' इति कुरच्प्रत्ययः। शीकरसंसर्गाच्छिन्न इति न ज्ञायत इति भावः॥ ६२॥

अन्वयः—जलास्फालनतत्पराणां आसां मुक्ताफलस्पर्धिषु पयोधरोत्सर्पिषु शीकरेषु शीर्यमाणः छिदुरः अपि हारः न संलक्ष्यते॥ ६२॥

जल उछालनेमें तल्लीन उन सुन्दरियों के मुक्ता फल से स्पर्धा करने वाले (मोतियों के दानों के समान) स्तनों पर उछलने वाले जल-विन्दुओं के संसर्ग से बीच में टूटकर गिरता हुआ छिन्न-भिन्न हार भी लक्षित नहीं होता॥ ६२॥

आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम्।
जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम्॥ ६३॥

आवर्तशोभेति । विलासिनीनां विलसनशीलानां स्त्रीणाम् । 'वौ कषल-सकत्थस्रम्भः' इति घिनुण्प्रत्ययः । रूपावयवानामुपमेयानां यान्युपमानानि लोकप्रसिद्धानि तान्यदूरवर्तीन्यन्तिकगतानि जातानि । कस्य किमुपमानमित्य-आह—नतनाभिकान्तेर्निम्ननाभिशोभाया आवर्तशोभा । 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः । भ्रुवां भङ्गस्तरङ्गः । स्तनानां द्वन्द्वचराश्चक्रवाकाः । उपमानमिति सर्वत्र सम्बध्यते ॥ ६३ ॥

अन्वयः— विलासिनीनां रूपावयवोपमानानि अदूरवर्तीनि जातानि नतनाभिकान्तेः आवर्तशोभा भ्रुवां भंगः स्तनानां द्वन्द्वचराः ॥ ६३ ॥

विलासप्रिय सुंदरियों के रूप और अंगों के प्रसिद्ध उपमान अतिशय निकट उत्पन्न हो गए । गम्भीर नाभिकी कान्ति के उपमान जल की भ्रमि, भौहों के उपमान तरंगभंग और स्तनों के उपमान चकवा-चकई के जोड़े हुए ॥ ६३ ॥

तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम् ।
श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ॥ ६४ ॥

तीरस्थलीति । उत्कलापरुच्चबर्हैः प्रस्निग्धा मधुराः केका येषां तैस्तीर-स्थलीषु स्थितबर्हिभिर्मयूरैरभिनन्द्यमानं रक्तं श्राव्यं गीतानुगं गीतानुसार्यासां स्त्रीणां सम्बन्धि वार्येव मृदङ्गस्तस्य वाद्यं वाद्यध्वनिः श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति व्याप्नोति ॥ ६४ ॥

अन्वयः—उत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैः तीरस्थलीबर्हिभिः अभिनन्द्यमानं रक्तं गीतानुगं आसां वारिमृदङ्गवाद्यं श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति ॥ ६४ ॥

तटवासी पूँछ ऊपर उठाकर नाचने वाले मयूरों के द्वारा मधुर केका वाणी से अभिनन्दन किया जाता हुआ अनुरागमय, श्रवण करने योग्य गीत का अनुसरण करने वाला इन सुन्दरियोंके जलरूपी मृदंग के बजने का शब्द कानों में व्याप्त हो रहा है ॥ ६४ ॥

सन्दष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेष्विन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः ।
अमी जलापूरितसूत्रमार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥ ६५ ॥

सन्दष्टेति । सन्दष्टवस्त्रेषु जलसेकात्संश्लिष्टांशुकेष्वबलानां नितम्बेष्वधिकरणेष्विन्दुप्रकाशेन ज्योत्स्नयाऽन्तरितान्यावृतानि यान्युडूनि नक्षत्राणि तत्तुल्याः । मुक्तामयत्वादिति भावः । अमी जलापूरितसूत्रमार्गाः, निश्चला इत्यर्थः । रशना एव कलापा भूषाः । 'कलापो भूषणे बर्हे' इत्यमरः । मौनं, निःशब्दतामित्यर्थः । भजन्ते ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सन्दष्टवस्त्रेषु अबलानितम्बेषु इन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः अमी जलापूरितसूत्रमार्गा रशनाकलापाः मौनं भजन्ते ॥ ६५ ॥

पानी में भींग जाने से शरीर में चिपके हुए वस्त्रों वाले अबलाओं के नितंबों के भीतर इन्दु के प्रकाश से आच्छन्न तारागणों के समान ये सूत्रमार्ग में जल भर जाने से निश्चल रशना—(तगड़ी) रूप आभूषण मौन धारण कर रहे हैं । (भींगे हुए अबलाओं के कटि-वस्त्र के नीचे कटि के रशनाभूषण जिनके धागों के प्रवेश मार्ग में पानी भर गया है, शब्द नहीं करते) ॥ ६५ ॥

एताः करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः ।
वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्वमन्ति ॥ ६६ ॥

एता इति । दर्पात्सखीजनं प्रति करैरुत्पीडिता उत्सारिता वारिधारा याभिस्ताः स्वयमपि पुनस्तथैव सखीभिर्वदनेषु सिक्ता एतास्तरुण्यो वक्रेतराग्रैर्जलसेकादृज्वग्रैरलकैः करणैश्चूर्णैः कुङ्कुमादिभिररुणान्वारिलवानुदकविन्दून्वमन्ति वर्षन्ति ॥ ६६ ॥

अन्वयः—दर्पात् करोत्पीडितवारिधाराः सखीभिः वदनेषु सिक्ताः एताः तरुण्यः वक्रेतराग्रैः अलकैः चूर्णारुणान् वारिलवान् वमन्ति ॥ ६६ ॥

ये तरुणियाँ जो जलविहार जन्य आनन्दातिरेक से दर्प के कारण सखियों के द्वारा परस्पर हाथ से उछाली गयी मुखों पर पड़ती हुयी जलधारा से सिक्त हैं सीधे अग्रभाग वाले केशों से कुमकुम आदि चूर्णों से (घुल जाने के कारण) लाल-लाल जल-विन्दुओं को टपका रही हैं ॥ ६६ ॥

उद्बन्धकेशश्च्युतपत्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः ।
मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥ ६७ ॥

उद्बन्धकेशेति । उद्बन्धा उद्भ्रष्टाः केशा यस्मिन्सः । च्युतपत्रलेखः क्षतपत्ररचनः । विश्लेषिणो विस्रंसिनो मुक्ताफलपत्रवेष्टा मुक्तामयताटङ्का यस्मिन्सः । एवमम्भोविहाराकुलितोऽपि प्रमदामुखानां वेषो नेपथ्यं मनोज्ञ एव । 'रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति' इति भावः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—उद्बन्धकेशच्युतपत्रलेखः विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः अम्भोविहाराकुलितोऽपि प्रमदामुखानां वेषः मनोज्ञः एव ॥ ६७ ॥

बन्धनरहित—खुले हुए बालों वाला, धुल जाने से पत्र रचनाविहीन मुक्तामय ताटङ्क के बिना भी जल-विहार से आकुल-व्याकुल होने पर भी मदमाती सुन्दरियों का वेष मन को हरने वाला ही है ॥ ६७ ॥

स नौविमानादवतीर्य रेमे विलोलहारः सह ताभिरप्सु ।
स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥ ६८ ॥

स इति । सः कुशो नौर्विमानमिव नौविमानम् । उपमितसमासः । तस्मादवतीर्य विलोलहारः सन् ताभिः स्त्रीभिः सह करेणुभिः सह स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिन्युत्पाटिता नलिनी यस्य स तथोक्तः सन् । 'नद्यृतश्च' इति कप्प्रत्ययः । वन्यो द्विपेन्द्र इव । अप्सु रेमे ॥ ६८ ॥

अन्वयः—सनौ विमानात् अवतीर्य विलोलहारः सन् ताभिः सह स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः वन्यः द्विपेन्द्रः इव अप्सु रेमे ॥ ६८ ॥

वह कुश विमान के आकार वाली नौका से उतर कर चंचल हार वाले होते हुए उन स्त्रियों के साथ हथिनियों के साथ कन्धे पर संलग्न उखाड़े हुए कमल वाले जंगली हाथी के समान जल में रमण करने लगा ॥ ६८ ॥

ततो नृपेणानुगताः स्त्रियस्ता भ्राजिष्णुना सातिशयं विरेजुः ।
प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥ ६९ ॥

तत इति । ततो भ्राजिष्णुना प्रकाशनशीलेन । 'भुवश्च' इति चकारादिष्णुच् । नृपेणानुगताः सङ्गतास्ताः स्त्रियः यथा तथा विरेजुः । प्रागेव इन्द्रनीलयोगात् पूर्वमेव, केवला अपीत्यर्थः । मुक्ता मणयो नयनाभिरामाः उन्मयूखमिन्द्रनीलं प्राप्य किमुत, अभिरामा इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—ततः भ्राजिष्णुना नृपेण अनुगताः ताः स्त्रियः सातिशयं विरेजुः प्राक् एव मुक्ता नयनाभिरामाः उन्मयूखं इन्द्रनीलं प्राप्य किमुत ॥ ६९ ॥

तब तेजस्वी राजा कुश के साथ वे रमणियाँ और भी अधिक सुशोभित हुयीं क्योंकि मुक्ता तो पहले से ही नेत्रों को सुन्दर लगता है फिर ऊपर की ओर किरणों को बिखेरने वाले इन्द्रनीलमणि को पाकर तो कहना ही क्या ॥ ६९ ॥

वर्णोदकैः काञ्चनश्रृङ्गमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन् ।
तथागतः सोऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः ॥ ७० ॥

वर्णोदकैरिति । तं कुशमायताक्ष्यः काञ्चनस्य श्रृङ्गैर्मुक्तानि तैर्वर्णोदकैः कुङ्कुमादिवर्णद्रव्यसहितोदकैः प्रणयात्स्नेहादसिञ्चन् । तथागतस्तथास्थितः, वर्णोदकसिक्त इत्यर्थः । स कुशः सधातुनिष्यन्दो गैरिकद्रव्ययुक्तोऽद्रिराज इव । अतितरां बभासेऽत्यर्थं चकासे ॥ ७० ॥

अन्वयः—तं आयताक्ष्यः काञ्चनश्रृङ्गमुक्तैः वर्णोदकैः प्रणयात् असिञ्चन् तथागतः सः सधातुनिष्यन्दः अद्रिराज इव अतितरां बभासे ॥ ७० ॥

विशाल नेत्रों वाली सुन्दरियों ने प्रेम से उस राजा कुश को सोने की पिचकारियों से निकलने वाले कुमकुम आदि के रङ्गों के जल से नहला दिया दिया तो वे इस प्रकार इतने अधिक सुन्दर लगने लगे जैसे गेरु आदि धातुओं की धारा से युक्त पर्वतराज हिमालय सुशोभित होता है ॥ ७० ॥

तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम् ।
आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः ॥ ७१ ॥

तेनेति । अवरोधप्रमदासखेनान्तःपुरसुन्दरीसहचरेण तां सरिद्वरां सरयूं विगाहमानेन तेन कुशेनाकाशगङ्गायां रतिः क्रीडा यस्य सोऽप्सरोभिर्वृत आवृतो मरुत्वानिन्द्रोऽनुयातलीलोऽनुकृतश्रीः । अभूदिति शेषः । इन्द्रमनुकृतवानित्यर्थः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—अवरोधप्रमदासखेन तां सरिद्वरां विगाहमानेन तेन आकाशगङ्गारतिः अप्सरोभिः वृतः मरुत्वान् अनुयातलीलः अभूदिति शेषः ॥ ७१ ॥

उस उत्तम सरयू नदी में अपने अन्तःपुर की सुन्दरियों के साथ अवगाहन करते हुए राजा कुश ने आकाशगङ्गा में क्रीड़ा करने वाली अप्सराओं से घिरे इंद्र की शोभा की समानता प्राप्त की ॥ ७१ ॥

यत्कुम्भयोनेरधिगम्य रामः कुशाय राज्येन समं दिदेश ।
तदस्य जैत्राभरणं विहर्तुरज्ञातपातं सलिले ममज्ज ॥ ७२ ॥

यदिति । यदाभरणं रामः कुम्भयोनेरगस्त्यादधिगम्य प्राप्य कुशाय राज्येन समं दिदेश ददौ, राज्यसममूल्यमित्यर्थः । सलिले विहर्तुः क्रीडितुरस्य कुशस्य तज्जैत्राभरणं जयशीलमाभरणमज्ञातपातं सन् ममज्ज बुब्रोड ॥ ७२ ॥

अन्वयः—यत् रामः कुम्भयोनेः अधिगम्य कुशाय राज्येन समं दिदेश सलिले विहर्तुः अस्य तत् जैत्राभरणं अज्ञातपातं सत् ममज्ज ॥ ७२ ॥

श्रीराम ने कुम्भज ऋषि से पाकर जो विजयशील दिव्याभरण राज्य के समान कुश को दे दिया था वह जल में विहार करते समय इस प्रकार डूब गया कि गिरने का पता ही नहीं चला ॥ ७२ ॥

स्नात्वा यथाकाममसौ सदारस्तीरोपकार्यां गतमात्र एव ।
दिव्येन शून्यं वलयेन बाहुमपोढनेपथ्यविधिर्ददर्श ॥ ७३ ॥

स्नात्वेति । असौ कुशः सदारः सन् यथाकामं यथेच्छं स्नात्वा विगाह्य । तीरे योपकार्या पूर्वोक्ता तां गतमात्रो गत एवापोढनेपथ्यविधिरकृतप्रसाधन एव दिव्येन वलयेन शून्यं बाहुं ददर्श ॥ ७३ ॥

अन्वयः—असौ सदारः यथाकामं स्नात्वा तीरोपकार्यां गतमात्र एव अपोढनेपथ्यविधिः एव दिव्येन वलयेन शून्यं बाहुं ददर्श ॥ ७३ ॥

रमणियों के साथ राजा कुश यथेच्छ स्नान कर जैसे ही तट पर वस्त्र-निर्मित घर में पहुँचते हैं कि वे बिना प्रसाधन किए ही उस दिव्य वलय से शून्य अपना हाथ देखते हैं ॥ ७३ ॥

जयश्रियः संवननं यतस्तदामुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात् ।
सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः ॥ ७४ ॥

जयश्रिय इति । यतः कारणात्तदाभरणं जयश्रियः संवननं वशीकरणम् । 'वशक्रिया संवननम्' इत्यमरः । यस्माच्च गुरुणा पित्राऽऽमुक्त पूर्वं मामुक्तम्,

आधृतमित्यर्थः । सुप्सुपेति समासः । अतो हेतोरस्याभरणस्य भ्रंशं नाशं न सेहे । लोभान्न । कुतः । हि यस्याद्धीरो विद्वान्स कुशस्तुल्यानि पुष्पाण्याभरणानि च यस्य सः । पुष्पेष्विवाभरणेषु धृतेषु निर्माल्यबुद्धिं करोतीत्यर्थः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—यतः तत् जयश्रियः संवननं यस्मात् च गुरुणा आमुक्तपूर्वं अतः अस्य भ्रंशं न सेहे, लोभात् न, हि धीरः सः तुल्यपुष्पाभरणः ॥ ७४ ॥

चूँकि वह दिव्य वलय श्री का वशीकरण था और पहले पूज्य पिता द्वारा धारण किया गया था इसलिए उसका गिर जाना कुश से सहा नहीं गया । न कि लोभ के कारण । क्योंकि वे तो ऐसे धीर-पुरुष (सहनशील) थे कि पुष्प और आभूषण को समान समझते थे ॥ ७४ ॥

ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान् ।
बन्ध्यश्रमास्ते सरयूं विगाह्य तमूचुरम्लानमुखप्रसादः ॥ ७५ ॥

तत इति । ततः नद्यां स्नान्ति कौशलेनेति नदीष्णाः तान् । 'सुपि' इति योगविभागात्कप्रत्ययः । 'निनदीभ्यां स्नातेः कौशले' इति षत्वम् । सर्वानानायिनो जालिकांस्तस्याभरणस्य विचयेऽन्वेषणे निमित्ते आशु समाज्ञापयदादिदेश । त आनायिनः सरयूं विगाह्य विलोड्य बन्ध्यश्रमा विफलप्रयासास्तथाऽपि तद्गतिं ज्ञात्वाऽम्लानमुखप्रसादाः सश्रीकमुखाः सन्तस्तं कुशमूचुः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—ततः नदीष्णान् सर्वान् आनायिनः तद् विचये आशु समाज्ञापयत् । ते सरयूं विगाह्य बन्ध्यश्रमाः तथापि म्लानमुखप्रसादाः सन्तः तं ऊचुः ॥ ७५ ॥

इसके बाद कुश ने शीघ्र ही नदी में कुशलता से स्नान करने वाले सभी जाल लगाने वाले धीवरों को उस दिव्य आभूषण को ढूँढ़ने के लिए आदेश दिया । वे सब सरयू को मथकर हार गए । उनका श्रम निष्फल हुआ । फिर भी उन्होंने मुख मलीन नहीं होने दिया और प्रसन्नमुख से उससे कहा—॥ ७५ ॥

कृतः प्रयत्नो न च देव लब्धं मग्नं पयस्याभरणोत्तमं ते ।
नागेन लौल्यात्कुमुदेन नूनमुपात्तमन्तर्ह्रदवासिना तत् ॥ ७६ ॥

कृत इति । हे देव ! प्रयत्नः कृतः । पयसि मग्नं त आभरणोत्तमं न च लब्धम् । किन्तु तदाभरणमन्तर्ह्रदवासिना कुमुदेन कुमुदाख्येन नागेन पन्नगेन लौल्याल्लोभादुपात्तं गृहीतम् । नूनमिति वितर्के ॥ ७६ ॥

अन्वयः—हे देव ! प्रयत्नः कृतः पयसि मग्नं ते आभरणोत्तमं न च लब्धम् किन्तु तत् अन्तर्ह्रदवासिना कुमुदेन नागेन लौल्यात् उपात्तं नूनम् ॥ ७६ ॥

हे महाराज ! हम लोगों ने प्रयत्न किया किन्तु, जल में निमग्न आपका उत्तम भूषण नहीं मिला । लगता है कि उसे ह्रद के भीतर रहने वाले कुमुद नाग ने लोभवश ले लिया ॥ ७६ ॥

ततः स कृत्वा धनुराततज्यं धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः ।
गारुत्मतं तीरगतस्तरस्वी भुजङ्गनाशाय समाददेऽस्त्रम् ॥ ७७ ॥

तत इति । ततो धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षस्तरस्वी बलवान्स कुशस्तीरगतः सन्धनुराततज्यमधिज्यं कृत्वा भुजङ्गस्य कुमुदस्य नाशाय गारुत्मतं गरुत्मद्देवताकमस्त्रं समाददे ॥ ७७ ॥

अन्वयः—ततः धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः तपस्वी सः तीरगतः सन् धनुः आततज्यं कृत्वा भुजङ्गनाशाय गारुत्मतं अस्त्रं समाददे ॥ ७७ ॥

तब धनुषधारी क्रोध से लाल नेत्र वाले बलवान् राजा कुश ने सरयू तट पर पहुँच कर कुमुद नाग के विनाश के लिए धनुष की प्रत्यञ्चा खींचकर गरुडदेव का अस्त्र संधान किया ॥ ७७ ॥

तस्मिन्ह्रदः संहितमात्र एव क्षोभात्समाविद्धतरङ्गहस्तः ।
रोधांसि निघ्नन्नवपातमग्नः करीव वन्यः परुषं ररास ॥ ७८ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्नस्त्रे संहितमात्रे सत्येव ह्रदः क्षोभाद्धेतोः समाविद्धाः सङ्घट्टितास्तरङ्गा एव हस्ता यस्य स रोधांसि निघ्नन्पातयन् ! अवपाते गजग्रहणगर्ते मग्नः पतितः । 'अवपातस्तु हस्त्यर्थे गर्तश्छन्नस्तृणादिना' इति यादवः । वन्यः करीव परुषं घोरं ररास दध्वान ॥ ७८ ॥

अन्वयः—तस्मिन् संहितमात्रे एव ह्रदः क्षोभात् समाविद्ध तरङ्ग हस्तः रोधांसि निघ्नन् अवपातमग्नः वन्यः करी इव परुषं ररास ॥ ७८ ॥

उसके अस्त्र संधान करते ही वह ह्रद क्षोभ से आहत तरंग रूपी हाथों से तट को ध्वस्त करता हुआ गड्ढे में गिरे जंगली हाथी के समान घोर गर्जना करने लगा ॥ ७८ ॥

तस्मात्समुद्रादिव मथ्यमानादुद्वृत्तनक्रात्सहसोन्ममज्ज ।
लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृक्षः कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः ॥ ७९ ॥

तस्मादिति । मथ्यमानात्समुद्रादिव । उद्वृत्तनक्रात्क्षुभितग्राहात्तस्माद् ह्रदात् । लक्ष्म्या सार्धं सुरराजस्येन्द्रस्य वृक्षः पारिजात इव । कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः कुमुदः सहसोन्ममज्ज ॥ ७९ ॥

अन्वयः—मथ्यमानात् समुद्रात् इवद्वृत्तनक्रात् तस्मात् लक्ष्म्या सार्धं सुरराजवृक्षः इव कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः सहसा उन्ममज्ज ॥ ७९ ॥

जैसे समुद्र मंथन से कल्पवृक्ष लक्ष्मी के साथ प्रकट हुआ था उसी प्रकार विक्षुब्ध मगरों वाले उस ह्रद से सर्पराज कुमुद कन्या को आगे कर सहसा ऊपर निकला ॥ ७९ ॥

विभूषणप्रत्युपहारहस्तमुपस्थितं वीक्ष्य विशां पतिस्तम् ।
सौपर्णमस्त्रं प्रतिसञ्जहार प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः ॥ ८० ॥

विभूषणेति । विशां पतिर्मनुजपतिः कुशः । 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः । विभूषणं प्रत्युपहरति प्रत्यर्पयतीति विभूषणप्रत्युपहारः । कर्मण्यण् । विभूषणप्रत्युपहारो हस्तो यस्य तम् । उपस्थितं प्राप्तं तं कुमुदं वीक्ष्य सौपर्णं गारुत्मतमस्त्रं प्रतिसञ्जहार । तथा हि, सन्तः प्रह्वेषु नम्रेष्वनिर्बन्धरुषोऽनियतकोपा हि ॥ ८० ॥

अन्वयः—विशांपतिः विभूषणप्रत्युपहारहस्तं उपस्थितं तं वीक्ष्य सौपर्णं अस्त्रं प्रतिसञ्जहार । हि सन्तः प्रह्वेषु अनिर्बन्धरुषः भवन्तीति शेषः ॥८०॥

नराधिराज कुश ने नागराज को विभूषण रूप प्रत्युहार हाथ में लिए हुए उपस्थित देखकर अपना गारुडास्त्र रोक लिया क्योंकि सज्जन विनम्र हो जाने वालों पर हठवश क्रोध नहीं करते ॥ ८० ॥

त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान् ।
मानोन्नतेनाप्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे ॥ ८१ ॥

त्रैलोक्येति । अस्त्रं विद्वानस्त्रविद्वान् । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इत्यनेन षष्ठीनिषेधः । 'द्वितीयाश्रित—' इत्यत्र गम्यादीनामुपसंख्यानाद् द्वितीयेतियोग विभागाद्वा समासः । गारुडास्त्रमहिमाभिज्ञ इत्यर्थः । कुमुदः । त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः । त्रैलोक्यनाथो रामः प्रभवो जनको यस्य तम् । अत एव प्रभावाद् द्विषामङ्कुशं निवारकं मूर्धाभिषिक्तं राजानं कुशं मानोन्नतेनापि मूर्ध्नाऽभिवन्द्य प्रणम्य बभाषे ॥८१॥

अन्वयः—अस्त्रविद्वान् कुमुदः त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात् द्विषां अङ्कुशम् मूर्द्धाभिषिक्तं कुशं मानोन्नतेन अपि मूर्ध्ना अभिवन्द्य बभाषे ॥ ८१ ॥

उस गारुडास्त्र के महत्त्व को जानने वाला नागराज कुमुद त्रैलोक्य के स्वामी राम के पुत्र होने के प्रभाव से शत्रुओं के अंकुश के समान नियन्ता राजा कुश से मान से ऊँचे मस्तक से भी प्रणाम कर बोला—॥ ८१ ॥

अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम् ।
सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेर्विघातम् ॥ ८२ ॥

अवैमीति । त्वाम् । ओदनान्तरस्तण्डुल इतिवत्कार्यान्तरः कार्यार्थः । 'स्थानात्मीयान्यतानर्थ्यन्ध्रान्तर्येषु चान्तरम्' इति शाश्वतः । स चासौ मानुषश्चेति तस्य विष्णो रामस्य सुताख्यां पुत्रसंज्ञामपरां तनुं मूर्तिमवैमि । 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेरित्यर्थः । स जानन्नहमाराधनीयस्योपास्यस्य तव धृतेः प्रीतेः । 'धृ प्रीतौ' इति धातोः स्त्रियां क्तिन् । विघातं कथं नामाचरेयम्, असम्भावितमित्यर्थः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—त्वां कार्यान्तिरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यां अपरां तनुं अवैमि । सः अहं आराधनीयस्य तव धृतेः विघातं कथं नाम आचरेयम् ॥ ८२ ॥

देवों के कार्य के लिए मनुष्य रूपधारी विष्णु के पुत्र नामक अन्य शरीर को धारण करने वाले तुमको मैं जानता हूँ । मुझे मालूम है कि तुम मानवरूपधारी विष्णु (राम) के पुत्र हो तो मैं किस प्रकार आराधना करने

योग्य तुम्हारे प्रेम को नष्ट करने वाला आचरण करने का दुःसाहस कर सकता हूँ। मुझसे यह सम्भव ही नहीं है ॥ ८२ ॥

कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन ।
ह्रदात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥ ८३ ॥

कराभिघातेति । कराभिघातेनोत्थित ऊर्ध्वं गतः कन्दुको यस्याः सा । कन्दुकार्थमूर्ध्वं पश्यन्तीत्यर्थः । इयं बालातिकुतूहलेनात्यन्तकौतुकेनान्तरिक्षाज्ज्योतिर्नक्षत्रमिव । 'ज्योतिर्भद्योतदृष्टिषु' इत्यमरः । ह्रदात्पतत्त्वदीयं जैत्राभरणमालोक्यादत्ताऽगृह्णात् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—कराभिघातोत्थितकन्दुका इयं बालातिकुतूहलेन अन्तरिक्षात् ज्योतिः इव ह्रदात् पतत् त्वदीयं जैत्राभरणं आलोक्य आदत्त ॥ ८३ ॥

हाथ से फेंकने के कारण ऊपर चले गए गेंद वाली इस बालिका ने कुतूहलवश अन्तरिक्ष से गिरते हुए नक्षत्र के समान ह्रद से गिरते हुए तुम्हारे विजयशील आभरण को देखकर ले लिया ॥ ८३ ॥

तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन ।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन ॥ ८४ ॥

तदेतदिति । तदेतदाभरणमाजानुबिलम्बिना दीर्घेण । ज्याघातेन या रेखा रेखाकारा ग्रन्थयस्तासां किणं चिह्नं तदेव लाञ्छनं यस्य तेन । भूमे रक्षायाः परिघेण रक्षाऽर्गलेन । 'परिघो योगभेदास्त्रमुद्गरेऽर्गलघातयोः' इत्यमरः । असंलेन बलवता ते भुजेन पुनर्योगं सङ्गतिमुपैतु । एतैर्विशेषणैर्महाभाग्यशौर्यधुरन्धरत्वबलवत्त्वादि गम्यते ॥ ८४ ॥

अन्वयः—तत् एतत् आजानुविलम्बिना ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन भूमेः रक्षापरिघेण ते अंसलेन भुजेन पुनः योगं उपैतु ॥ ८४ ॥

तो यह पुनः जानुपर्यन्त लटकने वाले विशाल प्रत्यञ्चा के आघात से बनी रेखा के घट्ठे के चिह्न से युक्त भूमि की रक्षा के लिए अर्गला के समान बलवान् आपके प्रचण्ड भुजदण्ड का संयोग प्राप्त करे; अर्थात् इस भूषण को आप पुनः अपने विशाल बाहु में धारण कर लें ॥ ८४ ॥

इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नार्हसि नानुमन्तुम् ।
आत्मापराध नुदतीं चिराय शुश्रूषया पार्थिव पादयोस्ते ॥ ८५ ॥

इमामिति । किञ्च । हे पार्थिव ! ते तव पादयोश्चिराय शुश्रूषया परिचर्यया । 'शुश्रूषा श्रोतुमिच्छायां परिचर्याप्रदानयोः' इति विश्वः । आत्मापराधमाभरणग्रहणरूपं नुदतीम्, परिजिहीर्षन्तीमित्यर्थः । 'आशंसायां भूतवच्च' इति चकाराद्वर्तमानार्थे शतृप्रत्ययः । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इत्यस्य वैकल्पिकत्वान्नुमभावः । इमां मे यवीयसीं कनिष्ठां स्वसारं भगिनीं कुमुद्वतीमनुमन्तुं नार्हसीति न, अर्हस्येवेत्यर्थः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—किञ्च हे पार्थिव ! ते पादयोः चिराय शुश्रूषया आत्मापराधं नुदतीं इमां मे यवीयसीं स्वसारं कुमुद्वतीं अनुमन्तुं न अर्हसि इति न ॥८५॥

हे भूपाल कुश ! तुम्हारे चरणों की चिरकाल तक सेवा द्वारा भूषण अपहरण रूप अपने अपराध को मिटाती हुयी इस मेरी छोटी बहन कुमुद्वती को स्वीकार करने योग्य तुम नहीं हो ऐसी बात नहीं हो ऐसी बात नहीं अपितु तुम इसे अपने चरणों की दासीं बनाने में समर्थ हो ॥ ८५ ॥

इत्यूचिवानुपहृताभरणः क्षितीशं
श्लाघ्यो भवान्स्वजन इत्यनुभाषितारम् ।
संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः
कन्यामयेन कुमुदः कुलभूषणेन ॥ ८६ ॥

इतीति । इति पूर्वश्लोकोक्तमूचिवानुक्तवान् । ब्रुवः क्वसुः । उपहृताभरणः उपहृतमाभरणं येन प्रत्यर्पिताभरणः कुमुदः । हे कुमुद ! भवाञ्श्लाघ्यः स्वजनो बन्धुः इत्थमनुभाषितारमनुवक्तारं क्षितीशं कुशं समेतबन्धुर्युक्तबन्धुः स । कन्यामयेन कन्यारूपेण कुलयोर्भूषणेन विधिवत्संयोजयामास । न केवलं तदीयमेव, किन्तु स्वकीयमपि भूषणं तस्मै दत्तवानिति ध्वनिः । आम्प्रत्ययानुप्रयोगयोर्व्यवधानं तु प्रागेव सहितम् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—इति ऊचिवान् उपहृताभरणः कुमुदः भवान् श्लाघ्यः स्वजनः इति अनुभाषितारं क्षितीशं समेतबन्धुः सन् कन्यामयेन कुलभूषणेन विधिवत् संयोजयामास ॥ ८६ ॥

इस प्रकार कहते हुए कुमुद ने आभूषण का उपहार भूपति कुश को दे दिया। कुश ने नागराज से ही कहा कि अब आप मेरे प्रशंसनीय आत्मीय जन हैं। कुमुद ने अपने कुटुम्बियों के साथ कर कन्या रूपी कुलभूषण से विधिवत् पृथ्वीपति कुश को संयुक्त कर दिया ॥ ८६ ॥

तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते
माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य।
दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरद्व्यश्नुवानो दिगन्तान्
गन्धोदग्रं तदनु ववृषुः पुष्पमाश्चर्यमेघाः ॥ ८७ ॥

तस्या इति। मनुजपतिना कुशेन साहचर्याय, सहधर्माचरणायेत्यर्थः। माङ्गल्या मङ्गले साधुर्योर्णा मेषादिलोम। 'ऊर्णा मेषादिलोम्नि स्यात्' इत्यमरः। अत्र लक्षणया तन्निर्मितं सूत्रमुच्यते। तया वलयिनि वलयवति तस्याः कुमुद्वत्या हस्ते पाणावुच्छिखस्योदर्चिषः पावकस्य पुराऽग्रे स्पृष्टे गृहीते सति दिगन्तान्व्यश्नुवानो व्याप्नुवन्दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरदुत्थितः। तदन्वाश्चर्या अद्भुता मेघा गन्धेनोदग्रमुत्कटं पुष्पं पुष्पाणि। जात्यभिप्रायेणैकवचनम्। ववृषुः। आश्चर्यशब्दस्य। 'रौद्रं तूग्रममी त्रिषु। चतुर्दश' इत्यमरवचनात्त्रिलिङ्गत्वम् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—मनुजपतिना साहचर्याय मांगल्योर्णा वलयिनि तस्याः हस्ते उच्छिखस्य पावकस्य पुरः स्पृष्टे दिगन्तान् व्यश्नुवानः दिव्यः तूर्यध्वनिः उदचरत् तदनु आश्चर्यमेघाः गन्धोदग्रं पुष्पं ववृषुः ॥ ८७ ॥

प्रज्ज्वलित अग्नि के समक्ष भेंड़ के ऊन से बने मङ्गलसूत्र का वलय धारण करने वाले कुमुद्वती के हाथ के सहचरी बनाने के लिए नरपति कुश द्वारा स्पर्श करने पर दिगन्त को व्याप्त करती हुई दिव्य तुरही की ध्वनि हुयीं। तत्पश्चात् मेघों ने आश्चर्य से उत्कट गन्ध वाले पुष्पों की वर्षा कीं ॥ ८७ ॥

इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरौरसं मैथिलेयं
लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशः पञ्चमं तक्षकस्य।
एकः शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद्वैनतेया-
च्छान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास ॥ ८८ ॥

इत्थमिति । इत्थं नागः कुमुदः । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम् । 'तद्धितार्थ' इत्यादिना तत्पुरुषः । अदन्तद्विगुत्वेऽपि पात्राद्यदन्तत्वान्नपुंसकत्वम् । 'पात्राद्यदन्तैरेकार्थो द्विगुर्लक्ष्यानुसारतः' इत्यमरः । तस्य गुरू रामः । तस्यौरसं धर्मपत्नीजं पुत्रं । 'औरसो धर्मपत्नीजः' इति याज्ञवल्क्यः । मैथिलेयं कुशं बन्धुं लब्ध्वा । कुशोऽपि च तक्षकस्य पञ्चमं पुत्रं तं कुमुदं बन्धुं लब्ध्वा एकस्तयोरन्यतरः कुमुदः पितृवधेन रिपोर्वैनतेयाद्गरुडात् । गुरुणा वैष्णवांशेन कुशेन त्याजितक्रौर्यादिति भावः । शङ्कां भयमत्यजत् । अपरः कुशः शान्तव्यालां कुमुदाज्ञया वीतसर्पभयामवनिमत एव पौरकान्तः पौरप्रियः सञ्छशास ॥ ८८ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां कुमुद्वतीपरिणयो नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

अन्वयः—इत्थं नागः त्रिभुवनगुरोः औरसं मैथिलेयं बन्धुं लब्ध्वा कुशः अपि च तक्षकस्य पञ्चमं पुत्रं तं बन्धुं लब्ध्वा एकः पितृवधरिपोः वैनतेयात् शंकां अत्यजत् अपरः शान्तव्यालां अवनिं पौरकान्तः सन् शशास ॥ ८८ ॥

इस प्रकार कुमुद नाग ने त्रिभुवनेश्वर राम के औरस सीता कुमार कुश को बन्धु बहनोई के रूप में पाकर और कुश ने तक्षक नाग के पञ्चम पुत्र उस कुमुद को भी बन्धु (शाले) के रूप में पाकर एक (कुमुद) ने पितृघाती शत्रु गरुड से शंका करना छोड़ दिया । (अब गरुड कुमुद के बहनोई कुश के पिता रामरूप विष्णु के वाहन मात्र रह गए । अपने स्वामी के सम्बन्धी होने से गरुड ने सर्पों को डराना छोड़ दिया अतः तक्षक पुत्र कुमुद उनसे निःशंक हो गए ।) दूसरे कुश ने नगरवासियों का प्रिय स्वामी होते हुए सम्बन्धी कुमुद के आदेश से सर्पों के भय से मुक्त पृथ्वी पर शासन किया ॥ ८८ ॥

॥ इस प्रकार "रघुवंश महाकाव्य में कुमुद्वती परिणय नामक षोडश सर्ग की "श्रीहरिप्रिया" हिन्दी व्याख्या सम्पूर्ण हो गयी ॥



सप्तदशः सर्गः

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रं प्राप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥ १ ॥

नमो रामपदाम्भोजं रेणवो यत्र सन्ततम् ।
कुर्वन्ति कुमुदप्रीतिमरण्यगृहमेधिनः ॥

अतिथिमिति । कुमुद्वती काकुत्स्थात्कुशादतिथिं नाम पुत्रम् । चेतना बुद्धिः पश्चिमादन्तिमाद्यामिन्या रात्रेर्यामात्प्रहरात् । 'द्वौ यामप्रहरौ समौ' इत्यमरः । प्रसादं वैशद्यमिव प्राप । ब्राह्मे सर्वेषां बुद्धिवैशद्यं भवतीति प्रसिद्धिः ॥ १ ॥

अन्वयः— कुमुद्वती काकुत्स्थात् अतिथिं नाम पुत्रं चेतना पश्चिमात् यामिनीयामात् प्रसादं इव प्राप ॥ १ ॥

कुमुद्वती ने कुश से अतिथि नामक पुत्र को उसी प्रकार प्राप्त किया जैसे बुद्धि रात्रि के अन्तिम प्रहर से (ब्राह्म मुहूर्त में) प्रसन्नता प्राप्त करती है ॥ १ ॥

स पितुः पितृमान्वंशं मातुश्चानुपमद्युतिः ।
अपुनात्सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥ २ ॥

स इति । पितृमान् प्रशस्तपितृकः । प्रशंसाऽर्थे मतुप् । सुशिक्षित इत्यर्थः । अनुपमद्युतिः । सवितुश्चेदं विशेषणम् । सोऽतिथिः पितुः कुशस्य मातुः कुमुद्वत्याश्च वंशम् । सवितोत्तरदक्षिणावुभौ मार्गाविव । अपुनात्पवित्रीकृतवान् ॥२॥

अन्वयः—पितृमान् अनुपमद्युतिः सः पितुः मातुः च वंशं सविता उत्तर-दक्षिणौ उभौ मार्गौ इव अपुनात् ॥ २ ॥

जिस प्रकार सूर्य दक्षिणायन और उत्तरायण होकर दोनों मार्गों को को पवित्र करता है उसी प्रकार प्रशस्त पितावान और अनुपम द्युतिमान्

अतिथि ने पिता और माता दोनों के (रघुकुल और नागकुल) कुलों को पावन कर दिया ।। २ ।।

तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः ।
पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता ।। ३ ।।

तमिति । अर्थाञ्छब्दार्थान्दानसङ्ग्रहादिक्रियाप्रयोजनानि च विदन्तीत्यर्थविदः । तेषां वरः श्रेष्ठः पिता कुशस्तमतिथिमादौ प्रथमं कुलविद्यानामान्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतीनामर्थमभिधेयमग्राहयदबोधयत् । पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्स्वीकारितवान्, उदवाहयदित्यर्थः । ग्रहेर्ण्यन्तस्य सर्वत्र द्विकर्मकत्वमस्तीत्युक्तं प्राक् ।। ३ ।।

अन्वयः—अर्थविदां वरः पिता तं आदौ कुलविद्यानां अर्थं अग्राहयत् पश्चात् पार्थिवकन्यकानां पाणिग्रहणं अग्राहयत् ।। ३ ।।

शब्द के अर्थों को जानने वालों में श्रेष्ठ पिता कुश ने अतिथि को पहले आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीति आदि कुल परम्परागत राजनीति विद्या की शिक्षा दीं फिर राजकुमारियों के साथ पाणि-ग्रहण करा दिया ।। ३ ।।

जात्यस्तेनाभिजातेन शूरः शौर्यवता कुशः ।
अमन्यतैकमात्मानमनेकं वशिना वशी ।। ४ ।।

जात्य इति । जातौ भवो जात्यः कुलीनः शूरो वशी कुशोऽभिजातेन कुलीनेन । 'अभिजातः' कुलीनः स्यात्' इत्यमरः । शौर्यवता वशिना तेनातिथिना करणेन एकमात्मानम् । एको न भवतीत्यनेकस्तम् । अमन्यत । सर्वगुणसामग्र्यादात्मजमात्मन एव रूपान्तरममंस्तेत्यर्थः ।। ४ ।।

अन्वयः—जात्यः शूरः वशी कुशः अभिजातेन शौर्यवता वशिना तेन एकं आत्मानं अनेकं अमन्यत ।। ४ ।।

जाति में उत्पन्न कुलीन शूर जितेन्द्रिय कुश ने अपने पुत्र अतिथि के कुलीन शूर और वशी होने से अपनीं एक आत्मा को अनेक माना ।। ४ ।।

(अपने सभी गुणों से सम्पन्न पुत्र को अपनी आत्मा का दूसरा संस्करण समझा)

स कुलोचितमिन्द्रस्य साहायकमुपेयिवान् ।
जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि ॥ ५ ॥

स इति । कुशः कुलोचितं कुलाभ्यस्तमिन्द्रस्य साहायकं सहकारित्वम् । 'योपधाद् गुरुपोत्तमाद् वुञ्' इत्यनेन वुञ् । उपेयिवान्प्राप्तः सन्समरे नामवोऽर्थ-तश्च दुर्जयं दैत्यं जघानावधीत् । तेन दैत्येनावधि हतश्च । 'लुङि च' इति हनो वधादेशः ॥ ५ ॥

अन्वयः—सः कुलोचितं इन्द्रस्य साहायकं उपेयिवान् सन् समरे दुर्जयं दैत्यं जघान तेन अवधि च ॥ ५ ॥

उस कुश ने अपने कुल के अनुरूप इन्द्र की सहायता की । युद्ध में दुर्जय दैत्य का संहार किया और उसके द्वारा स्वयं मारे गए ॥ ५ ॥

तं स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती ।
अन्वगात्कुमुदानन्दं शशाङ्कमिव कौमुदी ॥ ६ ॥

तमिति । कुमुदस्य नाम नागराजस्य स्वसा कुमुद्वती कुशपत्नी । कुमुदा-नन्दं शशाङ्कं कौमुदी ज्योत्स्नेव । तं कुशमन्वगात् । कुशस्तु । कुः पृथ्वी तस्यामुत्प्रीतिः सैवानन्दो यस्येति कुमुदानन्दः, परानन्देन स्वयमानन्द-तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

अन्वयः—कुमुदस्य नागराजस्य स्वसा कुमुद्वती कुमुदानन्दं शशाङ्कं कौमुदी इव तं अन्वगात् ॥ ६ ॥

जैसे चन्द्रमा की ज्योत्स्ना कुमुदों को आनन्द देने वाले चन्द्रमा में प्रविष्ट हो जाती है उसी प्रकार नागराज कुमुद की बहन वह कुमुद्वती भी पृथ्वी को आनन्द देने वाले पति कुश के पीछे चली अर्थात् सती हो गयी ॥ ६ ॥

तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक् ।
द्वितीयाऽपि सखी शच्याः पारिजातांशभागिनी ॥ ७ ॥

तयोरिति । तयोः कुशकुमुद्वत्योर्मध्ये एकः कुशो दिवस्पतेरिन्द्रस्य सिंहा-सनार्धं सिंहासनैकदेशः तद्भागासीत् । द्वितीया कुमुद्वत्यपि शच्या इन्द्राण्याः पारिजातांशस्य भागिनी ग्राहिणी । 'सम्पृच—' इत्यादिना भजेर्घिनुण्प्रत्ययः । सख्यासीत् । कस्कादित्वाद्दिवस्पतिः साधुः ॥ ७ ॥

अन्वयः—तयोः एकः दिवस्पतेः सिंहासनार्धभाक् आसीत् द्वितीया अपि शच्याः पारिजातांशभागिनी सखी आसीत् ॥ ७ ॥

उन दोनों में से प्रथम कुश तो स्वर्ग के स्वामी इन्द्र के सिंहासन के अर्धभाग का अधिकारी हुआ और दूसरी कुमुद्वती इन्द्राणी के पारिजात का अंश ग्रहण करने वाली सखी हुयी ॥ ७ ॥

तदात्मसम्भवं राज्ये मन्त्रिवृद्धाः समादधुः ।
स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्तुः सङ्ग्रामयायिनः ॥ ८ ॥

तदिति । सङ्ग्रामयायिनः सङ्ग्रामं यास्यतः । आवश्यकार्थे णिनिः । 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति षष्ठीनिषेधः । भर्तुः स्वामिनः कुशस्य पश्चिमामन्तिमामाज्ञां विपर्यये पुत्रोऽभिषेक्तव्य इत्येवरूपां स्मरन्तो मन्त्रिवृद्धास्तदात्मसम्भवमतिथिं राज्ये समादधुर्निदधुः ॥ ८ ॥

अन्वयः—संग्रामयायिनः भर्तुः पश्चिमां आज्ञां स्मरन्तः मन्त्रिवृद्धाः तदात्मसम्भवं राज्ये समादधुः ॥ ८ ॥

इन्द्र के सहायतार्थ स्वर्ग में संग्राम करने के लिए जाते हुए स्वामी कुश की अन्तिम आज्ञा (कि आने पर अतिथि का राज्याभिषेक करना है) का स्मरण करते हुए वृद्ध मन्त्रियों ने उनके आत्मज 'अतिथि' को राज्य पर आसीन कर दिया ॥ ८ ॥

ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः ।
विमानं नवमुद्वेदि चतुस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥

त इति । ते मन्त्रिणस्तस्यातिथेरभिषेकाय शिल्पिभिरुद्वेद्युन्नतवेदिकं चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितं चतुर्षु स्तम्भेषु प्रतिष्ठितं नवं विमानं मण्डपं कल्पयामासुः कारयामासुः ॥ ९ ॥

अन्वयः—ते तस्य अभिषेकाय शिल्पिभिः उद्वेदि चतुः स्तम्भप्रतिष्ठितं नवं विमानं कल्पयामासुः ॥ ९ ॥

उन मन्त्रियों में शिल्पियों के द्वारा उस अतिथि के राज्याभिषेक के लिए ऊँची वेदी वाला चारों खम्भों पर स्थित नये मण्डप का निर्माण करवाया ॥ ९ ॥

तत्रैनं हेमकुम्भेषु सम्भृतैस्तीर्थवारिभिः ।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र विमाने भद्रपीठो पीठविशेषे उपदेशितमेनमतिथिं हेमकुम्भेषु सम्भृतैः सङ्गृहीतैस्तीर्थवारिभिः करणैः प्रकृतयो मन्त्रिणः उपतस्थुः ॥ १० ॥

अन्वयः—तत्र भद्रपीठोपवेशितं एनं हेमकुम्भेषु सम्भृतैः तीर्थवारिभिः प्रकृतयः उपतस्थुः ॥ १० ॥

उस भद्रपीठ पर बैठे अतिथि को सोने के कलशों में भरे हुए तीर्थों के जल द्वारा मन्त्रियों ने स्नान करवाया ॥ १० ॥

नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः ।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसन्तति ॥ ११ ॥

नदद्भिरिति । आहतं पुष्करं मुखं येषां तैः । 'पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले' इत्यमरः । स्निग्धं मधुरं गम्भीरं च नदद्भिस्तूर्यैस्तस्यातिथेरविच्छिन्नसन्तत्यविच्छिन्नपारम्पर्यं कल्याणं भावि शुभमन्वमीयतानुमितम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—आहतपुष्करैः स्निग्धगम्भीरं नदद्भिः तूर्यैः तस्य अविच्छिन्नसन्तति कल्याणं अन्वमीयत ॥ ११ ॥

बजाये गए मुख वाले, स्निग्ध और गम्भीर शब्द करने वाले बाजों से उसके अविच्छिन्न परम्परा वाले कल्याण का अनुमान होता था । (बाजों की मधुर गम्भीर ध्वनि से ऐसा लगता था कि अतिथि के कल्याण की परंपरा कभी नहीं टूटेगी ।) ॥ ११ ॥

दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् ।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥ १२ ॥

दूर्वेति । सोऽतिथिः । दूर्वाश्च यवाङ्कुराश्च प्लक्षत्वचश्चाभिन्नपुटा बालपल्लवाश्चोत्तराणि प्रधानानि येषु तान् । अभिन्नपुटानि मधूकपुष्पाणीति केचित् । कमलानीत्यन्ये । अभिन्नपुटानि मधूकपुष्पाणीति केचित् । कमलानीत्यन्ये । ज्ञातिषु ये वृद्धास्तैः प्रयुक्तान्नीराजनाविधीन्भेजे ॥ १२ ॥

अन्वयः—सः दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान् नीराजनाविधीन् भेजे ॥ १२ ॥

जाति में वृद्ध लोगों के द्वारा की गयी दूर्वा—यव का अंकुर—पीपल की त्वचा अभिनव महुए या कमल-पत्र से युक्त आरती की विधियों को अतिथि ने प्राप्त किया ॥ १२ ॥

पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः ।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥ १३ ॥

पुरोहितेति । पुरोहितपुरोगाः पुरोहितप्रमुखा द्विजातयो ब्राह्मणाः जिष्णुं जयशीलं तमतिथिं जैत्रैर्जयशीलैरथर्वभिर्मन्त्रविशेषैः करणैः पूर्वमभिषेक्तुमुपचक्रमिरे ॥ १३ ॥

अन्वयः—पुरोहितपुरोगाः द्विजातयः जिष्णुं तं जैत्रैः अथर्वभिः पूर्वं अभिषेक्तुं उपचक्रमिरे ॥ १३ ॥

तब सर्वप्रथम उस विजयी राजा अतिथि को पुरोहितों में प्रधान ब्राह्मणों ने विजय देने वाले अथर्व नाम के मन्त्रों द्वारा अभिषेक कराना आरम्भ किया ॥ १३ ॥

तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत ।
सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥ १४ ॥

तस्येति । तस्यातिथेर्मूर्ध्नि सशब्दं निपतन्त्योघमहती महाप्रवाहा । अभिषिच्यतेऽनेनेत्यभिषेको जलम् । स एव श्रीः । यद्वा तस्य श्रीः समृद्धिस्त्रिपुरद्विषः शिवस्य मूर्ध्नि निपतन्ती गङ्गेव व्यरोचत । त्रयाणां पुराणां द्वेष्टीति विग्रहः ॥ १४ ॥

अन्वयः—तस्य मूर्ध्नि सशब्दं निपतन्ती ओघमहती अभिषेकश्रीः त्रिपुरद्विषः मूर्ध्नि निपतन्ती गङ्गेव व्यरोचत ॥ १४ ॥

उस अतिथि के माथे पर गिरती हुई अभिषेक जल की शब्द युक्त शोभा इस प्रकार विलसित हो रही थी जैसे त्रिपुरारि शिव के मस्तक पर गङ्गा की धारा ॥ १४ ॥

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स बन्दिभिः ।
प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥ १५ ॥

स्तूयमान इति । तस्मिन्क्षणेऽभिषेककाले वन्दिभिः स्तूयमानः सोऽतिथिः प्रवृद्धः प्रवृद्धवान् । कर्तरि क्तः । अत एव सारङ्गैश्चातकैरभिनन्दितः पर्जन्यो मेघ इव । अलक्ष्यत ॥ १५ ॥

अन्वयः—तस्मिन् क्षणे बन्दिभिः स्तूयमानः स, प्रवृद्धः अतएव सारङ्गैः अभिनन्दितः पर्यजन्यः इव अलक्ष्यत ॥ १५ ॥

उस अभिषेक के क्षण में चारणों के द्वारा प्रशंसा किया जाता हुआ वह समृद्ध अतिथि उसी प्रकार लक्षित हुआ जैसे चातकों द्वारा अभिनन्दित प्रवृद्ध बादल ॥ १५ ॥

तस्य सन्मन्त्रपूताभिः स्नानमद्भिः प्रतीच्छतः ।
ववृधे वैद्युतस्याग्नेर्वृष्टिसेकादिव द्युतिः ॥ १६ ॥

तस्येति । सन्मन्त्रैः पूताभिः शुद्धाभिरद्भिः स्नानं प्रतीच्छतः कुर्वतस्तस्य वृष्टिसेकात् । विद्युतोऽयं वैद्युतस्तस्याबिन्धनस्याग्नेरिव । द्युतिर्ववृधे ॥ १६॥

अन्वयः—सन्मन्त्रपूताभिः अद्भिः स्नानं प्रतीच्छतः तस्य वृष्टिसेकात् वैद्युतस्य अग्नेः इव द्युतिः ववृधे ॥ १६ ॥

उत्तम मन्त्रों के द्वारा पवित्र जल से स्नान करते हुए उस अतिथि की कान्ति उसी प्रकार बढ़ गयी जैसे विजली की आग की द्युति वर्षा के सिंचन से उद्दीप्त हो जाती हैं ॥ १६ ॥

स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु ।
यावतैषां समाप्येरन्यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः ॥ १७ ॥

स इति । सोऽतिथिरभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो गृहस्थेभ्यस्तावत्तावत्परिमाणं वसु धनं ददौ । यावता वसुनैषां स्नातकानां पर्याप्तदक्षिणाः समग्रदक्षिणा यज्ञाः समाप्येरन् तावद्ददावित्यन्वयः ॥ १७ ॥

अन्वयः—सः अभिषेकान्ते स्नातकेभ्यः तावत् वसु ददौ यावता एषां पर्याप्तदक्षिणा यज्ञाः समाप्येरन् ॥ १७ ॥

अभिषेक के अन्त में उस अतिथि ने स्नातकों को इतना धन दान किया कि जिनसे इनके प्रचुर दक्षिणा वाले यज्ञ सम्पन्न हो जाँय ॥ १७ ॥

ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन् ।
सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः ॥ १८ ॥

ते इति । प्रीतमनसस्ते स्नातकास्तस्मै अतिथये यामाशिषमुदैरयन्व्याहरन्साशीस्तस्यातिथेः कर्मनिर्वृत्तैः पूर्वपुण्यनिष्पन्नैः फलैः साम्राज्यादिभिर्दूरं दूरतः पश्चात्कृता । स्वफलदानस्य तदानीमनवकाशात्कालन्तरोद्वीक्षणं न चकारेत्यर्थः ॥ १८ ॥

अन्वयः—प्रीतिमनसः ते तस्मै यां आशिषं उदैरयन् सा तस्य कर्मनिवृत्तैः फलैः दूरं पश्चात् कृता ॥ १८ ॥

प्रसन्न मान वाले उन स्नातकों ने उस अतिथि को जो आशीर्वाद दिये वह उसके पूर्वजन्म के पुण्य के निष्पन्न फलों—साम्राज्य आदि के द्वारा सुदूर पीछे कर दिया गया। (उस समय उसे ब्राह्मणों के आशीर्वाद का फल नहीं मिला क्योंकि उस समय तो उसे अपने पूर्व अर्जित पुण्य के फलस्वरूप साम्राज्य लाभ का फल भोग करने से अवकाश ही नहीं मिला अतः उनका वह आशीर्वाद भविष्य के लिए सुरक्षित फलदायी सिद्ध हुआ।) ॥१८॥

बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणामवध्यताम् ।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद्गवाम् ॥ १९ ॥

बन्धच्छेदेति । सोऽतिथिर्बद्धानां बन्धच्छेदं वधार्हाणामवध्यताम् । धुरं वहन्तीति धुर्या बलीवर्दादयस्तेषां धुरो भारस्य मोक्षं गवामदोहं वत्सानां पानार्थं दोहनिर्वृत्तिं चादिशदादिदेश ॥ १९ ॥

अन्वयः—सः बद्धानां बन्धच्छेदं वधार्हाणां अवध्यतां धुर्याणां धुरः मोक्षं गवां अदोहं च अदिशत् ॥ १९ ॥

उस अतिथि ने बाँधे गए लोगों को बन्धन-मुक्त करने, वध करने योग्य लोगों के वध न करने, भार वहन करने वाले बैलों आदि को भार ढोने से मुक्ति देने और गायों को विना दुहें बछड़ों के पीने के लिए छोड़ देने का आदेश दिया ॥ १९ ॥

क्रीडापतत्त्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः ।
लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्टगतयोऽभवन् ॥ २० ॥

क्रीडापतत्त्रिण इति । पञ्जरस्था शुकादयोऽस्यातिथेः क्रीडापतत्त्रिणोऽपि किमुतान्य इत्यपिशब्दार्थः । तदादेशात्तस्यातिथेः शासनाल्लब्धमोक्षाः सन्तो यथेष्टं गतिर्येषां ते स्वेच्छाचारिणोऽभवन् ॥ २० ॥

अन्वयः—पञ्जरस्थाः शुकादयः अस्य क्रीडापतत्त्रिणः अपि तदादेशात् लब्धमोक्षाः सन्तः यथेष्टगतयः अभवन् ॥ २० ॥

उसके आदेश से पिंजड़े में स्थित शुक-सारिकादि क्रीड़ा के लिए पाले गए पक्षी भी मोक्ष पाकर स्वच्छन्द विहार करने लगे ॥ २० ॥

ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचि ।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः ॥ २१ ॥

तत इति । ततः सोऽतिथिर्नेपथ्यग्रहणाय । कक्ष्यान्तरं हर्म्याङ्गणविशेषः । 'कक्ष्या प्रकोष्ठे हर्म्यादेः' इत्यमरः तत्र न्यस्तं स्थापितं शुचिनिर्मलं सोत्तरच्छदमास्तरणसहितं गजदन्तस्यासनं पीठमध्यास्त' तत्रोपविष्ट इत्यर्थः ॥२१॥

अन्वयः—ततः सः नेपथ्यग्रहणाय कक्ष्यान्तरन्यस्तं शुचि सोत्तरच्छदं गजदन्तासनं अध्यास्त ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् वह अतिथि प्रसाधन ग्रहण करने के लिए अन्य एक विशेष प्रकार के कमरे में गए जहाँ पवित्र उज्ज्वल हाथीदाँत का बना आसन रखा था और उस पर चादर का बिछौना लगा हुआ था । महाराज अतिथि उस आसन पर बैठ गए ॥ २१ ॥

तं धूपाश्यान् केशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणयः ।
आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः ॥ २१ ॥

तमिति । तोयेन निर्णिक्तपाणयः क्षालितहस्ताः प्रसाधका अलङ्कर्तारो धूपेन गन्धद्रव्यधूपेनाश्यानकेशान्तं शोषितकेशपाशान्तं तमतिथीं तैस्तैराकल्पस्य नेपथ्यस्य साधनैर्गन्धमाल्यादिभिरुपसेदुरुपतस्थुः, अलञ्चक्रुरित्यर्थः ॥ २२ ॥

अन्वयः—तोयनिर्णिक्तपाणयः प्रसाधकाः धूपाश्यान् केशान्तं तं तैः तैः आकल्पसाधनैः उपसेदुः ॥ २२ ॥

जल से हस्त प्रक्षालन किए हुए प्रसाधन कर्ताओं ने सुगन्धित धूपों से सुखाये गए केशों वाले राजा अतिथि को उन-उन श्रृङ्गार करने के साधनों से अलङ्कृत किया ॥ २२ ॥

तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम् ।
प्रत्यूपुः पद्मरागेण प्रभामण्डलशोभिना ॥ २३ ॥

त इति । ते प्रसाधका मुक्तागुणेन मौक्तिकसरेणोन्नद्धमुद्बद्धमन्तर्गतस्रजमस्यातिथेर्मौलिं धम्मिलं प्रभामण्डलशोभिना पद्मरागेण माणिक्येन प्रत्यूपुः प्रत्युप्तं चक्रुः ॥ २३ ॥

अन्वयः—ते मुक्तागुणोन्नद्धं अन्तर्गतस्रजं अस्य मौलिम् प्रभामण्डलशोभिना पद्मरागेण प्रत्यूपुः ॥ २३ ॥

उन प्रसाधकों ने मोती को गुणों (धागों) में पिरोये हुए पुष्पमालाओं से गुम्फित उस अतिथि के मस्तक में प्रभा-पुञ्ज से सुशोभित पद्मरागमणि गूँथ दिया ॥ २३ ॥

चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना ।
समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम् ॥ २४ ॥

चन्दनेनेति । किं च मृगनाभ्या कस्तूरिकया सुगन्धिना चन्दनेनाङ्गरागमङ्गविलेपनं समापय्य समाप्य ततोऽन्तरं विन्यस्ता रोचना गोरोचना यस्मिंस्तत्पत्रं पत्ररचनां चक्रुः ॥ २४ ॥

अन्वयः—किं च मृगनाभिसुगन्धिना चन्दनेन अङ्गरागं समापय्य ततः विन्यस्तरोचनं पत्रं चक्रुः ॥ २४ ॥

मृग की नाभि से उत्पन्न कस्तूरी और सुगन्धित चन्दन से अंगराग—शरीर लेपन समाप्त करने के बाद गोरोचनमय पत्र-रचना की ॥ २४ ॥

आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान् ।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥ २५ ॥

आमुक्तेति । आमुक्ताभरण आसञ्जिताभरणः । स्रजोऽस्य सन्तीति स्रग्वी । 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति विनिप्रत्ययः । हंसाश्चिह्नमस्येति

हंसचिह्नं यद्दुकूलं तद्वान् । अत्र बहुव्रीहिणैवार्थसिद्धे मतुवानर्थक्येऽपि सर्वधनीत्यादिवत्कर्मधारयादपि मत्वर्थीयं प्रत्ययमिच्छन्ति । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । राज्यश्रीरेव वधूर्नवोढा तस्या वरो वोढा । 'वधूः स्नुषा नवोढा स्त्री वरो जामातृपिङ्गयोः' इति विश्वः । सोऽतिथिरतिशयेन प्रेक्ष्यो दर्शनीय आसीत् । वरोऽप्येवंविशेषणः ॥ २५ ॥

अन्वयः—आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान् राज्यश्रीवधूवरः सः अतिशयप्रेक्ष्यः आसीत् ॥ २५ ॥

मोतियों के आभूषणों से मण्डित, मालाधारी, हंस छाप चादर ओढ़े हुए, वह अभिनव राज्यलक्ष्मी रूपी वधू का स्वामी अतिथि अतिशय दर्शनीय हो गया था ॥ २५ ॥

नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये ।
विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव ॥ २६ ॥

नेपथ्येति । हिरण्मये सौवर्ण आदर्शे दर्पणे नेपथ्यदर्शिनो वेषं पश्यतस्तस्यातिथेश्छाया प्रतिबिम्बम् । उदिते सूर्ये दर्पणकल्पे मेरौ याः कल्पतरुस्तस्य छायेव विरराज । तस्य सूर्यसङ्क्रान्तबिम्बस्य सम्भवान्मेरावित्युक्तम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—हिरण्मये आदर्शे नेपथ्यदर्शिनः तस्य छाया उदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोः इव विरराज ॥ २६ ॥

सोने के दर्पण में वेश-भूषा देखने वाले उस अतिथि की छाया इस प्रकार लग रही थी मानो सूर्योदय होने पर सुमेरु पर्वत पर कल्पवृक्ष की छाया सुशोभित हो रही हो ॥ २६ ॥

स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः ।
ययावुदीरितालोकः सुधर्मानवमां सभाम् ॥ २७ ॥

स इति । सोऽतिथी राजककुदानि राजचिह्नानि छत्रचामरादीनि । 'प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्के ककुदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तेषु व्यग्राः पाणयो येषां तैः पार्श्ववर्तिभिर्जनैरुदीरितालोक उच्चरितजयशब्दः । 'आलोको जयशब्दः स्यात्' इति हलायुधः । सुधर्माया देवसभाया अनवमामन्यूनां सभामास्थानीं ययौ । 'स्यात्सुधर्मा देवसभा' इत्यमरः ॥ २७ ॥

अन्वयः—सः राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः उदीरितालोकः सुधर्मानवमां सभां ययौ ॥ २७ ॥

राजचिह्न—छत्र चामर धारण करने में व्यग्र हाथों वाले निकटवर्ती लोगों के द्वारा ''जय जय'' शब्द किये जाते हुए उस अतिथि ने देवताओं की सभा 'सुधर्मा के समान राजसभा में प्रवेश किया ॥ २७ ॥

वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।
चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥ २८ ॥

वितानेति । तत्र सभायां वितानेनोल्लोचेन सहितम् । 'अस्त्री वितानमुल्लोच इत्यमरः महीक्षितां राज्ञां चूडामणिभिः शिरोरत्नैरुद्घृष्टमुल्लिखितं पादपीठं यस्य तत् । पितुरिदं पैतृकम् । 'ऋतष्ठञ् इति ठञ्प्रत्ययः आसनं सिंहासनं भेजे ॥ २८ ॥

अन्वयः—तत्र वितानसहितं महीक्षितां चूणामणिभिः उद्घृष्टपादपीठं पैत्रिकं आसनं भेजे ॥ २८ ॥

वहाँ वे वितान (चँदोवा) युक्त उस पैतृक सिंहासन पर बैठे जिसका चरण रखने का पीठ राजाओं के मस्तक में लगी मुकुटमणियों के स्पर्श से घिस गया था । (इतने अधिक मुकुटमणिधारी राजा उसके चरण रखने के पीढ़े पर मत्था टेकते थे कि वह घिस गया था) ॥ २८ ॥

शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत् ।
श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनेव कैशवम् ॥ २९ ॥

शुशुभ इति । तेन चाक्रान्तम् । श्रीवत्सो नाम चिह्नविशेषः । तल्लक्षणं श्रीवत्सरूपम् । श्रीवत्सनन्द्यावर्तादिविच्छेदा बहवो द्वयोः' इति सज्जनः । महदधिकं मङ्गलायतनं मङ्गलगृहं सभारूपम् । कौस्तुभेन मणिनाऽऽक्रान्तं श्रीवत्सलक्षणम् । केशवस्येदं कैशवम् । वक्ष इव शुशुभे ॥ २९ ॥

अन्वयः—तेन च आक्रान्तं श्रीवत्सलक्षणं महत् मङ्गलायतनं कौस्तुभेन कैशवं वक्षः इव शुशुभे ॥ २९ ॥

जैसे भगवान् विष्णु का श्रीवत्सलक्षण से युक्त वक्षस्थल कौस्तुभमणि से

सुशोभित होता है उसी प्रकार उस अतिथि के बैठने से वह अधिक विशाल मङ्गलमय गृह वाला राज-भवन सुशोभित हुआ ॥ २९ ॥

बभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः ।
रेखाभावादुपारूढः सामग्र्यमिव चन्द्रमाः ॥ ३० ॥

बभाविति । सोऽतिथिः कुमारत्वाद्बाल्याद्भूयो यौवराज्यमवाप्यै-वानन्तरम् । अधिराजस्य भाव आधिराज्यं माहाराज्यमवाप्य । रेखाभावा-दर्धेन्दुत्वमवाप्यैव सामग्र्यमुपारूढः पूर्णतां गतश्चन्द्रमा इव बभौ इति व्याख्या-नम् । तदपि यौवराज्याभावनिश्चये ज्याय एव ॥ ३० ॥

अन्वयः—सः कुमारत्वात् भूयः आधिराज्यं अवाप्य रेखाभावात् सामग्र्यं उपारूढः चन्द्रमा इव बभौ ॥ ३० ॥

कुमार होने के कारण महाराज पद पाकर वह अतिथि पुनः इस प्रकार सुशोभित हुआ मानो रेखा भाव से आधा चन्द्रमा पूर्णता को प्राप्त चन्द्रमा के समान हो गया हो । (अतिथि कुमार अवस्था के बाद ही तत्काल महा-राज हो गए । इस प्रकार उन्हें युवराज होने का अवसर ही नहीं मिला । इसीलिए वे एक कलाधारी चन्द्र से तुरत षोडश कलापूर्ण चन्द्रमा के समान सुशोभित हुए ।) ॥ ३० ॥

प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम् ।
मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः ॥ ३१ ॥

प्रसन्नेति । प्रसन्नो मुखरागो मुखकान्तिर्यस्य तं स्मितपूर्वं यथा तथाऽभिभाषिणमाभाषणशीलं तमतिथिमनुजीविनः सेवकाः मूर्तिमन्तं विग्रहवन्तं विश्वासं विस्रम्भममन्यन्त । 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अनुजीविनः प्रसन्नमुखरागं स्मितपूर्वाभिभाषिणं तं मूर्तिमन्तं विश्वासं अमन्यन्त ॥ ३१ ॥

अतिथि की मुखकान्ति सदैव प्रसन्न रहती थी । वे मुस्कुराते हुए ही बोलते थे । इसलिए सेवकों ने उन्हें मूर्तिमान विश्वास ही समझा ॥ ३१ ॥

स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम् ।
क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा ॥ ३२ ॥

स इति । पुरुहूतश्रीः सोऽतिथिः कल्पद्रुमाणां निभाः समाना ध्वजा यस्यास्तां पुरमयोध्यामैरावतस्य ओज इवौजो बलं यस्य तेन नागेन कुञ्जरेण क्रममाणश्चरन् । 'अनुपसर्गाद्वा' इति वैकल्पिकमात्मनेपदम् । द्यां चकार, स्वर्गलोकसदृशीं चकारेत्यर्थः । 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—पुरुहूतश्रीः सः कल्पद्रुमनिभध्वजाम् पुरं ऐरावतौजसा नागेन क्रममाणः द्यां चकार ॥ ३२ ॥

इन्द्र के समान लक्ष्मी सम्पन्न उस राजा अतिथि ने कल्पद्रुम के समान ध्वजा वाली अयोध्यापुरी को ऐरावत के समान बलशाली हाथी से भ्रमण करते हुए स्वर्गपुरी बना दिया ॥ ३२ ॥

तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं मूर्ध्नि तेनामलत्विषा ।
पूर्वराजवियोगौष्म्यं कृत्स्नस्य जगतो हृतम् ॥ ३३ ॥

तस्येति । तस्यैकस्य मूर्ध्नि छत्रमुच्छ्रितमुन्नमितम् । अमलत्विषा तेन छत्रेण कृत्स्नस्य जगतः पूर्वराजस्य कुशस्य वियोगेन यदौष्म्यं सन्तापस्तद्धृतं नाशितम् । अत्र छत्रोन्नमनसन्तापहरणलक्षणयोः कारणकार्ययोर्भिन्नदेशत्वादसङ्गतिरलङ्कारः । तदुक्तम्—'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे सत्यसङ्गतिः' इति ॥ ३३ ॥

अन्वयः—तस्य एकस्य मूर्ध्नि छत्रं उच्छ्रितं अमलत्विषा तेन कृत्स्नस्य जगतः पूर्वराजवियोगौष्म्यं हृतम् ॥ ३३ ॥

उस एकाकी राजा अतिथि के मस्तक पर छत्र-छाया हुआ था । उस निर्मल कान्ति वाले छत्र से पूर्ववर्ती राजा कुश के वियोग से उत्पन्न सारे संसार का संताप समाप्त हो गया ॥ ३३ ॥

धूमादग्नेः शिखाः पश्चादुदयादंशवो रवेः ।
सोऽतीत्य तेजसां वृत्तिं सममेवोत्थितो गुणैः ॥ ३४ ॥

धूमादिति । अग्नेर्धूमात्पश्चात् अनन्तरमित्यर्थः । शिखा ज्वालाः । रवेरुदयात्पश्चादनन्तरमंशवः । उत्तिष्ठन्त इति शेषः । सोऽतिथिस्तेजसमग्न्यादीनां वृत्तिं स्वभावमतीत्य गुणैः समं सहैवोत्थित उदितः, अपूर्वमिदमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

अन्वयः — अग्नेः धूमात् शिखाः रवेः उदयात् पश्चात् अंशवः उत्तिष्ठन्त इति शेषः सः तेजसां वृत्तिं अतीत्य गुणैः समं एव उत्थितः ।। ३४ ।।

अग्नि की लपट धूम के पीछे प्रकट होती है और सूर्य की किरणें उदय के अनन्तर प्रकाशित होती हैं किन्तु उस अतिथि ने तेजस्वियों की प्रकृति का अतिक्रमण कर गुणों के साथ ही उत्थान किया ।। ३४ ।।

तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयुः पौरयोषितः ।
शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम् ।। ३५ ।।

तमिति । पौरयोषितः प्रीत्या विशदैः प्रसन्नैर्नेत्रैः करणैस्तमतिथिमन्दयुरनुजग्मुः, सदृष्टिप्रसारमद्राक्षुरित्यर्थः । कथमिव । शरदि प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्नक्षत्रैर्विभावर्यो रात्रयो ध्रुवमिव, ध्रुवपाशबद्धत्वात्ताराचक्रस्येत्यर्थः ।। ३५ ।।

अन्वयः— पौरयोषितः प्रीतिविशदैः नेत्रैः तं शरत्प्रसन्नैः ज्योतिभिः विभावर्यः इव अन्वयुः ।। ३५ ।।

जैसे शरद् ऋतुमें रात्रियाँ प्रसन्न नक्षत्रों के द्वारा ध्रुव को नेखतीं हैं उसी प्रकार नगर की सुन्दरियों ने उस अतिथि को प्रेम से प्रसन्न नेत्रों से देखा ।। ३५ ।।

अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः ।
अनुदध्युरनुध्येयं सान्निध्यैः प्रतिमागतैः ।। ३६ ।।

अयोध्येति । प्रशस्तेष्वायतनेष्वालयेष्वर्चिता अयोध्यादेवताश्चानुध्येयमनुग्राह्यमेनमतिथिं प्रतिमागतैरर्चासङ्क्रान्तैः सान्निध्यैः सन्निधानैरनुदध्युरनुजगृहुः । 'अनुध्यानमनुग्रहः' इत्युपलमालायाम् । तदनुग्रहबुद्ध्या सन्निदधुरित्यर्थः ।। ३६ ।।

अन्वयः— प्रशस्तायतनार्चिताः अयोध्यादेवताः च अनुध्येयं एनं प्रतिमागतैः सान्निध्यैः अनुदध्युः ।। ३६ ।।

प्रशस्त मन्दिरों में पूजित अयोध्यापुरी के अधि देवों ने इस कृपापात्र अतिथि को मूर्तिगत सान्निध्य से अनुगृहीत किया ।। ३६ ।।

यावन्नाश्यायते वेदिरभिषेकजलाप्लुता ।
तावदेवास्य वेलाऽन्तं प्रतापः प्राप दुःसहः ।। ३७ ।।

यावन्नेति । अभिषेकजलैराप्लुता सिक्ता वेदिरभिषेकवेदिर्यावन्नाश्यायते न शुष्यति । कर्तरि लट् । तावदेवास्य राज्ञो दुःसह प्रतापो वेलाऽन्तं वेलापर्यन्तं प्राप ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अभिषेकजलाप्लुता वेदिः यावत् न आश्यायते तावत् एव अस्य दुःसहः प्रतापः वेलान्तं प्राप ॥ ३७ ॥

अभिषेक के जल से आर्द्र वेदी जब तक सूख भी न सकी कि अतिथि का दुःसह्य प्रताप सागर तट तक पहुँच गया ॥ ३७ ॥

वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः ।
किं तत्साध्यं यदुभये साधयेयुर्न सङ्गताः ॥ ३८ ॥

वसिष्ठस्येति । गुरोर्वसिष्ठस्य मन्त्राः । धन्विनस्तस्यातिथेः सायकाः इत्युभये सङ्गताः सन्तो यत्साध्यं न साधयेयुस्तत्ताहक्साध्यं किम्, न किञ्चिदित्यर्थः । तेषामसाध्यं नास्तीति भावः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—गुरोः वसिष्ठस्य मंत्राः धन्विनः तस्य सहायकाः उभये संगताः सन्तः यत्साध्यं न साध्येयुः तत् किम् ॥ ३८ ॥

कुलगुरु वसिष्ठ के मन्त्र और उस धनुष धारण करने वाले अतिथि के वाण ये दोनों साथ-साथ मिलकर ऐसा कौन-सा साध्य था जो सिद्ध न हो जाते ? अर्थात् दोनों अकेले-अकेले भी समस्त कार्य सिद्ध करने के लिए समर्थ थे तो मिल जाने पर तो बात ही क्या ॥ ३८ ॥

स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् ।
ददर्श संशयच्छेद्यान्व्यवहारानतन्द्रितः ॥ ३९ ॥

स इति । धर्मे तिष्ठन्तीति धर्मस्थाः सभ्याः । 'राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः' इत्युक्तलक्षणाः । तेषां सखा धर्मस्थसखः, तत्सहित इत्यर्थः । अतन्द्रितोऽनलसः स नृपः शश्वत्, अन्वहमित्यर्थः । अर्थिनां साध्यार्थवतां प्रत्यर्थिनां तद्विरोधिनां च संशयच्छेद्यान्संशयाद्धेतोश्छेद्यान्परिच्छेद्यान्, सन्दिग्धत्वादवश्यनिर्णेयानित्यर्थः । व्यवहारानृणादानादिविवादान्स्वयं ददर्शानुसन्दधौ, न तु प्राड्विवाकमेव नियुक्तवानित्यर्थः । अत्र याज्ञवल्क्यः—'व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह' इति ॥ ३९ ॥

अन्वयः—धर्मस्थसखः अतिन्द्रतः स शश्वत् अर्थिप्रत्यर्थिनां संशयच्छेद्यान् व्यवहारान् ददर्श ॥ ३९ ॥

धर्मात्मा मित्र सभासदों के साथ अतिथि स्वयं वादी और प्रतिवादियों के संशय के कारण निराकरण करने योग्य व्यवहारों (मुकदमों) को सावधानी से देखा करते थे ॥ ३९ ॥

ततः परमभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितैः ।
युयोज पाकाभिमुखैर्भृत्यान्विज्ञापनाफलैः ॥ ४० ॥

तत इति । ततः परं व्यवहारदर्शनानन्तरं भृत्याननुजीविनः । अभिव्यक्तं मुखप्रसादादिलिङ्गैः स्फुटीभूतं यत्सौमनस्यं स्वामिनः प्रसन्नत्वं तेन निवेदितैः पाकाभिमुखैः सिद्ध्यन्मुखैर्विज्ञापनानां विज्ञप्तीनां फलैः प्रेप्सितार्थैर्युयोज योजयामास । अत्र बृहस्पतिः—'नियुक्तः कर्मनिष्पत्तौ विज्ञप्तौ च यदृच्छया । भृत्यान्धनैर्मानयंस्तु नवोऽप्यक्षोभ्यतां व्रजेत् ॥' इति । कविश्च वक्ष्यति—'अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीन्' इत्यादिना । अत्र सौमनस्यफलयोजनादिभिर्नृपस्य वृक्षसमाधिर्ध्वन्यत इत्यनुसन्धेयम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—ततः परं भृत्यान् अभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितैः पाकाभिमुखैः विज्ञापनाफलैः युयोज ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् वह मुख की प्रसन्नता आदि लक्षणों से स्पष्ट प्रकट होने वाली स्वामी की प्रसन्नता से निवेदित फलोन्मुख अभीष्ट पुरस्कारों से अनुजीवियों को अनुगृहीत करता था । वह कार्य सम्पन्न करने वाले सेवकों को प्रसन्नतापूर्वक पुरस्कृत करता था ॥ ४० ॥

प्रजास्तद्गुरुणा नद्यो नभसेव विवर्धिताः ।
तस्मिंस्तु भूयसीं वृद्धिं नभस्ये ता इवाययुः ॥ ४१ ॥

प्रजा इति । प्रजास्तस्यातिथेर्गुरुणा पित्रा कुशेन । नभसा श्रावणमासेन नद्य इव विवर्धिताः । तस्मिन्नतिथौ तु नभस्ये भाद्रपदे मासे ता इव नद्य इव भूयसीं वृद्धिमभ्युदयमाययुः, प्रजापोषणेन पितरमतिशयितवानित्यर्थः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—प्रजाः तद् गुरुणा नभसा नद्य इव विवर्धिताः तस्मिन् तु नभस्ये ताः इव भूयसीं वृद्धिं आययुः ॥ ४१ ॥

उसके पिता कुश से प्रजा सावन की नदियों के समान संवर्धित थी और उस अतिथि के राजा होने पर तो भादव की नदियों के समान और अधिक उमड़ने लगी। कुश के राज्य से भी अतिथि के राज्य में प्रजा समृद्धिशाली थी जैसे सावनमास से भादव मास में नदियाँ अधिक जल से परिपूर्ण होकर उमड़ने लगती हैं ॥ ४१ ॥

यदुवाच न तन्मिथ्या यद्ददौ न जहार तत् ।
सोऽभूद्भग्नव्रतः शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन् ॥ ४२ ॥

यदिति। सोऽतिथिर्यद्वाक्यं दानत्राणादिविषयमुवाच तन्न मिथ्याऽनृतं नाभूत्। यद्वस्तु ददौ तन्न जहार न पुनराददे। किन्तु शत्रूनुद्धृत्योत्खाय प्रतिरोपयन्पुनः स्थापयन्भग्नव्रतो भग्ननियमोऽभूत् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—सः यत् उवाच तत् मिथ्या न, यद् ददौ तत् न जहार किन्तु शत्रून् उद्धृत्य प्रतिरोपयन् भग्नव्रतः अभूत् ॥ ४२ ॥

उस अतिथि ने जो कहा उसे चरितार्थ किया, असत्य नहीं होने दिया। जो दान में दे दिया उसे पुनः लिया नहीं। उसने केवल शत्रुओं को निर्मूल कर पुनः उन्हें राज्यारोपित करते हुए व्रत-भंग कर दिया ॥ ४२ ॥

वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् ।
तानि तस्मिन्समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः ॥ ४३ ॥

वय इति। वयोरूपविभूतीनां यौवनसौन्दर्यैश्वर्याणां मध्य एकैकं मदकारणं मदहेतुः। तानि मदकारणानि तस्मिन् राज्ञि समस्तानि। मिलितानीति शेषः। तथाऽपि तस्यातिथेर्मनो नोत्सिषिचे न जगर्व। सिञ्चतेः स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम्। अत्र वयोरूपादीनां गर्वहेतुत्वान्मदस्य च मदिराकार्यत्वेनातत्कारकत्वान्मदशब्देन गर्वो लक्ष्यत इत्याहुः। उक्तं च—'ऐश्वर्यरूपतारुण्यकुलविद्याबलैरपि। इष्टलाभादिना ह्येषामवज्ञा गर्व ईरितः। मदस्त्वानन्दसम्मोहः सम्भेदो मदिराकृतः ॥' इति। अत एव कविनाऽपि 'उत्सिषिचे' इत्युक्तम्। न तु 'उन्माद' इति ॥ ४३ ॥

अन्वयः—वयोरूपविभूतीनां एकैकं मदकारणं, तानि तस्मिन् समस्तानि तस्य मनः न उत्सिषिचे ॥ ४३ ॥

अन्वयः—स्वभावतः चपला अपि श्रीः प्रसादाभिमुखे तस्मिन् निकषे हेमरेखा इव अनपायिनी आसीत् ॥ ४६ ॥

स्वभावतः चञ्चला होने पर भी राज्य लक्ष्मी उस अतिथि के प्रसन्नताभिमुख होने पर उसी प्रकार स्थिर थी जैसे कसौटी पर सुवर्ण की रेखा नहीं मिटती ॥ ४६ ॥

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥ ४७ ॥

कातर्यमिति । केवला शौर्यवर्जिता नीतिः कातर्यं भीरुत्वम् । शौर्यं केवलमित्यनुषञ्जनीयम् । केवलं नीतिरहितं शौर्यं श्वापदचेष्टितम्, व्याघ्रादिचेष्टाप्रायमित्यर्थः । 'व्याघ्रादयो वनचराः पशवः श्वापदा मताः' इति हलायुधः । अतो हेतोः सोऽतिथिः समेताभ्यां सङ्गताभ्यामुभाभ्यां नीतिशौर्याभ्यां सिद्धिं जयप्राप्तिमन्वियेष गवेषितवान् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—केवला नीतिः कातर्यं केवलं शौर्यं श्वापदचेष्टितम् अतः सः समेताभ्यां उभाभ्यां सिद्धिं अन्वियेष ॥ ४७ ॥

शूरतारहित खाली राजनीति कायरता है । नीतिरहित अकेली शूरता भी सिंह आदि हिंसक पशुओं की प्रवृत्ति है । अतएव उसने राजनीति और शूरता दोनों से कार्य की सफलता का अनुसन्धान किया ॥ ४७ ॥

न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधितेः ।
अदृष्टमभवत्किञ्चिद् व्यभ्रस्येव विवस्वतः ॥ ४८ ॥

नेति । न्यस्ताः सर्वतः प्रहिताः प्रणिधयश्चरा एव दीधितयो रश्मयो यस्य तस्य । 'प्रणिधिः प्रार्थने चरे' इति शाश्वतः । तस्य राज्ञः । व्यभ्रस्य निर्मेघस्य विवस्वतः सूर्यस्येव । मण्डले स्वविषये किञ्चिदल्पमप्यदृष्टमज्ञातं नाभवन्नासीत्, स चारचक्षुषा सर्वमपश्यदित्यर्थः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—न्यस्तप्रणिधिदीधितेः तस्यराज्ञः मण्डले व्यभ्रस्य विवस्वतः इव किञ्चित् अदृष्टं न अभवत् ॥ ४८ ॥

जैसे मेघरहित आकाश-मण्डल में सूर्य की किरणों से कुछ भी पदार्थ अदृष्ट नहीं हो सकता उसी प्रकार उस राजा अतिथि के राज्यमण्डल में

नियुक्त गुप्तचरों से कुछ भी अज्ञात नहीं रह सका। गुप्तचरों के द्वारा राज्य के भीतर घटने वाली सभी घटनाओं को उसे जानकारी थी ॥ ४८ ॥

रात्रिन्दिवविभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम्।
तत्सिषेवे नियोगेन स विकल्पपराङ्मुखः ॥ ४९ ॥

रात्रिन्दिवमिति। रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम्। 'अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुह—' इत्यादिनाऽधिकरणार्थे द्वन्द्वेऽच्प्रत्ययान्तो निपातः। अव्ययान्तत्वादव्ययत्वम्। अत्र षष्ठयर्थलक्षणया रात्रिन्दिवमिति, अहोरात्रयोरित्यर्थः। तयोर्विभागा अंशाः प्रहरादयः। तेषु महीक्षितां राज्ञां यदादिष्टमिदमस्मिन्काले कर्तव्यमिति मन्वादिभिरुपदिष्टं तत् स राजा विकल्पपराङ्मुखः संशयरहितः। सन्। नियोगेन निश्चयेन सिषेवे, अनुष्ठितवानित्यर्थः। अत्र कौटिल्यः—'कार्याणां नियोगविकल्पसमुच्चया भवन्ति। अनेनैवोपायेन नान्येनेति नियोगः। अनेन वान्येन वेति विकल्पः। अनेन चेति समुच्चयः' इति ॥ ४९ ॥

अन्वयः—रात्रिन्दिवविभागेषु महीक्षितां यत् आदिष्टं तत् सः विकल्पपराङ्मुखः सन् नियोगेन सिषेवे ॥ ४९ ॥

रात और दिन के विभागों में बाँटकर "इस समय से इस समय तक यह कार्य फिर इस समय से इस समय तक यह कार्य करना है" इस प्रकार राजाओं के लिए शास्त्रों में जो आदेश दिया गया है, अतिथि ने बड़े मनोयोग के साथ निश्चय पूर्वक सन्देहरहित होकर उसका पालन किया ॥ ४९ ॥

मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः।
स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥ ५० ॥

मन्त्र इति। तस्य राज्ञः प्रति दिनं मन्त्रिभिः सह मन्त्रो विचारो बभूव। स मन्त्रः सेव्यमानोऽप्यन्वहमावर्त्यमानोऽपि जातु कदाचिदपि न सूच्यते न प्रकाश्यते। तत्र हेतुर्गुप्तद्वार इति संवृतेङ्गिताकारादिज्ञानमार्ग इत्यर्थः ॥५०॥

अन्वयः—तस्य प्रतिदिनं मंत्रिभिः सह मन्त्रः बभूव। सः सेव्यमानः अपि जातु न सूच्यते (यतो हि सः) गुप्तद्वारः ॥ ५० ॥

मन्त्रियों के साथ प्रतिदिन उसकी गुप्त मन्त्रणा होती थी किन्तु कभी भी प्रतिदिन आवृत्ति होने पर भी उस मन्त्रणा का भेद किसी को मालूम नहीं होता था ॥ ५० ॥

परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञातपरस्परैः ।
सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि ।। ५१ ।।

परेष्विति । यथाकालमुक्तकालानतिक्रमेण स्वपन्नपि सोऽतिथिः परेषु शत्रुषु स्वेषु स्वकीयेषु च । मन्त्र्यादितीर्थेष्विति शेषः । क्षिप्तैः प्रहितैरविज्ञाताः परस्परे येषां तैः, अन्योन्याविज्ञातैरित्यर्थः । अपसर्पैश्चरैः । 'अपसर्पश्चरः स्पशः' इत्यमरः । जजागार बुद्धवान्, चारमुखेन सर्वमज्ञासीदित्यर्थः । अत्र कामन्दकः— 'चारान्विचारयेत्तीर्थेष्वात्मनश्च परस्य च । पाषण्डचादीनविज्ञातानन्योन्यमितरैरपि ।।' इति ।। ५१ ।।

अन्वयः—यथाकालं स्वपन् अपि सः स्वेषु परेषु च क्षिप्तैः अविज्ञात-परस्परैः अपसर्पैः जजागार ।। ५१ ।।

समयानुसार सोते हुए भी वह अतिथि स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र में भेजे गए एक दूसरे को न जानने वाले गुप्तचरों के द्वारा जागता ही रहता था। दूतों के मुख से उसे सब समाचार मिलता रहता था। इसलिए वह सोते हुए भी जागरूक बना रहता था ।। ५१ ।।

दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम् ।
न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद् गिरिगुहाशयः ।। ५२ ।।

दुर्गाणीति । द्विषां रोद्धू रोधकस्यापि, न तु स्वयं रोध्यस्येत्यर्थः । तस्य राज्ञो दुर्ग्रहाणि परैर्दुर्धर्षाणि दुर्गाणि महीदुर्गादीन्यासन् । न च निर्भीकस्य किं दुर्गैरिति वाच्यमित्यर्थान्तरन्यासमुखेनाह—न हीति । गजानास्कन्दति हिनस्तीति गजास्कन्दी सिंहो भयाद्धेतोः । गिरिगुहासु शेत इति गिरिगुहाशयो न हि, किन्तु स्वभाव एवेति शेषः । 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच्प्रत्ययः अत्र मनुः— धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा । नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ।।' इति ।। ५२ ।।

अन्वयः—द्विषां रोद्धुः अपि तस्य दुर्गाणि दुर्ग्रहाणि आसन् हि गजास्कन्दी सिंहः भयात् गिरिगुहाशयः न किन्तु स्वभाव एव ।। ५२ ।।

शत्रुओं के अवरोधक होते हुए भी उसके दुर्ग शत्रुओं द्वारा दुर्लङ्घ्य थे। क्योंकि हाथियों का संहारकर्ता सिंह हाथियों के भय से पर्वत की कन्दरा में

नहीं सोता अपितु उसका एकान्त शांत गिरि-गुहा में निश्चिन्त होकर सोने का स्वभाव ही होता है ।। ५२ ।।

भव्यमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः ।
गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे ।। ५३ ।।

भव्यमुख्या इति । भव्यमुख्याः कल्याणप्रधानाः, न तु विपरीताः । प्रत्यवेक्ष्या एतावत्कृतमेतावत्कर्तव्यमित्यनुसन्धानेन विचारणीयाः । अत एव निरत्यया निर्बाधा गर्भेऽभ्यन्तरे पच्यन्ते ये शालयस्तेषां सधर्माणः, अतिनिगूढा इत्यर्थः । 'धर्मादनिच्केवलात्' इत्यनिच्प्रत्ययः समासान्तः । तस्य राज्ञः समारभ्यन्त इति समारम्भाः कर्माणि गूढमप्रकाशं विपेचिरे, फलिता इत्यर्थः । 'फलानुमेयाः प्रारम्भाः' इति भावः ।। ५३ ।।

अन्वयः—भव्यमुख्याः प्रत्यवेक्ष्याः अतः निरत्ययाः गर्भशालिसधर्माणः तस्य समारम्भाः गूढं विपेचिरे ।। ५३ ।।

उस राजा अतिथि द्वारा प्रारम्भ किया हुआ कल्याण प्रमुख कार्य निर्बाध गति से विचारणीय होता था । उसका परिणाम उसी प्रकार अत्यन्त गोपनीय होता था जैसे धान की भूसी के भीतर ही भीतर तण्डुल परिपुष्ट होता रहता है ।। ५३ ।।

अपथेन प्रववृते न जातूपचितोऽपि सः ।
वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः ।। ५४ ।।

अपथेनेति । सोऽतिथिरुपचितोऽपि वृद्धिं गतोऽपि सन् । जातु कदाचिदप्यपथेन कुमार्गेण न प्रववृते न प्रवृत्तः, मर्यादां न जहावित्यर्थः । तथा हि, लवणाम्भसो लवणसागरस्य वृद्धौ पूरोत्पीडे सत्यां नदीमुखेनैव नदीप्रवेशमार्गेणैव प्रस्थानं निःसरणम्, न त्वन्यथेत्यर्थः ।। ५४ ।।

अन्वयः—सः उपचितः अपि जातु अपथेन न प्रववृते हि लवणाम्भसः वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानम् ।। ५४ ।।

जैसे सागर के बढ़ जाने पर उसका प्रस्थान नदी मुख से ही होता है उसी प्रकार अतिथि वृद्धि पाने पर भी कभी कुमार्ग से नहीं चला ।। ५४ ।।

कामं प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः ।
यस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत् ।। ५५ ।।

कामिति। प्रकृतिवैराग्यं प्रजाविरागम्। दैवादुत्पन्नमिति शेषः। सद्यः कामं सम्यक्शमयितुं प्रतिकर्तुं क्षमः शक्तः स राजा यस्य प्रकृतिवैराग्यस्य प्रतीकारः कार्यः कर्तव्यः, अनर्थहेतुत्वादित्यर्थः। तद्वैराग्यं नोद्पादयत्। उत्पन्नप्रतीकारादनुत्पादनं वरमिति भावः। अत्र कौटिल्यः—'क्षीणाः प्रकृतयो लोभं लुब्धा यान्ति विरागताम्। विरक्ता यान्त्यमित्रं वा भर्तारं घ्नन्ति वा स्वयम्॥' तस्मात्प्रकृतीनां विरागकारणानि नोत्पादयेदित्यर्थः॥ ५५॥

अन्वयः—प्रकृतिवैराग्यं सद्यः कामं शमयितुं क्षमः सः यस्य प्रतीकारः कार्यः तत् नैव उदपादयत्॥ ५५॥

यह सच है कि वह प्रजा की उदासीनता (विद्रोह) तत्क्षण शान्त करने में सक्षम था; फिर भी जिसका प्रतीकार करना पड़े उसे अतिथि ने उत्पन्न ही नहीं होने दिया। क्योंकि पंक लगाकर धोने से अच्छा यही है कि पंक लगने ही न दिया जाय॥ ५५॥

शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः।
समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः॥ ५६॥

शक्येष्विति। शक्तिमतः शक्तिसम्पन्नस्यापि सतस्तस्य राज्ञः शक्येषु शक्तिविषयेषु स्वस्माद्धीनबलेष्वेव विषये यात्रा दण्डयात्रा अभवत्, न तु समधिकेष्वित्यर्थः। तथा हि, समीरणसहायोऽपि दवानलोऽम्भःप्रार्थी जलान्वेषी न। दग्धुमिति शेषः किन्तु तृणकाष्ठादिकमेवान्विष्यतीत्यर्थः। अत्र कौटिल्यः—'समज्यायोभ्यां सन्दधीत हीनेन विगृह्णीयाद्' इति॥ ५६॥

अन्वयः—शक्तिमतः सतः तस्य शक्येषु एव यात्रा अभवत् समीरसहायः अपि दावानलः अम्भः प्रार्थी न दग्धुमितिशेषः॥ ५६॥

शक्ति सम्पन्न होते हुए भी उसकी रणयात्रा अपने से हीन बल वाले राजाओं पर ही होती थी जिन्हें जीतना सम्भव था। क्योंकि दावाग्नि वायु की सहायता पाकर भी जल को नहीं जलाना चाहती अपितु रूखे-सूखे फूस काठ आदि दुर्बल इन्धन को ही ढूँढ़ती है॥ ५६॥

न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु॥ ५७॥

नेति । स राजाऽर्थकामाभ्यां धर्मं न बबाधे न नाशितवान् । तेन धर्मेण च तावदर्थकामौ न । अर्थं कामेन कामं वाऽर्थेन न बबाधे, एकत्रैवासक्तो नाभूदित्यर्थः । किन्तु त्रिषु धर्मार्थकामेषु सदृशस्तुल्यवृत्तिः । अभूदित्यर्थः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—सः अर्थकामाभ्यां धर्मं न बबाधे, तेन च तौ न बबाधे अर्थं कामेन कामं वा अर्थेन न बबाधे किन्तु त्रिषु सदृशः अभूत् ॥ ५७ ॥

इसके राज्य में धर्म-अर्थ-काम के त्रिगण परस्पर बाधा नहीं पहुँचाते थे । उस राजा अतिथि ने अर्थ और काम द्वारा धर्म को बाधा नहीं पहुँचने दिया तथा धर्म से वे दोनों अर्थ और काम बाधित नहीं हुए । काम से अर्थ को बाधा नहीं पहुँची अथवा न तो अर्थ से काम को ही बाधा पहुँची । वह धर्म अर्थ और काम तीनों में समान भाव से प्रवृत्त हुआ ॥ ५७ ॥

हीनान्यनुपकर्तॄणि प्रवृद्धानि विकुर्वते ।
तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः ॥ ५८ ॥

हीनानीति । मित्राणि हीनान्यतिक्षीणानि चेदनुपकर्तॄण्यनुपकारीणि । प्रवृद्धान्यतिसमृद्धानि चेद्विकुर्वते विरुद्धं चेष्टन्ते, अपकुर्वत इत्यर्थः । 'अकर्मकाच्च' इत्यात्मनेपदम् । अतः कारणात्तेन राज्ञा मित्राणि सुहृदः । 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के' इति विश्वः । मध्यमशक्तीनि नातिक्षीणोच्छ्रितानि यथा तथा स्थापितानि ॥ ५८ ॥

अन्वयः—मित्राणि हीनानि अनुपकर्तॄणि प्रवृद्धानि विकुर्वते; अतः तेन मित्राणि मध्यमशक्तीनि स्थापितानि ॥ ५८ ॥

यदि मित्र हीन हैं तो कोई उपकार करने योग्य नहीं हैं और यदि प्रबल हैं तो अपकार भी कर सकते हैं इसलिए उसने मध्यम शक्ति वाले मित्रों को स्थापित किया ॥ ५८ ॥

परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम् ।
ययावेभिर्बलिष्ठश्चेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा ॥ ५९ ॥

परात्मन इति । सोऽतिथिः परात्मनोः शत्रोरात्मनश्च शक्त्यादीनां शक्तिदेशकालादीनां बलाबलं न्यूनाधिकभावं परिच्छिद्य निश्चित्य । एभिः शक्त्यादिभिः परस्माच्छत्रोर्बलिष्ठः स्वयमतिशयेन बलवांश्चेत् बलशब्दान्मतुबन्ता-

दिष्ठन्प्रत्ययः । 'विन्मतोर्लुक्' इति मतुपो लुक् । ययौ यात्रां चक्रे । अन्यथा बलिष्ठश्चेदास्तातिष्ठत्, न ययावित्यर्थः । अत्र मनुः—'यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् । परस्य विपरीतं चेत्तदा यायादरीन्प्रति ॥ यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च । तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन् ॥' इति ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सः परात्मनः शक्त्यादीनां बलाबलं परिच्छिद्य एभिः परस्मात् बलिष्ठः चेत् ययौ अन्यथा आस्त ॥ ५९ ॥

शत्रु की और अपनी शक्ति-देश-काल आदि की दुर्बलता सबलता का विचार कर इनसे यदि वह शत्रु से सबल होता था तो उन पर आक्रमण करता था और यदि शत्रु प्रबल पड़ते थे तो चुप मारकर बैठ जाता था ॥ ५९ ॥

कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसङ्ग्रहः ।
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥ ६० ॥

कोशेनेति । कोशेनार्थचयेनाश्रयणीयत्वं भजनीयत्वम् । भवतीति शेषः । इति हेतोस्तस्य राज्ञः कर्तुः अर्थसङ्ग्रहः, न तु लोभादित्यर्थः । तथा हि, अम्बु गर्भे यस्य सोऽम्बुगर्भः । जीवनस्य जलस्य मूतः पुटबन्धो जीमूतो मेघः । 'मूङ् बन्धने' पृषोदरादित्वात्साधुः । चातकैरभिनन्द्यते सेव्यते । अत्र कामन्दकः—'धर्महेतोस्तथार्थाय भृत्यानां रक्षणाय च । आपदर्थं च संरक्ष्यः कोशो धर्मवता सदा ॥' इति ॥ ६० ॥

अन्वयः—कोशेन आश्रयणीयत्वं इति तस्य अर्थसंग्रहः हि अम्बुगर्भः जीमूतः चातकैः अभिनन्द्यते ॥ ६० ॥

कोश से ही प्रजा को आश्रय मिलता है इसलिए उसने अर्थ-संग्रह किया न कि धन लोभ से । क्योंकि जिस बादल के भीतर जल भरा रहता है वही चातकों द्वारा अभिनन्दित होता है । जलहीन शरद् घन से चातक भी नहीं प्रार्थना करता तो कोशरहित राजा का कौन आश्रय लेगा । इसलिए अतिथि ने अर्थ-संग्रह किया ॥ ६० ॥

परकर्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्मसु ।
आवृणोदात्मनो रन्ध्रं रन्ध्रेषु प्रहरन् रिपून् ॥ ६१ ॥

परकर्मापह इति । स राजा परेषां कर्माणि सेतुवार्तादीन्यपहन्तीति परकर्मापहः सन् । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इत्यपिशब्दसामर्थ्याद्धन्तेर्डप्रत्ययः । स्वेषु कर्मसूद्यत उद्युक्तोऽभूत् । किञ्च । रिपून् रन्ध्रेषु प्रहरन्नात्मनो रन्ध्रं व्यसनादिकमावृणोत्संवृतवान् । अत्र मनुः—'नास्य च्छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु । गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥' इति ॥ ६१ ॥

अन्वयः—सः परकर्मापहः सन् स्वेषु कर्मसु उद्यतः अभूत् रिपून् रन्ध्रेषु प्रहरन् आत्मनः रन्ध्रं आवृणोत् ॥ ६१ ॥

वह अतिथि दूसरों के कार्यों को नष्ट कर देता था और अपने कार्यों में उद्यत हो जाता था । शत्रुओं के ऊपर छिद्र होने पर ही दुर्बल स्थिति में प्रहार करते हुए वह अपने छिद्रों (दुर्बलता) को आवृत ही रखता था ॥६१॥

पित्रा संवर्धितो नित्यं कृतास्त्रः साम्परायिकः ।
तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्न व्यशिष्यत ॥ ६२ ॥

पित्रेति । दण्डो दमः सैन्यं वा तद्वतो दण्डवतो दण्डसम्पन्नस्य तस्य राज्ञः पित्रा कुशेन नित्यं संवर्धितः पुष्टः कृतास्त्रः शिक्षितास्त्रः । सम्परायो युद्धम् । 'युद्धायत्योः सम्परायः' इत्यमरः । तमर्हतीति साम्परायिकः । 'तदर्हति' इति ठक्प्रत्ययः । दण्डः सैन्यम् । 'दण्डो यमे मानभेदे लगुडे दमसैन्ययोः' इति विश्वः । स्वदेहान्न व्यशिष्यत नाभिद्यत । स्वदेहेऽपि विशेषणानि योज्यानि । मूलबलं स्वदेहमिवारक्षदित्यर्थः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—दण्डवतः तस्य पित्रा नित्यं सम्बर्द्धितः कृतास्त्रः साम्परायिकः दण्डः स्वदेहात् न व्यशिष्यत ॥ ६२ ॥

सैनिक शक्ति से युक्त अतिथि के पिता कुश द्वारा नित्य संवर्धित अस्त्र शिक्षा प्राप्त युद्ध करने योग्य सैन्यबल को उसने अपने शरीर से अलग नहीं किया अर्थात् उसने मूल बल की अपने शरीर के समान सुरक्षा की ॥ ६२ ॥

सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः ।
स चकर्ष परस्मात्तदयस्कान्त इवायसम् ॥ ६३ ॥

सर्पस्येवेति । सर्पस्य शिरोरत्नमिव अस्य राज्ञः शक्तित्रयं परः शत्रुर्न चकर्ष । स तु परस्माच्छत्रोस्तच्छक्तित्रयम् । अयस्कान्तो मणिविशेष आयसं लोहविकारमिव चकर्ष ॥ ६३ ॥

अन्वयः—सर्पस्य शिरोरत्नम् इव अस्य शक्तित्रयं परः न चकर्ष सः तु परस्मात् तत् अयस्कान्तः आयसं इव चकर्ष ॥ ६३ ॥

साँप के मस्तक की मणि के समान इस अतिथि की प्रभु-मन्त्र और उत्साह इन तीनों शक्तियों को अन्य शत्रु आकृष्ट नहीं कर सके किन्तु इसने शत्रुओं से ये शक्तियाँ उसी प्रकार खींच लीं जैसे चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है ॥ ६३ ॥

वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव ।
सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु ॥ ६४ ॥

वापीष्विति । स्रवन्तीषु नदीषु । बापीषु दीर्घिकास्विव । 'वापी तु दीर्घिका' इत्यमरः । वनेष्वरण्येषूपवनेष्वारामेष्विव । 'आरामः स्यादुपवनम्' इत्यमरः । अद्रिषु स्वकीयेषु वेश्मस्विव सार्था वणिक्प्रभृतयः स्वैरं स्वेच्छया चेरुश्चरन्ति स्म ॥ ६४ ॥

अन्वयः—स्रवन्तीषु वापीषु इव वनेषु उपवनेषु इव अद्रिषु स्वकीयेषु वेश्मसु इव सार्थाः स्वैरं चेरुः ॥ ६४ ॥

अतिथि के प्रताप से व्यापारी लोग नदियों में वावलियों के समान जंगलों में घर के उद्यान के समान, और पहाड़ों पर अपने घर के समान स्वच्छन्दता पूर्वक व्यापार किया करते थे ॥ ६४ ॥

तपो रक्षन्स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च सम्पदः ।
यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक् ॥ ६५ ॥

तप इति । विघ्नेभ्यस्तपो रक्षन् । तस्करेभ्यः सम्पदश्च रक्षन् । स राजाऽऽश्रमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्वर्णैरपि ब्राह्मणादिभिश्च यथास्वं स्वमनतिक्रम्य षडंशभाक्चक्रे । यथाक्रममाश्रमैस्तपसो वर्णैः सम्पदां च षष्ठांशभाक्कृत इत्यर्थः । षष्ठोंऽशः षडंशः । सङ्ख्या शब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वमुक्तं प्राक् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—सः विघ्नेभ्यः तपः रक्षन् तस्करेभ्यः सम्पदश्च रक्षन् आश्रमैः वर्णैः च यथास्वं षडंशभाक् चक्रे ॥ ६५ ॥

उसने विघ्नों से तपस्या की रक्षा की और तस्करों से प्रजा की सम्पत्तियों को बचाया । इसलिए अपनी शक्ति के अनुसार चारों आश्रमों और

वर्णों के द्वारा वह भी छठे हिस्से का भोक्ता बनाया गया। आश्रम वासी तपस्वियों ने अपनी तपस्या का छठा अंश और ब्राह्मणादि वर्णों ने सम्पत्ति का षष्ठांश उस राजा अतिथि को अपनी शक्ति भर दिये ॥ ६५ ॥

खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान्।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥ ६६ ॥

खनिभिरिति। भूर्भूमिस्तस्मै राज्ञे रक्षासदृशं रक्षणानुरूपमेव वेतनं भृतिं दिदेश ददौ। कथम्। खनिभिराकरैः। 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः। रत्नं माणिक्यादिकं सुषुवेऽजीजनत्। क्षेत्रैः सस्यम्। वनैर्गजान्हस्तिनः सुषुवे ॥ ६६ ॥

अन्वयः—भू तस्मैः रक्षासदृशं एव वेतनं दिदेश। खनिभिः रत्नं सुषुवे, क्षेत्रैः सस्यं वनैः गजान् सुषुवे ॥ ६६ ॥

पृथ्वी ने रक्षा के अनुरूप ही राजा अतिथि को वेतन दिया। खानों से रत्न उत्पन्न हुए, खेतों ने अन्न उत्पन्न किए और जंगलों ने हाथियों को जन्म दिया ॥ ६६ ॥

स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः।
बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥ ६७ ॥

स इति। षण्मुखविक्रमः स राजा षण्णां गुणानां सन्धिविग्रहादीनां बलानां मूलभृत्यादीनां च साधनीयेषु वस्तुषु साध्येष्वर्थेषु विनियोगं जानातीति विनियोगस्य ज्ञ इति वा विनियोगज्ञः। कर्मविवक्षायामुपपदसमासः। 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः। शेषविवक्षायां षष्ठीसमासः। 'इगुपध—' इत्यादिना कप्रत्ययः। बभूव। 'इदमत्र प्रयोक्तव्यम्' इत्याद्यज्ञासीदित्यर्थः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—षण्मुखविक्रमः सः षण्णां गुणानां बलानां च साधनीयेषु वस्तुषु विनियोगज्ञः बभूव ॥ ६७ ॥

षडानन के समान महापराक्रमी वह अतिथि सन्धि-विग्रह आदि छहों गुणों और मूल-भृत्य आदि छहों बलों का साध्य अर्थों में विनियोग करना जानता था ॥ ६७ ॥

इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम्।
आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ॥ ६८ ॥

इनीति । इति चतुर्विधाम् । सामाद्युपायैरिति शेषः । राजनीतिं दण्डनीतिं क्रमात्सामादिक्रमादेव प्रयुञ्जानः स राजा आतीर्थान्मन्त्र्याद्यष्टादशात्मकतीर्थ-पर्यन्तम् । 'योनौ जलावतारे च मन्त्र्याद्यष्टादशस्वपि । पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्यात्' इति हलायुधः । तस्या नीतेः फलमप्रतीघातमप्रतिबन्धं यथा तथा आनशे प्राप्तवान् । मन्त्र्यादिषु यमुद्दिश्य य उपायः प्रयुज्यते स तस्य फलतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—इति चतुर्विधां राजनीतिं क्रमात् प्रयुञ्जानः सः आतीर्थात् तस्याः फलं अप्रतिघातं आनशे ॥ ६८ ॥

साम-दाम-दण्ड और भेद इन चारों प्रकार की राजनीतियों का इस क्रम से प्रयोग करते हुए उस राजा अतिथि ने मन्त्र आदि अठारह तीर्थों तक उस नीति का अबाध रूप से फल प्राप्त किया ॥ ६८ ॥

कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि ।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी ॥ ६९ ॥

कूटयुद्धेति । कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि कपटयुद्धप्रकाराभिज्ञेऽपि सन्मार्गेण योधिनि धर्मयोद्धरि तस्मिन्नतिथौ वीरगामिनी जयश्रीरभिसारिकावृत्तिं भेजे । 'कान्तार्थिनी तु या याति सङ्केतं साभिसारिका' इत्यमरः । जयश्रीस्तमन्विष्यागच्छदित्यर्थः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—कूटयुद्धविधिज्ञे अपि सन्मार्गयोधिनि तस्मिन् वीरगामिनी जयश्रीः अभिसारिका वृत्तिं भेजे ॥ ६९ ॥

कूट (कपट) युद्ध की विधि जानते हुए भी उसने धर्म युद्ध ही किया । इसलिए वीर के समीप जाने वाली विजय लक्ष्मी अभिसारिका (कान्त की कामना से संकेत स्थल में जाने वाली) के समान उसके पास स्वयं पहुँच गयी ॥ ६९ ॥

प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः ।
रणो गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः ॥ ७० ॥

प्राय इति । अरीणां सर्वेषामपि प्रतापेनातितेजसैव भग्नत्वात्तस्य राज्ञः । गन्धेन मदगन्धेनैव भिन्ना अन्ये दन्तिनो येन तस्य गन्धद्विपस्येव । प्रायः प्रायेण रणो दुर्लभः । खलर्थयोगेऽपि शेषविवक्षायां षष्ठीमिच्छन्तीत्युक्तम् ॥ ७० ॥

अन्वयः—अरीणां प्रतापभग्नत्वात् तस्य गन्धभिन्नान्यदन्तिनः गन्धद्विपस्य इव प्रायः रणः दुर्लभः भवतिस्म ॥ ७० ॥

जिस प्रकार मदजल प्रवाहित करने वाले हाथियों के मदजल के गन्ध से ही अन्य हाथी हतोत्साह हो जाते हैं उसी प्रकार प्रायः उसके प्रताप से शत्रुओं का उत्साह भंग हो जाने के कारण युद्ध दुर्लभ था ॥ ७० ॥

प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः ।
स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत्ताविव क्षयी ॥ ७१ ॥

प्रवृद्धाविति । प्रवृद्धौ सत्यां चन्द्रो हीयते । समुद्रोऽपि तथाविधश्चन्द्रवदेव प्रवृद्धौ हीयते । 'प्रवृद्धः' इति वा पाठः । स राजा तु ताभ्यां चन्द्रसमुद्राभ्यां समावृद्धिर्यस्य स तत्समवृद्धिश्चाभूत् । तौ चन्द्रसमुद्राविव क्षयी । 'जिदृक्षि—' इत्यादिनेनिप्रत्ययः । माभूत् ॥ ७१ ॥

अन्वयः—प्रवृद्धौ चन्द्रः हीयते समुद्र अपि तथाविधः, स तु तत्समवृद्धिश्च अभूत् तौ इव क्षयी न चाभूत् ॥ ७१ ॥

चन्द्रमा वृद्धि करने पर क्षीण होता है; उसी प्रकार समुद्र भी बढ़ जाने पर पुनः घट जाता है; किन्तु वह राजा अतिथि उन दोनों के समान वृद्धि-शाली तो हुआ परन्तु उनके समान पुनः क्षयशाली नहीं हुआ ॥ ७१ ॥

सन्तस्तस्याभिगमनादत्यर्थं महतः कृशाः ।
उदधेरिव जीमूताः प्रापुर्दातृत्वमर्थिनः ॥ ७२ ॥

सन्त इति । अत्यर्थं कृशा दरिद्रा अत एवार्थिनो याचनशीलाः सन्तो विद्वांसो महतस्तस्य राज्ञोऽभिगमनात् । उदधेरभिगमनाज्जीमूता इव दातृत्वं वदान्यत्वं प्रापुः । अर्थिपु दानभोगपर्याप्तं धनं प्रयच्छतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—अत्यर्थं कृशाः अर्थिनः सन्तः महतः तस्य अभिगमनात् उदधेः जीमूताः इव दातृत्वं प्रापुः ॥ ७२ ॥

जिस प्रकार बादल समुद्र के पास जाने से जलदाता बन जाता है उसी प्रकार अत्यधिक दुर्बल-दरिद्र विद्वान् याचक उस महान् राजा अतिथि के पास पहुँचकर दानशीलता प्राप्त कर लेते थे। विद्वान् याचकों को वह इतना अधिक दान देता था कि उसके दान से वह दरिद्र याचक

अपना तो योग क्षेम करने योग्य हो ही जाता था अन्य याचकों को भी वह दान देने योग्य हो जाता था ।। ७२ ।।

स्तूयमानः स जिह्लाय स्तुत्यमेव समाचरन् ।
तथाऽपि ववृधे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः ।। ७३ ।।

स्तूयमान इति । स राजा स्तुत्यं स्तोत्रार्हमेव यत्तदेव समाचरन्नत एव स्तूयमानः सन् । जिह्लाय ललज्ज । तथाऽपि ह्रीनत्वेऽपि तत्कारिणः स्तोत्रकारिणो द्वेष्टीति तत्कारिद्वेषिणस्तस्य राज्ञो यशो ववृधे । 'गुणाढ्यस्य सतः पुंसः स्तुतौ लज्जैव भूषणम्' इति भावः ।। ७३ ।।

अन्वयः—सः स्तुत्यं एव समाचरन् स्तूयमानः सन् जिह्लाय तथापि तत्कारिद्वेषिणः तस्य यशः ववृधे ।। ७३ ।।

यद्यपि वह राजा स्तुति करने योग्य आचरण करता हुआ भी स्तुति किये जाने पर अपनी प्रशंसा सुनकर लज्जित हो जाता था । तथापि प्रशंसा करने वालों के द्वेषी उस राजा अतिथि का यश बढ़ता ही गया ।। ७३ ।।

दुरितं दर्शनेन घ्नंस्तत्त्वार्थेन नुदंस्तमः ।
प्रजा स्वतन्त्रयाञ्चक्रे शश्वत्सूर्य इवोदितः ।। ७४ ।।

दुरितमिति । स राजा । उदितः सूर्य इव दर्शनेन । दुरितं घ्नन्निवर्तयन् । तथा च स्मर्यते—'अग्निचित्कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः । दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात्पश्येत नित्यशः' इति । तत्त्वस्य वस्तुतत्त्वस्यार्थेन समर्थनेन च तमोऽज्ञानं ध्वान्तं च नुदन् शश्वत्प्रजाः स्वतन्त्रयाञ्चक्रे स्वाधीनाश्चकार ।। ७४ ।।

अन्वयः—(सः) उदितः सूर्यः इव दर्शनेन दुरितं घ्नन् तत्त्वार्थेन तमः नुदन् शश्वत् प्रजाः स्वतन्त्रयाञ्चक्रे ।। ७४ ।।

उदित सूर्य के समान उस राजा अतिथि ने दर्शन से पाप को दूर करते हुए और वस्तु तत्त्व के समर्थन से अज्ञानरूपी अंधकार को नष्ट करते हुए निरन्तर प्रजाओं को स्वाधीन कर दिया ।। ७४ ।।

इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेंऽशवः ।
गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम् ।। ७५ ।।

इन्दोरिति । इन्दोरंशवः पद्मेऽगतयः, प्रवेशरहिता इत्यर्थः । सूर्यस्यांशवः कुमुदेऽगतयः। गुणिनस्तस्य गुणास्तु विपक्षे शत्रावप्यन्तरमवकाशं लेभिरे: ।।७५।।

अन्वयः—इन्दोः अंशवः पद्मे अगतयः सूर्यस्य अंशवः कुमुदे अगतयः गुणिनः तस्य गुणाः विपक्षेऽपि अन्तरं लेभिरे ॥ ७५ ॥

चन्द्रमा की किरणें कमल के भीतर नहीं पहुँचतीं और सूर्य की रश्मियाँ कुमुदों में नहीं जा पाती हैं। किन्तु उस गुणवान् राजा अतिथि के गुणवान् के गुणों ने विपक्ष में रहने वाले शत्रुओं के हृदय के भीतर प्रवेश कर लिया ॥ ७५ ॥

पराभिसन्धानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम् ।
जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत् ॥ ७६ ॥

पराभिसन्धानपरमिति । अश्वमेधाय जिगीषोरस्य विचेष्टितं दिग्विजयरूपं यद्यपि पराभिसन्धानपरं शत्रुवञ्चनप्रधानं तथाऽपि तद्धर्म्यं धर्मादनपेतमेव । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः । बभूव । 'मन्त्रप्रभावोत्साहशक्तिभिः परान्सन्दध्यात्' इति कौटिल्यः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—अश्वमेधाय जिगीषोः अस्य विचेष्टितं यद्यपि पराभिसन्धानपरं तथापि तत् धर्म्यं एव बभूव ॥ ७६ ॥

दिग्विजय की कामना करने वाले उस राजा अतिथि की चेष्टाएँ परापवञ्चनकारी थीं किन्तु अश्वमेध के लिए उसने धर्ममय ही आचरण किया ॥ ७६ ॥

एवमुद्यन् प्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना ।
वृषेव देवो देवानां राज्ञां राजा बभूव सः ॥ ७७ ॥

एवमिति । एवं शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना शास्त्रोपदिष्टमार्गेण प्रभावेण कोशदण्डजेन तेजसा । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । उद्यन्नुद्युञ्जानः । स वृषा वासवो देवानां देवो देवदेव इव राज्ञां राजराजो बभूव ॥ ७७ ॥

अन्वयः—एवं शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना प्रभावेण उद्यन् सः वृषा देवानां देवः इव राज्ञां राजा बभूव ॥ ७७ ॥

इस प्रकार शास्त्रों में बताये गये मार्ग के अनुसरण से कोशदण्ड जन्य प्रभाव से वह अतिथि देवताओं के देवता इन्द्र के समान राजाओं का राजाधिराज हो गया ॥ ७७ ॥

पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्ययोगतः ।
भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ।। ७८ ।।

पञ्चममिति । तम् । राजानमिति शेषः । साधर्म्ययोगतो यथाक्रमं लोकसंरक्षणपरोपकारभूधारणरूपसमानधर्मत्वबलाल्लोकपालानामिन्द्रादीनां चतुर्णां पञ्चममूचुः । महतां भूतानां पृथिव्यादीनां पञ्चानां षष्ठमूचुः । कुलभूभृतां कुलाचलानां महेन्द्रमलयादीनां सप्तानामष्टममूचुः ।। ७८ ।।

अन्वयः—तं साम्ययोगतः लोकपालानां पञ्चमं ऊचुः महतां भूतानां षष्ठं कुलभूभृतां अष्टमं ऊचूः ।। ७८ ।।

लोकरक्षा, परोपकार और पृथ्वीधारण रूप समान धर्म के बल से इन्द्र-वरुण-यम-कुबेर इन चारों लोकपालों में अतिथि को पञ्चम लोकपाल कहा गया । पृथ्वी-जल-तेज वायु और आकाश इन पञ्चमहाभूतों में षष्ठ कहा गया और महेन्द्र-मलय-सह्य-शुक्तिमान्-ऋक्ष-विन्ध्य और पारियात्र सात कुल पर्वतों में अष्टम कहा गया ।। ७८ ।।

दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्याज्ञां शासनार्पिताम् ।
दधुः शिरोभिर्भूपाला देवाः पौरन्दरीमिव ।। ७९ ।।

दूरापवर्जितच्छत्रैरिति । भूपालाः । शासनेषु पत्रेष्वर्पितामुपन्यस्तां तस्य राज्ञः आज्ञाम् । देवाः पौरन्दरीमैन्द्रीमाज्ञामिव । दूरापवर्जितच्छत्रैर्दूरात्परिहृतातपत्रैः शिरोभिर्दधुः ।। ७९ ।।

अन्वयः—भूपालाः शासनार्पितां तस्य आज्ञां देवाः पौरन्दरीं आज्ञां इव दूरापवर्जितच्छत्रैः शिरोभिः दधु ।। ७९ ।।

जिस प्रकार इन्द्र का आदेश देवता नतमस्तक होकर पालन करते हैं; उसी प्रकार राजाओं ने सिर से राज छत्र दूर उतार कर विनत भाव से अतिथि की राज्याज्ञा शिरोधार्य की ।। ७९ ।।

ऋत्विजः स तथाऽऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ ।
यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च ।। ८० ।।

ऋत्विज इति । स राजा महाक्रतावश्वमेधे ऋत्विजो याजकान्दक्षिणाभिस्तथाऽऽनर्चार्चयामास । अर्चतेर्भौवादिकाल्लिट् । यथाऽस्य राज्ञो धनदस्य

च नाम साधारणीभूतमेकीभूतम्। उभयोरपि धनदसंज्ञा यथा स्यात्तथेत्यर्थः ॥ ८० ॥

अन्वयः—सः महाक्रतौ ऋत्विजः दक्षिणाभिः तथा आनर्च यथा अस्य धनदस्य च नाम साधारणीभूतम् ॥ ८० ॥

उस राजा अतिथि ने अश्वमेध यज्ञ में याज्ञिकों को दक्षिणाओं के द्वारा ऐसा पूजित किया कि धनदान के कारण इसका और कुबेर का 'धनद' नाम समान हो गया ॥ ८० ॥

इन्द्राद् वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभूद्-
यादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम्।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुबेर-
स्तस्मिन्दण्डोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः ॥ ८१ ॥

इन्द्रादिति। इन्द्राद् वृष्टिरभूत्। यमो नियमिता निवारिता गदस्य रोगस्योद्रेक एव वृत्तिर्येन सोऽभूत्। यादोनाथो वरुणो नौचराणां नाविकानां कर्मणे सञ्चाराय शिवजलपथः सुचरजलमार्गोऽभूत्। तदनु पूर्वापेक्षी रघुरामादिमहिमाभिज्ञः कुबेरः कोषवृद्धिं विदधे। इत्थं लोकपालास्तस्मिन् राज्ञि विषये दण्डोपनतस्य शरणागतस्य चरितं वृत्तिं भेजिरे। 'दुर्बलो बलवत्सेवी विरुद्धाच्छङ्कितादिभिः। वर्तेत दण्डोपनतो भर्तर्येवमवस्थितः॥' इति कौटिल्यः ॥८१॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायामतिथिवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अन्वयः—इन्द्रात् वृष्टिः अभूत्, यमः नियमितगदोद्रेकवृत्तिः अभूत् यादोनाथः नौचराणां कर्मणे शिवजलपथः अभूत् तदनु पूर्वापेक्षी कुबेरः कोषवृद्धिं विदधे, लोकपालाः तस्मिन् दण्डोपनतचरितं भेजिरे ॥ ८१ ॥

अतिथि के राज्य में इन्द्र से वर्षा हुई। यमराज ने रोगों को बढ़ने से नियन्त्रित किया, नाविकों के कर्म में सहयोग देने के लिए वरुण देव ने सुचारु रूप से संचार करने योग्य जल मार्ग दिया। पूर्ववर्ती रघु राम आदि की महिमा जानने वाले कुबेर ने कोष की वृद्धि की। इस प्रकार चारों लोकपालों ने उस राजा अतिथि के विषय में दण्ड भय से शरणागत के समान आचरण किया ॥ ८१ ॥

'अतिथि वर्णन' नामक सप्तदश सर्ग समाप्त हुआ ॥

अष्टादशः सर्गः

स नैषधस्यार्थपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः ।
अनूनसारं निषधान्नगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव ॥ १ ॥

यत्पादपांसुसम्पर्कादहल्यासीदपांसुला ।
कारुण्यसिन्धवे तस्मै नमो वैदेहिबन्धवे ॥

स इति । निषिद्धशत्रुर्निवारितरिपुः सोऽतिथिर्नैषधस्य निषधदेशाधीश्वरस्यार्थपते राज्ञः सुतायां निषधान्निषधाख्यान्नगेन्द्रात्पर्वतादनूनसारमन्यूनबलं पुत्रमुत्पादयामास । यं पुत्रं निषधाख्यं निषधनामकमेवाहुः ॥ १ ॥

अन्वयः—निषिद्धशत्रुः सः नैषधस्य अर्थपतेः सुतायां निषधात् नगेन्द्रात् अनूनसारं पुत्रं उत्पादयामास यं निषधाख्यं एव आहुः ॥ १ ॥

शत्रुओं के नियामक उस अतिथि ने निषध देश के राजा की पुत्री में पर्वतराज निषध के समान शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम 'निषध' ही कहा जाता है ॥ १ ॥

तेनोरुवीर्येण पिता प्रजायै कल्पिष्यमाणेन ननन्द यूना ।
सुवृष्टियोगादिव जीवलोकः सस्येन सम्पत्तिफलोन्मुखेन ॥ २ ॥

तेनेति । उरुवीर्येणातिपराक्रमेणात एव प्रजायै लोकरक्षणार्थं कल्पिष्यमाणेन तेन यूना निषधेन पिताऽतिथिः सुवृष्टियोगात्सम्पत्तिफलोन्मुखेन पाकोन्मुखेन सस्येन जीवलोक इव । ननन्द जहर्ष ॥ २ ॥

अन्वयः—उरुवीर्येण प्रजायै कल्पिष्यमाणेन तेन यूना पिता सुवृष्टियोगात् सम्पत्तिफलोन्मुखेन सस्येन जीवलोकः इव ननन्द ॥ २ ॥

जिस प्रकार सुन्दर वृष्टि के संयोग से परिपक्व होने वाले धान से जीवलोक आनन्दित हो जाता है, उसी प्रकार उस महापराक्रमी प्रजा का कल्याण करने वाले युवा पुत्र से पिता अतिथि अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

शब्दादि निर्विश्य सुखं चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराजशब्दः ।
कौमुद्वतेयः कुमुदावदातैर्द्यामर्जितां कर्मभिरारुरोह ॥ ३ ॥

शब्दादीति । कुमुद्वत्या अपत्यं पुमान्कौमुद्वतेयोऽतिथिः शब्दादि शब्दस्पर्शादि सुखं सुखसाधनं विषयवर्गं निर्विश्योपभुज्य चिराय तस्मिन्निषधाख्ये पुत्रे प्रतिष्ठापितराजशब्दो दत्तराज्यः सन् । कुमुद्वावदातैर्निर्मलैः कर्मभिरश्वमेधादिभिरर्जितां सम्पादितां द्यां स्वर्गमारुरोह ॥ ३ ॥

अन्वयः—कौमुद्वतेयः शब्दादि सुखं निर्विश्य चिराय तस्मिन् प्रतिष्ठापितराजशब्दः कुमुदावदातैः कर्मभिः अर्जितां द्यां आरुरोह ॥ ३ ॥

कुमुद्वतीनन्दन (अतिथि) ने शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध सुखके साधनों का बहुत दिनों तक उपभोग कर उस निषध नामक पुत्र पर राज्य-भार सौंपकर कुमुद के समान निर्मल अश्वमेध आदि कर्मों के द्वारा अर्जित स्वर्ग में आरोहण किया ॥ ३ ॥

पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः ।
एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥ ४ ॥

पौत्र इति । कुशेशयाक्षः शतपत्रलोचनः । 'शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः । सागरधीरचेताः समुद्रगम्भीरचित्त एकवीरोऽसहायशूरः पुरस्यार्गला कपाटविष्कम्भः । 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः । तद्वद्दीर्घभुजः कुशस्य पौत्रो निषधोऽपि ससागरामेकातपत्रां भुवं बुभोज पालयामास । 'भुजोऽनवने' इत्युक्तः परस्मैपदम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—कुशेशयाक्षः सागरधीरचेताः एकवीरः पुरार्गला दीर्घभुजः कुशस्य पौत्रः अपि ससागरां एकातपत्रां भुवं बुभोज ॥ ४ ॥

कमल के समान नेत्र वाले, सागर के समान गम्भीर चित्तवाले एकाकी वीर नगर की अर्गला के समान विशाल भुजाधारी कुश के पौत्र निषध ने भी सागर पर्यन्त पृथ्वी का एकच्छत्र राज्य भोग किया ॥ ४ ॥

तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशश्रियं प्राप नलाभिधानः ।
यो नड्वलानीव गजः परेषां बलान्यमृद्नान्नलिनाभवक्त्रः ॥ ५ ॥

तस्येति । अनलौजाः वह्नितेजाः नलाभिधानो नलाख्यस्तस्य निषधस्य तनयस्तस्य निषधस्यान्तेऽवसाने वंशश्रियं राज्यलक्ष्मीं प्राप । नलिनाभवक्त्रो यो नलः । गजो नड्वलानि नडप्रायस्थलानीव । 'नडशादाड्ड्वलच्' इति ड्वलच्प्रत्ययः । परेषां बलान्यमृद्नान्ममर्द ॥ ५ ॥

अन्वयः—अनलौजाः नलाभिधानः तस्य तनयः तदन्ते नलिनाभवक्त्रः गजः नड्वलानि इव परेषां बलानि अमृद्नात् ॥ ५ ॥

निषध के समाप्त हो जाने पर उसके अग्नि के समान तेजस्वी 'नल' नामक पुत्र ने वंश की राज्यलक्ष्मी पायी। कमल के समान मुख वाले उस नल ने शत्रुओं के सैन्यदल को उसी प्रकार समूल नष्ट कर दिया जैसे गजराज नरकट के गट्ठे को तोड़ डालता है ॥ ५ ॥

नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम् ।
ख्यातं नभःशब्दमयेन नाम्ना कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम् ॥ ६ ॥

नभ इति। नभश्चरैर्गन्धर्वादिभिर्गीतयशाः स नलो नभस्तलश्यामतनुं नभः-शब्दमयेन नाम्ना ख्यातम्, नभःशब्दसंज्ञकमित्यर्थः। नभोमासमिव श्रावण-मासमिव। प्रजानां कान्तं प्रियं तनूजं पुत्रं लेभे ॥ ६ ॥

अन्वयः—नभश्चरैः गीतयशाः सः नभस्तलश्यामतनुं नभः शब्दमयेन-नाम्ना ख्यातं नभोमासमिव प्रजानां कान्तं तनूजं लेभे ॥ ६ ॥

आकाशचारी गन्धर्वों आदि द्वारा यशोगान किए गए उस नल ने आकाश के समान श्याम शरीर वाले "नभ" नामधारी पुत्र को पाया जो प्रजाओं के लिए श्रावण मास के समान कमनीय था ॥ ६ ॥

तस्मै विसृज्योत्तरकोसलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभुत्वम् ।
मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध ॥ ७ ॥

तस्मै इति। धर्मोत्तरो धर्मप्रधानः स नलः प्रभवे समर्थाय तस्मै नभसे तदुत्तरकोसलानां प्रभुत्वमाधिपत्यं विसृज्य दत्त्वा जरसा जरयोपदिष्टम्, वार्द्धके चिकीर्षितमित्यर्थः। मृगैरजर्यं तैः सह सङ्गतम्। 'अजर्यं सङ्गतम्' इति निपातः। पुनर्देहबन्धाय पुनर्देहसम्बन्धनिवृत्तये बबन्ध, मोक्षार्थं वनं गत इत्यर्थः। अदेहबन्धायेत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इष्यते ॥ ७ ॥

अन्वयः—धर्मोत्तरः प्रभवे तस्मै तत् उत्तरकोशलानां प्रभुत्वं विसृज्य जरसा उपदिष्टं मृगैः अजर्यं पुनः अदेहबन्धाय बबन्ध ॥ ७ ॥

धर्म प्रधान राजा नल शक्तिशाली प्रभु नभ को उत्तर कोसल देश का आधिपत्य देकर वृद्धावस्था में अभिलषित पुनः शरीर का बन्धन न हो इस-लिए मोक्षार्थ मृगों के साथ बन चले गए ॥ ७ ॥

तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः ।
शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्रीः ॥ ८ ॥

तेनेति । तेन नभसा । द्विपानां पुण्डरीको दिग्गजविशेष इव । राज्ञामजय्यो जेतुमशक्यः । 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' इति निपातनात्साधुः । पुण्डरीकः पुण्डरीकाख्यः पुत्रोऽजनि जनितः । पितरि शान्ते स्वर्गते सति । आहृतपुण्डरीका गृहीतश्वेतपद्मा श्रीर्यं पुण्डरीकं पुण्डरीकाक्षं विष्णुमिव श्रिता ॥ ८ ॥

अन्वयः—तेन द्विपानां पुण्डरीक इव राज्ञां अजय्यः पुण्डरीकः अजनि पितरि शान्ते आहृतपुण्डरीका श्रीः यं पुण्डरीकाक्षं इव श्रिता ॥ ८ ॥

उस राजा "नभ" ने दिग्गजों में पुण्डरीक के समान राजाओंसे अजेय "पुण्डरीक" नामक पुत्र को जन्म दिया । पिता के शांत हो जाने पर श्वेत-कमल ग्रहण करने वाली लक्ष्मी ने पुण्डरीकाक्ष-विष्णु के समान जिस पुण्डरीक का आश्रय ग्रहण किया ॥ ८ ॥

स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम् ।
क्ष्मां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्ततरश्चचार ॥ ९ ॥

स इति । अमोघं धनुर्यस्य सोऽमोघधन्वा । 'धनुषश्च' इत्यनङादेशः समासान्तः । स पुण्डरीकः प्रजानां क्षेमविधाने दक्षं क्षमयोपपन्नं क्षान्तियुक्तं क्षेमं धनुर्यस्य तं क्षेमधन्वानं नाम पुत्रम् । 'वा संज्ञायाम्' इत्यनङादेशः । क्ष्मां लम्भयित्वा प्रापय्य । लभेर्गत्यर्थत्वाद् द्विकर्मकत्वम् । क्षान्ततरोऽत्यन्तसहिष्णुः सन् वने तपश्चचार ॥ ९ ॥

अन्वयः—अमोघधन्वा सः प्रजाक्षेमविधानदक्षं क्षमया उत्पन्नं क्षेमधन्वानं पुत्रं क्ष्मां लम्भयित्वा क्षान्ततरः वने तपः चचार ॥ ९ ॥

सफल धनुषधारी वह पुण्डरीक प्रजा के कल्याण करने में सक्षम शान्तियुक्त (सहनशील) 'क्षेमधन्वा' नामक पुत्र को पृथ्वी का राज्य देकर अत्यन्त सहिष्णुतापूर्वक वन में तपश्चरण करने लगे ॥ ९ ॥

अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत् ।
व्यश्रूयतानीकपदावसानं देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य ॥ १० ॥

अनीकिनीनामिति । तस्य क्षेमधन्वनोऽपि समरेऽनीकिनीनां चमूनामग्र-

यायी देवप्रतिम इन्द्रादिकल्पः सुतोऽभूत् । अनीकपदावसानमनीकशब्दान्तं देवादिदेवशब्दपूर्वं यस्य नाम देवानीक इति नामधेयं त्रिदिवे स्वर्गेऽपि व्यश्रूयत विश्रुतम् ।। १० ।।

अन्वयः—तस्य अपि समरे अनीकिनां अग्रयायी देवप्रतिमः सुतः अभू(अनीकपदावसानं देवादि यस्य नाम त्रिदिवे अपि व्यश्रूयत ।। १० ।।

उस क्षेमधन्वा का भी 'देवानीक' पुत्र हुआ जो युद्ध में सेनाओं के आगे चलता था और देवता के समान था। स्वर्ग में भी जिसका नाम 'देवानीक' सुना जाता था ।। १० ।।

पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन ।
पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान्बभूव ।। ११ ।।

पितेति । स पिता क्षेमधन्वा समाराधनतत्परेण शुश्रूषापरेण तेन पुत्रेण यथैव पुत्री बभूव तथैव स पुत्रो देवानीक आत्मजवत्सलेन तेन पित्रा पितृमान्बभूव, लोके पितृत्वपुत्रत्वयोः फलमनयोरेवासीदित्यर्थः ।। ११ ।।

अन्वयः—सः पिता समाराधनतत्परेण तेन पुत्रेण यथैव पुत्री बभूव तथैव सः पुत्रः आत्मजवत्सलेन तेन पित्रा पितृमान् बभूव ।। ११ ।।

वह पिता क्षेमधन्वा सेवापरायण उस पुत्रके द्वारा जिस प्रकार पुत्रवान् हुए थे; उसी प्रकार वह पुत्र देवानीक पुत्रवत्सल उस पिता के द्वारा पितावान् हुए। संसार में पिता होने और पुत्र होने का फल इन्हीं दोनों को मिला ।। ११ ।।

पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य ।
धुरं निधायैकनिधिर्गुणानां जगाम यज्वा यजमानलोकम् ।। १२ ।।

पूर्व इति । गुणानामेकनिधिर्यज्वा विधिवदिष्टवांस्तयोः पितृपुत्रयोर्मध्ये पूर्वः पिता क्षेमधन्वाऽऽत्मसमे स्वतुल्य आत्मोद्भवे पुत्रे देवानीके चिरोढां चिरधृतां वर्णचतुष्टयस्य धुरं रक्षाभारं निधाय यजमानलोकं यष्टृलोकं जगाम ।।१२।।

अन्वयः—गुणानां एकनिधिः यज्वा तयोः पूर्वः आत्मसमे आत्मोद्भवे चिरोढां वर्णचतुष्टयस्य धुरं निधाय यजमानलोकं जगाम ।। १२ ।।

गुणों के एकमात्र निधान विधिवत् यज्ञकर्ता उन दोनों पिता-पुत्रों के मध्य में पहले पिता क्षेमधन्वा अपने पुत्र 'देवानीक' के ऊपर बहुत दिनों से धारण किए चारों वर्णों की रक्षा के भारको सौंप कर यजमान के लोक को चला गया ॥ १२ ॥

वशी सुतस्तस्य वशंवदत्वात्स्वेषामिवासीद् द्विषतामपीष्टः ।
सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान् ग्रहीतुम् ॥ १३ ॥

वशीति । तस्य देवानीकस्य वशी समर्थः सुतोऽहीनगुर्नामेति वक्ष्यमाण-नामकः । वशं वशकरं मधुरं वदतीति वशंवदः । 'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्प्रत्ययः । तस्य भावस्तत्त्वम् । तस्मादिष्टवादित्वात्स्वेषामिव द्विषतामपीष्टः प्रिय आसीत् । अर्थादेवानीकनिर्धारणं लभ्यते । तथा हि, प्रयुक्तमुच्चारितं माधुर्यं सकृदेकवारं विविग्नान्भीतानपि हरिणान्ग्रहीतुं वशीकर्तुमीष्टे शक्नोति ॥

अन्वयः— तस्य वशीसुतः वशंवदत्वात् स्वेषां इव द्विषतां अपि इष्टः आसीत् हि प्रयुक्तं माधुर्यं सकृद् विविग्नान् हरिणान् अपि ग्रहीतुं ईष्टे ॥१३॥

उस देवानीक का वशी पुत्र प्रियवादी होने के कारण अपने लोगों के ही समान शत्रुओंका भी प्रिय था । क्योंकि एकबार तो भयातुर मृगों को भी उच्चारित मधुर शब्द ग्रहण करने में समर्थ हो ही जाता है ॥ १३ ॥

अहीनगुर्नाम स गां समग्रामहीनबाहुद्रविणः शशास ।
यो हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वाद् युवाऽप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीनः ॥ १४ ॥

अहीनगुरिति । अहीनबाहुद्रविणः समग्रभुजपराक्रमः । 'द्रविणं काञ्चनं वित्तं द्रविणं च पराक्रमः' इति विश्वः । हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वान्नीचसंसर्गवि-मुखत्वाद्धेतोर्युवाऽप्यनर्थैरनर्थकरैर्व्यसनैः पानद्यूतादिभिर्विहीनो रहितो योऽही-नगुर्नाम स पूर्वोक्तो देवानीकसुतः समग्रां सर्वां गां भुवं शशास ॥ १४ ॥

अन्वयः— अहीनबाहुद्रविणः हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वात् युवा अपि अनर्थैः व्यसनैः विहीनः यः अहीनगुः नाम सः समग्रां गां शशास ॥ १४ ॥

समस्त भुज विक्रमशाली (जो बाहु और सम्पत्ति से हीन नहीं था अर्थात् सम्पत्तिशाली था) उस 'अहीनगु' नामक राजा ने समस्त पृथ्वी पर शासन किया । वह नीचों के सम्पर्क से दूर रहने के कारण युवक होते हुए भी सुरा-पान-द्यूतक्रीडा आदि दुर्व्यसनों से मुक्त था ॥ १४ ॥

गुरोः स चानन्तरमन्तरज्ञः पुंसां पुमानाद्य इवावतीर्णः ।
उपक्रमैरस्खलितैश्चतुर्भिश्चतुर्दिगीशश्चतुरो बभूव ॥ १५ ॥

गुरोरिति । पुंसामन्तरज्ञो विशेषज्ञश्चतुरो निपुणः सोऽहीनगुश्च गुरोः पितुरनन्तरम् । अवतीर्णो भुवं प्राप्त आद्यः पुमान्विष्णुरिव । अस्खलितैरप्रतिहतैश्चतुर्भिरुपक्रमैः सामाद्युपायैः । 'सामादिभिरुपक्रमैः' इति मनुः । चतुर्दिगीशश्चतसृणां दिशामीशो बभूव ॥ १५ ॥

अन्वयः—पुंसां अन्तरज्ञः चतुरः सः गुरोः अनन्तरं अवतीर्णः आद्यः पुमान् इव अस्खलितैः चतुर्भिः उपक्रमैः चतुर्दिगीशः बभूव ॥ १५ ॥

पुरुषों का विशेषज्ञ तथा निपुण वह अहीनगु पिता के अनन्तर अवतीर्ण आदि पुरुष विष्णु के समान अप्रतिहत साम-दाम-दण्ड और भेद इन चारों उपायों से चारों दिशाओं का स्वामी बन गया ॥ १५ ॥

तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रां जेतर्यरीणां तनयं तदीयम् ।
उच्चैः शिरस्त्वाज्जितपारियात्रं लक्ष्मीः सिषेवे किल पारियात्रम् ॥ १६ ॥

तस्मिन्निति । अरीणां जेतरि तस्मिन्नहीनगौ परलोकयात्रां प्रयाते प्राप्ते सति । उच्चैःशिरस्त्वादुन्नतशिरस्कत्वाज्जितः पारियात्रः कुलशैलविशेषो येन तं पारियात्रं पारियात्राख्यं तदीयं तनयं लक्ष्मीः सिषेवे किल ॥ १६ ॥

अन्वयः—अरीणां जेतरि तस्मिन् परलोकयात्रां प्रयाते उच्चैः शिरस्त्वात् जितपारियात्रं तदीयं तनयं लक्ष्मीः सिषेवे किल ॥ १६ ॥

शत्रुओं को जीतने वाले उस 'अहीनगु' के परलोक वासी हो जाने पर ऊँचे मस्तक वाला होनेके कारण पारियात्र नामक कुल पर्वत को भी जीतने वाले उस पारियात्र नामक अहीनगु के पुत्र की राज्यलक्ष्मी सेवा करने लगी ॥ १६ ॥

तस्याभवत्सूनुरुदारशीलः शिलः शिलापट्टविशालवक्षाः ।
जितारिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्यः शालीनतामव्रजदीड्यमानः ॥ १७ ॥

तस्येति । तस्य पारियात्रस्योदारशीलो महावृत्तः । 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः । शिलापट्टविशालवक्षाः शिलः शिलाख्यः सूनुरभवत् । यः सूनुः शिलीमुखैर्बाणैः । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः । जितारिपक्षोऽपीड्यमानः स्तूय-

मानः सन् । शालीनतामधृष्टतां लज्जामव्रजदगच्छत् । 'स्यादधृष्टे तु शालीनः' इत्यमरः । 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' इति निपातः ॥ १७ ॥

अन्वयः—तस्य उदारशीलः शिलापट्टविशालवक्षाः शीलः सूनुः अभवत् यः शिलीमुखैः जितारिपक्षः अपि ईड्यमानः शालीनतां अव्रजत् ॥ १७ ॥

उस पारियात्र का परमोदार स्वभाव वाला विशाल शिला पट्ट के समान विस्तृत वक्षस्थल वाला, "शिल" नामक पुत्र हुआ । उसने बाणों से शत्रुपक्ष को जीत लिया था, फिर भी प्रशंसा करने पर शालीनता (लज्जा) ग्रहण कर लेता था ॥ १७ ॥

तमात्मसम्पन्नमनिन्दितात्मा कृत्वा युवानं युवराजमेव ।
सुखानि सोऽभुङ्क्त सुखोपरोधि वृत्तं हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम् ॥ १८ ॥

तमिति । अनिन्दितात्माऽगर्हितस्वभावः स पारियात्र आत्मसम्पन्नं बुद्धिसम्पन्नम् । 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च' इत्यमरः । युवानं तं शिलं युवराजं कृत्वैव सुखान्यभुङ्क्त, न त्वकृत्वेत्येवकारार्थः । किमर्थं युवराजशब्दकरणमित्याशङ्क्यान्यथा सुखोपभोगो दुर्लभ इत्याह-सुखोपरोधीति । हि यस्माद्राज्ञां वृत्तं प्रजापालनादिरूपं सुखोपरोधि बहुलत्वात्सुखप्रतिबन्धकम् । अत एवोपरुद्धवृत्तम्, कारानिबद्धसदृशमित्यर्थः । उपरुद्धस्य स्वयमूढभारस्य च सुखं नास्तीति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयः—अनिन्दितात्मा सः आत्मसम्पन्नं युवानं युवराजं कृत्वा एव सुखानि अभुङ्क्त, हि राज्ञां वृत्तं सुखोपरोधि उपरुद्धवृत्तम् ॥ १८ ॥

प्रशंसित आत्मा वाले उस पारियात्रने बुद्धिमान् युवक पुत्र 'शिल' को युवराज बनाकर ही सुख का उपभोग किया । क्योंकि राजाओं का प्रजापालन आदि कार्य प्रायः सुख का बाधक होने से कारागार में बँधे हुए के समान होता है ॥ १८ ॥

तं रागबन्धिष्ववितृप्तमेव भोगेषु सौभाग्यविशेषभोग्यम् ।
विलासिनीनामरतिक्षमाऽपि जरा वृथा मत्सरिणी जहार ॥ १९ ॥

तमिति । रागं बध्नन्तीति रागबन्धिनः रागप्रवर्तका इत्यर्थः । तेषु भोगेषु विषयेष्ववितृप्तमेव सन्तम् । किञ्च । विलासिनीनां भोक्त्रीणां सौभाग्यविशेषेण

सौन्दर्यातिशयेन हेतुना भोग्यं भोगार्हम्। 'चजोः कु घिण्यतोः' इति कुत्वम्। तं पारियात्रं रतिक्षमा न भवतीत्यरतिक्षमाऽपि अत एव वृथा मत्सरिणी, रतिक्षमासु विलासिनीष्वित्यर्थः। जरा जहार वशीचकार ॥ १९ ॥

अन्वयः—रागबन्धिषु भोगेषु अवितृप्तं एव विलासिनां सौभाग्यविशेषभोग्यं तं अरतिक्षमा अपि वृथा मत्सरिणी जरा जहार ॥ १९ ॥

राग प्रवर्तक विषयों के भोगों में अतृप्त होते हुए ही विलासिनियों के सौभाग्य विशेष—अतिशय सौन्दर्य के कारण भोग योग्य उस पारियात्र को रतिक्रिया में असमर्थ होती हुयी भी व्यर्थ ही रति में सक्षम विलासिनियों से ईर्ष्या करने वाली वृद्धावस्था ने अपने वश में कर लिया ॥ १९ ॥

उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्यायथार्थोन्नतनाभिरन्ध्रः।
सुतोऽभवत्पङ्कजनाभकल्पः कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य ॥ २० ॥

उन्नाभेति। तस्य शिलाख्यस्योन्नाभ इत्युद्गतनामधेयः प्रसिद्धनामा यथार्थं यथा तथोन्नतं नाभिरन्ध्रं यस्य सः, गम्भीरनाभिरित्यर्थः। तदुक्तम्—'स्वरः सत्त्वं च नाभिश्च गाम्भीर्यं त्रिषु शस्यते।' पङ्कजनाभकल्पो विष्णुसदृशः कृत्स्नस्य नृपमण्डलस्य नाभिः प्रधानम्। 'नाभिः प्रधाने कस्तूरीमदेऽपि क्वचिदीरितः' इति विश्वः। सुतोऽभवत्। 'अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः' इत्यत्राजिति योगविभागादुन्नाभपद्मनाभादयः सिद्धाः ॥ २० ॥

अन्वयः—तस्य उन्नाभ इति उद्गतनामधेयः यथार्थोन्नतनाभिरन्ध्रः पङ्कजनाभकल्पः कृत्स्नस्य नृपमण्डलस्य नाभिः सुतः अभवत् ॥ २० ॥

उस शिल नामक राजा का 'उन्नाभ' नाम से विख्यात पुत्र हुआ। यद्यपि नाम से वह उन्नाभ (ऊँची नाभिवाला) था, पर इस शब्द के वास्तविक अर्थ से विपरीत उसकी नाभि का छिद्र गम्भीर था। वह कमलनाभविष्णुके समान था और समस्त राज-समूह का प्रधान था ॥ २० ॥

ततः परं वज्रधरप्रभावस्तदात्मजः संयति वज्रघोषः।
बभूव वज्राकरभूषणायाः पतिः पृथिव्याः किल वज्रणाभः ॥ २१ ॥

तत इति। ततः वज्रधरप्रभाव इन्द्रतेजाः संयति सङ्ग्रामे वज्रघोषोऽशनितुल्यध्वनिर्वज्रणाभो नाम तस्योन्नाभस्यात्मजो वज्राणां हीरकाणामाकराः

खनय एव भूषणानि यस्यास्तस्याः पृथिव्याः पतिर्बभूव किल खलु । 'वज्रं त्वस्त्री कुलिशशस्त्रयोः । मणिवेधे रत्नभेदेऽप्यशनावासनान्तरे ।।' इति केशवः ।। २१ ।।

अन्वयः— ततः परं वज्रधरप्रभावः संयति वज्रघोषः वज्रणाभः तदात्मजः वज्राकरभूषणायाः पृथिव्याः पतिः बभूव किल ।। २१ ।।

तत्पश्चात् वज्रधारी इन्द्र के समान प्रभावशाली संग्राम में वज्र के समान भयंकर उद्घोष करने वाला 'वज्रणाभ' नामक उस उन्नाभ का पुत्र हुआ जो हीरों की खान रूपी आभूषण वाली पृथ्वी का स्वामी हुआ ।। २१ ।।

तस्मिन् गते द्यां सुकृतोपलब्धां तत्सम्भवं शङ्खणमर्णवान्ता ।
उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः ।। २२ ।।

तस्मिन्निति । तस्मिन्वज्रणाभे सुकृतोपलब्धां सुधर्मार्जितां द्यां स्वर्गं गते सति । उत्खातशत्रुमुद्धृतशत्रुं शङ्खणं नाम तत्सम्भवं तदात्मजमर्णवान्ता वसुधा खनिभ्य आकरेभ्य उदितैरुत्पन्नै रत्नोपहारैरुत्कृष्टवस्तुसमर्पणैरुपतस्थे सिषेवे । 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते' इति भरतविश्वौ ।। २२ ।।

अन्वयः—तस्मिन् सुकृतोपलब्धां द्यां गते उत्खातशत्रुं शङ्खणं तत्सम्भवं अर्णवान्ता वसुधाखनिभ्यः उदितैः रत्नोपहारैः उपतस्थे ।। २२ ।।

उस वज्रणाभ के पुण्य से अर्जित स्वर्ग सिधारने पर उसके शत्रुओं को निर्मूल करने वाले शङ्खण नामक पुत्र की सागर पर्यन्त पृथ्वी खानों से उत्पन्न रत्नों के उपहारों से सेवा करने लगी ।। २२ ।।

तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपेदे पदमश्विरूपः ।
वेलातटेषूषितसैनिकाश्वं पुराविदो यं व्युषिताश्वमाहुः ।। २३ ।।

तस्येति । तस्य शङ्खणस्यावसानेऽन्ते हरिदश्वधामा सूर्यतेजाः । अश्विनोरिव रूपमस्येत्यश्विरूपोऽतिसुन्दरः । तत्पुत्र इति शेषः । पित्र्यमिति सम्बन्धिपदसामर्थ्यात् । पित्र्यं पदं प्रपेदे । वेलातटेषूषिता निविष्टाः सैनिका अश्वाश्च यस्य तम् । अन्वर्थनामानमित्यर्थः । यं पुत्रं पुराविदो वृद्धा व्युषिताश्वमाहुः ।। २३ ।।

अन्वयः—तस्य अवसाने हरिदश्वधामा अश्विरूपः पित्र्यं पदं प्रपेदे । वेलातटेषु ऊषितसैनिकाश्वं पुराविदः व्युषिताश्वं आहुः ।। २३ ।।

उस शङ्खण के मरणोपरान्त सूर्य के समान तेजस्वी एवं अश्विनी कुमारों के समान सुन्दर रूपवान् पुत्र 'व्युषिताश्व' ने पिता का राज्यपद प्राप्त किया। इतिहास वेत्ता उसे सागर तटों पर सैनिकों एवं अश्वों को रखने के कारण ''व्युषिताश्व'' कहा करते हैं ॥ २३ ॥

आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥ २४ ॥

आराध्येति । तेन क्षितेरीश्वरेण व्युषिताश्वेन विश्वेश्वरं काशीपतिमाराध्योपास्य विश्वसहो नाम विश्वसखः समग्रां सर्वां विश्वम्भरां भुवं पातुं रक्षितुं सहत इति सहः क्षमः । पचाद्यच् । आत्मजमूर्तिः पुत्ररूप्यात्मा स्वयमेव । 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेः । विजज्ञे सुपुवे । विपूर्वो जनिर्गर्भविमोचने वर्तते । यथाऽऽह भगवान्पाणिनिः—'समां समां विजायते' इति ॥ २४ ॥

अन्वयः—तेन क्षितेः ईश्वरेण विश्वेश्वरं आराध्य विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरां पातुं सहः आत्मजमूर्तिः आत्मा विजज्ञे ॥ २४ ॥

उस भूपाल व्युषिताश्व ने विश्वनाथ की आराधना कर विश्वसह नामक पुत्र को जन्म दिया। विश्वसह विश्व का मित्र था और समस्त पृथ्वी का पालन करने में सक्षम था ॥ २४ ॥

अंशे हिरण्याक्षरिपोः स जाते हिरण्यनाभे तनये नयज्ञः ।
द्विषामसह्यः सुतरां तरूणां हिरण्यरेता इव सानिलोऽभूत् ॥ २५ ॥

अंश इति । नयज्ञो नीतिज्ञः स विश्वसहः । हिरण्याक्षरिपोर्विष्णोरंशे हिरण्यनाभे नाम्नि तनये जाते सति । तरूणां सानिलो हिरण्यरेता हुतभुगिव द्विषां सुतरामसह्योऽभूत् ॥ २५ ॥

अन्वयः—नयज्ञः सः हिरण्याक्षरिपोः अंशे हिरण्यनाभे तनये जाते सति तरूणां सानिलः हिरण्यरेताः द्विषां सुतरां असह्यः अभूत् ॥ २५ ॥

नीति-निपुण वह विश्वसह हिरण्याक्ष के शत्रु विष्णु के अंश 'हिरण्यनाभ' नाम के पुत्र के उत्पन्न होने पर शत्रुओं के लिए उसी प्रकार असह्य हो गया जैसे वृक्षों के लिए वायु सहित अग्नि ॥ २५ ॥

पिता पितॄणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः ।
राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती वल्कलवान्बभूव ॥ २६ ॥

पितेति । पितॄणामनृणः, निवृत्तपितृऋण इत्यर्थः । 'प्रजया पितृभ्यः' इति श्रुतेः । अत एव कृती, कृतकृत्य इत्यर्थः । पिता विश्वसहोऽन्ते वयसि वार्द्धकेऽनन्तान्यविनाशानि सुखानि लिप्सुः, मुमुक्षुरित्यर्थः । आजानुविलम्बिबाहुं दीर्घबाहुम् । भाग्यसम्पन्नमिति भावः । तं हिरण्यनाभं राजानं कृत्वा बल्कलवान्बभूव, वनं गत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

अन्वयः— पितॄणां अनृणः अतएव कृती पिता अन्ते वयसि अनन्तानि सुखानि लिप्सुः आजानुबिलम्बिबाहुं तं राजानं कृत्वा वल्कलवान् बभूव ॥२६॥

पितरों के ऋण से उत्तीर्ण होने के कारण कृतकृत्य पिता 'विश्वसह' अन्तिम अवस्था में अनन्त सुखों की कामना से जानु पर्यन्त दीर्घबाहु वाले भाग्यशाली पुत्र उस 'हिरण्यनाभ' को राजा बनाकर बल्कलधारी हो गया अर्थात् तपोवन चला गया ॥ २६ ॥

कौसल्य इत्युत्तरकोसलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य ।
तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभून्नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः ॥ २७ ॥

कौसल्य इति । उत्तरकोसलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य सूर्यवंशाभरणस्य सोमसुतः सोमं सुतवतः यज्वन इत्यर्थः । 'सोमे सुञः' इति क्विप् । तस्य हिरण्यनाभस्य । द्वितीयः सोमश्चन्द्र इव । नेत्रोत्सवो नयनानन्दकरः कौसल्य इति प्रसिद्ध औरसो धर्मपत्नीजः सुतोऽभूत् ॥ २७ ॥

अन्वयः—उत्तरकोसलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य सोमसुतः तस्य द्वितीयः सोम इव नेत्रोत्सवः कौसल्यः इति औरसः सुतः अभूत् ॥ २७ ॥

उत्तर कोसलेश्वर सूर्यकुल भूषण सोमपान करने वाले यज्ञकर्ता उस हिरण्यनाभ का दूसरे चन्द्रमा के समान नेत्रों को आनन्द देने वाला 'कौसल्य' नामक पुत्र अपनी धर्मपत्नी में उत्पन्न हुआ ॥ २७ ॥

यशोभिराब्रह्मसभं प्रकाशः स ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम ।
ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारे ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनुप्रसूतम् ॥ २८ ॥

यशोभिरिति । आ ब्रह्मसभाया आब्रह्मसभं ब्रह्मसदनपर्यन्तम् । अभिविधावव्ययीभावः । यशोभिः प्रकाशः, प्रसिद्धः स कौसल्योऽतिशयेन ब्रह्मवन्तं ब्रह्मिष्ठम्, ब्रह्मविदमित्यर्थः । ब्रह्मशब्दान्मतुबन्तादिष्ठन्प्रत्यये 'विन्मतोर्लुक्'

अन्वयः—तस्य पत्नी पौष्यां तिथौ प्रभानिर्जितपुष्परागं पुष्यं अमूत द्वितीये पुष्ये इव तस्मिन् उदिते सति जनाः समग्रां पुष्टिं अपुष्यन् ॥ ३२ ॥

उस 'पुत्र' नामक राजा की धर्मपत्नी ने पुष्यनक्षत्रयुक्त पौर्णमासी तिथि में प्रभा से पुष्परागमणि को भी जीतने वाले पुष्य नामक पुत्र को जन्म दिया जिसके दूसरे पुष्य नक्षत्र के समान उदित होने पर लोगों ने सम्पूर्ण वृद्धि की ॥ ३२ ॥

मही महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ॥ ३३ ॥

महीमिति । महेच्छो महाशयः । 'महेच्छस्तु महाशयः' इत्यमरः । जन्मभीरुः संसारभीरुः स पुत्रः सूनौ महीं परिकीर्य विसृज्य मनीषिणे ब्रह्मविद्याविदुषे जैमिनये मुनयेऽर्पितात्मा, शिष्यभूतः सन्नित्यर्थः । सयोगाद्योगिनस्तस्माज्जैमिनेर्योगं योगविद्यामधिगम्याजन्मने जन्मनिवृत्तये मोक्षायाकल्पत समपद्यत । 'क्लृपि सम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या' मुक्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—महेच्छः जन्मभीरुः सः सूनौ महीं परिकीर्य मनीषिणे जैमिनये अर्पितात्मा सन् सयोगात् तस्मात् योगं अधिगम्य अजन्मने अकल्पयत ॥३३॥

महाशय, पुनर्जन्म से डरने वाले उस 'पुत्र' ने अपने पुत्र पुष्य के ऊपर पृथ्वी सौंपकर ब्रह्मविद्या के विद्वान् जैमिनि मुनि को आत्मसमर्पण कर उनसे योग विद्या का संयोग प्राप्त कर जन्म से मुक्ति पाने के लिए उद्यम किया ॥ ३३ ॥

ततः परं तत्प्रभवः प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसन्धिरुर्वीम् ।
यस्मिन्नभूज्ज्यायसि सत्यसन्धे सन्धिर्ध्रुवः सन्नमतामरीणाम् ॥ ३४ ॥

तत इति । ततः परं स पुष्यः प्रभवः कारणं यस्य स तत्प्रभवः, तदात्मज इत्यर्थः । ध्रुवेणौत्तानपादिनोपमेयः । 'ध्रुव औत्तानपादिः स्यात्' । इत्यमरः । ध्रुवसन्धिरुर्वीं प्रपेदे । ज्यायसि श्रेष्ठे सत्यसन्धे सत्यप्रतिज्ञे यस्मिन्ध्रुवसन्धौ सन्नमताम्, अनुद्धतानामित्यर्थः । अरीणां सन्धिर्ध्रुवः स्थिरोऽभूत् । ततः सार्थकनामेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—ततः परं तत्प्रभवः ध्रुवोपमेयः ध्रुवसन्धिः उर्वीं प्रपेदे ज्यायसि सत्यसन्धे सन्नमतां अरीणां सन्धिः ध्रुवः अभूत् ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् पुष्य के पुत्र 'ध्रुव-सन्धि' ने पृथ्वी राज्य पाया। वह महान् सत्यप्रतिज्ञ तथा ध्रुव के समान अचल था। उस ध्रुवसन्धि के राजा होने पर विनम्र शत्रुओं की स्थायी सन्धि हुआ करती थी ॥ ३४ ॥

सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सः।
मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः ॥ ३५ ॥

सुत इति। मृगायताक्षो नृसिंहः पुरुषश्रेष्ठः स ध्रुवसन्धिर्दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने प्रतिपच्चन्द्रनिभे सुदर्शनाख्ये सुते शिशौ सत्येव मृगयाविहारी सन् सिंहाद्विपदं मरणमवापत्। व्यसनासक्तिरनर्थावहेति भावः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—मृगायताक्षः नृसिंहः सः दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सुदर्शनाख्ये सुते शिशौ सति एव मृगयाविहारी सन् सिंहात् विपदं अवापत् ॥ ३५ ॥

मृग के समान बड़े-बड़े नेत्रों वाले पुरुषोत्तम उस ध्रुवसन्धि ने द्वितीया के चन्द्रमा के समान प्रियदर्शन 'सुदर्शन' नामक पुत्र की शिशुदशा रहने पर ही मृगयाविहार करते हुए सिंह से विपत्ति मोल ली ॥ ३५ ॥

स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमत्यादमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम्।
अनाथदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार ॥ ३६ ॥

स्वर्गामिन इति। स्वर्गामिनः स्वर्यातस्य तस्य ध्रुवसन्धेरमात्यवर्गः। अनाथा नाथहीना अतएव दीनाः शोच्याः प्रकृतिः प्रजा अवेक्ष्य। कुलतन्तुं कुलावलम्बनमेकमद्वितीयं तं सुदर्शनमैकमत्याद्विधिवत्साकेतनाथमयोध्याधीश्वरं चकार ॥ ३६ ॥

अन्वयः—स्वर्गामिनः तस्य अमात्यवर्गः अनाथदीनाः प्रकृतीः अवेक्ष्य कुलतन्तुं एकं तं ऐकमत्यात् विधिवत् साकेतनाथं चकार ॥ ३६ ॥

इस ध्रुवसन्धि के दिवंगत हो जाने पर उसके मन्त्रियों ने प्रजाओं को दीन अनाथ देखकर कुल के अवलम्बन स्वरूप अद्वितीय उस सुदर्शन को विधिवत एकमत होकर साकेत का राजा बनाया ॥ ३६ ॥

नवेन्दुना तन्नभसोपमेयं शावैकसिंहेन च काननेन।
रघोः कुलं कुड्मलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत् ॥ ३७ ॥

नवेन्दुनेति। अप्रौढनरेन्द्रं तद्रघोः कुलं नवेन्दुना बालचन्द्रेण नभसा व्योम्ना।

शावः शिशुरेकः सिंहो यस्मिन् । 'पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः । तेन काननेन च । कुड्मलं कुड्मलावस्थं पुष्करं पङ्कजं यस्मिंस्तेन तोयेन चोपमेयमुपमातुमर्हमासीत् । नवेन्द्वाद्युपमानेन तस्य वर्धिष्णुताशौर्यश्रीमत्त्वानि सूचितानि ॥

अन्वयः—अप्रौढनरेन्द्रं तत् रघोः कुलं नवेन्दुना नभसा शावैकसिंहेन काननेन च कुड्मलपुष्करेण तोयेन च उपमेयम् आसीत् ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार नवीन चन्द्रमा से आकाश की, एक छोटे सिंह के बच्चे से जंगल की, एक कमल-कली से तालाब के जल की शोभा होती है उसी प्रकार उस अप्रौढ़ शिशु राजा सुदर्शन से रघु के कुल की शोभा हुयी ॥३७॥

लोकेन भावी पितुरेव तुल्यः सम्भावितो मौलिपरिग्रहात्सः ।
दृष्टो हि वृण्वन्कलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः ॥ ३८ ॥

लोकेनेति । स बालो मौलिपरिग्रहात्किरीटस्वीकाराद्धेतोः पितुस्तुल्यः पितृस्वरूप एव भावी भविष्यति लोकेन जनेन सम्भावितस्तर्कितः । तथा हि कलभप्रमाणः कलभमात्रोऽपि मेघः पुरोवातमवाप्याशा दिशो वृण्वन्गच्छन्दृष्टो हि ॥ ३८ ॥

अन्वय—सः मौलिपरिग्रहात् पितुः एव तुल्यः भावी लोकेन सम्भावितः हि कलभप्रमाणः अपि मेघः पुरोवातं अवाप्य आशाः वृण्वन् दृष्टः ॥३८ ॥

वह बालक सुदर्शन मस्तक पर मुकुट धारण करने पर 'यह पिता के ही समान होगा' इस प्रकार लोगों ने अनुमान लगाया । क्योंकि हाथी के बच्चे के बराबर दीखने वाला बादल पूर्वा हवा के संयोग से दिशाओं को घेर लेता है ऐसा देखा गया है ॥ ३८ ॥

तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम् ।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥ ३९ ॥

तमिति । राजवीथ्यां राजमार्गेऽधिहस्ति हस्तिनि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । यान्तं गच्छन्तम्, हस्तिनमारुह्य गच्छन्तमित्यर्थः । आधोरणालम्बितं शिशुत्वात्सादिना गृहीतमग्र्यवेशमुदारनेपथ्यं षड्वर्षाणि भूतः षड्वर्षः । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिना समासः । 'तमधीष्टो भृतो भूतो भावी' इत्यधिकारे 'चित्तवति नित्यम्' इति तद्धितस्य लुक् । ईषदसमाप्तः षड्वर्षः षड्वर्षदेशीयः ।

'ईषदसमाप्तौ–' इत्यादिना देशीयर्प्रत्ययः। तं षड्वर्षदेशीयमपि बालमपि तं सुदर्शनं पौराः प्रभुत्वात्पितृगौरवेण प्रैक्षन्त। पितरि यादृग्गौरवं तादृशेनैव ददृशुरित्यर्थः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—राजवीथ्यां अधिहस्ति यान्तं आधोरणालम्बितं अग्र्यवेशं षड्-वर्षदेशीयम् अपि तं पौराः प्रभुत्वात् पितृगौरवेण प्रैक्षन्त ॥ ३९ ॥

राजपथ पर गजारूढ़ होकर जाते हुए सुन्दर वेशधारी उस बालक सुदर्शन को हस्तिपक (पिलवान) सम्हाले हुए था। वह छः वर्ष का बालक था तथापि राजा होने के कारण पुरवासियों ने पिता के ही समान सम्मान के साथ उसका दर्शन किया ॥ ३९ ॥

कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय।
तेजोमहिम्ना पुनरावृतात्मा तद्व्याप चामीकरपिञ्जरेण ॥ ४० ॥

काममिति। स सुदर्शनः पैतृकस्य सिंहासनस्य कामं सम्यक् प्रतिपूरणाय नाकल्पत, बालत्वाद्व्याप्तुं न पर्याप्त इत्यर्थः। चामीकरपिञ्जरेण कनकगौरेण तेजोमहिम्ना पुनस्तेजःसम्पदा त्वावृतात्मा विस्तारितदेहः संस्तत्सिंहासनं व्याप व्याप्तवान् ॥ ४० ॥

अन्वयः—सः पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय कामं न अकल्पत चामीकरपिञ्जरेण तेजो महिम्ना पुनरावृतात्मा सन् तत् व्याप ॥ ४० ॥

भले ही राजा सुदर्शन अभी बालक था इसलिए पिता के सिंहासन को पूरा नहीं कर सका। किन्तु सुवर्ण के समान तेज की महिमा से विस्तृत शरीर वाला होते हुए उसने पूरे सिंहासन को व्याप्त कर लिया ॥ ४० ॥

तस्मादधः किञ्चिदिवावतीर्णावसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम्।
सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धैर्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ ॥ ४१ ॥

तस्मादिति। तस्मात्सिंहासनादपादानादधोऽधोदेशं प्रति किञ्चिदिवाव-तीर्णावीषल्लम्बौ तपनीयपीठं काञ्चनपीठमसंस्पृशन्तावल्पकत्वादव्याप्तौ साल-क्तकौ लाक्षारसावसिक्तावस्य सुदर्शनस्य पादौ भूपतयः प्रसिद्धैरुन्नतैर्मौलिभिर्मु-कुटैर्ववन्दिरे प्रणेमुः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—तस्मात् अधः किञ्चिदिवावतीर्णौ तपनीयपीठं असंस्पृशन्तौ सालक्तकौ अस्य पादौ भूपतयः प्रसिद्धैः मौलिभिः ववन्दिरे ॥ ४१ ॥

उस सिंहासन से कुछ नीचे लटकते हुए छोटे-छोटे होने के कारण सुवर्ण के पाद-पीठ का स्पर्श न करते हुए अलक्तक से रंगे हुए इस सुदर्शन के चरणों को भूपालों ने उन्नत मस्तकों से प्रणाम किया ॥ ४१ ॥

मणौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या।
शब्दो महाराज इति प्रतीतस्तथैव तस्मिन्युयुजेऽर्भकेऽपि ॥ ४२ ॥

मणाविति। अल्पप्रमाणेऽपि मणाविन्द्रनीले प्रभावात्तेजिष्ठत्वाद्धेतोर्महानील: इति शब्दो यथा मिथ्या निरर्थको न, तथैवार्भके शिशावपि तस्मिन्सुदर्शने प्रतीतः प्रसिद्धो महाराज इति शब्दो न मिथ्या युयुजे ॥ ४२ ॥

अन्वयः—अल्पप्रमाणे अपि मणौ प्रभावात् महानील इति शब्दः यथा मिथ्या न, तथैव अर्भके अपि तस्मिन् प्रतीतः महाराज इति शब्दः न मिथ्या युयुजे ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार इन्द्रनीलमणि के लिए लघु आकार वाला होने पर भी प्रभाव के कारण "महानील" यह शब्द निरर्थक नहीं होता उसी प्रकार उस सुदर्शन के बालक होने पर भी प्रसिद्ध "महाराज" यह शब्द मिथ्या नहीं हुआ ॥ ४२ ॥

पर्यन्तसञ्चारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात्।
तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम् ॥ ४३ ॥

पर्यन्तेति। पर्यन्तयोः पार्श्वयोः सञ्चारिते चामरे यस्य तस्य बालस्य सम्बन्धिनः कपोलयोर्लोलावुभौ काकपक्षौ यस्य तस्मादाननादुच्चरितो विवादो वचनमर्णवानां वेलास्वपि न चस्खाल, शिशोरपि तस्याज्ञाभङ्गो नासीदित्यर्थः। चपलसंसर्गेऽपि महान्तो न चलन्तीति ध्वनिः। उभयकाकपक्षादित्यत्र 'वृत्तिविषये उभयपुत्र इतिवदुभशब्दस्थाने उभयशब्दप्रयोगः' इत्युक्तं प्राक् ॥

अन्वयः—पर्यन्तसञ्चारितचामरस्य तस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात् उच्चरितः विवादः अर्णवानां वेलासु अपि न चस्खाल ॥ ४३ ॥

उसके मुँह के दोनों ओर चामर चलाये जा रहे थे तथा दोनों कपोलों पर काले-काले घुँघराले केश लटक रहे थे। उसके मुख से निकला हुआ

आदेश समुद्र के तटों पर भी स्खलित नहीं हुआ ।। (बालक होने पर भी सुदर्शन का आदेश समुद्रपर्यन्त सर्वमान्य था) ।। ४३ ।।

निर्वृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः ।
तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार ।। ४४ ।।

निर्वृत्तेति । निर्वृत्ता जाम्बूनदपट्टशोभा यस्य तस्मिन्कृतकनकपट्टशोभे ललाटे न्यस्तं तिलकं दधानः स्मेरमुखः स्मितमुखः स राजाऽरिसुन्दरीणां मुखानि तेनैव तिलकेनैव शून्यानि चकार । अखिलमपि शत्रुवर्गमवधीदिति भावः ।। ४४ ।।

अन्वयः--निर्वृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे ललाटे न्यस्तं तिलकं दधानः स्मेर-मुखः सः अरिसुन्दरीणां मुखानि तेन एव शून्यानि चकार ।। ४४ ।।

सुवर्णरचित पट्ट से सुशोभित ललाट में लगाए गये तिलक को धारण करते हुए प्रसन्न मुख उस राजा सुदर्शन ने शत्रुओं की सुन्दरियों का मुख तिलक रहित कर दिया । (सुदर्शन ने स्वयं राजतिलक लगाकर शत्रु राजाओं को मार डाला जिससे उनकी विधवा रानियोंका मुख तिलक-हीन हो गया ।) ।। ४४ ।।

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूषणेन ।
नितान्तगुर्वीमपि सोऽनुभावाद् धुरं धरित्र्या बिभराम्बभूव ।। ४५ ।।

शिरीषेति । शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः, कोमलाङ्ग इत्यर्थः । अत एव स राजा भूषणेनापि खेदं श्रमं यायाद् गच्छेत् । एवम्भूतः स नितान्तगुर्वीमपि धरित्र्या धुरं भुवो भारमनुभावात्सामर्थ्याद्बिभराम्बभूव बभार । 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' इति विकल्पादाम्प्रत्ययः ।। ४५ ।।

अन्वयः—शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः अतएव सः भूषणेन अपि खेदं यायात् सः नितान्तगुर्वीमपि धरित्र्याः धुरं अनुभावात् बिभराम्बभूव ।।४५।।

वह शिरीष के पुष्प से भी अधिक सुकुमार था । अतएव आभूषण धारण करने से भी श्रमित हो जाता था । इतना कोमल होने पर भी उसने प्रभाव के कारण अत्यन्त भारी पृथ्वी के शासनभारको सँभाल लिया ।।४५।।

न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत् ।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥ ४६ ॥

न्यस्ताक्षरामिति । अक्षरभूमिकायामक्षरलेखनस्थले न्यस्ताक्षरां रचिताक्षरपङ्क्तिरेखान्यासां लिपिं पञ्चाशद्वर्णात्मिकां मातृकां कार्त्स्न्येन यावन्न गृह्णाति, स सुदर्शनस्तावच्छ्रुतवृद्धयोगाद्विद्यावृद्धसंसर्गात्सर्वाणि दण्डनीतेर्दण्डशास्त्रस्य फलान्युपायुङ्क्तान्वभूत । प्रागेव बद्धफलस्य तस्य पश्चादभ्यस्यमानं शास्त्रं संवादार्थमिवाभवदित्यर्थः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अक्षरभूमिकायां न्यस्ताक्षरां लिपिं कार्त्स्न्येन यावत् न गृह्णाति सः तावत् श्रुतवृद्धयोगात् सर्वाणि दण्डनीतेः फलानि उपायुङ्क्त ॥४६॥

अक्षर लिखने की पटिया पर जब तक सम्पूर्ण अक्षरों की पंक्ति कोई ग्रहण नहीं कर पाता तब तक सुदर्शन ने विद्वान् वृद्धों से सुनकर पूर्व जन्मके संस्कारसे दण्डनीति के समस्त फलों का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया। (जिस ६ वर्ष की आयु में लोगों को पटिया पर सीधी पंक्ति में अक्षर लिखने भी नहीं आता उसी अवस्था में सुदर्शन ने राजनीति के कुशल वृद्धों से सुनकर दंडनीति के फलों का उपयोग किया) ॥ ४६ ॥

उरस्यपर्याप्तनिवेशभागा प्रौढीभविष्यन्तमुदीक्षमाणा ।
सञ्जातलज्जेव तमातपत्रच्छायाच्छलेनोपजुगूह लक्ष्मीः ॥ ४७ ॥

उरसीति । उरस्यपर्याप्तो निवेशभागो निवासावकाशो यस्याः सा अत एव प्रौढीभविष्यन्तं वर्धिष्यमाणमुदीक्षमाणा प्रौढवपुष्मान्भविष्यतीति प्रतीक्षमाणा लक्ष्मीः सञ्जातलज्जेव साक्षादालिङ्गितुं लज्जितेव तं सुदर्शनमातपत्रच्छायाच्छलेनोपजुगूहालिलिङ्ग । छत्रच्छाया लक्ष्मीरूपेति प्रसिद्धिः । प्रौढाङ्गनायाः प्रौढपुरुषालाभे लज्जा भवतीति ध्वनिः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—उरसि अपर्याप्तनिवेशभागा अतएव प्रौढीं भविष्यन्तं उदीक्षमाणा लक्ष्मीः सञ्जातलज्जेव तम् आतपत्रच्छायाछलेन उपजुगूह ॥ ४७ ॥

बालक राजा सुदर्शन के लघु वक्षस्थल में अपर्याप्त निवास स्थान वाली लक्ष्मी प्रौढ़ होने वाले उस राजा की प्रतीक्षा करती हुयी मानों लजायी हुयी की तरह उसका छत्रछाया के बहाने आलिंगन कर लिया करती थी ॥

अनश्नुवानेन युगोपमानमबद्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन ।
अस्पृष्टखड्गत्सरुणाऽपि चासीद्रक्षावती तस्य भुजेन भूमिः ॥ ४८ ॥

अनश्नुवानेनेति । युगोपमानं युगसादृश्यमनश्नुवानेनाप्राप्नुवता । अबद्धं मौर्वीकिणो ज्याघातग्रन्थिरेव लाञ्छनं यस्य तेन । अस्पृष्टः खड्गत्सरुः खड्गमुष्टिर्येनतेन । 'त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्यात्' इत्यमरः । एवंविधेनापि च तस्य सुदर्शनस्य भुजेन भूमी रक्षावत्यासीत् । शिशोरपि तस्य तेजस्तादृगित्यर्थः ॥

अन्वयः—युगोपमानं अनश्नुवानेन अबद्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन अस्पृष्टखड्गत्सरुणा अपि तस्य भुजेन भूमिः रक्षावती आसीत् ॥ ४८ ॥

यद्यपि अभी बालक सुदर्शन की भुजाएँ जुए की समानता नहीं कर सकी थीं; क्योंकि छोटी-छोटी थीं, उनमें धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ाने से चट्ठे नहीं पड़े थे (अर्थात् उसकी भुजाएँ धनुष की डोरी भी नहीं चढ़ा सकी थीं) उसने तलवार की मुठिया का स्पर्श भी नहीं किया था तथापि उसकी भुजाओं से भूमि सुरक्षित बनी रही ॥ ४८ ॥

न केवलं गच्छति तस्य काले ययुः शरीरावयवा विवृद्धिम् ।
वंश्या गुणाः खल्वपि लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः ॥ ४९ ॥

नेति । काले गच्छति सति तस्य केवलं शरीरावयवा एव विवृद्धिं प्रसारं न ययुः । किन्तु वंशे भवा वंश्या लोककान्ता जनप्रियाः प्रारम्भे आदौ सूक्ष्मास्तस्य गुणाः शौर्यौदार्यादयोऽपि प्रथिमानं पृथुत्वमापुः खलु ॥ ४९ ॥

अन्वयः—काले गच्छति तस्य केवलं शरीरावयाः एव विवृद्धिं न ययुः किन्तु वंश्याः लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः तस्य गुणाः अपि प्रथिमानमापुः खलु ॥ ४९ ॥

समय के बीतते जाने पर केवल उसके शरीर के अवयवों ने ही विकास नहीं प्राप्त किया बल्कि कुल में होने वाले जनप्रिय प्रारम्भ में सूक्ष्मरूप में रहने वाले शौर्य औदार्य आदि गुणों ने भी परिपूर्णता प्राप्त की । (जैसे-जैसे समय बीतता गया वैसे-वैसे सुदर्शन के अंग-प्रत्यंग पुष्ट होते और उसके साथ ही शूरता भी बढ़ती गयी) ॥ ४९ ॥

स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम् ।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ॥ ५० ॥

स इति । स सुदर्शनः पूर्वस्मिञ्जन्मान्तरे जन्मविशेषे दृष्टपाराः स्मरन्निव गुरूणामक्लेशकरः सन् । त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गस्त्रिवर्गः तस्याधिगमस्य प्राप्तेर्मूलं तिस्रो विद्यास्त्रयीवार्त्तादण्डनीतीः पित्र्याः पितृसम्बन्धिनीः प्रकृतीः प्रजाश्च जग्राह स्वायत्तीचकार । अत्र कौटिल्यः—'धर्माधर्मौ त्रय्यामर्थानर्थौ वार्त्तायां नयानयौ दण्डनीत्याम्' इति । अत्र दण्डनीतिर्नयद्वारा काममूलमिति द्रष्टव्यम् । आन्वीक्षिक्या अनुपादानं त्रय्यन्तर्भावपक्षमाश्रित्य । यथाऽऽह कामन्दकः—'त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिस्तिस्रो विद्या मनोर्मताः । त्रय्या एव विभागोऽयं येन सान्वीक्षिकी मता ॥' इति ॥ ५० ॥

अन्वयः—सः पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन् इव गुरूणां अक्लेशकरः सन् त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं तिस्रः विद्याः पित्र्याः प्रकृतीः च जग्राह ॥ ५० ॥

उस सुदर्शन ने मानों पूर्वजन्म में ही अन्त तक देखी गयी होने के कारण उन्हें स्मरण करते हुए गुरुजनों के लिए सुगम करते हुए धर्म, अर्थ और दण्डनीतियों को तथा पैतृक प्रजाओं को अपने वश में कर लिया ॥ ५० ॥

व्यूह्य स्थितः किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥ ५१ ॥

व्यूह्येति । अस्त्रेषु धनुर्विद्यायां विनीयमानः शिक्ष्यमाणोऽत एवोत्तरार्धं पूर्वकायं किञ्चिदिव व्यूह्य विस्तीर्य स्थितः । उन्नद्धचूड ऊर्ध्वमुत्कृष्य बद्धकेशः । अञ्चितमाकुञ्चितं सव्यं जानु यस्य स आकर्णमाकृष्टं सबाणं धनुर्धन्वा येन स तथोक्तः सन् व्यरोचताशोभत ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अस्त्रेषु विनीयमानः अतएव उत्तरार्धं किञ्चिदिव व्यूह्य स्थितः उन्नद्धचूडः अञ्चितसव्यजानुः आकर्णम् आकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचत ॥ ५१ ॥

धनुष विद्या सीखने के समय वह नाभि से ऊपर वाले शरीर के उत्तरार्ध-भागको विस्तृत कर, ऊपर खींचकर केशबन्धन कर बाईं जाँघ मोड़कर, बाणयुक्त धनुष को कानों तक खींचकर विशेष शोभा पाता था ॥ ५१ ॥

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं
मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम् ।
अकृतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं
विलसितपदमाद्यं यौवनं स प्रपेदे ॥ ५२ ॥

अथेति । अथ स सुदर्शनो वनितानां नेत्रैर्निवेशनीयं भोग्यम्, नेत्रपेयमित्यर्थः । 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः । मधु क्षौद्रम् । रागबन्धोऽनुरागसन्तान एव प्रवालः पल्लवो यस्य तत् । मनसिज एव तरुस्तस्य पुष्पं पुष्पभूतम् । अकृतकविध्यकृत्रिमसम्पादनम् । सर्वाङ्गं व्याप्नोतीति सर्वाङ्गीणम् । 'तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति' इत्यनेन खप्रत्ययः । आकल्पजातमाभरणसमूहभूतम् । आद्यं विलसितपदं विलासस्थानं यौवनं प्रपेदे । विशिष्टमधुपुष्पाकल्पजातविलासपदत्वेन यौवनस्य चतुर्धाकरणात्सविशेषणमालारूपकमेतत् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—अथ सः वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं मधु रागबन्धप्रवालं मनसिजतरुपुष्पं अकृतकविधि सर्वाङ्गीणम् आकल्पजातम् आद्यं विलसितपदं यौवनं प्रपेदे ॥ ५२ ॥

इसके बाद उस सुदर्शन ने वह यौवन प्राप्त किया जो प्रमदास्त्रियों के नेत्रों द्वारा पीने योग्य मधु-मदिरा हो, काम रूपी वृक्ष का पुष्प हो, अनुरागपुञ्ज का पल्लव हो, बिना कृत्रिम विधान किए स्वाभाविक रूप से समस्त शरीर में व्याप्त आभूषण हो और विलास का प्रथम स्थान हो ॥ ५२ ॥

प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसन्दर्शिताभ्यः
समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः ।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः
प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ॥ ५३ ॥

प्रतिकृतिरचनाभ्य इति । दूतिभिः कन्यापरीक्षणार्थं प्रेषिताभिः सन्दर्शिताभ्यो दूतिसन्दर्शिताभ्यः प्रतिकृतीनां तूलिकादिलिखितकन्याप्रतिमानां रचनाभ्यो विन्यासेभ्यः । 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी । समधिकतररूपाः । चित्रनिर्माणादपि, रमणीयनिर्माणा इत्यर्थः । शुद्धसन्तानकामैरमात्यैराहृता आनीता राजकन्याः यूनस्तस्य सुदर्शनस्य सम्बन्धिन्यौ प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ

श्रीश्च भूश्च ते अधिविविदुरधिविन्ने चक्रुः। आत्मना सपत्नीभावं चक्रुरित्यर्थः। 'कृतसापत्निकाऽध्यूढाऽधिविन्ना' इत्यमरः ॥ ५३ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां वंशानुक्रमो नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

अन्वयः—दूतिसंदर्शिताभ्यः प्रतिकृतिरचनाभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः अमात्यैः आहृताः राजकन्याः यूनः तस्य प्रथम परिगृहीते श्रीभुवौ अधिविविदुः ॥ ५३ ॥

(कन्या परीक्षण के लिए भेजी गयी) दूतियों के द्वारा सन्दर्शित चित्र-लिखित कन्याओं से भी अधिक रमणीय, शुद्ध सन्तान की कामना करने वाले मन्त्रियोंके द्वारा लायी गयीं राजकुमारियों ने उस तरुण सुदर्शन की प्रथम परिगृहीत राज्यलक्ष्मी और पृथ्वी को सौत बनाया। (राजा सुदर्शन पहले से राजश्री के पति और पृथ्वी के पति बने थे। अब वे सुन्दरी राजकुमारियों के भी पति बन गए) ॥ ५३ ॥

इस प्रकार महाकवि कालिदासविरचित रघुवंश महाकाव्य में
''वंशानुक्रम'' नामक अठारहवें सर्ग की ''श्रीहरिप्रिया''
हिन्दी व्याख्या समाप्त हुयी ॥

॥ इति अष्टादशः सर्गः समाप्त ॥



एकोनविंशः सर्गः

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम्।
शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिमः पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥ १ ॥

मनसो मम संसारबन्धमुच्छेत्तुमिच्छतः।
रामचन्द्रपदाम्भोजयुगलं निगडायताम् ॥

अग्निवर्णमिति। श्रुतवतां श्रुतसम्पन्नानामपश्चिमः प्रथमो वशी जितेन्द्रियो राघवः सुदर्शनः पश्चिमे वयसि वार्द्धके स्वे पदे स्थानेऽग्नितेजसं तनयमग्निवर्णमभिषिच्य नैमिषं नैमिषारण्यं शिश्रिये श्रितवान् ॥ १ ॥

अन्वयः—श्रुतवतां अपश्चिमः वशी राघवः पश्चिमे वयसि स्वे पदे अग्नितेजसं तनयं अग्निवर्णं अभिषिच्य नैमिषं शिश्रिये ॥ १ ॥

विद्वानों में प्रथम जितेन्द्रिय रघुवंशी सुदर्शन ने वृद्धावस्था आ जाने पर अपने स्थान पर अग्नि के समान तेजस्वी पुत्र 'अग्निवर्ण' को अभिषिक्त कर नैमिषारण्य का आश्रय लिया ॥ १ ॥

तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः ।
सौधवासमुटजेन विस्मृतः सञ्चिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ॥ २ ॥

तत्रेति । तत्र नैमिषे तीर्थसलिलेन दीर्धिका विहारवापीरन्तरितभूमिभिः कुशैस्तल्पं शय्यामुटजेन पर्णशालया सौधवासं जलमन्दिरं विस्मृतो विस्मृतवान्सः । कर्तरि क्तः । फले स्वर्गादिफले निःस्पृहस्तपः सञ्चिकाय सञ्चितवान् ॥

अन्वयः—तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकाः अन्तरितभूमिभिः कुशैः तल्पं उटजेन सौधवासं विस्मृतः फलनिस्पृहः तपः सञ्चिकाय ॥ २ ॥

वहाँ नैमिषारण्य में तीर्थ जल से जल विहार करने योग्य बावलियों को भूल गया, कुश बिछायी गयी भूमि से शय्या को भुला दिया, पर्णशाला से महलों का निवास विस्मृत कर दिया । इस प्रकार स्वर्गादि फलों की कामना न करते हुए तप सञ्चित किया ॥ २ ॥

लब्धपालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी ।
भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥ ३ ॥

लब्धपालनविधाविति । तत्सुतः सुदर्शनपुत्रोऽग्निवर्णो लब्धस्य राज्यस्य पालनकर्मणि खेदं नाप, अक्लेशेनापालयदित्यर्थः । कुतः । हि यस्माद् भुजनिर्जित द्विषा गुरुणा पित्रा मेदिन्यस्याग्निवर्णस्य भोक्तुमेव कल्पिता । प्रसाधयितुं न । प्रसाधनं कण्टकशोधनम् । अलङ्कृतिर्ध्वन्यते । तथा च यथाऽलङ्कृता युवतिः केवलमुपभुज्यते तद्वदिति भावः ॥ ३ ॥

अन्वयः—तत्सुतः लब्धपालनविधौ खेदं न आप हि भुजनिर्जितद्विषां गुरूणां मेदिनी अस्य भोक्तुमेव कल्पिता प्रसाधयितुं न ॥ ३ ॥

उस राजा सुदर्शन के पुत्र अग्निवर्ण ने प्राप्त राज्य के पालन करने की विधि में किसी प्रकार का खेद अनुभव नहीं किया । बिना क्लेश के ही प्राप्त

राज्य का पालन किया क्योंकि अपने भुजबल से शत्रुओं को जीतने वाले उसके पिता सुदर्शन के द्वारा पृथ्वी केवल उसके भोगने के लिए दी गयी थी। शत्रुरूपी कण्टक-शोधन के लिए नहीं ॥ ३ ॥

सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः ।
सन्निवेश्य सचिवेष्वतःपरं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत् ॥ ४ ॥

स इति । अभिकः कामुकः । 'अनुकाभिकाभीकः कमिता' इति निपातः । कम्रः कामयिताऽभीकः कमनः कामनोऽभिकः' इत्यमरः । सोऽग्निवर्णः कुलोचितमधिकारं प्रजापालनं काश्चन समाः कतिचिद्वत्सरान्स्वयमवर्तयदकरोत् । अतः परं सचिवेषु सन्निवेश्य निधाय स्त्रीविधेयं स्त्र्यधीनं नवं यौवनं यस्य सोऽभवत्, स्त्र्यासक्तोऽभूदित्यर्थः ॥ ४ ॥

अन्वयः—अभिकः सः कुलोचितं अधिकारं काश्चन समाः स्वयं अवर्तयत् अतः परं सचिवेषु सन्निवेश्य स्त्रीविधेयनवयौवनः अभवत् ॥ ४ ॥

उस कामुक अग्निवर्ण ने कुछ वर्षों तक स्वयं कुलोचित प्रजापालनादि अधिकार का प्रवर्तन किया इसके बाद मन्त्रियों पर राज्यभार सौंपकर अपने यौवन को स्त्रियों के अधीन कर दिया ॥ ४ ॥

कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु ।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥ ५ ॥

कामिनीसहचरस्येति । कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य मृदङ्गनादिषु वेश्मस्वधिकर्द्धिः पूर्वस्मादधिकसम्भार उत्तर उत्सवः । ऋद्धिमन्तं साधनसम्पन्नं पूर्वमुत्सवमपोहदपानुदत् । उत्तरमुत्तरमधिका तस्योत्सवपरम्परा वृत्तेत्यर्थः ॥ ५ ॥

अन्वयः—कामिनीसहचरस्य कामिनः तस्य मृदङ्गनादिषु वेश्मसु अधिकर्द्धिः उत्तरः उत्सवः ऋद्धिमन्तं पूर्वं उत्सवं अपोहत् ॥ ५ ॥

कामिनियों के साथ रहने वाले उस कामी अग्निवर्ण के मृदंगध्वनि से युक्त महलों में पूर्वापेक्षा अधिक उत्तरोत्तर समृद्धिशाली उत्सवों ने पहले के उत्सवों को फीका कर दिया ॥ ५ ॥

इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः सोढुमेकमपि स क्षणान्तरम् ।
अन्तरेव विहरन्दिवानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः ॥ ६ ॥

इन्द्रियार्थपरिशून्यमिति । इन्द्रियार्थपरिशून्यं शब्दादिविषयरहितमेकमपि क्षणान्तरं क्षणभेदं सोढुमक्षमोऽशक्तः सोऽग्निवर्णो दिवा च निशा च दिवानिशमन्तरेव विहरन्समुत्सुका दर्शनाकाङ्क्षिणीः प्रजा न व्यपैक्षत नापेक्षितवान् ॥

अन्वयः—इन्द्रियार्थपरिशून्यं एकम् अपि क्षणान्तरं सोढुम् अक्षमः दिवानिशम् अन्तः एव विहरन् समुत्सुकाः प्रजाः न व्यपेक्षत ॥ ६ ॥

वह एक क्षण भी इन्द्रियों के विषयों के उपभोग से रहित नहीं रह सकता था। रात-दिन अन्तःपुर में ही विहार करता था। दर्शन के लिए उत्कण्ठित प्रजाओं की अपेक्षा नहीं करता था ॥ ६ ॥

गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥ ७ ॥

गौरवादिति । जातु कदाचिन्मन्त्रिणां गौरवाद् गुरुत्वाद्धेतोः मन्त्रिवचनानुरोधादित्यर्थः । प्रकृतिभिः प्रजाभिः काङ्क्षितं यदपि दर्शनं ददौ तदपि गवाक्षविवरादवलम्बिना केवलेन चरणेन चरणमात्रेण कल्पितं सम्पादितम् । न तु मुखावलोकनप्रदानेनेत्यर्थः ॥ ७ ॥

अन्वयः—जातु मन्त्रिणां गौरवात् प्रकृतिकांक्षितं यदपि दर्शनं ददौ तद् गवाक्षविवरावलम्बिनं केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥ ७ ॥

यदि कभी-काल मन्त्रियों के गौरव से प्रजाओं द्वारा अभिलषित दर्शन दिया भी तो बस इतना ही कि खिड़की के मार्ग से लटकते हुए केवल चरण दिखा दिए। प्रजा ने कभी राजा का मुँह देखा ही नहीं ॥ ७ ॥

तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूषितम् ।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाऽधिरोहणम् ॥ ८ ॥

तमिति । कोमलेन मृदुलेनात्मनखानां रागेणारुण्येन रूषितं छुरितम् । अत-एव नवदिवाकरातपेन स्पृष्टं व्याप्तं यत्पङ्कजं तस्य तुलां साम्यमधिरोहति प्राप्नोतीति तुलाऽधिरोहणम् । तं चरणमनुजीविनः कृतप्रणतयः कृतनमस्काराः सन्तो भेजिरे सिषेविरे ॥ ८ ॥

अन्वयः—कोमलात्मनखरागरूषितं नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणं तं अनुजीविनः कृतप्रणतयः सन्तः भेजिरे ॥ ८ ॥

अपने मृदुल नख की कान्ति से युक्त होने के कारण अभिनव सूर्य की किरणों के स्पर्श से उत्फुल्ल कमल की तुलना करने वाले उसके चरणों को अनुजीवी लोग प्रणाम करते हुए सेवा करते थे ॥ ८ ॥

यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः ।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥ ९ ॥

यौवनेति । विगाढमन्मथः प्रौढमदनः सोऽग्निवर्णो यौवनेन हेतुनोन्नतानां विलासिनीस्तनानां दीर्घिकाणामम्बुभिर्गूढान्यन्तरितानि मोहनगृहाणि सुरतभवनानि यासु ताश्च दीर्घिका व्यगाहत व्यलोडयत् । स्त्रीभिः सह दीर्घिकासु विजहारेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अन्वयः—विगाढमन्मथः सः यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाः तदम्बुभिः गूढमोहनगृहाः दीर्घिकाः व्यगाहत ॥ ९ ॥

उस महाकामी अग्निवर्ण ने यौवन से उन्नत विलासिनियों के स्तनों के आघात से चंचल कमलों वाले बावलियों के जल से आच्छन्न सुरत भवनों वाले बावलियों में कामिनियों के साथ जल विहार किया ॥ ९ ॥

तत्र सेकहृतलोचनाञ्जनैर्धौतरागपरिपाटलाधरैः ।
अङ्गनास्तमधिकं व्यलोभयन्नर्पितप्रकृतकान्तिभिर्मुखैः ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र दीर्घिकास्वङ्गनाः सेकेन हृतं लोचनाञ्जनं नेत्रकज्जलं येषां तैः । रज्यतेऽनेनेति रागो रागद्रव्यं लाक्षादि । रागस्य परिपाटलोऽङ्गगुणः । 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इत्यमरः । धौतो रागपरिपाटलो येषां ते तथोक्ता अधरा येषां तैः, निवृत्तसाङ्क्रमिकरागैरित्यर्थः । अत एवार्पितप्रकृतकान्तिभिः, अभिव्यञ्जितस्वाभाविकरागैरित्यर्थः । एवंभूतैर्मुखैस्तमग्निवर्णमधिकं व्यलोभयन्प्रलोभितवत्यः ॥ १० ॥

अन्वयः—तत्र अङ्गनाः सेकहृतलोचनाञ्जनैः धौतरागपरिपाटलाधरैः अर्पितप्रकृतिकान्तिभिः मुखैः तं अधिकं व्यलोभयन् ॥ १० ॥

वहाँ बावलियों में विलासिनियों ने जल सिंचन से अञ्जन धुले नेत्रों तथा प्रक्षालित लाक्षा आदि रंगने के द्रव्यों से रहित स्वाभाविक लाल अधरों वाले निसर्ग सुन्दर मुखों से उसे अत्यधिक प्रलोभित कर लिया ॥ १० ॥

घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणी पानभूमिरचनाः प्रियासखः।
अभ्यपद्यत स वासितासखः पुष्पिताः कमलिनीरिव द्विपः ॥ ११ ॥

घ्राणकान्तेति। प्रियासखः सोऽग्निवर्णो घ्राणकान्तेन घ्राणतर्पणेन मधुगन्धेन कर्षिणीर्मनोहारिणीः। रच्यन्त इति रचनाः। पानभूमय एव रचनाः, रचिताः पानभूमय इत्यर्थः। वासितासखः करिणीसहचरः। 'वासिता स्त्रीकरिण्योश्च' इत्यमरः। द्विपः पुष्पिताः कमलिनीरिव अभ्यपद्यताभिगतः ॥११॥

अन्वयः—प्रियासखः सः घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः वासितासखः द्विपः पुष्पिताः कमलिनीः इव अभ्यपद्यत ॥ ११ ॥

जिस प्रकार उत्फुल्ल कमलिनियों के सुगन्ध से परिपूर्ण सरोवर में हथिनियों के साथ हाथी प्रविष्ट हो जाता है; उसी प्रकार वह अग्निवर्ण भी कामिनियों के साथ मदिरा के गन्ध से सुवासित मद्यपान करने के घर में पहुँच जाता था ॥ ११ ॥

सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गनाः।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः ॥ १२ ॥

सेति। अङ्गना रहो रहसि सातिरेकस्य सातिशयस्य मदस्य कारणं तेनाग्निवर्णेन दत्तं मुखासवं मद्यमभिलेषुः बकुलेन तुल्यदोहदस्तुल्याभिलाषः। 'अथ दोहदम्। इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृट्' इत्यमरः। बकुलद्रुमस्याङ्गनामदार्थित्वात्तुल्याभिलाषत्वम्। सोऽपि ताभिरङ्गनाभिरुपहृतं दत्तं मुखासवमपिवत् ॥१२॥

अन्वयः—अङ्गनाः रहः सातिरेकमदकारणं तेन दत्तं मुखासवं अभिलेषुः बकुलतुल्यदोहदः सः अपि ताभिः उपहृतम् अपिबत् ॥ १२ ॥

वहाँ सुन्दरियों ने एकान्त में अतिशय मद के कारण उस अग्निवर्ण द्वारा प्रदत्त मुख की जूठी मदिरा की अभिलाषा की, और उसने भी उन सुन्दरियों द्वारा प्रदत्त मुख-की मदिरा का बकुलवृक्ष के समान इच्छा करते हुए पान किया ॥ १२ ॥

अङ्कमङ्कपरिवर्त्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे ।
वल्लकी च हृदयङ्गमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना ॥ १३ ॥

अङ्कमिति । अङ्कपरिवर्तनोचिते उत्सङ्गविहारार्हे उभे तस्याग्निवर्णस्याङ्कमशून्यतां पूर्णतां निन्यतुः । के उभे । हृदयङ्गमस्वना मनोहरध्वनिर्वल्लकी वीणा च । वल्गु वाङ्मधुरभाषिणी वामलोचना कामिन्यपि च । हृदयं गच्छतीति हृदयङ्गमः । खच्प्रकरणे गमेः सुप्युपसंख्यानात्खच्प्रत्ययः । अङ्काधिरोपितयोर्वीणावामाक्ष्योर्वाद्यगीताभ्यामरंस्तेत्यर्थः ॥ १३ ॥

अन्वयः—अङ्कपरिवर्तनोचिते उभे तस्य अङ्कम् अशून्यतां निन्यतुः हृदयङ्गमस्वना वल्लकी च वल्गुवाक् वामलोचना अपि च ॥ १३ ॥

अङ्क में रखकर विहार करने योग्य दोनों वस्तुओं—मनोहर ध्वनि वाली वीणा और मृदुभाषिणी सुलोचना सुन्दरियों ने उसका अङ्क कभी खाली नहीं रहने दिया । अङ्क में आरोपित वीणा और प्रवीणा कामिनियों के मधुर वाद्य गीतों से वह रमण करता था ॥ १३ ॥

स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ १४ ॥

स इति । कृती कुशलः स्वयं प्रहतपुष्करो वादितवाद्यमुखो लोलानि माल्यानि वलयानि च यस्य स तथोक्तो मनो हरन् । नर्तकीनामिति शेषः । सोऽग्निवर्णोऽभिनयातिलङ्घिनीः, अभिनयेषु स्खलन्तीरित्यर्थः । नर्तकीर्विलासिनीः । 'शिल्पिनि ष्वुन्' इति ष्वुन्प्रत्ययः । 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् । 'नर्तकीलासिके समे' इत्यमरः । गुरुषु नाट्याचार्येषु पार्श्ववर्तिषु समीपस्थेषु सत्स्वेवालज्जयल्लज्जामगमयत् ॥ १४ ॥

अन्वयः—कृती स्वयं प्रहृतपुष्करः लोलमाल्यवलयः मनः हरन् सः अभिनयातिलङ्घिनीः नर्तकीः गुरुषु पार्श्ववर्तिषु अलज्जयत् ॥ १४ ॥

कुशल वादक अग्निवर्ण जब स्वयं तबला बजाने लगता था उसके गले की माला और हाथ का वलय हिल उठता था । इस प्रकार वह नर्तकियों का मन हर लेता था । और अपने निकटवर्ती गुरुओं के समक्ष अभिनय का उल्लंघन करनेवाली वे नर्तकियाँ लज्जित हो जाती थीं ॥ १४ ॥

चारु नृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात् ।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरौ ॥ १५ ॥

चार्विति । किञ्च । चारु सुन्दरं नृत्यविगमे लास्यावसाने परिश्रमान्नर्तन-प्रयासात्स्वेदेन भिन्नतिलकं विशीर्णतिलकं तन्मुखं नर्तकीमुखं प्रेम्णा दत्तवदनानिलः प्रवर्तितमुखमारुतः पिबन् । अमराणामलकायाश्चेश्वराविन्द्रकुबेरावत्यजीवदतिक्रम्याजीवत् । ततोऽप्युत्कृष्टजीवित आसीदित्यर्थः । इन्द्रादेरपि दुर्लभमीदृशं सौभाग्यमिति भावः ॥ १५ ॥

अन्वयः—किञ्च चारु नृत्यविगमे परिश्रमात् स्वेदभिन्नतिलकं तन्मुखं प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन् अमरालकेश्वरौ अत्यजीवत् ॥ १५ ॥

नृत्य की समाप्ति हो जाने पर परिश्रम के कारण प्रस्वेद कण से तिलक छूट जाने से नर्तकियों के सुन्दर मुख को प्रेमपूर्वक मुख की हवा से पसीना सुखाकर चूमते हुए इन्द्र और अलका के स्वामी कुबेर के जीवन को भी उसने मात कर दिया ॥ १५ ॥

तस्य सावरणदृष्टसन्धयः काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिनः ।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥ १६ ॥

तस्येति । उपसृत्यान्यत्र गत्वा नवेषु नूतनेषु काम्यवस्तुषु शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु सङ्गिनः आसक्तिमतः सतस्तस्य सावरणाः प्रच्छन्ना दृष्टाः प्रकाशाश्च सन्धयः साधनानि येषु ते समागमाः सङ्गमाः वल्लभाभिः प्रेयसीभिः सामिभुक्तविषया अर्धोपभुक्तेन्द्रियार्थाश्चक्रिरे । यथेष्टं भुक्तश्चेत्तर्ह्ययं निःस्पृहः सन्नस्मत्समीपं नायास्यतीति भावः । अत्र गोनर्दीयः—'सन्धिर्द्विविधः, सावरणः प्रकाशश्च । सावरणो भिक्षुक्यादिना । प्रकाशः स्वयमुपेत्य केनापि' इति । 'इतः स्वयमुपसृत्य विशेषार्थो तत्र स्थितोऽनुपजापं स्वयं सन्धेयः' इतिवात्स्यायनः । अन्यत्र गतं कथञ्चित्सन्धाय पुनरुपगमायार्धोपभोगेनानिवृत्ततृष्णं चक्रुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्वयः—उपसृत्य नवेषु सङ्गिनः तस्य सावरणदृष्टसन्धयः समागमाः वल्लभाभिः सामिभुक्तविषयाः चक्रिरे ॥ १६ ॥

अन्यत्र जाकर नवीन कमनीय विषयों में आसक्त होने वाले उस अग्निवर्ण के प्रच्छन्न और प्रकाशित साधनों वाले समागम कामनियों के साथ

आधे ही उपभुक्त विषय वाले किए गए। यदि यह यथेष्ट उपभोग कर लेगा तो निःस्पृह होता हुआ हमारे समीप पुनः नहीं आयेगा इसलिए आधे समागम में ही कामिनियाँ उठकर खड़ी हो जाती थीं ॥ १६ ॥

अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभङ्गकुटिलं च वीक्षितम् ।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥ १७ ॥

अङ्गुलीकिसलयेति । सोऽग्निवर्णः प्रणयिनीः प्रेयसीर्वञ्चयन्नन्यत्र गच्छन्नङ्गुल्यः किसलयानि तेषामग्राणि तैस्तर्जनं भर्त्सनं भ्रूविभङ्गेन भ्रूभेदेन कुटिलं वक्रं वीक्षितं वीक्षणं चासकृन्मेखलाभिर्बन्धनं चावाप । अपराधिनो दण्ड्या इति भावः ॥ १७ ॥

अन्वय—सः प्रणयिनीः वञ्चयन् अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभंगकुटिलं वीक्षितं च असकृत् मेखलाभिः बन्धनं च अवाप ॥ १७ ॥

वह अग्निवर्ण अन्यत्र जाते हुए कभी-कभी प्रेयसियों को प्रवञ्चित करते हुए उनके किसलय के समान कोमल उंगलियों के फटकार का, कुटिल भ्रू भंगकी, दृष्टि का और अनेक बार तो करधनियों द्वारा बन्धन का पात्र बनता था ॥ १७ ॥

तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु ।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः ॥ १८ ॥

तेनेति । सुरतस्य वारो वासरः तस्य रात्रिषु दूतीनां विदितं यथा तथा पृष्ठतः प्रियजनस्य पश्चाद्भागे निषेदुषा तेनाग्निवर्णेन विप्रलम्भपरिशङ्किनो विरहशङ्किनः । प्रियश्चासौ जनश्च प्रियजनः, तस्य कातरं वचः 'प्रियानयनेन मां पाही' त्येवमादि दीनवचनं शुश्रुवे ॥ १८ ॥

अन्वयः—सुरतवाररात्रिषु दूतिविदितं प्रियजनस्य पृष्ठतः निषेदुषा तेन विप्रलम्भपरिशङ्किनः प्रियजनस्य कातरं वचः शुश्रुवे ॥ १८ ॥

सुरत के दिनों की रातों में दूती के ज्ञात रहने पर ही प्रियजन के पीछे बैठे हुए उस अग्नि वर्ण ने विरह की आशंका करने वाले प्रियजन का कातर वचन "मेरे प्रियतम को बुला दो, मैं उनके वियोग में जीवित नहीं रह सकूँगी आदि आदि" सुना ॥ १८ ॥

लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः ।
वर्तते स्म स कथञ्चिदालिखन्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥ १९ ॥

लौल्यमिति । गृहिणीपरिग्रहाद्राज्ञीभिः समागमाद्धेतोर्नर्तकीषु वेश्यास्वसुलभासु दुर्लभासु सतीषु लौल्यमौत्सुक्यमेत्य प्राप्य । अङ्गुल्योः क्षरणेन स्वदनेन सन्नवर्तिको विगलितशलाकः सोऽग्निवर्णस्तासां नर्तकीनां वपुस्तद्वपुरालिखन्कथञ्चिद्वर्तते स्माऽवर्तत ॥ १९ ॥

अन्वयः—गृहिणी परिग्रहात् नर्तकीषु असुलभासु सतीषु लौल्यं एत्य अङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः सः तद्वपुः आलिखन् कथञ्चित् वर्तते स्म ॥ १९ ॥

रानियों के साथ समागम से नर्तकियों के सुलभ न होने पर उत्सुकता वश अंगुलियों के पसीने से उसकी कूँची फिसल जाती थी तो वह अग्निवर्ण उन नर्तकियों का चित्र किसी-किसी प्रकार बड़ी कठिनाई से बनाता हुआ समय काटता था ॥ १९ ॥

प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम् ।
निन्युरुत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्झितरुषः कृतार्थताम् ॥ २० ॥

प्रेमगर्वितेति । प्रेम्णा स्वविषयेण प्रियस्यानुरागेण हेतुना गर्विते विपक्षे सपत्नजने मत्सराद्वैरादायतात्प्रवृद्धान्मदनाच्च हेतोर्देव्यो राज्य उज्झितरुषस्त्यक्तरोषाः सत्यस्तं महीक्षितमुत्सवविधिच्छलेन महोत्सवकर्मव्याजेन । कृतोऽर्थः प्रयोजनं येन स कृतार्थः, तस्य भावस्तत्तां निन्युः । मदनमहोत्सवव्याजान्नीतेन तेन स्वमनोरथं कारयामासुरित्यर्थः ॥ २० ॥

अन्वयः—प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरात् आयतात् मदनात् देव्यः उज्झितरुषः तं महीक्षितं उत्सवविधिच्छलेन कृतार्थतां निन्युः ॥ २० ॥

प्रिय के अनुराग के कारण सपत्नियों के गर्व करने पर ईर्ष्यावश कामातिरेक से रान्यिाँ प्रणयकोप छोड़कर राजाको किसी उत्सव के कार्य के बहाने से अपने यहाँ बुलाकर उनसे अपना मदन-मनोरथ पूर्णतः कृतार्थ करती थीं ॥

प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽदुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ॥ २१ ॥

प्रातरिति । सोऽग्निवर्णः प्रातरेत्यागत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन हेतुना ।

दृशेर्ण्यन्ताल्ल्युट् । कृता खण्डनव्यथा यासां तास्तथोक्ताः, खण्डिता इत्यर्थः। तदुक्तम्—'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति। प्रणयिनीः प्राञ्जलिः प्रसादयंस्तथाऽपि प्रणयमन्थरः प्रणयेन नर्तकीगतेन मन्थरोऽलसः, तत्र शिथिलप्रयत्नः सन्नित्यर्थः। पुनरदुनोत्पर्यतापयत् ॥ २१ ॥

अन्वयः—सः प्रातः एत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः प्रणयिनीः कृताञ्जलिः प्रसादयन् प्रणयमन्थरः पुनः अदुनोत् ॥ २१ ॥

वह अग्निवर्ण (रातभर कहीं अन्यत्र रतिक्रिया सम्पन्न कर) प्रातः अपने घर आकर संभोग क्रिया से सुशोभित दर्शन के द्वारा व्यथा प्राप्त खण्डिता नायिकाओं को हाथ जोड़कर प्रसन्न करते हुए पुनः (रात्रि के रति जन्य शिथिलता के कारण) धीरे-धीरे प्रणय व्यापार के कारण उन्हें पूर्ण तृप्ति न मिलने से दुःखित कर देता था ॥ २१ ॥

स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गनाः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।
प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्तनैः ॥ २२ ॥

स्वप्नकीर्तितेति। स्वप्ने कीर्तितो विपक्षः सपत्नजनो येन तम्। तमग्निवर्णम्। अवदन्त्य एव। त्वया गोत्रस्खलनं कृतमित्यनुपालम्भमाना एव। अङ्गनाः स्त्रियः प्रच्छदस्यास्तरणपटस्यान्ते मध्ये गलिता अश्रुबिन्दवो येषु तैः क्रोधेन भिन्नानि भग्नानि वलयानि येषु तैर्विवर्तनैः पराग्विलम्बनैः प्रत्यभैत्सुः प्रतिचक्रुः, तिरश्चक्रुरित्यर्थः ॥ २२ ॥

अन्वयः—स्वप्नकीर्तितविपक्षं तं अवदन्त्यः एव अङ्गनाः प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैः विवर्तनैः प्रत्यभैत्सुः ॥ २२ ॥

जब कभी वह स्वप्न में सपत्नी स्त्रियों का नाम लेता था तो उनसे बिना बोले ही स्त्रियाँ बिछौने के एक कोने में आँसू गिराती थीं और क्रोध से वलय तोड़ देती थीं तथा उसकी ओर पीठ कर करवटें बदलकर उसका तिरस्कार करती थीं ॥ २२ ॥

क्लृप्तपुष्पशयनाँल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।
अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम् ॥ २३ ॥

क्लृप्तपुष्पशयनानिति। सोऽग्निवर्णो दूतिभिः कृतमार्गदर्शनः सन्।

क्लृप्तपुष्पशयनाँल्लतागृहानेत्यावरोधादन्तःपुरजनाद्भयेन यो वेपथुः कम्पस्त-दुत्तरं तत्प्रधानं यथा तथा परिजनाङ्गनारतं दासीरतमन्वभूत्। परिजनश्चा-सावङ्गना चेति विग्रहः। अत्र ङीबन्तस्यापि दूती शब्दस्य छन्दोभङ्गभयाद् ह्रस्वत्वं कृतम्। 'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं त्यजेद्गिराम्' इत्युपदेशात्॥

अन्वयः—सः दूतिकृतिमार्गदर्शनः क्लृप्तपुष्पशयनान् लतागृहान् एत्य अवरोधभयवेपथूत्तरं परिजनाङ्गनारतं अन्वभूत्॥ २३॥

वह दूतियों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से पुष्पशय्या विरचित लता-भावनों में पहुँच कर अन्तःपुर की सुन्दरियों के भय से काँपता हुआ परिजनों की अङ्गनाओं—दासियों के साथ रतिक्रिया का अनुभव करने लगता था॥२३॥

नाम वल्लभजनस्य ते मया प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते।
लोलुपं ननु मनो ममेति तं गोत्रविस्खलितमूचुरङ्गनाः॥ २४॥

नामेति। मया ते वल्लभजनस्य प्रियजनस्य नाम प्राप्य तन्नाम्नाऽऽह्वानं लब्ध्वा तस्य त्वद्वल्लभजनस्य यद्भाग्यम्। तत्परिहासकारणमिति शेषः। तदपि काङ्क्ष्यते। ननु बत मम मनो लोलुपं गृध्नु। इत्यनेन प्रकारेण अङ्गनाः गोत्रे नाम्नि विस्खलितं स्खलितवन्तं तमग्निवर्णमूचुः। 'गोत्रं नाम्नि कुलेऽचले' इति यादवः। तन्नामलाभे सति तद्भाग्यमपि काङ्क्ष्यते मे मनः। अहो तृष्णेति सोल्लुण्ठमुपालम्भन्तेत्यर्थः॥ २४॥

अन्वयः—मया ते वल्लभजनस्य नाम प्राप्य तस्य भाग्यं काङ्क्ष्यते ननु लोलुपं मम मनः इति अङ्गनाः गोत्रविस्खलितं तं ऊचुः॥ २४॥

"हमें तुम्हारे प्रियजन का नाम श्रवणकर उसके सौभाग्य को भी पाने की आकाङ्क्षा होती है। हमारा मन भी लोलुप ही है" इस प्रकार सुन्दरियाँ नाम-स्खलन होने पर उससे कहा करती थीं। इस प्रकार उस महा विलासी अग्निवर्ण को सुन्दरियाँ व्यङ्ग्यपूर्ण उपालम्भ दिया करती थीं॥ २४॥

चूर्णबभ्रु लुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम्।
उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत्॥ २५॥

चूर्णबभ्रिवति। चूर्णबभ्रु चूर्णैर्व्यानतकरणैरधोमुखावस्थितायाः स्त्रियाश्चि-कुरगलितैः कुङ्कुमादिभिर्बभ्रु पिङ्गलम्। 'बभ्रुः स्यात्पिङ्गले त्रिषु' इत्यमरः। लुलितस्रगाकुलं करिपदाख्यबन्धे स्त्रिया भूमिगतमस्तकतया पतिताभिर्लुलित-

स्रग्भिराकुलम्। छिन्नमेखलं हरिविक्रमकरणैः स्त्रिया उच्छ्रितैकचरणत्वाद्गलित मेखलम्। अलक्तकाङ्कितं धेनुकबन्धे भूतलनिहितकान्ताचरणत्वाल्लाक्षाराग-रूषितं शयनं कर्तृ। उत्थितस्य। शयनादिति भावः। विलासिनस्तस्याग्नि-वर्णस्य विभ्रमरतानि लीलारतानि, सुरतबन्धविशेषानित्यर्थः। अपावृणोत्स्फु-टीचकार। व्यानतादीनां लक्षणं रतिरहस्ये—'व्यानतं रतमिदं प्रिया यदि स्यादधोमुखचतुष्पदाकृतिः। तत्कटिं समधिरुह्य वल्लभः स्याद् वृषादिपशुसं स्थितस्थितिः॥ भूगतस्तनभुजास्यमस्तकामुन्नतस्फिचमधोमुखीं स्त्रियम्। क्रामति स्वकरकृष्टमेहने वल्लभे करिपदं तदुच्यते॥ योषिदेकचरणे समुत्थिते जायते हि हरिविक्रमाह्वयः। न्यस्तहस्तयुगला निजे पदे योषिदेति कटिरूढ वल्लभा॥ अग्रतो यदि शनैरधोमुखी धेनुकं वृषवदुन्नते प्रिये॥' इति॥ २५॥

अन्वयः—चूर्णवभ्रु लुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलं अलक्तकाङ्कितम् शयनं उत्थितस्य विलासिनः तस्य विभ्रमरतानि अपावृणोत्॥ २५॥

स्त्रियोंके केशोंसे गिरे कुंकुम आदि के चूर्णों से पिंगल वर्ण, टूटी हुयी मालाओं से अस्त-व्यस्त टूटी हुयी करधनी से युक्त और स्त्रियों के चरणों में लगे अलक्तक के रङ्ग से चिह्नित शयन से उठे हुए उस विलासी अग्निवर्ण के लीलापूर्वक सुरतबन्ध विशेष की अभिव्यक्ति हो रही थी॥ २५॥

स स्वयं चरणरागमादधे योषिता न च तथा समाहितः।
लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभिः॥ २६॥

स इति। सोऽग्निवर्णः स्वयमेव योषितां चरणयो रागं लाक्षारसमादधेऽर्पयामास। किञ्च। श्लथांशुकैः प्रियाङ्गस्पर्शादिति भावः। नितम्बिभिर्नितम्ब-वद्भिर्मेखलागुणपदैर्जघनैः। 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः' इत्यमरः। लोभ्यमाननयन आकृष्यमाणदृष्टिः सन्। तथा समाहितोऽवहितो नादधे यथा सम्यग्रागरचना स्यादिति भावः॥ २६॥

अन्वयः—सः स्वयं योषितां चरणरागं आदधे किं च श्लथांशुकैः नितम्बिभिः मेखलागुणपदैः लोभ्यमाननयनः सन् तथा समाहितः न आदधे॥ २६॥

वह (अग्निवर्ण) स्वयं स्त्रियों के चरणों में लाक्षारस लगाता था किन्तु

नितम्बों से वस्त्र हट जाने पर निर्वसन जंघों के देखने में उसके नेत्र आकृष्ट हो जाते थे जिससे वह ध्यानपूर्वक रंग ठीक से नहीं लगा पाता था ॥ २६ ॥

चुम्बने विपरिवर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने ।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद्वधूरतम् ॥ २७ ॥

चुम्बन इति । चुम्बने प्रवृत्ते सति विपरिवर्तिताधरं परिहृतोष्ठम् रशनाविघट्टने ग्रन्थिविस्रंसने प्रसक्ते सति हस्तं रुणद्धि वारयतीति हस्तरोधि । इत्थं सर्वतः सर्वत्र विघ्नितेच्छं प्रतिहतमनोरथमपि वधूनां रतं सुरतं तस्याग्निवर्णस्य मन्मथेन्धनं कामोद्दीपनमभूत् ॥ २७ ॥

अन्वयः—चुम्बने विपरिवर्तिताधरं रशनाविघट्टने हस्तरोधि सर्वतः विघ्नितेच्छं अपि वधूरतं तस्य मन्मथेन्धनं अभूत् ॥ २७ ॥

जब वह स्त्रियों के चुम्बन में प्रवृत्त होता तो वे अपना अधर विपरीत कर हटा लेती थीं, करधनी (नीवीबन्धन) खोलने लगता तो हाथ से रोक लेतीं । इस प्रकार सर्वत्र वधुओं के साथ रति-क्रीड़ा करने में उनकी इच्छाओं के न होने पर भी उसकी कामाग्नि धधकती ही गयी ॥ २७ ॥

दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीर्नर्मपूर्वमनुपृष्ठसंस्थितः ।
छायया स्मितमनोज्ञया वधूर्ह्रीनिमीलितमुखीश्चकार सः ॥ २८ ॥

दर्पणेष्विति । सोऽग्निवर्णो दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीः सम्भोगचिह्नानि पश्यन्तीर्वधूर्नर्मपूर्वं परिहासपूर्वमनुपृष्ठं तासां पृष्ठभागे संस्थितः सन् । स्मितेन मनोज्ञया छायया दर्पणगतेन स्वप्रतिबिम्बेन ह्रीनिमीलितमुखीर्लज्जाऽवनत मुखीश्चकार । तमागतं दृष्ट्वा लज्जिता इत्यर्थः ॥ २८ ॥

अन्वयः—सः दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीः वधूः नर्मपूर्वं अनुपृष्ठसंस्थितः सन् स्मितमनोज्ञया छायया ह्रीनिमीलितमुखीः चकार ॥ २८ ॥

जब स्त्रियाँ दर्पणों में संभोग का चिह्न (दन्तक्षतादि) देखने लगतीं तो वह परिहास पूर्वक पीछे छिपकर बैठ जाता और मुस्कराने लगता था । उसकी छाया दर्पणों पर पड़ती तो स्त्रियाँ देखकर लज्जित हो जाया करती थीं और मुँह नीचे कर लेती थीं ॥ २८ ॥

कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः ।
प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशाऽत्ययविसर्गचुम्बनम् ॥ २९ ॥

कण्ठसक्तेति। प्रियाः शयनादुत्थितं तमग्निवर्णं कण्ठसक्तं कण्ठार्पितं मृदुबाहु बन्धनं यस्मिंस्तत्। अग्रपादयोः स्वकीययोर्न्यस्ते पादतले यस्मिंस्तत्। निशाऽत्यये विसर्गो विसृज्य गमनं तत्र यच्चुम्बनं तत्प्रार्थयन्त। 'दुह्याच' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम्। अत्र गोनर्दीयः— 'रतावसाने यदि चुम्बनादि प्रयुज्य यायान्मदनोऽस्य वासः' इति ॥ २९ ॥

अन्वयः—प्रियाः शयनोत्थितं तं कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं अग्रपादयोः न्यस्तपादतलं निशात्ययविसर्गचुम्बनं प्रार्थयन्ते ॥ २९ ॥

रात्रि समाप्त होने पर जब वह शय्या से उठकर अलग होने लगता तो उसकी प्रियायें उस चुम्बन की प्रार्थना करतीं जिसमें कण्ठ में आसक्त कोमल बाहुओं का बन्धन होता औ अपने दोनों चरणों पर उसके चरण तल रक्खे होते थे ॥ १९ ॥

प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमात्मनो राजवेषमतिशक्रशोभिनम्।
पिप्रिये न स तथा यथा युवा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनम् ॥ ३० ॥

प्रेक्ष्येति। युवा सोऽग्निवर्णोऽतिशक्रं यथा तथा शोभमानमतिशक्रशोभिनं दर्पणतलस्थं दर्पणसङ्क्रान्तमात्मनो राजवेषं प्रेक्ष्य तथा न पिप्रिये न तुतोष यथा व्यक्तलक्ष्म प्रकटचिह्नं परिभोगमण्डनं प्रेक्ष्य पिप्रिये ॥ ३० ॥

अन्वयः—युवा सः अतिशक्रशोभिनं दर्पणतलस्थं आत्मनः राजवेषम् प्रेक्ष्य तथा न पिप्रिये यथा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनं प्रेक्ष्य पिप्रिये ॥ ३० ॥

इन्द्र की शोभा को भी मात करने वाली अपनी राजकीय वेशभूषा को दर्पण में देखकर वह युवक उतना प्रसन्न नहीं होता जितना सम्भोग के आभूषण स्वरूप दन्तक्षतादि चिह्नों को देखकर ॥ ३० ॥

मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियाः।
विद्म हे शठ ! पलायनच्छलान्यञ्जसेति रुरुधुः कचग्रहैः ॥ ३१ ॥

मित्रकृत्यमिति। मित्रकृत्यं सुहृत्कार्यमपदिश्य व्याजीकृत्य पार्श्वतः प्रस्थितमन्यतो गन्तुमुद्यक्तमनवस्थितमवस्थातुमक्षमं तमग्निवर्णं प्रियाः, हे शठ हे गूढविप्रियकारिन् 'गूढविप्रियकृच्छठः' इति दशरूपके। तव पलायनस्य च्छलान्यञ्जसा तत्त्वतः। तत्त्वे त्वद्धाऽञ्जसा द्वयम्' इत्यमरः। विद्मः जानीमः।

'विदो लटो वा' इति वैकल्पिको मादेशः। इति उक्त्वेति शेषः। कचग्रहैः केशाकर्षणै रुरुधुः। अत्र गोनर्दीयः—'ऋतुस्नाताऽभिगमने मित्रकार्ये तथाऽऽपदि। त्रिष्वेतेषु प्रियतमः क्षन्तव्यो वारगम्यया॥' इति। विरक्तलक्षणप्रस्तावे वात्स्यायनः—'मित्रकृत्यं चापदिश्यान्यत्र शेते' इति॥ ३१॥

अन्वयः—मित्रकृत्यं अपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं अनवस्थितं तं प्रियाः हे शठ! पलायनच्छलानि अञ्जसा विद्म इति कचग्रहैः रुरुधुः॥ ३१॥

जब उसका मन किसी स्त्री के पास बैठे-बैठे ऊब जाता और वह किसी अन्य प्रियतमा के पास जाना चाहता तो "मैं आवश्यक कार्यवश एक मित्र के यहाँ जा रहा हूँ" इस प्रकार बहाना बनाकर बगल से जाने लगता तो स्त्रियाँ उसे "हे शठ मैं तुम्हारे जाने का वास्तविक कारण जानती हूँ" कहकर उसे केश पकड़कर रोक लिया करती थीं॥ ३१॥

तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम्॥ ३२॥

तस्येति। निर्दयरतिश्रमेणालसा निश्चेष्टा योषितः कण्ठसूत्रमालिङ्गनविशेषमपदिश्य व्याजीकृत्य पीवरस्तनाभ्यां विलुप्तचन्दनं प्रमृष्टाङ्गरागं तस्याग्निवर्णस्य बृहद्भुजान्तरमध्यशेरत वक्षःस्थले शेरते स्म। कण्ठसूत्रलक्षणं तु—'यत्कुर्वते वक्षसि वल्लभस्य स्तनाभिघातं निबिडोपगूहात्। परिश्रमार्थं शनकैर्विदग्धस्तत् कण्ठसूत्रं प्रवदन्ति सन्तः॥' इदमेव रतिरहस्ये स्तनालिङ्गनमित्युक्तम्। तथा च—'उरसि कमितुरुच्चैरादिशन्ती वराङ्गी स्तनयुगमुपधत्ते यत्स्तनालिङ्गनं तत्' इति॥ ३२॥

अन्वयः—निर्दयरतिश्रमालसाः योषितः कण्ठसूत्रं अपदिश्य पीवरस्तनविलुप्तचन्दनं तस्य बृहद्भुजान्तरं अध्यशेरत॥ ३२॥

निर्दयतापूर्वक अत्यधिक रति-क्रीड़ा के श्रम से आलस्ययुक्त स्त्रियाँ 'कण्ठसूत्र' नामक आलिङ्गन विशेष का बहाना बनाकर मोटे-मोटे स्तनों के प्रगाढ़ स्पर्श से उसके चन्दन युक्त वक्षःस्थल पर सो जाया करती थीं॥३२॥

(प्रियतम के वक्षस्थल पर स्तनों से गाढ़ालिङ्गनपूर्वक आघात करना 'कण्ठसूत्र' आलिङ्गन कहलाता है।)

सङ्गमाय निशि गूढचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः।
वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृषुस्तमङ्गनाः॥ ३३॥

सङ्गमायेति। सङ्गमाय सुरतार्थं निशि गूढमज्ञातं चरतीष्टगृहं प्रति गच्छतीति गूढचारी। तं चारदूतिकथितम्। चरन्तीति चारा गूढचारिण्यः। 'ज्वलितिकसन्तेभ्योणः' इति णप्रत्ययः। चाराश्च ता दूत्यश्च चारदूत्यः ताभिः कथितं निवेदितं तमग्निवर्णमङ्गनाः पुरोऽग्रेगताः। अवरुद्धमार्गाः, सत्य इत्यर्थः। हे कामुक ! तमसा वृतो गूढः सन् कुतो वञ्चयिष्यसीति उपालभ्येति शेषः। चकृषुः, स्ववासं निन्युरित्यर्थः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—संगमाय निशिगूढचारिणं चारदूतिकथितं तं अङ्गनाः पुरोगताः कामुक ! तमोवृतः कुतः वञ्चयिष्यसि इति (उपालभ्येति शेषः) चकृषुः ॥ ३३ ॥

सुरत व्यापार के लिए जब वह रात में गुप्तरूप से निकलता तो दूतियाँ उसकी स्त्रियों को सूचना दे देतीं। दूतियों से सूचना पाकर उसकी स्त्रियाँ उसके आगे चली जातीं और यह कहकर कि हे कामी ! अन्धकारसे आच्छन्न हो तुम हमें किस प्रकार ठगोगे" अपने घर खींच लाती थीं ॥ ३३ ॥

योषितामुडुपतेरिवार्चिषां स्पर्शनिर्वृतिमसाववाप्नुवन्।
आरुरोह कुमुदाकरोपमां रात्रिजागरपरो दिवाशयः ॥ ३४ ॥

योषितामिति। उडुपतेरिन्दोरर्चिषां भासामिव। 'ज्वाला भासो न पुंस्यर्चिः' इत्यमरः। योषितां स्पर्शनिर्वृतिं स्पर्शसुखमवाप्नुवन्। किञ्च, रात्रिषु जागरपरः दिवा दिवसेषु शेते स्वपितीति दिवाशयः। 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच्प्रत्ययः। असावग्निवर्णः कुमुदाकारस्योपमां साम्यमारुरोह प्राप ॥ ३४ ॥

अन्वयः—उडुपतेः अर्चिषां इव योषितां स्पर्शनिर्वृत्तिं अवाप्नुवन् रात्रिजागरपरः दिवाशयः असौ कुमुदाकरोपमां आरुरोह ॥ ३४ ॥

तारापति चन्द्रमा की किरणों के समान स्त्रियों के स्पर्श से सुख का अनुभव करते हुए वह कुमुदों के समान रातभर जागरण करता और दिन में सो जाता था। (जिस प्रकार कुमुद रातभर चन्द्रकिरणों का स्पर्श सुख पाकर विकसित रहता है और दिन में प्रसुप्त उसी प्रकार वह अग्नि वर्ण भी रातभर तो चन्द्रमुखी सुन्दरियों के स्पर्श-सुख का आनन्दानुभव करता और दिन में सोता था।) इस प्रकार उसने कुमुदाकर की उपमा प्राप्त कर ली थी ॥ ३४ ॥

वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः ।
शिल्पकार्यः उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन् ॥ ३५ ॥

वेणुनेति । दशनैः पीडिताधरा दष्टौष्ठाः । नखपदैर्नखक्षतैरङ्कितोरवश्चिह्नितोरुसक्थाः, व्रणिताधरोरुत्वादक्षमा इत्यर्थः । तथापि वेणुना वीणया चेत्युभयेन । अधरोरुपीडाकारिणेत्यर्थः । वेजिताः पीडिताः शिल्पं वेणुवीणावाद्यादिकं कुर्वन्तीति शिल्पकार्यो गायिकाः । 'कर्मण्यण्' इत्यण् 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' इत्यनेन ङीप् । तं विजिह्मनयनाः कुटिलदृष्टयः सत्यः । स्वं चेष्टितं जानन्नपि वृथा नः पीडयतीति साभिप्रायं पश्यन्त्य इत्यर्थः व्यलोभयन् । तथाविधालोकनमपि तस्याकर्षकमेवाभूदिति भावः ॥

अन्वयः—दशनपीडिताधराः नखपदाङ्कितोरवः वेणुना वीणया च उभयेन वेजिताः शिल्पकार्यः तं विजिह्मनयनाः व्यलोभयन् ॥ ३५ ॥

यद्यपि उसके दन्तक्षत से गायिकाओं के अधर पीड़ित थे एवं नखक्षत से जंघायें पीड़ित थीं तथापि वे वेणु और वीणा (बाँसुरी बजाने और वीणा बजाने से) अधिक पीड़ा का अनुभव करतीं और राजा को कुटिल कटाक्षों द्वारा साभिप्राय देखा करतीं जिससे उसे और अधिक आनन्द मिलता ॥३५॥

अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन् ।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः सञ्जघर्ष सह मित्रसन्निधौ ॥ ३६ ॥

अङ्गेति । अङ्गं हस्तादि । सत्त्वमन्तःकरणम् । वचनं गेयं चाश्रयः कारणं यस्य तदङ्गसत्त्ववचनाश्रयम् । आङ्गिकसात्त्विकवाचिकरूपेण त्रिविधमित्यर्थः । यथाह भरतः—सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः' इति । नृत्यमभिनयं मिथो रहसि स्त्रीषु नर्तकीषूपधाय निधाय दर्शयन् । स मित्रसन्निधौ सहचरसमक्षं प्रयोगेऽभिनये निपुणैः कृतिभिः प्रयोक्तृभिरभिनयार्थप्रकाशकैर्नाट्याचार्यैः सह सञ्जघर्ष संघर्षं कृतवान् । संघर्षः पराभिभवेच्छा ॥ ३६ ॥

अन्वयः—अङ्गसत्ववचनाश्रयं नृत्यं मिथः स्त्रीषु उपधाय दर्शयन् सः मित्रसन्निधौ प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः सह सञ्जघर्ष ॥ ३६ ॥

एकान्त में वह स्त्रियों के ऊपर आङ्गिक-वाचिक-सात्विक इन तीन प्रकार के नाट्य अभिनयों का प्रयोग दिखाते हुए अपने मित्रों की सन्निधि में प्रयोग-कुशल नाट्याचार्य प्रयोक्ताओं के साथ स्पर्धा किया करता था ॥३६॥

कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः ।
अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम् ॥ ३९ ॥

कार्तिकीष्विति । कार्तिकस्येमाः कार्तिक्यः । 'तस्येदम्' इत्यण् । तासु यामिनीषु निशासु, शरद्रात्रिष्वित्यर्थः । सवितानान्युपरिवस्त्रावृतानि हर्म्याणि भजतीति सवितानहर्म्यभाक् । भजेर्ण्विप्रत्ययः । हिमवारणार्थं सवितानमुक्तम् । ललिताङ्गनासखः सोऽग्निवर्णः सुरतश्रमापहां मेघमुक्ता चासौ विशदा च ताम् । बहुलग्रहणात्सविशेषणसमासः । चन्द्रिकामन्वभुङ्क्त ॥ ३९ ॥

अन्वयः—कार्तिकीषु यामिनीषु सवितानहर्म्यभाग् ललिताङ्गनासखः सः सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां चन्द्रिकां अन्वभुङ्क्त ॥ ३९ ॥

कार्तिक माह की रात्रियों में वितानमुक्त राजमहलों पर ललित सुन्दरियों के साथ वह रति-क्रीड़ा के श्रम को दूर करने वाली बादलों के न रहने से स्वच्छ चाँदनी का आनन्द उपभोग करता था ॥ ३९ ॥

सैकतं च सरयूं विवृण्वतीं श्रोणिबिम्बमिव हंसमेखलम् ।
स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सौधजालविवरैर्व्यलोकयत् ॥ ४० ॥

सैकतमिति । किञ्च, हंसा एव मेखला यस्य तत्सैकतं पुलिनं श्रोणिबिम्बमिव विवृण्वतीम् । अत एव स्वप्रियाविलसितान्यनुकरोतीति तद्विधां सरयूम् । सौधस्य जालानि गवाक्षाः त एव विवराणि तैर्व्यलोकयत् ॥ ४० ॥

अन्वयः—हंसमेखलं सैकतं श्रोणिबिम्बं इव विवृण्वतीं अतएव स्वप्रिया विलसितानुकारिणीं सरयूं सौधजालविवरैः व्यलोकयत् ॥ ४० ॥

वह अग्निवर्ण महल की जालीदार खिड़कियों के छेद से अपनी प्रियाओं की विलास चेष्टाओंका अनुकरण करने वाली हंसरूपी मेखला और बालुकामय तटरूपी नितम्ब बिम्ब धारण करने वाली सरयू को देखा करता था ॥

मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैस्तमेकतः ।
जह्रुराग्रथनमोक्षलोलुपं हैमनैर्निवसनैः सुमध्यमाः ॥ ४१ ॥

मर्मरैरिति । मर्मरैः संस्कारविशेषाच्छब्दायमानैः । 'अथ मर्मरः । स्वनिते वस्त्र पर्णानाम्' इत्यमरः । अगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैर्लौल्याल्लक्ष्यमाण-कनकमेखलागुणैः हैमनैर्हेमन्ते भवैः । 'सर्वत्राण्च तलोपश्च' इति हेमन्तशब्दा-

दण्प्रत्ययस्तलोपश्च । निवसनैरंशुकैः सुमध्यमाः स्त्रिय एकतो नितम्बैकदेश आग्रथनमोक्षयोर्नीवीबन्धविस्रंसनयोर्लोलुपमासक्तं तं जह्रुराचकृषुः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—मर्मरैः अगुरुधूपगन्धिभिः व्यक्तहेमरशनैः हैमनैः निवसनैः सुमध्यमाः एकतः आग्रथनमोक्षलोलुपं तं जह्रुः ॥ ४१ ॥

मर्मर ध्वनि करने वाले, अगर की धूप से सुगन्धित (सूक्ष्म एवं चञ्चल होने के कारण) सुवर्ण की तगड़ी झलकाने वाले हेमन्त कालीन वस्त्रों से सुन्दर मध्य भाग—कटि वाली स्त्रियों ने नितम्ब के एक भाग में नीवी (नारा) बाँधने और खोलने में लोलुप उस अग्निवर्णको आकर्षित कर लिया ॥ ४१ ॥

अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु ।
तस्य सर्वसुरतान्तरक्षमाः साक्षितां शिशिररात्रयो ययुः ॥ ४२ ॥

अर्पितेति । निवाता वातरहिताः कुक्षयोऽभ्यन्तराणि येषां तेषु गर्भवेश्मसु गृहान्तर्गृहेष्वर्पिता दत्ताः स्तिमिता निवातत्वान्निश्चला दीपा एव दृष्टयो याभिस्ताः । अत्रानिमिषदृष्टित्वं च गम्यते । सर्वसुरतान्तरक्षमास्तापस्वेदापनोदनत्वाद्दीर्घकालत्वाच्च सर्वेषां सुरतान्तराणां सुरतभेदानां क्षमाः क्रियार्हाः शिशिररात्रयस्तस्याग्निवर्णस्य साक्षितां ययुः । विविक्तकालदेशत्वाद्यथेच्छं विजहारेत्यर्थः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—निवातकुक्षिषु गर्भवेश्मसु अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयः सर्वसुरतान्तरक्षमाः शिशिररात्रयः तस्य साक्षितां ययुः ॥ ४२ ॥

वह राजप्रसाद की भीतरी कोठियों में जहाँ हवा भी नहीं जा सकती थी, सब प्रकार का सुरत व्यापार किया करता था । (गर्मी और पसीना दूर करने तथा दीर्घकालीन होनेके कारण) सभी सुरत-भेदों के क्रियान्वयन के योग्य निश्चल दीपशिखा रूपी निर्निमेष दृष्टि वाली शिशिर ऋतुकी रातें उस अग्निवर्ण की साक्षी हुयीं ॥ ४२ ॥

दक्षिणेन पवनेन सम्भृतं प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम् ।
अन्वनैषुरवधूतविग्रहास्तं दुरुत्सहवियोगमङ्गनाः ॥ ४३ ॥

दक्षिणेनेति । अङ्गना दक्षिणेन पवनेन मलयानिलेन सम्भृतं जनितं

सपल्लवं चूतकुसुमं प्रेक्ष्यावधूतविग्रहास्त्यक्तविरोधाः सत्यो दुरुत्सहवियोगं दुःसहविरहं तमन्वनैषुः । तद्विरहमसहमानाः स्वयमेवानुनीतवत्य इत्यर्थः ॥

अन्वयः—अङ्गनाः दक्षिणेन पवनेन सम्भृतं सपल्लवं चूतकुसुमं प्रेक्ष्य अवधूतविग्रहाः दुरुत्साहवियोगं तं अन्वनैषुः ॥ ४३ ॥

(मानवती) स्त्रियों ने दक्षिण पवन से विकसित पल्लवयुक्त आम्र मञ्जरियों को देखकर मान (प्रणयकोप) छोड़कर दुःसह्य विरही उस अग्नि-वर्ण को मनाया ॥ ४३ ॥

ताः स्वमङ्कमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया ।
मुक्तरज्जु निबिडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥ ४४ ॥

ता इति । ता अङ्गनाः स्वमङ्कं स्वकीयमुत्सङ्गमधिरोप्य परिजनेनापविद्धया सम्प्रेषितया दोलया मुक्तरज्जु त्यक्तदोलासूत्रं यथा तथा प्रेङ्खयंश्चालयन्भयाच्छलात्पतनभयमिषाद्बाहुभिरङ्गनाभुजैर्निबिडं कण्ठबन्धनमवाप प्राप । स्वयङ्ग्रहाश्लेषसुखमन्वभूदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—ताः स्वयं अङ्कं अधिरोप्य परिजनापविद्धया दोलया मुक्तरज्जु प्रेङ्खयन् भयच्छलात् बाहुभिः निबिडं कण्ठबन्धनं अवाप ॥ ४४ ॥

वह उन सुन्दरियों को अपनी गोद में बैठाकर सेवकों द्वारा झुलाये गए झूलों से झूला झुलवाता । वे सुन्दरियाँ झूले की रस्सी छूट जाने पर भय का बहाना बनाकर भुजाओं से उसके कण्ठ में कसकर लिपट जाती थीं । इस प्रकार वह स्वयं कामिनियों द्वारा कण्ठाश्लेष के सुख का अनुभव प्राप्त कर लेता था ॥ ४४ ॥

तं पयोधरनिषिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः ।
ग्रीष्मवेषविधिभिः सिषेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः ॥ ४५ ॥

तमिति । प्रियाः पयोधरेषु स्तनेषु निषिक्तमुत्क्षिप्तं चन्दनं येषु तैः । मौक्तिकैर्ग्रथितानि प्रोतानि चारुभूषणानि येषु तैः, मुक्ताप्रायाभरणैरित्यर्थः । श्रोणिलम्बिन्यो मणिमेखला मरकतादिमणियुक्तकटिसूत्राणि येषु तादृशैर्ग्रीष्म-वेषविधिभिरुष्णकालोचितनेपथ्यविधानैः, शीतलोपायैरित्यर्थः । तमग्निवर्णं सिषेविरे ॥ ४५ ॥

अन्वयः—प्रियाः पयोधरनिषिक्तनन्दनैः मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः ग्रीष्मवेशविधिभिः तं सिषेविरे ॥ ४५ ॥

उसकी प्रिय सुन्दरियाँ स्तनों पर चन्दन लेप कर मुक्तामणि की सुन्दर गुम्फित माला पहन कर तथा नितम्ब पर लटकते हुए मणिमय कटिसूत्रों से ग्रीष्म कालोचित वेश-भूषा वाले शीतोपचारों से सेवा करती थी ॥ ४५ ॥

यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥ ४६ ॥

यत्स इति । सोऽग्निवर्णो लग्नः सहकारस्याम्रपल्लवो यस्मिंस्तं रक्तपाटलस्य पाटलकुसुमस्य समागमो यस्य तमासवं मद्यं पपौ । इति यत्तेनासवपानेन मधुनिर्गमाद्वसन्तापगमात्कृशो मन्दवीर्यस्तस्य चित्तयोनिः कामः पुनर्नवः प्रबलोऽभवत् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—सः लग्नसहकारं रक्तपाटलसमागमं आसवं पपौ यत् तेन मधु निर्गमात् कृशः तस्य चित्तयोनिः पुनः नवः अभवत् ॥ ४६ ॥

चूँकि उस अग्निवर्ण ने आम्र पल्लवयुक्त पाटल पुष्प के समागम वाले मद्य का पान किया इसीलिए उसका वसन्त बीतने से कृश-मन्द प्रभाव वाला काम पुनः नवीन हो गया ॥ ४६ ॥

एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः ।
आत्मलक्षणनिवेदितानृतूनत्यवाहयदनङ्गवाहितः ॥ ४७ ॥

एवमिति । एवमनङ्गवाहितः कामप्रेरितोऽन्यकार्यविमुखः स पार्थिव इन्द्रियाणां सुखानि सुखकराणि शब्दादीनि निर्विशन्ननुभवन्नात्मनो लक्षणैः कुटजस्रग्धारणादिचिह्नैर्निवेदितान् अयमृतुरिदानीं वर्तत इति ज्ञापितान् । ऋतून्वर्षादीनत्यवाहयदगमयत् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—एवं अनङ्गवाहितः अन्यकार्यविमुखः सः पार्थिवः इन्द्रियसुखानि निर्विशन् आत्मलक्षणनिवेदितान् ऋतून् अत्यवाहयत् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार काम से प्रेरित वह राजा अग्निवर्ण प्रजापालन आदि राज-काज़ से मुँह मोड़कर इन्द्रिय सुखों का अनुभव करता हुआ, अपने लक्षण से पहचानने योग्य ऋतु-यापन करता था । (प्रत्येक ऋतु में उसकी वेश-भूषा

भिन्न-भिन्न हुआ करती थी। उसके वस्त्र-भूषणों से ऋतुओं की पहचान होती थी) ॥ ४७ ॥

तं प्रमत्तमपि न प्रभावतः शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः।
आमयस्तु रतिरागसम्भवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥ ४८ ॥

तमिति। प्रमत्तं व्यसनासक्तमपि तं नृपं प्रभावतोऽन्यपार्थिवा आक्रमितुमभिभवितुं न शेकुर्न शक्ताः। रतिरागसम्भव आमयो व्याधिस्तु, क्षयरोग इत्यर्थः। दक्षस्य दक्षप्रजापतेः शापश्चन्द्रमिव। अक्षिणोदकर्शयत्। शापोऽपि रतिरागसम्भवइति। अत्र दक्षः किलान्याः स्वकन्या उपेक्ष्य रोहिण्यामेव रममाणं राजानं सोमं शशाप। शापश्चाद्यापि क्षयरूपेण तं क्षिणोतीत्युपाख्यायते ॥ ४८ ॥

अन्वयः—प्रमत्तं अपि तं प्रभावतः अन्य पार्थिवाः आक्रमितुं न शेकुः रतिरागसम्भवः आमयः तु दक्षशापः चन्द्रं इव अक्षिणोत् ॥ ४८ ॥

व्यसनों में आसक्त रहने पर भी उस प्रमत्त अग्निवर्ण के ऊपर प्रभाव के कारण कोई अन्य राजा आक्रमण नहीं कर सका। किन्तु जैसे दक्ष के शाप से चन्द्रमा आज भी क्षीण होता रहता है उसी प्रकार वह राजा भी अतिशय रतिराग से उत्पन्न क्षय रोग से क्षीण होता गया ॥ ४८ ॥

दृष्टदोषमपि तन्न सोऽत्यजत्सङ्गवस्तु भिषजामनाश्रवः।
स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते ॥ ४९ ॥

दृष्टदोषमपीति। भिषजां वैद्यानामनाश्रवो। वचसि न स्थितः। 'वचने स्थित आश्रवः' इत्यमरः। अविधेय इत्यर्थः। स दृष्टदोषमपि। रोगजननादिति शेषः। तत्सङ्गस्य वस्तु सङ्गवस्तु स्त्रीमद्यादिकं सङ्गजनकं वस्तु नात्यजत। तथा हि। इन्द्रियगणः स्वादुभिर्विषयैर्हृतस्तु हृतश्चेत्ततस्तेभ्यो विषयेभ्यो दुःखं कृच्छ्रेण निवार्यते। यदि वार्यतेति शेषः। दुस्त्यजाः खलु विषया इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

अन्वय:—भिषजां अनाश्रवः स दृष्टदोषं अपि तत् सङ्गवस्तु न अत्यजत् इन्द्रियगणः स्वादुभिः विषयैः हृतः तु ततः दुःखं निवार्यते ॥ ४९ ॥

उसने वैद्यों की बात नहीं सुनी और स्त्रीप्रसंग-मद्यपान में रोग-दोष

देखकर भी विषय-वस्तु का परित्याग नहीं किया। क्योंकि जब इन्द्रियों को विषयों का स्वाद मिल जाता है तब वे उनसे अपहृत हो जाती हैं और तब उन्हें विषयों से रोकना बड़ा कठिन हो जाता है॥ ४९॥

तस्य पाण्डुवदनाऽल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम्॥ ५०॥

तस्येति। तस्य राज्ञः पाण्डुवदना। अल्पभूषणा परिमिताभरणा सावलम्बं दासादिहस्तावलम्बसहितं गमनं यस्यां सा सावलम्बगमना। मृदुस्वना हीनस्वरा। राज्ञः सोमस्य यक्ष्मा राजयक्ष्मा क्षयरोगः तेन या परिहानिः क्षीणावस्था सा। कामयते विषयानिच्छति कामयानः। कमेर्णिङन्ताच्छानच्। 'अनित्यमागमशासनम्' इति मुमागमाभावः। एतदेवाभिप्रेत्योक्तं वामनेनापि—'कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्च' इति। तस्य समवस्थया कामुकावस्थया तुलां साम्यमाययौ प्राप। कालकृतो विशेषोऽवस्था। 'विशेषः कालिकोऽवस्था' इत्यमरः॥ ५०॥

अन्वयः—तस्य पाण्डुवदना अल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना राजयक्ष्मपरिहानिः कामयानसमवस्थया तुलां आययौ॥ ५०॥

उसका मुख पीला हो गया। वह इतना दुर्बल हो गया कि भूषणों का भार भी नहीं सह सकता था अतः बहुत ही कम आभूषण धारण करता। दूसरों का सहारा लेकर चल पाता था। उसकी आवाज धीमी हो गयी। इस प्रकार वह राजयक्ष्मा से विरहियों के समान अत्यन्त क्षीणावस्था को प्राप्त हो गया॥ ५०॥

व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव घर्मपल्वलम्।
राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम्॥ ५१॥

व्योमेति। राज्ञि क्षयातुरे सति तत्कुलं पश्चिमकलायां स्थित इन्दुर्यस्मिंस्तत्कलावशिष्टेन्दु व्योम वा व्योमेव। वाशब्द इवार्थे। यथाह दण्डी—'इववद्वायथाशब्दौ' इति। पङ्कशेषं घर्मपल्वलमिव। वामनार्चिरल्पशिखं दीपभाजनं दीपपात्रमिवाभूत्॥ ५१॥

अन्वयः—राज्ञि क्षयातुरे सति तत्कुलं पश्चिमकलास्थितेन्दु व्योम वा पङ्कशेषं घर्मपल्वलमिव वामनार्चिः दीपभाजनं इव अभूत्॥ ५१॥

राजा अग्निवर्ण के क्षयरोग से ग्रस्त हो जाने पर वह उदास रघुकुल उसी प्रकार हो गया जैसे अन्तिम कलावशिष्ट चन्द्रमा से आकाश, प्रचण्ड धूप से पक मात्र बचा हुआ ग्रीष्मकालीन क्षुद्र जलाशय और स्वल्पशिखा वाला दीप पात्र ॥ ५१ ॥

बाढमेष दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने ।
इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः ॥ ५२ ॥

बाढमिति । बाढं सत्यमेष पार्थिवो दिवसेषु पुत्रजन्मने पुत्रोदयार्थं कर्म जपादिकं साधयति । इत्येवमदर्शितरुजो निगूहितरोगाः सन्तोऽस्य राज्ञो मन्त्रिणोऽघशङ्किनीर्व्यसनशङ्किनीः प्रजाः शश्वदूचुः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—बाढम् एष पार्थिवः दिवसेषु पुत्रजन्मने कर्म साधयति इति अदर्शितरुजः अस्य मन्त्रिणः अघशङ्किनीः प्रजाः शश्वत् ऊचुः ॥ ५२ ॥

प्रजाओं को राजा की रुग्णावस्था के विषय में आशङ्कायें हुयीं किन्तु उसके मन्त्रियों ने उनसे सदैव यही कहकर कि पुत्र प्राप्ति के लिए जप आदि कर्मानुष्ठान कर रहे हैं इसीलिए दुर्बल हो गए हैं और उन्हें कोई रोग-व्याधि नहीं हुई है रोग को छिपाये रक्खा ॥ ५२ ॥

स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य सन्ततिम् ।
वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्यगात् ॥ ५३ ॥

स इति । स त्वग्निवर्णोऽनेकवनितासखः सन्नपि । पावनीं पितृऋणमोचनीं सन्ततिमनवलोक्य, पुत्रमनवाप्येत्यर्थः । वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं रोगम् । प्रदीपो वायुमिव । नात्यगान्नातिचक्राम, ममारेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—स तु अनेक वनितासखः सन् अपि पावनीं सन्ततिं अनवलोक्य वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं प्रदीपः वायुः इव न अत्यगात् ॥ ५३ ॥

वह अग्निवर्ण अनेक वनिताओं का सखा होते हुए भी पितृऋण से उऋण करने वाली पवित्र सन्तान को न देखकर वैद्यों के प्रयत्नों को विफल कर देने वाले असाध्य क्षय रोग को उसी प्रकार अतिक्रमण नहीं कर सका जैसे दीपक वायु का अतिक्रमण नहीं कर सकता । अर्थात् जैसे वायु से दीपक बुझ जाता है वैसे ही क्षय रोग से राजा अग्निवर्ण भी समाप्त हो गया ॥

तं गृहोपवन एव सङ्गताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा ।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः सम्भृते शिखिनि गूढमादधुः ॥ ५४ ॥

तमिति । पश्चिमक्रतुविदाऽन्त्येष्टिविधिज्ञेन पुरोधसा सङ्गताः समेता मन्त्रिणो गृहोपवन एव गृहाराम एव । 'आरामः स्यादुपवनम्' इत्यमरः । रोगशान्तिमपदिश्य शान्तिकर्म व्यपदिश्य तमग्निवर्णं सम्भृते समिद्धे शिखिन्यग्नौ गूढमप्रकाशमादधुर्निदधुः । अग्निसंस्कारं चक्रुरित्यर्थः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा सङ्गताः मन्त्रिणः गृहोपवने एव रोगशान्ति अपदिश्य तं सम्भृते शिखिनि गूढं आदधुः ॥ ५४ ॥

अन्त्येष्टि संस्कार में पारंगत पुरोहितों के साथ मन्त्रियों ने राजा के शव को रोग शान्ति का बहाना बनाकर घर के उद्यान में ही गुप्त रूप से प्रज्ज्वलित लपट वाली अग्नि में रख दिया ॥ ५४ ॥

(मन्त्रियों ने राजा का शव प्रजाओं को इसलिए नहीं देखने दिया कि कहीं प्रजाओं में भी न उसका क्षयरोग संक्रमित हो जाय ।)

तैः कृतप्रकृतिमुख्यसङ्ग्रहैराशु तस्य सहधर्मचारिणी ।
साधुदृष्टशुभगर्भलक्षणा प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम् ॥ ५५ ॥

तैरिति । आशु शीघ्रं कृतः प्रकृतिमुख्यानां पौरजनप्रधानानां सङ्ग्रहः सन्निपातनं यैस्तादृशैर्मन्त्रिभिः साधु निपुणं दृष्टशुभगर्भलक्षणा परीक्षितशुभगर्भचिह्ना तस्याग्निवर्णस्य सहधर्मचारिणी नराधिपश्रियं प्रत्यपद्यत राजलक्ष्मीं प्राप ॥ ५५ ॥

अन्वयः—आशु कृतप्रकृतिमुख्यसंग्रहैः तैः साधुदृष्टशुभगर्भलक्षणा तस्य सहधर्मचारिणी नराधिपश्रियं प्रत्यपद्यत ॥ ५५ ॥

शीघ्र ही उन मन्त्रियों ने प्रजाओं के प्रमुख नागरिकों को इकत्रित किया; और उस (राजा अग्निवर्ण) की उस सहधर्मचारिणी पटरानी ने, जिसमें शुभगर्भ का लक्षण भली-भाँति देख लिया गया, राज्यश्री प्राप्त की ॥ ५५ ॥

तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोका-
दुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः ।
निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्झितेन
वंशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः ॥ ५६ ॥

तस्या इति । तथाविधया नरेन्द्रविपत्त्या यः शोकस्तस्मादुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तस्तस्या गर्भः कनककुम्भानां मुखैर्वारिरुज्झितेन शिशिरेण शीतलेन वंशाभिषेकविधिना लक्षणयाऽभिषेकजलेन निर्वापित आप्यायितः ॥

अन्वयः—तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोकात् उष्णैः विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः तस्याः गर्भः कनककुम्भमुखोज्झितेन शिशिरेण वंशाभिषेकविधिना निर्वापितः ॥ ५६ ॥

उस रानी का जो गर्भ उस प्रकार राजा की विपत्ति के शोक के कारण उष्ण नेत्र जल (आँसुओं) से पहले सन्तप्त हो गया था; सोने के कलशों से गिरने वाले वंश की अभिषेक विधि के शीतल जल से पूर्णतः सन्तृप्त हो गया ॥ ५६ ॥

तं भावार्थं प्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजाना-
मन्तर्गूढं क्षितिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना ।
मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्हेमसिंहासनस्था
राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ॥ ५७ ॥

तमिति । प्रसवो गर्भमोचनम् । फलं च विवक्षितम् । 'स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने' इत्यमरः । तस्य यः समयस्तदाकाङ्क्षिणीनां प्रजानां भावार्थं भावाय, भूतय इत्यर्थः । 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु' इति यादवः । क्षितिरन्तर्गूढं नभोबीजमुष्टिमिव । श्रावणमास्युप्तं बीजमुष्टिं यथा धत्ते तद्वदित्यर्थः । मुष्टिशब्दो द्विलिङ्गः । 'अक्लीबौ मुष्टिपुस्तकौ' इति यादवः । अन्तर्गूढमन्तर्गतं तं गर्भं दधाना हेमसिंहासनस्थाऽव्याहताज्ञा राज्ञी मौलैर्मूलादागतैर्वा । आप्तैरित्यर्थः । स्थविरसचिवैर्वृद्धामात्यैः सार्धं भर्तू राज्यं विधिवद्विध्यर्हम्, यथाशास्त्रमित्यर्थः । अर्हार्थे वतिप्रत्ययः । अशिषच्छास्ति स्म । 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' इति च्लेरङ् । 'शास इदङ्हलोः' इतीकारः ॥ ५७ ॥

इति महोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अग्निवर्णशृङ्गारो नामैकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

अन्वयः—प्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजानां मङ्गलार्थं क्षितिः अन्तर्गूढं नभोवीजमुष्टिं इव तं दधाना अव्याहताज्ञा हेमसिंहासनस्था राज्ञी मौलैः स्थविरसचिवैः सार्धं भर्तुः राज्यं विधिवत् अशिषत् ।। ५७ ।।

जिस प्रकार पृथ्वी सावन माह में बोये गए मुट्ठी भर बीज को अपने भीतर गुप्त रूप से धारण करती है उसी प्रकार प्रसव काल की प्रतीक्षा करने वाली प्रजाओं के कल्याण के लिए उस गर्भ को अपने भीतर धारण करती हुयी सुवर्ण-सिंहासनारूढ़ सफल आदेश देने वाली रानी ने मूलतः आए हुए (वंश परम्परागत) वृद्ध अमात्यों के साथ पति के राज्य का विधिवत् प्रशासन चलाया ।। ५७ ।।

महाकवि कालिदास विरचित रघुवंश महाकाव्य में अग्निवर्ण शृङ्गार
नामक उन्नीसवें सर्ग की 'लक्ष्मी प्रपन्नाचार्य कृत'
श्रीहरिप्रिया हिन्दी व्याख्या समाप्त हुयी ।

समाप्तं रघुवंशमहाकाव्यम् ।



श्लोकानुक्रमणिका

श



इतः प्रभृति तस्य कृत्रिमाद्रिषु विरचितविहारप्रकारमाह—

अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजसाऽङ्गरागिणः ।
प्रावृषि प्रमदबर्हिणेष्वभूत्कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः ॥ ३७ ॥

अंसलम्बि इति । प्रावृष्यंसलम्बिन्यः कुटजानामर्जुनानां ककुभानां च स्रजो यस्य तस्य । नीपानां कदम्बकुसुमानां रजसाऽङ्गरागिणोऽङ्गरागवतस्तस्याग्निवर्णस्य प्रमदबर्हिणेषून्मत्तमयूरेषु कृत्रिमाद्रिषु विहार एव विभ्रमो विलासोऽभूदभवत् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—प्रावृषि अंसलम्बि कुटजार्जुनस्रजः नीपरजसाङ्गरागिणः तस्य प्रमदबर्हिणेषुकृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः अभूत् ॥ ३७ ॥

वह (अग्नि वर्ण) वर्षा ऋतु में कुटज और अर्जुन की पुष्पमाला गले में धारण कर तथा कदम्ब के पराग का शरीर में अङ्गराग लगाकर उन्मत्त मयूरों से परिपूर्ण कृत्रिम क्रीड़ा-पर्वतों पर विभ्रम-विलास किया करता था ॥

विग्रहाच्च शयने पराङ्मुखीर्नानुनेतुमबलाः स तत्वरे ।
आचकाङ्क्ष घनशब्दविक्लवास्ता विवृत्य विशतीर्भुजान्तरम् ॥ ३८ ॥

विग्रहाच्चेति । प्रावृषीत्यनुषज्यते । सोऽग्निवर्णो विग्रहात्प्रणयकलहाच्छयने शय्यायां पराङ्मुखीरबला अनुनेतुं न तत्वरे त्वरितवान् किन्तु घनशब्देन घनगर्जितेन विक्लवाश्चकिता अत एव विवृत्य स्वयमेवाभिमुखीभूय भुजान्तरं विशतीः प्रविशन्तीः । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति नुम्विकल्पः । ता अबला आचकाङ्क्ष । स्वयं ग्रहादेव साम्मुख्यमैच्छदित्यर्थः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—सः विग्रहात् शयने पराङ्मुखीः अबलाः अनुनेतुं न तत्वरे घनशब्दविक्लवाः विवृत्य भुजान्तरं विशतीः आचकाङ्क्ष ॥ ३८ ॥

वर्षाकाल में पलंग पर सोयी मानवती नायिकाएँ जब प्रणयकोप से मुँह फेर लेती थीं तो वह उन्हें मनाने की तत्परता नहीं दिखलाता था बल्कि घनघोर बादलों की गम्भीर गर्जना से विकल होकर उनके स्वयं दोनों भुजाओं के मध्य में प्रविष्ट होने की आकाङ्क्षा करता था (वह प्रणयकुपिता वनिताको मनाने की अपेक्षा घन-गर्जना की कामना करता था जिससे डरी हुए अबलाएँ स्वयं उसके वक्षःस्थल में आलिंगन बद्ध हो जायँ ॥ ३८ ॥